आधुनिक
हिन्दी-मराठी में काव्य-शास्त्रीय अध्ययन

(विशेषतः सन् १९०० से १९६० तक)

(दिल्ली विश्वविद्यालय की पी-एच्० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध)

लेखक

डॉ० मनोहर काळे

प्राध्यापक, रामजस कालेज, दिल्ली

हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर प्रा० लि०

गिरगाँव, ---- बम्बई--४

शाखा : दिल्ली

विषय सूची

द्वितीय अध्याय

अलंकार सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन

तृतीय अध्याय

रीति–सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन

चतुर्थ अध्याय

ध्वनि–सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन

पंचम अध्याय

वक्रोक्ति-सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन

षष्ठ अध्याय

औचित्य-सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन

सप्तम अध्याय

ऐतिहासिक सर्वेक्षण

हमारी योजना

'आधुनिक हिन्दी-मराठी में काव्य शास्त्रीय अध्ययन' हिन्दी अनुसन्धान परिषद् ग्रन्थ माला का सत्ताईसवाँ ग्रन्थ है। 'हिन्दी अनुसन्धान परिषद्' हिन्दी विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय की संस्था है, जिसकी स्थापना अक्तूबर सन् १९५२ में हुई थी। परिषद् के मुख्यतः दो उद्देश्य हैं : हिन्दी वाङमय विषयक गवेषणात्मक अनुशीलन तथा उसके फलस्वरूप प्राप्त साहित्य का प्रकाशन।

अब तक परिषद् की ओर से अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है। प्रकाशित ग्रन्थ तीन प्रकार के हैं—एक तो वे, जिनमें प्राचीन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का हिन्दी-रूपान्तर विस्तृत आलोचनात्मक भूमिकाओं के साथ प्रस्तुत किया गया है, दूसरे वे, जिन पर दिल्ली विश्वविद्यालय की ओर से पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गई है और तीसरे वे ग्रन्थ, जिनका अनुसन्धान के साथ—उसके सिद्धान्त और व्यवहार दोनों पक्षों के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध है।

प्रथम वर्ग के अन्तर्गत प्रकाशित ग्रन्थ हैं—(१) हिन्दी काव्यालंकार सूत्र, (२) हिन्दी वक्रोक्ति जीवित, (३) अरस्तू का काव्य-शास्त्र, (४) हिन्दी काव्यादर्श, (५) अग्नि पुराण का काव्यशास्त्रीय भाग, (हिन्दी अनुवाद) (६)- पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परम्परा, (७) काव्य-कला (होरेस कृत), (८) सौन्दर्य तत्त्व, (९) हिन्दी अभिनवभारती तथा (१०) हिन्दी नाटयादर्पण। द्वितीय वर्ग के ग्रन्थ हैं—(१) मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ, (२) हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, (३) सूफ़ीमत और साहित्य, (४) अपभ्रंश साहित्य (५) राधावल्लभ संप्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, (६) सूर की काव्य-कला, (७) हिन्दी में भ्रमरगीत काव्य और उसकी परम्परा, (८) मैथिलीशरण गुप्त : कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता, (९) हिन्दी रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य, (१०) मतिराम : कवि और आचार्य (११) आधुनिक हिन्दी कवियों के काव्य-सिद्धान्त, (१२) व्रज-भाषा के कृष्ण काव्य में माधुर्य भक्ति (१३) हिन्दी में नीति काव्य का विकास। तीसरे वर्ग के अन्तर्गत तीन ग्रन्थों

का प्रकाशन हो चुका है—(१) अनुसन्धान का स्वरूप, (२) हिन्दी के स्वीकृत शोध-प्रबन्ध तथा (३) अनुसन्धान की प्रक्रिया।

प्रस्तुत ग्रन्थ द्वितीय वर्ग का चौदहवाँ प्रकाशन है, जिसे हम काव्य एवं काव्य-शास्त्र के मर्मज्ञों की सेवा में अर्पित कर रहे हैं। इस शोध-प्रबन्ध के माध्यम से हम हिन्दीतर भारतीय भाषाओं के अक्षय भाण्डार में प्रवेश कर रहे हैं।

परिषद् की प्रकाशन-योजना को कार्यान्वित करने में हमें हिन्दी की अनेक प्रसिद्ध प्रकाशन-संस्थाओं का सक्रिय सहयोग प्राप्त होता रहा है। उन सभी के प्रति हम परिषद् की ओर से कृतज्ञता-ज्ञापन करते हैं।

नगेन्द्र
(अध्यक्ष)

हिन्दी अनुसन्धान परिषद्,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली।
२० अप्रेल, १९६३

प्रस्तावना

शुभाः ते पन्थानः सन्तु

मराठी वाङमय के इतिहास से विदित होता है कि प्राचीन काल के अधिकांश साहित्य का स्वरूप काव्यमय या पद्यबद्ध-सा था। गद्य लेखन के लिए यथेष्ट उत्तेजन विगत शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही प्राप्त हुआ। तदुपरान्त कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध इत्यादि गद्य साहित्य की विधाओं का निर्माण हुआ और इस साहित्य की प्रचुर समृद्धि हुई। इसी के साथ इस प्रकार के साहित्य के विषय में विचार चर्चा आरंभ हुई। इसके लिए हमने उसी अंग्रेजी साहित्य से समीक्षा तत्वों और विचारों को ग्रहण किया, जिससे हमारे गद्य साहित्य को उत्तेजन प्राप्त हो रहा था और उन्हीं से हम अपना निर्वाह करने लगे। परन्तु आरंभ में काव्य विषयक चिन्तन के क्षेत्र में तो हमारी दृष्टि संस्कृत साहित्य के विचारों पर केन्द्रित थी। मेरे विचार में यह स्थिति उत्तर भारत की प्रायः सभी भाषाओं के लिए संभवतः समान रही होगी।

इसका एक परिणाम यह हुआ कि हमने अपने आस पास की इतर देशी-भाषाओं की गतिविधियों के प्रति दुर्लक्ष किया और हम अंग्रेजी तथा संस्कृत साहित्य के विचारों का ही एकान्ततः अवलंब लेने लगे। इन दोनों भाषाओं में निहित वाङमय समृद्धि और साहित्य सम्बन्धी विचार हमें पर्याप्त लगने लगे। अतः हमने इतर देशी भाषाओं अथवा यूरोपीय भाषाओं का विशेष परिचय प्राप्त नहीं किया। अंग्रेजी भाषा और साहित्य का हम पर भले ही पर्याप्त ऋण रहा हो, परन्तु इस से एक बड़ी हानि यह हुई कि हम इतर भारतीय भाषाओं से दूर-दूर रहने लगे। हमारा प्रतिदिन का पारस्परिक व्यवहार निजी भाषाओं की अपेक्षा अंग्रेजी के माध्यम से चलने लगा। परिणामतः अंग्रेजी के बिना अन्य भाषाओं को सीखने की आवश्यकता ही नहीं रही। साथ ही संस्कृत और अंग्रेजी साहित्य देशी भाषाओं के साहित्य की तुलना में पर्याप्त समृद्ध था, अतः इनके अतिरिक्त अन्य साहित्य के अध्ययन की आवश्यकता भी प्रतीत नहीं होने लगी।

कम से कम मराठी जनता के विषय में तो यही स्थिति रही है। अंग्रेजी भाषा और साहित्य ये दोनों देशी भाषाओं के बीच में दीवार बन कर खड़े हो गये। प्राचीन मराठी साहित्य के सन्तों ने और कवियों ने हिन्दी में भी रचनाएँ की थी। नामदेव की हिन्दी और पंजाबी भाषाओं की रचनाएँ तो प्रसिद्ध ही हैं। परन्तु वर्तमान समय में प्रायः ऐसी स्थिति दिखाई नहीं देती। अंग्रेजी की सहायता से हम यूरोप के साहित्य सम्बन्धी विचारों की जानकारी अधिक रखते हैं परन्तु अपनी भगिनी तुल्य भाषाओं में निहित 'विचार धन' से हम अज्ञात हैं। भारतीय जनता में जो भावनात्मक ऐक्य अपेक्षित है उस दृष्टि से विचार करें तो यह परिस्थिति अनिष्ट और खेदजनक है। देशी भाषाओं के साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन और पारस्परिक परिचय अत्यन्त इष्ट और आवश्यक है। इन भाषाओं में परस्पर आदान-प्रदान को प्रोत्साहित करना चाहिए और एक दूसरे की सहायता की दृष्टि से इस कार्य में प्रवृत्त होना आवश्यक है।

डॉ० मनोहर काळे द्वारा प्रस्तुत हिन्दी और मराठी साहित्य-गत विचारों का तुलनात्मक अध्ययन इसी कारण मुझे अत्यन्त स्वागतार्ह प्रतीत होता है। जहाँ तक मराठी के सम्बन्ध में कहना है,—और मैं इसी सम्बन्ध में ही कह सकता हूँ—इन्होंने एतद्विषयक प्रायः सभी साहित्य का परिश्रम पूर्वक अध्ययन करके उनमें निहित सारभूत सिद्धान्तों को भली प्रकार से उपस्थित किया है और इनके आधार पर इन्होंने जो निष्कर्ष निकाले हैं वे उपयुक्त ही हैं। मराठी में साहित्य की इतर शाखाओं के विषय में जो अध्ययन हुआ है, उसे इस शोध-प्रबन्ध में ग्रहण नहीं किया गया है, क्योंकि इनके प्रबन्ध का क्षेत्र काव्य विचारों तक ही मर्यादित है। इनका यह शोध-प्रबन्ध हिन्दी और मराठी साहित्य के समीक्षकों के लिए अत्यन्त उपयोगी और मूल्यवान् सिद्ध हुए बिना नहीं रहेगा। इनका प्रस्तुत प्रयत्न इन दोनों भाषाओं की इतर शाखाओं में भी इसी प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन के लिए स्फूर्तिदायक और मार्गदर्शक सिद्ध होगा, ऐसी मुझे आशा है।

म्युनिसिपल कॉलनी,
पूना—४
१ फर्वरी, १९६३.

रा० श्री० जोग

प्रस्तावना

शुभाः ते पन्थानः सन्तु

मराठी वाङ्मयाच्या इतिहासांत असें आढळतें की प्राचीन कालांत बहुतेक वाङ्मय काव्यस्वरूपाचें, निदान पद्यबद्ध असें होतें, गद्य-लेखनास गेल्या शतकाच्या पूर्वार्धांतच म्हणण्यासारखें उत्तेजन मिळालें, व त्यानंतरच्या कालांत कथा, कादंबरी, नाटक, निबंध इत्यादि गद्य-वाङ्मयाचे प्रकार निर्माण होऊन त्या वाङ्मयाची भरभराट झाली, त्या-बरोबर या प्रकारच्या साहित्याविषयीहि विचार-चर्चा व्हावयास प्रारंभ झाला, या चर्चेला आधार म्हणून समीक्षेचीं तत्त्वें किंवा कल्पना याहि त्या वाङ्मयास चालना देणाऱ्या इंग्रजी वाङ्मयांतून घेऊन आपण त्यांवर निर्वाह करूं लागलों, काव्य विचारामध्ये मात्र आरंभींतरी संस्कृत साहित्य विचारच डोळयांपुढे होता, बहुतेक सर्व उत्तर-भारतीय भाषां मध्ये ही अशीच स्थिति असावी असें मला वाटतें,

याचा एक परिणाम असा झाला की आपल्या आजू बाजूच्या इतर देशी भाषां मध्ये काय चाललें आहे याकडे दुर्लक्ष करून इंग्रजी व संस्कृत साहित्य-चर्चे वरच आपण अवलंबून राहूं लागलों, या दोन भाषांत असणारी वाङ्मय-समृद्धि आणि साहित्य विचार आपल्यास पुरेसा वाटून इतर देशी भाषा किंवा युरोपीय भाषा यांचा आपण विशेष परिचय करून घेतला नाही, इंग्रजी भाषेचें आणि वाङ्मयाचें आपल्यावर कितीहि ऋण असलें तरी, त्यांचा एक मोठा अपकार असा झाला की इतर भारतीय भाषांशी आपण फटकून राहूं लागलों, आपला दैनंदिन परस्पर व्यवहार आपापल्या भाषांच्या द्वारें चालण्याऐवजी तो इंग्रजींतून चालू लागला; म्हणून तिच्या खेरीज इतर भाषा शिकण्याची आवश्यकता उरली नाही, आणि संस्कृत व इंग्रजी वाङ्मय हें देशी भाषांतील वाङ्मयाच्या मानानें फारच समृद्ध असल्याने त्याखेरीज इतर वाङ्मय वाचण्याची आवश्यकताहि वाटेनाशी झाली, निदान मराठी जनतेच्या बाबतींत तरी हें असें झालें, इंग्रजी भाषा आणि वाङ्मय हीं दोन्ही देशी भाषांच्या मध्ये भिंती प्रमाणे उभीं राहिलीं, प्राचीन मराठींत अनेक संतांनी व कवींनी हिंदी मध्येहि कांही कांही रचना केली,

होती, नामदेवांची हिंदी व पंजाबी भाषेंतील रचना प्रसिद्धच आहे, तसें अलीकडे बहुधा होत नाहीं. इंग्रजीच्या अयोगामुळे युरोपमधील साहित्य विचार आपण अधिक जाणतों, पण आपल्या भगिनी भाषांमधील विचार धन आपल्याला अज्ञात असतें, भारतीय जनतेंत जो भावनिक समवाय व्हावयास हवा आहे, त्याच्या दृष्टीने ही परिस्थिति अनिष्ट व खेदकारक आहे, देशी भाषांतील वाङमयांचा तौलनिक अभ्यास आणि परिचय होणें ही गोष्ट अत्यंत इष्ट व आवश्यक आहे त्या भाषांमधील देवघेव वाढावयास पाहिजे, व 'एकामेकां साह्य करूं' या वृत्तीने आपण या गोष्टीकडे पाहिलें पाहिजे,

डॉ० मनोहर काळे ह्यांनी हिंदी व मराठी वाङमयांतील साहित्य-विचाराचा केलेला हा तौलनिक अभ्यास ह्याकरिता मला अत्यंत स्वागतार्ह वाटतो, मराठी-पुरतेंच सांगावयाचें झाल्यास—आणि मी तेवढेंच सांगूं शकतों की त्यांनी एतद्-विषयक बहुतेक सारें वाङमय अभ्यासपूर्वक वाचून त्यांतील सारसिद्धांत योग्य प्रकारें मांडिले आहेत, व त्यावरून त्यांनी काढलेले निष्कर्षहि यथार्थ असेच आहेत, मराठी मध्ये वाङमयाच्या इतर शाखांविषयी झालेली चर्चा अर्थात् त्यांना या प्रबंधांत घेतां आली नाही; कारण त्यांनी आपल्या प्रबंधाचें क्षेत्र काव्यविचारा-पुरतेंच मर्यादित करून घेतलें आहे, त्यांचा प्रस्तुत प्रबंध हा हिंदी व मराठी साहित्याच्या समीक्षकांस फार उपयुक्त आणि मोलाचा वाटल्यावाचून राहणार नाहीं. त्यांचा हा प्रयत्न या दोन वाङमयांच्या इतर शाखांमध्येहि असाच तौलनिक विचार होण्याच्या दृष्टीने स्फूर्तिदायक आणि मार्गदर्शक होईल अशी आशा मी करितों.

म्युनिसिपल कॉलनी,
पुणें—४
१, फेब्रुआरी, १९६३

रा० श्री० जोग

श्रद्धेय डा० नगेन्द्र को
जिनकी प्रेरणा से मैं
काव्य-शास्त्र के अध्ययन
में प्रवृत्त हुआ
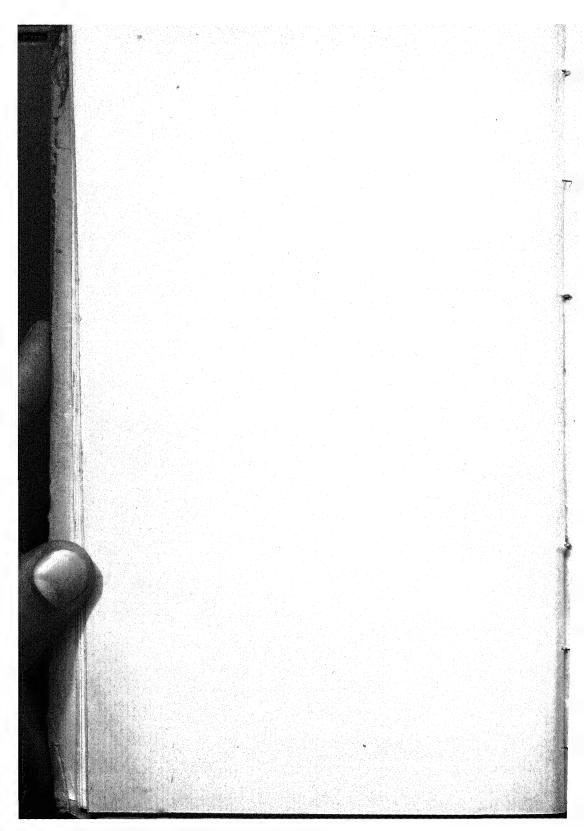
प्राक्कथन

इसमें सन्देह नहीं कि भारत का प्राचीन काव्य-शास्त्र विशेष समृद्ध है। अर्वाचीन काव्य-शास्त्र के निर्माण में उसका योगदान असन्दिग्ध है। परन्तु साहित्य की समृद्धि के साथ-साथ उसके प्राचीन सिद्धान्तों में भी परिवर्तन और परिवर्द्धन होना सहज स्वाभाविक है। अतः प्राचीन साहित्य-सिद्धान्तों को ही शाश्वत और सार्वभौम सिद्ध करना एकान्त सत्य नहीं है। आधुनिक युग के साहित्य-शास्त्र के निर्माण के लिए प्राचीन काव्य-सिद्धान्तों का कितना महत्व और योगदान है, उसका कितना अंश ग्राह्य और कितना त्याज्य है यह निर्धारित करना एक अत्यन्त जटिल किन्तु महत्वपूर्ण कार्य है। प्राचीन काव्य-सिद्धान्तों का भारतीय दर्शन, साहित्य, मानसशास्त्र आदि की व्यापक पृष्ठभूमि पर आख्यान, पुनराख्यान और पुनर्मूल्यांकन करने से ही प्रस्तुत कार्य सम्पन्न हो सकता है और आधुनिक समृद्ध साहित्यशास्त्र के निर्माण के लिए यह अत्यन्त आवश्यक भी है। इस दिशा में हिन्दी तथा मराठी के आधुनिक साहित्य शास्त्रज्ञों ने अपनी अपनी भाषा में स्वतन्त्र रूप से कार्य किया है। इस शोध प्रबन्ध में इनके विशेषतः संस्कृत काव्य-शास्त्र के सिद्धान्तों पर अधिष्ठित अध्ययन का ही तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। इससे इस विशाल देश के विद्वानों की विविध विचार-सरणियों, मान्यताओं तथा नूतन उद्भावनाओं का परस्पर परिचय प्राप्त हो सका है।

भारतीय भाषाओं में काव्य-शास्त्र के सिद्धान्तों की तात्विक चर्चा हिन्दी और मराठी में जितनी व्यापक रूप में हुई है उतनी अन्य भारतीय भाषाओं में नहीं हुई। हिन्दी-मराठी के आधुनिक काव्य-शास्त्र के निर्माण के लिए दोनों भाषाओं में इस विषय में स्वतन्त्र रूप से पृथक्-पृथक् अध्ययन नितान्त अपेक्षित है। अब तक न हिन्दी में इस दिशा में अध्ययन-कार्य हो सका है और न मराठी में ही। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में न केवल हिन्दी के काव्य-शास्त्र के आधुनिक समीक्षकों के अध्ययन का व्यापक रूप में समाहार हुआ है, वरन् मराठी के भी समृद्ध काव्य-शास्त्र के अध्ययन को यथा-सम्भव सम्यक् रूप से उपस्थित किया गया है। इस शोध-प्रबन्ध में इन दोनों भाषाओं के काव्य शास्त्र-समीक्षकों की धार-

णाओं, मन्तव्यों और अभिमतों का विवरण या संकलन मात्र नहीं है, अपितु इनके सैद्धान्तिक अध्ययन पर तुलनात्मक दृष्टि से भी चिन्तन किया गया है और अन्त में अनेक उपादेय निष्कर्ष निकाले गये हैं। संस्कृत-काव्य-शास्त्र की व्यापक पृष्ठ-भूमि पर इनके अध्ययन की परीक्षा करके इनके प्रतिपादन की अभिनवता, मौलिकता और उपादेयता की समीक्षा की गई है।

आधुनिक हिन्दी-काव्यशास्त्र के विद्वानों में पं० रामदहिन मिश्र की दृष्टि वर्तमान मराठी-काव्य-शास्त्र के अध्ययन की ओर उन्मुख हुई थी, किन्तु उनका अध्ययन केवल सूचनापरक ही रहा है। मिश्र जी के अध्ययन में एकांगिता होने के कारण अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ भी दृष्टिगत होती हैं, जिनका उल्लेख इस शोध-प्रबन्ध में यथा-स्थान कर दिया गया है।

मराठी और हिन्दी के आधुनिक काव्य-समीक्षकों ने अपने मन्तव्यों की स्थापना में अंग्रेजी-काव्य-शास्त्र से जो विचार ग्रहण किये हैं, उन पर भी हमने तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने का प्रयास किया है। इस प्रसंग में इतना उल्लेख करना आवश्यक है कि मूलतः दोनों भाषाओं के समीक्षक संस्कृत के काव्य-शास्त्र को ही उपजीव्य मान कर चले हैं।

यह शोध-प्रबन्ध सात अध्यायों में विभक्त है। अंतिम अध्याय में हिन्दी-मराठी की लगभग एक हजार वर्ष की साहित्य-शास्त्र की विकास-परम्परा का ऐतिहासिक दिग्दर्शन प्रस्तुत किया गया है। इसमें केवल ग्रन्थों की विषय-सूची अथवा ग्रन्थकारों की नामावली मात्र प्रस्तुत करना उद्देश्य नहीं रहा है, वरन् प्रमुख साहित्यशास्त्रज्ञों के विशिष्ट दृष्टिकोण तथा उनके विवेच्य विषय के सारांश को भी निरूपित किया गया है। इसमें हिन्दी-मराठी के प्राचीन तथा मध्ययुगीन साहित्यशास्त्रज्ञों तथा उनकी कृतियों का विस्तृत निरूपण नहीं किया गया है। शोध-प्रबन्ध के लिए स्वीकृत विषय के अनुरूप आधुनिक साहित्यशास्त्रज्ञों की रचनाओं का ही विस्तार से विवरण प्रस्तुत किया गया है। समग्र रूप से इस अध्याय में हिन्दी-मराठी के साहित्यशास्त्र के सैद्धान्तिक अध्ययन का अभीष्ट आधारफलक तैयार हुआ है।

शेष छः अध्याय सैद्धान्तिक अध्ययन से सम्बद्ध हैं। प्रत्येक अध्याय के प्रारंभ में आवश्यकतानुरूप संस्कृत-साहित्य -शास्त्र की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि संक्षेप में प्रस्तुत की गई है। हिन्दी-मराठी के काव्य-शास्त्रज्ञों का सैद्धान्तिक चिन्तन मूलतः संस्कृत के साहित्य-सिद्धान्तों पर ही अधिष्ठित है। अतः इस पृष्ठभूमि की अनिवार्यता असंदिग्ध है।

रस-सिद्धान्त के तुलनात्मक अध्ययन के अन्तर्गत प्रथम 'भाव प्रकरण' है।

इसमें भाव, स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों का अध्ययन अभिनव रूप में प्रस्तुत किया गया है। इन भावों के स्वरूप, लक्षण, वर्गीकरण तथा नये-नये प्रकारों की मीमांसा संस्कृत-साहित्य-शास्त्र तथा पाश्चात्य मानस शास्त्र के आधार पर विस्तार से की गई है। अनेक नवीन स्थायी भावों तथा नवीन संचारी भावों की सम्भावना पर प्रकाश डाला गया है। 'रस-स्वरूप' के विषय में 'वस्तुवादी', 'भाववादी' तथा 'आनन्दवादी' दृष्टिकोणों का एकत्र निरूपण प्रथमतः इसी शोध-प्रबन्ध में हो रहा है। एक ओर हिन्दी-मराठी के काव्य शास्त्रज्ञों द्वारा नवोद्भावित 'प्रकृतिरस', 'विषादरस', 'उदात्तरस', 'उद्वेग-रस', 'प्रक्षोभरस', 'क्रान्तिरस', 'देश-भक्तिरस' आदि की विस्तृत समीक्षा की गई है तो दूसरी ओर परम्परागत नौ रसों में से बीभत्स, रौद्र आदि रसों की अनुपयोगिता या निस्सारता के विषय में प्रस्तुत इनकी धारणाओं का भी तुलनात्मक अध्ययन किया गया है।

रस-स्वरूप की विभिन्नता को दृष्टि में रख कर रसास्वाद या काव्यास्वाद का तथा करुण रसानुभूति के स्वरूप का पृथक्-पृथक् प्रकरणों में विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। चार-पांच शताब्दियों तक हिन्दी तथा मराठी भाषा में समान रूप से भक्ति-रसात्मक काव्य-साहित्य का प्रचुर निर्माण हुआ है, अतः भक्ति रस पर एक पृथक् प्रकरण में सैद्धान्तिक अध्ययन किया गया है और भक्ति रस की स्वतन्त्र प्रतिष्ठापना के गुण-दोषों की विस्तृत समीक्षा की गई है।

इस अध्याय के अन्त में रस-सिद्धान्त की सीमाओं तथा न्यूनताओं का प्रथम व्यापक निरूपण किया गया है, तत्पश्चात् इसकी शक्ति और व्याप्ति का भी साधार विवेचन किया गया है जिससे इस सिद्धान्त की काव्य-मूल्यांकन की क्षमता की प्रतीति हो सके।

अलंकार-सिद्धान्त के तुलनात्मक अध्ययन में संस्कृत साहित्य-शास्त्रगत अलंकार-विकास की पृष्ठभूमि का निरूपण करने के उपरान्त हिन्दी-मराठी के काव्यशास्त्रज्ञों की मान्यताओं के अनुरूप अलंकार-परिभाषा, अलंकार-स्वरूप, अलंकारों की काव्यगत उपादेयता, अलंकार-वर्गीकरण, अलंकार-संख्या के संकोच और विस्तार का व्यापक तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। इन विभिन्न अलंकार-विषयों के सम्बन्ध में संस्कृत-परम्परा-भिन्न अनेक अभिनव मान्यताओं और विचारों का इस अध्याय में निरूपण हुआ है। विशेषतः अलंकार-स्वरूप, अलंकार-वर्गीकरण, अलंकार-संख्या-संकोच और विस्तार के विषय में पाश्चात्यों के अलंकार-विषयक अध्ययन का भी हिन्दी-मराठी के समीक्षकों ने उपयोग किया है, फलतः इसी अध्याय में पाश्चात्य अलंकार विकास की रूपरेखा भी संक्षेप

में प्रस्तुत की गई है। आधुनिक काव्य-साहित्य के अनुरूप आविष्कृत अनेक नवीन अलंकारों का भी निरूपण इस अध्याय में किया गया है।

यद्यपि आधुनिक काव्य-शास्त्रज्ञों की रीति-गुण विषयक मान्यताएँ एकान्ततः परम्परा भुक्त नहीं हैं, इनके चिन्तन में अभिनवता भी है, तथापि इनकी धारणाओं का संस्कृत के रीति-सिद्धान्त तथा पाश्चात्य शैली (स्टाइल) तत्व के आधार पर परीक्षण करते हुए तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। भारतीय रीति-सिद्धान्त में कवि-व्यक्तितत्व का महत्व-मापन पूर्ण रूप से नहीं हो सका है। पाश्चात्य शैली (स्टाइल) तत्व में कवि-व्यक्तितत्व की जैसी महत्व-प्रतिष्ठा है, वैसी भारतीय रीति-सिद्धान्त में भी गुण तत्व के पुनराख्यान से पूर्णतः सम्भव है, इस तथ्य का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। हिन्दी-मराठी के समीक्षकों द्वारा प्रस्तुत भारतीय रीति और पाश्चात्य शैली (स्टाइल) तत्व के पारस्परिक साम्य-वैषम्य का विस्तृत तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। वामन के रीति-सिद्धान्तगत कतिपय तत्वों का पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्रीय तत्वों से साम्य-वैषम्यमूलक अध्ययन भी इसी अध्याय के अन्तर्गत आ गया है। अन्त में रीति-सिद्धान्त की सीमा-शक्ति का निरूपण करते हुए इस सिद्धान्त की काव्य-मूल्यांकनगत उपादेयता का समीक्षण किया गया है।

ध्वनि-सिद्धान्त का मूलभूत आधार है—शब्द-शक्ति। संस्कृत के आचार्यों ने अभिधा, लक्षणा, व्यंजना आदि शब्द-शक्तियों में व्यंजना या ध्वनि को एकान्त महत्व प्रदान किया है और उसी में काव्यत्व की स्थिति निर्धारित की है। यद्यपि हिन्दी-मराठी के समीक्षकों ने शब्द-शक्तियों के वैज्ञानिक अध्ययन का बहुत कम प्रयत्न किया है, तथापि ध्वनिवाद की प्रतिक्रिया आधुनिक समीक्षकों में दो रूपों में हुई है। कतिपय समीक्षकों ने ध्वन्यर्थ की अपेक्षा मूलतः वाच्यार्थ में काव्यत्व मानना अधिक संगत ठहराया है तो कतिपय वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ तीनों से ही रसानुभूति को पूर्ण सम्भव मानते हैं। काव्य का आत्म पद पाने में ध्वनि तथा रस का द्वन्द्व कहाँ तक वास्तविक है ? काव्यत्व की दृष्टि से इन दोनों का क्या महत्व है ? ध्वनि काव्य का साध्य है अथवा साधन है ? इत्यादि तात्विक प्रश्नों का हिन्दी-मराठी के समीक्षकों की मान्यताओं के आधार पर विस्तृत समाधान प्रस्तुत किया गया है। अन्त में ध्वनि तत्व की काव्यगत उपादेयताओं का भी प्रतिपादन किया गया है।

आचार्य वामन के रीति-सिद्धान्तों की भाँति कुंतक के वक्रोक्ति सिद्धान्त का सम्बन्ध भी प्रायः काव्य की बाह्य अभिव्यक्ति-पद्धति से ही है। हिन्दी-मरठी के समीक्षकों ने 'वक्रोक्ति' को अलंकार रूप में तथा अभिव्यक्ति-पद्धति के रूप में

व्यापक समीक्षा की है। क्रोचे के अभिव्यंजनावाद और कुंतक के वक्रोक्तिवाद का भी इसी अध्याय में साम्य-वैषम्यमलक अध्ययन अत्यन्त विस्तार से प्रस्तुत किया गया है। आचार्य कुंतक ने वक्रोक्ति तत्व को वर्ण तथा पद से आरम्भ करके प्रबन्ध काव्य तक व्याप्त कर दिया है। ऐसी स्थिति में वक्रोक्ति को 'काव्य-जीवित' क्यों न स्वीकार कर लिया जाय ? इस महत्वपूर्ण प्रश्न का हिन्दी-मराठी के समीक्षकों के विभिन्न मतों के आधार पर व्यापक समाधान प्रस्तुत किया गया है।

इस शोध-प्रबन्ध का छठा अध्याय औचित्य-सिद्धान्त के तुलनात्मक अध्ययन से सम्बद्ध है। इस सिद्धान्त की समीक्षा संस्कृत-साहित्य शास्त्र में ही अधिक नहीं हो सकी है। फलतः आधुनिक हिन्दी-मराठी के समीक्षकों ने भी इसका व्यापक अध्ययन प्रस्तुत नहीं किया है। फिर भी औचित्य को काव्य का आत्म-तत्व मानना कहाँ तक संगत है ? औचित्य की काव्य में वास्तविक स्थिति क्या है ? सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से औचित्य का क्या महत्व है ? औचित्य-सिद्धान्त का जीवन और कला के क्षेत्र में क्या योगदान है ? इत्यादि प्रश्नों का हिन्दी-मराठी के समीक्षकों के मतों का विस्तृत निरूपण करते हुए समाधान प्रस्तुत किया गया है। अन्त में औचित्य सिद्धान्त की सीमाओं तथा शक्तियों का विवेचन करते हुए इस तत्व की काव्य-गत वास्तविक स्थिति का निर्धारण किया गया है।

इस प्रकार हिन्दी-मराठी के काव्यशास्त्रज्ञों की रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति तथा औचित्य सिद्धान्त से सम्बद्ध विभिन्न धारणाओं, मान्यताओं तथा अभिमतों का तुलनात्मक अध्ययन काव्यशास्त्र के क्षेत्र में एक अभिनव विनम्र प्रयास है। इससे काव्यशास्त्रगत अनेक प्रचीन तथा अर्वाचीन जटिल प्रश्नों का सहज समाधान उपलब्ध हो सका है।

काव्यशास्त्र के प्रस्तुत सैद्धान्तिक तुलनात्मक अध्ययन में मैं 'अन्तिम निर्णय' देने से प्रायः बचता रहा हूँ। मेरी अल्प मति में कम से कम सैद्धान्तिक चिन्तन में तो शाश्वत और अन्तिम सत्य का निर्धारण वस्तुतः नितान्त कठिन ही नहीं असम्भव-सा है। अतः प्रस्तुत अध्ययन में पूर्वाग्रह से मुक्त रहने का यथासम्भव प्रयत्न किया गया है। संस्कृत के रस-ध्वनिवादी आचार्यों का दृष्टिकोण अपना कर 'रस', 'अलंकार' तथा 'रीति' आदि के सम्बन्ध में प्रस्तुत आधुनिक हिन्दी-मराठी-लेखकों के विभिन्न दृष्टिकोणों की प्रत्यालोचनाएँ की जा सकती थीं। परन्तु इस शोध-प्रबन्ध का प्रयोजन संस्कृत-साहित्यशास्त्र के सिद्धान्तों में से किसी एक की रस-ध्वनिवादी आचार्यों के दृष्टिकोण से ही शाश्वत महत्ता सिद्ध करने का नहीं रहा है। परिणामतः प्रस्तुत प्रबन्ध में विभिन्न दृष्टियों, चिन्तन प्रकारों तथा मान्यताओं

को ही यथावत् प्रस्तुत करने का अधिक प्रयत्न किया गया है। उदाहरणार्थ, रस के वस्तुवादी, भाववादी तथा आनन्दवादी दृष्टिकोणों में काव्य-मूल्यांकन की दृष्टि से मुझे भाववादी दृष्टिकोण अधिक युक्तिसंगत और ग्राह्य प्रतीत हुआ है। परन्तु भरतमुनि की युग-सीमा और नाट्य दृष्टि को ध्यान में रख कर रस का आरम्भिक वस्तुवादी दृष्टिकोण भी मुझे असंगत प्रतीत नहीं होता। भारत में अद्वैत-वेदान्त का दार्शनिक प्रचण्ड प्रवाह रस के वस्तुवादी स्वरूप को बहाकर आनन्दवादी स्वरूप की ही एकान्त प्रतिष्ठापना कर गया, यह भी एक ऐतिहासिक सत्य है। मैंने इन विभिन्न दृष्टिकोणों की सीमा-शक्तियों के निरूपण का भी स्वल्प प्रयत्न किया है, परन्तु इसमें भी विभिन्न समीक्षकों की धारणाओं को ही पर्याप्त स्थान देना अधिक उपयुक्त समझा है। इससे भावी चिन्तन का मार्ग असंदिग्ध रूप से प्रशस्त होगा।

दिल्ली में मराठी-साहित्यशास्त्र के विद्वान् पथ-प्रदर्शकों और उपयोगी ग्रन्थों का अभाव मेरे अध्ययन में पग-पग पर असीम कठिनाइयाँ उपस्थित करता रहा। एतदर्थ मुझे प्रतिवर्ष ग्रीष्मावकाश में बम्बई तथा पूना में ही निवास करना आवश्यक हुआ। वहाँ के विद्वानों ने अपना अमूल्य समय दे कर सत्परामर्शों से मेरी अनेक शंकाएँ तथा कठिनाइयाँ दूर कीं। प्रा० रा० श्री जोग, डा० के० ना० वाटवे, प्रा० द० के० केळकर डा० रा० शं० वाळिंबे आदि ने मुझसे बड़ी आत्मीयता के साथ सैद्धान्तिक चर्चा की। मराठी-ग्रन्थों के लिए 'मुंबई मराठी ग्रन्थ संग्रहालय' के अध्यक्ष श्री सातोसकर तथा 'बम्बई युनिवर्सिटी लायब्रेरी' केअध्यक्ष श्री मार्शल की मुझ पर विशेष कृपा रही। दिल्ली में भी श्री नी० र० वर्‍हाडपांडे तथा श्री आ० रा० देशपांडे ने इस शोध-प्रबन्ध के लिए उपयोगी सामग्री तथा परामर्श प्रदान किये। डा० सुरेन्द्र शिवदास बारलिंगे ने इस शोध-प्रबन्ध के विशेषतः मराठी-अंश को पूर्ण मनोयोग से पढ़ कर इस पर विस्तृत चर्चा की और अपने अमूल्य सुझाव दिये। इसके लिए मैं इन सभी विद्वानों का आभारी हूँ। फिर भी इस शोध-प्रबन्ध में यदि कोई दोष रह गये हैं तो इसका उत्तरदायित्व-पूर्णतः मुझ पर है। अपने पथ-प्रदर्शक विद्वानों का नामोल्लेख कर मैं अपने उत्तर-दायित्व से बचना नहीं चाहता।

प्रस्तुत प्रबन्ध लिखने की प्रेरणा मुझे श्रद्धेय डा० नगेन्द्र से प्राप्त हुई और इन्हीं के मार्ग-दर्शन में यह कार्य पूर्ण भी हो सका है। विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य के अतिरिक्त विश्वविद्यालय के प्रशासकीय कार्यों में निरन्तर व्यस्त रहने पर भी इन्होंने समय-समय पर जो मार्ग-दर्शन किया वह मेरे लिये महत्वपूर्ण सिद्ध होता रहा। डा० नगेन्द्र ने इस शोध-प्रबन्ध को आद्योपान्त पढ़ कर जो संशोधन,

सुझाव और सम्मतियाँ प्रदान कीं उन्हीं के फल-स्वरूप मैं अपने प्रबन्ध को प्रस्तुत करने में समर्थ हो सका हूँ।

इस प्रबन्ध के लिखने में गुरुवर डा० विजयेन्द्र स्नातक भी आरम्भ से ही मेरे मार्ग-दर्शक रहे हैं। इन्होंने समय-समय पर इस प्रबन्ध को पढ़ कर सत्परामर्शों द्वारा मेरी जो सहायता की है, उसके लिए मैं उनका चिर आभारी हूँ।

मनोहर काळे
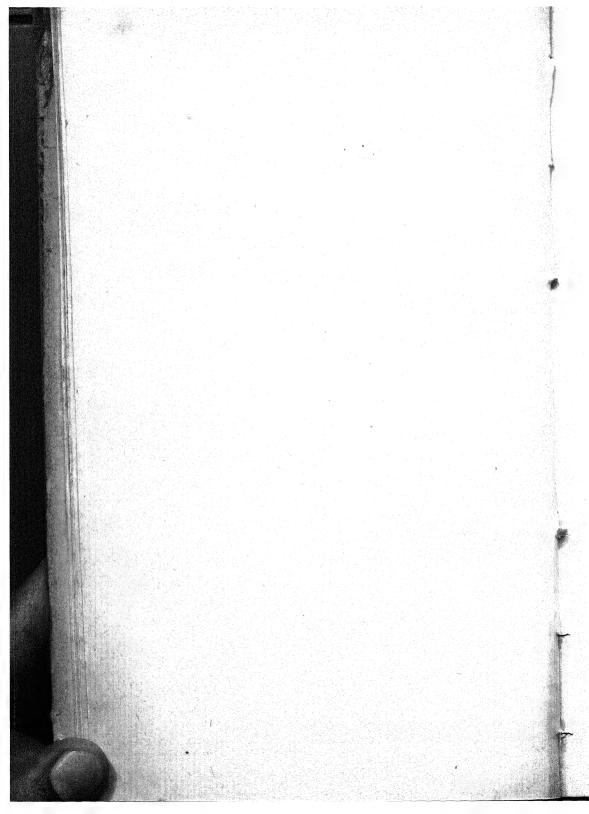
विषय-प्रवेष

साहित्य-शास्त्र :

परिभाषा और विषय-सीमा

काव्य-शास्त्र :

'साहित्य' शब्द के उद्भव का समय पूर्ण रूप से निर्धारित करना कठिन है। साहित्य शब्द के आविर्भाव से पूर्व काव्य शब्द का ही प्रचलन था।[1] कवि की कृति काव्य कहलाती[2] और संस्कृत भाषा का अधिकांश साहित्य पद्यमय होने से उस साहित्य के मूल्यांकन, समीक्षण एवं नये मानदण्ड के स्थिर करने वाले ग्रन्थों का नाम भी काव्य के आधार पर ही रखा गया—काव्यालंकार, काव्यादर्श, काव्यमीमांसा, काव्यप्रकाश आदि। अलंकार शब्द का प्रयोग भी पर्याप्त प्राचीन है।[3] काव्य-तत्त्वों के सांगोपांग विवेचन के लिए प्रयुक्त होता रहा। परन्तु साहित्य शब्द का प्रयोग 'काव्य' तथा 'अलंकार' की तुलना में अपेक्षाकृत अर्वाचीन प्रतीत होता है।

आरम्भ में काव्य-इतर जगत् में साहित्य शब्द का प्रयोग मिलता है। वहाँ यह सामान्यतः 'समन्वय' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वहाँ 'साहित्य' से शब्द तथा अर्थ का समन्वय—अर्थ अभीष्ट नहीं था[4], जो कालान्तर में 'काव्य' के समान ही निर्धारित किया गया। अब तक यही धारणा है कि राजशेखर ने ही प्रथम साहित्य शब्द का पारिभाषिक प्रयोग 'काव्य-मीमांसा' में किया है।[5] इनके मत में साहित्य शब्द की निरुक्ति इस प्रकार है :

---

१. पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति, अथर्ववेद, १०।८।३२

२. कवेरिदं कार्यभावो वा, (ष्यञ्) मेदिनी कोष

३. दे० अलंकार प्रकरण

४. कात्यायन श्रौतसूत्र, कपिल संहिता, कामन्दकी नीतिसार
—रामनरेश वर्मा, वक्रोक्ति और अभिव्यंजना, पृ० १२

५. बलदेव उपाध्याय : भारतीय साहित्यशास्त्र, प्र० खण्ड, पृ० ५६४।

शब्दार्थयोर्यथावत् सहभावेन विधा साहित्य विधा।

साहित्य शब्द की प्रस्तुत निरुक्ति काव्यशब्द की परंपरागत परिभाषा 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'[1] पर आधारित प्रतीत होती है। राजशेखर ने 'साहित्य विद्या' को चार विधाओं का सार प्रतिपादित करते हुए इसे 'पाँचवीं विद्या' कहा है।[2] इससे साहित्य शब्द के एक व्यापक अर्थ की भी ध्वनि निकलती है।

राजशेखर के उपरान्त भोजराज ने अपने 'श्रृंगार प्रकाश' में साहित्य शब्द की व्याख्या की है : 'जो शब्द और अर्थ का सम्बन्ध है, वही साहित्य है।' और इन्होंने शब्दार्थ के सम्बन्ध को बारह प्रकार का बताया है।[3] भोजराज की साहित्य परिभाषा काव्य की ही परिभाषा है। इन बारह प्रकारों में शब्द-शक्तियों के साथ रस, अलंकार, रीति-गुण-दोष आदि काव्य तत्त्वों का समाहार हो जाता है। इस प्रकार भोज-निरूपित 'साहित्य' शब्द एक प्रकार से 'काव्य' का ही पर्याय है।

भोज समकालीन तीसरे आचार्य हैं—कुन्तक। इन्होंने 'साहित्य' शब्द की व्याख्या करने से पूर्व स्पष्ट संकेत कर दिया है कि इनसे पूर्व किसी भी विद्वान् ने साहित्य शब्द के 'परमार्थ' का उद्घाटन नहीं किया अतः इन्हें साहित्य के 'परमार्थ' के उद्घाटन की आवश्यकता प्रतीत हुई है।[4] कुंतक की धारणा में साहित्य का लक्षण है :

साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः।[5]

आचार्य कुंतक की प्रस्तुत साहित्य-परिभाषा उनके काव्य की परिभाषा से पर्याप्त मिलती-जुलती है।[6] अंतर शब्द-विन्यास में आ गया है। साहित्य की

---

१. भामह : काव्यालंकार १

२. पंचमी साहित्य विद्या। सा हि चतसृणां विद्यानां निष्यन्दः। काव्यमीमांसा, ६.४

३. किं साहित्यम् ? यः शब्दार्थयोः सम्बन्धः। स च द्वादशधा, १ अभिधा, २ विवक्षा, ३ तात्पर्यम्, ४ प्रविभागः, ५ व्यपेक्षा, ६ सामर्थ्यम्, ७ अन्वयः, ८. एकार्थीभावः, ९ दोषदानम्, १० गुणदानम्, ११ अलंकारयोगः, १२ रसावियोगः।

४. हिन्दीवक्रोक्तिजीवित, पृ० ५९

५. वही, प्र० उ० का० १७।

६. शब्दार्थौ सहितौ वक्रव्यापार शालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लाद कारिणि ॥ प्र० उ० का० ७

परिभाषा में शब्दार्थ के 'अन्यूनानतिरिक्तत्व' और 'मनोहारिणि' विशेषण दिये हैं तो काव्य की परिभाषा में 'वक्रव्यापार शालिनि' और 'आह्लाद कारिणि ।' वस्तुतः दोनों में शब्द-भेद मात्र प्रतीत होता है, भाव-भेद नहीं । अपने मौलिक सिद्धान्त वक्रोक्ति पर विशेष बल देने के लिए ही संभवतः कुंतक ने काव्य-परिभाषा में 'वक्र-व्यापार शालिनि' विशेषण जोड़ा है । इन्होंने अपने ग्रन्थ का अभिधान 'काव्यालंकार' के रूप में निरूपित किया है ।[1] संभवतः कुंतक 'काव्य' और 'वक्रव्यापार' का अभिन्न संबन्ध व्यक्त करना चाहते थे, फलतः इन्होंने काव्य-लक्षण में ही इसकी मूलभूत स्थिति का प्रतिपादन कर दिया है ।

शारदातनय ने भोजराज की साहित्य-परिभाषा को यथावत् स्वीकार किया है । इन्होंने भी भोज के समान ही साहित्य के बारह संबन्धों का विस्तृत वर्णन अपने ग्रन्थ में किया है और इन द्वादश सम्बन्धों में रस, गुण आदि काव्यतत्वों का सन्निवेश है ।[2]

इस प्रकार नवम शताब्दी से साहित्य शब्द काव्य का पर्यायवाची बना । राजशेखर, कुंतक, भोजराज की दृष्टि इस शब्द के सौन्दर्य की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुई । परवर्ती काव्य-मीमांसक आचार्यों में रुय्यक और विश्वनाथ ने अपने ग्रंथों का नाम 'साहित्यमीमांसा' और 'साहित्यदर्पण' रख कर साहित्य शब्द को काव्य-तत्व-मीमांसा के जगत् में भी लोकप्रिय बना दिया ।

काव्य-तत्त्व-मीमांसा के क्षेत्र में साहित्य शब्द के प्रवेश से पूर्व इसका स्वरूप 'काव्य' से किंचित् व्यापक प्रतीत होता है । यह केवल काव्य का ही पर्याय प्रतीत नहीं होता, वरन् अक्षर रूप में लिखित समस्त वाङमय (वेद, इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र, काव्य आदि) के लिए इसका प्रयोग होता था । ई० सन् ६५० के लगभग भर्तृहरि ने अपने नीतिशतक में 'साहित्य' शब्द का प्रयोग लगभग इसी व्यापक अर्थ में किया है ।[3] नवीं-दसवीं शती में कविवर विल्हण ने अपने 'विक्रमांकदेव चरित चर्चा' में साहित्य शब्द का काव्य की अपेक्षा व्यापक अर्थ में ही प्रयोग किया है । इन्होंने 'काव्य' को साहित्य-समुद्र के मन्थन से उत्पन्न अमृत

---

१. हिन्दी वक्रोक्ति जीवित, पृ० ९-१०

२. भावप्रकाश, पृ० १४५-१५२ गायकवाड सीरीज, (१९३०)

३. साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः । भर्तृ० नीति०, श्लो० १२

कहा है ।[१] यद्यपि संस्कृत में 'अलंकार शास्त्र' इस अभिधा का प्रयोग सामान्यतः व्यापक काव्यशास्त्र के अर्थ में भी हुआ है ।[२] परन्तु साहित्य शब्द के साथ शास्त्र का प्रयोग विरल है । 'साहित्य' और 'शास्त्र' शब्द की पृथक्-पृथक् परिभाषाओं का और दोनों के पारस्परिक अंतर का भी संस्कृत में प्रतिपादन हुआ है ।[३]

हिन्दी साहित्य के रीतिकाल में काव्यतत्वों के निरूपक ग्रन्थों के लिए साहित्य शब्द का प्रचुर प्रयोग हुआ है । मतिराम ने 'साहित्यसार', करन कवि ने 'साहित्यरस', ग्वाल ने 'साहित्यदर्पण' तथा 'साहित्यदूषण', रामदास ने 'साहित्य सार' नाम से रचनाएँ की हैं । हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में भी सीताराम शास्त्री ने 'साहित्यसिद्धान्त', बिहारीलाल भट्ट ने 'साहित्यसागर', मिश्रबन्धुओं ने 'साहित्यपारिजात', कन्हैयालाल पोद्दार ने 'साहित्यसमीक्षा', महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'साहित्यालाप' तथा 'साहित्यसंदर्भ', श्यामसुंदरदास ने 'साहित्यालोचन', बलदेव उपाध्याय ने 'भारतीय साहित्यशास्त्र', रामकुमार वर्मा ने 'साहित्यशास्त्र' लिख कर साहित्य शब्द का प्रयोग 'काव्य' तथा उसकी व्यापक विधाओं को ध्यान में रख कर किया है ।

मराठी साहित्य में भी 'काव्यशास्त्र' की अपेक्षा 'साहित्यशास्त्र' शब्द अधिक प्रचलित रहा है । काव्य-शास्त्र-विवेचक ग्रन्थों के लिए अधिकांश ने 'साहित्य शास्त्र' अभिधान ही प्रयुक्त किया है । गणेश सदाशिव लेले ने 'साहित्य शास्त्र', पा० वा० काणे ने 'संस्कृत साहित्य शास्त्राचा इतिहास', वि०वा० भिडे ने 'साहित्य कौमुदी', दा० ना० आपटे ने 'साहित्य प्रकाश', मा० गो० देशमुख ने 'मराठी चे साहित्यशास्त्र', ग० त्र्यं० देशपांडे ने 'भारतीय साहित्य शास्त्र' लिख कर साहित्य और शास्त्र संज्ञाओं का सैद्धान्तिक विवेचन के लिए प्रयोग किया है ।

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष है:

१. साहित्य शब्द का प्राचीनतम अर्थ 'समन्वय' है । इस सामान्य 'समन्वय' वाचक साहित्य शब्द का प्रयोग कात्यायन श्रोत सूत्र, कपिल संहिता, 'कामंदकी-नीतिसार' आदि में मिलता है ।

---

१. साहित्यपाथोनिधिमन्थनोत्थं काव्यामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः-वि० च० च०

२. यद्यपि रसालंकाराद्यनेकविषयमिदं शास्त्रं तथापि छत्रिन्यायेन अलंकारशास्त्रमुच्यते–प्रतापरुद्रीयटीका, रत्नापण, पृ० ३

३. न च काव्ये शास्त्रवित् अर्थप्रतीत्यर्थं शब्दमात्रं प्रयुज्यते । सहितयोः शब्दार्थयोः तत्र प्रयोगात् साहित्यं तुल्यकक्षत्वेन अन्यूनातिरिक्तत्वम्––व्यक्तिविवेकटीका, पृ० ३६

२. दूसरा अर्थ है—सम्पूर्ण वाङ्मय विस्तार। इसका प्रयोग 'काव्य शास्त्र' इतर ग्रन्थों—भर्तृहरि शतक, विक्रमांकदेवचरितचर्चा आदि—में मिलता है।

३. साहित्य शब्द का तीसरा अर्थ 'काव्य' है। इसका प्रयोग 'काव्य' शब्द के पर्याय-रूप में राजशेखर, कुंतक, भोज, शारदातनय, रुय्यक, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने किया है।

हिन्दी-मराठी के मध्यकालीन और अर्वाचीन काव्य-शास्त्र-निरूपकों ने भी लगभग काव्य के अर्थ में ही 'साहित्य' शब्द का प्रयोग किया है।

आधुनिक युग में साहित्य शब्द का अर्थ व्यापक हो गया है। वर्तमान समय में अक्षर रूप में लिखित समस्त वाङमय विस्तार साहित्य के अन्तर्गत आ जाता है। वैज्ञानिक साहित्य, दार्शनिक साहित्य, सामाजिक साहित्य, धार्मिक साहित्य, राजनैतिक साहित्य आदि नाना रूप साहित्य के बन गये हैं। परन्तु 'साहित्य' शब्द के उच्चारण से एक परम्परागत रूढ़ अर्थ का बोध अब भी होता है, जिसे गद्य-पद्यमयी रागात्मक रचना कह सकते हैं, जो सहृदयों में भाव-संवेदन जगा सके और आनन्दानुभूति भी करा सके। इसके अन्तर्गत 'ललित वाङमय' के समस्त रूप (काव्य-प्रबन्ध, मुक्तक आदि पद्यमय तथा नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि गद्यमय) अन्तर्भूत होते हैं। साहित्य की इन विविध विधाओं (फार्म्स) के ऐतिहासिक विकास, लक्षण, भेद-प्रभेद, प्रयोजन, उत्पत्ति-हेतु, पारस्परिक सम्बन्ध आदि का सविस्तर वर्णन-विवेचन 'साहित्य शास्त्र' की परिधि में आता है। अतः आधुनिक युग के 'साहित्य शास्त्र' में साहित्य की उदीयमान इन अनेक नवीन-नवीन विधाओं का अन्तर्भाव करना होगा।

साहित्यशास्त्र का समानार्थी 'काव्यशास्त्र' शब्द भी हिन्दी-मराठी में प्रचलित हो रहा है। परन्तु आधुनिक युग में 'काव्य' शब्द संकुचितार्थ का द्योतक बन गया है, वह अब केवल पद्यात्मक साहित्य का प्रतीक-सा बन गया है। वर्तमान समय में एक ओर 'काव्य' शब्द का 'अर्थसंकोच' हो गया है तो दूसरी ओर साहित्य शब्द का 'अर्थ-विस्तार'। प्राचीन साहित्य चाहे संस्कृत का हो चाहे हिन्दी व हिन्दी-इतर भाषाओं का हो, वह अधिकांश में पद्यात्मक रहा है। उसके तत्व-समीक्षण तथा विवेचन के लिए 'काव्यशास्त्र' शब्द उपयुक्त भी हो सकता है। संस्कृत के प्रायः सभी आचार्यों ने 'काव्य' के 'गद्य' और 'पद्य' दो सामान्य वर्ग बनाये हैं। परन्तु इन्होंने जितना पद्य का विवेचन किया है उसकी तुलना में गद्य-विवेचन नगण्य-सा है। फलतः काव्य शब्द उत्तरोत्तर युग में 'पद्य' के लिए रूढ़-सा होता गया।

आधुनिक साहित्य में चाहे वह हिन्दी का हो, चाहे मराठी का, पद्य की अपेक्षा गद्य की विभिन्न विधाओं का प्रचुर विकास-विस्तार हो रहा है। गद्य तथा पद्य की इन विभिन्न विधाओं के स्वरूप, लक्षण, भेद-प्रभेद आदि के विवेचक सिद्धान्त-निरूपक ग्रन्थों के लिए 'काव्यशास्त्र' की अपेक्षा 'साहित्यशास्त्र' शब्द अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

प्रस्तुत प्रबन्ध (आधुनिक हिन्दी और मराठी काव्यशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन) में साहित्य की सभी विधाओं के तत्वों का अध्ययन नहीं किया गया है। इसमें संस्कृत-काव्यशास्त्र के परंपरागत किन्तु मौलिक तथा महत्वपूर्ण तत्वों—रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति और औचित्य—पर आधुनिक हिन्दी तथा मराठी भाषा में हुए अध्ययन का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। भारतीय साहित्यशास्त्र के रस, रीति, अलंकार आदि तत्वों का महत्व इस दृष्टि से भी है कि वे गद्यात्मक तथा पद्यात्मक साहित्य-प्रकारों के मूल्यांकन में भी कुछ सीमा तक समर्थ हैं। परन्तु प्रस्तुत प्रबन्ध में साहित्य की सभी विधाओं तथा साहित्यशास्त्र के सभी सिद्धान्तों तथा तत्वों का अध्ययन नहीं है, अतः 'काव्यशास्त्र' शब्द हमारे सीमित अध्ययन को अपने में समाहित रखने में अपेक्षाकृत अधिक समर्थ प्रतीत होता है।

'आधुनिक हिन्दी और मराठी काव्यशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन' इस शीर्षक पर एक अन्य संभाव्य आपत्ति का निराकरण यहाँ अप्रासंगिक न होगा। अब तक हिन्दी और मराठी में से किसी भाषा का भी कोई स्वतंत्र साहित्यशास्त्र नहीं है। अतः दोनों के तुलनात्मक अध्ययन की संभावना के लिए अवकाश ही कहाँ है?

वस्तुतः आधुनिक हिन्दी और मराठी में 'काव्यशास्त्र' के नाम पर संस्कृत के रस, रीति, अलंकार आदि तत्वों की ही प्रायः मीमांसा हुई है। हिन्दी तथा मराठी के अधिकांश लेखकों ने इन्हीं तत्वों का पुनराख्यान तथा पुनर्मूल्यांकन किया है, इन्हीं तत्वों पर नये-नये संस्कार-परिष्कार सुझाये हैं। अतः इसे हिन्दी या मराठी का काव्यशास्त्र कहना अनुपयुक्त-सा प्रतीत होता है। इस प्रश्न के उत्तर में हम इतना विनम्र निवेदन करना चाहते हैं कि आधुनिक हिन्दी और मराठी के लेखकों का काव्यशास्त्र-विवेचन नितांत परंपरा-भुक्त नहीं है। आधुनिक युग के बौद्धिक जागरण, वैज्ञानिक प्रगति, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, साहित्य, समालोचना तथा मनोविज्ञान आदि ने हमारी चिन्तन-प्रणाली में नवीनता तथा शैलीगत मौलिकता उपस्थित कर दी है। आधुनिक युग के हिन्दी तथा मराठी के काव्य-शास्त्र-लेखकों ने प्राचीन-साहित्य-सिद्धान्तों के मूल्यांकन में आप्त-प्रमाण

की अपेक्षा मानसशास्त्र, पाश्चात्य काव्य-शास्त्र तथा सामयिक साहित्य के विराट् रूप को भी ध्यान में रखा है अतः इनके काव्यशास्त्र-विवेचन में आधुनिक दृष्टि-कोण तथा नव-चिन्तन प्रणाली की छाप सर्वत्र दिखाई देती है। परिणामतः प्राचीन परंपरागत चिन्तन से हम कितना आगे बढ़ सके हैं, इसका एक स्पष्ट चित्र-सा सामने उपस्थित हो सके, इसलिए प्रस्तुत प्रबन्ध का शीर्षक 'आधुनिक हिन्दी और मराठी काव्यशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन' रखा गया।

इस प्रबन्ध में कलेवर-वृद्धि के भय से हिन्दी तथा मराठी के आरम्भिक और मध्ययुगीन काव्य-शास्त्र के लेखकों की धारणाओं का काव्य-सिद्धान्तों के तुलनात्मक अध्ययन में उपयोग नहीं किया गया है। विशेषतः आधुनिक युग के काव्यशास्त्र के तत्व-विवेचकों की धारणाओं और अभिमतों को ही यथासंभव प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। फिर भी साहित्यशास्त्र की विकास-परंपरा में हिन्दी तथा मराठी के आरम्भिक तथा मध्ययुगीन साहित्यशास्त्र-निरूपकों के योगदान का भी संक्षिप्त निरूपण आवश्यक समझा गया है और यह अंत में परिशिष्ट के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस से हिन्दी तथा मराठी के काव्य-शास्त्र की विकास-परंपरा का पूर्ण चित्र सामने उपस्थित हो जाता है। सैद्धान्तिक विवेचन से सम्बद्ध अगले अध्यायों में आधुनिक युग के हिन्दी-मराठी के लेखकों के अभिमतों, उनकी मान्यताओं और उपलब्धियों का विस्तृत अध्ययन किया जाएगा।

प्रथम अध्याय

सैद्धान्तिक अध्ययन

रस-सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन

१
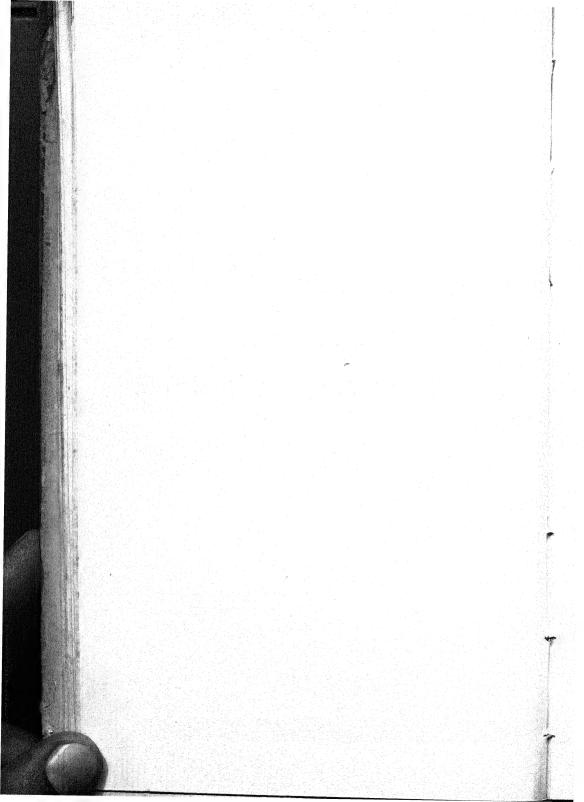
भाव-स्वरूप प्रकरण

भाव का स्वरूप

संस्कृत में

भारतीय रस-सिद्धान्त का मूलभूत आधार तत्व है—भाव। भरतमुनि के नाटयशास्त्र में प्रतिपादित विभाव, अनुभाव, संचारीभाव, स्थायी भाव, सात्विक भाव आदि सभी नाट्यतत्वों में 'भाव' शब्द संलग्न है। भाव शब्द के अर्थ और उसके स्वरूप-प्रतिपादन में हिन्दी-मराठी के विवेचकों में मतैक्य नहीं है। प्रस्तुत मत-भिन्नता का मूल कारण है संस्कृत-साहित्यशास्त्र। भरतमुनि-प्रतिपादित भाव का स्वरूप तथा भरतोत्तरकालीन रस-ध्वनिवादी आचार्यों द्वारा प्रतिपादित भाव-स्वरूप में एकांत साम्य नहीं है। भरतमुनि-प्रतिपादित भाव-स्वरूप एकांततः चित्तवृत्ति या मनोभाव रूप नहीं है, जब कि रस-ध्वनिवादी अभिनव, मम्मट आदि आचार्यों ने भाव को 'चित्तविकार' रूप मान कर आधुनिक मानसशास्त्र के 'मनोविकार' (इमोशन) के सम-रूप उसे मान लिया है। इसी कारण आधुनिक हिन्दी-मराठी के समीक्षकों को भाव के वास्तविक स्वरूप-निर्धारण में विभिन्न दृष्टियों से चिन्तन करना आवश्यक प्रतीत हुआ है। उनकी विशिष्ट मान्यताओं को प्रस्तुत करने से पूर्व 'भाव' का भरत-प्रतिपादित स्वरूप एवं भरतोत्तर आचार्यों द्वारा प्रतिपादित स्वरूप का निरूपण नितांत अपेक्षित है।

भरतमुनि-प्रतिपादित भाव-स्वरूप के मुख्यतः तीन रूप उपलब्ध होते हैं :

१. रस-निर्माण में समर्थ तत्वों या सहायक तत्वों का नाम भाव है—

अनेक प्रकार के अभिनयों से सम्बद्ध रसों का भावन करते हैं अर्थात् निर्माण करते हैं अतः नाट्यवेत्ता इन्हें भाव कहते हैं। जिस प्रकार अनेक द्रव्यों से व्यंजन का निर्माण होता है, उसी प्रकार विविध अभिनयों की सहायता से भाव रसों

का निर्माण करते हैं। बहुविध द्रव्यों से जैसे व्यंजन बनता है, वैसे ही अभिनययुक्त बहुविध भाव रसों का भावन कराते हैं।[1]

२. विभाव, अनुभाव, वाचिक, आंगिक तथा सात्विक अभिनय से प्रतीयमान काव्यार्थ का नाम 'भाव' है—

'वाचिक, आंगिक तथा सात्विक अभिनयों से युक्त काव्यार्थ की प्रतीति कराते हैं अतः भाव कहलाते हैं। विभावों से उत्पन्न काव्यार्थ अनुभाव तथा वाचिक, आंगिक एवं सात्विक अभिनयों से प्रतीत होता है, अतः इसे ही अर्थात् काव्यार्थ को ही 'भाव' कहा जाता है।[2]

३. कवि-हृदयगत भाव या आशय का नाम भाव है—

'वाचिक, आंगिक, सात्विक और मुखराग से कवि के आंतरिक भाव (आशय या मनोभाव) का भावन कराने से ही वह 'भाव' कहलाता है।'[3]

इससे स्पष्ट है कि भरतमुनि ने 'भाव' शब्द का आशय केवल मनोभाव रूप ही ग्रहण नहीं किया है, वरन् मनोभाव के अतिरिक्त काव्यार्थ तथा रस-निर्माण में सहायक तत्व के रूप में भी 'भाव' के आशय को ग्रहण किया है।

भरतोत्तर युग में 'भाव' शब्द प्रायः मनोभाव के अर्थ में ही व्यवहृत होने लगा। भरतमुनि ने कवि-हृदयस्थ मनोभाव को 'भाव' कहा है तो धनिक ने 'भावक' या सहृदय में अनुभूयमान सुख दुःख को 'भाव' मान लिया है।[4] 'भाव' को सहृदय या कवि की 'चित्तवृत्ति' या मनोभाव रूप ही मानने की प्रवृत्ति संस्कृतसाहित्य-शास्त्र में उत्तरोत्तर बढ़ती गई। भाव के भरत-प्रतिपादित पूर्वोक्त दोनों अर्थ—काव्यार्थ तथा रस-निर्माण में सहायक तत्व—उपेक्षित होने लगे। आचार्य अभिनव गुप्त ने तो 'भाव' से एकांततः मनोभाव या 'चित्तवृत्ति' रूप अर्थ ग्रहण करना ही उपयुक्त माना है और अन्य अर्थों में भाव शब्द का प्रयोग अनुपयुक्त ठहराया

---

१. **नानाभिनयसंबद्धान् भावयन्ति रसानिमान्।**
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः।
नानाद्रव्यैर्बहुविधैर्व्यंजनं भाव्यते यथा।
एवं भावा भावयन्ति रसानभिनयैः सह॥ ना० शा० ६-३४,३५

२. **विभावैराहृतो योऽर्थोऽनुभावैस्तु गम्यते।**
वागंगसत्वाभिनयैः स भाव इति संज्ञितः॥ ना० शा० ७-१

३. **वागंगमुखरागेण सत्वेनाभिनयेन च।**
कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते॥ ना० शा० ७-२

४. **दशरूपक, ४.४**

है : 'मेरे मत में भाव शब्द से तो चित्तवृत्ति विशेष ही समझना चाहिए।....
इसके अतिरिक्त जो ऋतु, माला आदि विभाव और बाह्य वाष्प आदि अनुभाव हैं, वे एकान्त 'जड़स्वभाव' के हैं, वे सब भाव शब्द से व्यपदेश्य नहीं हैं।'[1] अभिनव गुप्त के उपरान्त इनके अनुयायी रस-ध्वनिवादी मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने 'भाव' शब्द का प्रयोग एकांततः मनोभाव या चित्तवृत्ति के अर्थ में ही किया है।[2] नाट्यशास्त्रीय दृष्टिकोण छूट जाने से जिस प्रकार 'रस' तत्व एकांततः सहृदयपरक बनता गया उसी प्रकार 'भाव' शब्द का स्वरूप भी सहृदय-गत या कविगत मनोभाव रूप ही बन गया।

संस्कृत साहित्यशास्त्रगत भाव-स्वरूप के अध्ययन से भाव के सम्बन्ध में दो मुख्य प्रश्न उपस्थित होते हैं— १. यदि भाव को एकांततः मनोभाव या चित्तवृत्ति स्वरूप मानें, जैसा कि अभिनवगुप्त ने स्वीकार किया है, तो अनुभाव, सात्विक भाव आदि के लिए भाव शब्द का प्रयोग कहाँ तक उपयुक्त है ? क्योंकि इनमें शारीरिक चेष्टाओं या अवस्थाओं की ही स्थिति विशेष रूप से ग्रहण की गई है, मनोभाव या चित्तवृत्ति की नहीं। २. यदि भाव का अर्थ एकांततः मनोवृत्ति या चित्तवृत्ति रूप नहीं है, केवल रस-निर्माण में सहायक तत्व रूप है, तो अभिनवगुप्त आदि आचार्यों द्वारा भाव के मनोभावात्मक या चित्तवृत्ति रूप अर्थ पर ही अधिक बल देना कहाँ तक संगत है ? इन प्रश्नों का समाधान हिन्दी-मराठी के आधुनिक काव्यशास्त्रज्ञों ने प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। इनके अभिमतों का विस्तार से विवेचन करते हुए 'भाव' के वास्तविक स्वरूप पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जाएगा।

भाव का स्वरूप

हिन्दी में

आधुनिक हिन्दीकाव्यशास्त्र में भाव-स्वरूप का विवेचन बहुत कम समीक्षकों ने किया है। संस्कृत-साहित्यशास्त्र में प्रतिपादित भाव-स्वरूप का आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा किया गया पुनराख्यान विशेष महत्वपूर्ण है। आचार्य शुक्ल के सामने भी संभवतः यही प्रश्न था कि भाव को एकांततः मनोभाव मानें तो उसमें अनुभाव, सात्विक भाव आदि में निहित शारीरिक चेष्टाओं या अवस्थाओं का कैसे अन्तर्भाव

---

१. 'वयं तू ब्रूम : —भावशब्देन ताविच्चित्तवृत्तिविशेषा एव विवक्षिताः..ये त्वेते ऋतुमाल्यादयो विभावा बाह्याश्च वाष्पप्रभृतयोऽनुभावा ते न भाव-शब्द व्यपदेश्याः —अभिनवभारती, पृ० ३४२

२. काव्यप्रकाश, ४-३५, साहित्यदर्पण, ३, २६०-२६१

होगा ? इन्होंने 'भाव' को भावना या मनोविकार स्वरूप मानते हुए भी उसकी इतनी व्यापक और मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की है कि इस प्रश्न का सहज समाधान हो जाता है। शुक्ल जी ने भाव-स्वरूप के निर्धारण में पाश्चात्य मानस-शास्त्र का, विशेषतः शैंड के भाव-प्रतिपादन का आधार ग्रहण किया है और भाव-स्वरूप को इतना व्यापक बना दिया है कि उसमें स्थायी भावों के अतिरिक्त संचारी-भाव, अनुभाव तथा सात्विक भावों का भी अन्तर्भाव हो जाता है। मानसशास्त्रज्ञ शैंड के प्रतिपादन का आधार ग्रहण करके शुक्ल जी ने आरंभ में भाव के तीन अंगों की व्याख्या निम्न रूपों में प्रस्तुत की है :

१. वह अंग जो प्रवृत्ति या संस्कार रूप में अंतस्संज्ञा में रहता है (वासना)
२. वह अंग जो विषय-विंब के रूप में चेतना में रहता है और भाव का प्रकृत स्वरूप है (भाव, आलंबन आदि की भावना)
३. वह अंग जो आकृति या आचरण में अभिव्यक्त होता है और बाहर देखा जा सकता है। (अनुभाव और नाना प्रयत्न)।[1]

उपर्युक्त तीन अंगों में से प्रथम में मानव मनस्थ 'वासना' संस्कार या मनोविज्ञान की शब्दावली में इंस्टिक्ट्स तथा 'डिस्पोजिशन्स' का समन्वित रूप-सा निहित है, दूसरा अंग स्पष्टतः 'भावना' या मनोविकार रूप है जिसे 'मनोविज्ञान के अनुसार 'इमोशन' कहा जा सकता है। 'भाव' का तीसरा अंग अनुभाव या प्रयत्न रूप है, जिसे मानसशास्त्र की शब्दावली में ही भावनाओं का शारीरिक परिणाम (Physical expression of Emotions) कहना असंगत न होगा। इस प्रकार शुक्ल जी ने 'भाव' को व्यापक रूप प्रदान किया और इसे केवल 'भावना' या मनोविकार स्वरूप न प्रतिपादित कर उसकी परिभाषा इस प्रकार की है :

'प्रत्ययबोध, अनुभूति और वेगमुक्त प्रवृत्ति इन तीनों के गूढ़ संश्लेष का नाम 'भाव' है।'[2]

---

१. रसमीमांसा, पृ० १६४ दे० Foundations of Character, P. 188

२. रसमीमांसा, पृ० १६८। डा० जयचन्द राय के विचार से—

प्रस्तुत 'शुक्ल जी की परिभाषा शैंड की परिभाषा का प्रतिरूप जान पड़ती है' विस्तार के लिए दे० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—एक अध्ययन (डा० जयचन्द राय) अप्रका० प्रबन्ध, पृ० ४६-४७

'शैण्ड का भाव लक्षण ही शुक्ल जी के भावलक्षण का स्रोत है'—डा० रामलाल सिंह, आचार्य शुक्ल के समीक्षा सिद्धान्त, पृ० ३४६

प्रत्ययबोध में संस्कार और वासना, अनुभूति में 'भावना', मनोविकार और वेगयुक्त प्रवृत्ति में अनुभाव तथा शारीरिक चेष्टाओं का अन्तर्भाव होता है। शुक्ल जी ने मन के प्रत्येक वेग को 'भाव' मानने की अपेक्षा मन के उसी वेग को 'भाव' माना है 'जिसमें चेतना के भीतर आलम्बन आदि प्रत्यय रूप से प्रतिष्ठित होंगे।'

भरतमुनि-निरूपित ४९ भावों को, जिनमें कतिपय भावनात्मक, कतिपय ज्ञानात्मक तथा कतिपय शारीरिक अवस्थाएँ हैं, सहज ही शुक्ल जी की 'भाव' व्याख्या के अन्तर्गत स्थान दिया जा सकता है। सामान्यतः भावनात्मक अवस्थाओं—स्थायीभावों—के 'भाव' में अन्तर्भाव के लिए सन्देह ही नहीं रहता, अधिक संदिग्ध स्थिति है शारीरिक अवस्थाओं की। शुक्ल जी ने एकान्ततः सभी शारीरिक अवस्थाओं को 'भाव' के अन्तर्गत नहीं रखा, बल्कि वे उन्हीं शारीरिक अवस्थाओं को भाव के व्यापक क्षेत्र में समाविष्ट होने देते हैं, जिनका किसी न किसी प्रकार से मनोभाव (इमोशन) से सीधा सम्बन्ध हो। अन्यथा मनोभावों से असम्बद्ध शारीरिक अवस्थाओं को वे 'संचारीभाव' मानने के लिए उद्यत नहीं हैं। इसी कारण मनोभाव से असम्बद्ध किन्तु परम्परा से संचारीभावों में परिगणित शारीरिक अवस्था रूप 'आलस्य' को इन्होंने संचारी भावों में स्थान देने में असहमति प्रकट की है।[1] यद्यपि शुक्ल जी ने प्राचीनों के संचारी विषयक मतों को उद्धृत करते हुए अनेक उदाहरणों से 'आलस्य' शारीरिक अवस्था को किसी न किसी मनोभाव से सम्बद्ध कर देने का प्रयत्न किया है, परन्तु उनकी निजी धारणा यही रही है कि 'उसे (आलस्य को) स्वतंत्र मानना चाहिए' किसी मनोभाव से सम्बद्ध करना ठीक नहीं है। शारीरिक अवस्थाओं के द्योतक संचारी भावों के विषय में शुक्ल जी ने स्पष्ट लिखा है :

'जो शारीरिक अवस्था किसी भाव के प्रभाव से नहीं उपस्थित हुई या यों ही अन्य प्राकृतिक कारणों से उपस्थित हुई है, उसे भाव के संचारियों में नहीं ले सकते।'[2]

इससे स्पष्ट है कि शुक्ल जी ने 'मनोभाव' को सर्वोपरि मान कर ही संचारी भावों के विवेचन या महत्वमापन का प्रयत्न किया है, फलतः इन्होंने भरतमुनि निरूपित ३३ संचारियों से भिन्न आशा, नैराश्य, विस्मृति, मृदुलता आदि संचारियों की अभिनव कल्पना की है तो दूसरी ओर 'आलस्य' के संचारित्व का प्रत्याख्यान

---

१. रसमीमांसा, पृ० २२५

२. रसमीमांसा, पृ० २३०

किया है। संक्षेपतः शुक्ल जी ने भाव-स्वरूप का इतना मनोवैज्ञानिक, व्यापक तथा मौलिक रूप से प्रतिपादन किया है कि जिसमें भरतमुनि-निरूपित ४९ भावों (आलस्य को छोड़कर ?) का ही अंतर्भाव नहीं हो जाता है, बल्कि नवीन भावों की उद्भावनाओं तथा उनके अभिनव वर्गीकरण के लिए भी पूर्ण अवकाश रहता है।

भावस्वरूप के विषय में आचार्य श्यामसुंदर दास ने पाश्चात्य और भारतीय मान्यताओं का पृथक्-पृथक् विवेचन किया है। पाश्चात्य मानसशास्त्र के अनुसार इन्होंने 'भाव' को 'मानसिक जीवन का अंग-स्वरूप' तथा उसमें 'सदैव व्याप्त रहने वाला' बताया है। भाव की परिभाषा के विषय में वे लिखते हैं—"भाव प्रत्येक व्यक्ति की अन्तरात्मा का एक विशेष धर्म है। अतएव शब्दों की सहायता से इस बात का वर्णन करना असंभव है कि वास्तव में 'भाव' क्या है? मनुष्य उनका अनुभव कर सकता है, परन्तु उसके वास्तविक स्वरूप का वर्णन नहीं कर सकता।"[1]

'भाव' को 'मानव अंतरात्मा का एक विशेष धर्म, मानते हुए इन्होंने मानव-मन की इच्छाओं के आधार पर पाश्चात्य मानसशास्त्रानुसार' भावों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है: १. इन्द्रियजनितभाव, २. प्रज्ञात्मक भाव, ३. गुणात्मक-भाव। इन्द्रियजनितभाव सीधे इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त होते हैं, प्रथम इन्द्रियों का वस्तुओं से सन्निकर्ष या सामीप्य होता है, इससे विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न होता है और इसी ज्ञान से इन्द्रियजनित भावों की निष्पत्ति होती है। प्रज्ञात्मक भाव इन्द्रिय-जनित भावों को वर्तमान, भूत और भविष्य के अनुभवों से पुष्ट करते हैं। प्रज्ञात्मक भाव विशेषतः मन की ज्ञान तथा अनुभव प्राप्त करने वाली शक्तियों से सम्बन्ध रखते हैं और भूत, भविष्य तथा वर्तमान अनुभवों के द्वारा इन्द्रियजनित भावों को पुष्ट करते हैं। उदाहरणार्थ, किसी व्यक्ति से अपराध हो जाता है, जब वह उस पर विचार करने लगता है तब उसमें विषाद, जड़ता आदि भावों की उत्पत्ति होती है। डा० श्यामसुंदर दास के मत में प्रस्तुत प्रज्ञात्मक भाव "साधारणतः साहित्य में संचारी भाव" कहलाते हैं।[2]

गुणात्मक भाव विशिष्ट आलंबन पर आधृत होते हैं। अतः इनमें अनुराग की तीव्रता होती है। व्यक्तिविषयक भाव के भी दो वर्ग प्रज्ञात्मक तथा सौन्दर्य-विवेकी हैं। मन में सदा नये अनुभव करने की इच्छा भरी रहती है, इसको पूरा करने वाली वृत्ति को प्रज्ञात्मक भाव कहते हैं। वस्तुओं में सौन्दर्य गुण रहता है,

---

१. साहित्यालोचन, पृ० २११
२. साहित्यालोचन, पृ० २१५

इसी सुन्दरता को प्राप्त करने या तज्जनित आनंद का अनुभव करने की इच्छा ही को सौन्दर्य विवेकी भाव कहते हैं।"[१]

अंत में इन्होंने पाश्चात्य भाव-वर्गीकरण का संस्कृत-साहित्यशास्त्र के भाव-वर्गीकरण से साम्य दिखाने का प्रयत्न किया है, परन्तु नितांत सामान्य या स्थूल रूप से ही--"अस्तु दार्शनिकों के मत से भाव तीन प्रकार के होते हैं--इन्द्रिय-जनित, प्रज्ञात्मक और रागात्मक। जिस वस्तु से यह भाव व्यंजित होता है, वह आलंवन या विभाव कहाती है। विभाव के कारण मन में जो विकार उत्पन्न होता है, वह शरीर की भिन्न-भिन्न क्रियाओं द्वारा प्रकट होता है, जैसे रोमांच, स्वेद आदि। इन्हें अनुभाव कहते हैं। जो भाव मुख्य भावों की पुष्टि करते हैं और जो समय-समय पर मुख्य भाव का रूप धारण कर लेते हैं, उन्हें संचारी भाव कहते हैं। अतएव स्थायी या मुख्य भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भाव ये चारों मिलकर रस को अभिव्यक्त करते हैं।"[२]

डा० श्यामसुन्दरदास ने भारतीय और पाश्चात्य भाव-वर्गीकरण को न नितांत समरूप दिखाया है और न दोनों में आत्यन्तिक भिन्नता का प्रतिपादन किया है, वरन् दोनों के भाव-वर्गीकरण का पृथक्-पृथक् विवेचन कर दिया है। इन्होंने भरतमुनि के मत का आधार लेकर 'भाव' की परिभाषा दी है : "भाव मन के विकारों को कहते हैं"।[३] परन्तु मनोविकारों में शारीरिक अवस्थाओं का समावेश कहाँ तक संगत है ? अथवा भावों को मनोविकार-स्वरूप माना जाय तो उसमें भरतमुनि-निरूपित ४९ भावों का समावेश कैसे संभव है ? इत्यादि प्रश्नों को इन्होंने न उठाया है और न इनका समाधान प्रस्तुत किया है। डा० श्यामसुंदर दास ने विभाव, अनुभाव, संचारीभाव, स्थायीभाव तथा सात्विक भावों का संस्कृत-आचार्यों की मान्यताओं के अनुरूप स्पष्ट व्याख्यान मात्र कर दिया है।

पाश्चात्य मानसशास्त्रज्ञों के भाव-स्वरूप-प्रतिपादन और संस्कृत-आचार्यों के भाव-निरूपण का डा० नगेन्द्र ने साम्य-वैषम्य-मूलक अध्ययन प्रस्तुत किया है। इनके मत में 'बाह्य जगत् के संवेदनों में मनुष्य के हृदय में जो विकार उठते हैं--वे ही मिल कर भाव की संज्ञा प्राप्त करते हैं।'[४] प्रस्तुत भाव-परिभाषा का उल्लेख करने के उपरान्त डा० नगेन्द्र ने 'भाव' का मानसशास्त्रज्ञों के अनुसार

---

१. साहित्यालोचन पृ० २१६
२. वही, पृ० २१८
३. साहित्यालोचन पृ०, २२०
४. रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ५९

स्पष्टीकरण किया है। डा० मैक्डूगल ने मनोविकार (इमोशन) की व्याख्या में भाव के मानसिक रूप तथा शारीरिक रूप दोनों का समावेश किया है। डा० मैक्डूगल-निरूपित 'स्वाभाविक वृत्ति की जागृति' तथा 'उत्तेजना में निहित विशिष्टता' (जिसे क्रोध, घृणा आदि नाम दिये जा सकते हैं) को भावों के मानसिक रूप में रखा जा सकता है। और स्नायु एवं पेशियों में ओज के संचरण को भाव के शारीरिक रूप में अन्तर्भूत किया जा सकता है।' इन मानसिक और शारीरिक रूपों के अतिरिक्त भाव के लिए कुछ स्थितियाँ भी अनिवार्य हैं--

१. भाव के विषय की सत्ता अवश्य होगी--क्योंकि भाव वास्तव में व्यक्ति की वस्तु अर्थात् विषय के प्रति विषयी की मानसिक प्रतिक्रिया होती है।

२. भाव का सुखात्मक अथवा दुःखात्मक आस्वादन निश्चय रूप में होगा।

३. इस मानसिक प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप कुछ प्रयत्न भी अनिवार्यतः होगा।

४. भाव की शारीरिक अभिव्यक्ति अवश्य होगी अर्थात् स्नायु और पेशियों के परिवर्तनस्वरूप शरीर में विकार अवश्य उत्पन्न होंगे।

५. किसी एक भाव की स्थिति निरपेक्ष नहीं रह जायेगी उसमें अनेक विकार उत्पन्न होते रहेंगे।[1]

इस प्रकार भाव में शारीरिक और मानसिक रूप की स्थिति का पाश्चात्य मानस शास्त्रज्ञों ने प्रतिपादन किया है किन्तु इनके पूर्वापर कार्यक्रम पर वहाँ मत-भिन्नता रही है। जेम्स, मैक्डूगल आदि के विचार में भाव का मानसिक रूप शारीरिक रूप का परिणाम है किन्तु स्टाउट के मत में इससे विपरीत क्रम रहता है अर्थात् भाव का शारीरिक रूप मानसिक रूप का परिणाम है। डा० नगेन्द्र के विचार में "भारतीय दर्शन में भाव का यह दूसरा रूप ही ग्रहण किया गया है, क्योंकि यहाँ चेतना की पृथक् सत्ता स्वीकार की गई है।"[2] इस प्रकार डा० नगेन्द्र ने भाव का स्वरूप भावना या मनोविकार (इमोशन) रूप ही स्वीकार किया है।

डा० गुलाबराय ने मनोविज्ञान के भाव तथा साहित्य के भावों में परस्पर भिन्नता मानी है। क्योंकि साहित्य के भाव 'मन के उस विकार को कहते हैं जिसमें सुखदुःखात्मक अनुभव के साथ कुछ क्रियात्मक प्रवृत्ति भी रहती है। यह मनोवेग का एक व्यापक रूप होता है जिसमें हल्के और गहरे, मन्द और तीव्र सभी प्रकार के भाव शामिल रहते हैं। इसकी व्यापकता में भाव का क्रियात्मक पक्ष भी वर्त-

---

१. रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ६९-७०

२. वही, पृ० ७०

मान रहता है। अनुभाव भी तो भाव ही कहलाते हैं।'[१] इस प्रकार डा० गुलाब राय ने साहित्यिक भाव का स्वरूप मानसशास्त्र के भाव (इमोशन) से अधिक व्यापक माना है। इन्होंने इस भावस्वरूप में केवल मानसिक अवस्था ही नहीं वरन् अनुभाव के रूप में शारीरिक अवस्थाओं तथा चेष्टाओं का भी अन्तर्भाव मान लिया है। युगसीमाएँ तथा चिन्तनप्रणाली की भिन्नता आदि अनेक कारणों से मानस-शास्त्र-निरूपित मनोविकार (इमोशन) तथा भारतीय 'भाव'-निरूपण में नितांत साम्य संभव भी नहीं है। दोनों में साम्य-निरूपण के लिए 'भाव' की अभिनव परिभाषा की आवश्यकता है, फलतः शुक्ल जी ने संस्कृत-साहित्यशास्त्र में निरूपित ४९ भावों के व्यापक स्वरूप को तथा आधुनिक मानसशास्त्र की मनोविकार (इमोशन) की व्याख्याओं को समन्वित कर 'भाव' के अभिनव स्वरूप के प्रतिपादन का प्रयत्न किया है। इनके 'भाव-स्वरूप' प्रतिपादन की एक अन्य विशेषता यह भी रही कि जहाँ भरतमुनि पर अमनोवैज्ञानिकता के आक्षेप के लिए स्थान नहीं रहता, वहाँ भावों के नवीन चिन्तन का मार्ग भी कुंठित नहीं होता है।

मराठी में

हिन्दी की भाँति मराठी में भी भाव-स्वरूप का विश्लेषण-विवेचन अधिक व्यापक रूप में नहीं हो सका है। आरंभिक समीक्षकों ने रस-ध्वनिवादी अभिनव-गुप्त, मम्मट आदि आचार्यों की मान्यताओं के अनुरूप भाव का आशय चित्तवृत्ति या मनोवृत्ति रूप ही ग्रहण किया है। इसीलिए अधिकांश समीक्षकों ने 'भाव-स्वरूप' का पृथक् स्वतंत्र विवेचन नहीं किया है।

श्री न० चि० केळकर ने 'विचार' और 'भाव' को अंतःकरण से सम्बद्ध करके उनके स्वरूप को इस प्रकार से स्पष्ट किया है : 'अंतःकरण-धर्म के विचार और भाव दो भेद होते हैं। ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से उत्पन्न अनुभव के आधार पर प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमिति, और शब्द इन चार प्रमाणों से निर्मित जो सिद्धान्त है वह विचार है और अंतःकरण की जो सहज और स्वाभाविक वृत्ति है उसे भाव कहते हैं। भाव के दो भेद होते हैं : शारीर और आंतर। मनुष्य में कतिपय आंतर भाव स्थायी अर्थात् सदैव स्थिर रहते हैं और कतिपय क्षणिक अर्थात् अनिश्चल रहते हैं।'[२]

---

१. सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० १७५

२. सुभाषित आणि विनोद, पृ० १८

'विचार' और 'भाव' का पार्थक्य समझाते हुए श्री केळकर ने भाव के शारीर और आंतर दो वर्ग तो बनाये हैं किन्तु शारीर भाव कौन-से हैं, इसका स्पष्टीकरण इन्होंने नहीं किया। भरतमुनि-निरूपित ४९ भावों में से स्थायी-इतर कितने भाव शारीर हो सकते हैं और कितने आंतर इसकी मीमांसा इन्होंने नहीं की, संभवतः यह एक विवादास्पद प्रश्न बन बैठता। इसलिए इन्होंने 'मन्दारमरन्दचम्पू' में निरूपित एक अन्य भाव-लक्षण उद्धृत किया है––'रसानुकूल विक्रतिर्भावः।'[१] इस में सन्देह नहीं कि प्रस्तुत भाव-लक्षण पर्याप्त व्यापक बन जाता है, यदि 'रसानुकूलविकृति' का अर्थ सभी प्रकार के शारीरिक और मानसिक परिवर्तनों के रूप में ग्रहण किया जाय। परन्तु श्री केळकर ने इस भाव-लक्षण का विशेष व्याख्यान-विवेचन नहीं किया है।

रस-ध्वनिवादी आचार्यों के 'भाव-स्वरूप' का ही आधार डा० के० ना० वाटवे ने ग्रहण किया है। इनके अनुसार 'भाव' शब्द की परिभाषा इस प्रकार है : 'सामान्य व्यवहार, काव्य, नट, कवि, काव्यस्थ पात्र, अथवा सहृदय इनमें से कहीं भी और किसी के भी हृदय में स्थित जो मनोविकार रसानुकूल होते हैं उन्हें भाव कहा जाय, भाव का अर्थ भावना या मनोविकार ही है।'[२]

भरतमुनि ने 'भाव' के अन्तर्गत ८ स्थायीभाव ३३ व्यभिचारी भाव तथा ८ सात्विक भावों का समावेश किया है और इन ४९ भावों को काव्यरस की अभिव्यक्ति का हेतु माना है।[३] परन्तु डा० वाटवे 'भाव' का आशय एकांततः मनोवृत्ति रूप ग्रहण करते हैं, फलतः उन्हें ३३ व्यभिचारी भावों की सूची सदोष प्रतीत हुई, क्योंकि इनमें सभी भावना रूप नहीं हैं, अनेक शारीरिक अवस्थाएँ मात्र हैं।[४]

श्री दि० के० बेडेकर ने 'रस-सिद्धान्त का स्वरूप' विवेचन करते हुए 'भाव' शब्द की सुविस्तृत मीमांसा की है। इनके मत में 'भाव शब्द का आधुनिक काल में मराठी भाषा में अर्थसंकोच हो गया है। भरतमुनि-निरूपित 'भाव' से तात्पर्य कवि अथवा सहृदय के मनोभावों (इमोशन्स) से नहीं है। इसका

---

१. सुभाषित आणि विनोद, पृ० १८

२. रसविमर्श, पृ० १०७।

३. तत्राष्टौ स्थायिनस्त्रयस्त्रिंशद् व्यभिचारिणः अष्टौसात्विका इति त्रिभेदाः। एवमेते काव्यरसाभिव्यक्तिहेतवः एकोनपंचाशद्भावाः प्रत्यवगंतव्याः। एभ्यश्च-सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते—ना० शा० ७.९

४. रसविमर्श : पृ० १२८-१३१

प्रमाण "कवेरन्तर्गतं भावं भावयन्भाव उच्यते" यह भरत का प्रसिद्ध सूत्र ही है ।...इस सूत्र में भाव शब्द दो बार आया है, एक बार 'कवेरन्तर्गतं भावं' कहा है तो दूसरी बार आये हुए 'भाव' शब्द से तात्पर्य नाट्यगत 'भाव' नामक पदार्थ से है । सूत्र का वास्तविक अर्थ यही है कि रति शोक आदि 'नाट्यभाव' कविमनस्थभावार्थ का अर्थात् पर्याय से काव्यार्थ का भावन करते हैं । इस सूत्र के ऊपर ही भरतमुनि ने स्पष्ट किया है 'किं भावयन्ति भावाः'? उच्यते–'वागंग सत्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्तीतिभावाः ।' इस उत्तर से भी स्पष्ट है कि नाट्य-गत 'भाव' काव्यार्थ को भावित करते हैं, इससे और भी स्पष्ट है कि भाव का अर्थ आज का 'मनोभाव' नहीं है ।

श्री बेडेकर ने कल्पना, शील आदि शब्दों का आधुनिक अर्थ-संकोच निरूपण करने के उपरान्त भाव का वास्तविक अर्थ दिया है—"भाव का अर्थ है शक्ति रूप में समर्थ किसी वस्तु का 'भाव' अर्थात् वस्तु में अंगभूत और विशिष्ट प्रक्रिया से कार्यप्रवृत्त होने वाली शक्ति"...वस्तुमात्र की भावरूप शक्ति का तत्व भारतीय दर्शन में 'भव' (शंकर) और 'भवानी' (माया स्वरूपा पार्वती) इन दो दैवतमिथुनों से साकार या प्रत्यक्ष किया गया है । परन्तु 'माव' का इतना व्यापक अर्थ मराठी में नहीं रहा, वह केवल भावनाओं के लिए प्रयुक्त होने लगा । मनोभावना मात्र ही 'भावना' बन गई और अचेतन वस्तुओं में भावनाओं का अभाव समझा गया । (अर्थात् भाव का अभाव समझा गया) ।

'भावना का अर्थ क्रोध, शोक आदि मनोविकार (Feelings & Emotions) नहीं है, 'भाव' शब्द का वास्तविक अर्थ देखने से यह स्पष्ट हो जाता है। अतः श्री बेडेकर के मत में 'भावना' और मनोविकार का समीकरण अनुपयुक्त है, क्योंकि प्राचीन समय में मनोविकारों के लिए 'वेदना' शब्द का प्रयोग होता था ।

'भाव इतिकारणसाधनम्' तथा 'काव्यार्थान् भावयन्तीति भावाः' इन भरत-वचनों की व्याख्या करने से पूर्व श्री बेडेकर ने लिखा है कि भरतमुनि के सामने एक विशेष प्रश्न था जिसका उत्तर इन वचनों में मिलता है । प्रश्न था 'काव्यार्थ तो पूर्णरूप से नाट्यधर्मी होते हैं, परन्तु उनका प्रभाव तो प्रत्यक्ष या वास्त-विक जगत्-सा दिखाई देता है । नाट्य का फल है रसोत्कर्ष और वह वास्तविक है, परन्तु वह रसोत्कर्ष 'स्वाँग' (नाट्यवस्तुओं) से निर्मित होता है । इसमें कौन-सा ऐसा तत्व है जिससे नाट्यफल—रस वास्तविक प्रतीत होता है ? इस सरल प्रश्न को सामने रख कर ही भरतमुनि ने 'भाव' नामक पदार्थ का सिद्धान्त रचा है ।

रसोत्कर्ष के लिए काव्यार्थ (काव्यविषय) कारण रूप है। परन्तु काव्यार्थ आयुर्वैदिक द्रव्यों के सदृश पराधीन होते हैं, उनमें रसों के जनकत्व की शक्ति विद्यमान है परन्तु वे नाट्य धर्मी होने के कारण पराधीन होते हैं। इन्हें प्रभावी बनाने के लिए अर्थात् उनका 'कार्यसिद्धिकारक' (कार्यसाधक) प्रभाव प्रकट करने के लिए 'नाट्यभाव' नामक पदार्थ की आवश्यकता है। इसी आशय से भरतमुनि ने 'नाट्यभावों' के लिए 'कारणसाधन' विशेषण का प्रयोग किया है। रसों के जो कारण हैं (अर्थात् काव्यार्थ) उनका साधन भावों के कारण होता है। यहाँ 'साधन' का पारिभाषिक अर्थ सिद्धता या पराधीनता का निराकरणरूप लिया गया है। 'भाव इति कारणसाधनम्' सूत्र की व्याख्या अधिक स्पष्ट रूप से भरत-मुनि के अनुसार ही है : 'जिस प्रकार समस्त वस्तुजगत् जल, पृथ्वी इत्यादि पंच भूतात्मक है और रस, गंध आदि गुणों से भावित है, उसी प्रकार काव्यार्थ भी नाट्यभावों से ही भावित अर्थात् 'वासित' या 'कृत' (निर्मित) है। 'भावित' शब्द का अर्थ भरतमुनि के अनुसार ही स्पष्ट है : काव्यार्थ को 'कृत' अथवा 'वासित करना', आस्वाद्य या ग्रहण योग्य बनाना भावों के कारण ही होता है। इस प्रकार श्री बेडेकर ने भरत-मतानुसार भाव को 'प्रमेयरूप पदार्थ' सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, जिसमें कार्यप्रवृत्त होने की शक्ति विद्यमान होती है।[1]

मराठी के एक अन्य लेखक डा० रा० शं० वाळिंबे ने डा० वाटवे और श्री बेडेकर की भाव सम्बन्धी मान्यताओं के गुण-दोषों का स्पष्टीकरण करते हुए भरतमुनि-निरूपित 'भाव' शब्द का वास्तविक अर्थ ढूंढ़ने का प्रयत्न किया है। इनका अपना अभिमत है कि "'भाव' शब्द से भरतमुनि के मन में काव्यार्थ का भावन कराने वाली चीजें अथवा रसों की प्रतीति कराने वाली वस्तुएँ (अथवा प्रत्यक्ष काव्यार्थ) ही रहा होगा।"[2] प्रस्तुत मत से अपने भाव-विवेचन का उपसंहार करने से पूर्व डा० वाटवे की भाव विषयक दो मान्यताओं का इन्होंने प्रत्याख्यान किया है। डा० वाटवे ने 'भाव' का तात्पर्य भावना अथवा 'इमोशन' रूप प्रतिपादित करने के उपरान्त भरतमुनि पर आक्षेप किया है कि उन्होंने 'रसों से भाव उत्पन्न होते हैं अथवा भावों से रस उत्पन्न होते हैं' इस प्रकार का परस्पर विरोधी विधान किया है।'[3] डा० वाळिंबे ने कुछ गहराई में जा

---

१. दे० नवभारत (मासिक) नवम्बर १९५०, दिसम्बर १९५०, "रससिद्धान्ताचें स्वरूप" लेख।

२. साहित्यमीमांसा, पृ० १०६

३. रसविमर्श, पृ० १०७

कर प्रस्तुत आक्षेप का समाधान खोज निकाला है। भरतमुनि का विवेचन है : रसों से भावों की निष्पत्ति होती है अथवा भावों से रसों की ? कुछ लोगों के मत में दोनों के परस्पर सम्बन्ध से रसों की उत्पत्ति होती है ? इस पूर्व पक्ष का भरतमुनि ने स्पष्टतः उत्तर दिया है कि "भावों से ही रसों की उत्पत्ति होती है न कि रसों से भावों की।" अपनी मान्यता की सुनिश्चित स्थापना के उपरान्त इन्होंने 'भवन्तिचात्र श्लोकाः' (इस विषय में श्लोक उपलब्ध होते हैं) लिख कर जिन पाँच श्लोकों को भरतमुनि ने उद्धृत किया है, ये निस्सन्देह किन्हीं पूर्ववर्ती आचार्यों के हैं, क्योंकि इन श्लोकों में भरत की स्थापना "दृश्यते हि भावेभ्यो रसानामभिनिर्वृत्तिर्नतु रसेभ्यो भावानामभिनिर्वृत्तिः" के विरुद्ध मत आये हैं। इन श्लोकों में रस से भाव, भावों से रस तथा दोनों के परस्पर सम्बन्ध से भी रसों की निष्पत्ति का प्रतिपादन है।[1] अतः डा० वाळिंबे ने भरत के भाव-विवेचन को निर्दोष सिद्ध करने के लिए पूर्वाचार्य की मान्यताओं की कल्पना की है और इस प्रकार डा० वाटवे के आक्षेप का निराकरण करने का प्रयत्न किया है।

डा० वाटवे ने 'भावों' से तात्पर्य भावना अथवा 'इमोशन' मान कर भरत-मुनि-निरूपित ३३ संचारी भावों की सूची को सदोष बताया है क्योंकि उनमें सभी 'भावना' या इमोशन रूप 'भाव' नहीं हैं बल्कि अनेक शारीरिक अवस्थाएँ या अधिक-से-अधिक भावनाओं के शारीरिक परिणाम (Physical expressions of emotion) कहे जा सकते हैं। ऐसी स्थिति में भरत से लेकर जगन्नाथ तक के आचार्यों ने 'भाव को भावना या मनोविकार मानकर उसमें शारीरिक अवस्थाओं के अन्तर्भाव की गलती की है अथवा 'भाव' का भावना अर्थ निकालना ही सदोष है।' इस समस्या का समाधान भी डा० वाळिंबे ने भरतमत का आधार ले कर ही ढूँढ़ने का प्रयत्न किया है। इन्होंने 'वागंगसत्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्तीति भावाः' इस भरत-वचन को मूलआधार बना कर भाव शब्द की व्याख्या की; और लिखा है : "रस की प्रतीति कराने वाली अनेक

---

१. न भावहीनोऽस्तिरसो न भावो रसवर्जितः
परस्परकृता सिद्धिस्तयोरभिनयो भवेत् ॥
...एवं भावा रसाश्चैव भावयन्तिपरस्परम् ॥
यथा बीजाद्भवेद्वृक्षो वृक्षात्पुष्पं फलं यथा ।
तथा मूलं रसा सर्वे तेभ्यो भावा व्यवस्थिता॥ ना० शा० ६-४०,४१-४२

(अर्थात् उनचास ४९) वस्तुएँ हैं, इनमें कतिपय भावनाएँ हैं, कतिपय शारीरिक अवस्थाएँ हैं, कतिपय ज्ञानात्मक मनोवस्थाएँ हैं और कतिपय शरीर पर दिखाई देने वाले परिणाम हैं और इन सब का भरतमुनि ने स्थायीभाव, व्यभिचारीभाव तथा सात्विकभाव के रूप में वर्गीकरण किया है। संपूर्ण स्थायी भाव भावना स्वरूप हैं, सभी सात्विकभाव भावनाओं के शरीर-परिणाम स्वरूप हैं और स्थायी भावों के सहायक जो सहचारी, संचारी अथवा व्यभिचारी भाव हैं, उनमें कतिपय शारीरिक अवस्थाएँ हैं, कतिपय प्राथमिक (Primary) भावनाएँ हैं तथा कतिपय साधित (Derived) भावनाएँ हैं। भरत के मन में भाव का तात्पर्य केवल 'भावना' न हो कर काव्यार्थ को परिपूर्ण करने वाली अथवा रस की प्रतीति करानेवाली वस्तुओं से अभिप्रेत था। ऐसी स्थिति में भरत के भाव-विवेचन को सदोष समझने के लिए कोई कारण अवशिष्ट न होगा।"[1]

श्री बेडेकर ने भरत के 'भाव' शब्द का अर्थ 'भावना' या मनोविकार मानने का प्रतिषेध किया था और इसके स्थान पर 'वेदना' शब्द के प्रचलित होने की पुष्टि की थी, परन्तु डा० वाळिंबे ने इस मान्यता को अस्वीकार किया है और 'भाव' शब्द का प्रयोग प्राचीन समय में भी 'भावना' या 'इमोशन' के अर्थ में संस्कृतकाव्यशास्त्रों तथा काव्य-नाटकों में उपलब्ध होता है, इस तथ्य का प्रतिपादन करने के लिए रघुवंश, शाकुन्तल, मृच्छकटिक, गीतगोविन्द आदि काव्यों तथा विश्वनाथ भट्टनायक और जगन्नाथ आदि आचार्यों की उक्तियों को प्रमाण-स्वरूप उद्धृत किया है।[2] परन्तु इन्होंने श्री बेडेकर निरूपित 'भाव' शब्द के अर्थ को सामान्य रूप से स्वीकार किया है। 'भरतमुनि द्वारा ४९ भावों को 'भाव' के अन्तर्गत रखने की कल्पना का आधार लेकर ही बेडेकर की मान्यता का इन्होंने समर्थन किया है : 'श्री बेडेकर के भाव-विवेचन से अंग्रेजी के Potentiality शब्द के अर्थानुरूप 'भाव' शब्द का आशय प्रतीत होता है' ... "रस निर्माण करने वाली वस्तु में जो मूलभूत सामर्थ्य है, उसे श्री बेडेकर ने 'भाव' कहा है अतः इसे सामान्य रूप से मान्य करने में कोई आपत्ति नहीं है। क्योंकि इसमें 'आठ स्थायीभाव, तैंतीस व्यभिचारी भाव और आठ सात्त्विक भाव अर्थात् ४९ भाव वे पदार्थ हैं, जिनमें नाट्यरस के निर्माण की सामर्थ्य मूलतः निहित है।"[3]

---

१. साहित्य मीमांसा, पृ० १०५-१०६

२. साहित्य मीमांसा, पृ० १०९

३. वही, पृ० १०८

इस प्रकार मराठी के आधुनिक समीक्षकों ने भाव के रस ध्वनिवादी आचार्यों द्वारा प्रतिपादित 'मनोवृत्ति' या 'चित्तवृत्ति' रूप अर्थ में और भरतमुनि निरूपित भाव के व्यापक अर्थ में परस्पर विरोध की अपेक्षा संगति बिठाने का प्रयत्न किया है ।

निष्कर्ष :

(क) मराठी और हिन्दी के अधिकांश विद्वानों की सम्मति में भारतीय साहित्यशास्त्र के 'भाव' को ऐकांतिक रूप से पाश्चात्य मानसशास्त्रीय भावना या मनोविकार (Emotion) के समरूप मानना असंगत है ।

(ख) आचार्य शुक्ल ने 'भावस्वरूप' का प्रतिपादन नितांत व्यापक रूप से किया है । परंपरागत संचारियों में से केवल 'आलस्य' को छोड़ कर भरतमुनि-निरूपित लगभग सभी भावों का इनके 'भावस्वरूप' में अन्तर्भाव हो जाता है । आलस्य संचारी को किसी भाव का संचारी वे नहीं मानते; उसे स्वतन्त्र स्थान देना चाहते हैं । शुक्ल जी के दृष्टिकोण में व्यापकता है । उन्होंने भरतमुनि के भाव-वर्गीकरण को सदोष ठहराने की अपेक्षा अपनी भावपरिभाषा और उसके स्वरूप को इतना व्यापक बनाया कि उसमें भरतमुनि-निरूपित प्रायः सभी भावों का समावेश हो सके ।

(ग) मराठी में डा० वाटवे ने भावों को मनोविकार स्वरूप माना है । हिन्दी में आ० श्यामसुन्दरदास तथा डा० नगेन्द्र भी 'मनोविकार' रूप ही मानते हैं। डा० वाटवे ने भावों को 'भावना रूप' मानने के कारण भरतमुनि के भाव-वर्गीकरण विशेषतः संचारियों के वर्गीकरण को सदोष ठहराया है, परन्तु श्यामसुंदरदास जी ने भावों को मनोविकारात्मक मानते हुए भी इनके वर्ग-विभाजन की सदोषता या निर्दोषता पर प्रकाश नहीं डाला है ।

(घ) मराठी में ऐतिहासिक दृष्टि से भरतमुनि की भाव-मान्यता को तथा उनके वर्गीकरण को यथावत् सुरक्षित रखने के लिए श्री दि० के० बेडेकर ने गंभीर अध्ययन प्रस्तुत किया है । भरतमुनि-निरूपित ४९ भावों में अन्तर्निहित सामान्य सूत्र का अन्वेषण करने तथा 'भाव स्वरूप' का निर्धारण करने में इनका योगदान महत्वपूर्ण है । डा० वाळिंबे ने 'रस' को मूल आधार मानकर उसकी परिपोषक या उत्पादक समस्त आवश्यक सामग्री के रूप में 'भाव-स्वरूप' का निर्धारण किया है । इससे वे भरतमुनि की भाव-सम्बन्धी धारणाओं के मूल्यांकन में पूर्ण न्याय करते हुए प्रतीत होते हैं ।

(ङ) मानस शास्त्र के प्रकाश में भारतीय काव्य-सिद्धान्तों का अध्ययन

निस्सन्देह उपयोगी सिद्ध होगा । परन्तु सिद्धान्तों के पारस्परिक साम्य-वैषम्य-प्रतिपादन में निष्पक्षता एवं मस्तिष्क का सन्तुलन नितांत अनिवार्य है । हिन्दी में डा० नगेन्द्र ने तथा डा० गुलाबराय ने मानसशास्त्रीय 'मनोविकार' (Emotion) तथा साहित्यशास्त्रीय 'भावों' के पारस्परिक साम्य और वैषम्य का स्पष्ट विवेचन किया है, जिससे दोनों के अंतर को समझने में सहायता मिल सकती है ।

स्थायी भाव का स्वरूप

संस्कृत में

हिन्दी-मराठी के आधुनिक समीक्षकों ने स्थायी भावों का पाश्चात्य मानस-शास्त्र के अनेक तत्वों—स्थिरवृत्ति (सेंटिमेंट), मनोविकार (इमोशन), सहज प्रवृत्ति (इन्स्टिंक्ट) आदि से साम्य-वैषम्य स्थापित करते हुए व्यापक अध्ययन किया है । इस अध्ययन को उपस्थित करने से पूर्व संस्कृतसाहित्यशास्त्रगत स्थायी भाव के स्वरूप का निरूपण आवश्यक है ।

भरतमुनि ने स्थायी, व्यभिचारी, सात्विक आदि ४९ भावों को सामान्यतः 'भाव' माना है और इनमें रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय इन आठ भावों को स्थायी भाव निरूपित किया है । ४९ भावों में से केवल आठ भावों को ही स्थायी क्यों माना जाय, इनकी व्यावर्तक कसौटी क्या है ? इस विषय में भरतमुनि ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है : १. ये ही आठों भाव रसत्व को प्राप्त होते हैं, २. अन्य विभावानुभाव व्यभिचारी भाव आदि इन्हीं के आश्रित रहते हैं, ३. स्थायी भाव 'स्वामी' रूप होते हैं या 'नरेन्द्रवत्' होते हैं, अन्य भाव 'परिजन' रूप होते हैं ।[1] इन्हीं तीन कसौटियों पर अन्य भावों को भी स्थायी क्यों नहीं कहा जा सकता और स्थायी भावों की संख्या आठ से अधिक क्यों नहीं हो सकती ? इसका उत्तर भरतमुनि ने आप्तप्रमाण का आश्रय लेकर ही दिया है कि इन रसों और भावों के नाम आप्तोपदेश से चले आये हैं ।[2] अतः उनके स्थायीभावत्व में शंका नहीं करनी चाहिए । फिर भी स्थायी भावों के स्थायित्व की सिद्धि में भरतमुनि ने पूर्वोक्त तीन तर्क प्रस्तुत किये हैं ।

भरतोत्तर युग में नाट्यशास्त्र की अनेक टीकाएँ हुईं और स्थायी-भावों के स्वरूप-निर्धारण में अनेक युक्ति-प्रमाण प्रस्तुत किये गये । स्थायीभाव के स्वरूप-

---

१. नाट्यशास्त्र, पृ० ८०-८१, अध्याय ७, श्लोक ८

२. वही, पृ० ७३

प्रतिपादन में विशेष उल्लेखनीय आचार्यों के नाम इस प्रकार हैं—अभिनवगुप्त, धनंजय, भोज, हेमचन्द्र, मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि। इन आचार्यों ने स्थायी भाव के स्वरूप-निर्धारण में भरत-प्रतिपादित तथा निज-आविष्कृत जिन कसौटियों का आधार ग्रहण किया है, उनका मुख्य रूप इस प्रकार है :

१. स्थायीभाव जन्मजात होते हैं, वासना-संस्कार रूप होते हैं और प्राणिमात्र में जन्म से ही इनकी स्थिति होती है।[1]
२. स्थायीभाव स्थिरभाव होते हैं जो विरोधी या अविरोधी भावों से उच्छिन्न या तिरोहित नहीं होते।[2]
३. स्थायीभाव दूसरे भावों को आत्मसात कर लेते हैं, अन्य भाव इन्हीं के आश्रित हो जाते हैं।[3]
४. स्थायीभाव व्यापक होते हैं, समस्त प्रवन्ध में स्थिर रहते हैं अतः स्थायी कहलाते हैं।[4]
५. स्थायीभाव ही रसत्व को प्राप्त करते हैं, चर्वणा, आस्वाद या आनंदरूपता इन्हीं को प्राप्त होती है।[5]

इनके अतिरिक्त स्थायी भावों का एक अन्य गुण 'पुरुषार्थोपयोगिता' (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में सहायक होना) का भी अभिनवगुप्त ने निरूपण किया है।[6] और स्थायी भावों को ही रसत्व-प्राप्ति का कारण उनमें 'औचित्य' की स्थिति

---

१. जात एव हि जन्तुः इयतीभिः संविद्भिः परीतो भवति—अभिनवगुप्त, अभिनवभारती, प्र० सं०, पृ० २८४
न हि एतच्चित्तवृत्तिवासनाशून्यः प्राणी भवति,—वही पृ० २८४
वासनात्मना सर्व जन्तूनां तन्मयत्वेन उक्तत्वात्—वही, पृ० २८५
'सामाजिकानां वासना रूपेण स्थितः स्थायी भावः'—हेमचन्द्र : काव्यानुशासन, पृ० ५७
२. विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः —धनंजय : दशरूपक ४-३४
विरुद्धा अविरुद्धा वा यं तिरोहितुमक्षमाः—विश्वनाथ : साहित्यदर्पण, ३-१७४
३. धनंजय : दशरूपक, ४-३४; जगन्नाथ : रसगंगाधर, पृ० ३१
४. 'तत्र आप्रबन्धं स्थिरत्वादमीषां भावानां स्थायित्वम्'—जगन्नाथ : रसगंगाधर, पृ० ३०
५. भोज : स० कण्ठाभरण, ५-१९, विश्वनाथ, सा० द० ३-१७४
६. तत्र पुरुषार्थनिष्ठाः कांश्चिद्संविद इति प्रधानम्। अ० भा०, पृ० २८३

मानी है । इस प्रकार 'पुरुषार्थोपयोगिता' और 'उचितविषयनिष्ठता' भी स्थायी भावों के दो और गुण बन जाते हैं ।[१]

संस्कृत-आचार्यों द्वारा प्रस्तुत इन सभी कसौटियों का आधार ग्रहण करते हुए हिन्दी-मराठी के समीक्षकों ने स्थायी भाव के स्वरूप का व्यापक पुनराख्यान किया है । विशेषतः पाश्चात्य मानसशास्त्र के प्रकाश में संस्कृत के स्थायीभावों का जो विवेचन किया गया है उसका व्यापक तुलनात्मक अध्ययन आगे प्रस्तुत किया जाता है ।

स्थायीभाव और स्थिरवृत्ति (सेंटिमेन्ट)

जब पाश्चात्य विद्वानों ने संस्कृतसाहित्य तथा उसके समृद्ध साहित्यशास्त्र का अध्ययन आरम्भ किया तब उन्हें संस्कृतसाहित्यशास्त्रगत अनेक सिद्धान्त उनकी पूर्व मान्यताओं के अनुरूप प्रतीत हुए । परिणामतः संस्कृतसाहित्यशास्त्र के अनेक तत्वों का उन्होंने अपनी मान्यताओं के अनुरूप अनुवाद किया है । लगभग एक सौ पैंतीस वर्ष पूर्व ई० सन् १८२६ में एच० एच० विल्सन ने संस्कृतनाटकों का अंग्रेजी में अनुवाद किया है । इन्होंने आनुषंगिक रूप से काव्य-सिद्धान्तों का भी विवेचन कर दिया है। भारतीय 'रस' के लिए इन्होंने 'सेंटिमेन्ट' कहा है,[२] जिसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दी-मराठी के अनेक समीक्षकों ने भारतीय 'रस' और स्थायीभाव का पाश्चात्य मानसशास्त्र के 'सेंटिमेंट' से तुलनात्मक अध्ययन किया है ।

हिन्दी में आ० रामचन्द्र शुक्ल, डा० नगेन्द्र, डा० गुलाबराय, श्री रामदहिन मिश्र आदि ने पाश्चात्य मानसशास्त्र के प्रकाश में स्थायी भावों का थोड़ा-बहुत अध्ययन किया है । इनमें श्री आ० शुक्ल और डा० नगेन्द्र का अध्ययन कुछ विस्तृत है । अतः सर्वप्रथम आचार्य शुक्ल का स्थायीभाव विषयक मानसशास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है ।

शुक्ल जी ने भावों का विवेचन पाश्चात्य मानसशास्त्र और संस्कृतसाहित्य शास्त्र की मान्यताओं के प्रकाश में किया है । भाव की परिभाषा दी है—'प्रत्यय बोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति इन तीनों के गूढ़ संश्लेष का नाम भाव है ।' भावों से ही भावकोश (सेंटिमेंट) का निर्माण होता है । भावकोश (सेंटिमेंट)से अभिप्राय भाव समष्टि नहीं है, बल्कि अंतःकरण में संघटित एक प्रणालीमात्र

---

१. रसविमर्श, (डा० वाटवे), पृ० १३७
२. साहित्यमीमांसा (डा० रा० शं० वाळिंबे), पृ० १२१

है, जिसमें कई भिन्न-भिन्न भावों का संचार हुआ करता है। 'भावकोश' और भाव में अंतर यह है कि 'भाव में संकल्प वेगयुक्त होते हैं और भावकोश में धीर और संयत। भावकोश का विधान भावविधान से उच्चतर है; अतः इसका विकास पीछे मानना चाहिए।' शुक्ल जी ने रति आदि परंपरागत नौ स्थायी भावों को 'भाव' के अन्तर्गत माना है। इनकी स्थायी दशा की परिकल्पना मुख्यरूप से 'शेंड' के मानसशास्त्रीय 'सेंटिमेंट' के विवेचन पर आधृत है।[1] हमारे यहाँ रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा आश्चर्य और निर्वेद नौ भाव गिनाए गए हैं। ध्यान देने की बात यह है कि इनमें से हास, उत्साह और निर्वेद को छोड़ कर शेष सब भाव वे ही हैं जिन्हें आधुनिक मनोविज्ञानियों ने मूल भाव (Primary) कहा है।' प्रस्तुत शुक्ल जी की मान्यता सामान्य रूप से ही ग्राह्य है, विशेष रूप से नहीं। क्योंकि मानसशास्त्रज्ञ प्राथमिक या मूलभावों के विषय में एकमत नहीं हैं, यदि मानसशास्त्रीय मूलभावना को स्थायीभावों का आधार मानें तो शेंड की मूलभावना की कल्पना में 'रति' स्थायीभाव का अन्तर्भाव नहीं होगा और मैक्डूगल के अनुसार 'शोक' प्राथमिक भावना न हो कर साधित कहाती है।[2] शुक्ल जी ने परंपरागत केवल पाँच स्थायीभावों के आधार पर 'स्थायीदशाओं' की कल्पना निम्न रूप में की है—

भाव	स्थायी दशा
राग	रति
हास	-।-
आश्चर्य	-।-
शोक	संताप
क्रोध	वैर
भय	आशंका
जुगुप्सा	विरति

शुक्ल जी ने 'रति' के अतिरिक्त शेष वैर, विरति, आशंका और संताप चार नये शब्द 'स्थायीदशा' के द्योतक रखे हैं। 'रति' को स्थायी भाव की अपेक्षा 'स्थायीदशा' का रूप माना है और उसके मूल में 'राग' नामक भाव की कल्पना की है। इन्होंने संस्कृतआचार्यों की 'स्थायीभाव' विषयक मान्यताओं का दो रूपों में निरूपण किया है :—

---

१. **शंड**—The Foundations of Charactor, P. 51-55.

२. **मैक्डूगल**—Out lines of Psychology, P. 342-343 (1933).

(१) किसी एक भाव का एक ही अवसर पर इस आधिपत्य के साथ बना रहना कि उसके उपस्थिति-काल में अन्य भाव अथवा मनोवेग उसके शासन के भीतर प्रकट हों और वह ज्यों-का-त्यों बना रहे।

(२) किसी मानसिक स्थिति का इतने दिनों तक बना रहना कि उसके कारण भिन्न-भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न भाव प्रकट होते रहें।

और निष्कर्ष निकाला है कि 'रति' एकमात्र ऐसा स्थायी भाव है, जिसमें मानसशास्त्र सम्मत दीर्घकाल व्यापी द्वितीय प्रकार का स्थायित्व अभिघटित होता है, तथा रोष में प्रथम प्रकार का स्थायित्व उपलब्ध होता है।[1]

शुक्लजी ने डा० वाटवे की भाँति रति आदि आठों स्थायी भावों को मानसशास्त्रीय सेंटीमेंट सिद्ध करने की अपेक्षा स्वतंत्र चिंतन द्वारा नवीन नामकरण के रूप में 'स्थायीदशाओं' का निरूपण किया है। इन्होंने 'भाव' तथा 'स्थायीदशा' के व्यावर्तक तत्वों का निरूपण मानसशास्त्र के 'इमोशन' और 'सेंटिमेन्ट' के पारस्परिक अंतर को ध्यान में रख कर ही किया है :

(१) 'स्थायीदशा' में ध्यान रखने की बात यह है कि मूल भाव अपनी स्थायी दशा का संचारी होकर बराबर आया करेगा ठीक उसी प्रकार जैसे 'भाव' के प्रतीतिकाल के भीतर उसी की कुछ अन्तर्दशाएँ (जैसे त्रास, अमर्ष) संचारी के रूप में आती हुई कही गई हैं।

(२) अनुभाव भाव ही के हुआ करते हैं। चाहे प्रधान के हों या संचारी के। उसकी स्थायीदशा के नहीं--अर्थात् 'अनुभाव' जब प्रकट होंगे तब किसी भाव या उसके संचारी के प्रतीतिकाल में।[2]

आ० शुक्ल ने 'स्थायीदशा' तथा भावदशा की एक अन्य व्यावर्तक कसौटी प्रस्तुत की है--वह है संचारी भावों की। भावदशा में सुखात्मक भाव के संचारी सुखात्मक भाव या चित्तविकार होंगे और दुःखात्मक भाव के दुःखात्मक ही। परन्तु 'स्थायीदशा' में सुखात्मक दुःखात्मक दोनों प्रकार के भाव आ सकते हैं। भाव दशा में विरोधी भाव आ जाने से मूल भाव बाधित होकर तिरोहित हो जाता है। अतः 'स्थायीदशा' स्पष्टतः ही भावदशा से अपना पृथक् अस्तित्व रखती है। संस्कृत आचार्यों ने स्थायीभाव के लक्षण में स्पष्ट किया है कि 'स्थायीभाव' को विरोधी या अविरोधी कोई भाव संचारी रूप में आकर तिरोहित नहीं

---

१. रसमीमांसा, पृ० १७२-७५
२. वही, पृ० १८१

कर सकता ।[१] शुक्ल जी के मत में प्रस्तुत मान्यता केवल 'रति' स्थायी भाव पर अभिघटित हो सकती है अन्य स्थायी भावों पर नहीं, क्योंकि 'सुखात्मक भावों से निष्पन्न हास्य, वीर और अद्भुत रसों के संचारियों में कोई दुःखात्मक भाव या चित्तिविकार न मिलेगा, इसी प्रकार दुःखात्मक भावों से निष्पन्न करुण, रौद्र, भयानक और बीभत्स रसों के संचारियों में हर्ष आदि सुखात्मक भाव या चित्तविकार न मिलेंगे ।'[२] फलतः शुक्ल जी ने परंपरागत 'रति' स्थायीभाव को 'स्थायीदशा' के अन्तर्गत रखा है और उसके मूल में 'राग' नामक भाव की कल्पना की है । भावों की शीलदशा की कल्पना शुक्ल जी को शैंड के ग्रन्थ-अध्ययन से सूझी है[३] फिर भी इन की प्रतिभा मौलिक थी । पाश्चात्य मानस-शास्त्र और संस्कृत साहित्यशास्त्र का आधार ग्रहण करते हुए भी उन्होंने स्वतंत्र चिन्तन को कुंठित नहीं होने दिया है । भाव (Emotion) तथा स्थायीदशा (Sentiment) से पृथक् 'शीलदशा' का इन्होंने न केवल तर्कपूर्ण प्रतिपादन किया है अपितु प्राचीन तथा अर्वाचीन साहित्य में उसकी स्थिति और उपयोगिता पर भी प्रकाश डाला है ।

'भाव' तथा 'स्थायीदशा' से 'शीलदशा' का व्यावर्तक प्रमुख तत्व है—भाव का प्रकृतिस्थ होना ।[४] 'स्थायीदशा' में भाव बार-बार संचरण करते हैं और वे विशिष्ट आलंबन के प्रति संगठित या बद्ध रहते हैं, परन्तु 'शीलदशा' में भाव प्रकृतिस्थ हो जाता है अर्थात् मनुष्य-स्वभाव का अंग बन जाता है और समय-समय पर भिन्न-भिन्न आलंबन ग्रहण करता है । उदाहरणार्थ, यदि क्रोध (भाव) प्रकृतिस्थ हो गया है तो एक ही व्यक्ति के प्रति 'वैर' (स्थायीदशा) के रूप में न टिकेगा, बल्कि अनेक व्यक्तियों के प्रति समय-समय पर प्रकट हुआ करेगा, जिससे मनुष्य क्रोधी या चिड़चिड़ा कहलायेगा । शुक्ल जी के शब्दों में 'भाव के इस प्रकार प्रकृतिस्थ हो जाने की अवस्था को हम 'शीलदशा' कहेंगे ।'[५] भावदशा, स्थायीदशा तथा 'शीलदशा' का निम्न रूप में वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है ।[६]

---

१. साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, श्लोक १७४
२. रसमीमांसा, पृ० १८२
३. आचार्य शुक्ल के समीक्षा सिद्धान्त (डा० रामलालसिंह), पृ० ३४९
४. रसमीमांसा, पृ० १८३
५. रसमीमांसा, पृ० १८३
६. वही, पृ० १८६—

शुक्ल जी ने इस वर्गीकरण में 'मनोविज्ञानियों' का एकांत अनुसरण नहीं किया है।[1]

शुक्ल जी के मत में 'शीलदशा' की उपयोगिता मुक्तक काव्यों की अपेक्षा मनुष्य प्रकृति का संस्कार परिष्कार करने में समर्थ, उच्च ध्येय पूर्ण प्रबन्ध काव्य या नाटकों में विशेष रूप से देखी जा सकती है। महाकाव्यों तथा नाटकों में चरित्र-चित्रण का आधार 'शीलदशा' ही है। आलंबन का स्वरूप संघटित करने में उपादान होकर 'शीलदशा' रसोत्पत्ति में पूरा योग देती है तथा आलंबन के आभ्यंतर स्वरूप की योजना भिन्न-भिन्न शीलों से ही होती है। अंत में शुक्ल जी ने गोस्वामी तुलसीदास की विनयपत्रिका से उदाहरण प्रस्तुत कर 'राम' की 'शीलदशा' की काव्यगत उपयोगिता पर प्रकाश डाला है।

डा० नगेन्द्र ने स्थायीभावों का पाश्चात्य मानसशास्त्र के 'सेंटिमेन्ट' से साम्य-वैषम्य दिखाने से पूर्व भावों के मौलिक मनोविकार (Primary emotion) व्युत्पन्न मनोविकार (Derived emotion) तथा मनोवृत्ति (Sentiment) के स्वरूप का निरूपण किया है। इनके मतानुसार संस्कृत-साहित्यशास्त्र

एक अवसर पर एक आलंबन के प्रति भावदशा	अनेक अवसरों पर एक आलंबन के प्रति स्थायी दशा	अनेक अवसरों पर अनेक आलंबनों के प्रति शीलदशा
राग	रति	स्नेहशीलता, रसिकता, लोभ, तृष्णा, लंपटता।
हास	(अनभिधेय)	हँसोड़पन, विनोदशीलता
उत्साह	—	वीरता, तत्परता
आश्चर्य	(अनभिधेय)	भौंचक्कापन
शोक	संताप	खिन्नता
क्रोध	बैर	क्रोधशीलता, उग्रता, चिड़चिड़ापन
भय	आशंका	भीरुता
जुगुप्सा	विरति	तुनकमिजाजी

१. 'मनोविज्ञानियों ने 'स्थायीदशा' और शीलदशा के भेद की ओर ध्यान न दे कर दोनों प्रकार की मानसिक दशाओं को एक ही में गिना दिया है'—वही, पृ० १८७

के रति आदि नौ स्थायीभाव एकांततः मानसशास्त्र के न मौलिक मनोविकार हैं और न व्युत्पन्न मनोविकार ही। शान्त का स्थायीभाव 'शम' तथा अद्भुत का स्थायी भाव 'विस्मय' मौलिक मनोविकार में नहीं रखे जा सकते, क्योंकि एक में बुद्धितत्व का प्राधान्य है तो दूसरा स्पष्टतः ही मिश्र भाव है। दूसरी ओर सभी स्थायीभाव व्युत्पन्न मनोविकार के अन्तर्गत भी नहीं रखे जा सकते, क्योंकि इनमें कतिपय स्थायीभावों--भय, क्रोध आदि--को मानसशास्त्र मौलिक मनोविकार मानता है न कि व्युत्पन्न मनोविकार। फलतः स्थायीभाव एकांततः न मौलिक मनोविकार है और न व्युत्पन्न मनोविकार ही। जहाँ तक इनके मानसशास्त्र के 'सेंटिमेंट' से साम्य का प्रश्न है, डा० नगेन्द्र की मान्यतानुसार दोनों में निम्नलिखित साम्य-वैषम्य उपलब्ध होता है—

समता–(१) मनोवृत्ति (सेंटिमेंट) की भाँति स्थायीभाव भी अन्य (संचारी) भावों की अपेक्षा स्थायी होता है।

(२) मनोवृत्ति की ही भाँति स्थायीभाव एक मनोदशा है, जिसमें अन्य भाव संचरण करते रहते हैं।

विषमता--परन्तु दोनों में कुछ मौलिक अन्तर भी है--

(१) मनोवृत्ति एक व्याप्त मनःस्थिति मात्र है, जिसके समग्र रूप का अनुभव कभी नहीं हो सकता। मनोवृत्ति के संचारी का ही आस्वादन हो सकता है मनोवृत्ति स्वयं का नहीं। उदाहरण के लिए देशभक्ति का आस्वादन कभी नहीं होता, उसके आश्रित या संचारीभाव उत्साह आदि का ही होता है, परन्तु स्थायी के विषय में यह बात नहीं है, उसका संचारी ही नहीं वह स्वयं भी समग्रतः आस्वाद्य है। क्लैव्य मनोविकार का कारण है स्वयं मनोविकार नहीं है, परन्तु भय स्वयं ही मनोविकार है।

(२) मनोवृत्ति सदैव ही मनोविकार की आवृत्ति से बनती जाती है, परन्तु स्थायीभाव के विषय में यह सत्य नहीं है। हर्ष की आवृत्ति करते रहिये पर वह रति नहीं बन पायेगा।

(३) मनोवृत्ति सदैव विचारमूलक है, परन्तु स्थायीभाव (शम को छोड़ कर) विचारमूलक नहीं--प्रवृत्तिमूलक ही है।[1]

डा० राकेशगुप्त ने भी भारतीय 'स्थायीभाव' तथा पाश्चात्य मानसशास्त्रीय

---

१. रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ७२-७३

'सेंटिमेंट' की स्वरूप-भिन्नता का ही स्पष्टतः प्रतिपादन किया है और दोनों का पारस्परिक संबन्ध-स्थापन असंगत ठहराया है।[१] डा० गुलाबराय ने रसों का सामान्यतः मनोवेग (इमोशन) से सम्बन्ध दिखाते हुए रस और मनोवेग का साम्य-वैषम्यमूलक अध्ययन किया है और मनोवेग के मूल में निहित सहज-प्रवृत्तियों (इन्स्टिंक्ट्स) से स्थायीभावों का सम्बन्ध स्थापित किया है। 'स्थायी-भाव और सहज प्रवृत्तियों' के प्रसंग में इनके एतद्विषयक विचारों का निरूपण आगे किया जाएगा।

श्री रामदहिन मिश्र का स्थायीभाव तथा सेंटिमेंट विषयक अध्ययन मराठी के लेखकों—विशेषतः डा० के० ना० वाटवे, प्रा० रा० श्री० जोग—के अध्ययन पर आधारित है। कई स्थलों पर उनका अपूर्ण अनुवाद मात्र है। अतः इनका स्थायी-भाव और सेंटिमेंट विषयक अध्ययन अधिक अस्पष्ट है, इस विषय में इनका सुनिश्चित अभिमत व्यक्त नहीं हो सका है।[२] मराठी के लेखकों का स्थायी और सेंटिमेंट से सम्बद्ध अध्ययन पढ़ने से श्री मिश्रजी का एतद्विषयक निरूपण स्पष्ट रूप से समझ में आ सकता है।

सारांश

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने स्थायीभावों तथा स्थिरवृत्तियों (सेंटिमेंट्स) को समरूप न मान कर पृथक् स्थायी दशाओं की कल्पना की है। इन्होंने परंपरा-गत 'रति' स्थायीभाव को ही 'स्थायीदशा' के अन्तर्गत माना है और इसके मूल में 'राग' नामक भाव की अभिनव कल्पना की है। डा० नगेन्द्र ने स्थायी-भाव और 'स्थिरवृत्ति' में साम्य दिखाते हुए भी दोनों की एकांत समता का प्रत्या-ख्यान किया है। इसी प्रकार डा० राकेश गुप्त के मत में भी स्थायीभाव और

---

1. ····for otherwise there is nothing common in the conception of sentiment and that of a Sthayi bhava. A Sthayi bhava is a latent impression in the mind of the perceiver and is called forth when he perceives a poetic phenomenon Suggesting that particular mental state with the help of the vibhavas etc., a sentiment is a latent feeling of attachment of particular idea existing a particular emotion with a definite objective phenomenon........it cannot be linked with sentiment.
   Psychological studies in Rasa, P. 129

२. काव्यदर्पण, पृ० १४७-५१

सेंटिमेंट एकरूप नहीं हैं। डा० गुलाबराय स्थायी भावों का सम्बन्ध सेंटिमेंट्स से नहीं, वरन् 'सहज प्रवृत्तियों' (इन्स्टिंक्ट्स) से मानते हैं।

स्थायीभाव और स्थिरवृत्ति (सेंटिमेंट)

मराठी में

हिन्दी की भाँति मराठी के आधुनिक समीक्षकों ने भी स्थायी भावों का मानसशास्त्र के आधार पर व्यापक अध्ययन किया है। मराठी के समीक्षकों में भाव के स्वरूप के विषय में जैसा मत-वैविध्य है वैसा ही स्थायीभाव और स्थिर-वृत्ति (सेंटिमेंट) के साम्य तथा वैषम्य के विषय में है। स्थायीभाव और स्थिर-वृत्ति (सेंटिमेंट) का साम्य-वैषम्यमूलक अध्ययन डा० के० ना० वाटवे, श्री द० के० केळकर, श्री रा० श्री० जोग, श्री दि० के० बेडेकर, डा० रा० शं० वाळिंबे, डा० सुरेन्द्र बारलिंगे आदि ने प्रस्तुत किया है। इनमें डा० के० ना० वाटवे के अतिरिक्त शेष सभी समीक्षक रस-सिद्धान्त के स्थायीभाव और मानस-शास्त्र की 'स्थिरवृत्ति' (सेंटिमेंट) में साम्य-स्थापन सर्वथा अनुपयुक्त समझते हैं। अतः प्रथम डा० वाटवे की एतद्विषयक स्थापनाओं का विस्तृत निरूपण आवश्यक हो जाता है।

डा० के० ना० वाटवे ने स्थायीभाव और सेंटिमेंट में एकांत साम्य-स्थापन से पूर्व दोनों के पारस्परिक अंतर का भी स्पष्टीकरण कर दिया है और इस अंतर को महत्वहीन सिद्ध करने का सयुक्तिक विवेचन किया है। इनके अनुसार स्थायीभाव और सेंमिमेंट में पारस्परिक भिन्नता इस प्रकार है—

१. संस्कृत के आचार्य स्थायीभावों को परिनिष्पन्न, 'उपजत' (जन्मजात) स्वयंसिद्ध और अविनाशी मानते हैं जब कि मानस शास्त्रज्ञ 'सेंटिमेंट्स' को 'संपादित' (अक्वायर्ड) विकासशील और कहीं-कहीं ह्रासशील मानते हैं।

२. संस्कृत के साहित्यशास्त्र में सहृदयगत स्थायीभावों का ही उल्लेख है, काव्यगत पात्रों के स्थायीभाव का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। इसके विपरीत मानस-शास्त्र काव्यास्वादकालीन सहृदयगत 'सेन्टिमेन्ट' की स्थिति और 'स्वरूप' का विवेचन नहीं करता। अधिक-से-अधिक काव्यगतपात्रों में 'सेन्टिमेन्ट' की स्थिति का वहाँ निरूपण मिलता है।

उपर्युक्त दोनों शंकाओं का डा० वाटवे के अनुसार समाधान इस प्रकार है—

अभिनवगुप्त के मन में सहजप्रवृत्ति (Instinct) का घटक ही मुख्य रूप से होगा, अतः उन्होंने स्थायीभाव को परिनिष्पन्न कहा है। अभिनवगुप्त

इस विषय में तीन शब्दों का प्रयोग करते हैं---'वासना', 'संविद्' और 'चित्त-वृत्ति'। वासना से उनका अभिप्राय Instinct अथवा Appetite से रहा होगा और संविद्' से Concrete general Sentiment तथा चित्तवृत्ति का अभिप्राय Mental Condition से होगा। समृद्ध मानसशास्त्र के अभाव में इस प्रकार का वर्गीकरण और भेद करना कठिन था अतः उनके विवेचन में दोष दिखाई देता है फिर भी सामान्य रूप से उपर्युक्त प्रतिपादन उपयुक्त समझा जाना चाहिए।

वासना, संविद् और चित्तवृत्ति शब्द अभिनवगुप्त के मतानुसार स्थायी-भाव के वाचक हैं। उनके अनादि वासना स्वरूप में वे 'उपजत' (जन्मजात) और परिनिष्पन्न होते हैं, परन्तु स्थायीभाव केवल सहजप्रवृत्तिरूप अथवा अनादि वासनारूप मात्र नहीं हैं। क्योंकि प्रायः सभी का मत है कि स्थायीभाव रूप स्थिरवृत्ति के चारों ओर इतर द्वितीय प्रकार की भावनाएँ एकत्रित होकर उसका परिपोष करती हैं। केवल Instinct के विषय में भी ऐसा सम्भव नहीं है। इतना ही नहीं केवल Emotion (प्राथमिक भावना) भी Sentiment नहीं है। सारांश, स्थिरवृत्ति (Sentiment) की रचना, उसके घटकों की सूक्ष्म छान-बीन करना पहले कठिन था अतः उसके 'उपजतवृत्ति' के स्वरूप की ओर ध्यान देकर अभिनवगुप्त ने उसे परिनिष्पन्न माना है। इस प्रकार प्रथम शंका का समाधान हो जाता है। 'संस्कृत साहित्यशास्त्रकारों की सामान्य धारणा पर ध्यान देने से इस विषय में शंका के लिए स्थान ही नहीं रह जाता कि उनका 'स्थायी भाव' से अभिप्राय Sentiment से ही है।'[1]

स्थायीभाव की भाँति 'सेंटिमेंट' को भी रसिकगत मानने में मानसशास्त्र का विशेष विरोध नहीं है। संस्कृत में भी अभिनवगुप्त के वचन---'जात एव हि जन्तु इयतीभिः संविद्भिः परीतोभवति' के आधार पर स्थायीभाव को पात्रगत, कविगत और रसिकगत मानने में आपत्ति नहीं आती। भट्टलोल्लट, शंकुक और

---

१. वासना- सर्वेषां अनादिवासना चित्रीकृतचेतसां वासना संवादात् (अभिनवभारती प्र० सं० पृ० २८१)

संविद्–जात एव हि जन्तुः इयतीभिः संविद्भिः परीतो भवति (अभिनव-भारती प्र० सं० पृ० २८४

चित्तवृत्ति---'नहि एतच्चित्तवृत्ति वासनाशून्यः प्राणी भवति'
केवलं कस्यचित् काचिदधिका चित्तवृत्तिः, काचिदूना'
वही पृ० २८४ ---रसविमर्श पृ० ११५

भट्टनायक काव्यगत पात्रों में स्थायीभाव की स्थिति का निर्देश कर चुके हैं। नाट्य दर्पण में 'रस' को काव्यगत और रसिकगत उभयविध माना गया है।

मेक्डूगल, प्रो० थावलस आदि मानस शास्त्रज्ञों ने स्थिरवृत्ति के दो वर्ग बनाए हैं, एक मूर्त वस्तु विषयक (Concrete) और दूसरा अमूर्त वस्तु विषयक (Abstract)। मूर्त वस्तु विषयक स्थिरवृत्ति के भी मूर्त जाति विषयक (Concrete general) और मूर्त व्यक्ति विषयक (Concrete particular) दो प्रभेद किये हैं। इनमें मूर्त जाति विषयक स्थिर वृत्ति सामान्यतः सहजात, सर्वसामान्य है, फलतः रसिक निष्ठ मानने में मानस शास्त्र की आपत्ति नहीं है। अर्थात् मूर्तजाति विषयक स्थिरवृत्ति मन में दृढ़ होने के लिए किसी को भी—चाहे वह रसिक, कवि, काव्यस्थ नायक या प्रेक्षक कोई भी हो—मूर्तव्यक्ति विषयक स्थिरवृत्ति का पूर्वानुभव अपेक्षित है।

एक अन्य दृष्टि से भी मानसशास्त्र में रसिकगत स्थिरवृत्ति का संकेत मिल जाता है। मानसशास्त्र में काव्यानंद के विवेचन में 'वासना-नियन्त्रण सिद्धान्त' (Repression Theory) है। इसमें पाठक के काव्य-अध्ययन-जनित आनंद का विवेचन करते हुए कहा गया है कि उसके मन में प्रेम, क्रोध, भीति इत्यादि भावनाएँ सुप्त अथवा परिस्थिति-नियन्त्रित होती हैं। इन दमित वासनाओं में 'सेंटिमेंट' (Sentiment) का समावेश तो होगा ही। काव्यानंद की क्रीडोपपत्ति (Play theory) और मानसशास्त्रोक्त 'एम्पेथी' (Empathy) नामक तन्मयावस्था में रसिकगत 'स्थिरवृत्ति' (Sentiment) को मान्यता प्राप्त ही है।

इस प्रकार 'स्थायीभाव' और 'सेंटिमेंट' के पारस्परिक वैषम्य को निर्दिष्ट करने वाली शंकाओं का समाधान करने के उपरान्त डा० वाटवे ने दोनों के पारस्परिक नितांत साम्य का प्रतिपादन भी मानसशास्त्र के आधार पर ही करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने भावनाओं के प्राथमिक (Primary), संमिश्र (Blended) और साधित (Derived) तीन रूपों का निरूपण किया है। इनमें प्राथमिक भावना का सम्बन्ध किसी न किसी प्रमुख सहजप्रवृत्ति (Instinct) से माना है, क्योंकि वे विशिष्ट विषय को देखने अथवा चिंतन से मन में सहसा उद्भूत होती हैं। बुद्धि एक स्वतंत्र शक्ति है, इसी शक्ति से कार्य-प्रेरणा का निर्माण होता है। प्राथमिक भावनाओं की ही वृत्ति अथवा 'स्थिरवृत्ति' बन सकती है, क्योंकि वे स्पष्ट चिरकाल तक स्थिर रहनेवाली (Enduring) होती हैं। उनके पीछे प्रेरणा (Conation) होती है। संक्षेपतः वे स्वतंत्र, श्रेष्ठ और

कार्योन्मुख होती हैं । इन्हीं भावनाओं का उद्दीपन पुनः-पुनः किसी विशिष्ट विषय द्वारा होने पर इतर (Secondary) भावनाएँ उनके चारों ओर जमने लगती हैं और इन्हीं की स्थिरवृत्ति बनती हैं, ये ही स्थायीभाव हैं । डा० वाटवे ने 'स्थायीभाव' और स्थिरवृत्ति (Sentiment) में साम्य-प्रदर्शन के लिए निम्न हेतु भी दिये हैं —

१. स्थिरवृत्ति में एक ही प्राथमिक भावना अंत तक रहती है और उसमें इतर द्वितीय प्रकार की भावनाएँ गुम्फित होती हैं, इसी को अभिनवगुप्त ने 'सूत्र-मणि' के दृष्टान्त से सिद्ध किया है ।

२. रत्यादि प्राथमिक भावनाएँ स्थिर होती हैं और इन पर इतर भावनाओं की लहरें टकराती हैं फिर भी वे मूल भावनाएँ नष्ट नहीं होतीं बल्कि उन इतर भावनाओं को आत्मसात कर लेती हैं । इस विषय में धनंजय का सागर कल्लोल दृष्टान्त कितना 'समर्पक' है । तरंगें और सागर जलरूप होते हैं, इसी प्रकार प्राथमिक और द्वितीय कोटि की भावनाएँ भावरूप ही होती हैं । प्रेम की अवस्था में अविरोधी प्रेम, आशा इत्यादि सजातीय और जुगुप्सा, क्रोध, दुःख इत्यादि विजातीय भावनाओं की तरंगें यद्यपि प्राथमिक भावना के सागर में उछलती रहती हैं फिर भी 'प्रेम' हर प्रकार से उन्हें आत्मसात कर ही लेता है । वे तरंगें समुद्र में ही विलीन हो जाती हैं, इसी प्रकार उन भावनाओं का प्रेम में ही पर्यवसान होता है ।[1]

३. स्थिरवृत्ति की प्राथमिक भावना विषय के दर्शन से अथवा चिंतन से उद्दीप्त होती है, तदभाव में सुप्त रहती है और सहजप्रवृत्ति के रूप में चित्त में सदैव विद्यमान रहती है ।

४. मनुष्यों में जैसे राजा वैसे ही प्राथमिक भावना इतर द्वितीय भावनाओं से श्रेष्ठ होती है और वह जन्म तथा गुण से भी श्रेष्ठ होती है । प्राथमिक भावनाओं की स्वतंत्र शक्ति होती है, उनमें इतर भावनाओं को अपनी ओर आकर्षित करने की शक्ति होती है और उनका स्वतंत्र ध्येय होता है, फलतः आनंद, दुःख, आशा, निराशा, चिंता जैसी भावनाएँ सदैव उनकी सहायक बन कर रहती हैं ।

५. काव्य में मुख्य आस्वाद्य भावना प्राथमिक भावना ही होती है, अतः उसी की मुख्य रूप से चर्वणा होती है । इस चर्वणा में इतर भावनाओं की मिठास का

---

१. **विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः ।**
आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः ।। (द. रू. ४-३४)

भी किंचित् सम्मिश्रण रहता है, परन्तु मुख्य रस बनता है प्राथमिक भावनाओं का ही ।[1]

विवेचन :

स्थायी भाव और स्थिरवृत्ति (Sentiment) का स्वरूप

लगभग दो हजार वर्ष पूर्व भरतमुनि ने जिन आठ स्थायी भावों का निरूपण किया है, क्या वे आठों स्थायीभाव १९ वीं शताब्दी में विकसित मनोविज्ञान के एक भावात्मक तत्व 'स्थिरवृत्ति' (सेंटिमेंट) से पूर्णतः समता रखते हैं ? क्या 'सेंटिमेंट' और स्थायीभाव के एकीकरण से स्थायीभाव का मूल स्वरूप स्पष्ट हो सकता है ? प्रस्तुत समीकरण से रस-सिद्धान्त में व्यापकता या मनोवैज्ञानिकता आ सकती है ? इत्यादि प्रश्नों का समाधान ढूँढ़ने के लिए कुछ विस्तृत विवेचन अपेक्षित है ।

जहाँ तक स्थायीभाव का भरतमुनि के अनुसार स्पष्टीकरण है, वह इस प्रकार है—"जिस प्रकार एक समान हाथ-पैर-उदर रखने वाले समान लक्षणों से युक्त पुरुष कुल, शील, विद्या, कर्म, शिल्प, विचक्षणता के कारण राजा बन जाते हैं और दूसरे अल्प बुद्धि के मनुष्य उनके अनुचर होते हैं, इसी प्रकार विभाव, अनुभाव, तथा व्यभिचारी भाव स्थायीभावों के आश्रित होते हैं, अतः स्वामीतुल्य स्थायी-भाव होते हैं और अन्य भाव सेवक रूप हैं । इन्हीं विभाव, अनुभाव, संचारीभावों से घिरा हुआ स्थायी भाव ही रस संज्ञा को प्राप्त होता है"[२]

भरतमुनि की स्थायीभाव सम्बन्धी मान्यता पर ध्यान देने से स्पष्ट होता है कि उन्होंने अभिनव गुप्त के मतानुसार स्थायी भाव का कहीं भी 'वासना', 'संविद्' या 'चित्तवृत्ति' आदि विशिष्ट शब्दों द्वारा विवेचन नहीं किया है । उन्होंने इसे भाव रूप ही माना है—"रतिर्नाम आमोदात्मको भावः"[3] । रति आदि 'भाव' ही हैं परन्तु वे स्थायी इसलिए कहलाते हैं कि वे 'स्वामी रूप' हैं और विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव सेवक रूप हैं ।

पाश्चात्य मनोविज्ञान में मानसशास्त्रज्ञों ने 'सेंटिमेंट' की विभिन्न परिभाषाएँ दी हैं । सामान्यतः किसी विशिष्ट व्यक्ति, वस्तु अथवा परिस्थिति के प्रति मन में किसी प्रकार का भाव बार-बार उठता है, तब वह 'सेंटिमेंट' का रूप धारण कर

---

१. रसविमर्श, पृ० ११८-११९ ।

२. दे० नाट्यशास्त्र, अ० ७, श्लोक ७ के उपरान्त का गद्य भाग

३. वही, ७-८

लेता है, उदाहरणार्थ किसी व्यक्ति के प्रति मन में क्रोध की भावना वार-बार उत्तेजित होती है, तब वह भावना 'वैर' का रूप धारण कर लेती है, जिसे 'सेंटि-मेंट' कहा जा सकता है। मानसशास्त्रज्ञ मैक्डूगल का मत है—"भावात्मक संस्कारों की संगठित प्रक्रिया का नाम 'स्थिरवृत्ति' (सेंटिमेंट) है, जो किसी वस्तु की प्रतीति पर केन्द्रित रहती है।"[1] वुडवर्थ ने भी लगभग इसी प्रकार का स्पष्टीकरण किया है : 'मनोविज्ञान में इस शब्द (सेंटिमेंट) का प्रयोग किसी वस्तु, व्यक्ति अथवा परिस्थिति के प्रति अनुभूति की अवस्था में निर्माण होने वाली मिश्रित भावात्मक वृत्ति के अर्थ में होता है।'[2] स्थिरवृत्ति (सेंटिमेंट) के मूल में प्राथमिक Primary और मिश्रित (Blended) भावनाएँ होती हैं तथा उन्हीं का एक संघटित रूप 'सेंटिमेंट' है। इसी आशय को ए० जी० टन्स्ले ने इस प्रकार अभिव्यक्त किया है—"कतिपय विषय, व्यक्ति और आदर्शों के प्रति हम मौलिक और मिश्रित दोनों प्रकार के भावों का अनुभव करते हैं, जिससे विशिष्ट विषय और व्यक्ति के प्रति हमारे सहज संस्कारों का एक सुनिश्चित, सुसंगठित संघ बन जाता है, जिसे मनोविज्ञान में 'सेंटिमेंट' कहा जाता है।"[3]

मानसशास्त्रज्ञों ने सेंटिमेंट या स्थिरवृत्ति की जननी सहजप्रवृत्तियों (इन्स्टिं-क्ट्स) को माना है। एक ही प्रकार की 'स्थिरवृत्ति' के निर्माण में अनेक प्रकार की सहज प्रवृत्तियाँ सहायक होती हैं। उदाहरणार्थ, अपने घर के प्रति निर्मित 'स्थिरवृत्ति' (सेंटिमेंट) में संग्रह की सहज प्रवृत्ति (Hoarding Instinct) और आत्मप्रदर्शन (Assertion) की प्रवृत्तियाँ काम करती हैं। मैक्डूगल महोदय ने 'स्थिरवृत्ति' के निर्माण के मूल में सहज प्रवृत्तियों को आधार स्वरूप माना है। सहज प्रवृत्तियाँ (Insticts) ही 'स्थिरवृत्ति' की जननी हैं। सहजप्रवृत्तियों

---

1. "A sentiment is an organised system of emotional dispositions centered about the idea of some object" Social psych. p. 137
2. "This term is used in psychology to refer to any complex emotional attitude built up in the course of experience" psych. W., p. 354
3. We tend to experience both primary and blended emotions in connection with certain objects and persons and. ...ideas, and this points to a definite and systemetic organization of instinctive dispositions around the objects and persons of a very special kind, Such organizations are called sentiments.
   (Arching: Psychology, Changing outlook p. p. 68-9)

और उनकी सहचर भावनाओं को प्राथमिक (Primary) भावना कहा जाता है। मैक्डूगल ने १४ सहज प्रवृत्तियों (इन्स्टिक्ट्स) तथा उनकी अनेक सहचर भावनाओं का निरूपण किया है। डा० वाटवे ने 'मेक्डूगल' के 'भावों' के मानसशास्त्रीय विवेचन का आधार लेकर 'रति' आदि स्थायीभावों को स्थिरवृत्ति' ('सेंटिमेंट') निर्धारित करने का प्रयत्न किया है। जहाँ तक 'स्थायी' और 'सेंटिमेंट' के साम्य का प्रश्न है, यह इस तथ्य पर आधृत है कि स्थायी का तात्पर्य 'स्थिर' और परिपुष्ट भाव है तथा 'सेंटिमेंट' भी एक 'स्थिर' भाव है, जिसे अनेक सहज प्रवृत्तियों (इन्स्टिक्ट्स) के संस्कार या भाव परिपुष्ट करते हैं। उदाहरणार्थ 'देश-प्रेम' की स्थिरवृत्ति (सेंटिमेंट) में विदेशियों से द्वेष, स्वदेशोपकारकों से प्रेम, देशोन्नति पर आनन्द और उसके अपकर्ष पर खेद आदि सहचर भावनाएँ 'देशप्रेम' रूप स्थिरवृत्ति (सेंटिमेंट) को परिपुष्ट और स्थिर बनाती हैं। सेंटिमेंट या स्थिर-वृत्ति के मूल में स्थित सहज प्रवृत्तियाँ (इन्स्टिक्ट्स) और उनकी सहचर भावनाएँ भारतीय काव्यशास्त्र में निरूपित संचारी भावों के सदृश प्रतीत होने लगती हैं, फलतः पाश्चात्य 'सेंटिमेंट' (स्थिरवृत्ति) को भारतीय काव्यशास्त्र के स्थायी भाव के समकक्ष प्रतिपादित किया गया है। वस्तुतः 'स्थायी भाव' और पाश्चात्य मनोविज्ञान के सेंटिमेंट में साम्य का आभासमात्र है, मौलिक साम्य नहीं है। क्योंकि रति आदि स्थायी भावों के विषय में संस्कृतसाहित्यशास्त्र में विभिन्न स्पष्टीकरण हैं, भरतमुनि के मत में 'स्थायी रूप' विशिष्ट शक्ति सम्पन्न भाव स्थायी हैं, जो विभाव, अनुभाव और संचारियों से परिवृत्त रहते हैं। संचारी भावों से परिवृत्त स्थायीभाव ही 'रस' बन जाता है। भरतमुनि की रस-व्याख्या मनोविज्ञान के 'सेंटिमेंट' के नितांत सदृश प्रतीत होने लगती है, क्योंकि 'सेंटिमेंट' भी अनेक सहचर भावनाओं से आवृत्त रहता है, रस रूप को प्राप्त स्थायी भाव भी अनेक संचारियों से आवृत्त रहता है। इसके अतिरिक्त भरतमुनि ने रति आदि स्थायी भावों के जन्मजात होने अथवा अनुभवसंपादित (Acquired) होने का स्पष्टीकरण नहीं किया है, उन्होंने रत्यादि स्थायी भावों को भी भाव रूप ही माना है— 'रतिर्नाम आमोदात्मको भावः[1] ।' परन्तु अभिनव गुप्त ने रत्यादि स्थायी भावों को 'जन्मजात', 'वासनारूप' से स्थित सिद्ध किया है। फलतः डा० वाटवे ने अभिनव-गुप्त प्रयुक्त 'वासना', 'संविद्' और 'चित्तवृत्ति' शब्दों का अर्थ आधुनिक मनोविज्ञान के अनुरूप स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। यहाँ दो मूल प्रश्न उपस्थित होते हैं—

---

१. ना० शा० ७—८-९

१. क्या संचारियों से परिवृत्त स्थायी के परिपुष्ट रूप—'रस'—को मनोविज्ञान के 'सेन्टिमेन्ट' (स्थिरवृत्ति) के अनुरूप समझा जाय ?

अथवा

२. मूलतः रति आदि भाव रूप स्थायी को ही 'सेन्टिमेन्ट' माना जाय ?

संस्कृत-काव्यशास्त्र में 'स्थायीभाव' और रसों का विवेचन मनोविज्ञान के 'सेंटिमेंट' से नितांत भिन्न है। दोनों में साम्य-स्थापन के लिए संस्कृत आचार्यों की मान्यताओं का आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार भिन्न अर्थ में स्पष्टीकरण के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय ही नहीं था, फलतः डा० वाटवे ने 'वासना', 'संविद्' आदि शब्दों का अपनी मान्यता के अनुकूल अर्थ-परिवर्तन का प्रयत्न किया है। उन्होंने वासना को सहज प्रवृत्ति और स्थायी को 'सेंटिमेंट' सिद्ध करते हुए यह भी संकेत कर दिया है कि "चूँकि 'सेंटिमेंट' के मूल में बीज रूप से सहज प्रवृत्तियाँ होती हैं और ये जन्मजात होती हैं अतः व्यावहारिक दृष्टि से 'सेंटिमेंट' को भी सहजात मानने में कोई अनौचित्य नहीं है।[1]" जब सहज प्रवृत्तियों और उनकी सहचर भावनाओं के आधार पर स्थायी भावों का प्रासाद 'सेंटिमेंट' के रूप में खड़े करने का प्रयत्न किया जाने लगा तो 'रति' स्थायी के बाद 'शोक' को स्थायी भाव सिद्ध करने की कठिनाई अनुभव होने लगी—"इस दृष्टि से करुण रस के विषय में बड़ी कठिनाई उपस्थित होती है। करुण रस का स्थायी भाव 'शोक' प्राथमिक भावना (Primary) रूप नहीं है। शोक साधित (Derived) भावना अर्थात् संचारी है। तब प्रश्न है कि प्रस्तुत संचारी भावना को रसत्व कैसे प्राप्त होता है ?"[2] डा० वाटवे ने 'शोक' को स्थायी सिद्ध करने के लिए तीन हेतु प्रस्तुत किये हैं—(क) "शोक भावना आस्वाद्यता की कसौटी पर पूरी उतरती है अतः उस साधित (Derived) भावना को भी स्थायी माना जाय।" (ख) वास्तविक 'शोक' में तीव्रता आने का कारण चिरवियुक्त व्यक्ति पर निहित प्रेम है, अतः श्रृंगार, वात्सल्य इत्यादि भावनाओं का स्थायी भाव संक्रमित होकर 'शोक' में आ जाता है।

(ग) करुण भावना के रसत्व सिद्ध करने का एक अन्य मार्ग है, वह है सहानुभूति का। मैक्डूगल ने इस भावना का सम्बन्ध 'संघवृत्ति' से स्थापित किया है और उसे प्राथमिक कहा है। उसमें कोमल भावनाओं का समावेश होता है।

---

१. रस विमर्श पृ० ११६
२. वही पृ० २४८

इस प्रकार दूसरों के दुःख में दुःखी होना एक सहानुभूति का प्रकार है और इसमें 'शोक' का समावेश किया जा सकता है।"[1]

डा० वाटवे के उपर्युक्त तीनों हेतुओं का प्रा० द० के० केळकर ने सयुक्तिक प्रत्याख्यान किया है और मूलभूतता की कसौटी को अपर्याप्त ठहराते हुए लिखा है—"मूलभूत भावना अर्थात् स्थायीभाव और साधित भावना अर्थात् व्यभिचारी भाव, इस प्रकार का वर्गीकरण मैक्डूगल ने नहीं किया और यह उसका उद्देश्य भी नहीं था उन्होंने भावनाओं का जो वर्गीकरण किया है वह प्राथमिक (Primary) संमिश्र (Blended) और साधित (Derived) तीन प्रकार का है। इस वर्गीकरण का तत्व और काव्य में प्रभावी होने वाली भावनाओं और साधारण या अप्रभावी भावनाओं के निर्धारण का तत्व भिन्न-भिन्न है। प्राथमिक, संमिश्र और साधित भावनाओं का वर्गीकरण स्थायी और व्यभिचारी भावों पर कहाँ तक घटित हो सकता है, इसकी छानबीन करना आवश्यक था और डा० वाटवे ने उसी प्रकार का प्रयत्न किया है। परन्तु इस मार्ग से जाते हुए करुण जैसे प्रमुख रस को स्थायी सिद्ध करने में कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं... सामान्यतः मनोवृत्तियों में कौन सी प्राथमिक अथवा मूलभूत मनोवृत्तियाँ मानी जायँ, इस विषय में मानसशास्त्र का प्रतिपादन स्वीकार करने पर भी काव्यशास्त्र के लिए यह निर्धारित करना कि प्राथमिक भावनाएँ ही सुनिश्चित संख्या और स्वरूप में ही स्थायीभाव और रसत्व को प्राप्त होती हैं, निष्प्रयोजन है।"[2]

प्रा० केळकर के अतिरिक्त प्रा० रा० श्री० जोग, प्रा० दि० के० बेडेकर, डा० वाळिंबे, डा० बारलिंगे आदि ने रस-सिद्धान्त के स्थायी भाव और मानस-शास्त्रीय 'सेंटिमेंट' के समीकरण पर आपत्तियाँ उठाई हैं तथा प्रस्तुत साम्य-प्रदर्शन को अनुपयुक्त ठहराया है।

प्रा० जोग ने 'अभिनव काव्य प्रकाश' के तीसरे संस्करण में परिशिष्ट लिखकर 'स्थायीभाव' और 'सेंटिमेंट' के समीकरण पर मुख्यतः दो आक्षेप उठाये हैं : (१) स्थायीभाव संस्कृत-आचार्यों के अनुसार जन्मजात होते हैं, परन्तु मानसशास्त्रज्ञ इन्हें संपादित (Acquired) मानते हैं। (२) सेंटिमेंट विशिष्ट विषय-निष्ठ होते हैं, परन्तु स्थायीभावों के लिए यह अनिवार्य नहीं है। संस्कार अनुभव तथा प्रसंगवश स्थायीभावों से 'सेंटिमेंट' बाद में होगा, परन्तु प्रेम की मूलभावना को

१. रस विमर्श, पृ० २४८-४९।
२. काव्यालोचन तृ० सं० पृ० १४२।

सेंटिमेंट' नहीं कहा जा सकता। किसी व्यक्ति के मन में भय का विषय अथवा क्रोध का विषय स्थिर रूप में नहीं होता, बल्कि बीच-बीच में उसे क्रोध अथवा भय का अनुभव होता है, प्रस्तुत क्रोध या भय की अनुभूति उत्कट भी हो सकती है, परन्तु इसे 'सेंटिमेंट' नहीं कहा जा सकता। इसी प्रसंग में रसानुभूति के लिए सहृदय के चित्त में भय अथवा क्रोध के स्थिर 'भावबन्ध' (सेंटिमेंट) की पहले से ही स्थिति अनिवार्य नहीं है। रस-निष्पत्ति में स्थायी भाव आवश्यक हैं, परन्तु सेंटिमेंट-स्थिरवृत्ति या भावबन्ध की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। यदि सहृदय के मन में किसी विशिष्ट विषय के सम्बन्ध में पहले से ही 'भावबन्ध' (सेंटिमेंट) निर्मित हैं तो तत्संबंधी विशिष्ट रस का अनुभव उसे अधिक तीव्रता से होगा, परन्तु उसके अभाव में रसनिष्पत्ति और रसपरिपुष्टि न हो सकेगी, यह कहना अनुपयुक्त है।[1] भरतमुनि-प्रतिपादित ४९ भावों में कतिपय शारीरिक, कतिपय ज्ञानात्मक तथा कतिपय भावनात्मक अवस्थाएँ आती हैं, परन्तु भरतमुनि सभी को भाव के अन्तर्गत रखते हैं, इसका कारण श्री० दि० के० बेडेकर के मतानुसार भरतमुनि का 'भाव' से अभिप्राय मानवी मनोविकारों (Feelings) अथवा (Emotions) से नहीं है, अपितु 'भाव' का अर्थ शक्ति रूप से समर्थ किसी पदार्थ का भाव अर्थात् पदार्थ में अंगभूत तथा विशिष्ट प्रक्रिया से कार्यप्रवृत्त होनेवाली शक्ति से है।[2] फलतः आठों स्थायीभावों को प्राथमिक, साधित अथवा स्थिर-वृत्ति रूप मानने की विचारधारा का इन्होंने प्रबल प्रत्याख्यान किया है।[3]

इन्होंने आठों स्थायीभावों को मूलभूत मानवी मनोविकार न मानकर इन्हें काव्यार्थ (काव्यविषय) का भावन कराने वाले विलक्षण पदार्थ के रूप में ही माना है।' 'भय' स्थायीभाव का उदाहरण देकर इन्होंने अपने आशय को इस प्रकार से स्पष्ट किया है : "भय स्थायीभाव का अर्थ सहृदय अथवा नट का मनो-विकार नहीं है, वह तो एक नाट्य भाव है, नाट्य में दुष्यन्त के बाण से भयभीत होकर प्रणय से भाग रहे नाट्यमृग का 'नाट्यभय' ही एक नाट्य भाव है (जो 'भय स्थायी भाव' कहा जाता है)। 'भय' नाटयभाव परिणामस्वरूपी (प्रभावित) मनोविकार नहीं है, बल्कि स्वयं काव्यार्थ– (काव्यविषय) को प्रभावी (भावित) करने वाला एक विलक्षण पदार्थ है।"[4] इनके मत में नाट्यभावों को सहृदय

---

१. अभिनवकाव्यप्रकाश पृ० १२२-१२३

२. विस्तार के लिए दे० 'भाव-प्रकरण'।

३. रस सिद्धान्ताचें स्वरूप (नवभारत, मासिक, नवम्बर और दिसम्बर १९५०)

४. वही।

की चित्तवृत्तियाँ मानने के भ्रमवश ही स्थायीभावोंको प्राथमिक स्वयंसिद्ध या सार्वत्रिक मानने की कल्पनाएँ निकली हैं ।

भरतमुनि ने ४९ भावों में आठ भावों को ही स्थायी की संज्ञा क्यों दी है ? तथा इन्हें दूसरों से अधिक शक्तिशाली अथवा 'स्वामी रूप' क्यों कहा है ? इसका उत्तर श्री बेडेकर के मत में 'मानसशास्त्र नहीं दे सकता, बल्कि मानसशास्त्र को पृथक् रख कर ही स्थायीभाव का अर्थ निकालना चाहिए । आठ रसों से स्थिर सम्बन्ध रखने के कारण ही इन्हें स्थायी कहा गया है ।"[१]

डा० वाळिंबे ने श्री बेडेकर के भाव विषयक प्रतिपादन को सामान्य रूप से स्वीकार करते हुए भी 'भावों' के भावनात्मक या मनोविकारात्मक अर्थ के एकांत प्रत्याख्यान को स्वीकार नहीं किया है । इन्होंने स्थायीभावों का तात्पर्य 'इमोशन्स' या भावना के रूप में ही ग्रहण करना उपयुक्त माना है। भरतमुनि निरूपित रस तथा स्थायीभावों की संज्ञाओं पर सूक्ष्म रूप से दृष्टिपात करने पर स्पष्ट हो जाता है कि "आठों स्थायीभाव भावना या 'इमोशन्स' के अन्तर्गत ही रखने होंगे ।"[२]

स्थायीभावों को 'भावना' या 'इमोशन' रूप स्वीकार करने के उपरान्त इनका मानसशास्त्र के 'सेंटिमेंट' तथा 'इन्स्टिक्ट्स' से सम्बन्ध स्थापित करना इनके मत में असंगत है । डा० वाटवे की स्थायी और सेंटिमेंट के समीकरण की मान्यता का तथा प्रा० जोग की स्थायी और इन्स्टिक्ट्स की समरूपता की स्वीकृति का प्रत्याख्यान करते हुए इन्होंने लिखा है "रति, क्रोध इत्यादि आठ स्थायीभाव अथवा सहजप्रवृत्तियाँ हैं ऐसा प्रा० जोग को प्रतीत होता है यह उपयुक्त नहीं है और स्थायी का अर्थ डा० वाटवे के अनुसार जो 'सेंटिमेंट' समझा गया है, वह भी उचित नहीं है ।" स्थायीभावों को सेंटिमेंट अथवा इन्स्टिक्ट्स मानना इसलिए भी उचित नहीं है कि मानसशास्त्र में निरूपित इनकी परिभाषाएँ स्थायीभावों पर तनिक भी नहीं घट पाती हैं । श्री आनंद कुमार स्वामी ने भी स्थायीभावों को 'इमोशन्स' ही कहा है ।[3] अतः डा० वाळिंबे के मत में स्थायीभावों को 'इमोशन' या मनोविकार रूप ही मानना चाहिए ।

---

१. रस सिद्धांताचें स्वरूप (नवभारत, मासिक, नवम्बर और दिसम्बर १९५०)

२. सा० मीमांसा पृ० ११२

३. वही पृ० १२१-२२

Dictionary of World Literature P. 322

डा० बार्लिंगे ने रस-स्वरूप पर मौलिक चिन्तन उपस्थित करने के साथ स्थायीभावों के विषय में भी अपनी मान्यता प्रकट की है। इन्होंने स्थायीभावों का निरूपण न तो नितांत भरतमुनि की मान्यता के आधार पर किया है और न इन्हें डा० वाटवे की भाँति मानसशास्त्रीय 'सेंटिमेंट' के समकक्ष ही स्वीकार किया है। डा० वाळिंबे के समान इन्होंने भी स्थायीभावों के 'इमोशन्स' या भावनात्मक स्वरूप का ही प्रतिपादन किया है। डा० वाटवे की स्थायीभाव और 'सेंटिमेंट' के समीकरण की मान्यता का प्रत्याख्यान करने के उपरान्त इन्होंने लिखा है: यह सत्य है कि मूल प्रेरणा के बिना स्थायीभाव उत्पन्न नहीं होते, परन्तु सामान्य रूप से स्थायीभावों को मूल प्रेरणाओं से परिपुष्ट 'इमोशन्स' (Emotions) कहा जा सकता है। भरतमुनि के वचनों से प्रस्तुत मत सुनिश्चित रूप से ध्वनित नहीं होता। उनका स्थायीभाव से आशय मानसिक अवस्था मात्र प्रतीत होता है। यह बात अलग है कि प्रस्तुत अवस्था भावनात्मक अर्थात् 'इमोशनल' होगी। स्थायी शब्द का सरल अर्थ स्थित या खड़ा हुआ है। स्थायी भाव से तात्पर्य विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के पीछे स्थित भाव अर्थात् नट जिसका आविष्कार करते हैं वह भाव न होकर कवि और सहृदय-मनस्थ भाव से है। रंगमंच पर यदि सामान्य व्यक्ति नायिका से शृंगारिक चेष्टाएँ कर रहा हो तो वहाँ स्थायी भाव रति नहीं होगा, क्योंकि कवि के मन में अथवा सहृदय के मन में उस प्रसंग में अथवा उस समय रति नहीं होगी। रति की अपेक्षा क्रोध, विनोद या इसी प्रकार की कोई अवस्था सहृदय की होगी और वैसी ही अवस्था कवि के मन में भी प्रसंग-निर्माण के समय होगी और नटवर्ग भी अभिनय द्वारा उसी प्रभाव को प्रेक्षकों के मन पर डालने का प्रयत्न करेगा।[1]

इस प्रकार डा० बार्लिंगे ने स्थायीभावों को 'सेंटिमेंट' न मानकर इनकी उभयात्मक—कवि तथा सहृदयगत-स्थिति स्वीकार की है और इनका स्वरूप परिपुष्ट भावनात्मक (इमोशनल) माना है।

सारांश :

मराठी के समीक्षकों में डा० के० ना० वाटवे ने रस-सिद्धान्त के स्थायीभाव और मानसशास्त्र की स्थिरवृत्ति (सेंटिमेंट) में साम्य-स्थापन के लिए अनेक युक्ति-प्रमाणों का आश्रय लिया है। इनके अभिमत का प्रत्याख्यान ही एक प्रकार से अन्य समीक्षकों ने विस्तार से किया है। श्री० द० के० केळकर ने 'मैक्डूगल' के

---

१. **सौन्दर्याचें व्याकरण पृ० ११९-२०**

मानसशास्त्र का आधार लेकर स्थायीभाव और 'सेंटिमेंट' के साम्यप्रदर्शन का प्रत्याख्यान किया है तो प्रा०रा०श्री० जोग ने मानसशास्त्र के 'सेंटिमेंट' और भारतीय रस-स्वरूप की भिन्नता को ध्यान में रखकर दोनों का साम्य-स्थापन असंगत माना है। श्री० दि० के० बेडेकर ने तो भरतमुनि-प्रतिपादित भावस्वरूप में 'मनोवृत्ति' या 'भावनारूप' की स्थिति का ही प्रतिषेध किया है अतः इनके मत में स्थायीभावों को 'सेंटिमेंट' मानने का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु डा० रा० शं० वाळिंबे ने भरतमुनि का आधार लेकर ही स्थायीभावों को भावना या 'इमोशन' रूप तो सिद्ध कर दिया है किन्तु स्थायीभावों को 'सेंटिमेंट' मानना इन्हें भी उपयुक्त प्रतीत नहीं हुआ है। डा० सुरेन्द्र बारलिंगे भी स्थायीभाव में भावनात्मक तत्व का प्रतिषेध नहीं करते। इन्होंने 'स्थायी' का अर्थ 'स्थिर' मान कर कविमनस्थ तथा सहृदयस्थ परिपुष्ट भावनाओं को स्थायीभाव माना है।

उपर्युक्त हिन्दी-मराठी के समीक्षकों की मान्यताओं के तुलनात्मक अध्ययन से स्थायीभाव और 'सेंटिमेंट' तथा रस और 'सेंटिमेंट' में पारस्परिक भिन्नता का स्पष्टीकरण करने के लिए संक्षेप में निम्न तथ्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

स्थायीभाव और सेंटिमेंट में अंतर :

१. स्थायीभाव भावना रूप होते हैं अथवा अभिनवगुप्तादि के अनुसार जन्मजात-भावना रूप भी हो सकते हैं, परन्तु सेंटिमेंट अनिवार्यतः अनुभव-संपादित (Acquired) होते हैं।

२. एक भाव की बार-बार आवृत्ति से सेंटिमेंट बन जाता है जैसे, क्रोध भाव की सतत आवृत्ति से 'वैर' सेंटिमेंट, परन्तु रति आदि स्थायीभावों की परिपुष्टि के लिए संचारियों की ही आवृत्ति होती रहती है। संचारी भाव कितने ही बार आवृत्त होते रहें वे स्थायीभाव नहीं बन सकते।[1] इसके विपरीत अपरिपुष्ट स्थायी संचारी भी बन सकता है।

३. सेंटिमेंट्स' विशिष्ट विषयनिष्ठ होते हैं, परन्तु स्थायीभाव के लिए यह अनिवार्य नहीं है, सहृदय के या किसी भी व्यक्ति के भय आदि स्थायीभावों में पहले से ही किसी स्थिर विशिष्ट विषय की स्थिति अनिवार्य नहीं है।

---

१. **स्थायित्वं स्थायिष्वेव प्रतिनियतं न व्यभिचारिषु। व्यभिचारित्वं व्यभिचारिष्वेव, नेतरयोः। तत्र स्थायिभावानामुभयीगतिः। न व्यभिचारिणाम्। ते नित्यं व्यभिचारिण एव न जातु कदाचित् स्थायिनः प्रकल्पन्ते। व्यक्ति विवेक, १-७०-७१**

४. स्थायीभाव समग्र रूप से आस्वाद्य होते हैं, परन्तु सेंटिमेंट की सहचर भावनाओं का ही आस्वादन हो सकता है।[१]
५. 'सेंटिमेन्ट्स' सदैव विचारमूलक होते हैं, परन्तु स्थायीभाव (शम को छोड़कर) विचारमूलक नहीं—प्रवृत्तिमूलक ही हैं।

रस और सेन्टिमेन्ट में भिन्नता :

१. रस का परंपरागत स्वरूप आनन्दमय है, परन्तु 'सेंटिमेन्ट' अनिवार्यतः आनन्द-स्वरूप नहीं है।
२. रस समग्र रूप से आस्वाद्य है, सेंटिमेन्ट की सहचर भावनाओं का ही आस्वादन हो सकता है।
३. रसों की संख्या सुनिश्चित-सी है परन्तु सेंटिमेन्ट की सुनिश्चित गणना कठिन है।
४. सहृदय में रसानुभूति के लिए भाव या स्थायीभाव की स्थिति अनिवार्य है, परन्तु सेन्टिमेन्ट के अभाव में भी रसानुभूति संभव है।

पाश्चात्य मानसशास्त्र के सिद्धान्तों तथा भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों का समीकरण किसी सीमा तक ही उपयुक्त हो सकता है। स्थायीभाव और सेंटिमेन्ट में अभिन्नता सिद्ध करने के लिए संस्कृत-आचार्यों की मान्यताओं का मानसशास्त्र की शब्दावली में स्पष्टीकरण ही नहीं अपितु कहीं-कहीं अर्थ-परिवर्तन भी अनिवार्य हो जाता है। प्राचीन काव्य-सिद्धान्तों का आधुनिक मनोविज्ञान के प्रकाश में पुनराख्यान तभी उपादेय हो सकता है, जब कि प्राचीन और अर्वाचीन मान्यताओं में जहाँ कहीं साम्य न हो वहाँ उसकी स्पष्ट स्वीकृति ही न दी जाय; अपितु दोनों के सूक्ष्म अंतर का यथावत् निरूपण भी किया जाय। अन्यथा काव्य-सिद्धान्तों के निष्पक्ष मूल्यांकन, वास्तविक महत्वमापन तथा स्वरूप-निर्धारण में प्राचीन सिद्धान्तों के प्रति अतिरिक्त मोह या द्वेष अथवा अर्वाचीन मतों के प्रति विशिष्ट आग्रह या तिरस्कार बाधक बन कर उपस्थित होंगे।

उपर्युक्त तुलनात्मक विवेचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि मराठी और हिन्दी के अधिकांश विद्वानों को संस्कृतसाहित्यशास्त्र के स्थायीभाव तथा मानसशास्त्र के 'सेंटिमेन्ट्स' में एकांत साम्य असंगत प्रतीत होता है। वस्तु स्थिति भी यही है। स्थायीभाव और 'सेंटिमेन्टस' की भाँति स्थायीभाव और मानसशास्त्र के 'इन्स्टिक्ट्स' में परस्पर साम्य स्थापित करने का हिन्दी और मराठी के

---

१. **'स्थायीभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः'—भरतःनाट्यशास्त्र ६।३१।**

कतिपय आलोचकों ने प्रयत्न किया है । स्थायीभाव के स्वरूप-निर्धारण में प्रस्तुत साम्य-स्थापन का अध्ययन भी निरुपयोगी न होगा ।

स्थायी भाव और सहजप्रवृत्तियाँ (इंन्टिक्ट्स)

मानसशास्त्रज्ञों के मतानुसार सहज-प्रवृत्ति (इन्स्टिंक्ट) प्रकृति-प्रदत्त शक्ति है, जो कि मानसिक संस्कारों के रूप में प्राणिमात्र के मन में स्थित रहती है। इन्हीं सहजप्रवृत्तियों के कारण प्राणी विशेष प्रकार के संवेगों (इमोशन्स) कीं अनुभूति करता है । सहजप्रवृत्तियों और तज्जनित संवेगों का मानसशास्त्रज्ञ मेक्डूगल महोदय ने विस्तारपूर्वक विवेचन किया है । इनके मत में मूलतः चौदह सहजप्रवृत्तियाँ (इन्स्टिंक्ट्स) और इनसे सम्बद्ध अनेक संवेग होते हैं।[1] इन चौदह सहजप्रवृत्तियों और उनसे सम्बद्ध संवेगों के स्वरूप की ओर ध्यान देने से साहित्यशास्त्र के मूल स्थायीभावों से उनके साम्य का आभास होने लगता है। हिन्दी में डा० नगेन्द्र तथा डा० गुलाबराय ने मानसशास्त्र की सहजप्रवृत्तियों एवं तत्संबद्ध संवेगों से भारतीय स्थायीभावों के साम्य का विस्तार से निरूपण किया है ।

डा० नगेन्द्र ने मेक्डूगल-निरूपित चौदह सहजप्रवृत्तियों से सम्बद्ध संवेगों

१.

	सहजप्रवृत्ति	(Instinct)	सहज-प्रवृत्तिगत भाव
१.	भोजनोपार्जन	(Food Seeking)	क्षुधा
२.	अपकर्षण	(Repulsion)	घृणा
३.	काम	(pairing)	रति
४.	भय	(Flight)	भय
५.	जिज्ञासा	(Curiosity)	औत्सुक्य
६.	सामाजिकता	(Social Instinct)	मिलनेच्छा
७.	मातृ-भावना	(Parental Instinct)	वात्सल्य
८.	आत्म-प्रतिष्ठा	(Assertion)	गर्व
९.	अधीनता	(Submissoin)	दैन्य
१०.	क्रोध	(Pugnacity)	क्रोध
११.	आर्तप्रार्थना	(Appeal)	दुःखकातरता
१२.	निर्माण	(Construction)	सृजनोत्साह
१३.	परिग्रह	(Hoarding)	अधिकार-भावना
१४.	हास्य	(Laughter)	हास

से स्थायीभावों का सम्बन्ध दिखा कर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि रस-सिद्धान्त के स्थायीभावों का वर्गीकरण 'सर्वथा अनर्गल' 'कपोल-कल्पित' या 'असनोवैज्ञानिक' नहीं है। इन्होंने स्थायीभावों तथा सहजप्रवृत्तियों के पारस्परिक साम्य-वैषम्य का प्रतिपादन इस प्रकार से प्रस्तुत किया है :

'उपर्युक्त चौदह प्रवृत्ति-मूलक मनोविकारों में भी क्षुधा सर्वथा शारीरिक है, अतएव काव्य में उसके विशेष उपयोग की आशा करना व्यर्थ है। इसके अतिरिक्त शेष तेरह भी, आप देखिये, अतिव्याप्ति और अव्याप्ति से मुक्त नहीं ह। वे स्पष्टतः एक दूसरे की सीमा-रेखा का अतिक्रमण कर जाते हैं। उदाहरण के लिए सृजनोत्साह और अधिकार-भावना अहंकार की परिधि में ही आ जाते हैं। कार्पण्य और कातरता भी एक दूसरे से बहुत भिन्न नहीं हैं। वास्तव में वे एक ही प्रवृत्ति की दो अभिव्यक्तियाँ हैं। इस प्रकार पाश्चात्य मनोविज्ञान के अनुसार भी प्रवृत्तिमूलक मनोविकार साधारणतः दस ही हुए। रति, हास, क्रोध, भय, घृणा (जुगुप्सा), औत्सुक्य, वात्सल्य, अहंकार, कार्पण्य, सहानुभूति (संगेच्छा) इनमें पहले सात तो संस्कृत स्थायीभावों से प्रायः अभिन्न ही हैं। अहंकार और उत्साह में भी कोई विशेष अंतर नहीं है। कार्पण्य को भी कुछ आचार्यों ने स्थायीभाव माना है, परन्तु वास्तव में सर्वतन्त्र मत यही रहा है कि भाव से अधिक उसकी स्थिति नहीं होती। यही बात संगेच्छा के लिए और भी निश्चय के साथ कही जा सकती है। अब संस्कृत साहित्यशास्त्र का एक स्थायीभाव रह जाता है—शोक ! क्या कार्पण्य और सहानुभूति दोनों शोक (करुणा) के तत्व नहीं माने जा सकते ?'[१]

इससे स्पष्ट है कि डा० नगेन्द्र स्थायीभावों तथा सहज-प्रवृत्ति-मूलक मनोविकारों में सम्बन्ध-स्थापन असंगत नहीं मानते। इन्हीं के समान डा० गुलाबराय ने भी सहजप्रवृत्तियों तथा स्थायीभावों का परस्पर अन्तर्भाव दिखाया है।[२] इस अन्तर्भाव में डा० नगेन्द्र तथा डा० गुलाबराय ने परंपरागत 'नौ' रसों में से 'शांत' को पृथक् कर दिया है और उनमें 'वात्सल्य' को अन्तर्भूत कर लियाहै। डा०नगेन्द्र ने शांतरस के स्थायी भाव–निर्वेद–का मक्डूगल-निरूपित किसी सहज-प्रवृत्ति में अन्तर्भाव नहीं किया है। डा० गुलाबराय का शान्त रस के विषय में अभिमत यह है कि 'शान्तरस में कोई प्रवृत्ति नहीं होती, यदि हो सकती है तो अधीनता स्वीकृति (सबमिशन) की प्रवृत्ति। शायद इसीलिए शान्त को नाट्य

१. रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ८०

२. सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० १८६-८७

रसों में नहीं माना है और वात्सल्य को स्वतंत्र रस माना है।'[1] इस प्रकार हिन्दी में परंपरागत दस स्थायी भावों में तथा सहजप्रवृत्तियों में साम्य-प्रदर्शित करके स्थायी भावों की मनोवैज्ञानिकता सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है।

स्थायीभाव और सहजप्रवृत्ति (इन्स्टिंक्ट) के समीकरण के औचित्य-अनौचित्य अथवा गुण-दोषों के विवेचन से पूर्व आधुनिक मराठी-काव्य-शास्त्र के प्रमुख लेखक प्रा० जोग की स्थायी और मूल प्रवृत्ति सम्बन्धी मान्यता का उल्लेख भी अनुपयोगी न होगा। हिन्दी-काव्यशास्त्र के लेखकों से पर्याप्त समय पूर्व ही मराठी लेखकों ने साहित्यशास्त्र के सिद्धान्तों का पाचात्य काव्यशास्त्र और मानसशास्त्र के प्रकाश में अध्ययन आरम्भ कर दिया था। श्री जोग ने अभिनव काव्य प्रकाश के प्रथम संस्करण (१९३०) में पाश्चात्य मानसशास्त्रज्ञ शेंड की मान्यता के आधार पर स्थायी भाव और रसों के विवेचन का प्रथम प्रयत्न किया था। इन्होंने शेंड-निरूपित मानवी भावनाओं के क्रोध, भय, आनंद और शोक चार प्रमुख मूलभूत स्वतन्त्र तथा जुगुप्सा, विस्मय आदि दो 'मुख्यकल्प' संघों के आधार पर स्थायी भावों तथा रसों को प्रतिष्ठापित किया था। स्थायी भावों की संख्या तो आठ थी, परन्तु शेंड की प्रमुख मानवी भावनाओं के संघ की परिधि सीमित थी। इसमें 'रति' जैसे प्रमुख स्थायी भाव का अन्तर्भाव नहीं हो पाता था, फलतः प्रा० जोग ने 'रति' की मूलभूतता और व्यापकता का भी प्रतिषेध किया था।[2] परन्तु कालान्तर में श्री जोग को शेंड के मानवी भावना-संघों के आधार पर स्थायी भावों का साम्य-प्रदर्शन अनुपयुक्त लगा अतः उन्होंने अभिनव काव्य प्रकाश, के द्वितीय संस्करण में 'रस' के विषय में स्पष्ट लिखा—'उत्कट चित्तवृत्ति का निर्माण जिन-जिन भावनाओं से होता है, वे भावनाएं मूलभूत हों अथवा न हों, रस बन सकती हैं।"[3]

डा० वाटवे के 'रसविमर्श' प्रकाशित होने के पश्चात् मराठी में 'स्थायी' और 'सेन्टिमेन्ट' के समीकरण पर अनेक आलोचनात्मक लेख प्रकाशित हुए। श्री जोग ने 'अभिनव काव्य प्रकाश' के तृतीय संस्करण में परिशिष्ट जोड़कर 'स्थायी' और 'सेन्टिमेन्ट' के अंतर का स्पष्टीकरण किया है और स्थायी भाव तथा 'सहजातवृत्ति' (Instinct) के साम्य को इस प्रकार से संगत ठहराया है-'ऐसी स्थिति में यही कहना उपयुक्त लगता है कि स्थायी भावों

---

१. सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० १८६-८७।

२. अभिनव काव्य प्रकाश प्र० संस्करण पृ० ७५ (१९३०)

३. अभिनव काव्य प्रकाश ,द्वितीय संस्करण पृ० ११४ (१९४६)

का 'सहजात वृत्तियों' (इन्स्टिक्ट्स) से और रसों का 'इमोशन्स' से अधिक निकट सम्बन्ध है। इस विषय में अपवाद हो सकते हैं परन्तु स्थूल रूप में यही समीकरण उपयुक्त लगता है।'[१] जिस प्रकार स्थायीभाव और सेन्टिमेन्ट का नितांत साम्य प्रतिपादन अनुपयुक्त है, उसी प्रकार स्थायीभावों का सहजप्रवृत्तियों से समीकरण भी विशेष महत्वपूर्ण नहीं है। वस्तुतः संस्कृत-आचार्यों में ही स्थायी भाव के स्वरूप के विषय में मत-भेद है। भरतमुनि स्थायीभाव को 'स्वामी-सेवक' या 'राजा-अनुचर' का उदाहरण देकर समर्थ या शक्तिशाली 'भाव' के रूप में मान्यता देते हैं[२] तो अभिनव गुप्त 'वासना', 'संविद्' या जन्मजात मूलभाव के रूप में उसे स्वीकार करते हैं।[३] आचार्य विश्वनाथ ने इसे विरोधी या अविरोधी भावों से न दबने वाला तथा 'आस्वादाँकुर' या 'आनंदाँकुर' कहा है,[४] तो जगन्नाथ ने चित्त में चिरकाल तक रहने वाला तथा व्यभिचारी भावों को अपनी ओर आकर्षित करने में समर्थ एवं रसत्व को प्राप्त होने वाले भाव को स्थायी कहा है।[५] इसके अतिरिक्त जगन्नाथ ने संगीत रत्नाकर के रचयिता शार्ङ्गदेव का अभिमत भी उद्धृत किया है, जिसके अनुसार स्थायी भावों के जन्मजात या संस्कार रूप का भी प्रतिषेध मिलता है—'चिर काल तक अथवा शक्तिशाली विभावों से उद्दीप्त रत्यादि भाव स्थायी भाव होते हैं, परन्तु वे ही भाव यदि स्वल्प अथवा निर्बल विभावादियों से उद्दीप्त हों तो केवल संचारी भाव ही होंगे।'[६]

(१) अतः उपर्युक्त मान्यताओं से स्पष्ट है कि सभी आचार्य स्थायी भाव को जन्मजात संस्कार रूप में नहीं मानते, विभावादि से परिपुष्ट होने पर ही उसका स्थायी रूप बनता है, दूसरी ओर सहजप्रवृत्ति में जन्मजात संस्कारिता अनिवार्य है, वह स्वयं परिपुष्ट नहीं होती, बल्कि संवेगों को जन्म देती है।

(२) स्थायी भावों की संख्या आठ-नौ रही है जब कि सहज-प्रवृत्तियाँ १४ मानी गई हैं, इनमें संग्रह (Hoarding Instinct) रचना (Creative-

---

१. अभिनव काव्य प्रकाश तृतीय संस्करण पृ० १२३। (१९५१)
२. नाट्यशास्त्र ७।७ के उपरान्त का गद्य।
३. अ० भारती, पृ० २८३, द्वि० सं० (१९५६)
४. सा० दर्पण ३।१७४।
५. रसगंगाधर पृ० ३१।
६. संगीतरत्नाकर ७.१५३३

Instinct) तथा भक्ष्यान्वेषण (Food seeking)] को परंपरागत स्थायी भावों के अन्तर्गत रखना कठिन है।

(३) शोक संस्कृत-काव्यशास्त्र के अनुसार स्थायी भाव है, मानसशास्त्र में 'शोक' को सहजप्रवृत्ति (Instinct) के रूप में मान्यता नहीं दी गई है।

(४) अनेक संचारी भावों की गणना सहजप्रवृत्तियों के अन्तर्गत की जा सकती है। उदाहरणार्थ, गर्व संचारी का अहंभाव या आत्मप्रकाशन रूप (Assertion) सहजप्रवृत्ति में तथा औत्सुक्य संचारी का उत्सुकता (Curiosity) में। फिर केवल ८–९ स्थायी भावों को ही सहजप्रवृत्तियों (Instincts) में निर्धारित करने की कौनसी निर्दोष कसौटी है ?

इस विषय में डा० बारलिंगे के अभिमत को उद्‌धृत करना अप्रासंगिक न होगा—"जिस प्रकार संगीत की उत्पत्ति लैंगिक भावना से मानी जाती है, परन्तु लैंगिक भावना और संगीत दोनों एक नहीं हैं, उसी प्रकार पुष्टभाव (स्थायी) ओर मूल प्रेरणा दोनों एक ही नहीं हैं। इमोशन्स वस्तु की सहायता से पुष्ट होते हैं परन्तु सहजप्रवृत्तियों (Instincts) को इस प्रकार की सहायता की आवश्यकता नहीं होती। सहजप्रवृत्तियाँ 'अनकान्शस' (अचेतन) होती हैं। विशुद्ध मूलप्रेरणा और स्थायीभाव दोनों को एक ही मान लिया जाय तो 'वत्सल' और श्रृंगार में अंतर करना ही कठिन होगा। अतः मक्डूगल-निरूपित मूलप्ररणा की सूची का आधार लेकर तदनुसार आठ या नौ रसों का निर्माण सिद्ध करना उपयुक्त नहीं लगता।"[१]

इससे स्पष्ट है कि पाश्चात्य मानसशास्त्र की सहजप्रवृत्तियों से स्थायी भावों के साम्य निर्धारण का प्रश्न विवादग्रस्त है। कतिपय स्थायीभाव अनायास ही मानसशास्त्र की सहजप्रवृत्तियों से मेल खा जाते हैं, इस कारण समस्त स्थायीभावों का उनसे साम्य प्रतिपादन करना जहाँ एक ओर अव्याप्ति दोष है वहाँ दूसरी ओर स्थायी-इतर अनेक संचारियों का सहजप्रवृत्ति में अन्तर्भाव संभव होने से प्रस्तुत समीकरण अतिव्याप्ति दोष से भी असम्पृक्त नहीं है। अतः स्थायी और 'सेंटिमेन्ट' की भाँति स्थायी और सहज प्रवृत्तियों का समीकरण भी नितांत निर्दोष नहीं है।

साहित्यशास्त्र के स्थायी भावों का मानसशास्त्रीय 'सेंटिमेन्ट' तथा 'इन्स्टिंक्ट्स' से तुलना करने के उपरान्त एक निष्कर्ष अवश्य निकलता है कि भारतीय

---

१. सौन्दर्याचें व्याकरण पृ० १२०।

आचार्यों ने जिन स्थायी भावों की परिकल्पना की है, उनका आधार मानवी मन है। दूसरी ओर मानसशास्त्र का आधार भी मानवीमन है और वह उसके रहस्यों का उद्घाटन करता है। यद्यपि दोनों का मूल आधार एक ही है, तथापि मनोविज्ञान में मनोवृत्तियों का वर्गीकरण और उनका स्वरूप-निर्धारण एकांततः भावना और उनकी स्थूल उपयोगिता के आधार पर नहीं होता, अपितु मानसशास्त्र मन का अध्ययन अन्तर्दर्शन (Introspection), निरीक्षण (Observation), प्रयोग (Experiment), तुलना (Comparision), और चित्तविश्लेषण (Psycho-analysis) के आधार पर करता है। परन्तु काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों का मूल आधार मानसशास्त्र का व्यापक मन नहीं है, अपितु काव्योपयुक्त भावनाओं से परिपूर्ण मन है। अतः काव्यशास्त्र भावनाओं का वर्गीकरण जिस तत्व के आधार पर करता है, मानसशास्त्र एकांततः उसी तत्त्व को नहीं अपनाता। काव्य में अभिव्यक्त व्यापक, तीव्र और प्रबल भावनाओं को पहले-पहल 'स्थायी' की संज्ञा दी गई होगी। संभवतः भरतमुनि से पूर्व तथा उनके सम-सामयिक नाटक-साहित्य में मुख्यतः रत्यादि आठ स्थायी भावों का प्रमुख वर्णन उपलब्ध होता हो। भरतमुनि ने तो इन आठ स्थायी भावों में भी चार-रति, क्रोध, उत्साह और जुगुप्सा का प्रमुख और शेष चार-हास, शोक, विस्मय और भयानक का क्रमशः तज्जन्य होने से गौण या अप्रमुख रूप में वर्णन किया है।[1] स्थायी भावों के नामकरण अथवा वर्गीकरण की क्या कसौटी है? अथवा उनका मूल आधार क्या है? इस विषय में भरतमुनि 'आप्तवचन' को ही प्रमाण मान कर चले हैं।[2]

आठ रसों में चार को प्रमुख और शेष चार को 'उपरस' मानने से अथवा तज्जन्य मानने से यही ध्वनित होता है कि भावनाओं की उत्कटता अथवा उनकी रंगमंचगत परिपुष्टि ही स्थायी भाव के वर्गीकरण के मूल में निहित है, कालान्तर में अभिनवगुप्तादि आचार्यों ने उन्हें जन्मजात या वासनारूप भी मान लिया है। अभिनव परवर्ती संस्कृत के आचार्यों ने स्थायीभावों के स्थायित्व के अन्य अनेक

---

१. तेषामुत्पत्ति हेतवश्चत्वारो रसाः। तद्यथा शृंगारो रौद्रो वीरो बीभत्स इति। ना० शा० ६।३८।

२. यथा च गोत्रकुलाचारोत्पन्नान्याप्तोपदेशसिद्धानि पुंसां नामानि तथैवेषां रसानां भावानां च नाट्याश्रितानां चार्थानामाचारोत्पन्नान्याप्तोपदेश सिद्धानि नामानि भवन्ति। ६।४५ ना० शा०

कारण भी ढूँढ़ निकाले। किसी ने इसे प्रधान मनोविकार माना, जो सजातीय या विजातीय भावों से तिरोहित नहीं होता, तो किसी-किसी ने चिरकाल स्थायित्व, आप्रबन्धस्थायित्व या अविच्छिन्नप्रवहमानता के कारण इन्हें स्थायी कहा है।[१] परन्तु हिन्दी तथा मराठी के आधुनिक काव्यशास्त्र के विचारकों ने स्थायी भावों को मानसशास्त्र के 'सेंटिमेंट' तथा 'इंस्टिंक्ट्स' से सम्बद्ध करके इनकी मनोवैज्ञानिकता की खोज का प्रयत्न किया है। प्रस्तुत प्रयत्न सर्वथा निर्दोष न होने पर भी इस की सबसे बड़ी उपयोगिता यही है कि यह हमारे दृष्टिकोण को व्यापक और चिन्तन-प्रणाली को वैज्ञानिक बनाता है।

काव्यशास्त्र और मानसशास्त्र की आधारभूत मिलन भूमि एक ही है— और वह है भावनाओं (Emotions) की। मानसशास्त्र भावनाओं का वर्गीकरण प्राथमिक (Primary), संमिश्र (Blended) और साधित (Derived) रूप में करे अथवा काव्यशास्त्र स्थायी और संचारियों के वर्ग बनाये, परन्तु दोनों में समान रूप से उपलब्ध वस्तु—'भावना' ही है। मानसशास्त्र अपनी विशिष्ट पद्धति से भावनाओं का वर्गीकरण करता है और काव्यशास्त्र की भी अपनी निराली पद्धति है। दोनों के वर्गीकरण में नितान्त स्वल्प साम्य है, पूर्ण साम्य नहीं। अतः काव्यशास्त्र के स्थायी भावों का सम्बन्ध निरापद रूप से मानस शास्त्र के किसी तत्व से स्थापित किया जा सकता है तो वह 'भावना' (Emotion) ही है।

विभाव का स्वरूप

भरतमुनि ने अपने रस सूत्र में 'विभाव' को प्रथम स्थान दिया है और 'कारण' 'निमित्त' तथा 'हेतु' इन तीन 'पर्यायवाची' शब्दों से 'विभाव' का अर्थ स्पष्ट किया है।[२] 'जिनके द्वारा वाचिक, आँगिक और सात्विक अभिनयों की प्रतीति कराई जाती है वे आधारभूत सम्पूर्ण उपादान विभाव हैं।[३] अन्यत्र भरत ने कहा है 'रति नामक प्रमोदात्मक भाव को ऋतु, माला, अनुलेपन, आभरण.. इत्यादि विभावों से उत्पन्न किया जाता है।'[४] 'विभाव' की प्रस्तुत संक्षिप्त व्याख्या

---

१. विस्तार के लिए दे० संस्कृत में स्थायीभाव का स्वरूप।

२. विभावो विज्ञानार्थः। विभावः कारणं निमित्तं हेतुरिति पर्यायाः।
दे० नाटचशास्त्र : ७-३ के बाद का विवेचन

३. नाटचशास्त्र—७-४

४. वही ७-६, ७-१३

से भरतमुनि का मूलभूत आशय इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है, वाचिक, आँगिक और सात्विक अभिनयों की प्रतीति कराने का आधारभूत साधन विभाव है, रति आदि स्थायीभावों के उत्पादक कारण ऋतु, माला, आभूषण आदि उपकरण भी विभाव हैं अर्थात् अभिनेता पात्रों और स्थायी भावों को साकारता प्रदान करने में सहायक समस्त उपादान विभाव कहलाते हैं ।

इस प्रकार भरतमुनि के मतानुसार रस-निष्पत्ति का उत्पादक कारण विभाव हैं । भरतोत्तर युग में रस-स्वरूप के विषय में तीन भिन्न-भिन्न मत उपलब्ध होते हैं–वस्तुवादी, भाववादी और आनंदवादी ।[१] जहाँ तक प्रथम प्रकार का वस्तुवादी रस है, उसकी निष्पत्ति रंगमंच पर ही होती है, वह सहृदय-सापेक्ष नहीं है, अतः उसमें सहृदयगत स्थायी भाव की उद्बुद्धि, परिपुष्टि या चर्वणा का प्रश्न नहीं उठता । शेष दोनों रस-स्वरूपों में सहृदयगत स्थायी भाव की परिपुष्टि का विवेचन किया गया है । धनंजय ने विभाव के सामान्यतः दो ही वर्ग बनाये हैं–आलंबन और उद्दीपन ।[२] आलंबन के अन्तर्गत काव्यगत नायक-नायिका का अन्तर्भाव किया गया है और उद्दीपन में आलंबन-वाह्य उपकरणों का । आचार्य अभिनव गुप्त के समक्ष भरतमुनि के समान एकांततः रंगमंच का रूप ही उपस्थित नहीं था । उन्होंने काव्य-स्वरूप को भी दृष्टिगत रख कर रस-सिद्धांत के विभिन्न अंगों की व्याख्या की है । अतः इन्होंने रस के मूल में निहित स्थायीभाव की स्थिति विशेषतः सहृदयगत ही स्वीकार की है[३] और रस-निष्पत्ति में सहृदयगत स्थायीभाव की अभिव्यक्ति पर बल दिया है । काव्यगत पात्रों में रस-निष्पत्ति को वे मान्यता नहीं देते । इन्होंने काव्यगत 'विभाव' के आलंबन और उद्दीपन दो ही वर्ग स्वीकार किये हैं और सहृदयगत स्थायी भाव का 'उद्भव-हेतु' या 'विषय' इस रूप में ही 'विभाव' शब्द का आशय ग्रहण किया है । 'विभाव' को सहृदयगत स्थायीभाव की उद्बुद्धि का कारण मानते हुए इसके आलंबन और उद्दीपन इन दो वर्गों को ही अधिकांश आचार्यों ने मान्यता दी है । कतिपय आचार्यों ने आलंबन विभाव के भी दो भेद–विषयालंबन और आश्रयालंबन–किये हैं । जिसको उद्दिष्ट कर रत्यादि भाव प्रवर्तित होते हैं, वह विषयालंबन कहलाता है और जो रत्यादि स्थायी भाव का आधार है, वह आश्रयालंबन कहलाता

---

१. दे० रस-स्वरूप प्रकरण ।

२. दशरूपक, ४।२

३. अभिनव भारती, पृ० २८३ ।

है ।[1] इस प्रकार काव्यगत 'विभाव' सामान्यतः तीन वर्गों में विभक्त हो गया—आश्रयालंबन, विषयालंबन और उद्दीपन ।[2]

काव्यगत विभाव के प्रस्तुत तीन वर्गों की पृथक्-पृथक् स्थिति स्वीकार करने से सहृदयगत रस-निष्पत्ति में कुछ उलझनें पैदा हो जाती हैं । क्योंकि आनंदवादी आचार्यों के अनुसार रस तथा स्थायी भाव की स्थिति आश्रय में होती है । काव्यगत आश्रय में जिस स्थायी की स्थिति है, उसी से सहृदय का तादात्म्य होने पर तदनुरूप ही सहृदय में स्थायी भाव की अभिव्यक्ति से रस-निष्पत्ति होगी । ऐसी स्थिति में यहाँ दो महत्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होते हैं—

१. क्या सहृदयगत रस-निष्पत्ति के लिए काव्यगत 'विभाव' के आश्रयालंबन, विषयालंबन तथा उद्दीपन तीन वर्गों की पृथक्-पृथक् व्यवस्था की आवश्यकता है ?

२. जहाँ काव्य में आश्रयालंबन का वर्णन न हो, वहाँ सहृदय के स्थायीभाव की अभिव्यक्ति किस आधार पर होगी ? उदाहृणार्थ, बीभत्स तथा हास्य में घृणोत्पादक वस्तुओं का तथा हास्योत्पादक विषयालंबन का रूप वर्णन ही पर्याप्त है । वहाँ किसी अन्य आश्रयकी आवश्यकता ही नहीं, जिसमें प्रथम जुगुप्सा या हास्य स्थायीभाव की स्थिति दिखाई जाय और तदनुरूप सहृदय में भी उस स्थायी भाव की उद्बुद्धि या अभिव्यक्ति सिद्ध की जाय ?

भरतमुनि के सामने तो विभाव की आश्रयालंबन और विषयालंबन की पृथक्-पृथक् कल्पनाएं नहीं थीं । उनके अनुसार तो विभाव का अर्थ ही रस का कारण है, जिसमें समस्त पात्र और उनके भावों को अभिव्यक्त करने में सहायक सम्पूर्ण प्राकृतिक और वेषभूषात्मक उपकरण अन्तर्भूत हैं ।

रस को सहृदयगत सिद्ध करने वाले आचार्यों ने लौकिक और अलौकिक रस की कल्पनाएँ भी की हैं । काव्यगत पात्रों में आश्रय और आलंबन की जो स्थिति है अथवा इनसे जो रस-निष्पत्ति है, वह लौकिक है । काव्यगत नायक-नायिका का श्रृंगार लौकिक रस है, उनकी उत्पत्ति के लिए उद्दीपन, विभाव, अनुभाव आदि कारण होते हैं, परन्तु रंगमंच पर उसका प्रयोग देखने से अथवा काव्य में वर्णन पढ़ने से सहृदय के मन में जो साधारणीकृत अथवा व्यक्ति-

---

१. आद्यो पि द्विधा विषयाश्रयभेदात् । यमुद्दिश्य रत्यादि : प्रवर्तते सोऽस्य विषयः । आश्रयस्तु तदाधारः । विद्याभूषणः साहित्य कौमुदी, ४ पृ० २९ । रस विमर्श, पृ० १३२ से ।

२. दे० सरस्वती कण्ठाभरण (भोज) ५।३५-३८ ।

निरपेक्ष केवल आनन्द-स्वरूप अन्तिम परिपाक निर्माण होता है, उसे अलौकिक रस कहते हैं ।[१] अतः अधिकांश आचार्यों ने विभावादि सामग्री लौकिक रस अर्थात् काव्यगत स्वीकार की है और स्थायीभाव को मात्र सहृदयगत माना है ।[२] इस स्थिति में काव्यगत विभाव की स्थिति लौकिक ही मानी जायेगी । इसके अतिरिक्त काव्यगत विभाव के आश्रयालंबन और विषयालंबन दोनों भेद सहृदय के अलौकिक रस की निष्पत्ति में सामान्य आलम्बन रूप ही रहेंगे । इस प्रकार प्रथम प्रश्न का उत्तर संस्कृत-आचार्यों की मान्यताओं के अनुसार ही यह बनेगा कि 'विभाव' के आश्रयालंबन, विषयालंबन दो पृथक्-पृथक् वर्ग बनने पर भी उनका सामान्य स्वरूप सहृदय के लिए आलम्बनात्मक ही रहेगा ।

दूसरे प्रश्न का उत्तर भी 'लौकिक' और 'अलौकिक' रस-स्वरूप के आधार पर ही दिया जा सकता है किन्तु आचार्य जगन्नाथ ने इसका उत्तर अपने निजी विचार से प्रस्तुत किया है । इनके मत में ऐसे स्थलों में किसी 'दर्शक पुरुष' (द्रष्टृपुरुष विशेष) के आश्रयत्व की कल्पना कर लेनी चाहिए ।[३] वस्तुतः प्रस्तुत उत्तर विशेष समाधान कारक नहीं है । क्योंकि सहृदय को अपने से भिन्न आश्रय की कल्पना करने की आवश्यकता ही क्या है ? उसे हास्य या बीभत्व के आलंबन को देखते ही बिना काव्यगत आश्रय के या 'दर्शक पुरुष विषेश' की कल्पना के रसानुभूति हो सकती है । यदि सहृदय की दृष्टि से विचार किया जाय तो काव्यगत 'आश्रय' और काव्यगत 'आलंबन' दोनों ही सहृदय के लिए आलंबन रूप ही हैं ।

परन्तु जब काव्यगत पात्रों के आश्रय और आलंबन दो वर्ग बनाये जाते हैं, तब सर्वत्र आश्रय से सहृदय के तादात्म्य की स्थिति का प्रश्न जटिल हो जाता है । क्योंकि काव्य में सर्वत्र स्थायीभाव के या रस के आश्रय का वर्णन अनिवार्यतः नहीं होता, जैसे बीभत्स और हास्य में, और अनेक बार काव्यगत आश्रय से सहृदय का तादात्म्य होना भी कठिन हो जाता है, जैसे, खलनायक के प्रसंग में । हिन्दी में आचार्य शुक्ल ने और मराठी में डा० वाटवे ने काव्यगत आश्रय और आलंबन की स्थिति पर कुछ विस्तार से चिन्तन किया है । उनके अभिमतों का निरूपण करने के उपरान्त काव्यगत विभाव का वास्तविक स्वरूप-निर्धारण का प्रयत्न किया जाएगा ।

---

१. वि० दे० रसविमर्श पृ० ३००-१

२. वही पृ० ३०१ ।

३. रसगंगाधर, पृ० ५५ ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'विभाव' के आलंबन तथा आश्रय दो पक्षों का निरूपण किया है। इनमें आलंबन के अन्तर्गत 'मनुष्य से लेकर कीट, पतंग, वृक्ष, नदी, पर्वत आदि सृष्टि का कोई भी पदार्थ हो सकता है किन्तु 'आश्रय' सहृदय सम्पन्न मनुष्य ही होता है।'[१]

आलंबन के अन्तर्गत शुक्ल जी ने प्रकृति-वर्णन को स्वतंत्र आलंबन रूप माना है। इनके मत में प्रकृति-वर्णन को सर्वत्र 'उद्दीपनमात्र' मानना उचित नहीं है। काव्यगत 'आश्रय' के विषय में भी शुक्ल जी की स्पष्ट स्थापना है : "जो वस्तु मनुष्य के भावों का विषय या आलंबन होती है, उसका शब्द चित्र यदि किसी कवि ने खींच दिया है तो वह एक प्रकार से अपना काम कर चुका। उसके लिए यह अनिवार्य नहीं कि आश्रय की भी कल्पना करके उसे उस भाव का अनुभव करता हुआ.....दिखावे।..मैं आलंबन-मात्र के विशद वर्णन को श्रोता में रसानुभव (भावानुभव सही) उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ मानता हूँ।"[२]

शुक्ल जी ने अपनी उपर्युक्त स्थापना की परिपुष्टि में अनेक प्रमाण प्रस्तुत किये हैं, जिनमें काव्यगत 'आश्रय' के अभाव में भी सहृदय में रसानुभूति की स्थिति दर्शाई जा सकती है :

१. नायिका भेद या 'नखसिख' से सम्बद्ध ग्रन्थों में आश्रय की स्थिति नहीं होती। 'नायिका भेद में श्रृंगार रस के आलंबन मात्र का वर्णन होता है और नखसिख के किसी पद्य में उस आलंबन के भी किसी एक अंग मात्र का।

२. संसार की प्रत्येक भाषा में इस प्रकार के काव्य वर्तमान हैं, जिनमें भावों को प्रदर्शित करने वाले पात्र अर्थात् आश्रय की योजना नहीं की गई है।

३. प्राकृतिक वर्णन को रसात्मक ठहराते समय आश्रय-भूत पात्र की वहाँ आवश्यकता नहीं होती।

४. श्रोता या पाठक का भी हृदय होता है—वह दूसरों के हँसने, रोने को देखने के लिए नहीं जाता, बल्कि स्वयं ऐसे विषयों को सामने पाने के लिए जाता है जो स्वयं उसे हँसाने, रुलाने के गुण रखते हों।

५. राम-जानकी के बनगमन प्रसंग में, हरिश्चन्द्र द्वारा अपनी पत्नी शैव्या से कफन माँगते समय दर्शक करुणार्द्र हो जाते हैं, उन्हें किसी आश्रय की आवश्यकता नहीं होती।

शुक्ल जी की मान्यता में रसानुभूति के लिए विभाव के आलंबन पक्ष का

---

१. रस मीमांसा, पृ० ११०।

२. रस मीमांसा पृ० १४३-१४४

विशेष महत्व है। फलतः पूर्ण रस की निष्पत्ति के लिए शुक्ल जी ने 'सामान्य आलंबन' की कसौटी को महत्वपूर्ण माना है। काव्यगत 'आलंबन' से काव्यगत आश्रय में जिन भावों की परिपुष्टि होती है यदि सहृदय में भी काव्यगत आलंबन से काव्यगत आश्रय के समान ही भावों की परिपुष्टि हो, तो वहाँ पूर्ण रस मानना चाहिए।

"पूर्ण रस वहीं मानना पड़ेगा जहाँ—

(क) आश्रय श्रोता के रति भाव का आलंबन होगा और

(ख) आलंबन श्रोता के भी उन्हीं भावों का आलंबन होगा आश्रय के जिन भावों का है।"[1]

प्रस्तुत पूर्ण रस की कसौटी शुक्ल जी के ही मत में सर्वत्र अनिवार्यतः अभिघटित नहीं होती। उदाहरणार्थ, शकुन्तला के प्रति दुर्वासा के क्रोध में श्रोता या सहृदय भी आश्रयवत (दुर्वासा के समान) क्रोध की अनुभूति नहीं करेगा। काव्यगत आश्रय के समान सहृदय को उसी भाव की अनुभूति नहीं होगी। क्या पूर्ण रस के अभाव में इस प्रकार के प्रसंग काव्य में त्याज्य हैं ? शुक्ल जी ने ही उत्तर दिया है : "इस प्रकार का वर्णन काव्य में अनुपादेय नहीं कहलायेगा, क्योंकि कवि का कर्तव्य सदैव रस की या पूर्ण रस की कवायद करना नहीं।"[2] शुक्ल जी की प्रस्तुत मान्यता दो तथ्यों पर चिन्तन करने के लिए प्रेरित करती है :

१. रस-सिद्धान्त ही मूलतः इतना अव्यापक है कि उसमें कवि-अभिव्यक्त सभी प्रकार की भावनाओं का अन्तर्भाव नहीं हो पाता। विशेषतः वे भाव रसानुभूति के अनुपयुक्त हैं, जिनमें काव्यगत आश्रय की भावनाओं से सहृदय का तादात्म्य नहीं हो पाता। अथवा

२. भरतमुनि के परवर्ती आचार्यों ने ही व्यापक विभाव तत्त्व को सहृदयगत रस-निष्पति की दृष्टि से संकुचित बना दिया है। उन्होंने 'विभाव' के आलंबन, उद्दीपन तथा आश्रय तीन पक्ष बना दिये। पूर्ण रस-निष्पत्ति के लिए सहृदय का काव्यगत आश्रय से तादात्म्य अनिवार्य ठहराया।

रस-सिद्धान्त में अव्यापकता का एक कारण उसके विभिन्न तत्वों का अत्यधिक सूक्ष्म वर्गीकरण भी है। यदि 'विभाव' का आशय मूलतः भरतमुनि-निरूपित ही स्वीकार किया जाय तो विशेष उलझनों के लिए अवकाश ही नहीं होगा। काव्य हो अथवा नाटक हो जो विभिन्न रसों अथवा भावों की पाठकों को अनुभूति कराने में समर्थ तत्व हैं, वे विभाव हैं, इसमें मानव का रूप, उसकी वेशभूषा, प्राकृतिक

---

१. रस मीमांसा पृ० १५०।

२. रसमीमांसा पृ० १५८।

वातावरण सभी का अन्तर्भाव हो जाता है। भरतमुनिने कहीं भी नाटकगत या काव्यगत आश्रय की चर्चा नहीं की है। सहृदय की दृष्टि से देखें तो काव्यगत आलंबन अथवा काव्यगत आश्रय दोनों ही उसकी विशिष्ट अनुभूति या रस को उद्‌बुद्ध करने में समर्थ तत्व हैं, कारण हैं, भरत के शब्दों में 'निमित्त' या 'हेतु' हैं अतः विभाव हैं।

जहाँ काव्यगत आश्रय में उद्‌बुद्ध भावों से सहृदय का भी पूर्ण तादात्म्य हो जाता है, वहाँ तो परंपरागत विभाववर्गीकरण—आलंबन-आश्रय रूप–निर्दोष है। इसके विपरीत जहाँ काव्यगत आश्रय से तादात्म्य नहीं हो पाता वहाँ सहृदय की दृष्टि से 'विभाव' के आलंबन तथा आश्रय दो पक्ष निर्धारित करना अनुपादेय प्रतीत होता है। ऐसी स्थिति में सहृदय के लिए काव्यगत आलंबन तथा काव्यगत आश्रय दोनों ही आलंबन स्वरूप ही हैं। शकुन्तला के प्रति दुर्वासा के क्रोध-प्रसंग में सहृदय के सामने दोनों का चरित्र स्पष्ट है, सहृदय को यदि यहाँ रौद्र रस की अनुभूति नहीं होती, तदितर किसी भाव की अनुभूति होती है, तो भी शकुन्तला और दुर्वासा दोनों ही पाठक में रौद्र-इतर किसी विशिष्ट अनुभूति को उद्‌बुद्ध करने के कारण हैं, हेतु हैं अतः विभाव हैं।

अधिक स्पष्ट शब्दों में कहें तो यहाँ काव्यगत आलंबन शकुंतला और काव्यगत आश्रय दुर्वासा दोनों ही सहृदय के लिए आलंबन रूप ही हैं।

मराठी में डा० वाटवे ने काव्यगत आश्रय-आलंबन तथा सहृदयगत आश्रय-आलंबन का पृथक्-पृथक् विवेचन करके इस समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया है। इनके मत में काव्यगत आश्रय-आलंबन तथा सहृदयगत आश्रय-आलंबन की पृथक्-पृथक् स्थिति स्वीकार करना आवश्यक है।'[1] श्रृंगार रस में इनकी पृथक् स्थिति के निरूपण की आवश्यकता इसलिए प्रतीत नहीं होती कि वहाँ प्रायः काव्यगत आलंबन, काव्यगत आश्रय और आस्वादक सहृदय दोनों के लिए एक जैसा ही होता है। परन्तु अन्य रसों में इस प्रकार की स्थिति नहीं रहती। उदाहरणार्थ, आचार्य जगन्नाथ ने वीर रस के आलंबन-आश्रय का इस प्रकार से वर्णन किया है:—

राम–'हे रावण ! तूने दीन देवताओं को पलायन के लिए बाधित कर अपना पराक्रम व्यक्त किया है, तुझ जैसे क्षुद्र व्यक्ति पर मैं बाण कैसे छोड़ूँ ? वह शंकर ही मेरे बाण के वेग को जानने में समर्थ हैं, जिसने अपने भाल पर स्थित नेत्र से निकली हुई ज्वालाओं से संपूर्ण संसार को अभिभूत कर दिया है।"[2]

---

१. रसविमर्श, पृ० ३०५।

२. रणे दीनान् देवान् दशवदन विद्राव्य वदति......रसगंगाधर, पृ० ४८

आचार्य जगन्नाथ के मतानुसार इसमें 'शिव' आलंबन विभाव रण-दर्शन उद्दीपन विभाव, रावण की अवज्ञा अनुभाव तथा गर्व व्यभिचारी भाव है।[1] परन्तु डा० वाटवे के मतानुसार वीर राम की स्व-सामर्थ्य-प्रदर्शक उक्ति के कारण ही पाठकों में उत्साह स्थायीभाव उद्दीप्त होता है, अतः राम को ही आलंबन क्यों न माना जाय? शिव के उल्लेख से राम की उक्ति में प्रखरता अवश्य आ गई है, परन्तु सहृदय के उत्साह की उद्दीपक तो राम की ही उक्ति है। आचार्य जगन्नाथ ने राम को आलंबन विभाव के रूप में नहीं रखा, इसका कारण यह है कि उन्होंने काव्यगत व्यक्ति के आलंबन विभाव तथा सहृदय के आलंबन विभाव की पृथक्-पृथक् स्थिति पर ध्यान नहीं दिया है। शिव की अतुल शक्ति के उल्लेख से राम में ओज का संचार हुआ है, अतः राम के लिए आलंबन शिव ही है, परन्तु सहृदय के लिए तो राम ही आलंबन है, राम की उक्ति से ही सहृदयस्थ उत्साह उद्बुद्ध होता है।'[2] इसी प्रकार मम्मट के काव्यप्रकाश में शाकुन्तल नाटक के 'ग्रीवाभंगाभिरामं०' श्लोक में दुष्यन्त के बाणों से भयभीत होकर भागता हुआ 'मृग' आश्रय तथा दुष्यन्त को आलंबन निरूपित किया गया है।[3] डा० वाटवे के मत में काव्यगत आश्रय-आलंबन की दृष्टि से प्रस्तुत व्यवस्था समीचीन है, परन्तु सहृदय में 'भयानक' रस की निष्पत्ति के लिए भय से भागता हुआ मृग ही 'आलंबन' बनेगा न कि राजा दुष्यन्त।[4] अतः डा० वाटवे ने साहित्यकौमुदीकार के विभाव-वर्गीकरण—'आश्रयालंबन विभाव' तथा 'विषयालंबन विभाव'—का समर्थन किया है। इस प्रकार 'आश्रयालंबन विभाव सहृदय का होगा और विषयालंबन विभाव काव्यगत व्यक्तियों का। पूर्वोक्त वीर रस के उदाहरण में राम उत्साह वृत्ति का आश्रय तथा 'शिव' उसका विषय है अतः राम सहृदयों का आलंबन विभाव और शिव राम का आलंबन विभाव समझा जा सकता है। इसी प्रकार भयानक रस के उदाहरण में मृग के लिए आलंबन होगा राजा दुष्यन्त और सहृदय के लिए होगा भयभीत मृग।'[5] इस प्रकार डा० वाटवे के मत में रस-स्वरूप के निर्धारण में काव्यगत व्यक्ति के विभाव और सहृदय के विभाव का पृथक्-पृथक् उल्लेख इस समस्या का समाधान प्रस्तुत कर सकेगा।

प्रस्तुत आश्रय-आलंबन की पृथक्-पृथक् व्यवस्था समीचीन प्रतीत होती है।

---

१. रसगंगाधर पृ० ४८-४९।
२. रसविमर्श, पृ० ३०४
३. काव्यप्रकाश, ४-४१
४. रसविमर्श, पृ० ३०५
५. रस विमर्श पृ० ३०५

फिर भी रसानुभूति के लिए सर्वत्र काव्यगत आश्रय से ही तादात्म्य की स्थिति संदिग्ध रहती है।काव्याध्ययन के समय काव्यगत आश्रय और काव्यगत आलंबन दोनों का स्वरूप सहृदय के सामने नितांत स्पष्ट रहता है । सहृदय के लिए यह संभव ही नहीं है कि वह काव्यगत आलंबन से निर्लिप्त रहे और काव्यगत आश्रय से ही तादात्म्य प्राप्त कर ले । काव्य में ऐसे अनेक स्थल होते हैं, जहाँ आलंबनमात्र का विशद वर्णन मिलता है,ऐसी स्थिति में सहृदय बिना किसीकाव्यगत आश्रया-लंबन के रसानुभूति प्राप्त कर लेता है इस कारण काव्यगत आश्रय और काव्यगत आलंबन दोनों ही सहृदय की रसानुभूति के कारण हैं, अतः आलंबन विभाव हैं ।

सारांश :

संस्कृत में भरतमुनि ने विभाव की व्याख्या वाचिक, आंगिक और सात्विक अभिनय तथा स्थायीभावों को साकार रूप प्रदान करने वाली कारण सामग्री के रूप में की है। भरतोत्तर युग में विभाव के आश्रयालंबन, विषयालंबन तथा उद्दीपन तीन वर्ग बनाये गये ।

विभाव के प्रस्तुत वर्ग-विभाजन तथा काव्यगत आश्रयालंबन से सहृदय के तादात्म्य की स्थिति स्वीकार करने से अनेक उलझनें उपस्थित होती ह । क्योंकि काव्य में सर्वत्र आश्रय की स्थिति नहीं रहती, केवल आलंबन का विशद वर्णन मिलता है । आचार्य जगन्नाथ ने ऐसे स्थलों में दर्शक पुरुष विशेष के आश्रय की कल्पना कर लेने का सुझाव दिया है । परन्तु इससे वास्तविक समस्या नहीं सुल-झती । अतः हिन्दी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने काव्यगत आश्रय के अभाव में भी काव्यगत आलंबन मात्र के बिशद वर्णन में रसानुभूति स्वीकार कर ली है। फिर भी पूर्ण रस की सिद्धि में इन्होंने काव्यगत आश्रयालंबन से तादात्म्य आव-श्यक माना है । मराठी में डा० वाटवे ने काव्यगत आश्रयालंबन और विषया-लंबन का तथा सहृदयगत आश्रयालंबन और विषयालंबन का पृथक्-पृथक् निरू-पण आवश्यक ठहराया है । वस्तुतः विभाव का भरतनिरूपित मूल आशय–रसो-त्पादक कारण सामग्री रूप लिया जाय और काव्यगत आश्रयालंबन या काव्यगत विषयालंबन दोनों को सहृदय की रहानुभूति के लिए आलंबन रूप ही मान लिया जाय तो रस-निष्पत्ति और तादात्म्य की समस्या कुछ सीमा तक सुलझ जाती है ।

अनुभाव का स्वरूप

भरतमुनि ने अपने रस-सूत्र में 'विभाव' के पश्चात् अनुभाव का उल्लेख कर दोनों तत्वों की पारस्परिक भिन्नता की स्वीकृति दी है । उन्होंने विभाव तथा अनु-भाव को 'लोकप्रसिद्ध' तथा 'लोकयात्रानुगामी' कहा है अतः इनकी विस्तृत

व्याख्या भरतमुनि के मत में अनावश्यक है।[१] भरतमुनि ने विभिन्न रसों के पृथक्-पृथक् अनुभावों का उल्लेख किया है, इस से अनुभावों का स्वरूप समझने में सहायता मिलती है। इनके अनुसार श्रृंगार रस के अनुभाव हैं---मधुरवचन, स्मित-वदन, भ्रूक्षेप, कटाक्ष आदि।[२] इस प्रकार नट मनोभावों को व्यस्त करने के लिए जिन-जिन अभिव्यंजनों की सहायता लेता है, वे अनुभाव कहलाते हैं। भरतपरवर्ती आचार्यों ने अनुभवों की और अधिक स्पष्ट व्याख्याएँ की हैं। धनंजय ने 'रत्यादि स्थायी भावों की सूचना करने वाले विकारों को अनुभाव कहा है'[३] तो आचार्य विश्वनाथ के मत में आलंबन, उद्दीपन आदि कारणों से उत्पन्न भावों को बाहर प्रकाशित करने वाले कार्य अनुभाव कहलाते हैं।'[४] इसी प्रकार आचार्य जगन्नाथ के मत में भी स्थायीभावों के जो कार्य हैं वे ही अनुभाव हैं।[५] सारांशतः, संस्कृत आचार्यों के अनुसार मनोगत भावों को व्यंजित करने वाले सभी प्रकार के विकार अनुभाव कहलाते हैं।

हिन्दी में 'अनुभाव' का स्वरूप-प्रतिपादन संस्कृत-आचार्यों के मतानुसार ही हुआ है। आचार्य शुक्ल ने माना है कि 'भाव की गति-विधि का पता अनुभावों से लगता है' अतः 'अनुभाव भाव के सूचक होते हैं।'[६] शुक्ल जी का प्रस्तुत मत धनंजय के पूर्वोक्त अनुभाव-स्वरूप से मिलता-जुलता है। डा० श्यामसुंदरदास ने अनुभाव-लक्षण में भाव तत्व पर विशेष बल दिया है। इनके मत में 'भाव कारण और अनुभाव कार्य हैं। अनुभावों के द्वारा भाव की सूचना मिलती है।'[७] आचार्य जगन्नाथ के पूर्वोक्त अनुभाव-लक्षण से स्पष्ट है कि उन्होंने भी स्थायी भावों का कार्य ही अनुभाव को माना है। इन्हीं के अनुभाव-लक्षण का आश्रय लेते हुए श्री रामदहिन मिश्र ने लिखा है 'जो भावों के कार्य हैं या जिनके द्वारा रति आदि स्थायी भावों का अनुभव होता है, उन्हें अनुभाव कहते हैं।'[८] इस प्रकार हिन्दी के आधुनिक काव्यशास्त्रज्ञों ने 'अनुभाव-लक्षण' में संस्कृत-आचार्यों के मतों का ही आधार

---

१. नाट्यशास्त्र, ७।५
२. वही, ७।८
३. दशरूपक ४।३
४. साहित्य दर्पण, ३।१३२।
५. रसगंगाधर, पृ० ३३।
६. रस मीमांसा, पृ० १७३ और २१९।
७. साहित्यालोचन, पृ० २२३।
८. काव्यदर्पण, पृ० ५८।

ग्रहण किया है। किन्तु अनुभावों के परंपरागत वर्गीकरण की वैज्ञानिकता की परीक्षा में डा० श्यामसुंदरदास तथा आचार्य शुक्ल ने परंपरा-भिन्न चिन्तन का प्रयत्न किया है।

अनुभाव-वर्गीकरण

संस्कृत-साहित्यशास्त्र में अनुभाव के कायिक, मानसिक, आहार्य और सात्विक चार वर्ग उपलब्ध होते हैं।[१] अनुभाव का स्वरूप सामान्यतः भावाभिव्यंजक शारीरिक विकारों के रूप में स्वीकार किया गया है, परिणामतः इनमें चार भेदों में से 'आहार्य' और 'मानसिक' इन दो का अनुभावत्व संदिग्ध प्रतीत होने लगता है। इसीलिए डा० श्यामसुंदर दास ने आहार्य के अनुभावत्व का प्रतिषेध किया है। इनके मत में 'वेष बदलकर भाव-प्रदर्शित करने को आहार्य कहते हैं।' अतः इसकी गिनती अनुभावों के अन्तर्गत नहीं की जानी चाहिए। इसे अभिनय का एक अंग समझना चाहिए या यों कहें कि 'यह अभिनय का बीज रूप है, तो अनुचित नहीं।'[२] वस्तुतः यदि 'आहार्य' अभिनय का एक अंग है तो 'मानसिक' अनुभाव भी 'भाव' का ही एक अंग है। क्योंकि श्यामसुंदरदास जी के ही मत में मानसिक अनुभाव का लक्षण इस प्रकार है—'स्थायीभाव के कारण उत्पन्न हुए अन्य भाव अथवा मनोविकार को मानसिक अनुभाव कहते हैं।'[३] जब मानसिक अनुभाव का स्वरूप भावात्मक या मनोभावात्मक है तब इसे शारीरिक अवस्था-प्रधान अनुभाव तत्व का एक पृथक् वर्ग किस आधार पर स्वीकार किया जाय? इसका मनोभावों या संचारियों में ही अन्तर्भाव हो सकता है। इसी कारण आचार्य शुक्ल ने 'मानसिक' को भी अनुभाव का भेद नहीं माना है। इन्होंने अनुभाव के पूर्वोक्त चार वर्गों में से सात्विक और आहार्य को कायिक में अन्तर्भूत मान लिया है और मानसिक को मूलतः अनुभाव न मान कर इसे संचारी की संज्ञा दी है। मानसिक को अनुभाव न मानने का कारण यह है कि अनुभाव किसी भाव का सूचक होता है, स्वयं सूच्य नहीं होता। 'मानसिक' की स्थिति इससे भिन्न है, मानसिक अवस्था स्वयं गोचर नहीं होती। अतः शुक्ल जी के मत में 'मानसिक अवस्था जो सूच्य हुआ करती है, वह सूचकों में नहीं रखी गई, संचारियों में रखी गई है।'[४] इस प्रकार शुक्ल जी ने

---

१. स चानुभावः कायिकमानसाहार्य सात्विकभेदाच्चतुर्धा, रसतरंगिणी, पृ० १०

२. साहित्यालोचन, पृ० २२४।

३. वही, पृ० २२३।

४. रसमीमांसा, पृ० २१९।

अनुभाव-वर्ग में 'कायिक' को अधिक महत्वपूर्ण माना है। अन्य वर्ग या तो कायिक-व्यापार में ही अन्तर्भूत होंगे अथवा उनका क्षेत्र अनुभाव की सीमा में नहीं आ सकेगा। श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने अनुभाव के मुख्य दो वर्ग बनाये हैं--कायिक और वाचिक और प्रथम कायिक वर्ग में ही सात्विक, आंगिक और आहार्य का अन्तर्भाव माना है।[१] मानसिक अनुभाव को भी इन्होंने कायिक में ही अन्तर्भूत मान लिया है। क्योंकि प्रमोदादि मानसिक अनुभाव मानने पर भी इनकी आंगिक चेष्टाएँ अस्वीकृत नहीं की जा सकतीं। इसलिए इन्हें भी कायिक चेष्टाओं के ही अंतर्भूत समझना चाहिए।[२] श्री रामदहिन मिश्र ने अनुभावों के संस्कृत-परंपरागत चार भेदों का निरूपण कर दिया है, इनके औचित्य या अनौचित्य की परीक्षा नहीं की।[३]

अनुभाव-स्वरूप के विवेचन तथा अनुभावों के वर्गीकरण की विस्तृत मीमांसा मराठी के काव्य-शास्त्रज्ञों ने नहीं की है। प्रायः अधिकांश समीक्षकों ने संस्कृत आचार्यों के प्रतिपादन का ही समर्थन किया है। डा० वाटवे के अनुसार अनुभाव का स्वरूप इस प्रकार है--'नट भावाभिव्यक्ति के लिए प्रस्तुत होता है। वह अभिनय के द्वारा अर्थात् भ्रू-वक्रता, हास्य, रुदन, नेत्र-विस्फारण आदि से मूलपात्र की भावनाओं को व्यक्त करता है और प्रेक्षकों को उस भावना का अनुभव अपने इन भावाभिव्यंजनों से करा देता है, फलतः इन अभिनय रूप भावनाभिव्यंजनों (शारीरिक चेष्टाओं तथा मुख भंगिमा आदि) को अनुभाव कहा जाता है।'[४] अनुभाव का प्रस्तुत स्वरूप-विवेचन भरतमुनि के अनुभाव-लक्षण पर आधृत है।[५] डा० वाटवे ने धनंजय, भट्ट लोल्लट, जगन्नाथ तथा हेमचन्द्र द्वारा प्रतिपादित अनुभाव-स्वरूपों का निरूपण किया है किन्तु अनुभाव के भेदों की परीक्षा नहीं की।[६] प्रा० रा० श्री० जोग ने भी मनोभावों के अभिव्यंजक सभी प्रकार के शारीरिक विकारों अथवा शरीरावयवों की चेष्टाओं को अनुभाव माना है।[७] इनके मत में विभिन्न रसों के अनुरूप भिन्न-भिन्न अनुभाव तो होते हैं किन्तु 'व्यक्ति-स्वभाव, देश तथा काल के कारण भी अनुभावों में भिन्नता आना संभव है। उदाहरणार्थ,

---

१. वाङ्मय विमर्श, पृ० १४६।
२. वही, पृ० १४५।
३. काव्यदर्पण, पृ० ५८।
४. रसविमर्श, पृ० १०३।
५. नाट्यशास्त्र, ७-७, तथा ७-१३।
६. रसविमर्श, पृ० १०३-१०४।
७. अभिनव काव्य प्रकाश, पृ० १२०।

धैर्यवान् व्यक्ति तथा साधारण व्यक्ति के शोक, प्रेम तथा भय के अनुभाव एक जातीय होते हैं, फिर भी उनका स्वरूप एक जैसा ही हो यह आवश्यक नहीं है।'[१] डा० वाटवे तथा प्रा० रा० श्री जोग दोनों ने ही अनुभावों के परंपरागत चार भेदों की समीक्षा नहीं की है। इन्हों ने अनुभाव तथा सात्विक भाव का पृथक्-पृथक् विवेचन किया है।

इस प्रकार हिन्दी-मराठी के अधिकांश समीक्षकों ने भावाभिव्यंजक शारीरिक चेष्टाओं या विकारों को अनुभाव माना है। हिन्दी के आधुनिक काव्य-शास्त्रज्ञों ने आहार्य तथा मानसिक इन दो अनुभाव-भेदों को अनुभाव-वर्ग में स्थान देना अनुपयुक्त माना है क्योंकि ये दोनों भेद अनुभाव के मूलभूत स्वरूप शारीरिक विकार या चेष्टा की सीमा में नहीं आते।

संचारी भाव का स्वरूप

भरतमुनि से आचार्य जगन्नाथ तक के आचार्यों ने व्यभिचारी भाव या संचारी भाव के स्वरूप का निरूपण किया है। भरतमुनि का दृष्टिकोण मूलतः नाटकीय या रंगमंचीय रहा है। अतः इन्हों ने इसी दृष्टिकोण से व्यभिचारी भावों का स्वरूप-प्रतिपादन किया है। इनके मत में व्यभिचारी भाव सहकारी भाव होते हैं, विविध रसों में अनुकूलता के साथ संचरण करते हैं। वाचिक, आंगिक तथा सात्विक अभिनयों से सम्बद्ध रसों को प्रयोग में लाते हैं अर्थात् रंगमंच पर व्यावहारिक या मूर्तरूप प्रदान करते हैं।[२] देश काल तथा परिस्थिति को ध्यान में रख कर ही तैंतीस व्यभिचारी भावों को मध्यम, अधम या उत्तम व्यक्तियों की सहायता से प्रयोग में लाना चाहिए अर्थात् रंगमंच पर अभिनयात्मक रूप देना चाहिए।[३]

भरतोत्तरयुग में भावों की भाँति व्यभिचारी भावों का स्वरूप भी मनोभावात्मक बनता गया। व्यभिचारी भावों को स्थायी भावों से सम्बद्ध किया जाने लगा। धनंजय के मत में व्यभिचारीभाव स्थायी भावों के अनुकूल अपना व्यापार करते हैं। समुद्र से जैसी तरंगे उत्पन्न होती हैं और उसी में विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार स्थायी भावों से व्यभिचारी भावों की उत्पत्ति होती है और वे उसी में विलीन हो जाते हैं।'[४] व्यभिचारी भावों को ही कालान्तर में संचारीभाव कहा

---

१. अभिनव काव्य प्रकाश, पृ० १२०।
२. नाट्यशास्त्र, पृ० ८४. ७।२७
३. वही, पृ० ९५, ७।९१।
४. दशरूपक, ४।७

जाने लगा। भानुदत्त के मत में ये संचारीभाव इसलिए कहलाते हैं कि एक ही रस पर अवलंबित न हो कर इतर रसों में भी संचरण करते हैं।[१] परवर्ती कतिपय आचार्यों के मत में रति आदि स्थायीभाव विविध या विपुल विभावों से निर्मित होते हैं, परन्तु स्वल्प विभावों से निर्मित वे ही स्थायी भाव व्यभिचारी भाव बन जाते हैं।[२]

इस प्रकार भरतोत्तर युग में संचारी भावों को मनोभाव-स्वरूप प्रतिपादित किया जाने लगा। भरतमुनि-परिगणित तैंतीस संचारियों में निहित अनेक शारीरिक अवस्थाओं को भी मनोभाव रूप ही सिद्ध किया गया। उदाहरणार्थ, आचार्य जगन्नाथ ने 'मरण' संचारी को शारीरिक अवस्था रूप नहीं माना है, वरन् इसे चित्तवृत्तिरूप ही सिद्ध किया है।[३]

भरतमुनि-प्रयुक्त 'भाव' शब्द का अर्थ एकांततः मनोभाव नहीं है। उन्होंने सामान्यतः रस-परिपोषक सभी तत्वों को 'भाव' रूप में ग्रहण किया है।[४] कालान्तर में संस्कृत-साहित्यशास्त्र में 'भाव' शब्द का अर्थ 'मनोभाव' के लिए रूढ़ होता गया, परिणामतः सभी संचारी भावों को मनोभाव-स्वरूप सिद्ध किया गया। 'तैंतीस संचारी भावों में सभी मनोभाव-स्वरूप नहीं हैं। उदाहरणार्थ, मद, श्रम, आलस्य, जड़ता, निद्रा, अपस्मार, सुप्त, व्याधि, उन्माद, मरण आदि शारीरिक अवस्थाएँ हैं और मति, वितर्क, अवहित्थ, स्मृति आदि बौद्धिक या ज्ञानात्मक अवस्थाएँ हैं। ऐसी स्थिति में सभी संचारी भावों को मनोभावात्मक सिद्ध करना कहाँ तक संगत है? यदि सभी संचारीभाव मनोभावात्मक नहीं हैं तब इनका वास्तविक स्वरूप क्या है? इन प्रश्नों का समाधान आधुनिक हिन्दी-मराठी के समीक्षकों ने विस्तार से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।

संस्कृत-आचार्यों की परंपरानुसार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने स्थायीभावों तथा संचारियों की व्यावर्तक कसौटी 'रस' मानी है। इनके मत में 'किसी भाव की व्यंजना से श्रोता या दर्शक में भी उसी भाव की प्रतीति हो तो वहाँ स्थायी भाव समझना चाहिए और शेष भाव तथा मनोवेगों को संचारी, क्योंकि स्थायी भाव ही रसावस्था को प्राप्त होते हैं।[५] शुक्ल जी के मत में भावों के स्वरूप

---

१. रसतरंगिणी, पृ० ५।
२. रसगंगाधर (जगन्नाथ) पृ० ३८-३९।
३. रसगंगाधर, पृ० १०९।
४. दे० भाव-स्वरूप प्रकरण।
५. रसमीमांसा, पृ० २०३।

के भीतर ही वह वस्तु है जिसके अनुसार प्रधान (स्थायी) और संचारी का विभाग हो जाता है, वह वस्तु है आलंबन ।[1] आलंबन के भी दो भेद होते हैं— एक विशेष और दूसरा सामान्य । जो सामान्य आलंबन होता है उसके प्रति मनुष्य मात्र का कम से कम सहृदयमात्र का वही भाव होगा, जो आश्रय का है ।[2] सामान्य आलंबन से सम्बद्ध भाव स्थायी भाव होते हैं और संचारीभाव इसी स्थायीभाव के परिपोषक होते हैं । 'एक भाव दूसरे भाव का संचारी होकर तभी आ सकता है जब उसका विषय वही हो जो प्रधान भाव का आलंबन है और उसकी अपनी कोई गति या प्रवृत्ति न हो । साथ ही वह भाव स्वयं ऐसा हो कि प्रधान भाव के साथ उसका कोई रूपांतर लगा रहता हो और उसकी गति या प्रवृत्ति वही हो जो प्रधान भाव की होती है ।'[3] इससे स्पष्ट है कि शुक्ल जी स्थायी और संचारी भावों में अंगाङ्गिभाव सम्बन्ध मानते हैं । इन्होंने परंपरागत तैंतीस संचारीभावों को इसी कसौटी पर कस कर स्थायी भाव का अंग बनने में समर्थ संचारीभावों को ही संचारी-वर्ग में स्थान दिया है और अन्य संचारियों के संचारित्व का प्रतिषेध किया है । उदाहरणार्थ, आलस्य को इन्होंने संचारी भाव नहीं माना है, क्योंकि इसका किसी भाव के साथ 'प्रत्यक्ष सम्बन्ध' नहीं है या 'सीधा लगाव' नहीं है ।[4] सामान्यतः शुक्ल जी ने प्रधान भाव या स्थायी भाव को केन्द्र बिन्दु मान कर इसके निकटतम पहुँचने में सहायक अनेक शारीरिक और मानसिक अवस्थाओं तथा अंतःकरण की वृत्तियों को भी संचारीभाव में अन्तर्भूत कर लिया है ।

शुक्ल जी के समान पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने भी संचारियों को व्यापक रूप में ही ग्रहण किया है । इन्होंने परंपरागत सभी संचारियों को मनोविकार-स्वरूप नहीं माना है । इनके मत में इनमें कुछ तो बुद्धि की वृत्तियाँ हैं और कुछ शरीर के धर्म हैं । मति, वितर्क आदि बुद्धि की वृत्तियाँ हैं और मरण, आलस्य, निद्रा, अपस्मार व्याधि आदि शरीर के धर्म हैं । ऐसी स्थिति में यह मानना पड़ेगा कि संचारी शब्द से शास्त्रकारों का तात्पर्य स्थायी भाव में सहायक होने वाली

---

१. रसमीमांसा पृ० २०४ ।
२. वही, पृ० २०५ ।
३. वही, पृ० ३३७ ।
४. वही, पृ० ३२४-२५ ।

वृत्तियों या स्थितियों से है।[१] अत: इनके विचार में संचारीगत मानसिक, बौद्धिक एवं शारीरिक अवस्थाओं को 'भाव' कहना उपलक्षण मात्र है।'[२] संचारीभाव स्थायीभाव में सहायक होने वाली वृत्तियाँ या स्थितियाँ हैं, सभी मनोभाव-स्वरूप नहीं हैं। संचारी-विषयक प्रस्तुत दृष्टिकोण का पं० रामदहिन मिश्र ने प्रत्याख्यान किया है। इनके मत में सभी संचारीभावों का स्वरूप मनोभावात्मक या चित्तवृत्ति रूप ही है। अत: इनके भावात्मक स्वरूप को 'उपलक्षणमात्र' कहना अनुपयुक्त है।[३] क्योंकि इनके मत में 'संचरण शील अस्थिर मनोविकारों या चित्तवृत्तियों को संचारी भाव कहते हैं।'[४] इसी दृष्टिकोण से श्री रामदहिन मिश्र ने परंपरागत शारीरिक अवस्थारूप अनेक संचारियों को मनोभाव रूप या चित्तवृत्ति रूप ही सिद्ध किया है। मरण, श्रम, निद्रा आदि शारीरिक अवस्थारूप संचारियों के मूल में भी इन्होंने मनोभाव की ही स्थिति स्वीकार की है।[५] श्री रामदहिन मिश्र ने भरत के व्यापक 'भाव स्वरूप' को दृष्टिगत नहीं रखा है, परिणामत: अभिनव गुप्त आदि आचार्यों के अनुसार भाव का चित्तवृत्तिरूप[६] अर्थ ग्रहण करके संचारियों को भी मनोभावात्मक ही मान लिया है। डा० नगेन्द्र ने 'भाव' को मूलत: मनोभाव रूप ही माना है, अत: इन्होंने संचारियों को भी 'मनोविकार का पर्याय' सिद्ध किया है।[७] इनके मत में परंपरागत तैंतीस संचारियों में से उन संचारियों को निकालना आवश्यक है जो मुख्यत: शरीर के धर्म हैं।[८]

इस प्रकार हिन्दी के आधुनिक समीक्षकों में संचारीभावों के स्वरूप के विषय में दो भिन्न-भिन्न मत दृष्टिगोचर होते हैं। एक मतानुसार संचारी भाव का स्वरूप एकांतत: मनोभावात्मक नहीं है, वरन् संचारी से तात्पर्य रस या स्थायी भाव की परिपोषक वृत्तियों या स्थितियों से हैं। इसमें शारीरिक, बौद्धिक और मानसिक सभी अवस्थाओं का समावेश हो जाता है। दूसरे मतानुसार संचारी-

---

१. वाङ्मयविमर्श, पृ० १४८।
२. वही, पृ० १४८।
३. काव्यदर्पण, पृ० ८०।
४. वही, पृ० ६७।
५. वही, पृ० ८३।
६. दे० भाव स्वरूप प्रकरण।
७. रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ८१।
८. वही, पृ० ८२।

भाव का स्वरूप मनोभावात्मक है, चित्तवृत्ति रूप है। किन्तु इस मत के समर्थकों का परंपरागत तैंतीस संचारियों के प्रति भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण है। कतिपय ने सभी संचारियों को चाहे वे शारीरिक अवस्थारूप हैं, चाहे वे बौद्धिक अवस्था रूप हैं, मनोभावात्मक या चित्तवृत्ति रूप ही मान लिया है, तो कतिपय ने शारीरिक अवस्था रूप संचारियों को संचारी-वर्ग से पृथक् कर देना उपयुक्त माना है।

हिन्दी के समीक्षकों की भाँति मराठी-समीक्षकों में भी संचारी के स्वरूप के विषय में मतैक्य नहीं है। डा० के० ना० वाटवे ने मानसशास्त्र का आधार लेकर 'भाव' को 'मनोविकार' स्वरूप प्रतिपादित किया है अतः संचारी भावों को भी इन्होंने 'भावना स्वरूप' ही सिद्ध किया है। इसी कारण इन्होंने परंपरागत तैंतीस व्यभिचारी भावों की सूची को दोषपूर्ण माना है। क्योंकि इनमें सभी संचारी भाव भावना रूप नहीं हैं। 'इनमें कतिपय शारीरिक अवस्थाएँ हैं, कतिपय भावनाओं की तीव्रता के दर्शक प्रकार हैं, कतिपय प्राथमिक, कतिपय संमिश्र तो कतिपय ज्ञानात्मक अवस्थाएँ हैं।'[1] मानसशास्त्र की दृष्टि से डा० वाटवे ने स्थायीभाव को 'स्थिरवृत्ति' (सेंटिमेंट) रूप सिद्ध किया है, अतः संचारी भाव को इन्होंने 'साधित भावना' (डिराइव्ड इमोशन) का प्रतिरूप माना है। इसलिए इन्होंने परंपरागत संचारियों में से शारीरिक, और बौद्धिक अवस्था रूप अनेक संचारियों के पृथक् अस्तित्व का प्रत्याख्यान किया है और मनोभावात्मक— औत्सुक्य, दैन्य, विषाद, हर्ष, धृति, चिंता, निर्वेद आदि को ही संचारीभाव मानने पर विशेष बल दिया है।[2] इनके मत में 'भरत आदि आचार्यों ने काव्यगत पात्रों की मनःस्थिति में और तज्जन्य शरीर-व्यापार में अनेक बौद्धिक, भावनात्मक और शारीरिक परिवर्तनों को जब संलग्न देखा तब उन सब का व्यभिचारी भावों में ही समावेश कर दिया। इन्होंने मानस व्यापारगत बौद्धिक और भावनात्मक भेद को और देहव्यापारगत मानस और शरीर के भेद को स्पष्ट नहीं किया। क्योंकि प्राचीन काल में शरीर और मन के परस्पर सम्बन्ध का ज्ञान इतना स्पष्ट नहीं हो सका था।'[3] डा० वाटवे के प्रस्तुत दृष्टिकोण को प्रा० रा० श्री० जोग ने पूर्णरूप से स्वीकार नहीं किया है। इनके मत में संचारीभावों में शारीरिक अवस्थाओं का अन्तर्भाव सदोष नहीं है। 'संचारी भावों की सूची में एक

---

१. रसविमर्श, पृ० १२८।
२. वही, पृ० १३१।
३. रसविमर्श, पृ० ३१।

बात स्पष्ट हो जाती है कि संस्कृत-साहित्यशास्त्रज्ञों ने मानस-सृष्टि ' का बहुत सूक्ष्म चिन्तन किया था। प्रमुख भावनाओं को स्थायी भावों में स्थान देने के उपरान्त उनकी दृष्टि इनके अतिरिक्त अन्य अनेक सूक्ष्म और 'तरल' भावनाओं तथा मानसावस्थाओं के अन्वेषण की ओर गई है। स्थायी या प्रमुख भावनाओं की तुलना में प्रस्तुत भावनाएँ यद्यपि सूक्ष्म और 'तरल' होती हैं तथापि इनके वर्णन के बिना मनोवस्था का सच्चा चित्र उतारा नहीं जा सकता। इस तथ्य को दृष्टिगत रख कर ही संस्कृत के आचार्यों ने संपूर्ण मानसावस्थाओं को एकत्रित करके व्यभिचारी भावों की सूची बनाई है। आधुनिक मानस शास्त्र में शारीरिक अवस्था का भी महत्वपूर्ण स्थान है। ग्लानि, मद, उन्माद, जड़ता आदि शारीरिक प्रतीत होने वाली अवस्थाओं को भी आचार्यों ने संचारीभावों में समाविष्ट कर दिया है। मानसशास्त्र की दृष्टि से विचार किया जाय तो उन आचार्यों की धारणाएँ उपयुक्त लगती हैं। क्योंकि आधुनिक मानसशात्र में चेतनावस्था (कान्शस) के साथ अवचेतनावस्था (अनकान्सश) को भी महत्व प्राप्त है। यदि इस दृष्टि से निद्रा, सुप्त, अपस्मार, मोह, प्रबोध आदि संचारियों पर विचार करें तो उनकी वास्तविकता सहज ध्यान में आ जाती है।[१] इस प्रकार इनके मत में जो संचारीभाव नितांत शारीरिक अवस्था रूप प्रतीत होते हैं उनके पीछे मनोभावों की स्थिति स्वीकार करना आवश्यक है।[२] अतः परंपरागत संचारियों में शारीरिक अवस्थाओं का अन्तर्भाव सदोष नहीं है क्योंकि उनकी पृष्ठभूमि में मनोभाव की स्थिति अनिवार्यतः होती है।

प्रा० द० के० केळकर के मत में स्थायी भाव और संचारीभाव की व्यावर्तक कसौटी मानसशास्त्र प्रस्तुत नहीं कर सकता। भारतीय रस-परंपरा में ही स्थायी और संचारी के पृथक्-पृथक् स्वरूप को समझना चाहिए। जो भाव अत्यन्त उत्कटरूप में काव्य में अभिव्यक्त हुए हैं तथा जिन्हें सहृदय पाठक बार-बार मन में आवृत्त करना चाहता है, जिनका आस्वाद लेना चाहता है, वे ही स्थायी हैं, तदितर भाव संचारी हैं। जिनका 'स्थायी-भाव और व्यभिचारी भावों का 'व्यवच्छेदक' तत्व आस्वाद्यमानता और उत्कटता ही है।'[३] सामान्यतः प्रा० द० के० केळकर के मत में संचारी

---

१. अभिनव काव्य प्रकाश, पृ० १२१।
२. वही पृ० १२१।
३. काव्यालोचन, प० १४२।

भावों का स्वरूप 'मनोवृत्ति' रूप ही है।[1] स्थायी भाव के स्वरूप-निर्धारण में प्रस्तुत कसौटियाँ संचारियों पर भी घट जाती हैं। रति, शोक आदि स्थायीभाव जन्मजात होते हैं अतः यदि इसी कारण इन्हें संचारियों से पृथक् समझा जाय तो संचारियों में भी अनेक भाव ऐसे हैं जिन्हें जन्मजात सिद्ध किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, 'उत्सुकता' संचारी को आधुनिक मानसशास्त्र 'औत्सुक्य सहज प्रवृत्ति' (क्यूरियोसिटि इन्स्टिक्ट) मानता है। सार्वत्रिकता की कसौटी भी स्थायीभाव और संचारीभाव दोनों पर समान रूप से अभिघटित होती है। हर्ष, स्मृति, व्रीड़ा, मोह, दैन्य, मद, गर्व, असूया, आलस्य, औत्सुक्य आदि 'मनोवृत्तियों' का मनुष्य को थोड़ा-बहुत अनुभव होता ही है। ग्लानि, आलस्य आदि मनोवृत्तियों को रसमूलक स्थायीभाव का स्वरूप इसलिए प्राप्त नहीं हो सकता क्योंकि उनमें 'आनंदाकुरत्व' और 'उत्कटत्व' की स्थिति नहीं आ सकती।[2] इस प्रकार प्रा० द० के० केळकर 'आनंदाकुरत्व हीन' तथा 'उत्कटत्वहीन' स्थायी-इतर मनोवृत्तियों को संचारीभाव मानते हैं। शारीरिक अवस्था रूप संचारियों को मनोवृत्ति रूप कैसे मान लिया जाय, इसकी समीक्षा इन्होंने नहीं की।

वस्तुतः परंपरागत सभी संचारियों को मनोभाव या चित्तवृत्ति रूप मानकर स्थायीभावों से इन्हें पृथक् करने की व्यावर्तक कसौटी ढूँढ निकालना कठिन है। जन्मजातता, सार्वत्रिकता, उत्कटता, आस्वाद्यमानता आदि तत्व स्थायी भावों पर जहाँ घटते हैं वहाँ अनेक संचारीभावों पर भी लागू हो सकते हैं। जिस प्रकार अपरिपुष्ट स्थायीभाव संचारीभाव बन सकता है, उसी प्रकार अनेक परिपुष्ट संचारी भाव भी स्थायी भाव बन सकते हैं। सामान्यतः जिन संचारी भावों का स्वरूप शारीरिक अथवा बौद्धिक अवस्था रूप है, मनोभावात्मक नहीं है, वे संचारीभाव सर्वत्र संचारी ही बने रहेंगे। क्योंकि उनमें भावनोत्कटता के अभाव से स्थायित्व की स्थिति पूर्ण रूप से नहीं आ सकती। उदाहरणार्थ, श्रम, आलस्य, ग्लानि, मद आदि शारीरिक अवस्थारूप संचारीभावों में तथा स्मृति, वितर्क, मति आदि बौद्धिक अवस्थारूप संचारियों में भावनातत्व का असंदिग्ध रूप से अभाव है। साहित्य में इनका वर्णन प्रायः अन्य भावों की परिपुष्टि के लिए आता है। परन्तु इनके अतिरिक्त अन्य मनोभावप्रधान संचारियों में से किसी संचारी भाव को यदि किसी समर्थ साहित्यकार द्वारा उत्कट या परिपुष्ट रूप प्रदान किया जाता है तो उसे स्थायित्व की संज्ञा प्रदान करने में परंपरागत

---

१. काव्यालोचन, पृ० १४२।
२. वही, पृ० १४२।

तैंतीस संचारी-संख्या बाधक नहीं बननी चाहिए। इसीलिए हिन्दी-मराठी के कई समीक्षकों ने परंपरागत संचारी भावों में से कतिपय में रस-परिणति की क्षमता का समर्थन किया है,[1] जो उपयुक्त है।

सामान्यतः प्राचीन आचार्यों की संचारी-विषयक मान्यताएँ असंगत नहीं हैं। उनका आधार तत्कालीन काव्य-साहित्य रहा है। उन्होंने संचरणशील, अस्थिर या अपरिपुष्ट भावों को संचारी की संज्ञा दी है, और इनमें शारीरिक, बौद्धिक तथा भावनात्मक तत्वों का न्यूनाधिक रूप में समावेश किया है। भरत-मुनि के समय 'निर्वेद' संचारीभाव का परिपुष्ट या उत्कट रूप नहीं मिलता था। संभवतः इसी कारण निर्वेद स्थायी पर आधृत शान्त रस को भरत-निरूपित आठ रसों में स्थान नहीं मिला है। भरत के अनुसार 'निर्वेद' संचारीभाव मात्र है। कालान्तर में 'निर्वेद' भाव का परिपुष्ट चित्रण काव्य में उपलब्ध होने लगा, परिणामतः निर्वेद संचारी को स्थायी भाव की संज्ञा प्राप्त हुई और इसी के आधार पर शान्त रस की प्रतिष्ठापना की गई।[2]

भरतमुनि का दृष्टिकोण रंगमंचीय रहा है अतः इनके व्यभिचारी भावों को न तो आधुनिक मानसशास्त्रीय मनोविकार स्वरूप सिद्ध करना संगत है और न भरतोत्तर आचार्यों द्वारा प्रतिपादित मनोभाव या चित्तवृत्ति स्वरूप ही। व्यभिचारी भावों के स्वरूप-प्रतिपादन में मूलतः भरतमुनि का दृष्टिकोण समझना आवश्यक है। इस दिशा में श्री दि० के० बेडेकर ने स्वल्प अध्ययन किया है। इनके मत में व्यभिचारी भावों की सूची को अपूर्ण और सदोष सिद्ध करने का आधुनिक समीक्षकों का प्रयास अनुपयुक्त है। उदाहरणार्थ 'मरण' व्यभिचारी भाव 'नाट्यभाव' मात्र है, वह वास्तविक मृत्यु रूप शारीरिक अवस्था नहीं है। इसमें समानता की बात इतनी ही है कि यह लौकिक शारीरिक अवस्था के समानांतर है।'[3] अतः श्री बेडेकर के मत में सभी व्यभिचारी भाव नाट्यधर्मी पदार्थ हैं, इन्हें वास्तविक लोकधर्मी भाव 'समझना' असंगत है।

संक्षेपतः भरतमुनि-निरूपित संचारीभावों का स्वरूप केवल मनोभावात्मक नहीं है। इनमें कतिपय बौद्धिक अवस्थाएँ हैं तो कतिपय शारीरिक अवस्थाएं। इनके अतिरिक्त जो मनोभावात्मक संचारीभाव हैं, उनमें स्थायित्व की शक्ति आ सकती है। सामान्यतः जब तक प्रस्तुत तीनों प्रकार के—बौद्धिक, शारीरिक

---

१. दे० स्थायी भाव का स्वरूप, इसी शोध-प्रबन्ध में।

२. दे० अभिनव भारती, प्रथम, संस्करण, पृ० २६९-७०।

३. रस-सिद्धान्ताचे स्वरूप, नवभारत, नवम्बर-दिसम्बर १९५०।

और भावनात्मक–संचारी किसी अन्य भाव की परिपुष्टि के लिए काव्य में वर्णित होते हैं, तब तक उनका स्वरूप संचारी रूप ही बना रहेगा। नाट्यशास्त्र की दृष्टि से प्रस्तुत तैंतीस व्यभिचारी भाव 'नाट्यधर्मी' पदार्थ हैं। इनमें निहित शारीरिक और बौद्धिक अवस्थारूप संचारियों का भी अपना महत्व है। ये सभी रस-निष्पत्ति के सहायक तत्त्व हैं, अतः इनमें से शारीरिक, बौद्धिक अवस्था रूप संचारियों का पृथक्करण, मूलतः भरतमुनि के दृष्टिकोण के प्रतिकूल होगा।

नवीन संचारीभावों का उद्‌भावन

संस्कृतसाहित्यशास्त्र में रसावयवों के नवीन उद्‌भावन-वर्गीकरण में 'आप्तप्रमाण' या मुनिवचन के पालन का नियम कुछ सीमा तक बाधक रहा है। फिर भी लगभग दो हज़ार वर्ष के संस्कृत-साहित्यशास्त्र के इतिहास में परंपराभिन्न चिन्तन करने वाले आचार्यों का एकांत अभाव नहीं है। यद्यपि भरतमुनि-प्रतिपादित तैंतीस संचारी-संख्या के नियमन का जगन्नाथ तक के आचार्यों ने प्रयत्न किया ही है तथापि कतिपय नवीन संचारियों का उद्‌भावन अवरुद्ध नहीं हुआ। इनमें उल्लेखनीय नवीन संचारियों के नाम इस प्रकार हैं—ईर्ष्या, शम, स्नेह (भोज), दम्भ, उद्वेग, क्षुत्तृष्णा, (हेमचन्द्र) शौच (सागरनन्दी), छल (भानुदत्त)[1] मात्सर्य, विवेक, निर्णय, क्लैव्य, क्षमा, कुतुक, उत्कण्ठा, विनय, संशय, धार्ष्ट्र्य (जगन्नाथ) आदि।[2]

संस्कृत के अनेक आचार्यों ने इन नवीन प्रतीत होने वाले संचारी भावों को परंपरागत तैंतीस संचारियों में ही अन्तर्भूत भी कर दिया है:—

ईर्ष्या का अमर्ष में (जगन्नाथ), दम्भ का अवहित्थ में (हेमचन्द्र, और जगन्नाथ), उद्वेग का निर्वेद में (हेमचन्द्र) या त्रास में (जगन्नाथ), क्षुत्तृष्णा का ग्लानि में (हेमचन्द्र), छल का अवहित्थ में (भानुदत्त), मात्सर्य का असूया में (जगन्नाथ), विवेक और निर्णय का मति में (जगन्नाथ), क्लैव्य का दैन्य में (जगन्नाथ) क्षमा का धृति में (जगन्नाथ), कुतुक और उत्कण्ठा का औत्सुक्य में (जगन्नाथ), अन्तर्भाव माना गया है।[3] शेष नवोद्‌भावित संचारी भाव रहते हैं—शम, स्नेह और शौच। निर्वेद स्थायी भाव में शम का और रति स्थायी में स्नेह का अन्तर्भाव हो सकता है। इस प्रकार अधिकांश नवोद्‌भावित संचारियों

---

१. दे० हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ७८२।
२. रसगंगाधर, पृ० ११८।
३. दे० हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ७८२-८३ तथा रसगंगाधर, पृ० ११८।

को परंपरागत संचारियों में ही अन्तर्भूत दिखाया जा सकता है और आचार्य जगन्नाथ के मतानुसार मुनिवचनों के परिपालन न करने की 'उच्छृंखलता' से बचा जा सकता है ![१]

हिन्दी-मराठी के आधुनिक कतिपय समीक्षकों को परंपरा के एकांत पालन की प्रवृत्ति अनुपयुक्त प्रतीत हुई । फलतः इन्होंने परंपरा-भिन्न अनेक नवीन संचारियों का उद्भावन किया है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आशा, निराशा, विस्मृति, संतोष, असन्तोष, पटुता, मृदुलता, अधैर्य आदि भावों के संचारित्व का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया है ।[२] इनके अतिरिक्त इन्होंने चकपकाहट, उदासीनता, क्षोभ, और अनिश्चय का भी संचारीभाव के रूप में उल्लेख किया है ।[३] यद्यपि पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने शुक्ल जी के समान नवीन संचारियों का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन नहीं किया है तथापि इन्होंने दया, दाक्षिण्य उदासीनता आदि भावों के संचारित्व की संभावना व्यक्त की है ।[४] इनमें उदासीनता को शुक्ल जी ने भी संचारीभाव माना है । इसी परंपरा में पं० रामदहिन मिश्र ने 'सरलता' नामक नवीन संचारी का उद्भावन किया है ।[५] इस प्रकार हिन्दी के आधुनिक समीक्षकों ने अनेक परंपरा-भिन्न नवीन संचारियों के उद्भावन का प्रयत्न किया है ।

मराठी के काव्यशास्त्रज्ञों में डा० के० ना० वाटवे ने आशा निराशा, पश्चात्ताप, आश्चर्य और विश्वास इन पाँच नवीन संचारी भावों की खोज की है ।[६] इनकी नवीनता और उपयुक्तता का समर्थन प्रा० रा० श्री० जोग ने भी किया है और परंपरागत तैंतीस संचारी भावों में इन्हें समाविष्ट कर लेने का सुझाव दिया है ।[७]

हिन्दी-मराठी के समीक्षकों द्वारा आविष्कृत इन नवीन संचारियों में से अनेक का परंपरागत संचारियों में अन्तर्भाव दिखाना कठिन नहीं है । क्योंकि

---

१. रसगंगाधर, पृ० ११८ ।
२. रसमीमांसा, पृ० २०७-३१ ।
३. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १०७ ।
४. वाङ्मयविमर्श, पृ० १४७ ।
५. काव्यदर्पण, पृ० ९१ ।
६. रसविमर्श, पृ० १२९ ।
७. अभिनव काव्य प्रकाश, पृ० १०१ ।

भरतमुनि-प्रतिपादित संचारी-संख्या पर्याप्त समृद्ध है और इनके परवर्ती आचार्यों ने भी नवीन संचारियों की उद्भावनाएँ की हैं। शुक्लजी प्रतिपादित चकपकाहट का आवेग में, उदासीनता का निर्वेद में और अनिश्चय का शंका में लक्षणों की समता के कारण अन्तर्भाव मान लेना असंगत नहीं होगा।[१] क्षोभ और अधैर्य का उद्वेग या त्रास से, आश्चर्य का कुतुक-उत्कण्ठा और औत्सुक्य से, संतोष का धृति से, असंतोष का वितर्क से, मृदुता का विनय से, पटुता का चलपता से, विश्वास का मति से तथा पश्चात्ताप का ग्लानि से किंचित् साम्य दिखाया जा सकता है, वस्तुतः प्रस्तुत अन्तर्भाव की प्रवृत्ति विशेष उपादेय नहीं है। सूक्ष्मदृष्टि से देखें तो अनेक नवीन उद्भावित संचारी भाव अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखते हैं। इस दृष्टि से आधुनिक समीक्षकों का परंपरा-भिन्न चिंतन स्तुत्य है। आधुनिक समीक्षक शारीरिक तथा बौद्धिक अवस्थारूप संचारियों की नवीन खोज की अपेक्षा मनोभावात्मक संचारियों के अन्वेषण में ही अधिक सजग रहे हैं। इसका कारण स्पष्ट है कि अधिकांश समीक्षकों ने संचारी भावों को मनोभाव स्वरूप ही माना है।

संचारी भावों का वर्गीकरण

संस्कृत-आचार्यों की अपेक्षा हिन्दी-मराठी के आधुनिक समीक्षकों ने संचारी भावों का वर्गीकरण-विश्लेषण अधिक सूक्ष्म और वैज्ञानिक पद्धति से किया है। आचार्य शुक्ल ने परंपरागत तैंतीस संचारी भावों को पाँच वर्गों में विभक्त किया है और नवोद्भावित संचारियों का अन्तर्भाव भी इन्हीं वर्गों में दिखाया है। इनके पाँच वर्ग और तद्गत संचारीभाव इस प्रकार हैं—

१. स्वतंत्र विषययुक्त भाव : (३) गर्व, लज्जा, असूया।

प्रस्तुत तीनों संचारी भाव मनोविकार हैं। इनके विषय प्रधान भाव के आलंबन से स्वतंत्र हो सकते हैं। इनमें कारणों की ओर विशेष ध्यान जाता है आलंबन की ओर नहीं। क्योंकि इन संचारियों के कारण विषयगत नहीं होते बल्कि आश्रयगत होते हैं।[२]

२. मन के वेग (७) आवेग, अमर्ष, अवहित्था, औत्सुक्य, त्रास, हर्ष और विषाद।

ये संचारी स्वतंत्र रूप से बहुत कम आते हैं। प्रायः किसी भाव के कारण उत्पन्न हो कर उसी के अन्तर्गत, उद्भूत और विलीन हो जाते हैं। जैसे, भय,

---

१. काव्यदर्पण, पृ० ९० ।

२. रसमीमांसा, पृ० २०७ ।

आश्चर्य, हर्ष आदि के कारण आवेग, लज्जा के कारण अवहित्था, रति के कारण औत्सुक्य, शोक, दुःख आदि के कारण ग्लानि आदि साथ-साथ उत्पन्न होते हैं। अतः शुक्ल जी ने इन्हें मनोवेग के अन्तर्गत रखा है।[1]

३. अंतःकरण वृत्तियाँ : परंपरागत--(५) शंका, स्मृति, मति, वितर्क और चिन्ता
नवीन उद्भावित--(३) आशा, निराशा, और विस्मृति।

डा० वाटवे की भाँति आचार्य शुक्ल ने भी शंका, स्मृति, मति आदि इन पाँचों अंतःकरणवृत्तियों को धारणा या बुद्धि के व्यापार-स्वरूप ही माना है।[2] इनके मत में काव्य में इनका ग्रहण वहीं तक समझना चाहिए जहाँ तक वे प्रत्यक्ष रूप से भावों के द्वारा प्रेरित प्रतीत हों। अन्यथा 'यों ही प्रसंग आने पर कोई बात सोचने लगना या किसी बात का स्मरण करना काव्य-भावान्तर्गत न होगा।'[3]

४. मानसिक अवस्थाएँ : परंपरागत (१२) दैन्य, मद, जडता, उग्रता, मोह, स्वप्न, अलसता, उन्माद, चपलता, निर्वेद, धैर्य और ग्लानि।
नवीन उद्भावित (४) मृदुलता, संतोष, असंतोष और अधैर्य।
अस्वीकृत (१) अलसता।

शुक्ल जी ने इस वर्ग के पुनः दो उपवर्ग बनाये हैं--(क) प्रकृति- गत और (ख) आगन्तुक। आगन्तुक संचारी भाव वे कहलायेंगे जो किसी भाव के कारण प्रकट होते हुए स्पष्टतः दिखाई दें। जैसे, भय के कारण दैन्य संचारी उत्पन्न होता है।[4] स्वतंत्र होने पर ये मानसिक अवस्थायें प्रकृतिस्थ होकर शील का रूप ग्रहण कर लेती हैं। अतः प्रकृतिगत संचारियों से विभिन्न पात्रों के चरित्र-चित्रण में सहायता मिलती है। जैसे, दुष्ट की उग्रता, बालकों की चपलता, ज्ञानियों की धीरता आदि उनके प्रकृतिगत भाव हैं।

५. शारीरिक अवस्थाएँ : परंपरागत (६) श्रम, अपस्मार, मरण, निद्रा, विबोध और व्याधि।

इस वर्ग में शुक्ल जी ने किसी नवीन संचारी भाव की उद्भावना नहीं की है। डा० वाटवे ने इस वर्गगत संचारियों को शारीरिक अवस्थारूप मानकर इनको अलग कर देना आवश्यक समझा है। शुक्ल जी के मत में भी 'जो शारीरिक अवस्था

---

१. रसमीमांसा, पृ० २०८-१०।
२. वही, पृ० २११।
३. वही, पृ० २१३।
४. वही, पृ० २१७।

भाव के प्रभाव से उपस्थित नहीं हुई यों ही किसी अन्य प्राकृतिक कारणों से उपस्थित हुई है, उसे भाव के संचारियों में नहीं लेना चाहिए।[1]

इस वर्गीकरण के अतिरिक्त आचार्य शुक्ल ने विरोध तथा अविरोध के विचार से भी संचारियों को चार वर्गों में विभक्त किया है। इन्होंने चार वर्गों और तद्गत संचारियों का विभाजन इस प्रकार से किया है :—

१. सुखात्मक वर्ग (९) गर्व, औत्सुक्य, हर्ष, आशा, मद, संतोष आदि।
२. दुःखात्मक वर्ग (१८) लज्जा, असूया, अमर्ष, अवहित्था, त्रास आदि।
३. उभयात्मक वर्ग (७) आवेग, स्मृति, विस्मृति, दैन्य, जड़ता आदि।
४. उदासीन वर्ग (५) वितर्क, मति, श्रम, निद्रा और विबोध।[2]

शुक्ल जी के मत में सुखात्मक भाव के साथ सुखात्मक संचारी तथा दुःखात्मक भाव के साथ दुःखात्मक संचारी अविरुद्ध कहलायेंगे। इसके विपरीत यदि दुःखात्मक भाव के साथ सुखात्मक और सुखात्मक भाव के साथ दुःखात्मक संचारी आयेंगे तो विरुद्ध संचारी कहलायेंगे। उभयात्मक वर्ग के संचारी सुखात्मक तथा दुःखात्मक भी हो सकते हैं। जैसे, आवेग संचारी हर्ष में भी होता है और 'भय' में भी।[3] संचारियों के चौथे वर्ग 'उदासीनता' की विशेषताओं तथा उसके पृथक् वर्गीकरण की आवश्यकताओं का शुक्ल जी ने विवेचन नहीं किया है। इस वर्ग के पाँच संचारी-भावों में से मति और वितर्क ज्ञानात्मक या बौद्धिक अवस्थाएँ हैं और शेष तीनों—श्रम, निद्रा और विबोध शारीरिक अवस्थाएँ हैं। इतर ज्ञानात्मक या बौद्धिक अवस्थारूप संचारियों के साथ मति और वितर्क का भी उसी वर्ग में अन्तर्भाव हो सकता है। जैसे, स्मृति, विस्मृति उभयात्मक वर्ग में रखे गये हैं उसी प्रकार उदासीन वर्ग के मति, और वितर्क को भी इसी वर्ग में स्थान दिया जा सकता है। शेष श्रम, निद्रा और विबोध को भी उभयात्मक वर्ग में ही समाविष्ट करने में किसी प्रकार की असंगति प्रतीत नहीं होती, क्योंकि इनका भी अंतिम साध्य सुखात्मक या दुःखात्मक भाव की व्यंजना करना ही तो है। अतः संचारियों का पृथक् 'उदासीन' वर्ग बनाना विशेष उपादेय प्रतीत नहीं होता।

शुक्ल जी के समान डा० के० ना० वाटवे ने भी संचारियों के व्यापक वर्गीकरण का प्रयत्न किया है। इन्होंने अपने वर्गीकरण में मानसशास्त्र की प्राथमिक, संमिश्र तथा साधित भावनाओं की वर्गीकरण की प्रणाली को आधार

---

१. **रसमीमांसा, पृ० २२९।**
२. **वही पृ० २००।**
३. **वही पृ० २००।**

बनाया है। इन्होंने प्रमुख छः वर्गों में विभिन्न संचारियों का इस प्रकार से विभाजन किया है :

(१) शारीरिक अवस्था (Physical or organic status) के प्रदर्शक—
१. ग्लानि, २. मद, ३. श्रम, ४. आलस्य, ५. जड़ता, ६. मोह, ७. निद्रा, ८. अपस्मार, ९. सुप्त, १०. प्रबोध, ११. व्याधि, १२. उन्माद और १३. मरण।

(२) भावनाओं की तीव्रता के दर्शक (Intensity of Emotion)—
१. चपलता, २. आवेग और ३. उग्रता।

(३) प्राथमिक भावना—
१. शंका, २. अमर्ष, ३. त्रास और ४. गर्व।

डा० वाटवे के मत में इस वर्ग के संचारी पर्याय भेद से स्थायी भाव ही होते हैं। शंका या त्रास का अर्थ ही 'भय' है। इनमें अधिक से अधिक अंतर यही है कि एक में प्रत्यक्ष विषय से 'भय' उत्पन्न होता है तो दूसरे में चिन्तन से। अमर्ष का अर्थ क्रोध है। गर्व तो मानसशास्त्र की मूल प्रवृत्ति 'आत्मप्रकाशन' (Assertion) की सहचर भावना है।[1]

(४) संमिश्रभावना (Blended)—१. व्रीडा और २. असूया।

(५) ज्ञानात्मक मनोवस्था (Cognative Mental condition)—
१. मति, २. वितर्क, ३. अवहित्थ, ४. स्मृति, ५. मति (Belief), ६. वितर्क

(६) साधित भावना (Derieved)—१. औत्सुक्य, २. दैन्य, ३. विषाद, ४. हर्ष, ५. धृति, ६. चिंता और ७. निर्वेद।

डा० वाटवे के मत में प्रस्तुत साधित भावनाएँ ही वास्तविक व्यभिचारी भाव हैं।[2] परंपरागत संचारीभावों की सूची में पुनरुक्ति, अपूर्णता और परंपरा-पालन का दोष दिखाई देता है।

१. पुनरुक्ति दोष—
दैन्य-विषाद-निर्वेद, शंका और त्रास तथा हर्ष और धृति में अधिक अंतर नहीं है।

२. अपूर्णता दोष—
पूर्वोक्त साधित भावनाओं से सम्बद्ध संचारियों में आशा, निराशा, पश्चा-

---

१. **रसविमर्श, पृ० १२९।**
२. **रसविमर्श, पृ० १२९।**

त्ताप, आश्चर्य, विश्वास आदि कतिपय अन्य भावनाओं का समावेश अपेक्षित है।

३. परंपरापालन—

संचारीभावों की सूची में परंपरा का यथावत् अनुसरण करने की अपेक्षा उसका सूक्ष्म परीक्षण आवश्यक था। परन्तु संस्कृत के आचार्यों ने इस ओर ध्यान नहीं दिया। परंपरा का पालन करने के लिए ही जगन्नाथ ने "मरण' का अर्थ मरण से पूर्व की मनोवस्था प्रतिपादित की है और मरण के संचारित्व का समर्थन किया है। वस्तुतः मृत्यु से पूर्व सुख, दुःख, आशा, निराशा, आदि में से कोई भी भावना संभव है, यही स्थिति सुप्त अर्थात् स्वप्नानुभव की है।[१] श्रम, और जड़ता तो शारीरिक अवस्थाएँ मात्र हैं। श्रम (Fatigue) में 'कार्बन डायाक्साइड' और 'लक्टिक एसिड' इन दो 'क्षारपदार्थों' का संचय स्नायु और रक्त में होता है, अतः इन्हें भावना की अपेक्षा शारीरिक अवस्थाएँ कहना ही उपयुक्त है।[२] इसी प्रकार स्मृति, मति, तथा अवहित्था को बौद्धिक व्यापार मान कर डा० वाटवे ने इन्हें संचारी वर्ग में स्थान देना अनुपयुक्त माना है।[३]

यद्यपि प्रा० रा० श्री० जोग ने संचारीभावों का नवीन वर्गीकरण प्रस्तुत नहीं किया है, फिर भी इन्होंने परंपरागत ३३ संचारियों में से शारीरिक अवस्था रूप संचारियों के बहिष्कार का समर्थन नहीं किया है।[४] इसी प्रकार श्री दि० के० बेडेकर ने भी परंपरागत ३३ संचारी भावों की सूची को सदोष नहीं माना है, क्योंकि इनके मत में भरत-प्रतिपादित व्यभिचारी भाव मूलतः नाटचधर्मी पदार्थ हैं। इन्होंने ३३ संचारियों को तीन वर्गों में विभाजित किया है। इनका शारीरिक, ज्ञानात्मक और भावनात्मक वर्गीकरण करना इनके मत में इसलिए उपादेय है कि 'इन नाटचधर्मी पदार्थों का लौकिक पदार्थों से समानांतरता का स्पष्टीकरण मात्र हो सके।'[५]

इनके अनुसार तैंतीस व्यभिचारी भावों के तीन वर्ग इस प्रकार से बनाये जा सकते हैं :—

---

१. रसविमर्श, पृ० २२९।
२. वही, पृ० २२९।
३. वही, पृ० १२९-१३०।
४. अभिनव काव्यप्रकाश, पृ० १२१।
५. रससिद्धान्ताचे स्वरूप, नवभारत, दिसम्बर १९५०।

१. शारीरिक अवस्था के समानांतर व्यभिचारीभाव--मरण, व्याधि, ग्लानि, श्रम, आलस्य, निद्रा, स्वप्न, (सुप्ति), अपस्मार उन्माद, मद, मोह, जडता, चपलता और प्रबोध--१४ ।
२. ज्ञानात्मक मनोवस्था के समानांतर व्यभिचारी भाव--स्मृति, मति और वितर्क--३ ।
३. भावनात्मक मनोवस्था के समानांतर व्यभिचारीभाव--हर्ष, अमर्ष, धृति, उग्रता, आवेग, विषाद, निर्वेद, औत्सुक्य, चिंता, शंका, असूया, त्रास, गर्व, दैन्य, अवहित्थ और व्रीडा-१६ ।

श्री दि० के० बेडेकर ने परंपरागत संचारियों के बहिष्कार की अपेक्षा उनको यथावत् स्वीकार करके उनकी मूलभूत उत्पत्ति के कारणों को खोजने का प्रयत्न किया है । इनके मत में भरतमुनि ने नाट्यान्तर्गत विविध घटनाओं के अनुरूप ३३ व्यभिचारी भावों की गणना की है । विविध घटनाओं के अनुरूप तैंतीस व्यभिचारी भावों की संख्या बढ़ायी जा सकती थी । परन्तु नाट्च-परंपरा में ३३ संख्या को कुछ विशिष्ट पवित्रता प्राप्त रही है । प्राचीन साहित्य में भी ३३ संख्या का पर्याप्त प्रयोग हुआ है । ३३ करोड़ देवताओं के संकेत से तो सभी परिचित हैं । यद्यपि आज यह बताना कठिन है कि ३३ संख्या की निर्णायक कसौटी क्या थी, तथापि नाटच के 'यज्ञीय उद्‌गम' के निकट ही इसका अनुसन्धान करना अपेक्षित है ।[1]

इनके मत में पूर्वोक्त तीन वर्गों में विभाजित व्यभिचारी 'राम रावण युद्ध,' 'अमृतमंथन' आदि नाटचान्तर्गत घटनाओं से सम्बद्ध हैं । मरण, स्वप्न जैसी घटनाएँ, हर्ष, अमर्ष, व्रीडा इत्यादि भावनाएँ (आधुनिक अर्थ में) तथा स्मृति, वितर्क आदि बौद्धिक व्यापार, रामायण आदि नाटचकाव्यों में वर्णित ही हैं । इन सब की रसानुकूल सूची भरतमुनि ने 'व्यभिचारी भाव' नाम से प्रस्तुत की है ।[2]

तुलनात्मक निष्कर्ष

संचारीभाव का स्वरूप :

हिन्दी-मराठी के काव्यशास्त्रज्ञों ने संचारीभाव का स्वरूप दो रूपों में व्यक्त किया है : एक है मनोभाव या मनोविकारस्वरूप और दूसरा है रसोपकारक विभिन्न अवस्था स्वरूप । प्रथम प्रकार का संचारी भाव का स्वरूप परंपरागत सभी तैंतीस

---

१. **रसिद्धान्ताचे स्वरूप, नवभारत, दिसम्बर १९५० ।**
२. **वही ।**

संचारीभावों को मनोभाव या मनोविकार मानने के लिए बाध्य करता है। इस दृष्टिकोण को अपनाने से या तो सभी संचारीभावों को, जिनमें शारीरिक तथा बौद्धिक अवस्थाएँ भी अन्तर्भूत हैं——मनोभाव स्वरूप ही सिद्ध करना पड़ता है अथवा शारीरिक अवस्थारूप अनेक संचारियों को बहिष्कृत कर देने का सुझाव देना पड़ता है।

दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार रसोपकारक या भाव-परिपोषक सभी शारीरिक बौद्धिक तथा मनोभावात्मक अवस्थाएँ संचारी में अन्तर्भूत होंगी। क्योंकि इन सब से रस-परिपुष्टि होगी। यह दृष्टिकोण अधिक व्यापक प्रतीत होता है। प्रथम मत के समर्थकों में श्री रामदहिन मिश्र, डा० नगेन्द्र, डा० के० ना० वाटवे का नाम उल्लेखनीय है तो द्वितीय मत के समर्थकों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्रा० रा० श्री० जोग तथा श्री दि० के० बेडेकर का।

मनोभावरूप या मनोविकार स्वरूप संचारी भावों तथा स्थायीभावों की व्यावर्तक कसौटी निर्धारित करना कठिन है। प्रा० द० के० केळकर ने स्थायीभाव की निर्धारक कसौटियों——जन्मजातता, सार्वत्रिकता, उत्कटता——के आधार पर स्थायीभाव तथा संचारीभाव को पृथक् करने का प्रयत्न किया है, किन्तु ये कसौटियाँ दोनों के व्यावर्तन में असमर्थ सिद्ध हुई हैं। अतः इन्होंने 'आस्वाद्यमानता' और 'आनंदांकुरत्व' स्थायीभाव तथा संचारीभाव का व्यवच्छेदक तत्व माना है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी स्थायी और संचारी की व्यावर्त्तक कसौटी 'रस' ही मानी है।

वस्तुतः रस की कसौटी पर परंपरागत अनेक संचारी भावों को स्थायी भाव का स्वरूप प्राप्त हो सकता है। इसी कारण हिन्दी-मराठी के समीक्षकों ने परंपरागत कतिपय संचारी भावों में रस-परिणति की क्षमता स्वीकार की है। यदि संस्कृत आचार्यों के अनुसार स्थायी भाव संचारी भावों में बदल सकते हैं तो कतिपय मनोभावात्मक संचारियों की स्थायी भाव में परिणति स्वीकार करना असंगत नहीं है।

नवीन संचारीभावों का उद्भावन :

हिन्दी-मराठी के काव्यशास्त्रज्ञों ने परंपराभिन्न अनेक संचारियों का उद्भावन किया है। इनमें उल्लेखनीय संचारीभाव इस प्रकार हैं——आशा, निराशा, पश्चात्ताप, आश्चर्य, विश्वास, विस्मृति, संतोष, असन्तोष, पटुता, मृदुलता, चकपकाहट, उदासीनता, अनिश्चय, अधैर्य, दया, दाक्षिण्य, सरलता आदि।

यद्यपि इन नवोद्भावित संचारीभावों में से कतिपय का परंपरागत संचारी-भावों में ही अन्तर्भाव हो जाता है, तथापि कतिपय का नवोद्भावन असंदिग्ध है। इस दृष्टि से आधुनिक काव्यशास्त्रज्ञों का परंपराभिन्न चिंतन की ओर अग्रसर होना स्तुत्य है। आशा और निराशा के नवीन संचारित्व का आ० शुक्ल तथा डा० वाटवे ने समान रूप से समर्थन-प्रतिपादन किया है।

संचारीभावों का वर्गीकरण

संस्कृत-आचार्यों की अपेक्षा आधुनिक काव्यशास्त्रज्ञों ने संचारीभावों के वर्गीकरण-विश्लेषण का अधिक व्यापक प्रयत्न किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के संचारीवर्गीकरण के दो आधार हैं——१. मानसशास्त्र और २. रसशास्त्र। प्रथम आधार पर इन्होंने संचारियों को पाँच वर्गों में विभक्त किया है तो द्वितीय आधार पर चार वर्गों में। रस-शास्त्र पर आधृत संचारी-वर्गीकरण में मुख्य रूप से आठ रसों के दो वर्ग सुखात्मक और दुःखात्मक ग्रहण किये गये हैं। इन दोनों का सम-न्वित रूप ही उभयात्मक वर्ग है। शुक्ल जी की इन तीन वर्गों से भिन्न उदासीन वर्ग की कल्पना महत्वहीन प्रतीत होती है।

डा० के० ना० वाटवे ने मानसशास्त्र के भाव-वर्गीकरण का आधार लेकर संपूर्ण संचारीभावों को छः वर्गों में विभाजित किया है। इनके मत में 'साधित भावनात्मक' वर्ग में अन्तर्भूत संचारी भाव ही वास्तविक संचारी भाव कहलाने के अधिकारी हैं। किन्तु श्री दि० के० बेडेकर ने परंपरागत ३३ संचारियों को केवल तीन वर्गों——शारीरिक, ज्ञानात्मक और भावनात्मक——में ही विभाजित किया है और भरतमुनि-कालीन युगधर्म के अनुरूप ही संचारी-संख्या का परीक्षण उपादेय माना है।

सात्विक भाव

संस्कृत में 'सत्व' शब्द के विभिन्न अर्थ ग्रहण किये गये हैं। सात्विक भावों के स्वरूप-निर्धारण में भरतमुनि एवं परवर्ती आचार्यों की मान्यताओं में स्पष्टतः भिन्नता है। आधुनिक हिन्दी और मराठी के काव्यशास्त्रज्ञों ने सात्विक भावों के परंपरागत अर्थ का स्पष्टीकरण करने के साथ उसके मानसशास्त्रीय स्वरूप का भी निर्धारण किया है।

'सत्व' से सात्विक शब्द का निर्माण हुआ है। भरतमुनि ने 'सत्व' को 'मनः प्रभव' (मन से उत्पन्न) कहा है। मन की समाहित अवस्था के कारण सत्व कहा जाता है। जब मन भावों से एकाग्र हो जाता है, तभी सत्व की निष्पत्ति होती है।

रोमांच, अश्रु, वैवर्ण्य आदि उसके स्वभाव (बाह्य चिह्न) हैं, जो तदनुरूप मूल-भावों से उत्पन्न होते हैं।[1]

अनुभावों के सदृश सात्विक भावों के मूल में भी 'भाव' का आधार लगभग सभी संस्कृत-आचार्यों ने स्वीकार किया है। विश्वनाथ ने सत्व का अर्थ 'आन्तर-धर्म' किया है[2] तो भानुदत्त ने 'जीवच्छरीर' (सजीव शरीर)।[3] अनुभावों के मूल में भी 'भाव' अनिवार्य हैं और सात्विकों के भी मूल में। अनुभावों का स्वरूप बाह्य शारीरिक चेष्टात्मक है तो आठों सात्विकों का भी शारीरिक प्रतिक्रियात्मक ही है। दोनों ही काव्य या नाटक के अमूर्त रस को मूर्त रूप देते हैं, उसकी परि-पुष्टि करते हैं। दोनों की अभिव्यक्ति का माध्यम अभिनय है। इस प्रकार दोनों में पारस्परिक नितांत साम्य है। फिर भी आचार्यों ने 'अनुभाव' और सात्विक भावों की पारस्परिक स्वरूप-भिन्नता का अपनी-अपनी मान्यताओं के अनुरूप विवे-चन किया है---

१. विश्वनाथ---सत्व का अर्थ आंतरिक धर्म है, तज्जनित शारीरिक विकार सात्विक कहलाते हैं, परन्तु अनुभावों के लिए आंतरिक धर्म की अनिवार्यता नहीं है, अन्य अनेक अनुकूल कारणों से उनकी निष्पत्ति होती है।[४]

२. विद्याभूषण---स्तम्भ आदि सात्विक भाव अपने आप प्रकट होते हैं, तो स्मित आदि अनुभाव नट के लिए प्रयत्न-साध्य हैं।[५]

३. भानुदत्त---सात्विक भावों में शरीर की मूल संघटना में अंतर आ जाता है, जैसे स्वर-बदलना, रोमांच होना, पसीना आना इत्यादि। परन्तु अनुभावों में शारी-रिक अवयवों की चेष्टाएँ मात्र होती हैं।[६]

४. धनंजय---सत्व का अर्थ है भावना से समरस मन, सत्व से निर्वृत सात्विक अनुभाव कहलाते हैं, सत्व-इतर शारीरिक चेष्टाएँ 'अनुभाव' हैं।[७]

---

१. इह हि सत्वं नाम मनःप्रभवम्। तच्च समाहित मनस्त्वादुच्यते। मनसः समाधौ सत्वनिष्पत्तिर्भवति। तस्यच योऽसौ स्वभावो रोमाँचाश्रुवैवर्ण्यादिलक्षणो यथाभावोपगतः स न शक्योऽन्यमनसा कर्तुमिति। लोकस्वभावानु.... ना० शा० ७।१४७।

२. साहित्यदर्पण---३-१३४।

३. रसतरंगिणी, पृ० १४।

४. साहित्यदर्पण, २-१३४ (चौखम्बा सं० सीरिज)।

५. साहित्य कौमुदी, रसविमर्श, पृ० १०४ से उद्धृत।

६. रसतरंगिणी, पृ० १४।

७. दशरूपक---४-४, निर्णय सागर (१९१७)।

५. शारदातनय---सात्विक भाव और अनुभाव में अभिन्नता है, केवल पूर्व-परंपरा का पालन करने के लिए ही इनका पृथक्-पृथक् विवेचन किया जाता है।[१]

भरतमुनि से आचार्य जगन्नाथ तक लगभग सभी आचार्यों ने अनुभावों तथा सात्विकभावों का पृथक्-पृथक् विश्लेषण किया है। हिन्दी में संस्कृत के पूर्वोक्त आचार्यों की मान्यताओं का आधार ग्रहण कर सात्विकभावों के स्वरूप-निर्धारण का प्रयत्न किया गया है। डा० श्यामसुन्दर दास के मत में "यही अनुभाव (शारीरिक तथा मानसिक) जब मन की अत्यन्त विह्वलकारी दशा से उत्पन्न होते हैं, तब सात्विक अनुभाव कहलाते हैं।"[२] प्रस्तुत मान्यता भरतमुनि तथा धनंजय के सात्विक भाव के विवेचन से प्रभावित है। साहित्यकौमुदीकार की मान्यता के अनुरूप ही आचार्य शुक्ल तथा पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने सात्विक भावों का स्वरूप निर्धारित किया है। शुक्ल जी ने 'अयत्नज' और 'यत्नसाध्य' की अपेक्षा ऐच्छिक (Voluntory) और अनैच्छिक (Involuntory) शब्दों का प्रयोग किया है।[३] इनकी मान्यता में परंपरागत आठ सात्विकों में से 'प्रलय' को अनुभाव के अन्तर्गत ही स्थान दिया जाय, सात्विकों में नहीं। मानसिक अनुभावों को इन्होंने अनुभावों के अन्तर्गत समाविष्ट करना अनुपयुक्त ठहराया है, इनके मत में सम्पूर्ण कायिक अनुभाव (Voluntory) कहलायेंगे और शेष सात्विकभाव (Involuntory)।[४]

श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने सात्विक भाव के स्वरूप-विवेचन में साहित्य-कौमुदीकार की मान्यता के अनुरूप लिखा है: 'सात्विक अनुभाव वे हैं, जिन पर धारणकर्ता का कोई अधिकार नहीं होता। भावों के उदित होने से ये स्वतः उद्भूत हो जाते हैं।'[५] आचार्य शुक्ल और श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की मान्यताओं में अभिन्नता है। श्री रामदहिन मिश्र ने अनुभाव और सात्विक भाव के व्यावर्तक तत्वों का विवेचन नहीं किया है। इन्होंने भोज के सरस्वतीकण्ठाभरण तथा भानुदत्त की रसतरंगिणी से सात्विक की परिभाषाएँ उद्धृत की हैं। भोज के अनुसार सत्व का अर्थ रजोगुण और तमोगुण रहित मन है।[६] इसी आधार पर मिश्र जी ने

१. भावप्रकाश, र० विमर्श १०५ से उद्धृत।
२. साहित्यालोचन पृ० २२४।
३. रसमीमांसा, पृ० ४१७।
४. रसमीमाँसा, पृ० ४१६।
५. वाङ्मयविमर्श, पृ० १४५, प्र० सं० १९९९।
६. सरस्वती कण्ठाभरण, परिच्छेद, २०।

'सत्व' के योग से निर्मित भावों को सात्विक कहा है।[१] सात्विक भावों का आधार एकांततः 'सतोगुण' को ठहराना विशेष उपादेय नहीं लगता। काव्य का आधार सभी प्रकार की मानवीय भावनाओं पर निहित है। सात्विक भाव के स्वरूप-विश्लेषण में इन्हें 'भाव' की अपेक्षा 'शारीरिक विकार' स्वरूप प्रतिपादित करना अधिक संगत प्रतीत होता है। डा० गुलाबराय ने विश्वनाथ-निरूपित सात्विक भाव की परिभाषा का ही स्पष्टीकरण किया है। इनके मत में भी 'गोबलिवर्द' न्याय से ही अनुभावों से सात्विकों की पृथक् स्थिति का निरूपण किया जाता है, अन्यथा सात्विक भाव भी एक विशेष प्रकार के 'अनुभाव' ही हैं।[२]

डा० राकेशगुप्त ने भरत-निरूपित 'भाव' शब्द का एकांततः मनोभावात्मक अर्थ-ग्रहण करके 'सात्विक' के साथ 'भाव' शब्द का नियोजन अनुपयुक्त ठहराया है।[३] इनके मत में सात्विकों को भाव मानना असंगत है, इन्हें एक प्रकार के अनुभाव ही मानने चाहिएं।[४] वस्तुतः भरतमुनि का 'भाव' शब्द से आशय केवल मनोभाव नहीं था वरन् इनके 'भाव' शब्द में मानसिक, बौद्धिक तथा शारीरिक तत्वों का अन्तर्भाव है। इसका विस्तृत स्पष्टीकरण भावस्वरूप प्रकरण में किया जा चुका है। ऐसी स्थिति में 'भाव' का मनोभावात्मक अर्थ-ग्रहण करके भरतमुनि पर आक्षेप करना विशेष संगत प्रतीत नहीं होता।

भरतमुनि ने स्तम्भ, स्वेद, रोमाँच, स्वरसाद, वेपथु वैवर्ण्य, अश्रु, प्रलाप, इन आठ सात्विक भावों का निरूपण किया है।[५] भानुदत्त ने 'जृम्भा' नामक नौवाँ सात्विक भाव गिनाया है[६] तो किसी ने 'स्तन्यश्रव' को भी एकपृथक् सात्विक भाव माना है।[७] डा० राकेशगुप्त ने 'मुख का आरक्त होना' तथा 'नेत्रों का लाल हो जाना' इन दोनों को भी नवीन सात्विकों में गिनाया है।[८] डा० आनंदप्रकाश दीक्षित ने 'जृम्भा' को आलस्य का द्योतक अनुभाव माना है, पृथक् सात्विक भाव नहीं, और इन्होंने डा० राकेशगुप्त-निरूपित दोनों सात्विकों को अनुभाव के अन्तर्गत ही स्थान देना उपयुक्त ठहराया है।[९]

---

१. काव्यदर्पण, पृ० ५९।
२. सिद्धान्त और अध्ययन पृ० १२८।
३. Psychological Studies in Rasa. P. 156
४. Psychological Studios in Rase P. 157
५. ना० शास्त्र ६।२२।
६. रसतरंगिणी, पृ० ६६
७. Psychological Studies in Rasa P. 155
८. वही, पृ० १५७।
९. रस-सिद्धान्तः स्वरूप-विश्लेषण, पृ० ३४-३५।

मराठी में--

हिन्दी के समान सात्विक भावों के विवेचन-विश्लेषण का मूल आधार संस्कृत आचार्यों की मान्यताओं का ही रहा है। डा० वाटवे आदि ने मानसशास्त्र की कसौटी पर भी अनुभावों तथा सात्विक भावों के व्यावर्तक तत्व के अन्वेषण का प्रयत्न किया है। डा० वाटवे ने भरत, अभिनवगुप्त, विद्याभूषण, विश्वनाथ, भानुदत्त, शारदातनय, कुमारस्वामी आदि की सात्विकभाव से सम्बद्ध विशिष्ट मान्यताओं का उल्लेख किया है। इन्होंने 'संस्कृत ड्रामा' शीर्षक ग्रन्थ में उल्लिखित डा० कीथ के मत का विशेषतः समर्थन किया है : "कतिपय लेखक सात्विक भावों को मानसभाव के रूप में मान्यता देते हैं। उनकी धारणाओं को सत्य मानने पर भी जब तक सात्विक का अर्थ शरीर पर प्रकट होने वाले चिह्नों के रूप में लिया जाता है, तब तक उन्हें अनुभावों की पंक्ति में बिठाना ही उचित है। दोनों में यदि अंतर है तो वह परिमाण का ही है, प्रकारभिन्नता का नहीं है।"[१]

मानसशास्त्र का आधार लेकर डा० वाटवे ने अनुभाव तथा सात्विक के पारस्परिक अंतर का स्पष्टीकरण किया है। इनके मत में दोनों ही भावनाभिव्यंजक तत्व (Expressions of Emotions) हैं, भावनाएँ नहीं हैं। अधिक से अधिक दोनों में यही अंतर हो सकता है कि सात्विक भावों को भय, क्रोध, आनंद, दुःख आदि की अत्यन्त उत्कटावस्था को प्राप्त भावनाओं के अभिव्यंजक माना जाय तो दूसरी ओर जब ये ही भावनाएँ अधिक उत्कट न हों तब इनके कारण जो शारीरिक चेष्टाएँ होती हैं, उन्हें अनुभाव कहा जाय।[२] मनोभावों के बाह्य-अभिव्यंजकों में तीव्रता या शिथिलता आने में व्यक्ति की मानसिक स्थिति और भावनोद्दीपक वस्तुओं का विशेष हाथ होता है। उदाहरणार्थ, भय में उद्दीपक बस्तु बिछु, साँप, मगर या प्रत्यक्ष मृत्यु के आधार से व्यक्ति के मन में भय की भावना न्यूनाधिक रूप से व्यक्त होगी। इसी प्रकार भीरु व्यक्ति इन से अधिक भयभीत होगा और निर्भीक को भय की कम अनुभूति होगी। अतः स्वेद, रोमाँच तथा स्तम्भ को भय की उत्कटावस्था को प्राप्त 'अबुद्धिपूर्व' (Involuntory) अभिव्यंजन माना जाय और साधारण भय-जनित 'नेत्रविस्तार' कंप आदि को 'बुद्धि पूर्व' (Voluntory) अनुभाव स्वीकार किया जाय।[३]

---

१. रसविमर्श, पृ० १०५ ।
२. वही, पृ० १०५-६ ।
३. रसविमर्श, पृ० १०६ ।

श्री जोग ने डा० वाटवे की मान्यता के अनुरूप ही आठों सात्विक भावों का विवेचन किया है। इनके मत में आठों सात्विक भाव शारीरिक विकार ही हैं, अतः इन्हें अनुभाव के अन्तर्गत स्थान देना उचित है। दोनों में व्यावर्तक तत्व यही हो सकता है कि सात्विक भावों को 'अनात्मप्रेरित' (Involuntory) कहा जया क्योंकि इनकी उत्पत्ति आकस्मिक और तीव्र भावनाओं की अनुभूति के कारण होती है। भोज-निरूपित सात्विक का अर्थ––सतोगुणात्मक मानने का इन्होंने प्रत्याख्यान किया है। इसका कारण यह है कि भरतमुनि ने सतोगुण-इतर-क्रोध, विषाद, रोष, रोग आदि को भी सात्विक विकारों के कारणों में स्थान दिया है प्रस्तुत सभी गुण सतोगुण के नितान्त विपरीत हैं।[१] अतः सात्विक का अर्थ सतोगुण नहीं होगा। डा० रा० शं० वाळिंबे ने भरत, विश्वनाथ, धनंजय, भानुदत्त आदि की सात्विक-परिभाषाओं का निरूपण करने के उपरान्तनिष्कर्ष दिया है: 'सात्विक भावों की चाहे जो भी परिभाषा मानी जाय, परन्तु यह तथ्य निर्विवाद है कि भावनाओं का शरीर पर जो दृश्य परिणाम होता है, वही सात्विक भाव है।[२] इस प्रकार सात्विकों को भावाभिव्यंजक शारीरिक विकार के रूप मानना ही अधिकाँश समीक्षकों को उपयुक्त प्रतीत होता है।

तुलनात्मक सारांश :

सात्विक भावों का स्वरूप-विश्लेषण संस्कृत-आचार्यों ने भिन्न-भिन्न रूप में किया है। किन्तु हिन्दी तथा मराठी के आधुनिक काव्यशास्त्र के विवेचकों की मान्यताओं में पर्याप्त साम्य है। श्यामसुंदरदास जी सात्विकों को मन की अत्यन्त विह्वलकारी दशा में उद्भूत मानते हैं तो शुक्ल जी इन्हें 'अनैच्छिक' (Involuntory) कहते हैं। इसी प्रकार श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने भी इन्हें स्वतः उद्भूत माना है। मराठी में डा० वाटवे ने भावनाओं की उत्कटावस्था में दृश्यमान शारीरिक चिह्नों को सात्विक कहा है तो प्रा० जोग ने शुक्लजी के समान ही 'अनात्म प्रेरित' (Involuntory) निरूपित किया है। डा० वाळिंबे भी सात्विकों को भावनाओं के दृश्यमान शारीरिक परिणामों के रूप में ही स्वीकार करते हैं।

वस्तुतः सात्विक भावों तथा अनुभावों का पृथक्-पृथक् स्वरूप-निर्धारण कठिन है। कारण दोनों ही स्पष्टतः शारीरिक गतिविधियों या प्रतिक्रियाओं से सम्बद्ध हैं। हिन्दी तथा मराठी में सात्विक भावों तथा अनुभावों के पारस्परिक व्यावर्तक

---

१. अभिनव काव्य प्रकाश, पृ० ११९-१२० ।
२. साहित्यमीमांसा, पृ० ११६ ।

तत्व का भी स्वल्प चिंतन हुआ है। शुक्ल जी ने कायिक अनुभावों को ऐच्छिक (Voluntory) तथा सात्विकों को अनैच्छिक (Involuntory) माना है। डा० वाटवे ने भावनाओं की उत्कटता को सात्विक के पृथक् स्वरूप-निर्धारण की कसौटी निर्धारित करने का प्रयत्न किया है। किन्तु श्री रामदहिन मिश्र तथा डा० गुलाब राय ने इस विषय में संस्कृत-आचार्यों की धारणाओं का ही समर्थन किया है।

कतिपय नवीन सात्विकों—'मुख का आरक्त होना', 'नेत्रों का लाल होना'—आदि का भी निरूपण किया गया है परन्तु इन्हें परंपरागत सात्विकों में ही अन्तर्भूत करने का भी प्रतिपादन हुआ है।

वस्तुतः सात्विक भाव अनुभाव ही हैं। भरतमुनि ने इनका पृथक् विवेचन संभवतः इस कारण किया है कि नटों के लिए इनका अभिनय कर दिखाना सरल काम नहीं है। सात्विक-इतर अन्य अनुभावों का प्रदर्शन सरल है क्योंकि उनमें 'लोक स्वभाव का अनुकरण किया जा सकता है।'[1] परन्तु सात्विकों के अभिनय में पूर्ण मनोयोग की आवश्यकता होती है। 'अंतर्मन से दुःख का अनुभव किये बिना अश्रु नहीं निकल सकते और अंतर्मन से हर्ष का अनुभव किये बिना रोमांच नहीं हो सकता।'[2] इसी कारण भरतमुनि ने सत्व का अर्थ 'मनःप्रभव' अर्थात् मनः-प्रसूत किया है और आठ सात्विकों को पृथक् गिनाया है। इस दृष्टि से विचार करें तो 'मुख का आरक्त होना' और 'नेत्र का लाल होना' इन दो नवीन सात्विकों के मूल में अंतर्मन की प्रेरणा अधिक अपेक्षित है अतः इन दोनों को सात्विकों में स्थान देना असंगत नहीं लगता, वरन् भरतमुनि के दृष्टिकोण के अनुकूल ही प्रतीत होता है। 'जृम्भा' में 'लोक स्वभावानुकरण' अपेक्षाकृत सरलता से संभव है, अतः इसे अनुभाव में ही स्थान देना उपयुक्त होगा।

---

१. लोकस्वभावानुकरणत्वाच्च नान्यस्य सत्वमीप्सितम्। ना० शा० ७।१२।

२. कथमदुःखितेन, सुखं प्रहर्षात्मिकं असुखितेनाभिनेतुं शक्यते.... एतदेवास्य सत्वं यद् दुःखितेन सुखितेन वा अश्रुरोमांचौ दर्शयितव्याविति व्याख्यातम्। ना० शा० ७।९२ के उपरान्त का गद्यांश।

: २ :

रस-स्वरूप प्रकरण

रस का स्वरूप

(पूर्वपीठिका)

संस्कृत-काव्यशास्त्र में रस-सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक भरतमुनि ने 'रस-स्वरूप' का अत्यंत संक्षिप्त प्रतिपादन किया है, परिणामतः परवर्ती आचार्यों ने इनके रस-स्वरूप की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ की हैं। संस्कृत-काव्यशास्त्र में रस का सामान्यतः तीन रूपों में प्रतिपादन किया गया है : १. वस्तु या पदार्थ वाचक रस शब्द, २. सुख-दुःखात्मक भाव द्योतक रस शब्द और ३. काव्यास्वादजनित आनन्दवाचक रस शब्द।

प्रथम वस्तु या पदार्थ का द्योतक 'रस' शब्द काव्यशास्त्र-इतर ग्रन्थों में भरत-मुनि-पूर्व से भी प्रचलित है। 'वेदों में सोमरस, वनस्पतियों का द्रव, दूध, जल, स्वाद और गन्ध के लिए, शतपथ ब्राह्मण में मधु के लिए, उपनिषदों में प्राणतत्व या स्वाद के लिए, रामायण में जीवन-रस, पेय तथा विष और महाभारत में जल, सुरा, गन्ध, काम एवं स्नेह के लिए इसका प्रयोग मिलता है। आयुर्वेद में रसायन, पारद, वीर्य, जल अथवा जलीय पदार्थ तथा रसनेन्द्रिय ग्राह्य पदार्थ के लिए इसका प्रयोग हुआ है।'[1] भरतमुनि ने रस शब्द का प्रयोग पूर्वाचर्यों की मान्यताओं के आधार पर ही किया है। इनसे पूर्व आचार्य द्रुहिण ने आठ नाट्यरसों का प्रति-पादन किया था, और भरतमुनि ने रस, भाव आदि की संज्ञाओं का प्रयोग भी अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के आधार पर ही किया है।[2]

मराठी में डा० बारलिंगे ने भरत-निरूपित 'रस' शब्द का मूल-आधार आयु-र्वेद तथा साँख्य-शास्त्र निर्धारित किया है। फलतः इनकी धारणा में भरतमुनि

---

१. हिन्दी साहित्य कोश, प्र० सं० पृ० ६१५।

२. एते अष्टौ रसाः प्रोक्ताः द्रुहिणेन महात्मना। ना० शास्त्र, अ० ६ श्लो० १६। ...रसानां भावनां च नाट्याश्रितानांचार्थानामाचारोत्पन्नान्याप्तोपदेश सिद्धानि नामानि भवन्ति। ना० शा० अ० ६।१६।

के 'रस' शब्द-प्रयोग में वस्तुनिष्ठता का आशय ग्रहण करना अधिक संगत है, रस = आस्वाद = हर्ष आनंद ऐसा समीकरण असत्य एवं अज्ञानमूलक है।'[1] आयुर्वेद में रस शब्द के विभिन्न अर्थ स्पष्ट किये जा चुके हैं, सांख्यशास्त्र के आधार पर रस-स्वरूप-विषयक मान्यता का उल्लेख करने से पूर्व मूलतः भरतमुनि-निर्दिष्ट 'रस-स्वरूप' का उल्लेख आवश्यक है। भरतमुनि ने स्वयं 'रसनिष्पत्ति' तथा 'रसास्वाद' की प्रक्रियाओं का पृथक्-पृथक् प्रतिपादन किया है। वे विभावानुभाव तथा संचारी भाव के संयोग से नाट्यरस की निष्पत्ति मानते हैं। प्रस्तुत रस-निष्पत्ति को वे व्यावहारिक दृष्टान्त से समझाते हैं—जैसे, नाना-व्यंजन-औषधि-द्रव्यों के संयोग से रस-निष्पत्ति होती है, वैसे ही नाना भावों के 'उपगम'-समन्वय से रस-निष्पत्ति होती है। जैसे, गुड़ आदि द्रव्यों से व्यंजनों तथा औषधियों से 'षड्-रस' बनते हैं, उसी प्रकार नाना भावों से समन्वित होने पर भी स्थायी भाव रसत्व को प्राप्त करते हैं।'[2] प्रस्तुत 'रस-निष्पत्ति' प्रक्रिया के भी दो स्पष्ट भाग बन जाते हैं (क) अनेक भावों का 'उपगम'—समन्वय या संयोग रस-निष्पत्ति है (ख) नानाभावों के समन्वय या संयोग होने पर भी केवल स्थायी भाव रसत्व को प्राप्त करते हैं।

रस-निष्पत्ति-प्रक्रिया तो स्पष्ट हुई परन्तु रस का सामान्य स्वरूप अभी भी अस्पष्ट था, वस्तुतः नाट्यरस किस पदार्थ को कहें ? भरत ने उत्तर दिया है : आस्वाद्य पदार्थ का नाम रस है। इससे स्पष्ट है कि "आस्वाद्यत्व" जिसमें निहित हैं, उसे 'रस' कहते हैं।[3]

तीसरी आस्वादन की प्रक्रिया भरतमुनि ने पृथक् से समझायी है। आस्वाद्यत्व धर्म या गुण युक्त रस—पदार्थ किस प्रकार आस्वाद्य बन जाता है ? उदाहरण से भरतमुनि ने स्पष्ट किया है—जिस प्रकार नाना व्यंजनों से निर्मित अन्न को खाते हुए 'सुमनस' लोग रसों का आस्वाद लेते हैं और हर्ष आदि को प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार नाना भाव, अभिनय से व्यंजित वागंगसत्वोपेत स्थायी भावों का

---

१. भरतमुनि का रस-सिद्धान्त, समालोचक (आगरा) अगस्त १९५८।

२. विभावानुभावसंचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति... यथा व्यंजनौषधि संयोगाद्रस निष्पत्ति तथा नाना भावोपगमाद्रसनिष्पत्तिः। यथा गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यंजनै रोषधीभिश्च षड् रसा निर्वर्त्यन्ते, एवं नानाभावोपहिता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति ।

३. रस इति कः पदार्थः ? अत्रोच्यते आस्वाद्यत्वात् ।

'सुमनसप्रेक्षक' आस्वाद लेते हैं। उसी कारण 'नाट्य रस' के रूप में इनकी व्याख्या की गई है।[1]

"रस इति कः पदार्थः ? उच्यते। आस्वाद्यत्वात्" इस सूत्र का डा० सुरेन्द्र बारलिंगे के अनुसार आशय है: 'रस यह आस्वाद्य पदार्थ है, यह कहने से नाटच-सृष्टि की सत्यसृष्टि के समानान्तर रचना की। सत्यसृष्टि में 'द्रव्य' का जो स्थान है वही नाटचसृष्टि में 'आस्वाद्य' का मानना होगा। काव्य सृष्टि में 'शब्द' और 'चित्र' और शिलपादि सृष्टि में 'रूप', यह भी 'आस्वाद्य' पदार्थ है। इसका आस्वाद किया जाता है।'.... 'आस्वाद्य' का अर्थ 'आस्वाद' नहीं है और 'आस्वाद्यत्व' का अर्थ भी इनकी धारणा में आस्वाद नहीं है: 'वस्तु की 'वस्तुता' या वस्तुत्व यह धर्म है, गुण नहीं। मानव यह वस्तु या द्रव्य उसकी मानवता यह धर्म है और गोरा, काला, पीला या विद्वान् यह उसके गुण हैं। "मानवता = गोरा' काला' पीला' विद्वान्" ऐसा समीकरण नहीं कर सकते। जैसा 'द्रव्यत्व' याने गुण नहीं, वैसा ही आस्वाद्यत्व याने आस्वाद नहीं, किन्तु जिसका आस्वाद किया जा सकता है वह पदार्थ। यदि भरत को यह अभिप्रेत नहीं रहता तो 'आस्वाद्यत्व' यह शब्द-प्रयोग वे नहीं करते। केवल 'आस्वादात्' यह शब्द-प्रयोग सम्यक् था।' अतः रस इति कः पदार्थः उच्यते आस्वाद्यत्वात् 'इस सूत्र से यह पदार्थ आस्वाद्य पदार्थ है।'[2] इस प्रकार डा० बारलिंगे की धारणा में रस का स्वरूप 'मनोभाव' 'आस्वाद' तथा 'आनंद' नहीं है, वरन् 'स्थायी भावों का 'कायापलट' होकर जिन्हें विभावादि भावों का और अभिनय का स्वरूप प्राप्त हुआ है', यही मूर्त आस्वाद्य पदार्थ रस है।

आचार्य अभिनव गुप्त ने भी किसी सांख्य-अनुयायी का मत उद्धृत किया है, जो डा० बारलिंगे की धारणा से मिलता-जुलता सा है। 'नाट्य में जो बाह्य विषय सामग्री प्रदर्शित होती है, वही रस है। और सुख-दुःख रूपता उसका स्वभाव ही है। सुख-दुःख निर्माण की शक्ति उसमें मूलतः होती है। प्रस्तुत सुखदुःख 'जनन-शक्तियुक्त' विषय सामग्री ही रस है।' इनकी धारणानुसार रस प्रतीति का स्वरूप इस प्रकार है। विभाव दल स्थानीय होते हैं रस-निष्पत्ति में विभाव अंकुर दशा

---

१. कथमास्वाद्यते रसः ? अत्रोच्यते यथाहि नानाव्यंजनसंस्कृतमन्नं भुंजाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाप्यधिगच्छन्ति तथा नानाभावाभिनय व्यंजितान् वागंगसत्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः। तस्मात् नाटचरसा इति व्याख्याताः। नाटच शास्त्र अ० ६ श्लो० ३१ के बाद का गद्यांश।

२. भरतमुनि का रससिद्धान्त, पृ० १०-११, समालोचक, अगस्त १९५८।

में होते हैं, अनुभाव या व्यभिचारी भावों से उस अंकुर पर संस्कार होते हैं और इन तीनों ही सामग्रियों से सुखदुःख रूप आँतरिक स्थायी उत्पन्न होता है, जो सुखदुःख रूप है, अतः वह सुखदुःखात्मक बाह्य विषय सामग्री में स्थित है, क्योंकि सुखदुःखरूपता तो बाह्यविषयों का स्वभाव ही है फलतः 'रस' का स्वरूप या अर्थ हुआ—विभाव-अनुभाव-व्यभिचारी भावों की सामग्री ।'[1] भरतमुनि ने 'श्रृंगार' की परिभाषा 'विषय सामग्री' रूप ही की है ।

सुखप्रायेषु सम्पन्नः ऋतुमाल्यादि सेवकः
पुरुषः प्रमदायुक्तः श्रृंगारइति संज्ञितः ।[2]

इस श्लोक की वस्तुवादी आचार्य किस प्रकार की व्याख्या करते थे, इसका आज विस्तृत उल्लेख कहीं नहीं मिलता । परन्तु अभिनवभारती से ही संकेत मिल जाता है कि प्रस्तुत श्लोक के आधार पर श्रृंगार रस को 'विषय सामग्री' रूप सिद्ध किया जाता रहा है । संभवतः वस्तुवादी आचार्य पुरुष और स्त्री तथा उनके रति-भाव के उद्दीपक तत्वों 'ऋतु' माला आदि की रंगमंच पर स्थिति दर्शाने को ही 'श्रृंगार रस' मानते थे । परन्तु अभिनव गुप्त ने प्रस्तुत विषय सामग्री रूप रस की धारणा को 'भ्रान्त' ठहराया है और वस्तुवादी आचार्यों की भ्रान्त धारणा के प्रचलन में प्रस्तुत श्लोक को भी पर्याप्त सीमा तक उत्तरदायी ठहराया है । परन्तु अभिनवगुप्त की मान्यता में इस श्लोक की व्याख्या यदि उनकी निजी धारणा के अनुरूप हो तो भ्रान्ति के लिए अवकाश ही नहीं रहेगा : 'विषय सामग्री सम्पूर्णो रस इति ये मन्यन्ते तेषामभ्रान्तिकारणमयं श्लोकः । सच इत्थं व्याख्यातो न भ्रान्ति-जनकः ।'[3]

इस प्रकार भरतमुनि के नाट्य रस का स्वरूप आयुर्वेद आदि के वस्तुरूप या पदार्थ रूप—'रस' के समान ही निर्धारित करने का प्रयत्न संस्कृत-काव्य-शास्त्र में भी हुआ है । परन्तु आनंदवादी आचार्यों—अभिनव आदि—के ग्रन्थों में ही नितांत संक्षिप्त रूप से उनके अभिमतों का उल्लेख किया गया है, अतः उनकी मूलभूत धारणाओं का उनके स्वतंत्र ग्रन्थ-अनुपलब्धि के कारण आज विस्तृत प्रतिपादन कठिन हो गया है । फिर भी अभिनव भारती से ही स्पष्ट

---

१. 'येन त्वभिधायि—सुख दुःखजननशक्तियुक्ता विषय सामग्री बाह्यैव । सांख्यदृशा सुख दुख स्वभावो रसः... स्थायिनस्तु तत्सामग्री जन्या आन्तरा सुखदुःख स्वभावा इति । अभि० भारती द्वि० सं० पृ० २७६ ।
२. नाट्यशास्त्र, (अभिनव भारती) ६।४६ ।
३. अभिनवभारती द्वि० सं० पृ० ३१२ ।

प्रमाण मिल जाते हैं कि कतिपयआचार्य रंगमंच पर प्रस्तुत 'बाह्य विषय सामग्री' को ही रस मानते थे।

२. सुखदुःखात्मक रस

पूर्वोक्त सांख्यमतानुयायी आचार्य भरतनिरूपित 'रस' को विषय-सामग्री रूप मानते हैं और उसकी मूर्त वस्तुनिष्ठता पर बल देते हैं, साथ ही उसमें मूलतः निहित सुखदुःखात्मक भावों के अस्तित्व का भी समर्थन करते हैं। संस्कृत में ही आचार्य अभिनव गुप्त के पूर्ववर्ती तथा परवर्ती अनेक आचार्यों ने 'रस' को सुखदुःखात्मक भाव रूप मान्य किया है। भरतमुनि का रस-सूत्र और उनकी रस-निष्पत्ति-प्रक्रिया इतनी संक्षिप्त साथ ही इतनी लचीली है कि संस्कृत-आचार्यों को उसके विभिन्न-स्वरूप-प्रतिपादन का अवकाश मिला। 'नाट्यरस' को वस्तुनिष्ठ या पदार्थरूप मान कर एक क्षण के लिए उसके विभिन्न तत्वों का विश्लेषण किया जाय तो स्पष्ट होगा कि उसमें स्थूल, मूर्त वस्तुगत तत्त्व भी हैं और अमूर्त, सूक्ष्म मनोभाव रूप भी। स्थूल या मूर्त उपकरणों में वाचिक, आंगिक, सात्विक अभिनय आदि तथा सूक्ष्म मनोभावात्मक उपकरणों में कतिपय संचारी एवं स्थायी भावों का अन्तर्भाव होगा। भरतमुनि का 'नाट्यरस' इन स्थूल तथा सूक्ष्म उपकरणों का संयोग रूप है। चूंकि नाट्य का प्राण मूर्त अभिनय है, अतः 'रस' के मूर्त वस्तु रूपत्व पर संभवतः आरम्भ में अधिक बल दिया गया हो। भरतमुनि ने अपने 'रस' स्वरूप में स्थायी भावों के रूप में सूक्ष्म या अमूर्त मनोभावों की स्थिति का पूर्ण समर्थन ही नहीं किया वरन् स्थायी भावों को ही रसत्व प्रदान करने का भी विवेचन किया है—स्थायी भावान् रसत्वमुपनेष्यामः।[१] भरत निरूपित स्थायी भावों का स्वरूप असंदिग्ध रूप से मनोभावात्मक है। प्रथम रति स्थायीभाव की व्याख्या इस तथ्य का पूर्ण समर्थन करती है : "रतिरामोदात्मको भावः।"[२] रति की आमोदात्मक भाव रूप में व्याख्या उसके मानसिक अमूर्त-स्वरूप की पुष्टि का स्पष्ट प्रमाण है।

'रस' पदार्थ के स्वरूप-विश्लेषण में भरतमुनि ने 'स्थायीभावों को पर्याप्त महत्व प्रदान किया है, यहाँ तक उन्होंने स्पष्ट लिख दिया है कि नाना भावों से संयुक्त होने पर भी स्थायी भाव ही 'रसत्व' को प्राप्त होते हैं।[३] परिणामतः विशुद्ध रंगमंचीय दृष्टिकोण से 'रस'-स्वरूप के विश्लेषक भट्ट लोल्लट, श्री

---

१. नाट्यशास्त्र, ६।४५ के बाद का गद्य।

२. नाट्य शास्त्र, ७।८

३. वही अ० ६।३१ नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति।

शंकुक अदि आचार्यों ने भी रस के मूर्तवस्तुरूप के साथ-साथ उसके मूलभूत स्थायीभाव को रस मान कर उसकी वास्तविक स्थिति का विश्लेषण किया। भट्ट लोल्लट और श्री शंकुक स्थायीभाव को अनुकर्ता नट की अपेक्षा मूलभूत अनुकार्यों—ऐतिहासिक पात्रों—में दर्शाते रहे हैं। भट्ट लोल्लट स्थायी के विभावानुवादि से 'उपचित' रूप को रस मानते हैं तो शंकुक स्थायी के अनुकरण रूप को।[1]

भरतमुनि-निरूपित आठों स्थायीभाव एकांततः सुखात्मक नहीं हैं। उनमें कतिपय सुखात्मक तथा कतिपय दुःखात्मक हैं। भरतमुनि ने इन स्थायी भावों से निर्मित 'रस' के आस्वादक सहृदय में एकाततः 'हर्ष' प्राप्ति का ही समर्थन नहीं किया वरन् 'हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति' लिखा है। परिणामतः 'हर्ष आदि' शब्द हर्ष-इतर भावों की अनुभूति को भी ध्वनित करता है। भरतमुनि ने रस-स्वरूप के प्रतिपादन में सुख दुःखात्मक भावों को ही दृष्टिगत रखा था। इसका प्रमाण उनकी आदर्श प्रेक्षक की कसौटी से भी मिल जाता है :

यस्तुष्टौ तुष्टिमायाति, शोके शोकमुपैति च।
दैन्ये दीनत्वमभ्येति, स नाट्ये प्रेक्षकः स्मृतः ॥[2]

इसी कारण अनेक आचार्यों ने रस की वस्तुनिष्ठता पर अधिक बल न देकर उसके सुखदुःखात्मक भाव स्वरूप का ही प्रतिपादन किया है। 'रस' को एकांततः आनंद स्वरूप मानने की परंपरा विशेषतः अभिनव गुप्त से चली, किसी-किसी के मत में आनंदवर्धन से ही इसका सूत्रपात हो गया था। परन्तु इनसे पूर्व और पश्चात् भी रस को सुख दुःखात्मक भाव-स्वरूप मानने वाले आचार्यों की परंपरा संस्कृत-काव्यशास्त्र में अक्षुण्ण रही है। इस परंपरा के आचार्यों का क्रम और नाम इस प्रकार है : भामह, दण्डी, वामन, लोल्लट, श्री शंकुक, सांख्यवादी, भोज, रामचन्द्र-गुणचन्द्र।[3] इन आचार्यों ने सहृदय के चर्वणा या आस्वादजन्य आनन्द रूपात्मक 'रस' स्वरूप का विवेचन नहीं किया, वरन् विभाव, अनुभाव तथा संचारी से परिपुष्ट स्थायी भाव के रसत्व का ही विशेष समर्थन किया है।

भामह की उक्तियाँ पर्याप्त अस्पष्ट हैं। इनसे 'रस-स्वरूप' को वस्तुनिष्ठ

---

१. **"तेनस्थाय्येव विभावानुभावादिभिरूपचितोरसः—भट्ट लोल्लट। अनुकरण-रूपत्वादेव नामान्तरेण व्यपदिष्टो रसः—श्री शंकुक। अभिनव भारती, द्वि० सं० पृ० १७२।**

२. **नाट्यशास्त्र, २७।५२।**

३. **श्री ग० त्र्यं० देशपांडे: भारतीय साहित्य शास्त्र, पृ० २९१।**

सुखदुःखात्मक अथवा एकांत आनंदात्मक निर्धारित करना कठिन है। भामह और दण्डी दोनों ही आचार्यों का प्रतिपाद्य 'नाट्य' नहीं था वरन् 'काव्य' था। महाकाव्यों में रसों की स्थिति का समर्थन दोनों ही आचार्यों ने किया है।[१] भामह की अपेक्षा दण्डी की उक्तियां सुखदुःखात्मक भावों के परिपुष्ट रूप को 'रस' मानने का अधिक स्पष्ट समर्थन करती हैं।[२] दण्डी ने वाणी और 'वस्तु' में भी रस की स्थिति स्वीकार की है।[३]

आचार्य वामन ने 'काव्यालंकार सूत्र वृत्ति' में एक स्थान पर नाट्य के करुण रस में सुखदुःखात्मक भावों के 'संप्लव' का समर्थन किया है :

करुणप्रेक्षणीयेषु संप्लवः सुखदुःखयोः ।
यथानुभवसिद्धस्तथैवौजः प्रसादयोः ॥[४]

इस श्लोक के आधार पर श्री ग०त्र्यं० देशपांडे ने वामन को भी सुखदुःखात्मक भाव-स्वरूप रस का समर्थक सिद्ध किया है।[५] भट्ट लोल्लट, श्री शंकुक तथा सांख्यमतानुयायी आचार्यों की धारणाओं के स्पष्टीकरण के लिए एकांततः आनंद-वादी आचार्य अभिनवगुप्त के उल्लेखों पर ही आश्रित होना पड़ता है। आचार्य अभिनव गुप्त ने अपने पूर्ववर्ती तथा समकालीन अन्य आचार्यों की धारणाओं का निष्पक्ष रूप में उल्लेख किया है, इसमें संदेह नहीं, क्योंकि भारतीय काव्य शास्त्र में ही नहीं, यहाँ के दर्शन-शास्त्रों में भी यह स्वस्थ एवं श्लाघ्य परंपरा चली आई है कि प्रायः सभी आचार्यों ने पूर्वपक्षी की धारणा को यथावत् स्पष्ट प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है। उनकी निष्पक्षता का प्रमाण इस तथ्य से भी प्रायः लग जाता है कि पाठक अनेक स्थलों पर पूर्वपक्षी की मान्यता को ही तब तक ग्राह्य और उपयुक्त समझता जाता है, जब तक अन्य आचार्य द्वारा उसकी सीमाओं का निर्देश न किया गया हो। फलतः अभिनव गुप्त के प्रतिपादन को प्रमाण मान कर यही सिद्ध होता है कि पूर्वोक्त आचार्य——लोल्लट-श्रीशंकुक-सांख्य-मतानुयायी——सुखदुःखात्मक स्थायी भावों के परिपुष्ट रूप को ही रस मानते थे।

अभिनवगुप्त-उत्तरकालीन भोज तथा रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने भी 'रस' को सुख दुःखात्मक निर्धारित किया है। भोज ने स्पष्टतः ही रसों की सुखदुःखात्मक अवस्था

१. भामहः काव्यालंकार, दण्डी : काव्यादर्श, १।१८ ।
२. वही, २।२८१-८२, ८३ ।
३. 'मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः ।' काव्यादर्श, १।५१ ।
४. हिन्दी काव्यालंकार सूत्रवृत्ति (आचार्य विश्वेश्वर) पृ० १२२ ।
५. भारतीय साहित्यशास्त्र, पृ० २९८, प्र० सं०

का उल्लेख किया है।[१] डा० राघवन के विचार में यहाँ भोज ने लौकिक भावों के लिए व्यापक रूप में 'रस' शब्द का प्रयोग किया है।[२] भरतमुनि ने भी नाटक में लौकिक सुखदुःख की 'अवस्था' का चित्रण ही मुख्य रूप से माना है :

अवस्था याहि लोकस्य सुखदुःख समुद्भवा ।
नाना पुरुष संचारा नाटके संभवेद् इह ॥[३]

नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने अभिनव गुप्त आदि आनंदवादी आचार्यों की परंपरा से भिन्न 'सुखदुःखात्मक' रस-स्वरूप का एकांत समर्थन किया है।[४] नौ रसों में इष्ट विभावात्मक श्रृंगार, हास्य, वीर, अद्भुत और शांत को सुखात्मक तथा अनिष्ट विभावात्मक करुण, रौद्र, बीभत्स और भयानक को दुःखात्मक मान लिया है।[५] दुःखभावात्मक रस सहृदयों के लिए आस्वाद्य क्यों बन जाते हैं, इसका समाधान , इन परिपुष्ट स्थायी भावात्मक रस-स्वरूप के समर्थक आचार्यों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है। इसका विवेचन रस-निष्पत्ति या सहृदय का रसास्वाद प्रकरण में विस्तार से किया गया है।[६]

३. काव्यास्वादजनित आनंदमय रस-स्वरूप

'रस = 'आस्वाद = आनंद के समीकरण का उत्स अन्य रस-स्वरूपों की भाँति भरतमुनि के रस-प्रतिपादन में ही मिल जाता है। रस-स्वरूप को सुखदुःखात्मक भाव रूप मानने वालों ने भरत की 'रस-निष्पत्ति' प्रक्रिया को विशिष्ट आधार बनाया है , इनके अनुसार स्थायी भाव की परिपुष्टि ही रस है, परन्तु आनंदवादी आचार्यों ने रस के आनन्द-स्वरूप के निर्धारण में भरत की 'रसास्वाद'-प्रक्रिया को ही संभवतः एकांत आधार बना लिया है। भरतमुनि ने रसास्वाद की प्रक्रिया में 'सुमनस प्रेक्षकों' को स्थायी भावों का आस्वादक माना है, परन्तु जिस स्थायी भाव का वे आस्वाद लेते हैं, उसके दो विशिष्ट रूप दर्शाये हैं—एक है—'नाना भावाभिनयव्यंजितान्' और दूसरा है—'वागंगसत्वोपेतान्'। रस को नाट्य-वस्तु रूप मानने वाले द्वितीय रूप पर अपेक्षाकृत अधिक बल देते हैं और वाचिक

---

१. 'रसा हि सुखदुःखावस्थारूपाः', श्रृंगारप्रकाश, द्वि० सं० पृ० ३६९ ।
२. 'नंबर आफ रसाज,' पृ० १५५-५६ ।
३. नाट्यशास्त्र, १९ । १२१ निर्णयसागर (१९४२)
४. स्थायीभावः श्रितोत्कर्षः विभाव व्यभिचारिभिः ।
स्पष्टानुभाव निश्चेयः सुखदुःखात्मको रसः ॥ नाट्य दर्पण, श्लो० १०९ ।
५. नाट्यदर्पण, पृ० १०९ ।
६. दे० रसास्वाद प्रकरण ।

आंगिक अभिनययुक्त, रंगमंच पर प्रदर्शित मूर्त स्थायी भाव को रस मानते हैं। परन्तु स्थायी भाव के इस मूर्तरूप के साथ प्रथम उसका अमूर्त स्वरूप भी भरतमुनि ने 'व्यंजना' शब्द द्वारा प्रकट कर दिया है। इससे आशय यही निकलता है कि आस्वाद के क्षणों में प्रेक्षक अभिनय आदि से 'व्यंजित' स्थायी भाव का आस्वादन करता है, अतः सहृदय में स्थायी भाव की व्यंजना से स्थिति आ जाती है। रसास्वाद की प्रक्रिया में भरत मुनि ने यह स्पष्ट नहीं किया कि किसका स्थायी भाव व्यंजित होता है। परन्तु सामान्य भाव-स्वरूप को समझाते हुए उन्होंने कवि के आंतरिक भावों को ही भाव कहा है—'कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते'।[1] इस परंपरा से स्थायी भाव भी कवि के ही सिद्ध किये जा सकते हैं। इस तथ्य को भट्ट लोल्लट तथा श्री शंकुक स्पष्ट नहीं कर सके, फलतः इन्होंने विशुद्ध नाट्यमूलक दृष्टिकोण अपना कर स्थायीभाव की स्थिति मूलतः अनुकार्यों या ऐतिहासिक पात्रों में सिद्ध की और उन्हीं के स्थायीभाव की व्यंजना नाट्यरस के रूप में स्वीकार की है। परन्तु अभिनव गुप्त ने एक और कवि के स्थायी भावों की भी स्वीकृति दी और दूसरी ओर सहृदय के स्थायी भावों की भी सत्ता स्वीकार की। क्योंकि दोनों ही सामाजिक प्राणी हैं।[2] परिणामतः स्थायीमूलक रस-स्वरूप में एकांततः आत्मपरकता या भावरूपता आ गई। ऐसी स्थिति में विभावानुभावादि या अभिनयादि मूर्ततत्व साधनमात्र बने और साध्य बना भावात्मक रस, जिसके मूल में निहित रत्यादि स्थायी भाव प्राणी मात्र में जन्म से ही संस्कार रूप में चले आते हैं।[3] काव्य-नाटक के विभाव, अनुभाव आदि तत्व सहृदयस्थ स्थायी को ही अभिव्यक्त करते हैं या व्यंजित करते हैं। अभिनवगुप्त से पूर्व ध्वनिकार आनंदवर्धन ने 'रसध्वनि' की प्रक्रिया में रस के व्यंजित या ध्वनित रूप की प्रतिष्ठापना की थी। आचार्य अभिनवगुप्त ने 'रस' को सहृदयस्थ स्थायीभाव रूप ही नहीं सिद्ध किया, वरन् उसका स्वरूप एकांततः आनंदात्मक निर्धारित किया है। 'रस' को आनंदात्मक सिद्ध करने के लिए अभिनव गुप्त ने कतिपय नवीन युक्ति-प्रमाणों का आश्रय लिया है। वे स्वयं शैव-अद्वैतवादी थे, अतः उनकी आनंदवादी दार्शनिक मान्यता का भी इस पर प्रभाव पड़ना

---

१. नाटचशास्त्र ७।२ चौखम्बा संस्करण।

२. एवं मूल बीज स्थानीयात् कवि गतो रसः, कविर्हि सामाजिक तुल्य एव..." अभिनव भारती, पृ० २९५, प्र० सं०।

३. जात एव हि जन्तुः इयतीभिः संविद्भिः परीतो भवति, अ० भारती, पृ० २८४, प्र० सं०।

स्वाभाविक था। इन्होंने 'रस-स्वरूप' में निम्न तथ्यों का समर्थन-विवेचन किया है :

(क) 'रस' तत्वतः एक ही है। इसके लिए इन्होंने भरत-सूत्र—'न हि रसादृते कश्चिदपि अर्थः प्रवर्तते' को प्रमाणरूप उद्धृत किया है, क्योंकि भरतमुनि ने इसमें 'रस' का एक वचन में प्रयोग किया है।[1]

(ख) रस सहृदय संवेदनात्मक निर्विघ्न विश्रान्तिरूप है।[2]

(ग) रस स्थायी विलक्षण है, "अलौकिक" है, 'चर्व्यमाणतैक प्राण' है।[3]

(घ) स्वसंवित्, चर्वणा, 'एकघन' (अखण्ड) और 'प्रकाशमय' (बोधरूप) होने से 'आनंद' ही इसका सारभूत तत्व है।[4]

इससे स्पष्ट है कि पूर्वोक्त दोनों रस-स्वरूपों—नाट्यवस्तु रूप तथा सुखदुःखात्मक भावरूप रस—से ध्वनिवाद पर आधृत अभिनव गुप्त-निरूपित रस-स्वरूप पर्याप्त भिन्न है। आचार्य अभिनव गुप्त शान्त रस की स्वतंत्र प्रतिष्ठापना करना चाहते थे, संभवतः इसी कारण इन्हें भरतमुनि के रस-स्वरूप की पर्याप्त-स्वतन्त्र व्याख्याएँ भी करनी पड़ीं हैं। जब इन्होंने भरतमुनि द्वारा स्पष्टतः अप्रतिपादित शान्त रस को स्वतंत्र रस ही नहीं, वरन् सर्वश्रेष्ठ रस सिद्ध कर दिखाया है[5], तब परंपरागत रस-स्वरूप में भी अपनी धारणा-अनुरूप परिवर्तन कर दें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? आचार्य अभिनव गुप्त ने निजी शैवाद्वैतवादी दृष्टिकोण, आनन्दवर्धन के ध्वनिवाद तथा समसामयिक विचारधाराओं से प्रभावित होकर 'रस' को सामान्यतः आनन्दमूलक संविद्विश्रान्तिरूप सिद्ध किया है। आचार्य अभिनव गुप्त ने एक ओर 'रस' को 'विषयसामग्री रूप' अथवा वस्तुरूप

---

१. नंबर आफ रसाज पृ० १७६ से—
एकएवतावत्परमार्थतो रसः सूत्र स्थानत्वेन रूपके प्रतिभाति, अभि० भा०, प्र० १, पृ० २७३।

२. तत एव निर्विघ्न स्वसंवेदात्मक विश्रान्ति लक्षणेन रसनापर पर्यायेण व्यापारेण गृह्यमाणत्वाद् रस शब्देनाभिधीयते। अ० भा० सं० प्र० का० पृ० २६९।

३. ...अलौकिक निर्विघ्न संवेदनात्मक चर्वणा गोचरतां नीतोऽर्थश्चर्व्य—माणतैक सारो न तु सिद्ध स्वभावः तात्कालिक एव न तु चर्वणातिरिक्त कालावलम्बी स्थायिविलक्षण एव रसः। अ० भा० पृ० २८४ द्वि सं०।

४. वही, पृ० २८५।

५. अभि० भा० पृ० ३४०।

मानने वाले आचार्यों की धारणाओं का प्रबल शब्दों में प्रत्याख्यान किया है और उनके अभिमतों को 'मूर्खतापूर्ण' तथा 'भ्रान्तिपूर्ण' प्रतिपादित किया है[१] तो दूसरी ओर 'स्थायी विलक्षणता' पर विशेष बल देकर 'रस' की सुखदुःखात्मक भावरूपता को भी अमान्य ठहराया है ।[२]

अभिनवगुप्त के उपरान्त मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ, मधुसूदन सरस्वती, जगन्नाथ आदि आचार्य 'रस' के आनन्द स्वरूप की ही व्याख्या विभिन्न शब्दावलियों से करते रहे । रस-ध्वनिवादी आचार्यों ने रस-स्वरूप के स्पष्टीकरण में आनंदैकधन, चर्वणाप्राण, स्वप्रकाशानंद, चिन्मय, वेद्यान्तरस्पर्शशून्य, ब्रह्मा स्वादसहोदर, लोकोत्तर, स्थायी विलक्षण आदि विशेषणों का प्रयोग किया है, जो स्पष्टतः भरतमुनि के रस-स्वरूप-विश्लेषण में नहीं मिलते ।

इस प्रकार संस्कृत-काव्यशास्त्र में, जिसमें नाट्यशास्त्र भी अन्तर्भूत है, रसस्वरूप का विवेचन मुख्यतः तीन रूपों में उपलब्ध होता है :

१. वस्तुनिष्ठ रंगमंचीय रस-स्वरूप––वागंगसत्वाभिनयोपेत तथा विभाव, अनुभाव, संचारी भावों की सामग्री रूप है ।
२. परिपुष्ट स्थायी भावात्मक रस-स्वरूप––जो मूलतः सुख-दुःखात्मक भावों पर अधिष्ठित है और अमूर्तमनोभावरूप है ।
३. सहृदयनिष्ठ, चर्वणाप्राण, आस्वादात्मक रस-स्वरूप––जो सुखदुःखात्मक भावानुभूति से भिन्न एकांत आनन्दमय है ।

हिन्दी में रस-स्वरूप का अध्ययन

हिन्दी के आधुनिक अधिकांश काव्यशास्त्रज्ञों ने रसध्वनिवादी––अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ आदि––आचार्यों के आनन्दवादी रस-स्वरूप का ही विशेष समर्थन किया है । रस और भाव के स्वरुप को पृथक-पृथक् करने में तथा लौकिक और अलौकिक भाव के मूलभूत अंतर का विश्लेषण करने में आधुनिक समीक्षकों

---

१. 'येन त्वभिधायि––सुखदुःखजननशक्तियुक्ता विषय सामग्री बाह्यैव ।... ग्रन्थविरोधं स्वयमेव बुध्यमानेन दूषणाविष्करण मौर्ख्यात् प्रामाणिको जनः परि रक्ष (क्षि) त इति किमस्योच्यते ।" अभि० भा० पृ० २७६ द्वि० सं०। "विषय सामग्री सम्पूर्णो रस इति ये मन्यन्ते तेषामभ्रान्तिकारणमयं––श्लोकः । स च इत्थं व्याख्यातो न भ्रान्तिजनकः ।" अ० भा० पृ० ३१ द्वि० सं० ।

२. अभिनव भारती, द्वि० सं० पृ० २८९ ।

ने अधिक सूक्ष्म चिन्तन करने का प्रयत्न किया है। रस-स्वरूप के आधुनिक हिन्दी-काव्यशास्त्र के विवेचकों के भी सामान्यतः दो वर्ग बना सकते हैं, एक आनंदवादी वर्ग और दूसरा भाववादी वर्ग। प्रथम वर्ग में ही अधिकांश समीक्षक आते हैं, द्वितीय वर्ग में केवल शुक्ल जी का स्थान निर्धारित किया जा सकता है।

आनंदमय रस-स्वरूप की परंपरा :

हिन्दी में आरंभिक काव्यशास्त्र-विवेचकों ने रस-ध्वनिवादी आचार्यों के अनुरूप ही रस-स्वरूप का निरूपण कर दिया है। श्री कन्हैयालाल पोद्दार तथा श्री रामदहिन मिश्र ने रस को आनंदमय तथा अलौकिक सिद्ध करने में अभिनव गुप्त, मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों के प्रतिपादन का ही विशेष आधार ग्रहण किया है। श्री पोद्दार ने रस = चर्वणा = आनंद लगभग इसी प्रकार का समीकरण किया है।[1] उन्होंने संस्कृत-आचार्यों के अनुरूप ही रस को अलौकिक सिद्ध करने का व्यापक विवेचन भी किया है।[2] श्री रामदहिन मिश्र के रस-स्वरूप-प्रतिपादन में भी किसी प्रकार की नवीनता नहीं है। इन्होंने सहृदय की आस्वादन प्रक्रिया पर विशेष बल देते हुए उसका आनंद से एकीकरण इस प्रकार से निरूपित किया है : 'स्थायीभाव का परिपक्व रूप ही रस है।' 'रस्यते इति रसः' जो रसित आ-स्वादित हो उसे रस कहते हैं। फलतः रस का आस्वाद स्वरूप है। आस्वाद एक प्रकार से अलौकिक आनंद से अभिन्न है। वह अभिनय के दर्शन से तथा कविता के अर्थ परिशीलन से आत्मा में सहसा उद्बुद्ध हो जाता है।'[3] इससे स्पष्ट है कि श्री रामदहिन मिश्र रस के परंपरागत आनंदमय स्वरूप का ही एकांत समर्थन करते हैं और उसे परंपरानुसार अलौकिक मानते हैं।

आनन्दमय रस-स्वरूप की आतंरिक मीमाँसा पं० केशवप्रसाद मिश्र ने पर्याप्त विस्तार से 'मधुमती भूमिका' के अन्तर्गत की है। इनके विवेचन का आधार मुख्य रूप से साधारणीकरण-सिद्धान्त रहा है। 'मधुमती भूमिका' तथा 'पर प्रत्यक्ष' की स्थिति में सभी प्रकार के भाव–चाहे वे सुखात्मक हों, चाहे दुःखात्मक, –एक रूपता को प्राप्त कर लेते हैं। कवि तथा सहृदय दोनों का मन जब मधुमती भूमिका का स्पर्श करता है, तब उनकी सभी वृत्तियाँ एकतान, एकलय हो जाती हैं, इस स्थिति में उन्हें जिस आनंद की झलक मिलती है, वही वास्तव में रस है। प्रथम स्वयं कवि जिस प्रकार इस मधुमती भूमिका में पहुंच कर आत्मा के

१. "चर्वणा से रस अभिन्न है"—रसमंजरी, च० स्त० पृ० १७९।
२. रसमंजरी, चतुर्थ स्तबक, पृ० १७५।
३. काव्यदर्पण, पृ० ४६।

आनंदस्वरूप रस को प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार सहृदय को भी आनंद-स्वरूप रस की प्राप्ति होती है। इनके रस-स्वरूप-प्रतिपादन का मुख्य अंश इस प्रकार है : 'मधुमती भूमिका में पहुंचा कवि का मन जब उल्लसित होकर नवीन सृष्टि का आरंभ करता है और अपनी ही सृष्टि की सुंदरता पर मुग्ध होकर रीझता है उस समय उसकी समस्त वृत्तियाँ एकतान एकलय हो जाती हैं। इसीलिये उसकी रचना भावों का संगीत है। मन की इस एक विषयावगाहिनी निरोधावस्था से चित् (ज्ञान) का आवरण-भंग होता है, अर्थात् मन जब विक्षिप्त होकर इधर उधर अनेक विषयों पर दौड़ता है उस समय अपनी इस विक्षेप क्रिया से वह नित्य शुद्ध-बुद्ध मुक्त-स्वभाव चित् पर एक प्रकार का पर्दा-सा डालता रहता है, पर जहाँ उसकी यह विक्षेपावस्था निरोधावस्था में बदली कि उसका आवरण डालना बंद हो जाता है और चित् निरावरण हो कर चमकने लगता है। इस अवस्था में अनुभविता और अनुभाव्य अथवा द्रष्टा और दृश्य दोनों हैं। इसीलिए निरावरण चित् को आनन्दस्वरूप का अनुभव करने के लिए किसी दूसरे अनुभविता की आवश्यकता नहीं होती। आत्मा के इसी आनंद स्वरूप को रस कहते हैं।'[1]

इससे पं० केशवप्रसाद मिश्र इस तथ्य पर विशेष बल देते हैं कि सुख-दुखा:त्मक भावों अथवा विषयों की अनुभूति का नाम रस नहीं है वरन् 'शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव' चित् का विषयों से निवृत्त होकर अपने आनंद स्वरूप को प्राप्त करना ही रस है। रस-स्वरूप का प्रस्तुत विश्लेषण काव्य-जगत् से भी ऊपर उठकर आध्यात्मिक जगत् में प्रवेश पाने लगता है। स्पष्टतः ही ये रस के सुखदु:खात्मक या भावात्मक स्वरूप को अस्वीकार करते हैं। इन्हीं के समान डा० श्यामसुंदरदास ने भी संस्कृत की भाववादी रस-स्वरूप की परंपरा का अनुसरण नहीं किया है, वरन् "स्थायी विलक्षण", 'अलौकिक' तथा 'ब्रह्मास्वाद-सहोदर' रस-स्वरूप को ही मान्यता दी है : 'यह भी ध्यान रखना चाहिए कि आत्मानंद के प्रकाश में स्थायी भाव की जो रसरूप आनंदानुभूति होती है उसमें भी लौकिकता नहीं रह जाती। सब वैयक्तिक संबंधों से मुक्त होकर निर्विशेष रूप से प्रेक्षक को उसकी अनुभूति मिलती है। इसीलिए उसे ब्रह्मानन्द-सहोदर कहा जाता है।'[2] 'यद्यपि रस का आनंद विषय-जन्य है तथापि विषयानंद से उसका कोई संबन्ध नहीं, इसीलिए उसे ब्रह्मानन्द-सहोदर कहा जाता है।'[3] रस का आनंद इन्द्रिय-जन्य नहीं, प्रत्युत

---

१. साहित्यालोचन पृ० २३६ से उद्धृत।
२. साहित्यालोचन पृ० २२९।
३. वही, पृ० २२९।

अलौकिक और अखंड होता है ।'[१] इस प्रकार रस-ध्वनिवादी आचार्यों के आनंद-मय रस-स्वरूप का ही डा० श्यामसुंदरदास ने पुनराख्यान किया है और उसी को ग्राह्य माना है ।

भाव की अनुभूति रस नहीं है, रस तो भावानुभूति की उत्तरकालीन स्थिति का नाम है, इस आशय को डा० भगवानदास ने रस-स्वरूप में अधिक स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है : 'भाव, क्षोभ, संरभ, संवेग, आवेग, उद्वेग, आवेश, अंग्रेजी में इमोशन का अनुभव रस नहीं है, किन्तु उस अनुभव का स्मरण, प्रतिसंवेदन, आस्वादन रस है ।'[२] डा० भगवानदास के समान डा० नगेन्द्र भी भाव की अनुभूति से 'रस' की अनुभूति अनिवार्यतः भिन्न मानते हैं । इनके मत में रस सहृदय की आनंदमयी चेतना का नाम है, जिसके मूल में सहृदय की अन्तर्वृत्तियों का समन्वय होता है ।[३] 'रस का आनंद भाव (इमोशन) से भिन्न है, और उसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि कटुभावों द्वारा भी तो रस की प्राप्ति होती है ।'[४] अतः 'रस' को भाव से भिन्न तथा आनन्दस्वरूप मान कर डा० नगेन्द्र ने रसगत आनंद का, जिसे संस्कृत के आचार्य अलौकिक और अनिर्वचनीय मानते थे, अधिक बैज्ञानिक और आंतरिक विश्लेषण किया है । इन्होंने रसगत आनंद को या काव्यानुभूति के आनंद को न केवल ऐन्द्रिय आनंद ही माना है और न केवल बौद्धिक, वरन् इसमें ऐन्द्रिय और बौद्धिक अनुभूति के तत्वों का लवण-नीर-संयोग स्वीकार किया है ।[५] डा० नगेन्द्र-प्रतिपादित काव्यानंद के प्रस्तुत स्वरूप का विस्तार से निरूपण अगले प्रकरण में किया जाएगा ।[६] सारांश में यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि डा० नगेन्द्र ने 'रस' का स्वरूप 'भाव' से नितांत भिन्न माना है, जो संस्कृत के आनंदवादी आचार्यों की परंपरा के अनुरूप है, किन्तु इस आनंद का जो आधुनिक दृष्टिकोण से इन्होंने विश्लेषण-विवेचन किया है वह इनके परंपरा-भिन्न चिन्तन को प्रमाणित करता है ।

रस और मनोवेगों (फीलिंग्स, इमोशन्स) का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए डा० गुलाबराय ने मनोवेगों को रस-स्वरूप से स्पष्टतः भिन्न माना है ।

---

१. साहित्यलोचन, पृ० २३४ ।
२. रसमीमांसा, द्विवेदी अभिनंदन ग्रन्थ, पृ० ७ ।
३. रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ६२ ।
४. वही, पृ० ६२ ।
५. रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ६७ ।
६. दे० 'सहृदय का रसास्वाद तथा काव्यानंद का स्वरूप' प्रकरण ।

इन्होंने रस-स्वरूप के विषय में भाववादी दृष्टिकोण नहीं अपनाया वरन् परंपरागत आनंदवादी दृष्टिकोण को ही मान्यता दी है। अतः भावास्वाद को रस न मान कर इन्होंने भावास्वादजन्य आनंद को रस माना है: 'रस मनोवेग नहीं वरन् वह मनोवेगों का आस्वादन है। जिस प्रकार आस्वादन कर्ता को आस्वाद्य वस्तु के सम्बन्ध में कुछ जानकारी भी प्राप्त हो जाती है (वह वस्तु कहाँ और कैसे उत्पन्न होती है), उसी प्रकार रस के विवेचन में मनोवेगों का विश्लेषण भी मिलता है।'[1]

'अब प्रश्न यह होता है कि रस मनोवेग नहीं तो है क्या वस्तु? किसी वस्तु का आस्वादन करने पर जो आनन्द मिलता है उसे रस कहते हैं। .... संक्षेप में आस्वादजन्य आनंद को रस कहते हैं।'[2]

इस प्रकार भावों को आस्वाद-वस्तु और रस को भावास्वाद-जन्य आनन्द मानकर डा० गुलाबराय ने अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों द्वारा प्रतिपादित आनंदमय रस-स्वरूप का ही समर्थन किया है। रस का वस्तुवादी दृष्टिकोण ठीक इसके विपरीत है, उसके अनुसार रस आस्वाद्य वस्तु या पदार्थ है, जिसका निर्माण स्थायी-संचारियों के संयोग से होता है। आस्वाद्य पदार्थ स्वयं रस है, इस रस-पदार्थ के आस्वाद के उपरान्त उपलब्ध आनन्द, 'हर्ष', शोक आदि का नाम रस नहीं है। इस वस्तुनिष्ठ रस-स्वरूप का विवेचन आधुनिक हिन्दी-काव्यशास्त्र में उपलब्ध नहीं होता, किन्तु भाववादी रस-स्वरूप की मीमांसा संस्कृत की भाँति हिन्दी के आधुनिक काव्यशास्त्र में भी उपलब्ध होती है।

भावमय रस स्वरूप :

पूर्वोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हिन्दी में अधिकांश लेखकों ने 'रस-स्वरूप' का निर्धारण विशेषतः रस-ध्वनिवादी अचार्यों की आनंदवादी परंपरा के अनुरूप ही किया है। फिर भी आ० रामचन्द्र शुक्ल ने परंपरा-भिन्न, नवीन चिन्तन का प्रयत्न किया है। इन्होंने 'भाव-स्वरूप' के विश्लेषण में जिस प्रकार केवल मनोभाव या अनुभूति पक्ष पर ही एकांत बल नहीं दिया है, वरन् उसमें प्रत्यय बोध और 'वेगयुक्त प्रवृत्ति' को भी अन्तर्हित कर लिया है[3], इसी प्रकार रस-स्वरूप के विश्लेषण में भी इन्होंने उसके केवल आनंद-स्वरूप पर बल नहीं दिया है। शुक्ल जी ने 'रस-स्वरूप' में रस-ध्वनिवादी आचार्यों के अनुरूप न तो चित्तवृत्तियों के

१. सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० १७६।
२. सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० १७७।
३. रसमीमांसा, पृ० १६८ प्र० सं० २००६।

समन्वय पर बल दिया है और न अस्मिता के भोग रूप आनंद को ही रस मानना उचित समझा है। रस की अनुभूति में वे काव्य-प्रेषित भावों की यथावत् तीव्र अनुभूति पर जितना बल देते हैं, उतना भाव के स्वरूप-परिवर्तन पर नहीं। फलतः इन्होंने एकांत आनंदमय रस-स्वरूप मानने से एक प्रकार से असहमति प्रकट की है :

'मेरी समझ में रसास्वादन का प्रकृत स्वरूप 'आनंद' शब्द से व्यक्त नहीं होता। 'लोकोत्तर', 'अनिर्वचनीय' आदि विशेषणों से न तो उसके अवाचकत्व का परिहार होता है न प्रयोग का प्रायश्चित। क्या क्रोध,शोक, जुगुप्सा आदि आनंद का रूप धारण कर के ही श्रोता के हृदय में प्रकट होते हैं, अपने प्रकृत रूप का सर्वथा विसर्जन कर देते हैं, उसे कुछ भी लगा नहीं रहने देते ? क्या 'विभावत्व' उनका स्वरूप हर कर उन्हें एक ही स्वरूप––सुख का––दे देता है ? क्या दुख के भेद सुख के भेद से प्रतीत होने लगते हैं ? क्या मृत पुत्र को लिए विलाप करती हुई शैव्या से राजा हरिश्चन्द्र का कफन माँगना देख सुन कर आँसू नहीं आ जाते, दाँत निकल पड़ते हैं ?. . . . क्या कोई दुःखान्त कथा पढ़कर बहुत देर तक उसकी खिन्नता नहीं बनी रहती ? 'चित्त का द्रुत होना' क्या आनंदगत है ? इस आनंद शब्द ने काव्य के महत्व को कुछ कम कर दिया है।[१]'

इस उद्धरण से ऐसा प्रतीत होने लगता है कि वे 'रस' की आनंदवादी परंपरा की अपेक्षा भाववादी परंपरा के अधिक निकट हैं। फिर भी शुक्ल जी की प्रतिभा ही कुछ इस प्रकार की थी कि वह परंपरा का विद्रोह भी करती है फिर उसे अपने अनुकूल बना कर उससे मित्रता स्थापित करलेती है। इन्होंने रस के एकांत आनंद स्वरूप का प्रत्याख्यान कर के 'रस-दशा' में 'हृदय की मुक्तावस्था' का स्वतंत्र प्रतिपादन किया है, साथ ही परंपरागत रस के 'लोकोत्तर' 'ब्रह्मानन्द सहोदर' आदि विशेषणों का पुनराख्यान करके अपनी मान्यता से उनकी संगति बिठाने का भी प्रयत्न किया है :

'रस दशा में अपनी पृथक् सत्ता की भावना का परिहार हो जाता है अर्थात् काव्य में प्रस्तुत विषय को हम अपने व्यक्तित्व से सम्बद्ध रूप में नहीं देखते अपनी योग-क्षेम-वासना की उपाधि से ग्रस्त हृदय द्वारा ग्रहण नहीं करते, बल्कि निर्विशेष, शुद्ध और मुक्त हृदय द्वारा ग्रहण करते हैं। इसी को पाश्चात्य समीक्षा पद्धति में अहं का विसर्जन और निःसंगता (Impersonality and detachment) कहते हैं। इसी को चाहे रस का लोकोत्तरत्व या ब्रह्मानंद

---

१. रसमीमांसा, पृ० १०१।

सहोदरत्व कहिए चाहे विभावन व्यापार का अलौकिकत्व ।'[१]

शुक्ल जी ने 'अस्मिता' के भोग की अपेक्षा 'अहं के विसर्जन' और निःसंगता पर अधिक बल दिया है और रसानुभूति को वास्तविक आनुभूति से सर्वथा पृथक् निराली अनुभूति नहीं माना है : 'रसानुभूति प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति से सर्वथा पृथक् कोई अन्तर्वृत्ति नहीं है बल्कि उसी का एक उदात्त और अवदात्त स्वरूप है ।'[२]

इस प्रकार शुक्ल जी ने रस-स्वरूप के निर्धारण में प्राचीन आचार्यों के 'अलौकिक ब्रह्मानंद सहोदर' आदि अस्पष्ट विशेषणों को वास्तविक नव-स्वरूप प्रदान करने का प्रयत्न किया है, इसमें वे 'स्थायी विलक्षणो रसः' की अपेक्षा 'स्थायी रसः' को ही विशेष मान्यता दे रहे हैं। इसी प्रकार जब काव्य के आत्म-तत्व का प्रश्न आता है, तब शुक्ल जी भाव और रस को लगभग एक ही मान लेते हैं, दोनों में विशेष अंतर नहीं समझते । "काव्य का आभ्यन्तर स्वरूप या आत्मा भाव या रस है ।"[३] काव्य का आत्म तत्व भी भाव है अतः सहृदय का अनुभूति-तत्व—'रस' भी भाव रूप ही है । इसीलिए शुक्ल जी ने 'पूर्णरस' की कल्पना में भावतादात्म्य पर अधिक बल दिया है, और भाव-अनुभूति को महत्व देकर 'रस' की अनेक कोटियाँ निर्धारित की हैं ।[४] यदि रस-स्वरूप में सुख-दुःखात्मक भावानुभूति पर बल न देते तो शुक्ल जी संभवतः रस की तीन कोटियों का प्रतिपादन ही नहीं करते, क्योंकि आनंद-स्वरूप रस की कोटियों का निर्धारण सर्वथा असंगत है । इसीलिए संस्कृत आचार्यों ने 'आनंदैकघन" और "संविद्-विश्रान्ति" आदि 'रस' के विशेषणों का बार-बार प्रयोग किया है । शुक्ल जी का झुकाव सहृदय की भावात्मक अनुभूति को ही रस-स्वरूप के रूप में निर्धारित करने की ओर अधिक रहा है । इसीलिए इन्होंने स्थायी भावों के सुखात्मक और दुःखात्मक वर्गों का पृथक्-पृथक् विवेचन किया है [५] और करुण रसानुभूति में 'आनंद' को एकांत महत्व न देकर काव्यास्वाद के 'आनंद' की स्वतन्त्र व्याख्या की है ।[६] डा० रघुवंश ने परंरापगत आनंदवादी 'रस'—स्वरूप के आधार पर

---

१. चिन्तामणि, प्र० भा० पृ० २४७ ।
२. वही, पृ० २५३ ।
३. रसमीमांसा, पृ० १०५, प्र० सं० २००६ ।
४. वही दे० रसात्मक बोध लेख , पृ० २५९ ।
५. रसभीमांसा, भावों का वर्गीकरण, पृ० १९२-९३ ।
६. वही पृ० २७३ । और दे० 'करुण रस प्रकरण' ।

शुक्ल जी प्रतिपादित 'रस कोटियों' का प्रत्याख्यान किया है,[1] जब कि शुक्ल जी का रस-स्वरूप विशेषतः भाववादी परंपरा के अधिक निकट है। रस-स्वरूप के निर्धारण में इन्हों ने एकांततः आनन्दवाद का आश्रय नहीं लिया है। 'रस के लोकोत्तरत्व, ब्रह्मानंद सहोदरत्व तथा अलौकिकत्व का अर्थ शुक्ल जी की धारणा में है—अहं का विसर्जन, व्यक्तित्व का परिहार तथा हृदय की मुक्तावस्था।[2] आचार्य शुक्ल ने संस्कृत साहित्यशास्त्र के आनंदवादी दृष्टिकोण से अपना मतभेद पूर्णतः स्पष्ट किया है : 'कविता की इसी रमानेवाली शक्ति को देखकर जगन्नाथ पंडितराज ने रमणीयता का पल्ला पकड़ा और उसे काव्य का साध्य स्थिर किया तथा योरोपीय समीक्षकों ने 'आनंद' को काव्य का चरम लक्ष्य ठहराया। इस प्रकार मार्ग को ही अंतिम गन्तव्य स्थल मान लेने के कारण बड़ा गड़बड़ झाला हुआ।'[3]

संक्षेप में शुक्ल जी का रस-स्वरूप प्रतिपादन एकांततः रस ध्वनिवादी-अभिनव, मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों के अनुरूप नहीं है, अधिकांशतः भाववादी दृष्टिकोण से ही रस-स्वरूप के प्रतिपादन का इन्होंने प्रयत्न किया है।

मराठी में रस-स्वरूप का अध्ययन

संस्कृत काव्यशास्त्र में 'रस स्वरूप' के निर्धारण में जिस प्रकार मतैक्य नहीं है लगभग उसी प्रकार आधुनिक मराठी-काव्यशास्त्र के विवेचकों की धारणाओं में भी विविधता है। संस्कृत काव्यशास्त्र में उपलब्ध रस-स्वरूपों—वस्तुनिष्ठ, सुखदुःख-भावात्मक तथा आनंदात्मक की मीमांसा मराठी में भी हुई है। बहुमान्यता की दृष्टि से रस का आनंदमय स्वरूप ही अधिकांश विवेचकों को ग्राह्य प्रतीत हुआ है। अतः आनंदवादी दृष्टिकोण की समीक्षा ही प्रथम उपादेय होगी। हिन्दी की भाँति मराठी में भी संस्कृत के रस-ध्वनिवादी आचार्यों की धारणाओं का ही अनुवाद-सा प्रस्तुत करने वाले अभिमतों की न्यूनता नहीं है, अतः उन सब का उल्लेख करना पिष्टपेषणमात्र होगा। यहाँ उन्हीं आधुनिक लेखकों के विचारों का उल्लेख किया जा रहा है, जिन्होंने चिन्तन-मनन पूर्वक रस-स्वरूप का प्रतिपादन किया है।

---

१. हिन्दी साहित्य कोश, प्र० सं०, पृ० ६२८।
२. आ० रामचन्द्र शुक्ल के समीक्षा सिद्धान्त (डा० रामलाल सिंह), पृ० ३३६।
३. चिन्तामणि, प्र० भा०, पृ० १६३।

आनंदमय और सहृदयनिष्ठ रस-स्वरूप के विवेचक :

आधुनिक अधिकांश काव्य शास्त्रज्ञों ने रस को आनंदमय तथा सहृदयनिष्ठ सिद्ध करने के लिए व्यापक युक्ति-प्रमाणों का आश्रय भी लिया है।

रस-स्वरूप की मीमांसा करते समय प्रा० द० के० केळकर ने रस-ध्वनिवादी आचार्यों के अनुसार रस के आनंद स्वरूप का ही प्रतिपादन किया है। इन्होंने रस-स्वरूप के विवेचन में रस = आस्वाद = आनंद इस प्रकार के समीकरण का विशेष रूप से समर्थन किया है। इनके रस-स्वरूप विषयक विशिष्ट अभिमत इस प्रकार हैं :

'मानवी स्वभावों के आविष्कार में सहृदय का मन सब से अधिक तल्लीनहो जाता है और मानव स्वभाव का चित्रण भावनाओं के रूप में किया जाता है। मनो-व्यापार तीव्र और उत्कट होते ही भावनाएँ उमड़ आती हैं, इन भावनाओं के सुसंगत और पूर्णपरिपाक में तल्लीन सहृदय की चित्तवृत्ति का नाम ही रस है।'

* * *

'काव्य से सहृदय का हृदय-सागर उमड़ आता है। इस उमड़ते हृदय सागर में जब सहृदय तन्मय हो जाता है तब उसकी तदाकार वृत्ति में निहित जो आनंद है, उसे ही 'संस्कृत ग्रन्थकारों' ने रस कहा है। दुष्यन्त-शकुन्तला के प्रेम, राम-रावण के शौर्य, यशोदा-कृष्ण के वात्सल्य आदि प्रसंगों के काव्यगत वर्णनों का आस्वाद लेते समय सहृदय उसमें तल्लीन हो जाता है, क्षणभर के लिए अपने आपको भुला देता है, प्रसंगानुरूप प्रेम, शौर्य, वात्सल्य इत्यादि भावनाओं के आस्वादन में रंग जाता है, पाठक के इसी आस्वाद का नाम रस है। 'रस का आस्वाद' इस प्रकार से जो हम शब्द-प्रयोग करते हैं उसे स्थूल या सामान्य प्रयोग ही समझना चाहिए। वस्तुतः आस्वाद का अर्थ ही रस है। प्रस्तुत आस्वाद की जो काव्यगत सामग्री है उसे भी लाक्षणिक अर्थ से ही रस कहा जाता है और 'काव्य में रस है' यह कथन भी लक्षणा के कारण ही है।'[1]

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि श्री द० के० केळकर रस को मुख्यतः सहृदयगत मानते हैं और लक्षणावश इस को काव्यगत भी मान लेते हैं। इनके अनुसार रस का मूलभूत स्वरूप हुआ आस्वाद और आस्वाद का तात्पर्य है आनंद।[2] इस प्रकार इन्होंने काव्याध्ययन कालीन सहृदय के आनंद को ही रस माना है।

श्री द० के० केळकर के समान ही डा० के० ना० वाटवे ने भी रस की स्थिति

---

१. काव्यालोचन, पृ० १२२, १२७-२८।

२. वही, पृ० १६१।

मुख्य रूप से सहृदय में और लक्षणा से काव्य में स्वीकार की है। इन्होंने रस का स्वरूप भी आनन्दमय ही माना है, किन्तु उसका व्याख्यान अभिनव पद्धति से इस प्रकार किया है :

'कल्पना की सहायता से प्राप्त आह्लाददायक अनुभव को ही रस कहा जाता है। इस रस को उत्पन्न करनेवाली मूल सामग्री काव्य में ही होती है, अर्थात् एक अर्थ से रस कारण रूप से काव्य में भी होता है।'[1]

'काव्य में उत्कट भावनाओं के ललित आविष्कार से सहृदय पाठक की सुख-संवेदक और समग्र प्रत्युत्तरात्मक क्रिया का नाम रस है।'[2]

इस प्रकार डा० वाटवे ने कारण रूप से काव्य में रस की स्थिति स्वीकार करने के उपरान्त रस को मुख्यतः सहृदयगत सिद्ध करने के लिए तर्कपूर्ण विस्तृत विवेचन किया है। इनसे पूर्व डा० माधवराव पटवर्धन ने रस की सहृदयनिष्ठता पर अनेक आक्षेप उठाये थे।[3] उन आक्षेपों का समाधान प्रस्तुत करते हुए ही निम्न-लिखित युक्तिप्रमाणों का आश्रय लेकर डा० वाटवे ने रस की सहृदयनिष्ठता इस प्रकार से सिद्ध की है :

(१) यद्यपि यह सत्य है कि संसार में ज्ञेय विषय की प्रथमतः स्थिति के बिना ज्ञाता को ज्ञान नहीं होता तथापि वस्तुमात्र की सत्ता तो हो और ज्ञाता न हो तो उस वस्तु का ज्ञान किसे होगा। दृष्टि के बिना दृश्य का क्या अस्तित्व है, वस्तु की स्थिति होते हुए भी नहीं के बराबर है। संसार की वस्तुओं का 'अस्तित्व' ज्ञाता के मन की आकलन शक्ति पर निहित है अतः वे सब ज्ञातृ सापेक्ष हैं, फलतः रस को भी ज्ञातृसापेक्ष मानना उचित है।

(२) कवि अपनी भावनाओं के अनुरूप काव्य-सृजन करता है। कवि के सामने प्रत्यक्ष सत्य जगत् रहता है, उसकी वह अपनी प्रतिभा से अलंकृत प्रतिभाएँ बनाता है। रसिक के सामने तो कवि-निर्मित वे तेजस्विनी और नवीन प्रति-माएँ रहती हैं उनका आस्वाद लेते समय रसिक को वे कुछ निराली प्रतीत होती हैं। स्वयं कवि को भी अपने काव्य-सृजन के समय तथा बाद में उसे

---

१. रसविमर्श, पृ० ७३।

२. The pleasent and total emotional response of a sympathetic reader to the elegant expression of intense emotion in poetry is Rasa.

रसविमर्श, पृ० १६९।

३. महाराष्ट्र साहित्य पत्रिका, अक्टूबर १९३७।

पढ़ते समय रसिक के समान ही आनंदानुभव होता है। फलतः कवि का काव्य और रसिक को प्रतीयमान उसके स्वरूप में अंतर आ जाता है और इसी कारण सहृदय में काव्य से प्रतीयमान रस कुछ भिन्न स्वरूप का है। काव्यास्वादन से रसिक के मन में एक तत्सदृश किन्तु तद्‌भिन्न मधुर काव्य का निर्माण होता है, यही रसिक का काव्य और उससे प्राप्त उसका रस है।

(३) मूल काव्य में भावनाओं का वर्णन कहीं-कहीं अपूर्ण और सूच्य भी होता है, परन्तु सहृदय तो उन्हें अपनी कल्पना के अनुरूप पूर्ण कर लेता है। सहृदय अपनी कल्पना शक्ति का भी उपयोग करता है अतः मूलकाव्य का स्वरूप बदल जाता है और सहृदय के मन में तत्प्रेरित नवकाव्य का निर्माण होता है। सहृदय को अपनी निर्मिति का भी आनंद मिलता है अतः उसका आनंद भिन्न प्रकार का होता है, इसी कारण रस को सहृदयगत कहा जाता है।

(४) आम आदि फलों में निहित रस को फलनिष्ठ कहा जाता है, रसिकनिष्ठ नहीं, इसी प्रकार रस को काव्यनिष्ठ ही क्यों न माना जाय ? इसका उत्तर है कि फल रस से जो आस्वादानंद मिलता है, वह रसनेन्द्रियजन्य है। फलों के रस का सम्बन्ध मन के आंतरिक भाग से नहीं होता। फल-रस के सदृश इतर वस्तुओं के रसास्वादन में भी वैयक्तिक अनुभवों का सम्बन्ध बहुत कम होता है, परन्तु काव्य में इनका सम्बन्ध बहुत अधिक होता है, फलतः यह मानना पड़ता है कि काव्यास्वाद में मूलवस्तु का रूप बदल जाता है इसीलिए काव्यरस को लौकिक और रसिकगत रस को अलौकिक तथा निर्णायक रस कहा जाता है।[1]

(५) अरिस्टाटल का 'कथार्सिस' (catharsis) या विरेचनसिद्धान्त भी रसिकगत रस का ही संकेत देता है। अरस्तू के अतिरिक्त पाश्चात्य विवेचक ने भी रस को सहृदयगत ही स्वीकार किया है : 'जब काव्य में रसोत्कट प्रसंग कहा जाता है तब प्रश्न उठता है कि रस पात्र में है, कवि में है या पाठक में। कवि-मन में प्रथम रस का प्रादुर्भाव हुए बिना रसाविष्कारक पात्रों का निर्माण ही संभव नहीं है। अतः रस को कविनिष्ठ और बाद में काव्य-पात्रनिष्ठ मानना चाहिए। परन्तु कविनिष्ठ अथवा काव्यनिष्ठ रस का अस्तित्व अंततः सहृदय के हृदय में उत्पन्न

---

१. डा० वाटवे : रसविमर्श, पृ० १६४-६८।

रसवत्ता के आधार पर ही निर्धारित किया जा सकता है, अतः काव्य रस को सहृदयनिष्ठ मानना ही उचित है।'[१]

इस प्रकार डा० वाटवे ने अनेक युक्ति-प्रमाणों तथा भारतीय तथा पाश्चात्य मनीषियों की एतद्विषयक धारणाओं का आश्रय लेकर 'रस' की स्थिति सहृदय में दिखाई है और सामान्यतः सहृदय के चित्त की काव्यास्वादजनित आनंदमयी वृत्ति को 'रस' माना है।

श्री वा० ल० कुलकर्णी ने रस-स्वरूप का विश्लेषण करते हुए इस का तात्पर्य 'भावना' की अपेक्षा 'आनंद' ग्रहण करने पर विशेष बल दिया है। इनके मत में 'काव्याध्ययन से उत्पन्न भावना की अपेक्षा इस भावना से उत्पन्न 'आनंद' ही रस की कल्पना में ग्राह्य समझना चाहिए।' अतः इनके विचार में काव्याध्ययन से सहृदय में जितने भी आनंदगर्भ भाव निर्मित होते हैं, उनके आधार पर रसों का वर्गीकरण करना अनुपयुक्त है। प्राचीन संस्कृत आचार्यों ने इस प्रकार का प्रयत्न किया है, परन्तु आधुनिक युग में 'विभावानुभाव' आदि के आधार पर तथा विभिन्न भावों के आधार पर 'रस'-निर्धारण अनुपयुक्त है। फलतः इनका निष्कर्ष है: 'किसी भी कलाकृति के परिशीलन से सहृदय में उत्पन्न आनंद को 'रस पदवी' देने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए।[२] इस प्रकार इन्होंने 'रस' और सहृदय के काव्याध्ययन जन्य आनन्द का एकांत समीकरण कर दिया है।

काव्याध्ययन जनित 'सुख-दुःखात्मक' भाव रूप 'रस' तथा आनंद रूप 'रस' का पारस्परिक समीकरण श्री ग० त्र्यं० देशपांडे की मान्यता में अनुपयुक्त है। अतः इन्होंने मूलतः संस्कृत साहित्यशास्त्र में उपलब्ध रस के दोनों स्वरूपों के पृथक्-पृथक् अनुयायी आचार्यों की परंपरा का उल्लेख इस प्रकार किया है:

(१) परिपुष्टवादियों की सुख-दुःखवादी परंपरा—

दण्डी, वामन, लोल्लट, श्री शंकुक, सांख्यवादी, भोज, रामचन्द्र-गुणचन्द्र।

(२) अभिव्यक्तिवादी अथवा चर्वणावादी आचार्यों की केवलानंदवादी परंपरा—

---

1. By the phrase, emotional element in literature, there, we will understand the power of literature to awaken emotion in us who read, emotional in literature means the emotion of the reader. C. T. Winchester. Some principles of Literary Criticism P. 62-63.

डा० वाटवे : रसविमर्श, पृ० १६८।

२. **श्री वा० ल० कुलकर्णी : वाङ्मयीन टीपा आणि टिप्पणी : (रसम्ह णजेकाय ?) प० ४७।**

ध्वनिकार-आनंदवर्धन, भट्टतौत, भट्टनायक, अभिनवगुप्त, मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ, प्रभाकर, मधुसूदन सरस्वती, जगन्नाथ ।

रस-स्वरूप की इन दोनों परंपराओं में श्री ग० त्र्यं० देशपांडे को चर्वणावादी या केवलानंदवादी परंपरा ही अधिक ग्राह्य प्रतीत हुई है। 'जहाँ तक हमारी सम्मति का प्रश्न है हमें अभिनवगुप्त का मत ही अनेक कारणों से स्वीकार्य प्रतीत होता है, क्योंकि इसी सिद्धान्त से ही संपूर्ण काव्यांगों की उपयुक्त उपपत्ति हो जाती है। फलतः इससे अपरिहार्य रूप से सम्बद्ध आनंदवाद ही हमें ग्राह्य प्रतीत होता है।'[1] यद्यपि श्री ग० त्र्यं० देशपांडे आधुनिक सभी काव्यशास्त्र के समीक्षकों से उन्हीं की धारणा स्वीकार करने का आग्रह नहीं करना चाहते, फिर भी उन्होंने आधुनिक विवेचकों को एक मित्रतापूर्ण सूचना दी है कि पूर्वोक्त दोनों दृष्टि-कोण मूलतः भिन्न-भिन्न हैं, इनका एकीकरण अनुपयुक्त है : 'परिपुष्टिवादी "स्थायी रसः" मानते हैं और इस आधार पर उनकी धारणा रस के सुख-दुःखात्मक स्वरूप में पर्यवसित होती है तो संविच्चर्वणावादी "स्थायी विलक्षणो रसः" मानते हैं, जो आनंद रूप में ही परिणत हो जाती है।'[2] इनके मत में दोनों मान्यताओं को मिला देना अनुपयुक्त है, अभिनव गुप्त की संविच्चर्वणा-प्रक्रिया स्वीकार करके रस को सुखदुःखात्म रूप मानना असंगत है।

'रस-स्वरूप' की भाववादी परंपरा :

आधुनिक युग की बुद्धिवादी परम्परा ने प्राचीन काव्य-सिद्धान्तों को भी जीवन से सम्वद्ध करके ही उनके परीक्षण-मूल्यांकन का प्रयत्न किया है। परिणामतः इन्हें रस के परब्रह्मास्वाद सहोदर आनंदवादी स्वरूप में एकांततः अलौकिकता प्रतीत हुई है। इन्होंने मानवीय मनोभावों से ही प्रत्यक्षतः रस-स्वरूप को सम्पृक्त करके प्राचीन आनंदवादी रस-स्वरूप का पुनराख्यान किया है। इनमें उल्लेखनीय पुनराख्याता हैं श्री रा० श्री० जोग०, डा० मा० गो० देशमुख, डा० रा० शं० वाळिंबे इत्यादि।

श्री जोग ने 'रस' धातु का अर्थ स्पष्ट करते हुए उसे आस्वाद सुखात्मक कहा है। 'काव्य पढ़ते समय पाठक की एक प्रकार की वृत्ति (मनोवृत्ति) बनती जाती है और उसमें उसे किसी न किसी प्रकार की अनुकूल संवेदना होती रहती है। प्रस्तुत अनुकूल संवेदना का अर्थ ही सहृदय के मन का रस है। "यदि रस की स्थिति सहृदय में है तो उसे काव्य की आत्मा किस प्रकार से सिद्ध किया जा सकता है ? इस प्रश्न

१. भारतीय साहित्य शास्त्र, पृ० २९१ ।

२. वही ।

का उत्तर श्री जोग के अनुसार है : 'सहृदय के मन में रसोत्पादक कारण (काव्य) को भी लक्षणा से 'रस' कहा जाता है। काव्य में इतनी शक्ति होती है कि सहृदय में रस उत्पन्न कर सके, फलतः रस को काव्य की आत्मा भी कहा जाता है।'[1]

इस प्रकार श्री० जोग ने स्थूल रूप से रस को सहृदय के मन की अनुकूल संवेदनात्मक वृत्ति मानने के उपरान्त 'रस' को सुख दुःखात्मक भाव-स्वरूप निर्धारित करने में विशेष युक्ति-प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। 'रस का तात्पर्य है प्रथम सहृदय के मन में उत्कट भावना जागृति।' परन्तु रस-ध्वनिवादी आचार्यों ने इसका स्वरूप-विश्लेषण अखण्ड, सतोगुण रजोगुण तमोगुण-अस्पृष्ट, चिन्मय, स्वप्रकाश आदि विशेषणों से किया है। इस चिन्तन में श्री ० जोग की मान्यतानुसार परिवर्तन आवश्यक है : 'काव्यास्वाद अथवा रस को परब्रह्मास्वाद के समान सिद्ध करते समय इन सब विशेषणों का तथा वर्णनों के अर्थों का थोड़ा-बहुत परिवर्तन अपेक्षित है, रस के प्रस्तुत स्वरूप को रस का कार्य कहा जा सकेगा, वह सहृदय को आनंद और सुख प्रदान करता है, इसका पृथक् निरूपण अनावश्यक है।'[2]

अतः 'ब्रह्मास्वादसहोदर' या अलौकिक रस की अपेक्षा इसे 'भावना जागृति रूप' अथवा स्थूल रूप से 'अनुकूल संवेदनात्मक मानना ही अधिक उपयुक्त है। इस धारणानुसार इन्होंने प्राचीन रसध्वनिवादी आचार्यों के रस-स्वरूप-विश्लेषक कतिपय तत्वों में संशोधन-परिवर्तन भी सुझाये हैं।

(१) काव्याध्ययन में पाठक का वैयक्तिक स्वार्थ जुड़ा नहीं रहता, अतः उसमें दुःख भी नहीं होता। परन्तु इतने मात्र से यह समझना असंगत है कि सहृदय की सारी रजोगुणी-तमोगुणी वासनाएँ नष्ट होकर उसमें सत्वोद्रेक मात्र शेष रहता है। भावनाएँ जिस प्रकार की होंगी, तदनुरूप रसोत्पत्ति भी त्रिगुणात्मक ही होगी। केवल पाठक का व्यक्तिगत स्वार्थ उसमें नहीं आता इसलिए वह रजोगुण-तमोगुण का आविष्कार नहीं करता और ये गुण सुख की मर्यादा में ही रहते हैं।'[3]

(२) रस का स्वरूप केवल सुखात्मक मानना करुण रसानुभूति में सर्वांश में सत्य नहीं है।

(३) 'स्वप्रकाश' का अर्थ है 'मानसिक प्रकाश'। काव्याध्ययन के समय पाठक की यह अनुभूति कि 'उसे किसी प्रकार का ज्ञान हो रहा है' इस प्रकार की

---

१. अभिनव काव्य प्रकाश, पृ० ९३, तृ० सं०।
२. वही, पृ० ९५।
३. वही, पृ० ९६।

भावना या प्रतीति को ही 'स्वप्रकाश' कहा जाय ।

(४) एकघन चमत्कार और अखंड का आशय यह नहीं है कि सभी रसों में एक प्रकार की ही मन की वृत्ति बनती है । वरन् पृथक्-पृथक् रस में जो प्रतीति होती है, वह अखण्ड रूपात्मक होती है । प्रत्येक रस के विभाव-अनुभावों के पृथक्-पृथक् कार्यों की प्रतीति नहीं होती, वरन् उनमें अंतिम एक अखण्ड रसवृत्ति बनती है, इतना ही अखण्ड और एकघन का अर्थ लेना चाहिए ।

अतः रस-स्वरूप के विषय में प्रा० जोग की धारणा है : 'प्राचीनों के रस-स्वरूप वर्णन में निहित अतिशयोक्ति और अलौकिकत्व का अंश निकाल कर इसमें केवल भावनाजागृति का अंश ग्रहण करना ही उपयुक्त होगा ।'[1] इस प्रकार श्री जोग रस के परिपुष्टिवादी संस्कृत आचार्यों की 'स्थायी रसः' की कल्पना को अधिक ग्राह्य और उपयुक्त मानते हैं । इसी आधार पर वे रस-ध्वनिवादी आचार्यों के प्रतिष्ठापित 'रस-स्वरूप'-विश्लेषक तत्वों के पुनराख्यान का भी प्रयत्न करते हैं । परन्तु श्री ग० त्र्यं० देशपाण्डे की धारणा में इस प्रकार का पुनराख्यान अनुपादेय है, क्योंकि इससे आनंदवादी आचार्यों के 'रस-स्वरूप' का रूप ही विकृत होने लगता है ।[2]

डा० मा० गो० देशमुख ने 'रस-स्वरूप' का पुनराख्यान नहीं किया वरन् 'रस' तत्व को ही अपर्याप्त ठहराया है। इनसे पूर्व डा० माधवराव पटवर्धन ने रस-सिद्धान्त की न्यूनताओं तथा असंगतियों का व्यापक प्रतिपादन किया था ।[3] इन से प्रभावित हो कर डा० देशमुख ने 'रस' के स्थान पर 'भाव' को ही काव्य का आत्म तत्व स्वीकार करने पर विशेष बल दिया है । इन की धारणा में काव्य ही नहीं इतर ललित कला-प्रकारों में भी मूलतः भाव तत्व ही अनुस्यूत रहता है : 'संस्कृत का समग्र साहित्यशास्त्र आधुनिक साहित्य-मीमांसा और सौन्दर्यशास्त्र इन सब का सूक्ष्म अवलोकन करने पर केवल काव्य ही नहीं इतर ललित कलाओं के सभी प्रकारों में एकमेव अनुस्यूत तत्व--भाव ही प्रतीत होता है ।'[4] भरतमुनि ने भी भाव तत्व का पूर्णतः मूल्यांकन किया है । नाट्य-प्रयोग में परिपुष्ट स्थायी भाव रस

---

१. वही, पृ० ९८ ।

२. भारतीय साहित्यशास्त्र, पृ० २९१ ।

३. दे० डा० माधवराव पटवर्धन का लेख, म० सा० पत्रिका अक्टोबर (१९३७ और सह्याद्रि, नवम्बर १९३७)

४. भावगन्ध, पृ० ६१, प्र० आवृति, १९५५ ।

बनता है परन्तु अपरिपुष्ट भाव को आचार्यों ने केवल 'भाव' मात्र माना है। इस पर डा० देशमुख का तर्क है : 'इस से यह नहीं समझना चाहिए कि अपरिपुष्ट भाव कम दर्जे का है। मोटा-ताजा मनुष्य परिपुष्ट होता है, परन्तु दुबला-पतला मनुष्य उस मोटे-ताजे मनुष्य से 'मनुष्य' इस नाते से आरोग्य की दृष्टि से घटिया दर्जे का कैसे सिद्ध किया जा सकेगा ? भरतमुनि भी इसी तथ्य से परिचित थे, अतः उन्होंने स्पष्ट कहा है—

"न भावहीनोऽस्ति रसः न भावो रस वर्जितः ।"[1]

इस प्रकार डा० देशमुख ने 'भाव' को रस के समान ही महत्वपूर्ण सिद्ध किया है और इन्होंने परंपरागत 'रसस्वरूप' को आधुनिक काव्यशास्त्र के लिए अनुपयोगी ठहराया है। इनकी धारणानुसार उसे काव्य का आत्म तत्व मानना भी भ्रामक है।[2] अतः इन्होंने 'रस' के स्थान पर 'भाव' तत्व को काव्य-मूल्यांकन का मूलभूत तत्व स्वीकार करने पर विशेष बल दिया है। क्योंकि 'भाव' शब्द की महत्ता का भारतीय रसवाद ही प्रबल समर्थन नहीं करता वरन् 'पाश्चात्य काव्य-मीमांसा में निर्दिष्ट काव्य के मूलतत्व—'इमोशन', फीलिंग तथा एक्स्प्रेशन की कल्पनाओं का भी व्यापक रूप में इस भाव शब्द में अन्तर्भाव हो सकेगा'[3] काव्य की भावानुभूति का रूप चर्वणात्मक न मानकर इन्होंने 'गन्धात्मक' स्वीकार किया है। इसके लिए वे भरतमुनि का ही प्रमाण उद्धृत करते हैं—"लोकेऽपिच प्रसिद्धमहो ह्यनेन गन्धेन रसेन वा सर्वमेव भावितमिति तच्च व्याप्त्यर्थम् ।" इस प्रकार 'रस' के स्थान पर 'भावगन्ध' शब्द इनकी धारणा में आधुनिक काव्य-मूल्यांकन के स्वरूप को स्पष्ट करने में पूर्णतः समर्थ होगा।[4]

डा० मा० गो० देशमुख का प्रस्तुत प्रयत्न इस दृष्टि से उपयुक्त है कि इन्होंने परंपरागत रस-स्वरूप के चिंतन को कुछ सीमा तक यथावत ही रहने दिया है। अपने नव-चिन्तन का उस पर अध्यारोपण नहीं किया है। फिर भी वे रस के स्थान पर 'भाव गन्ध' को काव्य मूल्यांकन का निर्दोष सिद्धान्त निर्धारित करने में भरतमुनि के वचनों का भी आधार ग्रहण करने का प्रयत्न करते हैं। वस्तुतः भरतमुनि

---

१. वही, पृ० ६२ ।
२. वही, पृ० ५८ ।
३. वही, पृ० ६२ ।
४. दे० 'भावगन्ध'—सिद्धान्त का स्वल्प विवेचन, मराठी साहित्यशास्त्र की विकासपरंपरा, तृतीय चरण (परिशिष्ट) इसी शोध-प्रबन्ध में ।

के नाटचगत भाव शब्द और श्री डा० मा० गो० देशमुख प्रतिपादित काव्यगत भाव शब्द में विशेष साम्य नहीं है।

डा० मा० गो० देशमुख ने 'रस' और 'भाव' को अभिन्न-सा मानते हुए भी 'रस' के स्थान पर 'भाव' शब्द को अधिक उपादेय समझा है, परन्तु डा० रा० शं० वाळिंबे ने 'रस' शब्द का आशय ही मूलतः 'भाव' या 'भावानात्मक' सिद्ध किया है। 'रस' के आनंदवादी स्वरूप की अपेक्षा भावनावादी दृष्टिकोण पर ही उनका चिंतन आधृत है, इसको वे 'उत्कट भावना' रूप ही मानते हैं। इनके मत में स्थायी भाव का तात्पर्य 'इमोशन' अथवा 'भावना' मानना ही उपयुक्त है। श्री आनंद-कुमार स्वामी ने भी उन्हें 'इमोशन्स' ही कहा है।[1] भरतमुनि के अनुसार विभाव, अनुभाव तथा संचारीभाव के संयोग से स्थायी भाव रस में रूपांतरित हो जाते हैं, इससे तात्पर्य निकला नाटचान्तर्गत भावना अभिनयादि की सहायता से जब उत्कट अवस्था को पहुँचती है, तब उसे ही रस कहा जाय। रस का अर्थ है उत्कट रूप में प्रतीयमान भावनाएँ। स्थायी भावों की सूची पर दृष्टिपात करने से प्रतीत होगा कि सभी स्थायी भाव 'इमोशन्स' के अन्तर्गत ही आ जाते हैं। भरतमुनि ने स्थायी को ही रस कहा है, इसका मर्म भी यही है। 'तात्पर्य, भावना अथवा इमोशन्स उत्कट होते ही उनका रस में रूपान्तर हो जाता है--भावना ही रस है।'[2]

प्रा० जोग ने सुख दुःखात्मक 'भावना जागृति रूप' को 'रस' का स्वरूप निर्धा-रित किया है तो डा० वाळिंबे ने भावना के उत्कट रूप को ही। इससे स्पष्ट है कि 'रस' की आनंदवादी परंपरा की अपेक्षा भाववादी परंपरा पर ही डा० वाळिंबे का चिंतन भी आधारित है। प्रा० जोग ने करुण रस में एकांततः आनंदानुभूति का समर्थन नहीं किया है, इसी प्रकार इन्होंने भी करुण रसानुभूति के प्रसंग में सहृदय के मन की उल्लसित-अवस्था का ही समर्थन किया है।[3] संक्षेपतः इनका 'रस-स्वरूप' सुखदुःखात्मक भावनारूप होते हुए भी 'उत्कट' विशेषण को अपने में अनिवार्यतः अन्तर्हित किये हुए है। इन्होंने 'रस-स्वरूप' के निर्धारण में रस-ध्वनिवादी -अभिनव-मम्मट आदि की अपेक्षा भरतमुनि के प्रतिपादन को ही विशिष्ट आधार माना है।

रस का स्वरूप ज्ञातृ-निरपेक्ष है : वस्तुनिष्ठ है :

मराठी में कतिपय आलोचक रस को ज्ञातृ-निरपेक्ष मानने पर विशेष बल देते हैं। रस-सिद्धान्त पर प्रबल आक्षेप करनेवाले सर्वप्रथम आलोचक थे डा० माधव-

---

१. साहित्य मीमांसा, पृ० १२२।
२. वही, पृ० १२२।
३. वही, पृ० १६०।

राव पटवर्धन उन्होंने प्रश्न उठाया था रस काव्यगत माना जाय अथवा रसिकगत ? इनके पश्चात् मराठी में रस स्वरूप के विषय में साधक-बाधक युक्ति-प्रमाणों का प्रवाह-सा उमड़ आया। पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में कवि-व्यक्तित्व का अधिक विश्लेषण हुआ है। सामयिक राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक अथवा सांस्कृतिक परिस्थितियों के आधार पर ही कवि की कृति का मूल्यांकन किया गया है और काव्यगत रस की वहाँ अधिकांशतः चर्चा रही है। परन्तु भारतीय साहित्य-शास्त्र में कवि-व्यक्तित्व की अपेक्षा सहृदय की चित्त वृत्तियों का ही अधिक विश्लेषण हुआ, जिसका परिणाम यह हुआ कि जीवन के विराट् रूप को साहित्यमें अंकित देखने की अपेक्षा रसतत्व या आनंद तत्व का अन्वेषण ही साहित्य के मूल्यांकन का मानदण्ड बन गया। संस्कृत साहित्य शास्त्र की काव्य-मूल्यांकन पद्धति भी इसी आनंदवाद के फलस्वरूप संकुचित बन गई। कालिदास, भवभूति, बाण, शूद्रक आदि कवियों की प्रख्यात कृतियों का समग्ररूप में मूल्यांकन नहीं किया गया। कवि व्यक्तिगत और तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक अथवा सांस्कृतिक मूल्यों के आधार पर कृतियों के मूल्यांकन, परीक्षण या समीक्षण के लिए पर्याप्त अवकाश था। परन्तु भारतीय दर्शन क्षेत्र में वेदान्त के अद्वैतवाद और आनंदवाद की इतनी प्रबलधारा बह रही थी कि इस युग के आचार्यों की चिन्तन-प्रणाली नितांत अन्तर्मुखी बन गई। फलतः संस्कृत के उन महान् कवियों की कृतियों में से शृंगार, करुण, वीर आदि भावों के अभिव्यंजक श्लोकों को छाँट-छाँट कर निकाला गया और उनको विभाव, अनुभाव तथा संचारीभावों के परंपरागत व कतिपय निज-आविष्कृत साँचों में बिठा कर सहृदय के आंतरिक, अलौकिक, ब्रह्मास्वाद सहोदर आनंद की सिद्धि की गयी। कवि-व्यक्तित्व और समाज नितांत गौण बन गये और काव्य-मूल्यांकन का केन्द्र-विन्दु बन गया सहृदय का आनंदतत्व, जो रति, शोक आदि सुनिश्चित आठ-नौ स्थायी भावों के काव्य में वर्णन से ही उद्‌बुद्ध हो सकता था। मराठी और हिन्दी में पाश्चात्य साहित्य शास्त्र और उसकी काव्य-मूल्यांकन की पद्धति से प्रभावित आलोचकों ने उपर्युक्त दृष्टिकोण से रसवाद पर प्रबल आक्षेप किये हैं।[1]

इस प्रकार आनंदवादी रस-स्वरूप की प्रतिक्रिया ही एक प्रकार से पूर्वोक्त भावात्मक रस-स्वरूप के प्रतिपादन में दिखाई देती है और प्रस्तुत वस्तुनिष्ठ रस-

---

१. **विस्तार के लिए दे० रस-सिद्धान्त की सीमाएँ तथा न्यूनताएँ, इसी शोध-प्रबन्ध में।**

स्वरूप के चिन्तन में भी उसी सहृदयनिष्ठ आनंदवाद की प्रतिक्रिया ही झलकती है।

आधुनिक मराठी साहित्यशास्त्र को सौन्दर्यशास्त्र की दिशा की ओर अभिमुख करने में स्वर्गीय श्री बा० सी० मर्ढेकर का अनुपम योगदान है। इन्होंने काव्य-मूल्यांकन में सहृदयनिष्ठ रसवाद को अपर्याप्त और सदोष सिद्धान्त माना है और इसके स्थान पर कतिपय सौन्दर्य-निर्धारक तत्वों का आविष्कार किया है।[1] श्री मर्ढेकर ने रस-सिद्धान्त की अपूर्णता और सदोषता में मुख्य रूप से निम्नलिखित तत्वों की ओर संकेत किया है :

१. 'यदि रस-सिद्धान्त में स्थायी भावों का सम्बन्ध सहृदय से स्वीकार किया जाय तो सौन्दर्य का अस्तित्व और सौन्दर्य का ज्ञान इन दोनों में परस्पर अव्यवस्था उत्पन्न होगी। ऐसी स्थिति में यह स्वीकार करना पड़ेगा कि सौन्दर्य का अस्तित्व सदैव उसके ज्ञान पर अवलंबित होता है। यदि प्रत्येक काव्य-रचना का सौन्दर्य निरपवाद रूप से सहृदय पर ही अवलंबित हो तो उस सौन्दर्य का स्वतंत्र अस्तित्व ही नहीं होगा। जिस प्रकार वृक्षस्थ आम्रफल का यदि कोई आस्वाद न ले तो भी फल स्वादिष्ट रह सकता है, उसी प्रकार यदि किसी भी पाठक या प्रेक्षक ने किसी काव्य-कृति का आस्वाद नहीं लिया तो भी वह रचना सुन्दर क्यों नहीं कही जा सकेगी ? इसी प्रकार यदि कोई लेखक अपनी रचना को पूर्ण करते ही दिवंगत हो जाता है और उसकी कृति २५ वर्ष तक अज्ञातावस्था में रहती है, तदनन्तर कोई सहृदय आलोचक उसे उत्कृष्ट कृति के रूप में घोषित करता है तो उससे पूर्व की २५ वर्ष की अवधि तक क्या उस कृति के सौन्दर्य का अस्तित्व ही नहीं था ?'[2]

२. रसों के स्थायी भावों का सम्बन्ध सहृदय से मानने पर एक अन्य दोष उपस्थित हो जाता है, वह है रस-व्यवस्था में एकसूत्रता का अभाव। किसी भी रचना के आस्वादन में भावनाओं के दो संघटकों पर विचार करना अपेक्षित है। इनमें भावनाओं का प्रथम संघटक काव्य-रचना के पात्र तथा उसमें चित्रित व्यक्तियों की भावनाओं से सम्बद्ध होता है, अर्थात् काव्यकृति के विषयभूत समस्त भावनाओं का यह संघटक होता है और दूसरा संघटक उस काव्य-कृति के आस्वादक सहृदय की भावनाओं का होता है। भावनाओं के इन दो संघटकों के पारस्परिक संबन्ध पर विचार करने से स्थायीभावों पर आधृत रस-व्यवस्था में एकसूत्रता का अभाव दिखाई देता है। उदाहरणार्थ, नरमांस भक्षण के दृश्य में खाद्य भी

१. दे० सौन्दर्य आणि साहित्य, 'वाङ्मय आणि सौन्दर्यशास्त्र' पृ० १०७-२८।
२. सौन्दर्य आणि साहित्य, पृ० ८०।

मनुष्य ही हो और भक्षक भी मनुष्य ही हो, तब एक की भावना का स्थायी भाव भय, तो दूसरे की भावना का स्थायी भाव उत्साह, क्रोध और इस दृश्य के दर्शक की भावना का स्थायी भाव जुगुप्सा होगा। इसके अतिरिक्त यदि कोई सच्चा सहृदय या कलाकार होगा तो उसे जुगुप्सा की अनुभूति भी न होगी।'[१]

इस प्रकार स्थायीभावों पर आधृत रस-व्यवस्था के प्रतिपादन में 'मानवी मन' या 'मानवी भावना' इन दो संज्ञाओं का उपयोग करने से काव्य विषयीभूत भावना और उन भावनाओं के चित्रण से सहृदय के मन में उत्पन्न होने वाली भावना इन दोनों के सम्बन्ध-प्रतिपादन में त्रुटि हो गई है। यदि स्थायी भावों की कल्पना को ग्राह्य माना जाय तो उसमें इस त्रुटि का होना अपरिहार्य है।'[२]

श्री मर्ढेकर के उपरोक्त दोनों आक्षेपों में सारा बल स्थायी को या रस को सहृदयगत मानने के विरोध में ही दिखाई देता है। इन्होंने काव्य-वर्णित पात्रों के स्थायीभाव और उसके आस्वादक सहृदय में जागृत स्थायीभावों में सर्वत्र अनिवार्य समता का प्रतिषेध किया है। मराठी के सुप्रसिद्ध नाटक 'एक च प्याला' तथा 'भाव-बन्धन' से अनेक उदाहरण प्रस्तुत करके इन्होंने अपने मन्तव्य को प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है।[३] सारांशतः इनके विचार में मूल नाटकस्थ पात्रों के स्थायी भाव और उसके प्रेक्षक के स्थायीभाव में अनिवार्यतः समता नहीं होती अतः सहृद-याधिष्ठित रस-व्यवस्था में एकसूत्रता का अभाव है।

श्री मर्ढेकर के प्रथम आक्षेप का निराकरण डा० सुरेन्द्र बारलिंगे ने किया है। श्री मर्ढेकर ने अपने प्रथम आक्षेप में सहृदय आस्वादक के बिना भी कृति के स्वतंत्र सौन्दर्य का प्रतिपादन करके रस-व्यवस्था में सहृदय की अनिवार्य स्थिति को सदोष माना था। किन्तु डा० बारलिंगे के मत में श्री मर्ढेकर यहाँ दो गल्तियाँ कर रहे हैं। एक तो सौन्दर्य का ज्ञान और सौन्दर्य का अस्तित्व इस प्रश्न पर यहाँ विचार करना सर्वथा 'अप्रस्तुत' है। 'सौन्दर्यवाचक विधान' और 'अस्तित्व वाचक विधान' इन में प्रथमतः भेद की कल्पना करके स्वयं मर्ढेकर ही भ्रम उत्पन्न कर रहे हैं। संभवतः वे इस स्थल पर इस तथ्य को भूल गये हैं कि 'सौन्दर्यवाचक विधान' का 'उद्देश्य' सदैव अस्तित्ववाचक ही होता है।'[४] यदि यह मान भी लिया जाय कि २५ वर्ष की अज्ञातावस्था में कृति के सौन्दर्य का अस्तित्व ही नहीं था तब भी क्या

---

१. सौन्दर्य आणि साहित्य, पृ० ८७।

२. वही, पृ० ८०।

३. वही, पृ० ८१।

४. सौन्दर्याचें व्याकरण, पृ० ७०।

बिगड़ जायगा ? 'अज्ञातावस्था में कृति के सौन्दर्य का अस्तित्व नहीं था' और 'अज्ञातावस्था में कृति का अस्तित्व नहीं था' इन दोनों विधानों में अंतर है, इस पर ध्यान देना अपेक्षित है। सौन्दर्य यदि वास्तव में अस्तित्ववाचक न हो तो रचनागत सौन्दर्य के अस्तित्व का प्रश्न ही कहाँ उठता है ? इसके विपरीत सौन्दर्य शब्द सुंदर वस्तुवाचक हो तो वस्तु के सुन्दर रूप में ज्ञान न होने पर भी उस वस्तु का अस्तित्व मानने में क्या आपत्ति है ? 'यह वस्तु सुन्दर है इस प्रकार का सौन्दर्यवाचक विधान तभी हो सकता है जब कि इस प्रकार का विधान करने वाला व्यक्ति प्रत्यक्षतः उसका अनुभव करता है।'[1] अतः कृति और उसके सौन्दर्य का जहाँ अभिन्न सम्बन्ध है वहाँ सौन्दर्य-निर्धारक प्रेक्षक या आस्वादक की भी आवश्यकता है।

रस व्यवस्था से सम्बन्धित मर्ढेकर के द्वितीय आक्षेप का समाधान इन्होंने संस्कृत आचार्यों ने 'साधारणीकरण' की प्रक्रिया से करने का प्रयत्न किया है। डा० बारलिंगे ने काव्य-नाट्यगत पात्रों की अपेक्षा कवि-भावना से तादात्म्य का समर्थन करके मर्ढेकर के आक्षेप का समाधान इस प्रकार से प्रस्तुत किया है : 'काव्य-नाट्य-निर्माता स्वयं एक प्रकार का प्रेक्षक ही होता है और इसी कारण निर्माता और प्रेक्षक इनमें एक प्रकार की समान्तर मनोवृत्ति-समानता उत्पन्न होती है। रंगमंच पर दृश्यमान भाव वास्तव में महत्वपूर्ण नहीं होते। पात्र अपनी भूमिका से समरूप होने का दिखावा मात्र करते हैं, वे सचमुच में एक रूप नहीं होते, यदि एक रूप हो जायँ तो नाटक का नाट्यत्व ही समाप्त हो जाएगा। इसी कारण हास्य रस उत्पन्न करने वाला नट स्वयं नहीं हँसता दूसरों को हँसाता है।'[2]

इस प्रकार श्री मर्ढेकर के द्वितीय आक्षेप का समाधान कवि-व्यक्तित्व के आधार पर प्रस्तुत करते हुए भी डा० बारलिंगे ने उनके आक्षेप को संगत माना है। क्योंकि भरत परवर्ती अभिनव गुप्त आदि आचार्यों ने रस को एकांततः रसिकगत सिद्ध करके रस-व्यवस्था में एकसूत्रता के अभाव का दोष उत्पन्न कर दिया है। अतः डा०बारलिंगे की धारणा में यदि रस का भरतमतानुकूलमूल स्वरूप ग्रहण किया जाय तो किसी प्रकार की असंगति या एक सूत्रता के अभाव के लिए अवकाश ही नहीं रहेगा। भरतमुनि रस को सहृदयनिष्ठ नहीं मानते थे वरन् उन्होंने रस को वस्तुनिष्ठ रूप में प्रतिष्ठित किया था। रस के इस वस्तुनिष्ठ स्वरूप का प्रतिपादन डा० बारलिंगे ने अनेक युक्ति-प्रमाणों का आधार लेकर अत्यंत विस्तार से प्रस्तुत किया है। इनके प्रतिपादन का सारांश इस प्रकार है :

---

१. **सौन्दर्याचें व्याकरण, पृ० ७१।**
२. **वही, पृ० ७३।**

१. भरतमुनि ने रस शब्द का प्रयोग साँख्य शास्त्र के 'तन्मात्रवाचक 'रस' शब्द के आधार पर किया है। सांख्य में ज्ञातृनिरपेक्ष वस्तु को 'रस' कहा जाता है, आयुर्वेद में भी रस का अर्थ वनस्पतियों में उपलब्ध वस्तुमात्र है। भरतमुनि ने सांख्य और आयुर्वेद से 'रस' शब्द को ग्रहण किया है जो वस्तुवाचक है।[१]

२. भरतमुनि का 'रस' से तात्पर्य 'आस्वाद्य' से है अर्थात् आस्वाद जिसका भाव या धर्म है ऐसी वस्तु अथवा आस्वाद का अधिष्ठान। वेदान्तियों ने ब्रह्म की भाँति रस को भी आनंद स्वरूप बताया, वस्तुतः रस सहृदय के आनन्द या आस्वाद का नाम नहीं है, वह तो नाट्य में उपलब्ध वस्तुमात्र है।

३. भरतमुनि ने रस-निष्पत्ति और रसास्वाद की दो भिन्न-भिन्न प्रक्रियाओं का निरूपण किया है। 'तत्र विभावानुभावसंचारि भाव संयोगाद्रस निष्पत्ति' इस सूत्र में 'तत्र' से अभिप्राय रंगमंच से है और वहाँ पर विभावादि के संयोग से रस-निष्पत्ति का निरूपण है, इसे ही रस कहना चाहिए रसास्वाद की प्रक्रिया भिन्न है। सहृदय के आस्वाद का नाम रस नहीं है।[२]

४. काव्यनिर्माण के लिए आवश्यक है कि मनोगतभाव वस्तुगत बनें जब कवि हृदयस्थ भावों का वस्तुकरण होता है, तभी काव्य-निर्माण होता है। शब्दों के अथवा भावों के घेरे में रहने वाले काव्य या नाटक को ही भरतमुनि ने रस कहा है।[३]

५. जिस प्रकार पंचमहाभूतों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए तन्मात्र जैसी वस्तु की आवश्यकता होती है, इसी प्रकार रसिक को आस्वाद लेने के लिये कोई न कोई आस्वाद्य वस्तु की आवश्यकता होती है और वह वस्तु रस है।[४]

इस प्रकार डा० बारलिंगे ने 'रस' की ज्ञातृ-निरपेक्ष वस्तुनिष्ठता की सिद्धि में पर्याप्त गंभीर युक्ति-प्रमाणों का आश्रय लिया है। एकांततः रंगमंचीय 'नाट्य' की दृष्टि से इन्होंने इसे भरत मतानुकूल ही वस्तुनिष्ठ सिद्ध किया है। वस्तुतः भरतमुनि का रस-स्वरूप विवेचन ही पर्याप्त संक्षिप्त है, इसी कारण रस-स्वरूप

---

१. विस्तार के लिए दे० भरतमुनि का रस-सिद्धान्तः डा० बारलिंगे, समालोचक (जून तथा अगस्त १९५८ के अंक, तथा सौन्दर्याचें व्याकरण : रसाचें स्वरूप, पृ० ९१)

२. सौन्दर्याचें व्याकरण, १०९५।

३. वही पृ० ९९-१०१।

४. वही, पृ० १०१।

की संस्कृत काव्यशास्त्र में ही भिन्न-भिन्न व्याख्याएं हुई हैं। भरतमुनि ने ही स्थान-स्थान पर 'स्थायीभाव' की ही रस-संज्ञा निर्दिष्ट की है[१] या स्थायी को ही रस मानने पर बल दिया है और 'रति' आदि स्थायी भावों का स्वरूप भावनात्मक या मनोभावात्मक ही दिया है--'रतिर्नाभिआमोदात्मको भावः'।[२] अतः परवर्ती भाववादी आचार्यों को नाट्यशास्त्र में ही 'रस' के भावात्मक स्वरूप की स्पष्ट झलक दिखाई दी और 'नाट्य' के अतिरिक्त 'काव्य' के लिए ही भावात्मक रस-स्वरूप को इन्होंने व्यापक रूप में अपना लिया है। रंगमंचीय 'नाट्य' की दृष्टि से लिखी हुई नाट्यशास्त्र की टीकाएँ आज उपलब्ध नहीं हैं। संभवतः सांख्यवादी आचार्यों तथा लोल्लट, श्री शंकुक आदि ने विशुद्ध नाट्य की दृष्टि से टीकाएँ लखी हों। परन्तु ध्वनिवादी आनन्दवर्धन से प्रभावित, शैवाद्वैत दर्शन के अनुयायी आचार्य अभिनव गुप्त ने एकांततः 'नाट्य' के दृष्टिकोण की अपेक्षा काव्य के दृष्टिकोण को भी अपनी 'अभिनव भारती' में अन्तर्हित कर लिया है। यदि भरतमुनि के समय रस का ज्ञातृनिरपेक्ष वस्तुनिष्ठ स्वरूप ही रहा होगा, तो यह भी एक ऐतिहासिक सत्य ही समझा जायगा और इसके उद्घाटन का श्रेय वस्तुतः डा० बार्रालिंगे को ही प्राप्त होगा।

सारांश :

इस प्रकार मराठी में रस-स्वरूप के चिन्तन में विविधता है, व्यापकता है। आनंदवादी, भाववादी तथा वस्तुवादी दृष्टिकोणों से रस-स्वरूप का विवेचन किया गया है। आधुनिक काव्यशास्त्र के विवेचकों ने एककांततः परंपरा पालन नहीं किया है। इन्होंने प्राचीन संस्कृत आचार्यों की मान्यताओं का युक्ति-प्रमाण तथा तर्क का आधार ग्रहण करके मूल्यांकन किया है। संस्कृत साहित्यशास्त्र में आनंदवादी तथा भाववादी दृष्टिकोण से रस-स्वरूप का स्पष्टतः विवेचन हुआ है। यद्यपि वस्तुवादी दृष्टिकोण की क्षीण झलक अभिनव गुप्त-उद्धृत सांख्यवादी आचार्य की मान्यता में मिल जाती है[३] तथापि डा० बार्रालिंगे-निरूपित वस्तु-

---

१. स मन्तव्यो रसः स्थायी--नाटचशास्त्र, ७।१२० निर्णयसागर १९४३।
स्थाय्येव तु रसोभवेत--वही ७।१२२
स मन्तव्यो, रस स्थायी--वही ७।१२९।
'स्थायीभावाश्च रसत्वभुपनेष्याभः'--वही ६।४५ के बाद का गद्य भाग, चौ० संस्कृत सिरीज, संस्करण।

२. नाटचशास्त्र, ७।८ के पश्चात् का गद्य भाग, चौखम्बा, संस्करण।

३. दे० रस-स्वरूप (संस्कृत में)

निष्ठ रस-स्वरूप का इससे नितांत अल्प साम्य है, पूर्ण साम्य नहीं है।

आधुनिक युग के मराठी काव्यशास्त्र के विवेचकों ने रस के आनंदात्मक स्वरूप का पूर्णतः समर्थन करते हुए भी रस की कविगत तथा काव्यगत स्थिति के प्रति दुर्लक्ष नहीं किया है। भाववादी रस-स्वरूप के विश्लेषकों ने आनंदवादी संस्कृत आचार्यों द्वारा निरूपित अखण्ड, स्वप्रकाश आदि रस-विशेषणों का पुनराख्यान करके रस के भावात्मक स्वरूप की स्वीकृति पर विशेष बल दिया है। किसी-किसी ने रस तथा भाव में आशय-साम्य का प्रतिपादन करते हुए भी 'रस' के स्थान पर 'भाव' को ही आधुनिक काव्य-साहित्य के मूल्यांकन का उपयुक्त मानदण्ड स्वीकार किया है।[1]

तुलनात्मक सारांश

संस्कृत साहित्यशास्त्र में रस के तीन स्वरूप उपलब्ध होते हैं : वस्तुनिष्ठ, भावमय तथा आनंदमय। इनमें से आनंदमय रस-स्वरूप का प्रतिपादन-विवेचन जिस प्रकार संस्कृत साहित्यशास्त्र में अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से हुआ है उसी प्रकार आधुनिक हिन्दी-मराठी के काव्यशास्त्र में भी इसी आनंदवादी रस-स्वरूप की अधिक मीमांसा हुई है। इसका कारण स्पष्ट है कि हिन्दी-मराठी का आधुनिक काव्य शास्त्र रस-ध्वनिवाद के प्रतिष्ठापकों––आनंदवर्धन, अभिनव, मम्मट तथा विश्वनाथ के प्रतिपादन-विवेचन से ही अधिक प्रभावित रहा है।

हिन्दी मराठी के आधुनिक काव्य शास्त्रज्ञों ने आनंदमय रस-स्वरूप के विवेचन में मुख्यतः चार तथ्यों पर विशेष बल दिया है :
१. रस अलौकिक है, २. आस्वाद = चर्वणा = आनंद रूप है, ३. सहृदयनिष्ठ है और ४. भाव से भिन्न है।

रस की अलौकिकता के कारणों की मीमांसा हिन्दी में अधिक विस्तार से की गई है, श्री कन्हैयालाल पोद्दार, श्री रामदहिन मिश्र, पं० केशवप्रसाद मिश्र तथा डा० श्यामसुंदर दास ने रस-स्वरूप के विवेचन में 'अलौकिक' और 'ब्रह्मास्वादसहोदर' विशेषणों का विशेष पुनराख्यान किया है। रस = आस्वाद = आनन्द इस प्रकार के समीकरण का मराठी में श्री द० के० केळकर ने तथा हिन्दी में श्री कन्हैयालाल पोद्दार तथा राम दहिन मिश्र ने स्पष्टरूप से प्रतिपादन किया है। श्री द० के० केळकर तथा तथा डा० वाटवे ने रस की सहृदयनिष्ठता का विशेष विवेचन किया है और रस को सामान्यतः आनन्दात्मक ही स्वीकार किया है। श्री ग० त्र्यं० देशपांडे ने भी आनंदमय रस-स्वरूप का ही व्यापक विवेचन किया

---

१. दे० रसस्वरूप की भाववादी परंपरा।

है । हिन्दी में डा० भगवानदास, डा० नगेन्द्र तथा डा० गुलाबराय ने रस को भाव से भिन्न मानने पर विशेष बल दिया है । सामान्यतः ये सभी समालोचक रस के आनंदमय स्वरूप का ही पुनराख्यान और विवेचन करते हैं ।

भावमय रस-स्वरूप के प्रतिपादकों में आ० रामचन्द्र शुक्ल तथा प्रा० रा० श्री जोग के अभिमतों में पर्याप्त साम्य है । डा० मा० गो० देशमुख ने रस और भाव की अभिन्नता का प्रतिपादन करते हुए भी रस के स्थान पर 'भाव' शब्द को अपनाना अधिक उपयुक्त समझा है । डा० रा० शं० वाळिंबे के अभिमत में भी रस का तात्पर्य भावना या 'इमोशन' ग्रहण करना ही अधिक संगत है ।

डा० बारलिंगे ने मूलतः भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के आधार पर वस्तुनिष्ठ रसस्वरूप का प्रतिपादन किया है । इन्होंने भाववादी और आनंदवादी रसस्वरूप को भरत मत के प्रतिकूल ठहराया है ।

हिन्दी-मराठी के आधुनिक काव्यशास्त्र में उपर्युक्त तीनों रस-स्वरूपों को मान्यता देना आवश्यक है । ऐतिहासिक दृष्टि से जहाँ इनका महत्व है, वहाँ काव्यसर्जन, काव्य-मूल्यांकन तथा काव्यास्वाद की अनेक समस्याओं का भी इन से सहज समाधान हो जाता है । काव्यानंद तथा करुण रसास्वाद के स्वरूप-विश्लेषण में रस के भाववादी तथा आनंदवादी दृष्टिकोण किस प्रकार सहायक सिद्ध होते हैं, इसका अगले प्रकरणों में विवेचन किया जायगा ।

३

रस-संख्या प्रकरण

पूर्व पीठिका

संस्कृत साहित्यशास्त्र में रस-संख्या के विस्तार और संकोच की प्रवृत्ति प्रायः आरम्भ से ही मिलती है। भरतमुनि ने केवल आठ रसों का निरूपण किया था इनमें भी शृंगार, वीर, बीभत्स और रौद्र रस को प्रमुख और हास्य, अद्भुत, भयानक तथा करुण को उपरस अथवा प्रमुख रसों से ही क्रमशः उत्पन्न स्वीकार किया है।[1] भरतमुनि के नाट्य शास्त्र के टीकाकार उद्भट ने शान्तरस की पृथक् स्वतंत्र सत्ता की स्वीकृति दी है। डा० राघवन तथा डा० वाटवे की सम्मति में उद्भट ने ही नाट्यशास्त्र में शान्त रस का प्रक्षिप्त रूप में समावेश किया होगा।[2] किसी अन्य के मत में संभवतः प्रथम अभिनव गुप्त ने ही शान्त रस का नाट्यशास्त्र में प्रक्षिप्त समावेश कर दिया है।[3] इस प्रकार रस-संख्या के विस्तार का प्रयत्न पर्याप्त समय पूर्व से ही आरम्भ था। ज्यों ही शान्त रस की उद्भावना हुई त्यों ही अन्य अनेक रसों के लिए भी द्वार खुल गया। रुद्रट ने स्नेह स्थायि भावात्मक 'प्रेयान्' रस का समावेश कर रस-संख्या का विस्तार दस तक कर दिया।[4] अभिनव गुप्त के समय तथा उनसे पूर्व भक्ति की रसात्मकता की चर्चा रही होगी। क्योंकि उन्होंने स्पष्ट शब्दों में भक्ति के रसत्व का प्रत्याख्यान करके इसे शान्त में ही अन्तर्भूत कर दिया है।[5]

अभिनवभारती से स्पष्ट होता है कि भक्ति ही नहीं अन्य अनेक भाव रस-तालिका में स्थान ग्रहण करने के लिए उद्यत थे। रुद्रट ने तो आस्वाद्यता की

---

१. नाट्यशास्त्र : ६।३९,४०,४१ तेषामुत्पत्ति हेतवश्चत्वारो रसाः। तद्यथा शृंगारो रौद्रो वीरोबीभत्स इति ॥

२. नम्बर आव् रसाज, पृ० ६१, रस विमर्श पृ० २२०।

३. शास्त्रिशिरोमणि, भावप्रकाश, प्रस्तावना पृ० २७, रसविमर्श, पृ० २२०।

४. रुद्रट : काव्यालंकार, १६।१८।

५. अभिनव भारती, द्वि० सं०, पृ० ३४०।

कसौटी पर सभी भावों को रस रूप में मान्यता देने में कोई आपत्ति नहीं समझी है ।[१] श्री लोल्लट ने रस-संख्या की बढ़ती हुई अराजकता को ध्यान में रख कर विद्वत्परिषद् बुलाने का आग्रह प्रकट किया था । ऐसी स्थिति में विद्वत्परिषद् बुलाने की पद्धति धार्मिक जगत में तो प्रचलित थी ही । भगवान् बुद्ध के वास्तविक उपदेशों के संग्रहार्थ तीन प्रसिद्ध परिषदों की आयोजना तो इतिहास प्रसिद्ध है ही । अभिनव गुप्त ने अन्य रसों के स्वतंत्र अस्तित्व के प्रत्याख्यान में जहाँ अपनी युक्तियों का सहारा लिया है, वहाँ मुनिवचन और विद्वत्परिषद् की मान्यता को भी प्रमाण स्वरूप उद्धृत किया है :

तेन रसान्तर संभवेऽपि पार्षद प्रसिद्ध्या संख्यानियमः । अथवा तेन आनन्त्येऽपि पार्षद प्रसिद्ध्या एतावतां प्रयोज्यत्वम् ।[२]

सांस्कृतिक विकास के साथ भावनाओं का विकास-क्रम संलग्न रहता है । साहित्य या काव्य का मूल आधार मानवी मनोभावनाएं हैं । संस्कृत आचार्यों ने इस आधार को भुलाया नहीं था । भोज ने परंपरागत नौ रसों में 'प्रेयान्' 'उदात्त' और 'उद्धत' को मिला कर बारह रसों का, विश्वनाथ ने केवल 'वात्सल्य' को मिला कर दस रसों का प्रतिपादन किया है । भानुदत्त ने 'माया' नामक नबीन रस का सुझाव दिया है,[३] और 'कार्पण्य' की रसात्मकता का विवेचन किया है । बलदेव विद्याभूषण की साहित्य कौमुदी की टीका में एक अन्य नये 'सख्य' नामक रस का भी उल्लेख है ।[४] हरिपाल देव ने 'संगीत सुधाकर' में तेरह रसों को मान्यता दी है । इनमें तीन नये रसों 'ब्राह्म', 'संभोग' और 'विप्रलंभ' के नाम मिलते हैं ।[५] वैष्णव टीकाकारों का 'दास्य' नामक रस को मान्यता देना प्रसिद्ध ही है । इन नये नये रसों के आविर्भाव के मूल में भारत के दक्षिण से उत्तर तक प्रवाहित होने वाली भक्ति की वेगवती धारा ही मूल कारण है । 'भक्ति', 'सख्य', 'दास्य', वात्सल्य, ब्राह्म आदि के रसत्व का प्रतिपादन इसी तथ्य की पुष्टि करता है । नाट्य दर्पणकार ने 'लौल्य', 'स्नेह', 'दुःख' और 'सुख'

---

१. काव्यालंकार, पृ० २ ३ । १३ ४ ।
२. अभिनव भारती , पृ० २९९, रसबिमर्श, पृ० २२६, नंबर आव् रसाज् पृ० १०६ (प्र० सं०)
३. रसतरंगिणी, तरंग ७ ।
४. रसविमर्श, पृ० १२४ ।
५. दे० नंबर आव रसाज (डा० राघवन) पृ० ५६ ।

की भी रस-रूपता की संभावना व्यक्त की है ।[1]

अभिनव गुप्त के पृष्ठ पोषक आचार्य मम्मट तथा आचार्य जगन्नाथ ने परम्परागत नौ रसों को ही एकांत मान्यता दी है । इन्होंने अन्य रसों के स्वतन्त्र अस्तित्व का सबल प्रत्याख्यान किया है । युक्तिवाद का आश्रय लेने वाले आचार्य जगन्नाथ पर भी आप्त प्रमाण या मुनिवचनों के पालन का इतना अधिक प्रभाव था कि उन्होंने रस और भावों की परंपरागत व्यवस्था में परिवर्तन करना अनुपयुक्त ही समझा ।[2]

यदि भक्तियुगीन संस्कृत आचार्य आप्त-प्रमाण पर अतिरिक्त आग्रह न करके तत्कालीन साहित्य को दृष्टि में रखते तो 'भक्ति रस' के प्रत्याख्यान का कोई विशेष कारण ही नहीं रहता । जगन्नाथ आदि आचार्य भक्तिरसपूर्ण साहित्य से नितांत अपरिचित थे यह भी नहीं कहा जा सकता । उस समय देश भाषाओं में ही नहीं संस्कृत में भी भक्तिरसपूर्ण साहित्य की रचनाएँ हो रही थीं ।

जिन आचार्यों ने 'भक्ति' के पृथक् रसत्व का प्रतिपादन करने के लिए स्वतंत्र ग्रन्थ रचनाएं की हैं, उनका ध्येय अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ अथवा जगन्नाथ आदि आचार्यों के समान परंपरागत काव्यशास्त्र का विशद सैद्धान्तिक विवेचन करना नहीं था । भक्तिभावना से प्रभावित होकर भक्ति-वैशिष्ट्य का निरूपण करने के लिए ही उन्होंने ग्रन्थ रचनाएँ की हैं । इनके ग्रन्थों के नाम 'भक्तिरसामृत सिन्धु' अथवा 'भगवद्भक्तिरसायन' इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं। इन्होंने भक्ति को प्रमुख और अन्य रसों को गौण मानकर इसी में उनका अन्तर्भाव करने का प्रयत्न किया है । रस-संख्या के स्वतंत्र विकास और विस्तार में एक अन्य बाधक प्रवृत्ति रही है अन्तर्भाव की । जिस आचार्यको जो रस अधिक स्पृहणीय और आस्वाद्य प्रतीत हुआ उसे ही उन्होंने रसराज की पदवी से विभूषित किया है ।[3] इतने मात्र से विशेष हानि नहीं थी परन्तु चिन्तनप्रणाली में संकीर्णता तब प्रतीत हने लगी जब अपने स्पृहणीय रस से भिन्न रसों को

---

१. सम्भवन्तिल्वपरेऽपि—यथा गर्ध स्थायी लौल्यः आर्द्रता स्थायी स्नेहः आसक्ति स्थायि व्यसनम्, अरति स्थायि दुःखम् , संतोष स्थायि सुखमित्यादि' । नाट्यदर्पण, (गायकवाड, संस्कृत) पृ० १६३ ।

२. 'भरतादि मुनिवचनानाभेवात्र रसभावादि व्यवस्थापकत्वेन स्वातंत्र्यायोगात् ।' रसगंगाधर पृ० ५६ ।

३. आचार्य अभिनव गुप्त ने शान्त रस को, भोज ने शृंगार रस को, मधुसूदन सरस्वती ने भक्तिरस को, नारायण ने अद्भुत रस को सर्वश्रेष्ठ माना है ।

नित त गौण मानने के अतिरिक्त मूल उनके अस्तित्व पर ही इन्होंने शंका उठाई ।

फलतः संस्कृत साहित्यशास्त्र के दो हजार वर्षों के इतिहास में रस-संख्या की वृद्धि बीस-बाईस से अधिक न हो सकी। यदि रुद्रट की मान्यता को अन्य आचार्य स्वीकार करते तो जितने भाव उतने ही रस बन कर अलंकारों के समान ही रस-संख्या की वृद्धि भी प्रचुरमात्रा में हो जाती। परन्तु रस-संख्या की अमर्याद वृद्धि पर अंकुश लगाने वाले सशक्त आचार्य अभिनव गुप्त थे।

भरतमुनि-निरूपित आठ रस और अभिनवगुप्त-प्रतिपादित शांत को मिला कर नौ रसों को संस्कृत के अधिकांश ध्वनि-रसवादी आचार्यों ने पूर्णतः मान्यता दी है। इनके अतिरिक्त भी कतिपय नवीन रसों का आविष्कार विभिन्न आचार्यों ने किया है। संक्षेपतः रसों के नाम, उनके स्थायीभाव तथा आविष्कर्ता आचार्यों के नाम दिये जाते हैं।[1] इन नवाविष्कृत रसों में से बहुत कम रसों ने हिन्दी तथा मराठी के आधुनिक काव्यशास्त्र में सम्मान्य स्थान प्राप्त किया है। मूलतः संस्कृत साहित्यशास्त्र में ही इनका परिपुष्ट विवेचन नहीं मिलता।

मूलरस	स्थायी भाव	प्रतिपादक आचार्य
१. प्रेयान्	स्नेह (मित्र-स्नेह)	रुद्रट
२. वत्सल	(क) करुणा या कारुण्य	मंदारमरंद चंपूकार
	(ख) ममकार	कवि कर्णपूर गोस्वामी
	(ग) रति	हेमचन्द्र
	(घ) वात्सल्य	विश्वनाथ
३. भक्ति	(क) श्रद्धा	हेमचन्द्र
	(ख) चित्त की भगवादाकारता	मधुसूदन सरस्वती
४. स्नेह	आर्द्रता	हेमचन्द्र (उल्लिखित)
५. लौल्य	(क) अभिलाषा	हेमचन्द्र (उल्लिखित)
	(ख) गर्ध	अभिनव गुप्त (उल्लिखित)
६. व्यसन	आसक्ति	रामचन्द्र-गुणचन्द
७. दुःख	अरति	” ”
८. सुख	सन्तोष	” ”
९. प्रेयस्	वात्सल्य	भोज
१०. उदात्त	मति	”

---

१. इनके पूर्ण स्वरूप ज्ञान के लिए दे० नंबर आव् रसाज : डा० राघवन ।

	मूलरस	स्थायी भाव	प्रतिपादक आचार्य
११.	उद्धत	गर्व	भोज
१२.	आनंद	हास्य	"
१३.	प्रेमरस या मधुर रस	चित्तद्रव	कविकर्णपूर गोस्वामी
१४.	मायारस	मिथ्याज्ञान	भानुदत्त
१५.	कार्पण्यरस	स्पृहा	"

इनके अतिरिक्त व्रीडनक, विलास, स्वातन्त्र्य, साध्वस, प्रशम, पारवश्य, मृगया, अक्ष आदि रसों का भी उल्लेख संस्कृत साहित्य में उपलब्ध होता है।[1]

संस्कृत साहित्यशास्त्र में प्रवृद्ध प्रस्तुत रस-संख्यान में से कितने रस आधुनिक हिन्दी तथा मराठी काव्य शास्त्रज्ञों ने स्वीकार किये हैं? अथवा इनसे भिन्न कितने नवीन रसों का उन्होंने उद्‌भावन किया है? इसका विस्तृत अध्ययन अगले प्रकरण में किया जाता है।

हिन्दी में रस-संख्या और रस-वर्गीकरण

हिन्दी में परंपरागत रसों के स्वरूप विश्लेषण, संख्या-वृद्धि और संख्या-संकोच के अभिनव प्रयत्न बहुत कम हुए हैं। आधुनिक युग के आरम्भिक विवेचकों ने तो नौरसों को गिना देने और उन्हें सोदाहरण समझाने का ही प्रयत्न किया है। श्री जगन्नाथ प्रसाद भानु ने शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्‌भुत और शान्त गिनाये हैं। बिहारीलाल भट्ट ने इन परंपरागत नौ रसों के अतिरिक्त भक्तिधारा में नये आविष्कृत कतिपय रसों का भी निरूपण कर दिया है: 'भरत ने आठ तथा कवियों ने नौ रस माने हैं। पर नवीन आचार्य भक्ति के और पाँच रस, शृंगार, सख्य, दास्य, वात्सल्य और शांत मानते हैं। इन पात्रों में शृंगार और शांत तो नौ रसों में हैं पर सख्य दास्य और वात्सल्य ये तीन और अधिक माने जाते हैं।'[2] संख्या की दृष्टि से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने सब से अधिक रस गिनाये हैं। परन्तु इन्होंने स्वनिरूपित चौदह रसों का विस्तृत स्वरूप-विश्लेषण नहीं किया है। शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, अद्‌भुत, बीभत्स और शांत तो लगभग सर्वमान्य हैं, शेष पाँच हैं: 'भक्ति वा दास्य, प्रेम वा माधुर्य,

---

१. दे० नंबर आव् रसाज़ (डा० राघवन) पृ० १०७-१४३।

२. 'साहित्यसागर' प्रथम भाग, पंचम तरंग, पृष्ठ १६२, हि० का० शा० इतिहास, पृ० २२७ से।

सख्य, वात्सल्य, प्रमोद वा आनंद ।'[१] यद्यपि प्रस्तुत पाँचों रसों का भक्ति में ही अन्तर्भाव हो जाता है ।[२] फिर भी 'प्रमोद वा आनन्द' रस का समर्थन भारतेन्दु ने किस दृष्टिकोण से किया है, यह अज्ञात है । भरतमुनि ने तो 'रति' शब्द की व्याख्या ही 'प्रमोदात्मिका' या 'आमोदात्मिका' वृत्ति के रूप में की है ।[३] आनंद या 'प्रमोद' कोई पृथक् रस भरत ने नहीं माना है । संगीत सुधाकर के रचयिता हरिपाल देव ने 'ब्राह्मरस' का स्थायी भाव आनंद माना है ।[४] पर इससे भी आनंद या प्रमोद रस का समर्थन नहीं होता ।

रस-स्वरूप एवं रस-संख्या की दृष्टि से अयोध्यासिंह उपाध्याय का विवेचन पर्याप्त विस्तृत है । इन्होंने परम्परागत नौ रसों की रसात्मकता का तो समर्थन किया ही है, साथ ही 'भक्ति' और 'वात्सल्य' की 'रस-परिणति' का भी साधार पुष्ट विवेचन किया है । इन्होंने नौ रसों में शृंगार को 'रसराज' माना है । इसके 'रस राजत्व' की सिद्धि के लिए अन्य आठ रसों से तुलना की गई है और निष्कर्ष निकाला गया है कि शृंगार की समता अन्य कोई रस नहीं कर सकता । रति से ही करुण रस की उत्पत्ति होती है, अतः करुण शृंगार की तुलना में गौण है । हास्य रस की अपनी न्यूनताएँ हैं : 'न तो वह शृंगार रस के इतना व्यापक है और न तो उसके इतना आस्वादित होता है, उसमें सृजनशक्ति भी नहीं है, अतएव वह अपूर्ण और गौण भूत है ।'[५] शान्त रस का तो 'इने गिने लोगों में ही विकास देखा जाता है अंतर्जगत् से इसका जितना सम्बन्ध है, उतना बाह्य जगत् से नहीं ।' भरतमुनि ने आठ रसों में इसे स्थान नहीं दिया, अतः यह भी शृंगार की तुलना में गौण है । 'भयानक और बीभत्स तो 'यथानामस्तथा गुणः' हैं, उनकी चर्चा ही क्या ?' वीर और रौद्र में जो सन्देश अथवा लोकोपकारक भाव हैं, उनमें जो पवित्रता है, उत्तमता, उज्ज्वलता और दर्शनीयता है, वे सब शृंगार समर्पित विभू-तियां हैं । ऐसी अवस्था में शृंगार ही उनका शृंगारक और उस हेतु का मूल है ।[६]' इन्होंने रसों की नौ संख्या को यथावत् बनाये रखने के लिए संभवतः 'वात्सल्य' और 'भक्ति' को भी शृंगार का ही अंग सिद्ध किया है । 'वत्सलता एवं भक्ति

---

१. नाटक ।
२. रसकलस, पृ० १९८ (तृतीय संस्करण) ।
३. नाट्यशास्त्र : "रतिर्नाम आमोदात्मको भाव :" ७।८
४. नंबर आव् रसाज, (डा० राघवन) पृ० ५५ ।
५. रसकलस, पृ० ९८ ।
६. वही, पृ० ९९-१०० ।

रति का ही एक रूप है। माँ की सन्तान विषयिणी रति वत्सलता है और भक्तों की ईश्वर विषयिणी रति भक्ति। इसलिए इनमें परस्पर ऐसी भिन्नता नहीं कि इनको अलग-अलग एक रस माना जावे।'[1] शृंगार को 'रसराज' मान कर भी हरिऔध ने वात्सल्य और भक्ति की 'रस-परिणति' का सबल समर्थन किया है। इन दोनों ही की रसात्मकता का विस्तृत विवेचन करते हुए भी श्री हरिऔध ने इनकी व्यवस्था रति या शृंगार में कर दी है।

श्री कन्हैयालाल पोद्दार ने आचार्य आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त तथा मम्मट का एकांत अनुसरण कर 'रसमंजरी' में नौ रसों को ही मान्यता दी है, परन्तु अन्यत्र उन्होंने भक्ति को पृथक् रस मानने पर विशेष बल दिया है।[2] आचार्य श्यामसुंदर दास ने भी परंपरागत 'नौ रसों' को ही एकांत मान्यता दी है। नाटक में शान्त रस की स्थिति को कतिपय आचार्यों ने असंभाव्य तथा अनुपयुक्त माना है, परन्तु श्यामसुंदर दास ने इस मान्यता का प्रत्याख्यान किया है : नट के लिए तो यह आवश्यक नहीं कि जिस भाव का वह अभिनय करे उसका अनुभव भी करे। वह तो अपनी अनुकरण निपुणता के कारण उसे दिखला भर देता है।... जब निर्वेद संचारी का अभिनय हो सकता है तब कोई कारण नहीं कि निर्वेद स्थायी का भी अभिनय न किया जा सके।'[3]

आचार्य शुक्ल ने 'भक्ति' और 'वात्सल्य' का सूरदास, तुलसीदास तथा जायसी की रचनाओं के आधार पर व्यापक विवेचन तो किया है, परन्तु जहाँ तक रस-संख्या की शास्त्रीय मर्यादा का प्रश्न है, शुक्ल जी ने भरतमुनि के आठ रसों को ही विशिष्ट मान्यता दी है, इन आठ रसों की ही रसात्मक अनुभूति की विशेष चर्चा की है।[4] इन्होंने रसों के मूल में निहित आठ स्थायी भावों में से राग (रति), हास, उत्साह और आश्चर्य को सुखात्मक तथा शोक, क्रोध, भय और जुगुप्सा को दुःखात्मक माना है। रति या राग के अन्तर्गत शुक्ल जी ने प्रकृति-प्रेम, अतीत-प्रेम, आचार्य-प्रेम, पितृ-प्रेम, स्वदेश-प्रेम, मित्र-प्रेम, धर्म-प्रेम, सत्य-प्रेम, वत्स-प्रेम, आदि का अन्तर्भाव माना है।[5] रस का सामान्यतः स्वरूप आनन्दात्मक माना

---

१. रसकलस, पृ० १०१।
२. हिन्दी साहित्य कोश, (संपादक : धीरेन्द्र वर्मा) पृ० ५३२, प्र० संस्करण, संवत् २०१५।
३. साहित्यालोचन, पृ० २३९-४०।
४. देखिए 'रसात्मक बोध' लेख, रस-मीमांसा, पृ० २७१-७५।
५. रस-मीमांसा, पृ० १७०।

जाता है, फलतः शुक्ल जी ने इन दुःखात्मक भावों की भी काव्य में 'रसात्मकता' का ही पूर्णतः समर्थन किया है। बीभत्स के विषय में इन्होंने लिखा है: 'किसी सड़ी गली दुर्गंध युक्त वस्तु के प्रत्यक्ष सामने आने पर हमारी संवेदना का जो क्षोभ-पूर्ण संकोच होगा वह तो स्थूल होगा, पर किसी ऐसे घृणित आचरण वाले के प्रति जिसे देखते ही लोक-रुचि के विघात या आकुलता की भावना हमारे मन में होगी, हमारी जुगुप्सा रसमयी होगी।'[१] रस-मीमांसा में शुक्ल जी ने भरत-मुनि के आठ रसों के अतिरिक्त अन्य रसों को मान्यता नहीं दी है।

डा० गुलाबराय ने परंपरागत 'नौ' रसों को तो यथावत् स्वीकार ही किया है साथ ही वात्सल्य की पृथक् सत्ता की स्वीकृति पर इन्हें आपत्ति नहीं है 'वात्सल्य स्नेह बड़ा ही पवित्र, प्रगाढ़ एवं प्रबल है। इसे स्वतन्त्र स्थान दिया जावे तो कोई आश्चर्य नहीं।[२] सम सामयिक राष्ट्रीय चेतना और तदनुरूप निर्मित काव्य को दृष्टिगत रख कर इन्होंने 'देश-भक्ति' रस की स्वतंत्र मान्यता को भी अनुपयुक्त नहीं ठहराया है। 'आज कल स्वदेश-भक्ति का साहित्य इतना बढ़ रहा है कि यदि उसे स्वतन्त्र रस मान लिया जाय तो अनुचित न होगा।'[३] भारतीय रसों का पाश्चात्य मानसशास्त्रीय सहज प्रवृत्तियों (इन्स्टिंक्ट्स) से सम्बन्ध दर्शाते हुए इन्होंने 'वात्सल्य' को सन्तान स्नेह ('परेन्टल इन्स्किटंट) से सम्बद्ध कर उसे 'नौ' रसों में गिन लिया है और शान्तरस के विषय में लिखा है: 'शान्तरस में कोई प्रवृत्ति नहीं होती, यदि हो सकती है तो अधीनता स्वीकृति (सबमिशन) की प्रवृत्ति। शायद इसीलिए शान्त को नाट्य रसों में नहीं माना है और वात्सल्य को स्वतंत्र रस माना है।'[४] वात्सल्य और भक्ति रस की पृथक् स्वतंत्र सत्ता का इन्होंने पूर्णतः समर्थन किया है, क्योंकि उनके स्थायी भावों में वही कोमलता और तन्मयता है जो और रसों में है।[५]

डा० नगेन्द्र ने नौ स्थायी भावों का मानसशास्त्र की कसौटियों पर सूक्ष्म परीक्षण किया है। इनकी धारणा में परंपरागत स्थायिभावों की नौ संख्या को सर्वथा निर्दोष और पूर्ण नहीं माना जा सकता। वात्सल्य को रति से पृथक् स्थान

---

१. रसमीमाँसा, पृ० २७४ प्रथम संस्करण, २००६ संवत्।
२. 'नवरस', पृ० ५४४, द्वितीय संस्करण।
३. वही, पृ० ५६२ द्वितीय संस्करण। और दे० सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० १५८ द्वि० सं०।
४. सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० १८७ द्वितीय संस्करण।
५. वही, पृ० १५८।

देना ही होगा। करुण की परिधि में शोक के अतिरिक्त अनुकम्पा, कार्पण्य आदि का समावेश करना होगा। रुद्रट ने तो सभी संचारियों के लिए ऐसा कहा है, परन्तु कम से कम कुछ एक में—जैसे गर्व, ग्लानि, असूया आदि में रस-परिणति की क्षमता अवश्य माननी पड़ेगी।'[1] इन्होंने 'भक्ति भाव' की रस-परिणति का भी पूर्णतः समर्थन किया है।[2]

श्री रामदहिन मिश्र ने स्पष्टतः 'एकादश' रसों को मान्यता दी है। परंपरागत नौ रसों में भक्ति तथा वात्सल्य को स्वतन्त्र रस रूप में प्रतिष्ठित करना इनकी मान्यता में नितांत आवश्यक है। डा० वाटवे ने रौद्र तथा बीभत्स रस की पृथक् स्वतन्त्र सत्ता का प्रत्याख्यान किया है।[3] मिश्र जी ने डा० वाटवे की धारणाओं को असंगत ठहरा कर दोनों रसों के पृथक्-पृथक् स्वतंत्र अस्तित्व का भी समर्थन किया है। डा० वाटवे ने 'वीर' रस के स्थायी भाव को 'अमर्ष' मानकर 'रौद्ररस' की पृथक् सत्ता को अस्वीकृत किया है, परन्तु मिश्र जी ने इस धारणा के प्रत्याख्यान में निम्न तर्क प्रस्तुत किये हैं :

क. रौद्र में सात्विक क्रोध नहीं देखा जाता, पर उत्साह में—अमर्ष संचारी के रूप में क्रोध देखा जाता है।

ख. वीर रस के धर्मवीर, दानवीर आदि का शान्त, भक्ति आदि रसों में अन्तर्भाव भी ठीक नहीं है।' क्योंकि ऐसे तो करुण रस भी यथावसर शृंगार और वात्सल्य में अन्तर्भूत हो सकता है।

ग. अमर्ष संचारी के अभाव में भी उत्साह स्थायी मूलक वीर रस के उदाहरण मिल जाते हैं, यथा कर्मवीर के।

घ. इसके अतिरिक्त वीर अनेक प्रकार के होते हैं, जैसे कार्लाइल के कविवीर, दार्शनिक वीर, लेखक वीर आदि में तथा 'बुद्धिशूर' आदि में अमर्ष का लवलेश भी नहीं होता।

अतः रामदहिन मिश्र का निष्कर्ष है : क्रोध को स्थायी और रौद्र रस को वीर रस बना कर उत्साह और रौद्र को उड़ा देना अव्यापार में व्यापार करने के समान साहित्य का विघातक कार्य है।'[4]

मिश्र जी के निष्कर्ष में तर्क-युक्ति की अपेक्षा आवेश की मात्रा अधिक है।

---

१. रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ८२, प्र० संस्करण १९४९।

२. वही, पृ० ७७।

३. देखिए रस-संख्या प्रकरण (मराठी)

४. काव्यदर्पण, पृ० १८०-८१, द्वितीय संस्करण।

इन्होंने डा० वाटवे निरूपित 'अमर्ष' स्थायी की व्यापक परिभाषा पर विशेष चिंतन न कर उसे एकांततः 'क्रोध' का ही समानार्थी मान लिया है। मिश्र जी के प्रायः सभी आक्षेपों को पहले से ही संभाव्य मानकर डा० वाटवे ने उनका उत्तर दे ही दिया है। इसके अतिरिक्त डा० वाटवे का मानसशास्त्रीय दृष्टिकोण भी रहा है, जिस ओर मिश्र जी ने तनिक भी संकेत नहीं किया है।

डा० वाटवे ने 'रौद्र' के समान 'बीभत्स' को भी रस-मालिका से निष्कासित करने का सयुक्तिक विवेचन किया है।[1] परन्तु मिश्र जी ने इनकी धारणा का प्रत्याख्यान करते हुए 'बीभत्स' की स्वतंत्र सत्ता का प्रतिपादन किया है। इनकी मान्यता में 'शारीरिक जुगुप्सा ही नहीं मानसिक जुगुप्सा भी होती है।' मानसिक जुगुप्सा का महत्व अधिक है, मानसिक जुगुप्सा के कारण ही हम दुष्टों की दुष्टता पर उसकी भर्त्सना करते हैं और अन्यायी के अनीति पर उसका तिरस्कार करते हैं। दुर्गुणों से दूर रहने, अकार्य करने, दुःसंग त्यागने, अस्थान में बैठने-उठने आदि में घृणा की भावना ही तो काम करती है।'[2] इस प्रकार मानसिक जुगुप्सा का प्रतिपादन करते हुए इन्होंने बीभत्स की स्वतंत्र सत्ता का समर्थन किया है। बीभत्स रस को अमान्य ठहराने में डा० वाटवे आदि ने व्यावहारिक तर्क यह प्रस्तुत किया है कि किसी भी काव्य में 'बीभत्स' रस अन्य शृंगार, करुण, वीर आदि की भांति परिपुष्ट नहीं हुआ है और न इस के आधार पर कोई स्वतंत्र काव्य रचना हुई है। इसका उत्तर मिश्र जी ने दिया है : 'इसके आधार पर भले ही कोई काव्य न लिखा गया हो। जहाँ, मसान, रक्त, माँस आदि का वर्णन होता है, वहाँ उसका भी साहित्यिक रूप होने से उसमें आनंददायकता आ जाती है, क्योंकि वास्तविकता के अनुभव से यह विपरीत हो जाता है।'[3] वस्तुतः काव्य में किसी भाव का आनन्द-दायक होना मात्र उसके रसत्व की कसौटी नहीं है। इस दृष्टि से तो सामान्यतः काव्य में वर्णित सभी भाव आनन्ददायक होते हैं। यदि ईर्ष्या द्वेष, गर्व-अहंकार, लोभ, लज्जा, ग्लानि आदि का काव्य में आनन्ददायक रूप हो तो क्या इन सभी भावों को शृंगार, वीर, करुण आदि परिपुष्ट रसों के समकक्ष बिठाया जा सकता है? मिश्र जी ने डा० वाटवे, श्री द० के० केळकर आदि की मान्यताओं का अध्य-यन तो किया है, परन्तु उनकी धाराणाओं के प्रत्याख्यान में स्वयं मनोवैज्ञानिक-सयुक्तिक तथा तर्कपूर्ण विवेचन प्रस्तुत नहीं किया। अन्त में 'वदतोव्याघात' का

---

१. **रसविमर्श, पृ० २४७।**
२. **काव्यदर्पण, पृ० २०४ द्वि० सं०।**
३. **काव्यदर्पण, पृ० २०५ द्वि सं०।**

अनुसरण करके डा० वाटवे के विवेचनानुसार इन्होंने भी लिख दिया है : 'अधिकांश उदाहरणों पर दृष्टिपात करने से पता लगता है कि बीभत्स रस रस की नहीं, भाव की योग्यता रखता है।' क्योंकि मालती-माधव में बीभत्स रस माधव के वीर रस का, सत्य हरिश्चन्द्र नाटक का श्मशान-वर्णन करुण का, कादंबरी में चाँडाल की बस्ती का वर्णन अद्भुत का, तुलसी आदि भक्तों का मानव देह का जुगुप्सात्मक वर्णन शान्त रस का पोषक है . . . प्रसंगतः किसी न किसी प्रकार का बीभत्स मुख्य रस का सहायक होकर ही आया है।'[1]

श्री रामदहिन मिश्र के समान ही डा० भगीरथ मिश्र ने आधुनिक काव्यशास्त्र के लिए ग्यारह रसों को मान्यता दी है। 'नौ रस' तो परंपरागत ही हैं शेष दो भक्ति और वात्सल्य हैं।[2]

शुक्ल जी ने आठ रसों को सुखात्मक तथा दुःखात्मक वर्गों में विभक्त किया है, किन्तु श्री रामदहिन मिश्र ने नौ रसों का वर्गीकरण दो आधारों पर किया है—१. मानसिक स्थान के आधार पर और २. त्रिगुणों—सत्व, रज और तम—के आधार पर। मानसिक आस्थान के आधार पर नौ रसों के तीन विभाग किये गये हैं—(१) ज्ञानसंबंद्ध—शान्त, अद्भुत और हास्य, (२) भावसम्बद्ध—शृंगार, करुण, बीभत्स और रौद्र, (३) क्रियासम्बद्ध—वीर और भयानक। त्रिगुणों पर आधृत रसों का विभाजन भी इसी प्रकार किया गया है : (१) रजोगुण सम्बद्ध—शृंगार, करुण और हास्य हैं, (२) तमोगुण सम्बद्ध—रौद्र, वीर और भयानक हैं, (३) सतोगुण सम्बद्ध—शान्त, बीभत्स तथा अद्भुत हैं।[3] वस्तुतः रसों का यह वर्गीकरण नितांत वैज्ञानिक नहीं है। स्वयं मिश्र जी ने ही स्वीकार किया है कि यह वर्गीकरण केवल प्रधानता को लक्ष्य में रख कर किया गया है।[4]

श्री लीलाधर गुप्त ने भी रस-सिद्धान्त के प्रमुख नौ स्थायीभावों का निरूपण करते हुए कतिपय अन्य भावों के स्थायित्व का भी समर्थन किया है। इन्होंने स्थायीभाव की स्पष्टतः सुनिश्चित कसौटी निर्धारित नहीं की है, फिर भी वे परंपरागत 'आप्रबन्धव्याप्ति' की स्थायी विषयक धारणा के समर्थक प्रतीत होते हैं—'इन भावों को स्थायीभाव इस कारण कहते हैं कि ये काव्य अथवा अभिनय में आदि

---

१. काव्यदर्पण, पृ० २०५, द्वि० सं०।
२. काव्यशास्त्र, पृ० २५३, प्र० सं० १९५७।
३. काव्यदर्पण, पृ० १६२-६३।
४. वही, पृ० १६२।

से अंत तक स्थिर रहते हैं।'[1] इसी दृष्टिकोण से श्री गुप्त ने विशेषतः पाश्चात्य कृतियों के आधार पर निम्न भावों के स्थायित्व का समर्थन किया है : 'मार्लो के डाक्टर फौस्टस' का स्थायीभाव अपार शक्ति की तृष्णा और शेक्सपिअर के 'आथेलो' का स्थायी भाव प्रेम शंका है। ये भाव और दूसरे बहुत से जिन पर आधुनिक नाटक, उपन्यास और काव्य आधारित हैं, नवों स्थायी भावों के अतिरिक्त हैं। भाव जीवन और प्रकृति की प्रतिक्रिया में उत्पन्न होते हैं और भाव जातिगत और आवृत्यात्मक होते हुए भी अनेक प्रकार के होते हैं। संस्कृति की प्रगति तो सब कोई मानते ही हैं। नई संस्कृति नये स्थायी भाव देती है। आदर्शवाद और जीवन समस्याविषयक नाटक और उपन्यास सब के सब इन नौ स्थायी भावों के अन्तर्गत नहीं आते। अन्याय और अनम्यता के भावों पर 'गार्ल्सवर्दी' के नाटक 'सिल्वर वाक्स' और 'स्ट्राइफ़' आधारित हैं। आदि से अंत तक अन्याय का भाव 'सिल्वर बाक्स' में और अनम्यता का भाव 'स्ट्राइफ़' के दोनों पक्षों में स्थिर है और ये भाव दूसरे नाटकों को भी बदले हुए संकेतों द्वारा अनुप्राणित कर सकते हैं। यदि खींचतान कर इन भावों को उन्हीं नौ भावों में मिला दिया जाय तो सन्तुष्टि नहीं हो सकती।'[2]

विषाद रस :

श्री इलाचन्द्र जोशी ने एक व्यापक 'विषाद रस' की कल्पना की है, जिसमें करुण रस का भी अन्तर्भाव है। इन्होंने परंपरागत 'करुणरस' की अपेक्षा स्व-निरूपित विषाद रस के स्वतंत्र अस्तित्व तथा महत्व का प्रतिपादन इस प्रकार किया है 'विषाद रस अलंकार शास्त्र के करुण रस से अभिव्यक्त नहीं हुआ है, बल्कि करुण रस ही इस महारस का एक अंग है। जब कवि प्रतिदिन के सुख-दुःख का तथा महत्वा-कांक्षाओं की पूर्ति में मनुष्य को पग-पग पर प्राप्त होने वाली बाधाओं का चित्र अंकित करने बैठता है, तब उस चित्रांकन से जो रस उद्वेलित होता है, वही विषाद रस है।'[3]

संस्कृत साहित्यशास्त्र की परंपरानुसार 'विषाद' संचारीभाव है जो करुण, शांत तथा भयानक रसों में उपस्थित होता है। डा० आनंदप्रकाश दीक्षित ने परंपरागत धारणाओं के आधार पर इसके पृथक् रसत्व की मान्यता को अनुपादेय

---

१. 'तत्र आ प्रबन्ध स्थिरत्वादमीषां भावानां स्थायित्वम्',
जगन्नाथः रसगंगाधर, पृ० ३७।

२. पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त, प्र० सं० (१९५२) पृ० ७८-७९।

३. विश्लेषण, पृ० १४६।

ठहराया है ।[१] श्री जोशी ने इसके स्थायी भाव का भी निरूपण नहीं किया है । यदि 'विषाद' भावना व्यापक है तो 'करुण भावना' को किस आधार पर सीमित किया जा सकता है ? वह कौन सी कसौटी है ? जिसके आधार पर करुण और विषाद में अंग-अंगीभाव निर्धारित किया जा सके ? अतः करुण रस से विषाद रस की पृथक् स्थिति मान्य करना निर्हेतुक है ।

प्रकृति रस :

जिस प्रकार मराठी में कतिपय लेखकों ने प्रकृति के भव्य चित्ताकर्षक वर्णनों में उदात्त की स्थापना की है,[२] उसी प्रकार हिन्दी में भी 'प्रकृति रस' की स्वतन्त्र स्थापना का पूर्ण समर्थन हुआ है । नाट्यशास्त्र में भरतमुनि ने प्रकृति-चित्रण को विशेषतः शृंगार रस के उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत रखा है ।[३] परवर्ती अधिकांश संस्कृत आचार्यों ने मुनिवचनों का पालन करके श्रव्य काव्यों में भी इसे सर्वत्र उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत ही स्थान दिया है । संस्कृत में प्रकृति-वर्णन के विराट् चित्र बाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि महाकवियों की कृतियों में उपलब्ध होते हैं ।[४] परन्तु काव्यशास्त्र में इन्हें रसकोटि में स्थान नहीं दिया गया । कतिपय आचार्यों ने वृक्ष आदि पर अनौचित्य रूप से आरोपित रस-भावों को रसाभास या भावाभास ही स्वीकार किया है ।[५] प्राकृतिक जल-प्रवाह के वर्णन में परंपरागत किसी रस की स्थिति दर्शाना कठिन है, अतः आ० विश्वनाथ के 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' के स्थान पर आ० जगन्नाथ को 'रमणीयार्थः प्रतिपादकः शब्दः काव्यं' —यह काव्य-परिभाषा अधिक उपादेय प्रतीत हुई है ।[६]

हिन्दी में प्रथम आचार्य शुक्ल ने संस्कृत आचार्यों की परंपरागत धारणा से भिन्न नवीन मत की स्थापना की है । इन्होंने संस्कृत के ही वाल्मीकि कालिदास,

---

१. काव्य में रस, पृ० ३१२
२. दे० 'उदात्तरस', रस-संख्या प्रकरण (मराठी में)
३. दे० नाट्यशास्त्र, ६।४५ के पश्चात् का गद्यभाग ।
४. दे० 'प्रकृति और काव्य' (डा० रघुवंश) संस्कृत खंड ।
५. निरिन्द्रियेषु तिर्यगादिषुचारोपाद्रसभावाभासैः । तत्र वृक्षादिष्वनौचित्येनारोप्यमाणौ रस भावौ रस भावभासतां भजतः । हेमचन्द्रः काव्यानुशासन वृत्ति (वाग्भट) ।
६. हिन्दी रसगंगाधर, प्र० भा०, पृ० १८, पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी, काव्य-लक्षण प्रकरण ।

भवभूति आदि की रचनाओं में स्वतंत्र आलंबनात्मक प्रकृति-वर्णन का रूप दिखाया है और उनके इस वर्णन को सर्वत्र अन्य रसों का उद्दीपनात्मक मानना असंगत ठहराया है ।[१] आचार्य शुक्ल ने प्रकृति-वर्णन में स्वतंत्र रसात्मकता का समर्थन किया है । उन्होंने तत्कालीन साहित्य धारा की प्रवृत्तियों को भली प्रकार अवगत करके ही इस मत की स्थापना की है । हिन्दी के आधुनिक काल के आरम्भ से ही स्वतंत्र-प्रकृति-वर्णनात्मक कविताओं की बाढ़-सी आ गई थी । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बद्रीनारायण चौधरी प्रेमघन, श्रीधर पाठक, जगमोहन सिंह, रामचन्द्र शुक्ल, रायदेवी प्रसाद पूर्ण, सत्यनारायण कविरत्न, हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी आदि अनेक कवि द्विवेदी युग तक प्रकृति-प्रेम से परिपूर्ण कविताएँ लिखते रहे । फिर जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानंदन पंत, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, महादेवी वर्मा आदि अनेक छायावादी कवियों ने स्वतंत्र आलंबन रूप में व्यापक प्रकृति-वर्णनात्मक कविताओं का सृजन किया है । इस प्रकार स्वतंत्र प्रकृति-वर्णनात्मक कविताओं में रसात्मकता की सिद्धि के लिए पर्याप्त साहित्य-निर्माण शुक्ल जी के समय हो रहा था ।

हिन्दी के आधुनिक काल के आरम्भ में अधिकांश कवियों की प्रवृत्ति स्वतंत्र प्रकृति-वर्णन की ओर आकृष्ट हो चुकी थी । इसमें कतिपय सामयिक कारण भी थे :

१. स्वदेश-प्रेम की लहर तथा राष्ट्रीयता का आन्दोलन : विदेशी शासन से मुक्ति के लिए स्वदेश के भव्य-विराट् तथा प्राकृतिक सुषमा-वैभव से पूर्ण चित्र उतारे गये । इसमें प्राकृतिक-वर्णन कवियों के तीव्र स्वदेशानुराग की अभिव्यक्ति का माध्यम बना ।

२. अंग्रेजी-साहित्य में वर्डसवर्थ आदि ने स्वतंत्र प्रकृति-वर्णनात्मक साहित्य की प्रबल-धारा प्रवाहित की थी, उनका नारा प्रकृति की ओर लौटो' (बेकटु द नेचर) था । इसका प्रभाव भी हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल पर पड़ा ।

इन दोनों कारणों के अतिरिक्त अन्य अनेक गौण कारण भी हो सकते हैं । परन्तु इन सब से महत्वपूर्ण कारण है मानव की चिरन्तन सौंदर्य भावना, जिसकी परितृप्ति वह पर्याप्त सीमा तक आकर्षक प्राकृतिक-वर्णनों से सम्पन्न वैदिक युग के साहित्य से ही करता आया है ।

हिन्दी के आधुनिक काल में प्रकृति-वर्णन परक स्वतंत्र काव्य का स्वरूप एवं उसके समृद्ध साहित्य को ध्यान में रख कर स्वतंत्र प्रकृति-रस को मान्यता देना

---

१. रसमीमांसा, विभाव प्रकरण

असंगत नहीं है। इसीलिए आ० शुक्ल ने प्रकृति-वर्णन में स्वतंत्र रसात्मकता की परिपुष्टि में विशेषतः निम्न तर्क प्रस्तुत किये हैं :

१. संस्कृत साहित्य में बाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि ने स्वतंत्र आलंबन-रूप में प्रकृति-वर्णन किया है, उनका प्रकृति-वर्णन सर्वत्र उद्दीपनात्मक नहीं है।
२. प्राकृतिक पदार्थों—वन, पर्वत, नदी, निर्झर आदि के प्रति 'हमारा प्रेम' स्वाभाविक है या कम से कम वासना रूप में हमारे 'अंतःकरण में निहित है।'
३. प्राकृतिक दृश्य हमारे 'राग' या 'रतिभाव' के स्वतन्त्र आलंबन हैं।
४. प्राकृतिक दृश्यों के प्रत्यक्ष दर्शन तथा काव्य में वर्णन से सहृदय को पूर्ण रसानुभूति होती है।

इस आधार पर शुक्ल जी ने स्वतंत्र आलंबन रूप में वर्णित प्राकृतिक चित्रों से रसानुभूति का पूर्णतः समर्थन किया है : "मैं आलंबन-मात्र के विशद वर्णन को श्रोता में रसानुभव (भावानुभव सही) उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ मानता हूँ।'[1] प्रकृति-वर्णन में 'राग' या 'रति' स्थायी भाव की परिपुष्टि का समर्थन करके शुक्ल जी ने किसी नवीन पृथक् स्थायी भाव का निरूपण नहीं किया है और न इस पर आधृत किसी नवीन रस-संज्ञा का ही निरूपण किया है। परन्तु श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने "प्रकृति-रस" की स्वतंत्र स्थापना स्पष्ट शब्दों में की है :

'शास्त्रों में रस-प्रक्रिया का विवेचन करते हुए प्राकृतिक विभूतियाँ शृंगार के उद्दीपन रूप में रख दी गई हैं। जिस प्रकार व्यक्ति या वस्तु के मेल में आने से नाना प्रकार के भावों का उद्रेक होता है उसी प्रकार स्वच्छन्द प्रकृति के संपर्क में आने से भाव जगता है उसका कोई पृथक् नामकरण ही नहीं किया गया। इससे यह न समझ लेना चाहिए कि प्रकृति के वर्णन से किसी प्रकार का रस व्यंजित होने की संभावना ही नहीं। यदि भानुभट्ट 'मायारस' की कल्पना कर सकते हैं तो 'प्रकृति-रस' की कल्पना प्रकृति-प्रेमियों के लिए कोई आश्चर्य की बात नहीं है।'[2] इनकी धारणा भी आ० शुक्ल के अनुरूप ही है : "प्रत्यक्षानुभूति और काव्यानुभूति दोनों में प्रकृति के आलंबनत्व से उत्पन्न मनःस्थिति रसमयी ही होती है।"[3] परन्तु इन्होंने प्रकृति रस के स्थायी भाव का स्पष्ट शब्दों में विवेचन नहीं

---

१. रसमीमांसा, पृ० १४३-१४४ प्र० सं० २००६।
२. वाङ्० मय विमर्श, काव्य और प्रकृति, पृ० २३३ प्र० सं०।
३. वही, पृ० २३४।

किया है । आर्य जाति में 'प्रकृति-प्रेम' के संस्कारों का उल्लेख करके प्रकृति के प्रति 'प्रेमभाव' के ही स्थायित्व का इन्होंने संकेतमात्र दे दिया है । डा० गुलाब राय को भी 'प्रकृतिरस' के स्थायी भाव के निर्धारण की समस्या कुछ उलझी हुई-सी प्रतीत हुई । इन्होंने इसके लिए नया स्थायी भाव सुझाने की अपेक्षा शुक्ल जी के समान 'रति' या 'राग' को ही स्थायी भाव मानने का संकेत दिया है : 'शास्त्रीय पद्धति केवल दाम्पत्य रति को ही गौरवपूर्ण स्थान देती है किन्तु जिस प्रकार वात्सल्य ने अपना स्वतंत्र अस्तित्व स्थापित कर लिया है उस प्रकार प्रकृति भी अपना स्वतंत्र अस्तित्व-स्थापन कर अपना एक विशेष रस बना लेगी या रति की शास्त्रीय परिभाषा को कुछ शिथिल करना पड़ेगा ।'[१]

स्वतंत्र 'प्रकृतिरस' के प्रतिपादन में श्री रामेश्वर खण्डेलवाल ने शुक्ल जी के समान ही 'गूढ़तम रतिभाव' को सहृदय का स्थायीभाव स्वीकार किया है । इन्होंने 'प्रकृति रस' की स्थापना के विरोध में संभाव्य आक्षेपों का निराकरण भी किया है। तुल्यानुराग और जड़ता के आक्षेपों के प्रत्याख्यान में इन्होंने सूफियों के एकांगी प्रेम की तीव्रता, मार्मिकता तथा रसात्मकता का उदाहरण दिया है । इन्होंने रसों के परंपरागत 'विभाव' 'अनुभाव' तथा संचारी भाव के विभिन्न अंगों का भी 'प्रकृतिरस' की निष्पत्ति में सहयोग या संयोग दर्शाया है ।[२]

स्वतंत्र प्रकृतिरस की स्थापना में विभाव, अनुभाव, संचारी भावों की अपेक्षा महत्वपूर्ण प्रश्न है स्थायी भाव के निर्धारण का । मराठी तथा हिन्दी के आधुनिक अधिकांश काव्य शास्त्र-विवेचकों ने नवीन रसोद्भावन में 'रति' स्थायी भाव की ही कल्पना की है । उदाहरणार्थ, वात्सल्य में पुत्र-रति, भक्ति रस में ईश-रति, देश-भक्ति रस में देश-रति और इसी प्रकार 'प्रकृति-रस' में प्रकृति-रति या राग स्थायी का ही प्रतिपादन किया गया है । 'रति' भावना की व्यापकता का समर्थन आधुनिक मनोविज्ञान भी करता है और संस्कृत आचार्यों ने रति या श्रृंगार को ही प्रमुख रस और इसी में अन्य रसों के अन्तर्भाव का समर्थन करके 'रति' भाव की महत्व-प्रतिष्ठा तो की है। फिर भी श्रृंगार-इतर अन्य रसों के मूल में निहित शोक, उत्साह आदि स्थायी भावों का अपना स्वतंत्र अस्तित्व तथा मूल्य है । इसी प्रकार 'प्रकृतिरस' के मूल में भी संभाव्य एक स्वतंत्र स्थायीभाव पर चिंतन यहाँ अप्रासंगिक न होगा ।

---

१. "काव्य में प्रकृति चित्र" निबन्ध, 'कविता में प्रकृतिचित्रण' (रामेश्वर खंडेलवाल) पृ० ४८ से ।

२. कविता में प्रकृति-चित्रण, पृ० ५१ प्र० सं० ।

मानव का प्रकृति के प्रति आकर्षण उसकी मूलभूत 'सौन्दर्य भावना' की परितृप्ति के कारण है। 'सौन्दर्य भाव' को संस्कृत आचार्यों ने स्थायी भाव के अन्तर्गत स्थान नहीं दिया है, उनकी धारणा में 'वस्तुगत' सौन्दर्य का अस्तित्व 'रति' आदि भावनाओं के उद्दीपन में ही निहित है। अतः प्राकृतिक वर्णनों में स्वतंत्र आलंबनत्व की प्रतिष्ठा वहाँ नहीं की गई। परन्तु आ० शुक्ल, श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र आदि की धारणाओं में प्रकृति में स्वतन्त्र आलंबनत्व की प्रतिष्ठा की जा सकती है और इससे विशिष्ट, रसानुभूति भी संभव है। ऐसी स्थिति में इसके स्वतंत्र स्थायी भाव की कल्पना भी अनर्गल नहीं होगी। मानव में 'सौन्दर्य भावना' उसी प्रकार की मूलभूत और स्थायी है, जैसी रति, शोक आदि भावनाएँ। वैदिक साहित्य में आठों रसों की स्थिति संभवतः दुर्लभ हो, परन्तु 'प्रकृति रस' की स्थिति वहाँ भी पूर्ण स्पष्ट है। उषःकाल, प्रभात, संध्या, सूर्यचन्द्र, समुद्र-सरिताओं में निहित वस्तुगत सौन्दर्य आदि ऋषियों में निहित वासनात्मक 'सौन्दर्य भाव' को जागृत करने में समर्थ हुआ है। सौन्दर्य की वस्तुगत भी स्थिति है और व्यक्तिगत भी, परन्तु सौन्दर्यभाव की स्थिति व्यक्तिमात्र में उसी प्रकार निहित है जिस प्रकार रति, शोक आदि भावों की। मानव में सौन्दर्यभाव की मूलभूत स्थिति का डा० रघुवंश ने भी समर्थन किया है। इनके प्रतिपादन का सारांश है :

१. सौन्दर्य भाव मानव में स्थिर भाव है।
२. सौन्दर्य भाव का 'रति' में अन्तर्भाव भी नहीं हो सकता।
३. सौन्दर्य 'रति' का सहायक अवश्य है, परन्तु 'रति' से इसकी पृथक् सत्ता भी है।
४. सौन्दर्य भाव मनःस्थिति की वह निरपेक्ष स्थिति है जो स्वयं में पूर्ण आनंद है।[1]

संस्कृत आचार्यों ने स्थायी भाव के निर्धारण में स्थिरत्व, परिपुष्टत्व, (भरतमुनि) जन्मजात वासना-संस्कारत्व, चतुर्विध-पुरुषार्थोपयोगित्व, (अभिनव गुप्त) आस्वाद्यत्व, आप्रबन्धव्यापित्व (जगन्नाथ) इत्यादि अनेक कसौटियाँ प्रस्तुत की हैं। परन्तु इनमें मुख्यतः परिपुष्टत्व और जन्मजात वासना-संस्कारत्व को ही विशेष मान्यता प्राप्त है, क्योंकि समग्र प्रबन्ध व्याप्ति के आधार पर संस्कृत के ही रौद्र, बीभत्स आदि के स्थायी भाव का निर्धारण कठिन हो जायगा। यही स्थिति चतुर्विध पुरुषार्थ-उपयोगित्व की भी है। भरतमुनि-निरूपित 'स्थिरत्व' या 'परिपुष्टत्व' तथा अभिनव प्रतिपादित वासना-संस्कार की कसौटियों पर 'सौन्दर्य-

---

१. 'प्रकृति और काव्य' हिन्दी खण्ड, पृ० १३७।

भावना' भी स्थायी सिद्ध हो सकती है।

जन्मजात वासना-संस्कार की दृष्टि से 'सौन्दर्य-भावना' मानवमात्र में निहित है। बालक में 'रति' भावना के समान सौन्दर्य-भावना भी जन्मजात ही है। वह अन्य कुरूप वस्तुओं की अपेक्षा आकर्षक रूप-रंगों तथा गोलाकृति की वस्तुओं के प्रति अधिक आकृष्ट होता है। पालने में सजाई गई चित्रकारी तथा रंग बिरंगी वस्तुओं को अत्यन्त मुग्ध भाव से देखता है, कुछ क्षणों के लिए ही क्यों न हो, वह इन सुन्दर वस्तुओं को देखते हुए अपनी सुध-बुध खो देता है। इस मुग्धतामयी तन्मयता में वस्तुतः बालक में निहित जन्मजात 'सौन्दर्य-भावना' ही सुन्दर वस्तुओं के दर्शन से परिपुष्ट होती है। मानव में आयु की वृद्धि के साथ रति भावना की भाँति 'सौन्दर्य भावना' भी व्यापकता तथा दृढ़ता प्राप्त करती है। प्राकृतिक पदार्थों से भी मनुष्य में 'सौन्दर्य भावना' जागृत हो सकती है और मानवनिर्मित या कृत्रिम पदार्थों से भी। परन्तु काव्य में वर्णित 'प्रकृतिरस' के मूल में एकांततः प्राकृतिक आलंबनों से परिपुष्ट 'सौन्दर्यभाव' को ही स्थायी मानना आवश्यक है, अन्यथा 'प्रकृतिरस' के आलंबन का स्वरूप-निर्धारण ही जटिल हो जायगा।

संस्कृत काव्यशास्त्र के स्थायी भावों में 'रति' के अतिरिक्त 'विस्मय' स्थायी भाव भी 'सौन्दर्य भावना' का नितांत समरूप प्रतीत होता है। विस्मय स्थायी जन्य 'अद्भुतरस' और 'सौन्दर्यभाव' स्थायीजन्य 'प्रकृतिरस' में कहीं-कहीं तो प्रकृति के भव्य-विराट् रूप आलंबन भी एक-से ही रहते हैं। इसी कारण डा० वाटवे ने 'उदात्तरस' को अद्भुत रस में भी अन्तर्भूत करने का समर्थन किया है। परन्तु जिस प्रकार वात्सल्य तथा भक्ति रस का मूल स्थायी 'रति' मानते हुए भी आलंबन की भिन्नता से पृथक् पृथक् रस निर्धारित किये गये हैं, इसी प्रकार सौन्दर्य स्थायी भाव और विस्मय स्थायी भाव के आलंबनों का स्वरूप भी भिन्न-भिन्न है। प्रथम एकांततः प्राकृतिक सौन्दर्य वर्णन पर अधिष्ठित है तो दूसरा विस्मय विमुग्ध कारी असंभाव्य ऐन्द्रजालिक पदार्थ-वर्णनों पर। अद्भुत रस के आलंबन अप्राकृतिक पदार्थ तथा विस्मयकारी कार्य भी हो सकते हैं, परन्तु 'प्रकृतिरस' के नहीं। भरतमुनि ने विस्मय स्थायीभाव के विभावों में—'दिव्यदर्शन', 'ईप्सित मनोरथ पूर्ति' 'उत्तम वन देव कुलाभिगमन' असंभाव्य ऐन्द्रजालिक साधन आदि का प्रतिपादन किया है।[1] आधुनिक तिलस्मी-जासूसी उपन्यासों में विस्मयमूलक प्रस्तुत अद्भुत रस की स्थिति पूर्णतः संभाव्य है परन्तु इन स्थलों में सौन्दर्यभाव मूलक 'प्रकृति रस' सिद्ध करना वस्तुतः असंगत प्रतीत होता है। केवल आलंबन-

---

१. नाट्यशास्त्र, ७।७४।

भिन्नता से ही स्थायी भाव की भिन्नता सिद्ध करना भी कठिन है, फिर भी आधुनिक काल का प्रकृति-वर्णन-परक प्रचुर काव्य स्वतंत्र 'प्रकृतिरस' की मान्यता के लिए प्रेरित करता है। सौन्दर्य भावना का एकांततः 'रति' या विस्मय भाव में अन्तर्भाव करना कवि तथा सहृदय दोनों की 'प्रकृतिरस' के सृजन तथा आस्वाद-कालीन मनःस्थिति के प्रतिकूल-सा प्रतीत होता है। कोई भी उत्कृष्ट कलाकार प्रकृति-चित्रण विस्मय या चमत्कार में डालने के लिए नहीं करता और न एकांततः रति-शृंगार आदि भावों के उद्दीपन के लिए ही करता है, वह तो स्वयं प्रकृति-सौन्दर्य में तल्लीन होकर अपनी मूलभूत सौन्दर्यभावना को परिपुष्ट करता है या काव्य-रूप प्रदान करता है।[1]

अतः प्रकृति रस को एक स्वतंत्र रस मानकर इसके स्थायी, विभाव, अनुभाव तथा संचारियों का निम्न रूप में प्रतिपादन किया जा सकता है।

स्थायीभाव—प्रकृति के प्रति सौन्दर्य-भावना।

आश्रय—कवि तथा सहृदय पाठक।

आलंबन—प्रत्येक सुंदर नैसर्गिक या प्राकृतिक पदार्थ।

उद्दीपन—नैसर्गिक सुंदर पदार्थों में निहित रूप, रंग, आकृति, गति, विशालता, भव्यता, कोमलता, स्पष्टता आदि गुण।

अनुभाव—हर्ष-उल्लास सूचक मुद्राएँ।

संचारीभाव—स्मृति, औत्सुक्य हर्ष आदि।

आधुनिक युग में सौन्दर्य शास्त्रियों ने वस्तुगत सौन्दर्य-निर्धारण के अनेक मान उपस्थित किये हैं। उदाहरणार्थ, सुसंगति (हार्मनी), एकरूपता (युनिफार्मिटी), विविधत (वेराइटी), प्रमाणबद्धता (प्रपोर्शन), सम प्रमाणता (सिमेट्री) आदि सौन्दर्यगुण नैसर्गिक पदार्थों में निहित रूप, रंग, आकार, संयोजना (डिजाइन) आदि में उपलब्ध होते हैं। प्रस्तुत सौन्दर्य-सूचक सभी मान एक प्रकार से उद्दीपन विभाव ही हैं। इन्हीं से मूल निसर्गाधिष्ठित सौन्दर्य भाव परिपुष्ट होता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की 'गंगा वर्णन' कविता की प्रथम चार पंक्तियों के ही उद्धरण से पूर्वोक्त विवेचन को इस प्रकार समझा जा सकता है:

---

१. प्रकृति-चित्रणके समर्थ कलाकार पंत ने अपनी तन्मयता का वर्णन किया है : "कवि जीवन से पहले भी, मुझे याद है, मैं घंटों एकांत में बैठा, प्राकृतिक दृश्यों को एकटक देखा करता था, और कोई अज्ञात आकर्षण, मेरे भीतर, एक अव्यक्त सौन्दर्य का जाल बुन कर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था।"

आधुनिक कवि सुमित्रानंदन पंत, पृ० १।

नव उज्ज्वल जल धार हार हीरक सी सोहति ।
बिच-बिच छहरति बूंद मध्य मुक्ता मनि पोहति ।
लोल लहर लहि पवन एक पै इक इमि आवत ।
जिमि नर-गन मन विविध मनोरथ करत मिटावत ।

इसमें नैसर्गिक गंगा नदी आलंबन है। आलंबन के समस्त सौन्दर्यभावोद्दीपक उपादान संभार उद्दीपन विभाव हैं। जैसे, उज्ज्वल जल-धारा रंग-दीप्ति तथा स्पष्टता रूप उद्दीपन है, बूंदों का बीच-बीच में बार-बार उच्छलना विविधता तथा गति रूप उद्दीपन है। पवन-प्रेरित तरंगों का एक-एक करके क्रमशः आना और विलीन होना, इसमें विविधता और सुसंगति उद्दीपन है। प्रस्तुत सामूहिक नैसगिक सौन्दर्य से उत्पन्न हर्ष संचारी भाव है। इस प्रकार आलंबनगत सौन्दर्य अपने उद्दीपनों से कविगत या सहृदयगत मूल सौन्दर्य भाव को परिपुष्ट करता है, अतः इस प्रकार के स्वतंत्र आलंबन रूप में प्रस्तुत प्राकृतिक वर्णनों से 'प्रकृति रस' की निष्पत्ति असंगत प्रतीत नहीं होती।

आधुनिक मराठी साहित्य के अनेक समीक्षकों ने भी 'प्रकृति रस' को एक स्वतंत्र रसरूप में मान्यता प्रदान की है।[1]

प्रकृति रस की सीमाएँ :

श्रृंगार, वीर आदि रसों की तुलना में 'प्रकृति रस' विशेषतः प्रबन्ध या महाकाव्यों में अंगी रस या आधारभूत रस नहीं बन पायेगा। आधुनिक काव्यों में इस रस का स्वरूप विशेषतः मुक्तक गीतात्मक ही है। काव्य में निसर्गवर्णन सर्वत्र सौन्दर्य भाव की परिपुष्टि के लिए ही नहीं आता, वरन् इससे अन्य रति, शोक आदि भावों की रसनिष्पत्ति में भी सहायता ली जाती है, इन स्थलों में इसका स्वरूप केवल उद्दीपनात्मक मात्र रहता है। कई स्थलों पर निसर्गवर्णन या तो पृष्ठभूमि का काम करता है या मानवीय भावों की अभिव्यक्ति का माध्यम मात्र बनता है, विशेषतः उपमा, रूपक, दृष्टान्त आदि अलंकारों में नैसर्गिक पदार्थों की उपमान रूप में या प्रतीक रूप में सहायता ली जाती है। काव्यों में सर्वत्र प्रकृति के सुंदर-मोहक रूप का ही वर्णन नहीं मिलता, वरन् उसके भयानक, कुरूप तथा असुंदर रूप का भी चित्रण किया जाता है। इन स्थलों में सौन्दर्य स्थायी भाव मूलक प्रकृतिरस की स्थिति मानना असंगत है।

सारांश :

हिन्दी के आधुनिक काव्यशास्त्रज्ञों ने रस-संख्या के निर्धारण में प्रायः संस्कृत

---

१. दे० रससंख्या प्रकरण (मराठी में)

आचार्यों की परंपरा का ही पालन किया है। संस्कृत साहित्यशास्त्र में भरत-प्रतिपादित आठ और अभिनव-प्रतिपादित शांत को मिलाकर नौ रसों को प्रायः मान्यता प्राप्त रही है, हिन्दी के आधुनिक समीक्षकों ने भी इन नौ रसों को यथावत् स्वीकार कर लिया है। भक्ति और वात्सल्य को संस्कृत-साहित्यशास्त्र में पर्याप्त समय के उपरान्त मान्यता दी गई है किन्तु हिन्दी में आधुनिक युग के काव्यशास्त्रज्ञ आरंभ से ही इन दोनों रसों की स्वतंत्र स्थिति का समर्थन करते रहे हैं। आधुनिक हिन्दी काव्यशास्त्रज्ञों पर 'नौ' रस-संख्या की आप्तता का इतना प्रबल प्रभाव रहा है कि अनेक लेखकों ने भक्ति और वात्सल्य की स्वतंत्र रसात्मकता का समर्थन करते हुए भी इसका व्यापक 'रति' में ही अन्तर्भाव कर लेना समीचीन ठहराया है।

नवीन रसों के आविष्कार के प्रति बहुत कम समीक्षकों की दृष्टि गई है। भारतेन्दु ने 'प्रमोदरस', डा० गुलाबराय ने 'देशभक्ति रस', आचार्य शुक्ल और विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'प्रकृति रस' तथा इलाचन्द्र जोशी ने 'विषाद रस' की स्वतंत्र स्थिति का समर्थन किया है। इन नवीन रसों की स्थापना में प्राचीन-अर्वाचीन रस की कसौटियों का आश्रय नहीं लिया गया है और न युक्ति-प्रमाणों से व्यापक रूप में इनकी स्वतंत्र रसात्मकता का प्रतिपादन ही किया गया है। अधिकांश लेखकों ने प्रसंगवश बहुत ही चलते ढंग से नवीन रसों की संभावना व्यक्त की है। अतः इनकी स्वतंत्र रस रूप में प्रतिष्ठापना संदिग्ध है। हाँ प्रकृतिरस की स्वतंत्र रसात्मकता के समर्थकों की संख्या हिन्दी में अवश्य ही अधिक है।

कतिपय आधुनिक समीक्षकों ने परंपराभिन्न अनेक भावों की स्वतंत्र रसात्मकता का भी समर्थन किया है। डा० नगेन्द्र ने गर्व, ग्लानि तथा असूया में रस-परिणति की क्षमता स्वीकार की है तो श्री लीलाधर गुप्त ने 'अपारशक्ति की तृष्णा', 'प्रेम शंका', 'अन्याय' तथा 'अनम्यता' आदि भावों की काव्यगत रसात्मक परिपुष्टि का समर्थन किया है। इन भावों में से डा० नगेन्द्र-निरूपित 'असूया' तथा लीलाधर गुप्त उल्लिखित 'प्रेम शंका' लगभग एक जैसे ही भाव हैं।

परंपरागत रसों के वर्गीकरण का विशेषतः दो ही समीक्षकों ने प्रयत्न किया है, एक हैं आचार्य शुक्ल और दूसरे हैं श्री रामदहिन मिश्र।

संस्कृत में आचार्य भोज तथा रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने रसों की सुखात्मक एवं दुःखात्मक अवस्था का प्रतिपादन किया है।[1] आचार्य शुक्ल ने भी स्व-निरूपित

---

१. शृंगारप्रकाश, पृ० ३६९ दे० नंबर आव् रसाज--(डा० राघवन) पृ० १५५-५६। नाट्यदर्पण, पृ० १५८।

आठ रसों में से श्रृंगार, हास्य, वीर और अद्भुत को सुखात्मक वर्ग में तथा करुण, रौद्र, भयानक और बीभत्स को दुःखात्मक वर्ग में स्थान दिया है। किन्तु रामदहिन मिश्र ने मानसिक स्थान और सत्व, रज, तम आदि त्रिगुणों के आधार पर भी रस-वर्गीकरण किया है। मराठी में नवीन रसों के आविष्कार का तथा रसों के नवीन वर्गीकरण का हिन्दी की अपेक्षा अधिक प्रयत्न किया गया है, अगले प्रकरण में उनके प्रतिपादन का व्यापक अध्ययन करके हिन्दी से उसके साम्य-वैषम्य का तुलनात्मक विवेचन किया जाएगा।

मराठी में रस-संख्यान और रस-वर्गीकरण

संस्कृत के आचार्यों के समान ही आधुनिक युग के मराठी के काव्यशास्त्रज्ञों ने रस-संख्या के विस्तार-संकोच, रस-वर्गीकरण तथा रसों के प्रधान गौणत्व का प्रतिपादन विस्तार से किया है। परंपराभुक्त अनेक रसों के स्वतंत्र अस्तित्व का जहाँ प्रत्याख्यान किया गया है, वहाँ अन्य अनेक परंपराभिन्न नवीन रसों की प्रतिष्ठापना का भी प्रयत्न किया गया है।

आधुनिक काव्यशास्त्र के परंपरानुयायी लेखकों में श्री दाजी शिवाजी प्रधान ने भरतमुनि के आठ रसों को ही ग्रहण किया है, तो श्री बलवंत कमलाकर माकोडे ने बहुमान्य नौ रसों के साथ वत्सल 'भक्ति' तथा 'प्रेयान्' रसों का भी पृथक् विवेचन किया है।[1] राजाराम शास्त्री भागवत ने अपने 'अलंकार मीमांसा' ग्रन्थ में परंपरागत नौ रसों का ही निरूपण किया है। प्रधान-गौण की दृष्टि से अभिनव गुप्त की मान्यता के विपरीत भक्ति रस को इन्होंने प्रमुख माना है और इसी में शांत रस का अन्तर्भाव किया है, जब कि अभिनव गुप्त शाँत को प्रमुख और भक्ति को इसी में अन्तर्भूत मानते हैं। इनके अनुसार रसों का क्रम इस प्रकार अभीष्ट है : भक्ति, वीर, श्रृंगार, करुण, भयानक, अद्भुत, हास्य और वत्सल ।'[2] श्री भागवत ने रसों का विस्तृत विवेचन नहीं किया है, क्योंकि इनका प्रमुख विवेच्य विषय अलंकार था। संस्कृत के आचार्य भोज के 'उदात्त' रस का आधार न लेकर स्वतंत्र रूप में श्री विष्णु शास्त्री चिपळूणकर ने एक पृथक् 'उदात्त रस' का प्रतिपादन किया है। इन्होंने 'संस्कृत कवि पंचक' ग्रन्थ में कालिदास आदि महान् कवियों की रचनाओं का समीक्षण करते हुए स्थान-स्थान पर इस रस का उल्लेख किया है। संभवतः इन्हीं से प्रभावित होकर श्री रा० भि० जोशी ने भी 'उदात्त' रस

१. 'रस प्रबोध' पृ० ६७-६८।
२. 'दे० अलंकार मीमाँसा' रसप्रकरण।
३. दे० संस्कृत कविपंचक : विष्णुशास्त्री चिपलूणकर।

को स्वतंत्र रस रूप में मान्यता दी है। इन्होंने उदात्त रस की परिभाषा भी प्रस्तुत की है : 'किसी प्रसंग का अथवा पर्वत अरण्य इत्यादि स्थलों का 'वन-श्री' का अत्यन्त यथावत् और चित्ताकर्षक वर्णन जहाँ किया जाता है, वहाँ उदात्त रस होता है।'[१]

इन्होंने परंपरागत नौ रसों में से बीभत्स रस को स्वतंत्र मान्यता नहीं दी; शेष आठ रसों में भक्ति तथा 'उदात्त' रस की वृद्धि करके १० रसों का निरूपण किया है,[२] परन्तु संस्कृत आचार्यों की परंपरा से भिन्न किसी नवीन रस का उल्लेख इनके ग्रन्थ में नहीं मिलता।[३]

जिन लेखकों का विवेच्य विषय अलंकार था, उन्होंने प्रसंगवश रसों का भी निरूपण कर दिया है। इनमें श्री भागवत तथा रा० भि० जोशी आदि के मत उद्धृत किये जा चुके हैं। इसी परंपरा में विद्याधर वामन भिडे ने परंपरागत नौ रसों के अतिरिक्त 'भक्ति', 'उद्वेग', 'वात्सल्य' और 'उदात्त' रस को भी स्वतंत्र रस रूप में मान्यता दी है। भक्ति और वात्सल्य की परिभाषाएँ तो परंपरागत ही हैं। संस्कृत साहित्यशास्त्र में अनुपलब्ध 'उद्वेग' रस तथा उदात्त रस की इनकी परिभाषाएँ द्रष्टव्य हैं। उद्वेग रस : 'समाज में अथवा समाज के विशिष्ट वर्ग में उपलब्ध अनीति, दुर्व्यसन, हास्यास्पद रीति-रिवाज अथवा विचारों के कारण अनुभूयमान त्रास, दुःख, घृणा अथवा खेदजन्य अंतःकरण की जो विशिष्ट वृत्ति बनती है, उसे 'उद्वेग' रस कहते हैं।[४]

उदात्त रस : प्रकृति के भव्य दृश्यों अर्थात् आकाश, समुद्र, नदी, पर्वत, अरण्य इत्यादि की शांत स्थिति का वर्णन अथवा पंचमहाभूतों के क्षोभ का वर्णन करने अथवा सुनने के लिए अंतःकरण की जो वृत्ति बनती है, उसे उदात्त रस कहते हैं।[५] उद्वेग तथा उदात्त की स्वतंत्र रसात्मकता का परीक्षण विस्तार से आगे किया जाएगा।

श्री न० चि० केळकर ने हास्य रस को सभी रसों से श्रेष्ठ प्रतिपादित किया है। प्रसंगवश इन्होंने 'नौ' रसों का निरूपण भी कर दिया है।[६] हास्य को अन्य रसों की तुलना में श्रेष्ठ प्रतिपादित करते समय इन्होंने मुख्य रूप से तीन कारण

---

१. सुलभ अलंकार, पृ० २५।
२. दे० 'सुलभ अलंकार' रस प्रकरण।
३. दे० 'अलंकार प्रकाश,' रस प्रकरण।
४. अर्थालंकाराचें निरूपण, पृ० २०९।
५. वही, पृ० २०९।
६. सुभाषित आणि विनोद, पृ० २०

प्रस्तुत किये हैं : १. हास्य रस में स्थूल मांसलता की अपेक्षा बुद्धिनिष्ठता है। २. हास्य रस सार्वत्रिक है अर्थात् सभी अवस्था के स्त्री-पुरुषों को समान रूप से आस्वाद्य है। ३. हास्य रस के विभाव कारण सर्वव्यापक हैं।[1]

इन्होंने रसों का न नवीन वर्गीकरण किया है और न किसी नवीन रस की उद्भावना की है। हास्य रस को ही 'रसराज' सिद्ध करने के लिए इन्होंने भारतीय और पाश्चात्य मनीषियों की हास्यरस विषयक मान्यताओं का स्वतंत्र ग्रन्थ रूप में व्यापक और प्रौढ़ अध्ययन प्रस्तुत किया है।[2]

रसों के वर्गीकरण की दृष्टि से श्री श्री० कृ० कोल्हटकर का अध्ययन विस्तृत है। इन्होंने रसों के वर्गीकरण में एक विशिष्ट दृष्टिकोण अपनाया है और रस-वर्गीकरण के सामान्यतः तीन आधारों का उल्लेख किया है। एक स्थान पर वे शान्तरस तथा शान्त-इतर रसों के रूप में सम्पूर्ण रसों का दो वर्गों में विभाजन करते हैं तो अन्यत्र सुखद और दुःखद दो वर्गों में सभी रसों को विभाजित कर देते हैं। इनकी मान्यता में रसों का एक अन्य अन्तर्दृष्टि मूलक तथा बहिर्दृष्टिमूलक वर्गीकरण भी संभव है।[3] इनके रस-वर्गीकरण को संक्षेप में निम्न रूप में समझा जा सकता है :

---
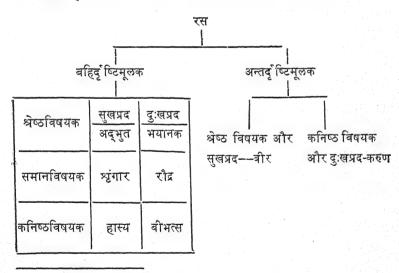
१. सुभाषित आणि विनोद, पृ० ७७-७९।

२. दे० सुभाषित आणि विनोद तथा 'हास्यविनोद मीमांसा'।

३. कोल्हटकर लेख संग्रह पृ० ८३४ (विदर्भवीणा)।

श्री कोल्हटकर की दृष्टि रस-वर्गीकरण पर जितनी केन्द्रित रही है उतनी रसों के संस्कार-परिष्कार, पुनराख्यान या नवीन उद्भावन पर नहीं रही है। फिर भी रसों के वर्गीकरण-विवेचन में वे परंपरा का एकान्त पालन नहीं करते। यही इनकी विशेषता है। परंपरागत नौ रसों का संख्या की दृष्टि से तथा प्रधान-गौण की दृष्टि से श्री० नी० चाफेकर ने विस्तार से विवेचन किया है। भक्तिरस पूर्ण साहित्य को दृष्टि में रख कर इन्होंने भक्ति रस के पृथक् स्वतंत्र अस्तित्व का समर्थन किया है। शांत रस को श्री चाफेकर ने इतना महत्व दिया है कि इसी में अन्य सभी रसों के अन्तर्भाव का प्रतिपादन कर दिया है। शान्तरस के महत्वमापन में ये असंदिग्ध रूप से अभिनव गुप्त से प्रभावित प्रतीत होते हैं। नौ रसों में प्रमुखता की दृष्टि से इन्होंने शृंगार, वीर और करुण इन तीन रसों को प्रमुख माना है, क्योंकि इनकी धारणा में इन तीनों में मानव के विविध प्रवृत्यात्मक जीवन का प्रतिबिंब मिलता है : 'भावनामयी मानव-जाति की प्रमुख मनोवृत्ति का और उसके समस्त लौकिक क्रियाव्यापार का मूल बीज और प्रतिबिंब इन्हीं तीन रसों—शृंगार, वीर तथा करुण—में संचित है।'[१] श्री चाफेकर ने परंपरागत रसों के महत्व का ही विवेचन किया है, किसी नवीन रस का उद्भावन नहीं किया, किन्तु अपने सामयिक काव्य-साहित्य को दृष्टि में रख कर श्री शिवराम पंत परांजपे ने देशाभिमान स्थायीभाव मूलक 'देशभक्ति' रस को स्वतंत्र मान्यता दी है।[२] प्रसिद्ध उपन्यास कार श्री ना०सी० फडके ने अपने एक व्याख्यान में अनुकूल संवेदनात्मक —हर्ष तथा प्रतिकूल संवेदनात्मक—विषाद इन दो ही रसों को स्वतंत्र मान्यता देना उपयुक्त प्रतिपादित किया है।[३] श्री शिवरामपंत परांजपे तथा श्री ना० सी० फडके ने अन्य रसों के विषय में अपने अभिमत व्यक्त नहीं किये हैं और न रस की कसौटी पर अपने मन्तव्य का विस्तृत परीक्षण ही किया है।

रस-संख्या के विस्तार-संकोच का विस्तृत विवेचन श्री द० के० केळकर ने अपने 'काव्यालोचन' में प्रस्तुत किया है। यद्यपि इनसे पूर्व प्रा० रा० श्री जोग ने अभिनव काव्य प्रकाश के प्रथम संस्करण में रस-संख्या के संकोच-विस्तार का निरूपण किया ही था, केवल विवेचन की सुगमता की दृष्टि से प्रथम श्री द० के० केळकर की मान्यता का निरूपण किया जाता है। इन्होंने प्रथम भोज आदि आचार्यों

---

१. काव्यचर्चा, पृ० १४४।
२. जीवन आणि साहित्य, पृ० ४५।
३. रसविमर्श, पृ० ६४।

द्वारा निरूपित रस-संख्या के विस्तार को अनावश्यक ठहराया है। श्री केळकर ने किसी भी भाव को उत्कटता और आस्वाद्यमानता के तत्वों पर रस-कोटि में स्थान देना उपयुक्त माना है। इन्होंने शृंगार के स्थान पर 'प्रेम' शब्द को रूढ़ करके देश-प्रेम, ईश-प्रेम (भक्ति) आदि को भी व्यापक 'प्रेम रस' में समाविष्ट करने का प्रतिपादन किया है।[1]

श्री केळकर से पूर्व श्री श्री० कृ० कोल्हटकर ने भी 'रति' के स्थान पर 'प्रेम' स्थायीभाव की मान्यता पर बल दिया है, जिससे इसी में वात्सल्य रस का भी अन्तर्भाव हो सके और प्रकृति विषयक प्रेम चाहे वह स्थलात्मक हो अथवा कालात्मक हो (षड्ऋतु सम्बन्धी ?) इसका भी 'प्रेम' में अन्तर्भाव किया जा सके।[2] प्रकृति-वर्णन की रसात्मकता का प्रत्याख्यान श्री द० के० केळकर ने भी नहीं किया है।[3] कुल मिला कर रस-संख्या के विषय में इनका निष्कर्ष है–'भरतमुनि निरूपित आठ रसों में शाँत और भक्ति का समावेश किया जाय तथा वीभत्स रस को रस-तालिका से निकाल दिया जाय।'[4] इस प्रकार इनकी सम्मति में प्रेम (शृंगार, भक्ति, देश-प्रेम, वात्सल्य अन्तर्भूत), करुण, वीर, हास्य, रौद्र, भयानक, अद्भुत और शांत इन आठ रसों को पृथक् स्वतंत्र मान्यता देना उपयुक्त है।

बीभत्स रस की अमान्यता के कारणों की इन्होंने उपयुक्त मीमाँसा की है। वीभत्स रस का स्वतंत्र वर्णन कहीं भी रसात्मक नहीं होता। वह प्रायः भक्ति, वीर आदि अन्य रसों का पोषक बन कर ही आता है। व्यावहारिक दृष्टि से भी देखें तो कवि प्रायः बीभत्स रस के वर्णन को प्रश्रय नहीं देते। फलतः साहित्यशास्त्र में भी इसके अधिक सुंदर उदाहरण उपलब्ध नहीं होते। परन्तु भरतमुनि ने तो प्रमुख चार रसों में बीभत्स रस की गणना की है। बीभत्स को इतना प्रमुख स्थान क्यों दिया गया ? इसका समाधान श्री केळकर ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है, 'शताब्दियों से जिन रीति-रिवाजों को हम बीभत्स कह कर तिरस्कृत करते आये हैं, वे ही रीति-रिवाज वैदिक युग में यज्ञ-यागादि में शिष्ट समझे जाते थे। अश्वमेध यज्ञ के प्रसंग में मृत अश्व के सन्निकट सम्राट् की रानी शयन करती थी और आज वीभत्स प्रतीत होने वाले शब्दों का उच्चारण करती थी। अश्वमेघ यज्ञ जिस प्राचीन काल में आरम्भ हुआ था उस समय वे शब्द बीभत्स प्रतीत नहीं होते

---

१. काव्यालोचन, पृ० १४८ तृ० संस्करण।
२. कोल्हटकर लेख संग्रह, पृ०८३४
३. काव्यालोचन पृ० १६१।
४. वही, पृ० १५८।

थे। कालान्तर में वे ही शब्द वीभत्स प्रतीत होने लगे होंगे फिर भी भरतमुनि ने पूर्व परंपरा का अनुसरण कर वीभत्स को रस-मंडल में स्थान दिया होगा।' इनके मत में परवर्ती कवियों ने भी वीभत्स वर्णन को उपेक्षणीय स्थान दिया, जो उचित ही था। वीभत्स भावना मानसशास्त्र के अनुसार प्राथमिक (प्राइमरी) या मूलभूत होने पर भी कवियों ने काव्य में उसे अप्रमुख स्थान दिया, जो उपयुक्त ही हुआ। क्योंकि 'किसी भावना का रसत्व उसकी मूलभूतता पर आधृत न हो कर उसकी आस्वाद्यता पर ही आधारित होता है।'[1]

श्री नी० र० वऱ्हाडपाण्डे ने रसों का मानसशास्त्रीय परीक्षण करते हुए परंपरागत नौ रसों का नवीन वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। इनकी धारणा में सभी भावों की उत्पत्ति का मूल कारण मानव की सुख-प्रवृत्ति है। अतः रसों के मूल में निहित स्थायी भावों का सामान्य स्वरूप सुखमूलक ही है और इनसे निष्पन्न रस आनन्दात्मक है। इन्होंने परंपरागत रस-धारणा में कतिपय नवीन परिवर्तन सुझाये हैं। इनकी मान्यता में रस के अन्तर्गत केवल मनोजन्य भाव ही नहीं वरन् कल्पना, बुद्धि या तर्कजन्य विचारों का भी अन्तर्भाव हो सकता है। फलतः इन्होंने रस की परिभाषा दी है: 'रस बुद्धि अथवा मन की स्वाभाविक वृत्तियों के उच्छलन-जन्य आनन्द का नाम है।'[2] अपनी मान्यता के अनुरूप इन्होंने बुद्धि और मन के आधार पर रसों के दो सामान्य वर्ग बनाये हैं—(१) बुद्धिजन्य रस और (२) मनोजन्य रस। बुद्धिजन्य रसों में 'विनोद' (परंपरागत हास्य के स्थान पर) और 'अद्‌भुत' रसों को स्थान दिया गया है। शेष रसों का अन्तर्भाव 'मनोजन्य' वर्ग के अन्तर्गत किया गया है।

इनकी मान्यता में 'विसंगतिजन्य' विस्मय से ही 'अद्‌भुत' और विनोद की उत्पत्ति होती है और विसंगति मूलतः बौद्धिक वृत्ति है। 'विसंगति' बुद्धि को अनुकूल प्रतीत नहीं होती अतः जहाँ-जहाँ विसंगति दिखाई देती है वहाँ-वहाँ बुद्धि कुंठित हो जाती है और बुद्धि के 'कुंठित' होने का नाम ही 'विस्मय' है। बारहवीं शती का व्यक्ति बीसवीं शती के वैज्ञानिक आविष्कारों को देख कर विस्मित हो उठता है, इसका कारण उसके समकालीन निजी ज्ञान और बीसवीं शती के नवीन ज्ञान में विसंगति का होना है। फलतः 'अद्‌भुत' और 'विनोद' के मूल में निहित 'विसंगति' बुद्धिमूलक है अतः अद्‌भुत और 'विनोद' दोनों ही बुद्धिजन्य रस वर्ग के अन्तर्गत आयेंगे। इसी प्रसंग में श्री वऱ्हाडपाण्डे ने कल्पनाजन्य आनन्द का भी

---

१. काव्यालोचन, पृ० १४४-१४५ तृ० संस्करण।

२. ज्योत्स्ना (१९४१) में प्रकाशित लेख: रसाँचें मानसशास्त्र, लेखांक प्रथम

उल्लेख किया है और इसे भी 'रस' मानना सयुक्तिक ठहराया है। प्राचीन रस व्यवस्था में कल्पनाजन्य आनन्द को किसी रस की संज्ञा नहीं दी गयी है, परन्तु इनकी धारणा में बुद्धिजन्य रस-वर्ग के अन्तर्गत कल्पनाजन्य रस को भी स्थान दिया जा सकता है, क्योंकि कल्पना व्यापार का निकट संबंध बुद्धि से ही है। साथ ही कल्पना द्वारा अन्य भावों व रसों की परिपोषकता की भी इन्होंने स्पष्टतः स्वीकृति दी है।

मनोजन्य रस वर्ग में शेष परंपरागत सात रसों का अन्तर्भाव है। परन्तु 'शृंगार' के स्थान पर इन्होंने 'प्रेयान्' रस नाम सुझाया है और इसका स्थायी भाव 'रति' नहीं, वरन् 'प्रेम' माना है। इसी 'प्रेयान्' रस के शृंगार, वात्सल्य और भक्ति तीन भेद स्वीकार किये हैं। क्योंकि इन तीनों रसों का मूल आधार व्यापक 'प्रेम' भाव ही है। वीर रस के भी इन्होंने परंपरा से भिन्न दो नये वर्ग सुझाये हैं--१. मनोवीर और २. क्रियावीर। इनकी धारणा में वीर-वृत्ति दो प्रकार की होती है, एक सहनशीलात्मक और दूसरी प्रहारशीलात्मक। प्रथम में प्रेममूलक सत्याग्रहात्मक भावना होती है तो द्वितीय में द्वेषमूलक प्रतिकारात्मक। शेष करुण, भयानक, बीभत्स, रौद्र तथा शान्त की आनन्दात्मकता का विवेचन करते हुए इन्हें भी रस-रूप में स्वीकार करना इन्होंने अनुपयुक्त नहीं माना है।

काव्य में आविष्कृत किसी भावना के रसत्व की पुष्टि के लिए संस्कृत आचार्यों ने कुल मिलाकर आस्वाद्यत्व, पुरुषार्थोपयोगित्व, उत्कटत्व, सर्वजनसुलभत्व तथा उचित विषयनिष्ठत्व इन पाँच कसौटियों का प्रतिपादन किया है। डा० वाटवे ने इन पाँच कसौटियों की मानसशास्त्रीय परीक्षा करके 'पुमर्थोपयोगित्व' या पुरुषार्थोपयोगित्व (यथा- संभव चतुर्विधपुरुषार्थ--धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष--पोषकत्व) को महत्व-हीन प्रतिपादित किया है। मानसशास्त्र सम्मत १ आस्वाद्यत्व, २, प्राथमिकता, ३. उदात्तीकरण, ४. उचितविषयनिष्ठता इन चार कसौटियों को किसी भावना के रसत्व की सिद्धि में इन्होंने सहायक माना है।[1] इन्होंने इन सभी कसौटियों का उपयोग करके नौ रसों के स्वतंत्र अस्तित्व का प्रतिपादन किया है। इन नौ रसों में भी प्रधान-गौण का क्रम इन्होंने इस प्रकार निर्धारित किया है--शृंगार, वीर, करुण, हास्य, भक्ति, वत्सल, भयानक, अद्भुत और शांत।[2]

इस प्रकार परंपरागत नौ रसों में से बीभत्स और रौद्र को निकाल कर भक्ति और वत्सल रस का उनमें समावेश किया गया है। इन्होंने बीभत्स रस के बहिष्कार

---

१. रसविमर्श, पृ० २४७।

२. वही, पृ० २५३।

में प्रा० द० के० केळकर के प्रतिपादन का समर्थन किया है और रौद्र रस के बहिष्कार में प्रा० जोग के मन्तव्य का।[१] रौद्र रस के पृथक् अस्तित्व का प्रत्याख्यान कर इसके वीर रस में अन्तर्भाव करने पर इन्होंने विशेष बल दिया है। 'उत्साह' तो कोई स्थायी भाव नहीं है, अतः इसके स्थान पर अमर्ष को वीर रस का स्थायी-भाव स्वीकार करना चाहिए। अमर्ष का अर्थ है अपने अधिकारों के अन्यायपूर्ण अतिक्रमण को सहन न करना। इसी को आगे प्रतिकारभावना का रूप प्राप्त हो जाता है और यही क्रोध में परिणत हो जाता है। अतः क्रोध की अपेक्षा 'अमर्ष' शब्द अधिक व्यापक होने के कारण इसे स्वीकार किया गया है।...वीर रस के स्थायी भाव 'अमर्ष' को स्वीकार करने पर 'रौद्र' रस के पृथक् अस्तित्व की आवश्यकता नहीं रह जाती।[२]

संस्कृत आचार्यों ने वीर और रौद्र रस में व्यावर्तक तत्व विवेक को ठहराया है। वीर रस में शत्रु-मित्र का विवेक रहता है। परन्तु क्रोध में नहीं। डा० वाटवे की मान्यता में 'प्रतिकार भावना जब तीव्र हो जाती है तब उसे क्रोध का स्वरूप प्राप्त होता है। सुसंस्कृत समाज में अपने हक्क और न्यायपूर्ण अधिकारों का अतिक्रमण होने पर कोई व्यक्ति प्रथम एकदम क्रोध की चरम सीमा पर नहीं पहुँचता। न्याय की बात उसे समझाना, उदारतापूर्वक संकेत करना, मनःसंयम से सत्याग्रह करना, निग्रह की भावना से मौन धारण करना, अथवा तितिक्षा से दंड सहन करना आदि अनेक मार्ग हैं, जिनसे अन्याय या अधिकार के अतिक्रमण का प्रतिकार किया जाता है। इन्हीं में क्रोध भी प्रतिकार का एक मार्ग है।.. वीर रस में आवश्यकतानुरूप क्रोधाविर्भाव, मर्मभेदी भाषण, तथा प्रत्यक्ष युद्ध में शत्रु-वध करना आदि का समावेश होता ही है।'[३] इस प्रकार उन्होंने क्रोध को भी 'अमर्ष' के अन्तर्गत स्थान देकर रौद्र रस के पृथक् अस्तित्व का प्रत्याख्यान किया है। यहाँ प्रश्न उठता है, यदि अविवेकपूर्ण अमर्ष से कोई वीर अनुचित कार्य करता है, शत्रु-मित्र, छोटे-बड़े, न्याय-अन्याय का विचार किये बिना संहार करता है, ऐसी स्थिति में उसके सत्वगुण-हीन कार्यों से उत्पन्न रस को रौद्र रस क्यों न माना जाय? डा० वाटवे ने इसका उत्तर दिया है 'तब यह रौद्र रस वीर रस का आभास हुआ और 'वीराभास' को यदि स्वतंत्र रस मानना उचित है, तब

---

१. अभिनव काव्य प्रकाश, प्र० सं०, पृ० ७४।
२. रसविमर्श, पृ० २४८।
३. वही, पृ० २४८।

श्रृंगार, करुण इत्यादि रसों के आभासों को भी स्वतन्त्र रसत्व क्यों न प्रदान किया जाय ?'[१]

रौद्र रस के पृथक् अस्तित्व का प्रत्याख्यान करने के लिए डा० वाटवे ने एक अन्य व्यावहारिक तर्क दिया है। आधुनिक युग अनेकमुखी राक्षसों, करालदर्शन, और भीषण वेषधारी दानवों के युद्ध का नहीं है, अतः उसके स्वतंत्र आस्वाद की आवश्यकता भी प्रतीत नहीं होती, फलतः रौद्र रस का पृथक् अस्तित्व स्वीकार करना निरर्थक है। संस्कृत आचार्यों ने 'उत्साह' स्थायी भाव मान कर वीर रस के दयावीर, दानवीर, धर्मवीर आदि भेद किये थे परन्तु अमर्ष स्थायी भाव मानने पर इस प्रकार के भेदों की निरर्थकता सिद्ध होती है। फलतः डा० वाटवे ने दया व तत्प्रेरित दान, धर्मानुष्ठान में प्रदर्शित स्वार्थत्याग, अथवा देहत्याग इत्यादि को करुण, शान्त तथा भक्ति रस में ही समाविष्ट करने का प्रतिपादन किया है।[२]

इस प्रकार इन्होंने संस्कृत साहित्यशास्त्र और मानसशास्त्र की कसौटियों पर परंपरागत रसों का मूल्यांकन कर पूर्वोक्त नौ रसों के स्वतंत्र अस्तित्व का प्रतिपादन और 'बीभत्स' की रसात्मकता तथा 'रौद्र' की पृथक् सत्ता का प्रत्याख्यान किया है।

उदात्तरस के विषय में संस्कृत आचार्यों की अपेक्षा मराठी के आधुनिक काव्य-शास्त्र के लेखकों ने अधिक विवेचन किया है। प्रकृति के भव्य-उदात्त दृश्यों को देखकर निस्सन्देह मन में एक विशिष्ट भाव-वृत्ति जागृत होती है। फलतः अधिकांश लेखकों ने इसकी स्वतन्त्र सत्ता की स्वीकृति दी है। डा० वाटवे की मान्यता है : प्रकृति के उदात्त, गंभीर दृश्य, अथवा असामान्य विभूति के विशाल मनोधर्म को देखकर और अनुभव कर उदात्त भावना का निर्माण होता है। परन्तु इसमें न्यूनाधिक रूप में भय, भक्ति और विस्मय भावना का मिश्रण रहता है अतः इसका अन्तर्भाव भयानक भक्ति और अद्भुत रस में किया जाय।[३]

श्री काका साहेब कालेलकर ने आधुनिक देशकाल परिस्थितियों के अनुरूप परंपरागत नौ रसों में नवीन संस्कार सुझाये हैं। इन्होंने मुख्यतः रसों के मूल में निहित भावनाओं, वर्णन-प्रणालियों तथा वर्ण्यविषयों में किंचित् परिवर्तनों की ओर संकेत दिया है। इनकी धारणा में श्रृंगार के स्थान पर 'प्रेम रस' को रसराज मानना अधिक समीचीन है, क्योंकि श्रृंगार आरम्भ में भोग प्रधान होता

---

१. रसविमर्श, पृ० २४८।
२. वही, पृ० २४८।
३. वही, पृ० २५३।

है, पर हृदय-धर्म की रासायनिक क्रिया से वह भावना प्रधान बन जाता है। यह रसायन और परिणति ही काव्य और कला का विषय हो सकती है, इसे हम 'प्रेम-रस' कह सकते हैं।'[१]

वीर रस आत्मविकास का सूचक है। जब किसी असाधारण प्रसंग के कारण खरी कसौटी का समय आता है, तब मनुष्य अपने शरीर के बन्धन से ऊँचा उठता है। इसी में वीर रस की उत्पत्ति होती है। वीर रस में प्रतिपक्षी के प्रति द्वेष, क्रुरता आदि के प्रदर्शन की आवश्यकता नहीं है। आलस्य, सुखोपभोग, स्वार्थ आदि का त्याग करना तथा आत्म-बलिदान करना भी वीरकर्म या वीर-वृत्ति है। अकेली हिम्मत, सरफ़रोशी वीर रस नहीं है। बेरहमी से शत्रु के अंगभंग करने में, उसके आश्रित जनों की फज़ीहत करने में वैर-वृत्ति भले ही तृप्त हो परन्तु इसमें शूरता नहीं है।'[२] अतः श्री कालेलकर की धारणा में 'आत्मबिलेपन' या 'आत्म बलिदान' ही जीवन की सच्ची वीरता है।

करुणरस में एकमात्र शोक का भाव ही आवश्यक नहीं है। वात्सल्य रस, शान्तरस और उदात्त रस में करुण के ही जुदे-जुदे पहलू हैं।'[३] सामाजिक अन्याय तथा निरपराध व्यक्तियों पर किये गये अत्याचार आदि करुण रस के स्वाभाविक क्षेत्र हैं।

अद्‌भुत रस की उत्पत्ति भव्यता में होनी चाहिए अन्यथा मनुष्य जितना ही अधिक अज्ञान में रहेगा उसे हर चीज़ उतनी ही अद्‌भुत मालूम होगी।'[३] अद्‌भुत, रौद्र और भयानक इन तीनों का उद्‌गम एक ही जगह से है। तीनों रस मनुष्य की संवेदन शक्ति के ऊपर निर्भर हैं।[४]

श्री कालेलकर के उक्त रस-संस्कारों में आध्यात्मिक दृष्टिकोण, सम-सामयिक सत्याग्रह, आत्मबलिदान आदि की भावनाएँ स्पष्टतः झलकती हैं। डा० वाटवे के मत में श्री कालेलकर ने 'रागद्वेष विवर्जित, 'वसुधैवकुटुम्बकम्' जैसी उदार-दृष्टि-सम्पन्न, शांतिसागर-स्वरूप महात्माओं के दृष्टिकोण से रस-संस्कार पर विचार किया है।[५] काव्य-साहित्य के व्यावहारिक धरातल पर वे रसों का संस्कार प्रस्तुत करते तो अधिक उपयोगी होता।

---

१. साहित्य शिक्षा, पृ० १०४।
२. वही, पृ० १११।
३. वही ,व पृ० ११३।
४. वही, पृ० ११४।
५. रसविमर्श, पृ० ६२।

रस-सिद्धान्त के आधुनिक विचारकों की धारणाओं से स्पष्ट है कि प्राचीन रस-संख्या में संशोधन, परिवर्तन तथा परिवर्धन की नितांत आवश्यकता है। रस-संख्या-निर्धारण की समस्या का हल मुख्यतः रस-कसौटी पर अवलंबित है। प्रा० द० के० केळकर 'उत्कट रूप से आस्वाद्यमानता' को ही रसत्व के निर्धारण की मूल कसौटी मानते हैं। डा० वाटवे ने संस्कृत आचार्यों की आस्वाद्यमानता, उत्कटत्व, उचित विषयनिष्ठत्व आदि रस-कसौटियों के अतिरिक्त मानसशास्त्रीय 'प्राथमिकता' (प्राइमरी) और 'उदात्तीकरण' को भी 'रसत्व' के निर्धारण में आवश्यक ठहराया है। जहाँ तक मानसशास्त्र की प्राथमिकता की कसौटी का सम्बन्ध है, वह परंपरागत सभी रसों पर पूर्णतः अभिघटित नहीं होती। 'शोक' भावना मानसशास्त्र के अनुसार प्राथमिक नहीं है, फिर भी साहित्य में उसके उत्कट स्वरूप को देख कर डा० वाटवे को 'करुण रस' के पृथक् अस्तित्व की स्वीकृति देनी पड़ी है। जुगुप्सा की भावना (डिसगस्ट) को मानस शास्त्र प्राथमिक मानता है, फलतः बीभत्स रस को पृथक् स्वतंत्र रस की मान्यता देनी चाहिए, परन्तु डा० वाटवे ने 'बीभत्स' को रस-तालिका से हटाने का ही समर्थन किया है।[1] अतः पूर्वोक्त विवेचकों की मान्यताओं का सारांश यही निकलता है कि 'उत्कटत्व' और 'आस्वाद्यत्व' दो ही प्रमुख कसौटियाँ हैं, जिन पर किसी भी 'भाव' को चाहे वह प्राथमिक हो, संमिश्र हो अथवा साधित (डिराइव्ड) हो, रसत्व की पदवी दी जा सकती है।

रस-संख्या के निर्धारण में आज न एकांततः आप्त प्रमाण स्वीकार कर मुनि-वचनों पर आधृत रहा जा सकता है और न परवर्ती संस्कृत आचार्यों की विभिन्न अनेक रसों की मान्यताओं पर। तत्कालीन, संस्कृत साहित्य के अनुरूप उनकी धारणाएँ उपयुक्त हो सकती हैं। परन्तु आधुनिक युग के समृद्ध साहित्य एवं उसकी अनेक विधाओं (फार्मस्) को ध्यान में रखकर ही रस-संख्या का व्यापक दृष्टिकोण से निर्धारण उपयोगी हो सकता है। आधुनिक साहित्य में ऐसी अनेक भावनाओं का उत्कट आविष्कार हो रहा है, जिनका प्राचीन साहित्य में उत्कट स्वरूप नहीं मिलता। उदाहरणार्थ, 'मेकबेथ' में वैयक्तिक महत्वाकांक्षा, इसे गुण कहें अथवा दोष; इतर किसी भी भावना से अधिक आस्वाद्य बनी है। यही स्थिति 'ऑथेलो' में पत्नीविषयक संशयभावना की है। 'प्राइड एण्ड प्रेजुडिस' में गर्व-पूर्वग्रह की भावना अधिक परिपुष्ट हुई है।'[2] इसी आधार पर प्रा० जोग ने रस-संख्या के

१. रसविमर्श, पृ० २५२-२५३।
२. अभिनव काव्य प्रकाश, पृ० ११४।

विषय में व्यापक दृष्टिकोण अपनाने पर विशेष बल दिया है। इन्होंने भी आस्वाद्यमानता और उत्कट-आविष्कार इन दो तत्वों को ही 'रसत्व' के निर्धारण में मूलत: आवश्यक ठहराया है। 'सामान्यत: कतिपय भावनाएँ सुनिश्चित रूप से प्रबल, मूलभूत और इतर भावनाओं की अपेक्षा कई बार उत्कट रूप में आविष्कृत हैं, तो उन्हें रस-पदवी देने में किसी प्रकार की अड़चन ही नहीं है, परन्तु वह भावना, जो सर्वसामान्य जनता में आज तक प्रत्यय में नहीं आई अथवा गौण होने से उतनी उत्कट नहीं थी, फिर भी कवि की कुशलता से यदि उत्कट बन जाती है तो उस काल तक के लिए तो उसमें रसत्व की पात्रता समझनी ही चाहिए।'[१]

काव्य में वर्णित भावना की उत्कटता का निर्णायक पूर्वग्रहमुक्त सहृदय ही होता है। काव्य में आविष्कृत उत्कट, व्यापक और प्रबल भावना सहृदय के चित्त में भी उसी प्रकार की भावनोत्कटता का निर्माण करती है। इस प्रकार की सहृदय की चित्तवृत्ति के निर्माण की शक्ति या क्षमता काव्य में आविष्कृत जिन-जिन भावनाओं में निहित है, उन्हें-उन्हें रस रूप में मान्यता देना असंगत न होगा।

प्रस्तुत व्यापक दृष्टिकोण अपनाने पर रस-संख्या का सुनिश्चित निर्धारण व्यर्थ-सा प्रतीत होता है। रस की आठ-नौ-दस या तेरस संख्या सुनिश्चित करना और उसकी अटूटता पर आग्रह प्रकट करना निस्सन्देह अनुचित है। फलत: प्रा० जोग का रस-संख्या के विषय में निष्कर्ष है: 'रस-संख्या आठ ही हो अथवा नौ हो इस प्रकार का आग्रह अनुचित है। क्योंकि परंपरागत रस-संख्या में एक और वात्सल्य तथा भक्ति को नया स्थान मिला है तो दूसरी ओर रौद्र, बीभत्स और अद्भुत रसों को उसमें रखने का कोई कारण दिखाई नहीं देता। देशभक्ति को आज के काव्य में उपलब्ध स्थान को देखते हुए उसे रस-पदवी सहज ही प्राप्य है। शमप्रधान शांत रस को अधिक महत्व प्राप्त है फिर भी उसमें चित्तवृत्ति कितनी उत्कट हो सकती है, अर्थात् मुख्यत: कितने व्यक्तियों को इसका आस्वाद प्राप्त हो सकता है, यही आज प्रश्न बना हुआ है। प्राचीन मराठी साहित्य में भक्ति रस को सर्वोच्च स्थान प्राप्त था, परन्तु आधुनिक युग में उसे गौण स्थान भी प्राप्त है या नहीं यही शंकास्पद है।'[१]

इस प्रकार आधुनिक मराठी काव्यशास्त्र के विवेचकों की रस संख्या के विषय में विभिन्न धारणाएँ हैं। जिस रस को प्राचीन और अर्वाचीन दोनों ही साहित्यों की दृष्टि से अनावश्यक ठहराया गया है, वह है---बीभत्स रस। प्रा० द० के० केळकर, प्रा० रा० श्री० जोग तथा डा० वाटवे इन तीनों की सम्मति

---

१. अभिनव काव्य प्रकाश, पृ० ११५।

में बीभत्स का रस-तालिका से बहिष्कार आवश्यक है। बीभत्स के समान 'रौद्र-रस' के पृथक् स्वतंत्र अस्तित्व का प्रत्याख्यान प्रा० जोग तथा डा० वाटवे ने किया ही है। एक ओर भक्ति रस की रसात्मकता के विरोधी आलोचकों की मराठी में कमी नहीं है[1] तो दूसरी ओर अनेक लेखकों ने इसे श्रृंगार या शांत में ही समाविष्ट कर देने पर विशेष बल दिया है। आधुनिक साहित्य को दृष्टि में रख कर प्रा० जोग ने शांत और अद्भुत के रसत्व की स्थिति पर भी शंका उठाई है। इस प्रकार समग्र रूप से आधुनिक मराठी काव्यशास्त्र के विवेचकों की धारणाओं पर दृष्टिपात करने से प्रतीत होगा कि परंपरागत रसों में से बीभत्स, रौद्र, भक्ति, शांत और अद्भुत इन पाँच रसों को रस-तालिका से बहिष्कृत कर देने में विभिन्न तर्क प्रस्तुत किये गये हैं। शेष परंपरागत महत्वपूर्ण रस हैं—श्रृंगार, करुण, वीर, हास्य, भयानक और वात्सल्य।

'श्रृंगार' रस का नवीन नामकरण 'प्रेम रस' श्री कोल्हटकर प्रा० द० के० केळकर तथा श्री कालेलकर ने सुझाया है। जिससे परंपरागत ईश-प्रेम (भक्ति) और पुत्र-प्रेम (वात्सल्य) तथा संभाव्य रस देश-प्रेम (देश-भक्ति) का भीइसी एक रस में अन्तर्भाव हो सके। परन्तु डा० वाटवे ने वत्सल भावना का पालन वृत्ति ('परेन्टल' अथवा प्रोटेक्टिव इन्स्टिन्क्ट) से साक्षात् घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण इसे स्वतन्त्र पृथक् रस मानने पर विशेष बल दिया है।[2]

प्राचीन रस-संख्या में संशोधन-परिवर्तन के अतिरिक्त जिन नवीन रसों के नाम सुझाये गये हैं, वे हैं—उदात्त, उद्वेग, विनोद, देशभक्ति, क्रान्ति और प्रक्षोभ। आधुनिक युग के काव्य-स्वरूप तथा काव्य-परिमाण को दृष्टि में रख कर इन नवीन रसों की व्यापक समीक्षा अपेक्षित है।

उदात्त रस या प्रकृति रस :

संस्कृत काव्यशास्त्र में उदात्त शब्द का प्रयोग प्रमुख रूप से तीन प्रसंगों में हुआ है : १. उदात्त नायक, २. उदात्त अलंकार, ३. उदात्त रस। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में 'धीरोदात्त' नायक-भेद का निरूपण है।[3] भरतमुनि ने विशेषतः 'सेनापति' और 'मन्त्री' में धीरोदात्त नायक का गुण माना है। इस आधार पर 'उदात्त' शब्द 'धैर्यशाली' और 'मतिमान्' दो गुणों की व्यंजना करता है। अलंकार क्षेत्र में आरम्भिक आचार्यों दण्डी, भट्टि और भामह ने उदात्त अलंकार का निरू-

---

१. देखिए भक्तिरस प्रकरण।

२. रसविमर्श, पृ० २५२।

३. नाट्यशास्त्र, अ० १४-१८ चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारस, प्र० सं०।

पण किया है ।[1] जयमंगला के टीकाकार के मतानुसार भट्टि ने उदात्त को ही 'उदार' नाम दिया है ।[2] दण्डी ने उदात्त अलंकारों को दो स्थितियों में दर्शाया है : जहाँ महत्वपूर्ण 'आशय' का अथवा जहाँ महत्वपूर्ण 'विभूति'—ऐश्वर्य का वर्णन हो, वहाँ उदात्त अलंकार होता है ।[3] प्रथम महत्वपूर्ण आशय का उदाहरण दिया गया है : जो राम रावण के शिरश्च्छेदन के कार्य भार से भी विकल नहीं हुए, वे पिता की वनगमन की आज्ञा का अतिक्रमण नहीं कर सके ।' दूसरे उदात्त अलंकार के भेद का उदाहरण है : 'हनुमान ने बड़ी कठिनाई से रावण को पहिचाना, क्योंकि रत्नजटित दीवारों में उसके सैकड़ों प्रतिबिंब प्रतिफलित हो रहे थे और वह उन्हीं से आवृत्त था ।'[4] इस प्रकार दण्डी के 'उदात्त' अलंकार की प्रथम स्थिति 'उच्च आशय' से सम्बद्ध है तो द्वितीय स्थिति 'ऐश्वर्यपूर्ण' वर्णन से । एक का संबंध स्पष्टतः 'मनोभावना' से है तो दूसरे का ऐश्वर्यपूर्ण पदार्थों से । भरतमुनि-निरूपित धीरोदात्त नायक के 'धैर्य और मतिमान्' गुणों का भाव ही दण्डी के प्रथम प्रकार के उच्च आशय सम्बद्ध उदात्त अलंकार में दिखाई देता है । इनका द्वितीय भेद किसी मनोभाव को प्रकट नहीं करता, उसका सम्बन्ध एकांततः ऐश्वर्य-समृद्धि के विराट्-चित्र प्रस्तुत करने से है । आचार्य दण्डी या इनसे भी पूर्व से प्रचलित 'उच्चाशय' से सम्बद्ध उदात्त अलंकार भोज के समय 'उदात्तरस' कैसे बन गया, यह संस्कृत काव्यशास्त्रज्ञों की खोज का विषय है । भोज ने 'उदात्त' को अलंकार रूप में नहीं माना वरन् इसे रसरूप में ही स्वीकार किया है । इन्होंने बारह रसों में 'दान्त' या 'उदात्त' रस की गणना की है और इसका स्थायीभाव 'मति' ठहराया है । इस रस की परिपुष्टि का जो उदाहरण प्रस्तुत किया गया है, उसमें राम के धैर्य और विवेक की ही ध्वनि निकलती है ।[5] भोज के अतिरिक्त अन्य आचार्यों मम्मट, विश्वनाथ, अप्पय दीक्षित, जयदेव आदि ने 'उदात्त' अलंकार के दो भेदों का ही निरूपण किया है, उदात्तरस का नहीं । भोज का 'उदात्तरस' भरतमुनि के 'धीरोदात्त' नायक की कल्पना पर ही पूर्णतः अधिष्ठित है ।[6]

---

१. हिन्दी साहित्यकोश (सं० धीरेन्द्र वर्मा) दे० 'उदात्त' ।
२. डा० काणे : संस्कृत साहित्य शास्त्राचा इतिहास, पृ० ९८ प्र०सं० ।
३. काव्यादर्श २।३०० ।
४. वही, २।३०१ ।
५. सरस्वती कण्ठाभरण, ५।७७ ।
६. डा० राघवन के मत में भी भोज ने नायक के चार भेदों–धीरोदात्त, धीरललित, धीरप्रशान्त, और धीरोद्धत—से प्रेरणा या मूल ग्रहण कर 'उदात्त', प्रेयान् शान्त' तथा 'उद्धत' रस की प्रतिष्ठा की । दे० नवंर आव् रसाज् (डा० राघवन) पृ० १२२ ।

मराठी के आधुनिक काव्यशास्त्र-विवेचकों का 'उदात्त रस' संस्कृत आचार्यों की परंपरा से विनिर्मुक्त है। यहाँ न तो किसी नायक के विशिष्ट धैर्य आदि गुणों का द्योतक है और न दण्डी के उदात्त अलंकार का और न भोज निरूपित 'मति' स्थायी मूलक उदात्त रस का। प्रकृति के ऐश्वर्यपूर्ण, आकर्षक तथा भव्य चित्रांकन में ही मराठी के विवेचकों ने 'उदात्त रस' माना है। इसको दण्डी निरूपित उदात्त अलंकार के द्वितीय-भेद से सम्बद्ध किया जा सकता है, परन्तु बहुत ही सीमित अर्थ में। इस प्रकार के सम्बन्ध-प्रदर्शन में बहुत खींचतान करनी पड़ेगी। अतः संस्कृत-आचार्यों की परंपरा से इसे भिन्न मानना ही अधिक उपादेय है। मराठी में 'उदात्त' रस' की स्थापना तीन लेखकों ने की है : श्री विष्णुशास्त्री चिपळूणकर, श्री रा० भि० जोशी, तथा श्री विद्याधर वामन भिडे। श्री चिपळूणकर ने 'उदात्त रस' का शास्त्रीय विवेचन नहीं किया है—इसके स्थायी संचारियों की मीमाँसा नहीं की। इन्होंने कालिदास की कृतियों में 'उदात्तरस' अथवा 'कल्पना विशालत्व' की प्रचुर मात्रा में स्थिति का समर्थन किया है। इनकी धारणा में 'भयप्रदत्तता, भव्यता और असीमता उदात्त के प्रथमतः भासमान प्रमुख कारण हैं।'[1] इनके स्वल्प-विवेचन से 'उदात्त रस' का स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाता। श्री रा० भि० जोशी और श्री वि० वा० भिडे ने उदात्त रस की परिभाषाएँ तो दी हैं परन्तु दोनों ने ही इसके स्थायी भाव का स्पष्ट निरूपण नहीं किया है।[2] फिर भी इन दोनों की धारणा में प्रकृति के 'यथावत्' 'चित्ताकर्षक' तथा 'भव्यदृश्यों' के वर्णन में 'उदात्तरस' को मान्यता दी जानी चाहिए।[3]

आधुनिक मराठी और हिन्दी-काव्यशास्त्र के समक्ष एक गम्भीर प्रश्न है कि प्रकृति-वर्णन में स्वतंत्र रस की स्थिति स्वीकार की जाय अथवा नहीं ? संस्कृत आचार्यों ने तो प्रकृति-वर्णन को सर्वत्र उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत रखा है, स्वतंत्र रस रूप में मान्यता नहीं दी है। परन्तु हिन्दी की भाँति मराठी में भी स्वतंत्र निसर्ग वर्णनात्मक काव्य-साहित्य के अनुरूप एक स्वतंत्र प्रकृति रस की मान्यता आवश्यक है।

जहाँ तक एक स्वतंत्र प्रकृति रस के लिए स्वतंत्र प्रकृति वर्णनात्मक काव्य का सम्बन्ध है वह हिन्दी की भाँति मराठी में भी प्रचुर मात्रा में है। महाकाव्य, खंड-काव्य, भाव गीत, लोक गीत आदि काव्य-प्रकारों में 'सृष्टिगीत' को भी स्वतंत्र,

---

१. संस्कृत कविपंचक, पृ० ७२।
२. दे० रससंख्या, मराठी में
३. दे० रससंख्या प्रकरण मराठी में

काव्य-प्रकार माना गया है, जिसमें केवल प्रकृति वर्णनात्मक कविताओं का अन्तर्भाव होता है।[१] हिन्दी की भाँति मराठी में भी 'सृष्टिगीतों' के सृजन की प्रेरणा में स्वदेशभक्ति तथा पाश्चात्य कवि वर्ड्सवर्थ आदि की चिन्ताधाराओं का प्रभाव पड़ा है। मराठी के 'सृष्टिगीतों' को स्वतंत्र 'काव्य प्रकार' का स्वरूप प्रदान करने में केशवसुत, नारायण वामन टिळक, बालकवि (त्र्यंबक बापू जी ठोंबरे) माधव ज्युलियन, यशवन्त, गिरीश, कुसुमाग्रज आदि अनेक कवियों ने योग दिया है। नितांत आधुनिक काल में भी निसर्ग वर्णनात्मक कविताओं का निर्माण अवरुद्ध नहीं हुआ है। अतः निसर्ग वर्णनात्मक काव्य के अनुरूप आधुनिक काव्यशास्त्र में 'प्रकृति रस' को मान्यता देना असंगत प्रतीत नहीं होता।[१]

श्री य० र० आगाशे ने भी प्रकृति-वर्णन में रसानुभूति का पूर्णतः समर्थन किया है। 'अचेतन प्रकृति स्वयं अपने बारे में वर्णन नहीं कर सकती। प्रकृति जिस किसी कवि को अपने सुंदर रूप से आकर्षित कर लेती है, वही कवि उसका वर्णन करता है। फलतः कवि की मनोवृत्ति की छाया, उसकी दृष्टि-रुचि उसमें प्रतिबिंबित हुए बिना नहीं रह सकती। अतः प्रकृति वर्णनात्मक कविता भी मनोवृत्ति निरपेक्ष नहीं होती।'[२]

स्थायी भाव

'प्रकृति वर्णनात्मक कविता में कवि-अन्तःकरणस्थ भाव स्थायीभाव कहलायेगा और प्रकृति का रमणीय रूप आलंबन तथा एकांत उद्दीपन कहलायेगा। जिस स्थायीभाव को हम राम-सीता अथवा दुष्यन्त-शकुन्तला में जागृत प्रतिपादित करते हैं, वस्तुतः उसका मूल उद्गम कवि की रसमयी मनोवृत्ति में ही होता है और कवि उसे अपनी कल्पना-सृष्टि के द्वारा अभिव्यक्त करता है। अतः किसी भी काव्य में कवि की सहृदयता, उसकी रसमयी अंतःकरणवृत्ति, प्रतिभा इत्यादि अनेक कारणों से रस-निष्पत्ति होती है, चाहे वह मानव-जीवन से सम्बन्ध रखने वाली हो, चाहे प्रकृति से।'[३]

इस प्रकार श्री आगाशे ने प्रकृति वर्णनात्मक कविता में स्वतंत्र रसात्मकता का प्रतिपादन किया है। हिन्दी में भी कतिपय समीक्षकों ने प्रकृति रस की स्वतंत्र

---

१. विस्तार के लिए दे० प्रकृति रस का विवेचन, रससंख्या प्रकरण (हिन्दीमें)

२. सारस्वत समीक्षा, पृ० १३९।

३. सारस्वत समीक्षा, पृ० १३९।

मान्यता पर प्रकाश डाला है।[1] प्रकृति रस की स्वतंत्र स्थापना के विषय में विस्तृत विवेचन किया जा चुका है।

उद्वेग तथा प्रक्षोभ रस

मराठी के आधुनिक काव्य शास्त्र-विवेचकों में श्री विद्याधर वामन भिडे ने 'उद्वेगरस', आचार्य जावडेकर ने 'क्रान्तिरस' तथा श्री आतमाराम राव जी देशपांडे ने 'प्रक्षोभरस' की स्वतन्त्र मान्यता पर बल दिया है। संस्कृत के दर्शनशास्त्र में ही नहीं वरन् काव्यशास्त्र में भी 'आप्तप्रमाण' पर पर्याप्त आग्रह रहा है, फिर भी संस्कृत काव्यशास्त्र में ही सामयिक देशकालानुरूप निर्मित काव्य-साहित्य के अनुरूप नये-नये रसों की स्थापनाएँ की गईं।[2] भरतमुनि-निरूपित आठ रसों के अतिरिक्त जितने भी दस-पन्द्रह नवीन रस स्थापित किये गये हैं, उनमें से शान्त, भक्ति तथा वात्सल्य को संस्कृत के ही अनेक आचार्यों ने स्वतंत्र रूप में मान्यता देना आवश्यक समझा था।

संस्कृत काव्यशास्त्र के समान मराठी काव्यशास्त्र में भी वर्तमान देशकालानुरूप निर्मित काव्य-साहित्य के आधार पर नये-नये रसों की स्थापनाएँ की जा रही हैं। इनमें पूर्ववर्णित 'उदात्त' के अतिरिक्त प्रस्तुत तीनों रसों का भी पृथक्-पृथक् स्वरूप प्रतिपादित है। इन नवाविष्कृत रसों को केवल परंपराभिन्न या मुनिवचन-विद्रोही हैं, इस आधार पर अमान्य ठहराना उसी प्रकार असंगत है, जिस प्रकार इन्हें केवल 'नवीनता' के कारण एकांत ग्राह्य मानना। इन नवाविष्कृत रसों का प्राचीन-अर्वाचीन काव्यशास्त्र की रस-कसौटियों पर मूल्यांकन करके इनकी उपयोगिताओं तथा सीमाओं का निर्देश कर देना मात्र वर्तमान स्थिति में अधिक उपयुक्त होगा, अपेक्षाकृत इन्हें एकांत ग्राह्य या त्याज्य निर्धारित करने के।

उद्वेगरस :

श्री वि० वा० भिडे ने जिस प्रकार 'उदात्त रस' की परिभाषामात्र दी है, उसके स्थायी संचारी आदि का प्रतिपादन नहीं किया, उसी प्रकार इन्होंने उद्वेग रस' की भी परिभाषा मात्र दी है।[3] इस संक्षिप्त उद्वेग रस की परिभाषा से परंपरागत कतिपय रसांगों की व्याख्या की जा सकती है। समाज या समाज का विशिष्ट

---

१. दे० रससंख्या प्रकरण (हिन्दी में)।

२. दे० संस्कृत काव्यशास्त्र में रससंख्या,।

३. दे० इसी प्रकरण में

वर्ग उद्वेग रस का आलंबन है। समाज के विशिष्ट वर्ग के दुर्व्यवहार––अनीति, दुर्व्यसन, हास्यास्पद रीति-रिवाज अथवा विचार-धारा उद्दीपन विभाव हैं। त्रास, दु:ख, घृणा आदि संचारी हैं और इनसे जो सहृदय के चित्त की विशिष्ट वृत्ति बनती है, वह उद्वेग रस है। श्री भिडे ने प्रस्तुत 'विशिष्ट वृत्ति' का संज्ञा-निर्देश नहीं किया, अनुमानतः यह 'उद्विग्नता' की वृत्ति ही हो सकती है, जिससे उद्वेग रस की परि-पुष्टि होगी।

जहाँ तक 'उद्विग्नता' स्थायी भाव का सम्बन्ध है, यह परंपरागत किसी रस के स्थायी भाव में पूर्णतः अन्तर्भूत नहीं हो पाता। बीभत्स के स्थायी भाव––जुगुप्सा से इसका निकट सम्बन्ध दर्शाया जा सकता है। भरतमुनि के अनुसार जुगुप्सा के विभाव हैं––'अहृद्य श्रवण' और 'अहृद्य दर्शन'।[1] 'उद्विग्नता' स्थायी के भी विभाव––समाज के 'हास्यास्पद रीति-रिवाज' और दुर्व्यसन––अहृद्यदर्शन रूप हैं तथा अनीति और हास्यास्पद विचार अहृद्यश्रवण हैं। इस प्रकार जुगुप्सा तथा 'उद्विग्नता' का कुछ सीमा तक निकट सम्बन्ध दिखाया जा सकता है। परन्तु संस्कृत में जुगुप्सा स्थायी पर आधृत जिस 'बीभत्स' रस की परिपुष्टि की गई है, उसमें सामाजिक रीति-रिवाज तथा समाज के विशिष्ट वर्ग के दुर्व्यसनों तथा अनीतियों का विशेष वर्णन नहीं है, वरन् उसमें दुर्गंधित रक्त-माँस-मज्जा आदि जड़ पदार्थों का घृणोत्पादक रूप तथा भूत-प्रेत-पिशाच-राक्षस या मांसाहारी हिंस्र वस्तुओं के क्रियाकलापों का वर्णनमात्र है। अतः स्पष्टतः ही उद्वेग रस का क्षेत्र परंपरा-गत बीभत्सरस के क्षेत्र से किसी सीमा तक भिन्न-भिन्न हो गया है। प्रथम में मानवसमाज और उसके विशिष्टवर्ग के व्यक्तियों के व्यवहार-विचार मुख्य रूप से आलंबन-उद्दीपन हैं, परन्तु बीभत्स में घृणोत्पादक जड़पदार्थ तथा असामाजिक प्राणियों के व्यवहार मुख्य रूप से गृहीत हैं। यह तो हुई 'उद्वेग रस' और बीभत्स रस के आलंबन-उद्दीपन की स्वरूप-भिन्नता, इसके अतिरिक्त इन दोनों रसों के मूल स्थायी भावों में भी सूक्ष्म अन्तर है। संस्कृत आचार्यों की स्थायी-भाव की कसौटियों में प्रथम भरतमुनि की कसौटी 'स्थिरता' या 'परिपुष्टि' के आधार पर दोनों ही स्थायी भाव समान रूप प्रतीत होते हैं, परन्तु अभिनव गुप्त की कसौटी––जन्मजात वासना संस्कार––के आधार पर जुगुप्सा अधिक स्थायी है अपेक्षाकृत 'उद्विग्नता' के। क्योंकि समाज तथा सामाजिक व्यक्तियों के हास्या-स्पद व्यवहार, दुर्व्यसन, रीति-रिवाजों तथा अनीतियों पर आधृत 'उद्विग्नता' जन्मजात वासना रूप अनुभूति नहीं है, इसके लिए सामाजिक जीवन का ज्ञान

---

१. नाट्यशास्त्र, ७।२५-२६।

तथा अनुभव प्रथम अपेक्षित है, परन्तु घृणित पदार्थों से उत्पन्न जुगुप्सा मानव-मात्र में स्वाभाविक है। दुर्गंधित पदार्थ सामाजिक जीवन की अनुभूति से शून्य व्यक्ति में भी सहसा जुगुप्सा उत्पन्न कर सकते हैं। जन्मजात वासना संस्कार के अतिरिक्त एक अन्य स्थायी भाव की कसौटी है--आस्वाद्यत्व। इस कसौटी पर जुगुप्सा की अपेक्षा 'उद्विग्नता' अधिक आस्वाद्य प्रतीत होती है। आधुनिक युग के काव्यों में 'जुगुप्सा, की अपेक्षा 'उद्विग्नता' का अधिक व्यापक चित्रण हुआ है। अधिकाँश प्रगतिवादी कवियों का काव्य अंधविश्वास तथा रूढ़िग्रस्त सामाजिक रीति-रिवाजों, पूंजीवाद, साम्राज्यवाद, निर्धनता आदि के अभिशापों का मनोद्वेजक चित्रण करता है। भारतीय ग्रामवासियों के अंधविश्वास, रूढ़ि, निर्धनता आदि को लक्षित कर श्री सुमित्रानन्दन पंत की 'उद्विग्नता' इस रूप में प्रकट हुई है :

यहाँ खर्व नर (बानर) रहते युग-युग से अभिशापित,
अन्न वस्त्र पीड़ित असभ्य, निर्बुद्धि पंक में पालित।
यह तो मानव लोक नहीं रे, यह है नरक अपरिचित।
यह भारत का ग्राम, सभ्यता, संस्कृति से निर्वासित।[१] (ग्रामचित्र)

× × × ×

घर घर के बिखरे पन्नों में नग्न क्षुधार्त कहानी,
जन मन के दयनीय भाव कर सकती प्रकट न वाणी।
मानव दुर्गति की गाथा से, ओत प्रोत मर्मान्तक।
सदियों के अत्याचारों की सूची यह रोमांचक॥[२] (ग्राम)

इन पंक्तियों में कवि ने ग्रामीणों के प्रति 'जुगुप्सा' या घृणा भाव अभिव्यंजित नहीं किया वरन् उनकी दुर्गति पर अपनी 'उद्विग्नता' अभिव्यक्त की है। यहाँ सहृदयों में भी उद्वेग भाव की अनुभूति ही होगी, घृणा की नहीं। बीभत्स की अपेक्षा इस 'उद्वेगरस', की अनुभूति में अधिक उत्कट आस्वाद्यत्व है। इसका कारण है--'उद्वेग रस' में निहित मानवता का आंतरिक सम्बन्ध सूत्र। संस्कृत आचार्यों ने 'चतुर्विध पुरुषार्थोंपयोगित्व' (धर्म अर्थ काम मोक्ष) को भी स्थायी भाव की एक कसौटी मानी है। इस आधार पर भी 'बीभत्स' की अपेक्षा उद्वेगरस अधिक उपयोगी प्रतीत होता है। पूंजीवाद, अनीति तथा सामाजिक असमानता-जनित 'उद्विग्नता' को श्री भगवतीचरण वर्मा ने निम्न रूप में अभिव्यक्ति दी है--

---

१. ग्राम्या, पृ० १६।
२. ग्राम्या, पृ० १४।

वह राज काज जो सधा हुआ है इन भूखे कंगालों पर,
इन साम्राज्यों की नींव पड़ी है, तिल तिल मिटने वालों पर।
वे व्यौपारी वे जमींदार, जो हैं लक्ष्मी के परम भक्त,
वे निपट निरामिष सूदखोर पीते मनुष्य का उष्ण रक्त।
इस राज काज का वही स्तम्भ उनकी पृथिवी उनका ही धन,
ये ऐश और आराम उन्हीं के और उन्हीं के स्वर्ग-सदन
उस बड़े नगर का राग रंग हंस रहा निरन्तर पागल-सा,
उस पागलपन से ही पीड़ित कर रहे ग्राम अविकल क्रन्दन।
दानवता का सामने नगर। मानव का कृश कंकाल लिये—
चरमर चरमर –चूं मरर जा रही चली भैंसागाड़ी।

इन पंक्तियों में साम्राज्यवादियों, पूंजीवादी––जमींदार––व्यौपारियों को ग्रामीणों की दुर्गति का मूल कारण ठहरा कर कवि ने उनके अनीतिपूर्ण कार्यों के प्रति 'उद्विग्नता' अभिव्यंजित की है। यहाँ भी घृणा की अपेक्षा 'उद्वेगभाव' ही अधिक परिपुष्ट हुआ है।

संस्कृत साहित्यशास्त्र में प्रतिपादित स्थायी भावों की कसौटियों––'आस्वाद्यता' उत्कटता, जन्मजात वासना–संस्कारिता आदि पर 'उद्विग्नता' का पूरा-पूरा उतरना कठिन और विवादास्पद हो सकता है। इस रस के उद्भावकों ने भी स्वयं किसी विशिष्ट स्थायीभाव का प्रतिपादन नहीं किया है। ऐसी स्थिति में 'उद्वेग रस' को शृंगार, करुण आदि मर्मस्पर्शी रसों के समरस स्थान देना कठिन है। उद्वेग भावनाओं से परिपूर्ण कविताओं में इसकी भावमय परिपुष्टिमात्र का समर्थन किया जा सकता है। संस्कृत साहित्य में सामाजिक अन्याय-विषमता, या दुर्व्यवहारों के प्रति आक्रोश व्यक्त करने वाले भावों का काव्यमय वर्णन प्रायः नहीं मिलता। इसलिए वहाँ सामाजिक विषमता के विरोध में उद्भूत उद्विग्नता की काव्य में भावमय परिपुष्टि भी प्रायः नहीं मिलती। आधुनिक काव्यशास्त्र में 'उद्वेग' को स्वतंत्र रस रूप में भले ही प्रतिष्ठित न किया जाय किन्तु इस युग के काव्य-साहित्य को दृष्टि में रख कर 'उद्वेग' भाव की काव्यगत परिपुष्टि का समर्थन असंगत प्रतीत नहीं होता। ऐसी स्थिति में 'उद्वेग' को स्वतंत्र रस न मान-कर परिपुष्ट भाव स्वीकार करना असमीचीन न होगा।

प्रक्षोभ रस :

'उद्वेग रस' के समान 'प्रक्षोभ रस के' स्थायी-संचारी आदि के निर्धारण का प्रश्न जटिल नहीं है, क्योंकि इस रस के आविष्कर्ता श्री आत्माराम राव जी

देशपांडे ने स्वय ही इसके विभिन्न अंगों की व्यापक प्रतिष्ठापना की है। इनकी धारणा में आधुनिक काल का काव्य-साहित्य 'प्रक्षोभ रस' से पर्याप्त परिपूर्ण है। इसके मूल्यांकन के लिए संस्कृत आचार्यों के नौ अथवा बारह रस अपूर्ण हैं, अतः नवीन प्रक्षोभ रस की स्वीकृति इनके मत में आवश्यक है। इनकी मान्यता में इसका स्वतंत्र स्वरूप इस प्रकार स्वीकार किया जाय :

१. स्थायी भाव---अखिल सृष्टि सह संवेदमूलक, 'संवेग'।
आलंबन---विघ्न, बाधा, दैवी या मानुषी विपत्तियाँ।
उद्दीपन---दलितों का छल, संकटावस्था इत्यादि।
संचारी---आवेग, अमर्ष, कारुण्य, तिरस्कार आदि।
अनुभाव---प्रवृत्तिमूलक संघर्ष की द्योतक अनेक चेष्टाएँ।[1]

प्रक्षोभ रस के उदाहरण स्वरूप पूर्वोक्त उद्वेग रस में निरूपित भगवतीचरण वर्मा की कविता की पंक्तियों को लिया जा सकता है। इनके मत में मराठी के श्री केशव सुत कवि की 'तुतारी' कविता प्रक्षोभ रस का ही पूर्णतः प्रतिनिधित्व करती है।

परंपरागत रसों से पार्थक्य

श्री देशपांडे की धारणा में 'प्रक्षोभ रस' परंपरागत किसी भी रस में अन्तर्भूत नहीं होगा, इसका स्वतंत्र अस्तित्व है। इसका वीर रस में अन्तर्भाव नहीं होगा, क्योंकि वीर में विजिगीषात्मक उत्साह स्थायी है तो प्रक्षोभ में परपीड़ा-दर्शन जन्य संवेग है। रौद्र रस का 'क्रोध' तो दूसरे की विनाश भावना पर अधिष्ठित होता है, इसके अतिरिक्त क्रोध और उत्साह स्थायी भाव अहंकारमूलक होते हैं जब कि प्रक्षोभ का 'संवेग' अहंकार रहित होता है। करुण रस के 'शोक' में 'मनो-वैक्लव्य' है तो शान्त रस के 'निर्वेद' में निवृत्तिभाव, परन्तु प्रक्षोभ रस का 'संवेग'

---

१. भावः स्थाय्यस्य संवेगः सहसंवेद मूलकः।
आपत्तिर्दलितानां वा पीडा तस्यावलंबनम् ॥३॥
दीनच्छलः परोद्धौत्यं तस्यचोद्दीपनं मतम्।
अनुभावस्तया चेष्टाः तास्ताः संघर्ष बोधिका ॥४॥
अमर्षावेग कारुण्यादीन्यस्य व्यभिचारिणः।
'सर्वे पि सुखिनः सन्तु" हेतुनानेन पुष्यते ॥५॥
श्री देशपांडे के प्रक्षोभरस-स्थापन का श्री ग० त्र्यं० देशपांडे कृत संस्कृत अनुवाद।

प्रवृत्तिपरक है। अतः यह रस परंपरागत रसों से अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखता है।

श्री देशपांडे की मान्यता में शान्त का प्रतिद्वन्द्वी रस 'प्रक्षोभ' है। भरतमुनि के समान ही इन्होंने भी प्रक्षोभ रस के वर्ण, प्रकृति, शक्ति तथा देवता का प्रतिपादन भी किया है।[१] अन्य रसों की अपेक्षा इसमें करुण भाव सहसंवेदना के कारण संचारी के रूप में आ सकता है, परन्तु इससे प्रक्षोभ रस के स्वतंत्र अस्तित्व में बाधा नहीं आती।[२]

प्रक्षोभ और उद्वेग रस में अंतर :

उद्वेग रस की विभाव, अनुभाव, संचारीभाव तथा स्थायीमूलक विशिष्ट अपेक्षित व्याख्या इस रस के स्वतंत्र प्रतिपादकों ने नहीं की, जब कि श्री आ० रा० देशपांडे ने परंपरागत रसांगों--संचारी आदि--के आधार पर प्रक्षोभ की परिपुष्ट स्थापना की है। 'उद्वेग रस' का मूलतः स्थायीभाव कौन सा निर्धारित किया जाय ? इसके लिए आज अनुमान का सहारा लेना पड़ता है। 'उद्वेग' तथा प्रक्षोभ' के स्थायीभाव--'संवेग' में न केवल उपसर्ग का भेद है, वरन् आशय में भी सूक्ष्म अंतर हो जाता है। 'उद्विग्नता' यदि स्थायी हो तो प्रक्षोभ का अखिल सृष्टि सह संवेगमूलक संवेग--स्थायी अधिक व्यापक लगता है। उद्वेग रस के स्थापकों ने इसकी व्यापक मीमांसा नहीं की है, अतः 'प्रक्षोभ रस' की स्थापना का अपना विशिष्ट महत्व है, फिर भी 'उद्वेग रस' की 'प्रक्षोभ' के अनुकूल व्याख्या संभव है।

समीक्षा

श्री रा० श्री० जोग ने 'क्रान्ति ' की अपेक्षा 'प्रक्षोभ' भावना को 'अधिक व्यापक' और 'सामान्य' स्वीकार करके भी इसका वीर रस के अनुरूप 'प्रतिकार वृत्ति' या 'युयुत्सु वृत्ति' में ही अन्तर्भाव दिखाया है। क्रोध और उसके विभिन्न प्रकारों (Rage, Fury, Irritation, Displeasure, Annoyance) का प्रतिकार वृत्ति (Instinct of combat) से निकट सम्बन्ध है। अतः इनके मत में वीर और प्रक्षोभ को भिन्न-भिन्न रस मानना निर्हेतुक है। वीर में हिंसा होती है और प्रक्षोभ में हिंसा का अभाव मानना भी विशेष तर्कपूर्ण युक्ति

---

१. प्रकृतौ हि समश्चायम्, अस्य वर्णोऽरुणस्तथा ।
शक्ति हि जगतो धात्री परमं चास्य दैवतम् ॥६॥ पृ० २

२. 'सह संवेदवशात् करुणः अत्र व्यभिचारित्वेन चरतिचेत्, चरतु नाम।' पृ०२

नहीं है, क्योंकि प्राचीनों ने वीररस के भी दयावीर, दानवीर, आदि भेद किये ही हैं, इनमें हिंसा नहीं है। अंततः प्रक्षोभ रस में किसी न किसी प्रकार की सुनिश्चित विषयनिष्ठता आवश्यक है, जब ऐसी स्थिति होगी तो उसका स्वरूप वीर रस से भिन्न नहीं होगा।'[१]

श्री आ० रा० देशपांडे ने 'प्रक्षोभ रस' में स्पष्टतः हिंसा का निर्देश नहीं किया है, वरन् जिगीषा (जीतने की इच्छा) रूप उत्साह को इसका स्थायी भाव माना है, अतः हिंसा के आधार पर प्रक्षोभ की रसात्मकता का प्रत्याख्यान या प्रक्षोभ का वीर रस में ही अन्तर्भाव उनकी मूलभूत मान्यता के विपरीत है। प्रा० जोग की मूलभूत धारणा में 'वीर' और 'रौद्र' रस के स्थायी भावों का मूल आधार "प्रतिकारवृत्ति' (Instinct of combat) ही है अतः इन्होंने रौद्र रस के क्रोध का अन्तर्भाव वीर रस में ही मान लिया है। इसी परंपरा से 'प्रक्षोभ' को भी वे वीर रस में ही अन्तर्भूत कर लेते हैं। परन्तु श्री देशपांडे वीर रस के उत्साह, रौद्र रस के क्रोध और प्रक्षोभ के 'संवेग' का पृथक्-पृथक् अस्तित्व मानते हैं, इन सब का एक ही इन्स्टिंक्ट या स्थिरवृत्ति—'प्रतिकारवृत्ति' में अन्तर्भाव नहीं करते। जहाँ तक प्रक्षोभ रस के 'संवेग' स्थायी के आलंबन का सम्बन्ध है, वह श्री देशपांडे की मान्यता में क्रोध की भाँति पीड़ाकारक व्यक्ति यहाँ आलंबन नहीं है, वरन् 'पीड़ा प्रतिबिंबित जगद्रचना' है।[२] वस्तुतः प्रा० जोग ने वीर रस का स्वरूप व्यापक माना है, अतः उसमें क्रोध और उत्साह का जहाँ अन्तर्भाव हो जाता है, वहाँ प्रक्षोभ के मूल में निहित 'संवेग' का अन्तर्भाव सहज संभव है।

हिन्दी में डा० आनंद प्रकाश दीक्षित ने प्रक्षोभ रस का रौद्र रस में अन्तर्भाव करके इसके स्वतंत्र अस्तित्व का प्रत्याख्यान किया है। ... 'इसका अन्तर्भाव रौद्र रस में हो सकता है। रौद्र रस का सम्बन्ध भरतादि ने राक्षसी वृत्ति से माना है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु इस आधार पर प्रक्षोभ को पृथक् मानने की आवश्यकता नहीं।' क्रोध के दो भेद—(१) सत्वज क्रोध (२) तमसजनित क्रोध मानकर डा० दीक्षित ने प्रक्षोभ का इसी में अन्तर्भाव मान लिया है। 'तात्पर्य यह है कि यदि किसी पर होते अन्याय को देख कर अथवा किसी की असत्य उक्ति

---

१. अभिनव काव्य प्रकाश, पृ० १२३-२४ तृ० सं० १९५१।

२. "क्रोधस्य आलंबनं पीडाकारकः पीडाकृतिः वा। संवेगस्यतु पीडाप्रतिबिंबिता जगद्रचना।" 'प्रक्षोभ रस स्थापनम्' पृ० २।

को सुन कर क्रोध उत्पन्न होता है, जिसे आप प्रक्षोभ कहना चाहें, तो भी उसे रौद्र रस में ही रखेंगे। और यदि ऐसे दृश्य को देख कर हमारे मन में एक को दण्ड देने तथा दूसरे को बचाने की बात एक साथ उत्पन्न होती है तो उसे संचारी भावावस्था मात्र कहेंगे।'[1]

डा० दीक्षित के आक्षेपों का श्री आ० रा० देशपांडे की मूल स्थापना में ही उत्तर उपलब्ध होता है : क्रोध तो परविनाश हेतुक है, अहंकारमूलक है। परन्तु प्रक्षोभ का संवेग 'अहंकार रहित' है, 'जगत् सहसंवेदनामूलक' है तथा जीवन-धारण का हेतु है। इसमें जिगीषा या परकीय विनाश का आत्यंतिक हेतु नहीं है। क्रोध तथा संवेग के विषय तथा कार्य दोनों में विलक्षणता के कारण भिन्नता है। आलंबन की भिन्नता से विषय-भिन्नता स्पष्ट है। क्रोध का आलंबन पीड़ा कारक व्यक्ति या पीड़ा-प्रवृत्ति है। परन्तु संवेग का आलंबन तो पीड़ाप्रतिबिंबित जगद्-रचना है, कोई व्यक्ति इसका आलंबन नहीं है। हेतु की विलक्षणता से इसके कार्य की भी विलक्षणता है। क्रोध का हेतु परविनाश है, परन्तु संवेग का अन्याय निर्मूलन पूर्वक सुखमयी जगद्रचना करना है। अतः रौद्रमूलक क्रोध से कदाचित् अविवेक पूर्ण कार्य भी होंगे परन्तु प्रक्षोभ मूलक संवेग में ऐसा संभव नहीं है।[2]

डा० दीक्षित ने 'चंचलता' तथा 'रोष' आदि को ही प्रक्षोभ रस समझ कर श्री देशपांडे की मान्यता का प्रत्याख्यान किया है, जो अपर्याप्त है। श्री देशपांडे ने प्रक्षोभ रस के संवेग स्थायी का जो स्वरूप-निर्देश किया है वह वस्तुतः कोई स्वतंत्र मनोवृत्ति प्रतीत नहीं होती वरन्; वह करुणा, क्रोध और उत्साह का समन्वित रूप ही है और प्रक्षोभ रस की जो भी कविताएँ उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत की जायेंगी, उनमें करुणा, क्रोध और उत्साह का भाव पृथक्-पृथक् दिखाना सहजसंभव है, अतः प्रक्षोभ को स्वतंत्र रस मानने की विशेष आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। क्योंकि प्रक्षोभ एक सम्मिश्र मनोवृत्ति-सी प्रतीत होती है।

क्रान्ति तथा देशभक्ति रस

श्री जावडेकर ने क्रान्ति रस का और श्री शिवराम पंत परांजपे ने देशभक्ति रस का परंपरागत रसों से पृथक् प्रतिष्ठापन का प्रयत्न किया है। श्री जावडेकर ने क्रान्ति रस के स्थायी, संचारियों तथा अनुभावों का पृथक्-पृथक् विवेचन नहीं

---

१. 'काव्य में रस' पृ० ३०९

२. प्रक्षोभरस स्थापनम्, पृ० २

किया है,[१] केवल क्रान्ति की भावना का उत्कट रूप देख कर इसे काव्य-साहित्य के क्षेत्र में स्वतंत्र रस रूप में मान्य कर लेना उपयुक्त ठहराया है। इसी प्रकार शिवरामपंत परांजपे ने भी देशभक्ति रस का स्थायी भाव 'देशाभिमान' माना है और देशभक्ति की भावना से परिपूर्ण काव्य-साहित्य के आधार पर इसे स्वतंत्र रस रूप में स्थापित किया है।[२]

वस्तुत: प्रस्तुत दोनों रसों के प्रतिष्ठापकों ने देश की स्वतंत्रता के आन्दोलन में साहित्य के माध्यम से ही स्वयं सक्रिय योग देने का प्रयत्न किया था। इसमें सन्देह नहीं कि 'क्रान्ति' और 'देशभक्ति' की भावना से भारत की कोटि-कोटि जनता उद्वेलित हो उठी थी। तत्कालीन काव्य-साहित्य में भी इन भावनाओं का व्यापक, सजीव और प्रभावोत्पादक वर्णन मिलता है। अत: युग-धर्म से प्रभावित होकर 'क्रान्ति' तथा 'देशभक्ति' नामक रसों की स्वतंत्र प्रतिष्ठापना की आवश्यकता इन्हें अनुभव हुई है।

आधुनिक काव्यशास्त्र में इन रसों को स्वतंत्र मान्यता देने का प्रश्न बहुत विवादास्पद है। जहाँ तक क्रान्ति का सम्बन्ध है यह शब्द घटनात्मक है, भावात्मक नहीं है। रस के लिए मनोभाव की आवश्यकता है, घटना की नहीं। यदि 'क्रान्ति रस' का मूलभाव क्रान्ति-प्रेम मान कर इसकी स्वतंत्र रसात्मकता का समर्थन किया जाय तो भी यह विशेष संगत नहीं है। प्रा० जोग ने 'क्रान्ति-प्रेम' को भी रस का स्थान देना उपयुक्त नहीं माना है : 'क्रान्ति विषयक प्रेम अमूर्त है वह स्थिरवृत्ति या भावबन्ध (सेंटिमेंट) बनने की क्षमता रखता है। परन्तु रस का सम्बन्ध 'सेंटिमेन्ट' की अपेक्षा 'इमोशन' से अधिक है। क्रान्ति को 'सहजात' या 'जन्मजात' भावना सिद्ध करना भी कठिन है। अत: क्रान्ति-प्रेम को 'रस-पदवी' देना सहज संभव नहीं है।'[3] वस्तुत: क्रान्ति के मूल में किसी विशिष्ट स्वतंत्र स्थायी भाव का निर्धारण ही कठिन है। इसके अतिरिक्त क्रान्ति की भावना देश काल परिस्थिति सापेक्ष है, शाश्वत चिरस्थायी मनोवृत्ति प्रतीत नहीं होती, अत: इसकी रस-परिणति नितांत संदिग्ध है।

क्रान्ति की अपेक्षा 'देश भक्ति' रस के समर्थकों की संख्या अधिक है। हिन्दी में डा० गुलाबराय तथा मराठी में श्री० कृ० कोल्हटकर और श्री द० के० केळकर

---

१. अभिनव काव्य प्रकाश (प्रा० जोग) पृ० १२३।
२. जीवन आणि साहित्य, पृ० ४५।
३. अभिनव काव्य प्रकाश, पृ० १२३।

ने भी 'देशभक्ति रस' को माना है।[1] इन तीनों ही समीक्षकों ने इस रस का स्थायी भाव एक प्रकार से 'देश-प्रेम' ही माना है। परन्तु शिवराम पंत परांजपे के अनुसार इस रस का स्थायी भाव होगा—'देशाभिमान'। देश के प्रति अभिमान की भावना वस्तुतः एक स्वतंत्र भावना अवश्य है, किन्तु यह 'गर्व' का ही एक उन्नत रूप प्रतीत होती है। 'गर्व' की भावना में रस-परिणति की क्षमता का डा० नगेन्द्र तथा प्रा० जोग ने समर्थन किया है।[2] परंपरागत संचारीभावों में परिगणित 'गर्व' अनिवार्यतः देश के प्रति उद्भूत नहीं होता, अतः देश के प्रति 'अभिमान' की भावना का और संचारीगत 'गर्व' की भावना का एकीकरण यद्यपि एकांत संगत नहीं लगता फिर भी इस 'अभिमान' और 'गर्व' के मूलभूत स्वरूप में 'आत्यंतिक भिन्नता' नहीं है। यहाँ महत्वपूर्ण प्रश्न है कि देशभक्ति रस के मूल में 'अभिमान' को स्थायी भाव माना जाय अथवा 'प्रेम' या 'रति' को? रसात्मकता की दृष्टि से 'अभिमान' और 'प्रेम' में प्रेम-भावना अपेक्षाकृत अधिक उत्कट, व्यापक और प्रभावकारी प्रतीत होती है, अतः देशभक्ति रस के मूल में 'अभिमान' की अपेक्षा 'देश-प्रेम' को स्थायी मानना अधिक संगत लगता है। कतिपय संस्कृत आचार्यों ने भक्ति, वात्सल्य आदि रसों के मूल में रति स्थायी भाव का ही समर्थन किया है, इसी प्रकार देशभक्ति रस के मूल में निहित प्रेम को भी व्यापक रति (प्रेम) भाव का ही अंग सिद्ध करने का श्री० कृ० कोल्हटकर तथा प्रा० द० के० केळकर ने प्रयत्न किया है।[3] अतः इनके अनुसार भक्ति और वात्सल्य के समान देशभक्ति रस को भी व्यापक प्रेम रस का अंग मानना चाहिए। वस्तुतः देशभक्ति रस की स्वतंत्र स्थापना की आवश्यकता आधुनिक काव्य-साहित्य में देशभक्ति-भावना के समृद्ध चित्रण को देख कर हुई है। कालान्तर में यदि 'विश्व-प्रेम' की भावना से परिपूर्ण काव्य-साहित्य-निर्माण होने लगे तो उसे भी स्वतंत्र रस मानना आवश्यक हो जाएगा और इसकी तुलना में देशभक्ति रस नितांत महत्व-हीन प्रतीत होने लगेगा। अतः वर्तमान स्थिति में यही मानना उपयुक्त लगता है कि देशभक्ति की भावना में रति या व्यापक प्रेम भावना की ही परिपुष्टि होती है, इसी कारण उसमें रस-परिणति की क्षमता आती है।

---

१. गुलाबराय : नवरस, पृ० ५६२, श्री कोल्हटकर का मत : 'कोल्हटकर लेख संग्रह', पृ० ८३४, द० के० केळकर : काव्यालोचन, पृ० १४८।
२. रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ८२, अभिनव काव्य प्रकाश, पृ० ११४।
३. दे० इसी प्रकरण के आरंभ में, पृ० १४९ और १५१

विनोद रस

मराठी में 'विनोद रस' उद्वेग, प्रक्षोभ, क्रान्ति आदि के समान नितांत नवीन रूप में स्थापित नहीं किया गया है। श्री० नी० र० वर्‍हाड पांडे, डा० वाटवे आदि ने 'हास्य रस' के स्थान पर 'विनोद रस' संज्ञा रूढ़ करने का आग्रह व्यक्त किया है। हास्य के साथ विनोद की तात्विक मीमांसा और उसके स्वरूप-विश्लेषण का प्रथम श्रेय श्री न० चि० केळकर को है। इन्होंने अन्य रसों की तुलना में हास्य को श्रेष्ठ निर्धारित किया है तथा इसमें निहित बुद्धिनिष्ठता के विशिष्ट गुण का व्यापक मूल्यांकन किया है।[१] श्री नी० र० वर्‍हाड पांडे ने मूलतः रसों को 'मनोजन्य' और 'बुद्धिजन्य' वर्गों में विभक्त करके 'हास्य' को द्वितीय वर्ग में रखा है। परन्तु इसका नाम 'विनोद रस' रखना इनकी धारणा में अधिक समीचीन है।[२] श्री वर्‍हाड पांडे ने हास्य के 'स्थायी भाव' 'हास' का नाम-परिवर्तन नहीं सुझाया परन्तु डा० के० ना० वाटवे ने 'विनोदरस' नामकरण का समर्थन करते हुए इसके नवीन स्थायी भाव 'विनोदन' की भी प्रतिष्ठापना की है : 'हास्य मक्डूगल के अनुसार सहज प्रवृत्ति मानें अथवा क्रीड़ा प्रवृत्ति का एक विशिष्ट प्रकार समझें परन्तु असंदिग्ध रूप से यह एक 'उपजतवृत्ति', या जन्मजात वृत्ति ही है। मौन, मनोविनोद या उन्मुक्तता की भावना—अर्थात् 'विनोदन' इसका स्थायी भाव है। संस्कृत में निर्दिष्ट 'हास' शब्द हास्यरस के स्थायी भाव के लिए उपयुक्त नहीं है। 'हास' विनोदन भावना का प्रकट रूप है और 'हास' तथा 'हास्य' दोनों ही शब्द कम दर्जे के हैं। हास्य में उथलापन या ग्राम्यता प्रतीत होती है, अतः इनके स्थान पर 'विनोदन' और विनोद रस शब्दों का व्यवहार किया जाय। विनोदन स्थायी भाव की स्थिरवृत्ति (सेंटिमेंट) बनती है। विसंगति-दर्शन से यह वृत्ति पुष्ट होती है, इसमें किंचित् मात्सर्य, तुच्छता की भावना, सहानुभूति, आनन्द, आवेग इत्यादि भावनाएँ सम्मिलित होती जाती हैं।' विसंगति-दर्शन ही इसका प्रमुख उद्दीपन विभाव है और अनेक विसंगत पदार्थ तथा व्यक्ति इसके आलंबन हैं।'[३]

संस्कृत साहित्य में आविष्कृत हास्य रस का स्वरूप और आधुनिक मराठी काव्य-साहित्य में आविष्कृत हास्य रस का स्वरूप पर्याप्त परिवर्तित हो गया है।

---

१. दे० इसी प्रकरण में पृ० १४४—४९

२. दे० इसी प्रकरण में पृ० १५२—५३

३. रसविमर्श, पृ० ३२४।

"अंग्रेजी साहित्य के संसर्ग से आधुनिक मराठी साहित्य में उच्च, सोज्ज्वल, क्रीड़ा-शील सूक्ष्म, तथा बुद्धिग्राही विनोद के सभी प्रकार समाविष्ट हो गये हैं। इस कारण भी डा० वाटवे की धारणा में 'हास्यरस' के स्थान पर 'विनोदरस' अधिक संगत होगा।[1] संक्षेपतः 'हास्यरस' के स्थान पर 'विनोद रस' की प्रतिष्ठापना में निम्न तर्क प्रस्तुत किये गये हैं :

१. विनोद में सूक्ष्म विसंगतिमूलकता है, बुद्धिनिष्ठता है, जो हास्य के लिए आवश्यक है।
२. संस्कृत के हास्य का 'हास' स्थायी भाव सहजात या जन्मजात वृत्ति रूप नहीं है, विनोदन मूल वृत्ति रूप है, हास तो इसी का प्रकट रूप है।
३. संस्कृत साहित्य के 'हास्य रस' से आधुनिक मराठी साहित्य के हास्यरस के स्वरूप में अंग्रेजी के प्रभाव से व्यापकता, विस्तार या विविधता आ गई है।
४. आधुनिक मराठी साहित्य में हास्यरस के विडंबन (पैरोडी), व्यंग्य-वैदग्ध्य (विट) चुटकुले आदि काव्य-प्रकार बन गये हैं।

मराठी या हिन्दी में हास्य रस के साहित्यिक अभिव्यक्ति-प्रकारों में अंग्रेजी के प्रभाव से निस्सन्देह विविधता आई है। विडंबन (पैरोडी) विनोद (ह्यूमर) उपहास (सटायर) वक्रोक्ति या गूढ़ोक्ति (आयरनी) आदि का पृथक्-पृथक् स्वतंत्र स्वरूप है। इन सब प्रकारों से सहृदय को 'हास्य' की ही अनुभूति होती है, इसलिए आज भी व्यापक 'हास्य रस' की संज्ञा अनुपयुक्त नहीं लगती। विनोद (ह्यूमर) और उपहास (सटायर) तथा विडंबन ('पैरोडी) का साहित्यिक अभिव्यक्ति का स्वरूप भिन्न-भिन्न है, अतः 'विनोद' की अपेक्षा 'हास्य' रस शब्द ही अधिक उपयुक्त लगता है। मराठी में श्री वा० ल० कुलकर्णी ने उपर्युक्त 'हास्य' के विभिन्न अभिव्यक्ति-प्रकारों का पृथक्-पृथक् स्वरूप विश्लेषण करने के उपरान्त इन सब को 'विनोदी वाङमय' की अपेक्षा 'हास्योत्पादक वाङ्मय' कहना अधिक समीचीन ठहराया है, क्योंकि विनोद अधिष्ठित काव्य-प्रकार का अपना पृथक् स्वरूप है।[2]

आधुनिक मराठी-हिन्दी काव्य शास्त्र के समक्ष 'हास्य रस' के नवीन नामकरण

---

१. रसविमर्श : रसव्यवस्थेचें संस्करण, पृ० ४३६।
२. मतें आणि मतभेद : हास्यनिर्मितिकरणारे वाङमय (लेख) पृ० १६७।

की अपेक्षा उसकी प्रवृद्ध काव्य-साहित्य की विधाओं (फार्मस्) के अनुरूप उसके पुनराख्यान की अधिक आवश्यकता है। इस दृष्टि से डा० वाटवे ने महत्वपूर्ण कार्य किया है।

तुलनात्मक विवेचन

यद्यपि संस्कृत साहित्यशास्त्र में रसों तथा तन्मूलस्थ स्थायीभावों की संख्या का निर्धारण प्रायः आप्त प्रमाण पर आधृत था तथापि संस्कृत में ही नवीन-नवीन रसों की उद्भावनाएँ की गई हैं। फिर आधुनिक हिन्दी-मराठी के काव्यशास्त्र में नवीन रसों का उद्भावन कोई अनहोनी घटना नहीं है।

आधुनिक हिन्दी-मराठी के समीक्षकों में रस-संख्या का पुनराख्यान करते समय मुख्यतः तीन प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। १. संस्कृत परंपरा में मान्य कतिपय रसों की मूलतः रसात्मकता का ही प्रत्याख्यान करना। २. कतिपय परंपरागत रसों का तत्संबद्ध अन्य रसों में अन्तर्भाव करना और ३. संस्कृत परंपराभिन्न कतिपय नवीन रसों का उद्भावन करना। इनसे भिन्न एक अन्य प्रवृत्ति भी दिखाई देती है, वह है रसों के वर्गीकरण की तथा प्रधान-गौण के आधार पर रसों के क्रम-निर्धारण की।

प्रथम प्रकार की प्रवृत्ति प्रायः आधुनिक युग के मराठी काव्यशास्त्रज्ञों में ही मिलती है। हिन्दी के आधुनिक समीक्षकों ने परंपरागत रसों को—विशेषतः नौ रसों को यथावत् मान्यता प्रदान की है। इनमें से किसी भी रस के स्वतंत्र अस्तित्व पर संदेह प्रकट नहीं किया गया। आचार्य शुक्ल ने 'रसमीमांसा' में भरत के आठ रसों की ही मीमांसा की है, शान्त की नहीं, किन्तु इन्होंने शान्त रस के स्वतंत्र अस्तित्व का स्पष्ट प्रत्याख्यान भी नहीं किया है। अतः निष्कर्ष यही निकलता है कि हिन्दी के आधुनिक काव्यशास्त्र में परंपरागत आठ रस तो सर्वमान्य ही रहे और शान्त को कम प्रश्रय दिया गया।

मराठी के आधुनिक काव्यशास्त्रज्ञों ने परंपरागत नौ रसों में से बीभत्स, रौद्र और अद्भुत की पृथक् स्वतंत्र रसात्मकता का प्रत्याख्यान किया है। श्री द० के० केळकर, श्री रा० श्री० जोग और डा० के० ना० वाटवे इन तीनों के अभिमत में बीभत्स रस का रस-तालिका से बहिष्कार आवश्यक है।[1] डा० वाटवे तथा श्री० जोग ने रौद्र रस को भी स्वतंत्र रूप में अमान्य किया है, इनके अतिरिक्त अद्भुत

---

१. दे० रस-संख्या प्रकरण।

को भी श्री० जोग रस-तालिका में स्थान देना आनावश्यक मानते हैं।[१] हिन्दी के आधुनिक काव्यशास्त्रज्ञों ने इन रसों के स्वतंत्र अस्तित्व का प्रत्याख्यान नहीं किया है। श्री रामदहिन मिश्र ने तो पूर्वोक्त तीनों रसों के अस्तित्व का विशेष समर्थन ही किया है।[२]

दूसरी प्रवृत्ति है रसों के परस्पर अन्तर्भाव की। मराठी और हिन्दी के काव्य शास्त्रज्ञों ने नव-इतर रसों का प्रायः परंपरागत नौ रसों में ही अन्तर्भाव करने का प्रयत्न किया है। श्री० कृ० कोल्हटकर तथा श्री द० के० केळकर ने रति के स्थान पर 'प्रेम' स्थायी भाव के निर्धारण का प्रयत्न किया है। इससे श्री कोल्हटकर इस व्यापक 'प्रेम रस' में वात्सल्य, 'स्थल' (देश) तथा 'काल' (प्रकृति, षड्ऋतु ?) —प्रेम को भी अन्तर्भूत कर देना चाहते हैं—तो श्री द० के० केळकर इसी रस में पुत्र-प्रेम (वात्सल्य), दम्पति-प्रेम (शृंगार) देश-प्रेम (देशभक्ति) ईश-प्रेम (भक्ति) आदि का अन्तर्भाव मान लेते हैं।[3] श्री नी० र० वर्‌हाड पांडे ने इसे ही 'प्रेयान्' संज्ञा देकर इसमें शृंगार, वात्सल्य और भक्ति का अन्तर्भाव मान लिया है।[४]

हिन्दी में श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय भक्ति और वात्सल्य रस की रसात्मकता का समर्थन करते हुए भी इसे 'रति' में ही अन्तर्भूत करना चाहते हैं। अन्य अधिकांश लेखक इन दोनों रसों की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'रति' के विषय में श्री कोल्हटकर और श्री द० के० केळकर के समान ही व्यापक दृष्टिकोण अपनाया है। इनकी मान्यता में 'दाम्पत्यरति, वात्सल्य रति, मैत्री, स्वदेश-प्रेम, धर्म-प्रेम, सत्य-प्रेम आदि रति के ही विभिन्न रूप हैं।'[६]

रस-संख्या के विषय में तीसरी प्रवृत्ति है—रसों के नवीन उद्‌भावन की। वस्तुतः हिन्दी-मराठी के काव्य-शास्त्रज्ञों के समक्ष रसों के नवीन उद्‌भावन की एक जटिल समस्या उपस्थित रही है। इस विषय में तीन प्रकार के प्रयत्न हुए : १. कतिपय प्राचीन विवादास्पद रसों का पुनराख्यान कर के उन्हें पुनः प्रतिष्ठित

---

१. दे० रस-संख्या प्रकरण (मराठी में) पृ० १५८।
२. वही (हिन्दी में)
३. वही (मराठी में) पृ० १५१
४. वही (मराठी में) पृ० १५३।
५. वही (हिन्दी में) पृ० २२१।
६. रसमीमांसा, पृ० १७०।

किया गया। इस क्षेत्र में विशेषतः वात्सल्य और भक्ति रस आते हैं। हिन्दी-मराठी के अधिकांश समीक्षकों ने मानसशास्त्र, तथा भारतीय और पाश्चात्य मनीषियों की एतद्विषयक मान्यताओं का व्यापक आधार लेकर 'वात्सल्य' तथा भक्ति रस की स्वतंत्र प्रतिष्ठापना का प्रयत्न किया है। अन्य सूक्ष्म तर्क और युक्ति-प्रमाणों को छोड़ भी दिया जाय तो भी व्यवहारतः दोनों ही भाषाओं में भक्ति तथावात्सल्य भाव से परिपूर्ण समृद्ध सहित्य है। इस प्रत्यक्ष तथ्य को दृष्टि से ओझल कर देना आधुनिक काव्यशास्त्र के विवेचकों के लिए कठिन था। अतः अधिकांश विवेचकों की धारणा में वात्सल्य और भक्ति रस की स्वतंत्र रसात्मकता असंदिग्ध है।

२. कतिपय हिन्दी-मराठी के समीक्षकों ने परंपराभिन्न नवीन रसों का स्पष्ट प्रतिपादन किया है। हिन्दी में आ० शुक्ल और विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'प्रकृति-रस' का तथा डा० गुलाब राय ने देश-शक्ति रस का प्रतिपादन किया है। हिन्दी की अपेक्षा मराठी में नये-नये रसों का उद्भावन अधिक किया गया है। विष्णुशास्त्री चिपळूणकर, रा० भि० जोशी तथा विद्याधर वामन भिडे ने 'उदात्तरस' (प्रकृति रस) को, वि० वा० भिडे ने 'उद्वेग रस' को, श्री जावडेकर ने 'क्रान्ति रस' को, श्री आ० रा० देशपांडे ने 'प्रक्षोभ रस' को, और शिवराम पंत परांजपे ने 'देशभक्ति रस' को स्वतंत्र रूप से मान्य करने पर बल दिया है, ये सभी रस परंपराभुक्त नहीं हैं।[1]

३. कतिपय समीक्षकों ने नवीन रसोद्भावन का स्पष्ट उल्लेख किये बिना परंपराभिन्न कतिपय भावों की स्वतंत्र रस-परिणति का समर्थन किया है। हिन्दी में डा० नगेन्द्र ने 'गर्व', 'ग्लानि' तथा 'असूया' में रस-परिणति की क्षमता स्वीकार की है तो श्री लीलाधर गुप्त ने 'अपार शक्ति की तृष्णा', प्रेमशंका, 'अन्याय' तथा 'अनभ्यता' के भावों की काव्यगत रसात्मक परिपुष्टि का समर्थन किया है[2]। इसी प्रकार मराठी में प्रा० रा० श्री० जोग ने 'वैयक्तिक महत्वाकांक्षा' (मेकबेथ के आधार पर) 'पत्नी विषयक संशय भावना' (ओथेलो के आधार पर) और गर्व तथा पूर्वग्रह की भावना (प्राइड् एन्ड प्रेजुडिस के आधार पर) में रस-परिणति की सामर्थ्य स्वीकार की है।[3] इन तीनों के प्रतिपादन में पर्याप्त साम्य दिखाई देता है। डा० नगेन्द्र-निरूपित 'गर्व', लीलाधर गुप्त-निरूपित 'अपार शक्ति की

१. दे० रसप्रकरण, हिन्दी तथा मराठी में।
२. रस-संख्या प्रकरण हिन्दी में, पृ० १३४ और स्थायी भाव प्र०।
३. अभिनव काव्य प्रकाश, पृ० ११३।

तृष्णा' तथा श्री जोग उल्लिखित 'वैयक्तिक महत्वाकाँक्षा' लगभग एक ही आशय को व्यक्त करते हैं। इसी प्रकार 'असूया' 'प्रेमशंका' और 'पत्नी-विषयक संशय भावना' तीनों अलग-अलग मनोवृत्तियाँ नहीं हैं, वरन् लगभग एक ही प्रकार की भावनाएँ हैं। श्री लीलाधर गुप्त और प्रा० जोग ने अंग्रेजी के विशिष्ट ग्रन्थों के आधार पर उपर्युक्त भावों की रस-परिपुष्टि को प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है।

नवीन रसों के उद्भावन के समान रसों के वर्गीकरण और क्रम-निर्धारण की प्रवृत्ति भी हिन्दी की अपेक्षा मराठी के काव्यशास्त्र में अधिक दिखाई देती है। हिन्दी में आचार्य शुक्ल ने भरत-प्रतिपादित आठ रसों में से शृंगार, हास्य, वीर, और अद्भुत को सुखात्मक वर्ग में और करुण, रौद्र, भयानक तथा बीभत्स को दुःखात्मक वर्ग में स्थान दिया है। रसों का क्रम भी इन्होंने प्रायः इसी प्रकार निर्धारित किया है, शृंगार को प्रथम और बीभत्स को अंतिम स्थान दिया है।[1] श्री रामदहिन मिश्र ने रसों के मुख्य-गौण भाव का संक्षिप्त विवेचन किया है और रसों का मानसिक स्थान के आधार पर तथा त्रिगुणों——सत्व, रज, तम के आधार पर भी वर्गीकरण सुझाया है।[2]

मराठी काव्यशास्त्रज्ञों ने विभिन्न दृष्टियों से रसों का वर्गीकरण किया है। श्री० कृ० कोल्हटकर ने शान्तरस और शान्त-इतर रस, अन्तर्दृष्टिमूलक रस और बहिर्दृष्टिमूलक रस तथा सुखप्रदरस और दुःखप्रदरस इस प्रकार के तीन वर्ग सुझाये हैं। इन्होंने सुखप्रद और दुःखप्रद वर्गों में जिन-जिन रसों का अन्तर्भाव किया है, आचार्य शुक्ल ने भी उन्हीं रसों को अपने सुखात्मक तथा दुःखात्मक वर्ग में अन्तर्भूत किया है। श्री नी० र० वऱ्हाडपाँडे ने भी रसों को दो वर्गों——बुद्धिजन्य और मनोजन्य——में विभाजित किया है, प्रथम में दो तो द्वितीय वर्ग में शेष सात रसों का अन्तर्भाव किया है।[3] श्री ना० सी० फडके ने रसों के दो ही वर्ग और रसों की भी दो ही संख्या स्वीकार की है——अनुकूल संवेदनात्मक हर्ष और प्रतिकूल संवेदनात्मक विषाद। संस्कृत के कतिपय आचार्यों ने शृंगार, करुण, शान्त आदि एक-एक विशिष्ट रस को प्रमुखता देकर उसी में अन्य रसों का अन्तर्भाव किया है, परन्तु आधुनिक हिन्दी- मराठी के अधिकांश संमीक्षकों ने रसों के कम से कम दो मुख्य वर्ग सुखात्मक और दुःखात्मक

---

१. दे० रसमीमांसा, पृ० १८६ और पृ० १९।
२. काव्यदर्पण, पृ० १५९, और पृ० १६२-६३।
३. दे० पृ० १५२

बनाये हैं, अतः यहाँ केवल एक ही रस मानने की स्थिति नहीं आई है। परंपरागत नौ रसों में प्रधान-गौण के आधार पर रसों के क्रम-निर्धारण का विवेचन श्री रा० भागवत, श्री० नी० चापेकर तथा डा० वाटवे ने विशेष रूप से किया है। श्री भागवत ने भक्ति को प्रथम और वीर को द्वितीय स्थान दिया है तो श्री चापेकर और डा० वाटवे ने श्रृंगार को प्रथम और वीर को द्वितीय।[1] श्री न० चि० केळकर ने नौ रसों में हास्य को श्रेष्ठ और प्रथम स्थान दिया है।[2]

इस प्रकार आधुनिक हिन्दी-मराठी के काव्यशास्त्र में संस्कृत की रस-संख्या के पुनराख्यान का व्यापक प्रयत्न हुआ है। कतिपय प्राचीन रसों के स्वतंत्र अस्तित्व का प्रतिषेध किया गया है, तो परंपरागत नौ रसों में अस्वीकृत कतिपय रसों--भक्ति और वात्सल्य--का विस्तृत विवेचन करके उनका पुनः प्रतिष्ठापन किया गया है। कतिपय अनेक नवीन-नवीन रसों की उद्भावनाएँ की गई हैं तो अनेक परंपरा-भिन्न भावों में रस-परिणति की क्षमता का भी समर्थन किया गया है। रसों के वर्ग-विभाजन और क्रम-निर्धारण में भी संस्कृत आचार्यों की परंपरा का एकांत पालन नहीं किया गया है। रस-संख्यान, रसों का मुख्य-गौण क्रम, रस-वर्गीकरण आदि के विवेचन में पाश्चात्य मानसशास्त्र एवं साहित्य, संस्कृत साहित्य-शास्त्र तथा हिन्दी मराठी के आधुनिक काव्य-साहित्य का व्यापक आधार ग्रहण किया गया है, जो परंपरा-भिन्न चिन्तन को प्रमाणित करता है।

---

१. दे० रस-संख्या प्रकरण, पृ० १५० और पृ० १५३।
२. वही, पृ० १४८।

४

रसास्वाद प्रकरण

पृष्ठभूमि

सहृदय का रसास्वाद तथा काव्यानंद का स्वरूप

आधुनिक काव्य शास्त्र में कवि, कवि-कृति तथा आस्वादक सहृदय के व्यक्तित्व का सूक्ष्म अन्तर्विश्लेषण एक नितांत आवश्यक विवेच्य विषय बन गया है। संस्कृत आचार्यों ने रस-स्वरूप में तथा रस-निष्पत्ति प्रक्रिया के विश्लेषण में सहृदय के काव्यास्वाद तथा काव्यानंद की पर्याप्त मीमांसा की है। मूलतः रस-स्वरूप के निर्धारण में संस्कृत आचार्यों में मतैक्य नहीं है, परिणामतः रसास्वाद की प्रक्रिया तथा उसके स्वरूपप्रतिपादन में भी विभिन्न मत व्यक्त हुए हैं।

भरतमुनि-प्रतिपादित रस-निष्पत्ति तथा रस-स्वरूप की व्याख्याएँ वस्तुवादी, भाववादी तथा आनंदवादी दृष्टिकोणों से हुई हैं।[१] इस तथ्य पर ध्यान दें तो रसास्वाद की प्रक्रिया और उसके स्वरूप प्रतिपादन में भी दृष्टिकोणों की भिन्नता स्पष्टतः दिखाई देती है।

भरतमुनि ने नाट्य रस के आस्वादक प्रेक्षकों की आस्वादन प्रक्रिया का 'सिद्धिसिद्धान्त' के रूप में विस्तृत प्रतिपादन किया है। इनकी मान्यता में नाट्य प्रयोग का या रस तथा भावों का अंतिम साध्य है—'सिद्धि'।[२] जो प्रेक्षक इस सिद्धि को प्राप्त करना चाहता है, उसे भावों, रसों तथा अभिनय आदि को भली प्रकार जानना चाहिए।[3] क्योंकि इन्हीं से उसे 'सिद्धि' की उपलब्धि होती है। नाट्यप्रयोग के दर्शन से उपलब्ध 'सिद्धि' दो प्रकार की होती है १ दैविकी और २. मानुषी। [४]. मानुषी सिद्धि के दस अंग हैं। तथा इसके भी दो सूक्ष्म वर्ग बन जाते हैं—एक शारीरी सिद्धि दूसरी वाङ्मयी सिद्धि। प्रेक्षक में उत्पन्न वाङ्मयी सिद्धि के पाँच अंग हैं—स्मित, अर्धहास, अतिहास, साधु-कष्ट

---

१. देखिए रस-स्वरूप प्रकरण (संस्कृत में)

२. नाट्यशास्त्र, २७।१

३. वही, ७।१२४, २६।१२२

४. वही, २७।२

—अहो आदि शब्दोच्चारण तथा प्रवृद्धनाद। प्रेक्षक की 'शारीरी' सिद्धि के भी पुलक, रोमांच, अभ्युत्थान, चेलदान (वस्त्र उछालना), अंगुलिक्षेप आदि पाँच अंग है।[1] भरतमुनि ने नाट्यप्रयोग के समय प्रेक्षकों में इन दशाँगों की स्थिति किस प्रकार आती हैं, इसका विस्तृत निरूपण किया है। विभिन्न रसों तथा भावों के अनुरूप प्रेक्षक में उत्पन्न शारीरिक तथा वाङमयीन प्रतिक्रियाओं का विवेचन करने के उपरान्त भरतमुनि ने प्रस्तुत मानुषी सिद्धि की अपेक्षा दैविकी सिद्धि को नित्य ठहराया है, क्योंकि इस सिद्धि से प्रेक्षक में किसी भी प्रकार की शारीरिक अथवा वाङमयी प्रतिक्रिया दृष्टिगत नहीं होती। यह रंगमंच के पूर्णत्व की प्रतीक है। डा० सुरेन्द्र बारलिंगे की धारणा में भरत-प्रतिपादित प्रस्तुत 'दैविकी सिद्धि' अभिनवगुप्त आदि आचार्यों द्वारा प्रतिपादित रस-स्वरूप के समरूप है।[2]

भरत-निरूपित प्रस्तुत दोनों सिद्धियों से स्पष्ट है कि रंगमंच पर प्रस्तुत दृश्य, घटना, भावों तथा रसों से सभी प्रेक्षकों में समान प्रतिक्रिया नहीं होती। फलतः भरतमुनि ने प्रेक्षकों के विविध गुण-स्वभावों का विस्तृत प्रतिपादन किया है। इन्होंने यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि सभी प्रेक्षक इन सभी गुणों से युक्त नहीं होते। फिर भी प्रेक्षकों में नाट्य-प्रदर्शित सुख-दुःखात्मक भावानुरूप भावानुभूति की स्थिति का इन्होंनें स्पष्टतः समर्थन किया है।[3] रस-निष्पत्ति सूत्र में भी रस से सहृदय को हर्षादि की प्राप्ति का ही इन्होंने प्रतिपादन किया है।[4] आचार्य अभिनव गुप्त से पूर्व के नाट्यशास्त्रज्ञ विभिन्न स्थायी भावों के आस्वाद से 'हर्षादि' की प्राप्ति का अभिप्राय हर्ष, शोक आदि ग्रहण करते थे। इस तथ्य का समर्थन अभिनव भारती से ही हो जाता है। परन्तु अभिनव गुप्त को प्रस्तुत मत स्वीकार्य नहीं था, क्योंकि इनके मत में नाट्य का फल हर्ष है न कि शोकादि।[5]

---

१. नाट्यशास्त्र २७।४-५

२. हिन्दी अनुसन्धान परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय में दिये गये भाषण के आधार पर।

३. यस्तुष्टौ तुष्टिमायाति। शोके शोकमुपैति च।
दैन्ये दीनत्वमभ्येति स नाट्ये प्रेक्षकः स्मृतः। २५।५५ ना० शा०

४. स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति।
ना० शा० ६।३१।

५. अन्येत्वादि शब्देन शोकादीनामत्र संग्रहः। स च न युक्तः। सामाजिकानां हि हर्षैक फलं नाट्यं न शोकादिफलम्। अभिनव भारती, पृ० २८९, दि० सं०।

अतः इन्होंने 'रस' और सहृदय के रसास्वादन दोनों का स्वरूप आनन्दमय निर्धारित किया है। परन्तु अभिनव गुप्त से पूर्व भट्ट लोल्लट तथा शंकुक ने रसास्वाद की प्रक्रिया का विश्लेषण विशुद्ध रंगमंचीय दृष्टिकोण से किया है। इन्होंने रस का तथा रसास्वादजन्य आनन्द का परस्पर समीकरण नहीं किया है। दोनों ने सामान्यतः ऐतिहासिक पात्रों में निहित स्थायीभाव का समर्थन किया है। वे ही स्थायी भाव जब नट-नटी द्वारा रंगमंच पर अभिनीत होते हैं तब उन्हीं स्थायी भावों के रंगमंच पर प्रस्तुत 'उपचित' अथवा 'अनुकरणात्मक' रूप को इन्होंने रस माना है।[1] प्रस्तुत उपचित तथा अनुकरण रूप रस के मूल में निहित स्थायी भाव के आस्वादन की प्रक्रिया में भट्ट लोल्लट ने 'आरोप' को तथा शंकुक ने 'अनुमिति' को महत्वपूर्ण माना है। सहृदय द्वारा 'आरोप' या 'अनुमान' की प्रक्रिया से प्रतीयमान स्थायीभावों का स्वरूप सुखदुःखात्मक हो सकता है, परिणामतः इन दोनों आचार्यों ने काव्यानुभूति को एकांततः आनन्दात्मक सिद्ध नहीं किया है। भट्ट नायक तथा अभिनव गुप्त सहृदय के काव्यास्वाद को एकांततः आनन्दात्मक तथा 'संविद्विश्रान्ति' रूप सिद्ध करते हैं। अतः इन्होंने रस की व्याख्या रंगमंच की अपेक्षा नितांत सहृदयपरक की है। भट्ट लोल्लट तथा शंकुक ने स्थायी भावों की ऐतिहासिक पात्रों में स्थिति तथा 'रस' की रंगमंच पर 'उपचित' तथा अनुकरणात्मक' स्थिति को स्वीकार करके रस को विषयगत या वस्तुगत मान लिया है। परन्तु भट्टनायक ने रस की व्याख्या में अभिधा भावकत्व तथा भोगीकरण की प्रक्रिया का विवेचन करके रस को विषयीगत सिद्ध किया है। भट्ट नायक ने सहृदय की काव्यास्वाद-प्रक्रिया में साधारणीकरण या भावकत्व व्यापार का प्रतिपादन करके तथा सहृदय के चित्त की द्रुति, विस्तार तथा विकास की स्थिति का निरूपण करके काव्यानुभूति को एकांततः आनन्दात्मक सिद्ध किया है।[2] अभिनव गुप्त भी रसनात्मक, निर्विघ्न, प्रतीतिग्राह्य भाव को रस मानते हैं।[3] इनकी धारणा में भी सभी रसों का स्वरूप आनन्दरूप ही है।[4] सभी मनुष्यों में वासना संस्कार रूप

---

१. ....तेन स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरूपचितो रसः—भट्ट लोल्लट
....अनुकरणरूपत्वादेव नामान्तरेण व्यपदिष्टो रस :—श्री शंकुक
अभिनव भारती, पृ० २७२ द्वि० सं०।

२. अभिनव भारती, द्वि० सं० पृ० २७७॥

३. सर्वथा रसनात्मक वीतविघ्न प्रतीति ग्राह्यो भाव एव रसः।
अभिनव भारती, पृ० २८० द्वि० सं०

४. ....आनन्दरूपता सर्वरसानाम्, अभिनव भारती, पृ० १८२ द्वि० सं०।

में स्थायी भावों की स्थिति रहती है।[1] काव्य-नाटक से इन भावों की अभिव्यक्ति होती है। इन्होंने सहृदय के रसास्वाद में बाधक सात विघ्नों का प्रतिपादन किया है।[2] जब ये विघ्न दूर हो जाते हैं तब सहृदय को एकघन संविच्चर्वणा रूप आनन्द-मय रस की अनुभूति होती है।

सहृदय की काव्यानुभूति में साधारणीकरण की प्रक्रिया का प्रतिषेध भी संस्कृत के कतिपय विद्वानों ने किया है। आचार्य जगन्नाथ ने इनकी धारणाओं का रस-निष्पत्ति प्रक्रिया में निरूप किया है।[3] इनकी मान्यता का सारांश है: 'काव्य में कवि के द्वारा और नाटक में नट के द्वारा, जब विभाव आदि प्रकाशित कर दिए जाते हैं, वे उन्हें सहृदयों के सामने उपस्थित कर चुकते हैं, तब हमें व्यंजना वृत्ति के द्वारा दुष्यन्त आदि की जो शकुंतला आदि के विषय में रति थी, उसका ज्ञान होता है--हमारी समझ में आता है कि दुष्यन्त आदि का शकुंतला आदि के साथ प्रेम था। तदनन्तर सहृदयता के कारण एक प्रकार की भावना उत्पन्न होती है, जो कि एक प्रकार का दोष है। इस दोष के प्रभाव से हमारा अंतरात्मा कल्पित दुष्यन्तत्व से अच्छादित हो जाता है। अर्थात् हम उस दोष के कारण अपने को मन ही मन, दुष्यन्त समझने लगते हैं। सीप के टुकड़े में चाँदी की प्रतीति के समान इस दोष के कारण अनिर्वचनीय सत्-रूप इत्यादि चित्तवृत्तियां उत्पन्न हो जाती हैं। आत्मचैतन्य के द्वारा प्रकाशित इन्हीं विलक्षण चित्त वृत्तियों का नाम रस है। यह न तो सुखरूप है, न व्यंग्य है और न इसका वर्णन हो सकता है, फिर भी इसकी प्रतीति के उपरान्त उत्पन्न सुख के साथ इसका अंतर नहीं किया जा सकता, अतः इसका सुख शब्द से व्यवहार किया जाता है।'[4] इनकी धारणा में साधारणीकरण व्यापार की भी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि काव्य में वर्णित शकुंतला शकुंतला रूप (दुष्यन्त की स्त्री) ही प्रतीत होती है, सामान्य स्त्री नहीं बन जाती। काव्या-स्वाद के समय सहृदयता के कारण पाठक में जो सादृश्य की भावना उत्पन्न होती है, उसका रूप इस प्रकार बन जाता है कि जब हम अपने आप को दुष्यन्त समझ

---

१. अभिनव भारती, पृ० २८२ द्वि० सं०।

२. प्रतिपत्तावयोग्यता--संभावना विरह, २. स्वगत परगतत्व नियमेन देश-काल विशेषावेशः, ३. निज सुखादि विवशीभावः, ४. प्रतीत्युपाय वैकल्यं, ५. स्फुटत्वाभावः, ६. अप्रधानता, ७. संशययोगः। अ० भा० पृ० २८० द्वि० सं०।

३. रसगंगाधर, पृ० २९-३१।

४. हिन्दी रसगंगाधर, पृ० ६७-६८।

लेते हैं और रति आदि भी अपने ही समझने लगते हैं, तब इस स्थिति में कल्पित दुष्यन्तभाव हम पर आच्छादित हो जाता है उसकी रति हमारी ही रति बन जाती है ।[१]

इस सिद्धान्त में एक प्रकार से भ्रमात्मक सादृश्य (सीपी में रजत का ज्ञान) और तादात्म्य से सहृदय में उन्तपन्न रति आदि चित्तवृत्तियों को रस मान लिया गया है । रति की भांति शोक का आश्रय भी भ्रमात्मक सादृश्य से हम पर आच्छादित होकर हमारी चित्तवृत्ति को शोकाकुल बनायेगा । ऐसी स्थिति में कोई भी सहृदय काव्यास्वाद के लिए उद्यत नहीं होगा । इस शंका का समाधान इन नव्य विद्वानों के अनुसार है : 'काव्य के अलौकिक व्यापार के प्रभाव से शोक आदि सुंदरता रहित पदार्थ भी अलौकिक आनन्द को उत्पन्न करने लगते हैं, क्योंकि काव्य-व्यापार जन्य रुचिर आस्वाद अन्य प्रमाणों से उत्पन्न अनुभवों से विलक्षण हैं ।'[२]

सामान्यतः प्रस्तुत सिद्धान्त भट्ट लोल्लट तथा शंकुक की रस-निष्पत्ति की मान्यताओं से भिन्न है, क्योंकि इसमें रस की स्थिति विषयगत की अपेक्षा विषयीगत ही निर्धारित की गई है । भट्ट नायक के साधारणीकरण का भी इसमें प्रत्याख्यान किया गया है । अभिनव गुप्त की व्यंजना व्यापार की प्रक्रिया को स्वीकार करते हुए भी इस सिद्धान्त में, सहृदयता में वासना संस्कार रूप में निहित रत्यादि के उद्बोधन या अभिव्यक्ति पर बल नहीं दिया गया वरन् कल्पित दुष्यन्तत्व से सहृदय के आच्छादित होने की ही विशेष चर्चा की गई है । जहाँ तक रस के आनंदमय स्वरूप का प्रश्न है, इन्होंने काव्य व्यापार की विलक्षणता के कारण ही रसानुभूति को सामान्यतः आनंदमय स्वीकार किया है। इस सिद्धान्त में रस की विलक्षणता या अनिर्वचनीयता पर विशेष बल दिया गया है ।

रस-निष्पत्ति तथा सहृदय के काव्यास्वाद या रसास्वाद की प्रक्रिया का विश्लेषक एक अन्य मत भी आचार्य जगन्नाथ ने उद्धृत किया है । इस मतानुसार सहृदय का रस तो आश्रय से अभेदात्मक मनःकल्पित ज्ञान है । 'रस न तो व्यंग्य है न अनिर्वचनीय, किन्तु शकुन्तला आदि के विषय में रति आदि से युक्त व्यक्ति (आश्रय) के साथ अभेद का मनःकल्पित ज्ञान ही रस है । रस एक प्रकार का भ्रम है जो पूर्वोक्त व्यक्ति से हमें झूठे ही अभिन्न कर डालता है ।'[3]

इस सिद्धान्त में संभाव्य आक्षेप है कि स्वप्न में भी मनःकल्पित ज्ञान होता

---

१. हिन्दी रस गंगाधर, पृ० ६९ ।
२. वही, पृ० ७३ ।
३. वही, पृ० ७४

है फिर उसे भी रस क्यों न मान लिया जाय ? इस सिद्धान्त के स्थापकों का उत्तर है कि सभी प्रकार के मनः कल्पित ज्ञान का नाम रस नहीं है, वरन् काव्याध्ययन की इसमें अनिवार्य शर्त है। काव्याध्ययन से सहृदय में जो आश्रय से अभेदमूलक मनःकल्पित ज्ञान होता है वही रस है।

इस सिद्धान्त के प्रतिपादन में प्रयुक्त शब्दावली की अस्पष्टता से रस को भ्रम मानना आज भले ही अनुपयुक्त प्रतीत हो, परन्तु इस सिद्धान्त में एक नितांत महत्वपूर्ण तथ्य पर बल दिया गया है। काव्य में ही एक ऐसी शक्ति है जो सहृदय में कल्पना जाग्रत करती है। काव्याध्ययन से सहृदय में कल्पना जागृति होती है और वह पात्रों से अपना अभेदज्ञान या दातात्म्य प्राप्त कर लेता है। यह मनः कल्पित अभेदज्ञान (तादात्म्य) ही रस है। परन्तु यह अभिप्राय इस सिद्धान्त के पुनराख्यान से ही निकाला जा सकता है।

सारांश :

इस प्रकार संस्कृत साहित्यशास्त्र में सहृदय के काव्यास्वाद की प्रक्रिया तथा काव्यास्वाद के स्वरूप पर विभिन्न दृष्टिकोणों से चिन्तन हुआ है। भरतमुनि ने नाट्य रस का तथा सहृदय के नाट्यरसास्वाद से उत्पन्न आनंद का समीकरण नहीं किया है। इनकी धारणा में 'नाट्य रस' तथा इसके आस्वादक सहृदय के हर्ष, शोक आदि भिन्न-भिन्न तत्व हैं। इन्होंने सहृदय के आस्वाद की प्रक्रिया का 'सिद्धि-सिद्धान्त' के रूप में व्यापक प्रतिपादन किया है। भरत-प्रतिपादित दैविकी सिद्धि का भट्टनायक, तथा अभिनव गुप्त-प्रतिपादित संविद् विश्रान्ति रूप रस-स्वरूप से किंचित् साम्य है। भरतमुनि ने नाट्य के विभिन्न प्रयोजनों में सहृदयों को विश्रान्ति प्रदान करना भी एक प्रयोजन माना है।[1] संपूर्ण नाट्य और उसके प्रमुख तत्व-नाट्यरसों का भरत मतानुसार अंतिम साध्य है—दैविकी सिद्धि जिसका नाट्य-प्रयोजन–विश्रान्ति जनकत्व से भी पर्याप्त साम्य है। एक प्रकार से नाट्य के रस, भाव, अभिनय आदि साधन हैं, इनका अंतिम साध्य दैविकी सिद्धि या 'विश्रान्ति' है। आरम्भ में भट्ट लोल्लट तथा शंकुक 'रस' को साधन रूप में या नाट्यविषय अथवा नाट्य वस्तु के रूप में ही ग्रहण करते रहे, अतः इन्होंने न तो रसों की आनन्दात्मकता पर बल दिया है और न सहृदयनिष्ठता पर। परन्तु भट्टनायक तथा अभिनव गुप्त ने रसों की विशेषतः विषयीगत स्थिति मानकर इनके साधनात्मक स्वरूप का साध्य में परिवर्तन कर दिया है। अतः इन

१. दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्राम जननं लोके नाट्यमेतद्भविष्यति ॥ ना० शा० १।११२

दोनों आचार्यों ने रस का अर्थ सहृदयगत संविद् विश्रान्ति रूप तथा आनंदरूप ही मान लिया है, जो नाट्य का तथा नाट्य रसों का अंतिम साध्य है। इसीलिए अभिनव गुप्त ने भरतमुनि के रस सूत्र की व्याख्या में स्पष्ट कर दिया है कि नाट्य का फल शोक नहीं है, अतः सभी रसों का स्वरूप भी आनंदमय है।

मूलतः भरतमुनि के दृष्टिकोण पर विचार करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन्होंने सुख-दुःखात्मक स्थायीभाव मूलक नाट्य रस स्वीकार किये हैं और नाट्यरसों के प्रेक्षकों को भी रसानुभूति अर्थात् सुख-दुःखानुभूति ही होती है, यही स्वीकार किया है।[1] परन्तु नाट्य रसों के प्रेक्षण-आस्वादन के उपरान्त सहृदय पर जो अंतिम परिणाम या प्रभाव लक्षित होता है वह 'रस' नहीं है वरन् 'दैविकी सिद्धि' है या 'विश्रान्ति' है। परन्तु भट्ट नायक तथा अभिनव गुप्त आदि आचार्यों ने नाट्य का प्रमुख साधन 'रस' तथा अंतिम साध्य 'विश्रान्ति' को एक-रूप ही मान लिया है।

इस प्रकार रसास्वाद या काव्यास्वाद की प्रक्रिया के विश्लेषण-प्रतिपादन में भरतमुनि, भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, अभिनव गुप्त, तथा नव्य विद्वानों के दृष्टिकोण अपनी-अपनी शक्ति-सीमाओं के साथ आधुनिक हिन्दी-मराठी के काव्य-शास्त्र-विवेचकों को इस दिशा में चिन्तन के लिए ही प्रेरित करते हैं।

जिस प्रकार सहृदय के रसास्वाद या काव्यास्वाद में आरोप, अनुमान, भावकत्व, भुक्ति, अभिव्यक्ति, भ्रमात्मक सादृश्य, मनःकल्पित अभेद आदि विभिन्न प्रक्रियाएँ प्रतिपादित की गई हैं, उसी प्रकार सहृदय के काव्यास्वाद के स्वरूप का निर्धारण भी भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से हुआ है। कोई सुख-दुःखात्मक, कोई विश्रान्ति रूप, कोई एकांततः चर्वणाप्राण तथा एक घन आनंदात्मक तो कोई अनिर्वचनीय तो कोई अभेदज्ञानात्मक या तादात्म्य रूप ही काव्यास्वाद का स्वरूप निर्धारित करता है।

रसास्वाद : काव्यास्वद : कव्यानंद
प्रक्रिया और स्वरूप

संस्कृत आचार्यों की भाँति हिन्दी-मराठी के आधुनिक काव्यशास्त्रज्ञों की दृष्टि रसास्वाद या काव्यास्वाद की प्रक्रिया के विस्तृत विवेचन पर भी गई है। अधिकांश विवेचक संस्कृत के रसवादी आचार्यों के दृष्टिकोण से पूर्णतः प्रभावित हैं फिर भी कतिपय विवेचकों ने परंपरा-भिन्न चिन्तन का भी प्रयत्न किया है। आधुनिक काव्यशास्त्रज्ञों के समक्ष काव्यास्वाद की प्रक्रिया तथा काव्यानंद

---

१. नाट्य शास्त्र, २७।५५

के स्वरूप के विषय में निम्नलिखित प्रश्न उग्र रूप में उपस्थित हुए हैं।

१. क्या काव्यास्वाद में सहृदय आस्वादित सभी भावनाओं का स्वरूप आनंदमय ही होता है ?

२. काव्यवर्णित पात्रों तथा भावनाओं से सहृदय की तन्मयता या समरसता का क्या रहस्य है ?

३. क्या सहृदय काव्य-वर्णित खलपात्रों या असंवादी पात्रों की भावनाओं से भी समरसता या तन्मयता प्राप्त कर लेता है ?

४. सहृदय के काव्यास्वादजन्य आनंद का या भावना का क्या स्वरूप है ?

५. काव्यास्वाद में कवि, कवि-कृति तथा सहृदय के व्यक्तित्व का क्या योग रहता है ?

यथासंभव इन सभी प्रश्नों का समाधान हिन्दी-मराठी के आधुनिक काव्य-शास्त्र विवेचकों ने संस्कृत आचार्यों की धारणाओं, पाश्चात्यमनीषियों की मान्यताओं तथा निजी चिन्तन के आधार पर प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। इन सब के विशिष्ट मतों का स्वतंत्र एवं तुलनात्मक अध्ययन करते हुए उपयुक्त प्रश्नों का समाधान उपस्थित किया जायेगा।

हिन्दी में रसास्वाद का विवेचन

हिन्दी के आधुनिक समीक्षकों ने रसास्वाद या काव्यास्वाद के स्वरूप-विवेचन में रसध्वनिवादी अभिनव, मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों के मतों का विशेष-रूप से अनुसरण किया है, परिणामतः अधिकांश लेखकों ने रस-निष्पत्ति, साधारणीकरण, लौकिक रस और अलौकिक रस का विवेचन करते हुए रसास्वाद या काव्यास्वाद की प्रक्रिया और उसके स्वरूप का अध्ययन किया है। विशेषतः परंपरानुयायी काव्यशास्त्र के समीक्षकों में श्री कन्हैयालाल पोद्दार तथा श्री रामदहिन मिश्र का रसास्वाद-विवेचन संस्कृत आचार्यों के मतों पर ही केन्द्रित है। श्री कन्हैयालाल पोद्दार ने भट्ट लोल्लट के आरोपवाद, शंकुक के अनुमानवाद, भट्टनायक के भोगवाद, अभिनवगुप्त तथा मम्मट के व्यक्तिवाद का विस्तार से निरूपण किया है। रसास्वाद के स्वरूप और 'प्रक्रिया के विवेचन में इन्होंने अभिनवगुप्त तथा मम्मट की मान्यताओं का ही समर्थन किया है। इस मतानुसार रति आदि भाव वासना रूप से सहृदय में पहले से ही अव्यक्त रूप में विद्यमान रहते हैं, काव्य-नाटकों के विभावादि व्यंजकों के संयोग से अभिव्यक्त, जाग्रत या उत्तेजित हो जाते हैं। इस स्थिति में रति आदि स्थायीभावों के आनंद

का अनुभव होने लगता है, यही रस का आस्वाद है।'[१] इस रसास्वाद में साधारणीकरण और चर्वणा को महत्व देकर श्री क० पोद्दार ने अभिनव गुप्त के अनुरूप रसास्वाद को सर्वत्र आनंदमय ही स्वीकार किया है। रसास्वाद की आनंदमयता की सिद्धि के लिए रस के अलौकिकत्व को श्री पोद्दार ने संस्कृत आचार्यों की मान्यताओं के अनुरूप ही विस्तार से समझाया है।[२]

श्री रामदहिन मिश्र भी अभिनव गुप्त के अभिव्यक्तिवाद के ही पृष्ठपोषक हैं। अतः इन्होंने भी 'सहृदय की अव्यक्तवासना का जाग्रत होना ही रसास्वाद' माना है।[3] 'काव्यानंद के कारण', 'रसास्वाद के बाधक विघ्न' तथा 'साधारणीकरण' की विस्तृत मीमांसा करके इन्होंने रसास्वाद को आनंदमय ही स्वीकार किया है। रसास्वाद की प्रक्रिया में कवि और सामाजिक की स्थिति का साधारणीकरण के आधार पर इन्होंने इस प्रकार स्पष्टीकरण किया है :

साधारणीकरण का सारतत्व यह है कि कवि अपनी सामग्री से जो भाव उपस्थित करता है। उसका अनुभव निरवच्छिन्न रूप से सामाजिक को होना। रसिकों को जो काव्यानंद प्राप्त होता है वह आस्वादन रूप होता है, इन्द्रिय तृप्ति कारक नहीं, सार्वजनिक होता है, वैयक्तिक नहीं, स्वानुभवजन्य होता है, भ्रमजन्य नहीं। क्रीड़ा-रूप आत्म-विकार का आनंद प्राप्त करने के लिए कवि सरस काव्य लिखता है और रसिक उसी प्रकार का आनंद प्राप्त करने के लिए सरस काव्य पढ़ता है।[४]

इससे निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि श्री रामदहिन मिश्र कवि-प्रेषित भावों का 'निरवच्छिन्न' रूप से सामाजिक द्वारा अनुभव ही साधारणीकरण मानते हैं। मूलतः कवि आनंद-प्राप्ति के लिए काव्य-सर्जन करता है और सहृदय भी आनन्द-प्राप्ति के लिए ही काव्य पढ़ता है अतः रसास्वाद में आनंद की स्थिति अनिवार्यतः होती है। मिश्र जी रसास्वाद के आनंद को सत्वोद्रेक का आनन्द मानते हैं।[५]

रस की अभिव्यक्तिवादी प्रक्रिया और रसास्वाद के आनंदवादी स्वरूप का ही पं० केशवप्रसाद मिश्र ने भी समर्थन किया है। इनका एतद्विषयक चिंतन

---

१. रसमंजरी, पृ० १७४-१७९।
२. वही, पृ० १७५-७९।
३. काव्यदर्पण, पृ० ११९।
४. काव्यदर्पण, पृ० १२९।
५. विस्तार के लिए दे० पृ० १८७, काव्यदर्पण, पृ० १२८-२९

परंपराभुक्त है फिर भी इसका आंतरिक विश्लेषण इन्होंने अपनी विशिष्ट पद्धति से किया है। संस्कृत आचार्यों के साधारणीकरण और रसास्वाद के स्वरूप को ही 'मधुमती भूमिका' के आधार पर इन्होंने अधिक स्पष्ट रूप में व्यक्त करने का प्रयत्न किया है। 'मधुमती भूमिका' चित्त की वह विशेष अवस्था है, जिसमें वितर्क की सत्ता नहीं रह जाती। शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीनों की पृथक्प्रतीति वितर्क है, दूसरे शब्दों में वस्तु-वस्तु का सम्बन्ध इन तीनों के भेद का अनुभव करना ही वितर्क है। जैसे, 'यह मेरा पुत्र है' इस वाक्य में पुत्र के साथ पिता का जन्य-जनक संबंध और जनक होने के नाते संबन्धी पिता इन तीनों की पृथक् पृथक् प्रतीति होती है। इस पार्थक्यानुभव को अपर प्रत्यक्ष भी कहते हैं।'[१] मधुमती भूमिका में इस अपरप्रत्यक्ष की स्थिति से ऊपर उठना आवश्यक है। 'जिस अवस्था में सम्बन्ध और सम्बन्धी विलीन हो जाते हैं, केवल वस्तुमात्र का आभास मिलता रहता है उसे पर प्रत्यक्ष या निर्वितर्क समापत्ति कहते हैं। जैसे पुत्र का केवल पुत्र के रूप में प्रतीत होना। इस प्रकार प्रतीत होता हुआ पुत्र प्रत्येक हृदय के वात्सल्य का आलंबन हो सकता है।'[२] प्रस्तुत परप्रत्यक्ष या नर्वितर्क समापत्ति की अवस्था ही 'मधुमती भूमिका' है। साधना द्वारा ही इस भूमिका में पहुँच सकते हैं। कतिपय 'सात्विक शील' सज्जनों में यह स्वभावतः होती है।' इस अवस्था की दूसरी विशेषता है 'जिस समय हमको वस्तुओं का परप्रत्यक्ष होता है उस समय शोचनीय अथवा अभिनंदनीय सभी प्रकार की वस्तुएँ हमारे केवल सुखात्मक भावों का आलंबन बन कर उपस्थित होती हैं। उस समय दुःखात्मक क्रोध, शोक आदि भाव भी अपनी लौकिक दुःखात्मकता छोड़ कर अलौकिक सुखात्मकता धारण कर लेते हैं। अभिनवगुप्ताचार्य का साधारणीकरण भी यही वस्तु है, और कुछ नहीं।'[3]

श्री केशवप्रसाद मिश्र की प्रमुख तीन स्थानाएँ हैं---१.निर्वितर्क समापत्ति की अवस्था में चित्रित आलंबन प्रत्येक सहृदय का आलंबन बन जाता है। २. निर्वितर्क समापत्ति, परप्रत्यक्ष की अवस्था या मधुमती भूमिका में सभी वस्तुएँ–शोचनीय हों अथवा अभिनंदनीय, सुखात्मक भावों का ही आलंबन बन कर उपस्थित होती हैं।३ मधुमती भूमिका में स्थित कवि के चित्त से भी मधुमयी वाणी निकलती है, जो निर्वितर्क समापत्ति का रूप खड़ा कर देती है। यही रसास्वाद है।

---

१. साहित्यालोचन पृ० २३०।
२. वही, पृ० २३१।
३. वही, पृ० २३१

इस स्थापना में लेखक ने एक महत्वपूर्ण तथ्य की ओर संकेत किया है, वह है काव्य-सृजन के क्षणों में कवि का मानस लौकिक स्थूल संबन्धों से ऊपर उठकर व्यापक धरातल पर वस्तु चित्रण करता है । जिस प्रकार कवि 'अपर प्रत्यक्ष' के संकुचित दायरे से ऊपर उठता है, उसी प्रकार सहृदय आस्वादक भी निर्वितर्क समापत्ति या परप्रत्यक्ष की स्थिति में ही रसास्वादन कता है । साथ ही प्रस्तुत मत की कुछ सीमाएं भी उभर आई हैं । निर्वितर्क समापत्ति में शोकभाव अपना स्वरूप परिवर्तित करके सुखात्मक कैसे बन जाएगा ? कवि के काव्य-सृजन की मनोवस्था और सहृदय के रसास्वाद की मनोवस्था नित त समरूप नहीं हो सकती, एक में निर्माण या सृजन की तल्लीनता है, दूसरे में निर्मित के आस्वाद या उपभोग की । मधुमती भूमिका को ही रसास्वाद का एकांत स्वरूप मान लेना कठिन है । संभवतः इसीलिए इन्होंने मम्मट निरूपित 'माधुर्य'. . द्रुति-कारणम्' को मधुमती भूमिका से सम्बद्ध करने का प्रयत्न किया है।[1] मधुमती भूमिका या परप्रत्यक्ष की स्थापना व्यापक रूप में कवि और सहृदय की पूर्वग्रह तथा अहं से मुक्ति पाने का संकेतमात्र देती है । योगदर्शन तथा साधना की दृष्टि से 'मधुमती भूमिका' 'रसभूमि' न होकर संगभूमि है जो साधक के सामने छिद्र या अनिष्ठ के रूप में आती है । इस दृष्टि से श्री चन्द्रबली पांडे ने इस सिद्धान्त की त्रुटियों का व्यापक दिग्दर्शन भी कराया है ।[2] अभिनव-गुप्ताचार्य के साधारणीकरण के सिद्धान्त से मधुमती भूमिका में सहृदय को रसानुभूति होती है, यह तथ्य पर्याप्त सत्य है, परन्तु मधुमती भूमिका और सहृदयता के रसास्वाद के स्वरूप को एक रूप ही मान लेना असंगत है ।

हृदय की मुक्त दशा

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जिस 'रसदशा' का निरूपण किया है वह 'मधुमती भूमिका' से बहुत दूर नहीं है । 'जब कोई अपनी पृथक् सत्ता की भावना को ऊपर किए इस क्षेत्र से नाना रूपों और व्यापारों को अपने योग क्षेम, हानि लाभ, सुख दुःख आदि से सम्बद्ध करके (अपर प्रत्यक्ष से) देखता रहता है तब तक उसका हृदय बद्ध रहता है । इन रूपों और व्यापारों के सामने जब कभी वह अपनी पृथक् सत्ता की धारणा से छूट कर (पर प्रत्यक्ष की स्थिति में आकर) —अपने आपको बिल्कुल भूल कर—विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाता है, तब वह

---

१. साहित्यालोचन, पृ० २३२ ।

२. साहित्य संदीपनी : मधुमती में रसभूमि ? पृ० ३०-४१ प्र० सं० १९४७ ।

मुक्त हृदय हो जाता है। . . हृदय की यह मुक्तावस्था ही रसदशा कहलाती है।'[1] मधुमती भूमिका के समान यह 'रसदशा' भी एक प्रकार की 'साधना' का ही परिणाम है। शुक्ल जी ने इस साधना को 'भावयोग' माना है। 'मधुमती भूमिका' और 'रसदशा' में प्रस्तुत साम्य के अतिरिक्त दोनों में परस्पर वैषम्य भी है। शुक्ल जी ने इस दशा को न अभिनवगुप्त के साधारणीकरण का नितांत समरूप सिद्ध किया है और न इसे सहृदय का आनंदमय रसास्वाद ही मान लिया है। इसमें सुख-दु:खात्मक भावों के स्वरूप-परिवर्तन की भी चर्चा नहीं है, जब कि 'मधुमती भूमिका' में सभी प्रकार के भावों का स्वरूप सुखात्मक ही बन जाता है।

सहृदय की रसानुभति की प्रक्रिया और उसके स्वरूप का आ० शुक्ल ने पर्याप्त व्यापक रूप में प्रतिपादन किया है। इन्होंने सहृदय के रसास्वाद की तीन कोटियाँ निर्धारित की हैं। प्रथम आदर्श या उत्कृष्ट कोटि की रसानुभूति है, इसमें प्रमुख दो तथ्य निहित हैं––

(१) अनुभूति काल में अपने व्यक्तित्व के संबन्ध की भावना का परिहार और (२) किसी भाव के आलंबन का सहृदयमात्र के साथ साधारणीकरण अर्थात् उस आलंबन के प्रति सारे सहृदयों के हृदय में उसी भाव का उदय।[2]

इस आदर्श रसास्वाद के स्वरूप में एक प्रकार से सहृदय और कवि दोनों को ही अपनी ऐकान्तिक भूमिका के परित्याग का संकेत है। सहृदय रसास्वाद के क्षणों में निजी व्यक्तित्व तथा पूर्वग्रह की भावना से मुक्त हो और कवि भी ऐकान्तिक आत्माभिव्यक्ति में तल्लीन रहने की अपेक्षा आलंबन का स्वरूप इस रूप में प्रस्तुत करे कि सभी सहृदयों में तदनुरूप भाव का उदय हो। इस स्थिति में आश्रय और सहृदय के भावों का पूर्ण तादात्म्य होता है।[3]

सहृदय के रसास्वाद की दूसरी कोटि में न आश्रय के साथ पूर्ण तादात्म्य होता है और न आलंबन का ही साधारणीकरण हो पाता है। जैसे, कोई क्रूर निरपराधी या दीन पर क्रोध करता है, ऐसी स्थिति में सहृदयों में क्रोध का 'रसात्मक संचार' नहीं होगा बल्कि उसके प्रति अश्रद्धा या घृणा के भाव उत्पन्न होंगे। यहाँ आश्रय के साथ तादात्म्य न होने पर भी 'सहृदय' उक्त पात्र के शील द्रष्टा या प्रकृति द्रष्टा के रूप में प्रभाव ग्रहण करेगा और यह प्रभाव भी रसात्मक

---

१. चिन्तामणि, प्र० भाग, पृ० १४१ (१९५३)।

२. चिन्तामणि, रसात्मक बोध के विविध रूप, पृ० २४९।

३. चिन्तामणि, साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद, पृ० २३०।

ही होगा', परन्तु मध्यम कोटि का होगा ।[१] इस स्थिति में कभी-कभी पात्र ही पाठक या सहृदय के किसी भाव का आलंबन बन जता है , तब भी तादात्म्य या साधारणीकरण की स्थिति आ जाती है, परन्तु यहाँ तादात्म्य कवि के अव्यक्त भाव के साथ होता है, जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप संघटित ही करता है ।'[२]

सहृदय के रसास्वाद की तीसरी कोटि में किसी भी प्रकार का तादात्म्य नहीं हो पाता । आश्रय की भाव-व्यंजना को सहृदय अपना नहीं पाता; उसका ग्रहण केवल शील-वैचित्र्य के रूप में करता है । यह निम्न कोटि का रसास्वाद है।

इस प्रकार आ० शुक्ल ने संस्कृत आचार्यों की रसास्वाद की प्रक्रिया से भिन्न रूप में चिन्तन का प्रयत्न किया है । यद्यपि आचार्य शुक्ल ने 'रसास्वाद' के स्वरूप को सामान्यत: आनन्दात्मक स्वीकार किया है, तथापि उसका विश्लेषण परंपरागत मान्यता से पर्याप्त भिन्न रूप में किया है : 'रसास्वाद आनन्द-स्वरूप कहा गया है, अतः दुःख रूप अनुभूति रस के अन्तर्गत कैसे ली जाती है, यह प्रश्न कुछ गड़बड़ डालता दिखाई पड़ेगा । पर आनन्द शब्द को व्यक्तिगत सुख भोग के स्थूल अर्थ में ग्रहण करना मुझे ठीक नहीं जँचता । उसका अर्थ मैं हृदय का व्यक्ति-बद्ध दशा से मुक्त और हल्का होकर अपनी क्रिया में तत्पर होना ही उपयुक्त समझता हूँ ।'[३] इस प्रकार शुक्ल जी ने सहृदय के रसास्वाद का स्वरूप न आनन्दैकघन (अभिनव), न अखण्ड, (मम्मट) और न ब्रह्मास्वाद सहोदर (भट्ट नायक, सम्मट) माना है वरन् उसे सहृदय का अपनी मुक्त दशा में सुख-दुःखात्मक भावों की अनुभूति-क्रिया में तत्पर रहना मात्र सिद्ध किया है ।

डा० श्यामसुंदरदास ने शुक्ल जी की रस तथा साधारणीकरण की प्रक्रिया को भ्रमात्मक ठहराया है । विभाव, अनुभाव आदि का साधारणीकरण दो रूपों में हो सकता है, स्वरूपतः सामान्य होना और अपने परिणाम या उद्देश्य में सामान्य होना । विभावानुभाव आदि के स्वरूपतः सामान्य होने का आग्रह करना ठीक नहीं है, क्योंकि उस अवस्था में वे सीमित और शृंखलाबद्ध हो जायँगे और काव्य की व्यापकता नष्ट हो जायगी ।' दूसरे परिणाम या उद्देश्य की दृष्टि से भी साधारणीकरण दो प्रकार से हो सकता है : एक बौद्धिक या द्वैतवादी, दूसरा मनोवैज्ञानिक, ध्वन्यात्मक अथवा कलात्मक । प्रथम प्रकार में काव्य को नैतिक, और अनैतिक द्वन्द्वों के भीतर देखा जाता है और नैतिक पक्ष का रसास्वाद किया

१. चिन्तामणि, पृ० २३१ ।
२. वही, पृ० २३२ ।
३. चिन्तामणि, रसतमक बोध के विविध रूप, पृ० २५१ ।

जाता है। यह प्रकार भट्टनायक के 'भुक्तिवाद' के अनुकूल पड़ता है और श्यामसुंदरदास जी के मतानुसार रसास्वाद में शुक्ल जी ने भट्टनायक के प्रस्तुत मत का ही अनुसरण किया है। परन्तु इनकी निजी मान्यता में अभिनव गुप्त के 'ध्वनिवाद' से सम्बद्ध साधारणीकरण को रसास्वाद में मान्यता देना अधिक उपादेय है, क्योंकि इसमें नैतिकता का प्रश्न पृथक नहीं रहता; 'ध्वनि' में अवसित हो जाता है। 'साधारणीकरण तो कवि अथवा भावक की चित्त वृत्ति से सम्बन्ध रखता है। चित्त के एक तान और साधारणीकृत होने पर उसे सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगता है।'[१] कवि के समान सहृदय की (चित्त) वृत्तियाँ भी उसी प्रकार एक तान, एकलय हो जाती हैं (जिसके लिए पारिभाषिक शब्द साधारणीकरण)...और उसे भी वही आनंद की झलक मिलती है।'[२]

इस प्रकार श्यामसुंदरदास जी ने साधारणीकरण और सहृदय के रसास्वाद की मीमांसा 'मधुमती भूमिका' को ही आधार मान कर की है। इन्होंने कवि के सदृश सहृदय की साधारणीकृत (मनो) वृत्तियों, को ही रसास्वाद मान लिया है, जिसका स्वरूप 'एकतान' एकलयात्मक आनन्द है।

चित्तवृत्तियों का समन्वय :

डा० नगेन्द्र ने सहृदय के रसास्वाद का स्वरूप आनन्दात्मक ही निर्धारित किया है। इन्होंने काव्य की आनन्दानुभूति का सूक्ष्म भारतीय आचार्यों तथा पाश्चात्य मनीषियों की धारणाओं को दृष्टिगत रख कर किया है। संस्कृत के रसमतानुयायी आचार्यों ने रसास्वाद में चित्त के द्रवित, दीप्त और परिव्याप्त होने की चर्चा की है।[3] डा० नगेन्द्र ने भावास्वादजन्य प्रस्तुत चित्तवृत्तियों के समन्वय, सामंजस्य या अन्विति को आनन्दात्मक माना है। रसास्वाद के आनंद को भाव (इमोशन) से पृथक् मानना इनकी धारणा में नितांत अनिवार्य है, क्योंकि रसास्वाद को भाव का आनंद मानने से कटुभावों से आनन्द की प्राप्ति न होकर कटुता की अनुभूति होगी। परन्तु रसानुभूति तो सर्वत्र अनिवार्यतः आनन्दमयी चेतना है। काव्यानन्द के स्वरूप-विश्लेषण में प्लेटो, अरस्तू, एडिसन, ब्रैडले आदि पाश्चात्यों की धारणाओं का निरूपण करने के उपरान्त इन्होंने यह प्रश्न उठाया है कि काव्यानंद को ऐन्द्रिय अनुभूति माना जाय अथवा बौद्धिक अनुभूति ? इनका निष्कर्ष समन्वयात्मक है। काव्यानुभूति में 'ऐन्द्रिय और बौद्धिक अनुभूति

---

१. साहित्यालोचन, पृ० २३८।

२. वही, पृ० २३७।

३. काव्यप्रकाश, ८।६७,६९,७७ (हरिमंगल)

के तत्वों का लवण-नीर संयोग होता है।[१] काव्यानुभूति में एक ओर ऐन्द्रिक अनुभूति की स्थूलता और तीव्रता (ऐन्द्रियता और कटुता) नहीं होती, दूसरी ओर बौद्धिक अनुभूति की अरूपता नहीं होती और इसलिए वह पहले से अधिक शुद्ध ; परिष्कृत और दूसरी से अधिक सरस होती है।[२]

इनके मत में सहृदय के रसास्वाद में कटु संवेदनों से आनंदानुभूति ही होती है, दुःखानुभूति नहीं होती, 'क्योंकि संवेदनों में सामंजस्य या अन्विति स्थापित हो जाती है तो हमारी अनुभूति मधुर होती है और जब ये विश्रृंखल और विकीर्ण होते हैं तो अनुभूति कटु होती है।'[३] दूसरा कारण मूलतः वे कवि द्वारा भावित होते हैं अतः उनमें कटुता अत्यंत क्षीण हो जाती है। अतः इनकी धारणा में जीवन के कटु अनुभव भी काव्य में, अपने तत्वरूप संवेदनों के समन्वित हो जाने से आनन्दप्रद बन जाते हैं।

आचार्य अभिनवगुप्त ने मूलतः कविभावों के साधारणीकृत रूप का प्रतिपादन किया है तो आचार्य शुक्ल ने मध्यम कोटि की रसानुभूति में स्पष्टतः कवि भावों से साधारणीकरण या तादात्म्य को मान्यता दी है।[४] डा० नगेन्द्र ने इसी परंपरा में साधारणीकरण की व्यापक समीक्षा कर के सर्वत्र कविभावों से तादात्म्य या साधारणीकरण का प्रतिपादन किया है। इनकी धारणा में सहृदय का तादात्म्य न तो काव्य-वर्णित आश्रय से होता है और न आलंबन से। सहृदय सदैव कवि के मूल संवेद्य या प्रेषणीय भाव से ही तादात्म्य करता है। काव्य-निरूपित पात्र तो कवि की विशिष्ट भावनाओं के प्रतीक मात्र हैं। काव्यस्थ पात्रों के आश्रय-आलंबन रूप से तादात्म्य स्वीकार करने के कारण ही संस्कृत काव्य शास्त्र में विशेषतः श्रृंगार रस में 'सीता' आलंबन से तादात्म्य पर शंका उठाई गई। आधुनिक काव्य-नाटकों में खलनायक से तादात्म्य पर भी शंका उठ सकती है। वस्तुतः इन सब का समाधान एक ही तथ्य से संभव है और वह है—कवि के

---

१. रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ६७।

२. वही, पृ० ६८।

३. वही, पृ० ६८।

४. अभिनव गुप्त : 'वागंगमुख रागात्मनाभिनयेन सत्वलक्षणेन चाभिनयेन करणेन कवे : साधारणं तथापि वर्णना निपुणस्य यः अन्तर्गतोऽनादि प्राक्तन संस्कार प्रतिभान-मया न तु लौकिकः विषयजः........भावश्चित्त वृत्ति लक्षण एव उच्यते।' आ० शुक्ल : चिन्तामणि, पृ० २३२ सिद्धान्त और अध्ययन पृ० २२१ से उद्धृत।

संवेद्य या प्रेषणीय भावनाओं से तादात्म्य या साधारणीकरण स्वीकार किया जाय ।[१]

आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी ने भी 'साधारणीकरण का अर्थ रचयिता और उपभोक्ता (कवि और दर्शक) के बीच भावना का तादात्म्य ही' ग्रहण किया है । अतः इन्होंने भी कवि-कल्पित समस्त व्यापार का साधारणीकरण माना है, 'केवल किसी पात्र-विशेष का नहीं ।'[२]

त्र्यात्मक व्यक्तित्व : साधारणीकृत व्यक्तित्व :

डा० गुलाबराय ने आ० शुक्ल, डा० श्यामसुन्दरदास तथा डा० नगेन्द्र की साधारणीकरण-संबद्ध मान्यताओं की समीक्षा करते हुए इनकी सीमाओं का निर्देश किया है । शुक्ल जी के सामान्य आलंबन के निरूपण में इनके मन में बसे हुए तुलसीदास जी के राम झाँकते हुए दिखाई पड़ते हैं जो सब के एक समान आलंबन होते हैं । अतः इनके अनुसार 'शुक्ल जी के मत में विषय को अधिक महत्व दिया गया है । श्यामसुंदर दास जीने सहृदय के, चित्त के एकतान और साधारणीकृत होने का विवेचन करके 'विषयी' पर अधिक बल दिया है । डा० नगेन्द्र ने कवि को एकांत महत्व प्रदान करके विषय के अस्तित्व को मिटा-सा दिया है ।' क्योंकि जहाँ कवि की वैयक्तिक धारणाएँ जनता की धारणा से मेल नहीं खातीं वहाँ रसास्वाद में बाधा पड़ती है । महाराणा प्रताप, शिवाजी, महात्मा गांधीजैसे पात्रों का अपना विषयगत अस्तित्व भी है। आलंबन का अस्तित्व बाह्य जगत् में नहीं तो जनता के हृदय में अस्तित्व है । अतः आलंबन का विषय गत अस्तित्व बिल्कुल उठाया नहीं जा सकता ।'[3] अंत में इन्होंने जो साधारणीकरण की व्याख्या की है, वह आ० शुक्ल की व्याख्या से बहुत दूर नहीं है ।[४] इसमें कवि को शिक्षा दी गई है कि वह आलंबन का व्यक्तित्व व्यापक रूप में उपस्थित करे तो दूसरी ओर सहृदयों से देश काल के बन्धनों से मुक्त होने का आग्रह भी किया गया है ।

डा० गुलाबराय ने सहृदय के साधारणीकृत व्यक्तित्व को ही सहृदय की रसानुभूति की अवस्था स्वीकार की है । कवि के 'त्र्यात्मक' व्यक्तित्व के

---

१. रीति काव्य की भूमिका, पृ० ४९-५२ तथा 'विचार और विवेचन' पृ० ३०-३६
२. नया साहित्य : नये प्रश्न, पृ० १२२, प्र० सं० ।
३. सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० २१३ ।
४. 'आलंबन का व्यक्तित्व बनाये रखते हुए भी उसको ऐसे रूप में उपस्थित करना कि वह मेरे पराये के बंधनों से मुक्त हो जाय और सब सहृदयों की भावना का समान रूप से विषय बन सके ।' सि० और अध्ययन, पृ० २१५ ।

समान सहृदय का भी 'त्र्यात्मक' व्यक्तित्व होता है। प्रथम व्यक्तित्व कवि के समान ही होता है—जिसमें वह लौकिक सुख-दुःख का अनुभव करता है। दूसरा व्यक्तित्व लौकिक अनुभूति और रसानुभूति के बीच का है, इसमें सहृदय काव्य या रंगमंच पर प्रदर्शित भावों के अनुरूप विशेषतः आश्रय के अनुरूप अश्रु-रोमांच आदि के अनुभाव प्रकट करता है। इस स्थिति में किसी-किसी में तादात्म्य की पराकाष्ठा हो जाती है तो वह भावानुरूप कार्य-प्रवृत्त होने लगता है। वस्तुतः यह रसानुभूति की अवस्था नहीं है। तीसरी वास्तविक रसानुभूति की अवस्था वह है, जिसमें सहृदय का साधारणीकृत व्यक्तित्व ही रहता है।[१]

सत्वोद्रेक का आनन्द :

श्री रामदहिन मिश्र ने आ० शुक्ल निरूपित रस-कोटियों का प्रत्याख्यान किया है। इनकी धारणा में शुक्ल जी ने सहृदय के रसास्वाद की कोटियाँ पाश्चात्य विचारों के अनुशीलन के परिणाम स्वरूप बना दी हैं।[२] इसके प्रत्याख्यान में रस-ध्वनिवादी आचार्यों की धारणाओं का ही इन्होंने अनुसरण किया है (क) रस का स्वरूप 'स्वयंप्रकाश', 'अखण्ड तथा आनन्दमय है।' (ख) आनन्दमय रसास्वाद की प्राप्ति सत्वोद्रेक से ही होती है, 'तथापि रजः तमः की उस पर छाया पड़ती है और इनके मिश्रण से रस भोग की अनेक प्रणालियाँ हो जा सकती हैं, परन्तु ऐसे स्थलों पर साधारणीकरण नहीं होता।' (ग) अपुष्टावस्था का भाव संचारी बन जाता है रस नहीं। यहाँ की अनुभूति भाव ही रह जाती है।' (घ) दीन के प्रति क्रोध की व्यंजना 'अस्थान में विस्तार का दोष' है, रस रूप नहीं है। (ङ) दीन पर क्रोध व्यक्त करने वाले व्यक्ति पर हम भी क्रोध करने लग जायँ तो यह भाव का लौकिक रूप है, रसानुभूति का नहीं। अतः रामदहिन मिश्र ने संस्कृत आचार्यों के 'रसस्वरूप' तथा 'साधारणीकरण' के सिद्धान्त के आधार पर शुक्ल जी निरूपित रस-कोटियों को निस्सार बताया है। और सत्वोद्रेक को ही रसास्वाद की वास्तविक स्थिति मानी है।

आचार्य शुक्ल को रस-कोटियाँ इसलिए स्वीकार करनी पड़ीं कि उन्होंने संस्कृत आचार्यों के रस-स्वरूप का एकांत अनुसरण नहीं किया है। इन्होंने पूर्ण रस की स्थापना में आश्रय-आलंबन से पूर्ण तादात्म्य का समर्थन आ० विश्वनाथ के 'तादात्म्य' प्रतिपादन के आधार पर किया है।[३] साधारणीकरण की प्रक्रिया में

---

१. सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० २२२।
२. काव्यदर्पण, पृ० १३२ द्वि सं०।
३. साहित्यदर्पण, ३।९ चौखम्बा संस्कृत सीरिज, द्वि० सं० १९५५।

शुक्ल जी भट्ट नायक के चिन्तन से अधिक प्रभावित हैं।[1] आचार्य अभिनवगुप्त के रसास्वाद और साधारणीकरण में भावों की मुक्ति की अपेक्षा अभिव्यक्ति पर अधिक बल है। इनके अनुसार वासनारूप में स्थित स्थायी भाव की जागृति रस है, रस की उत्पत्ति नहीं होती बल्कि अव्यक्त मूल स्थायी की अभिव्यक्ति हो जाती है। जैसे, मिट्टी के पके हुए पात्र में पहले से स्थित गंध जल के छींटों से व्यक्त हो जाती है।[2] इसी प्रकार सहृदय की वासना जागृति ही रसास्वाद है। परन्तु श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'काव्यानुभूति' के विवेचन में अभिनवगुप्त के अभिव्यक्ति-वाद में 'थोड़ा-सा परिष्कार' करना अपेक्षित समझा है। 'काव्य में भाव वस्तुतः वर्ण्यविषय हुआ करते हैं। इन वर्ण्यविषयों को व्यंजना कहना बहुत दूर तक समीचीन नहीं जान पड़ता। यह तो ठीक है कि पाठक या दर्शक के हृदय में वासना रूप में रहने वाले भाव काव्य के पठन या दर्शन से उद्बुद्ध होते हैं। पर प्रश्न यह है कि उसे केवल अर्थ की प्रतीति होती है या वह उसका 'भोग' करता है। अभिव्यक्ति के विचार से (अभिनवगुप्तानुसार) तो काव्यार्थ की प्रतीति ही हुई। इसी से वे इसे 'रस प्रतीति' कहते हैं।[3] भट्ट नायक इसे 'भोग' मानते हैं। वस्तुतः भाव का भोग ही होता है। मन 'रसदशा' में उन भावों का भोग ही करता है। काव्य में जिन भावों का वर्णन होता है वे वस्तुतः वर्ण्य ही होते हैं। व्यंजना वर्णन की प्रणाली मात्र है।'[4] इस प्रकार श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने काव्यानुभूति या रसास्वाद में भावों के भोग को महत्वपूर्ण माना है, उसकी अभिव्यक्ति को नहीं। आ० शुक्ल ने भी काव्याध्ययन के समय अनुभूयमान विभिन्न अनुकूल प्रति-कूल भावों के आस्वादन को रसास्वाद की कसौटी पर कसने का प्रयत्न किया है, फलतः इन्होंने रसकोटियों का निरूपण कर दिया है। शुक्ल जी की मान्यता में निरपराध व्यक्ति पर अभिव्यक्त क्रोध से सहृदय में उत्पन्न घृणा अश्रद्धा आदि भाव भी रसात्मक होंगे, परन्तु वे उत्कृष्ट कोटि के नहीं। इनके अनुसार तादात्म्य का अभाव होने पर भी पात्र के शील द्रष्टा के रूप में भी जो भाव सहृदय अनुभव करता है, वह भी रसात्मक ही होता है, परन्तु यह निम्नकोटि का रसानुभव है। इस प्रकार के रस-कोटि के प्रतिपादन में शुक्ल जी ने संस्कृत आचार्यों की धार-

---

१. साहित्यालोचन, पृ० २३८।

२. सिद्धान्त और अध्ययन, पृष्ठ १९९ द्वि० सं०

३. आ० रामचन्द्र शुक्ल ने 'रसाः प्रतीयन्ते' की अनुभूति के अनुकूल ही व्याख्या की है, दे० रसमीमांसा पृ० ४०८।

४. वाङमय विमर्श, पृ० १४३ प्र० संस्करण, संवत् १९९९।

णाओं का एकांत अनुसरण नहीं किया है, इन्होंने स्पष्ट लिखा है : 'रस की इस नीची अवस्था का हमारे साहित्य-ग्रन्थों में विवेचन नहीं हुआ है।'[१] इन स्थलों में वे परंपरा से भिन्न चिंतन पर अग्रसर हुए हैं। श्री रामदहिन मिश्र का प्रत्याख्यान एकांततः संस्कृत-परंपरानुकूल है और संस्कृत आचार्यों की साधारणीकरण की धारणा पर ही मूलतः केन्द्रित है। यदि शुक्ल जी से ही प्रश्न किया जाता कि अपरिपुष्ट या अतादात्म्यजन्य अथवा शील द्रष्टा की स्थिति में सहृदय में उत्पन्न भावों को भी आपने रसात्मक क्यों कह दिया ? तो संभवतः शुक्ल जी का उत्तर होता 'सहृदय मुक्त दशा में है अतः इस अवस्था (रसदशा) में उत्पन्न सहृदय के भाव भी रसात्मक ही होंगे।' शुक्ल जी ने रसास्वाद को एकांततः आनंदात्मक स्वीकार नहीं किया है, इसका कारण है उनका विशिष्ट रस-स्वरूप चिन्तन।[२]

मन का ओज :

काव्य में आनन्द की स्थिति नहीं है वरन् सहृदय में ही आनंद निहित है। यदि काव्य में आनन्द निहित होता तो प्रत्येक सहृदय को एक ही प्रसंग पचासों बार पढ़ने पर भी एक-सा ही आनंद उसे मिलता, परन्तु वस्तुस्थिति इस से भिन्न है। अतः श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु की मान्यता में पाठक या श्रोता अपने मन के बचे हुए ओज से ही काव्य का आनंद पाता है, किन्तु समझता है कि उसने यह आनन्द काव्य से उपलब्ध किया है।'[३] इन्होंने आचार्य भिनवगुप्त के समान ही सहृदय के मन में निहित वासना-संस्कारों तथा भावों की पूर्वस्थिति पर विशेष बल दिया है। कवि की सत्ता काव्यानंद के क्षणों में इतनी ही है कि वह 'किसी के हृदय में नया भाव नहीं भरता बल्कि वह केवल अनुभूत भावों को ही जाग्रत तथा उत्तेजित करता है।'[४] काव्यास्वाद कालीन भाव जागृति या भावोत्तेजन में सहृदय को अपने मानसिक ओज का व्यय करना पड़ता है, अतः इनका दृढ़ मत है कि जब तक अपने मानसिक ओज का व्यय न किया जाय तब तक काव्य से आनंद की प्राप्ति संभव नहीं।[५]

जहाँ तक मन के ओज के व्यय का प्रश्न है वह काव्य-वर्णित सुखात्मक तथा दुःखात्मक सभी प्रकार के भावों के आस्वाद के क्षणों में होगा। क्या इससे काव्या-

---

१. चिन्तामणि, पृ० २३१।
२. दे० रस-स्वरूप प्रकरण।
३. जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त, पृ० ६३ द्वि० सं० १९५०।
४. वही, पृ० ६९।
५. वही, पृ० ७४।

स्वाद को सर्वत्र आनन्दात्मक ठहराया जा सकेगा ? श्री सुधांशु की धारणा में जहाँ-जहाँ सहृदय तादात्म्यपूर्वक काव्यास्वाद में लीन है, वहाँ-वहाँ अनुकूल दिशा में मन के ओज का व्यय हो रहा है, अतः उसे आनन्दानुभूति ही होती है परन्तु जहाँ सहृदय का तादात्म्य नहीं हो पाता, वहाँ भी मन के ओज का व्यय तो होता ही है, पर उसे आनंद इसलिए नहीं मिलता कि ऐसे स्थलों में मन के ओज का व्यय अनुत्पादक रूप में होता है।[1]

एक अन्य लेखक ने रसनिष्पत्ति का मूल आधार माना है—सौन्दर्यानुभूति और उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि 'सौन्दर्य की अनुभूति के आनन्द से भिन्न रसास्वाद का अर्थ कुछ भी नहीं।'[2]

मूलतः पश्चिम में ही 'सौन्दर्य' का स्वरूप अत्यन्त विवादग्रस्त रहा है, कोई इसे वस्तुनिष्ठ सिद्ध करता है तो कोई व्यक्ति निष्ठ।'[3] संस्कृत आचार्यों ने सहृदय-स्थित वासनात्मक भावोद्‍बोधन को काव्यास्वाद या रसास्वाद का मूल कारण निर्धारित करके कवि तथा सामाजिक में निहित एक सामान्य भावसूत्र का अन्वेषण किया है जो सदोष नहीं है। साधारणीकरण तो मूलतः एक प्रकार से कवि की अभिव्यक्ति प्रक्रिया है, रसास्वाद का स्वरूप नहीं। यह सत्य है कि रसात्मक आनन्द को 'समान भावों का उद्‍बोधन' मात्र सिद्ध करना अपर्याप्त है। उसमें भोग, चर्वणा या 'आस्वाद' ही आनन्द के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं। इसीलिए श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'अभिव्यक्ति' की अपेक्षा भट्टनायक के भोग को काव्यास्वाद का यथार्थ स्वरूप निर्देशक माना है।[4] इसके अतिरिक्त 'रस' और सौन्दर्य शब्द की अपनी-अपनी सीमाएँ हैं। संस्कृत का 'रस' स्थायी भावों की परिपुष्टि की उपज है तो पाश्चात्य 'सौन्दर्य' काव्य तथा काव्येतर कलाओं में निहित भाव, कल्पना, विचार तथा प्रकृति के विविध रूपात्मक जगत् को अपने में अन्तर्हित किये है। विशिष्ट कल्पना तथा बौद्धिक चिन्तन या विचारों से भी सौन्दर्यानुभूति हो सकती है, परन्तु संस्कृत आचार्यों की स्थायी भावमूलक रस-निष्पत्ति नहीं। अतः संस्कृत आचार्यों की रस-निष्पत्ति को सौन्दर्यानुभूति के समरूप सिद्ध करने में उसकी सीमाओं पर भी ध्यान रखना अपेक्षित है।

इस प्रकार आधुनिक अधिकांश हिन्दी-काव्यशास्त्रज्ञों ने रसास्वाद की आनन्द-

---

१. जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त, पृ० ७४।
२. दे० डा० रघुवंश का मत : हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ६२८, प्र० सं० २०१५।
३. दे० सौन्दर्यानुभूति : हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ८६५।
४. वाङ्मय विमर्श, पृ० १४३, प्र० सं० १९९९।

मयता का प्रतिपादन किया है। आचार्य शुक्ल ने आनन्द शब्द का प्रयोग नहीं किया है वरन् हृदय की मुक्तदशा को ही रसास्वाद की दशा मानी है। हिन्दी में रसा-स्वादन की प्रक्रिया में साधारणीकरण के सिद्धान्त का विशेष रूप से विवेचन-विश्लेषण हुआ है। श्री रामदहिन मिश्र, डा० नगेन्द्र, डा० गुलाबराय, डा० नन्द-दुलारे वाजपेयी आदि ने साधारणीकरण के सिद्धान्त का कवि, काव्य तथा सहृदय के आधार पर विवेचन-पुनराख्यान किया है। काव्यास्वाद की प्रक्रिया में संस्कृत आचार्यों द्वारा प्रतिपादित आरोपवाद, अनुमानवाद, भोगवाद, अभिव्यक्तिवाद, आदि का आश्रय न लेकर श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु ने 'मन के ओज का व्यय' इस अभिमत को विशेष प्रश्रय दिया है, उनका यह चिन्तन संस्कृत परंपरा से भिन्न है।

पं० केशवप्रसाद मिश्र की 'मधुमती भूमिका', श्री रामदहिन मिश्र के 'सत्वो-द्रेक का आनंद' डा० नगेन्द्र के 'चित्त वृत्तियों का समन्वय' आदि अभिमतों में संस्कृत आचार्यों के अखण्ड, संविद्विश्रान्ति रूप, आनन्दमय रसस्वरूप को ही मूल आधाररूप में ग्रहण किया गया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल रस के भाव-वादी स्वरूप के समर्थक रहे हैं, परिणामतः उन्होंने हृदय की मुक्तदशा को ही रसास्वाद के स्वरूप प्रतिपादन में महत्वपूर्ण ठहराया है। डा० नगेन्द्र ने भारतीय रसास्वाद के स्वरूप की मीमांसा में पाश्चात्यों के अभिमतों का भी विस्तार से विवेचन किया है और ऐन्द्रिय तथा बौद्धिक अनुभूति-तत्त्वों के आधार पर रसास्वाद के स्वरूप का पुनराख्यान करने का प्रयत्न किया है।

मराठी में रसास्वाद का विवेचन

संस्कृत साहित्यशास्त्र के आचार्यों ने सहृदय के रसास्वादन की प्रक्रिया पर भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से चिन्तन किया है, इसी प्रकार मराठी में आधुनिक काव्याशास्त्रज्ञों ने परंपरा का नितांत अनुसरण न करते हुए मौलिक चिन्तन का भी प्रयास किया है। इन्होंने रसास्वाद की प्रक्रिया के निरूपण में तादात्म्य, साधा-रणीकरण, तटस्थता आदि पर विचार करते हुए काव्यास्वाद कालीन सहृदय की चित्तवृत्तियों का विशेषतः विश्लेषण किया है। रसास्वाद की प्रक्रिया के साथ काव्यानंद के कारणों का भी अनेक सिद्धान्तों में स्पष्टीकरण हुआ है। यथासंभव आधुनिक काव्यशास्त्र के सभी चिन्तकों की विशिष्ट मान्यताओं को केवल काल-क्रमिक ही नहीं अपितु विवेचन की सुगमता एवं विचारों की श्रृंखला को ध्यान में रख कर भी यहाँ प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। जिससे आधुनिक काव्य-

शास्त्र में उपस्थित काव्यास्वाद से सम्बद्ध विभिन्न प्रश्नों का समाधान प्राप्त हो सके ।

सविकल्प समाधि :

स्व० श्री न० चि० केळकर ने ई० सन् १९११ में महाराष्ट्र साहित्य सम्मेलन के अध्यक्षीय भाषण में काव्यानंद तथा रसास्वाद की प्रक्रिया का विवेचन करते हुए 'सविकल्प-समाधि' नाम से अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है । उनका आशय इस प्रकार है । 'मनुष्य में अदम्य महत्वाकांक्षा होती है । वह संपूर्ण संसार का ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहता है । संसार अनंत है परन्तु मनुष्य की शक्ति सांत है, सीमित है । इन्द्रियों के सीमित बन्धन के होते हुए भी वह अतीन्द्रिय कल्पनाशक्ति की सहायता से संपूर्ण संसार में आत्मविस्तार देखता है, उसके रहस्य का ज्ञान प्राप्त करना चाहता है । आत्मविस्तार की इस प्रक्रिया में वह अपनी स्थिति या सत्ता के ज्ञान को विस्मृत नहीं करता । अपनी स्थिति का ज्ञान रखते हुए भी दूसरों की सुख-दुःखात्मक अवस्थाओं से तादात्म्य करता जाता है । यह तादात्म्य ही 'समाधि' की अवस्था है । काव्यानंद है । सविकल्प विशेषण इसलिए लगाया गया कि सहृदय को तादात्म्यजनित आनन्दोपलब्धि में अपनी सत्ता या स्थिति का भी पृथक् ज्ञान रहता ही है ।' निर्विकल्प समाधि में बाह्य जगत् ही नहीं अपितु अपने शरीर की स्मृति भी अवशिष्ट नहीं रहती, परन्तु काव्याध्ययन जनित समाधि में अपनी पृथक् मानसिक स्थिति की प्रतीति तो होती ही है साथ ही दूसरों की स्थिति का भी उसमें समावेश हो सकता है । इतना ही नहीं उत्कृष्ट समाधि उसे ही कहा जा सकता है जिसके अध्ययन से मन में अधिक से अधिक कल्पनाओं की जाग्रति होगी और अधिक से अधिक विषयों (भूमिकाओं) की मन को अनुभूति होगी ।[1]

श्री केळकर ने काव्यानंद की प्रक्रिया में सहृदय की महत्वाकांक्षा, कल्पनाशक्ति, शेष सृष्टि के प्रति आत्मीयता की भावना, और तादात्म्य आदि पर विशेष बल दिया है । इन्होंने इसे 'सविकल्प समाधि' की संज्ञा देकर प्राचीन संस्कृत आचार्यों की 'ब्रह्मास्वादसहोदर' की मान्यता से भिन्न रूप में चिन्तन का प्रयत्न किया है। क्योंकि आचार्य मम्मट ने तो 'रसानुभूति' में 'सविकल्प ज्ञान' अथवा 'निर्विकल्प ज्ञान' दोनों ही स्थितियों का प्रत्याख्यान किया है ।[2]

---

१. समग्र केळकर ग्रंथ, साहित्य खंड, पृ० ४३ ।
२. काव्य प्रकाश (हरिमंगल), पृ० ६२-६३, उ० ४, सू० ४३ ।

श्री न० चि० केळकर की मान्यता के गुण-दोषों का समालोचन श्री वा० म० जोशी, श्री दा० ना० आपटे, श्री रा० ग० हर्षे, डा० के० ना० वाटवे आदि अनेक समालोचकों ने किया है। इनकी मान्यताओं में विशेष आक्षेपयोग्य स्थल हैं—'समाधि' शब्द, 'एक ही समय संपूर्ण संसार के आकलन की जीवात्मा की महत्वाकांक्षा' तथा 'स्वप्रतीति पूर्वक तादात्म्य।' श्री० वा० म० जोशी ने लिखा है कि 'केळकर के सविकल्पत्व को मन में विकल्प रखे बिना मान्यता देता हूँ, परन्तु 'समाधि से आनंद होता है' इस कथन को 'जलसमाधि' देना चाहता हूँ।'[1] जीवात्मा की महत्वाकांक्षा का केवल सहृदय पर आरोप व्यर्थ है, क्योंकि साहित्य-इतर विधाओं, शास्त्र आदि के अध्ययन में भी प्रस्तुत हेतु दिया जा सकता है। स्वप्रतीतिपूर्वक तादात्म्य का तत्व भी एकांगी है, क्योंकि काव्यास्वाद के समय सहृदय को वस्तुगत एवं प्रसंगगत अनेक मनोवेगों की अनुभूति होती है।[2] इन सीमाओं के होते हुए भी प्रस्तुत सिद्धान्त की अपनी एक विशेषता है। इसमें काव्यानंद को एकांततः काव्य के वर्ण्य से अभेद या तादात्म्य की स्थिति में ही उत्पन्न नहीं माना गया है वरन् सहृदय की मनःस्थिति का भी इसमें मूल्यांकन किया गया है।

'स्वायत्ततादात्म्य'

काव्यगत पात्र तथा विषयों से तादात्म्य के मूल में कल्पना और भावना तत्वों का महत्व निरूपण कर श्री द० के० केळकर ने 'स्वायत्त तादात्म्य' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। 'काव्यनिर्माण के समय कवि का पूर्ण अधिकार कल्पना और भावनातत्वों पर रहता है, काव्यास्वाद के समय सहृदय कवि-निर्मित पात्रों से तादात्म्य प्राप्त करता है, इस तादात्म्य की अवस्था में वह इस तथ्य को नहीं भुलाता कि उसकी अनुभूति कल्पनाधिष्ठित है। इसीलिए सहृदय का तादात्म्य मर्यादित और स्वायत्त होता है.....सुशिक्षित व्यक्ति अपनी कल्पनाशक्ति और भावनोद्वेग पर पूर्ण नियन्त्रण रखते हैं। वे काव्याध्ययन या अभिनय-दर्शन में अपनी भावनाओं को इतना अधिक भड़कने नहीं देते कि अनुकूल संवेदना की मर्यादा का भी उल्लंघन हो जाय।[3]' फलतः श्री द० के० केळकर ने सहृदय की रसास्वाद कालीन अवस्था को स्वायत्त तादात्म्य की संज्ञा दी है।

व्यावहारिक जगत् की तीव्र सुख-दुःखात्मक अनुभूति और काव्यगत जगत् की अनुभूति में व्यावर्तक तत्व है—कल्पना। इसी कारण सहृदय को दुःखद प्रसंगों

---

१. विचार सौन्दर्य, पृ० २९ प्र० सं०।
२. रसविमर्श, (डा० वाटवे) पृ० १७८-१७९।
३. काव्यालोचन : पृ० १९५, तृ० संस्करण।

के वर्णन से लौकिक जगत् के सदृश दुःखानुभूति नहीं होती। खल पात्रों से तादात्म्य के विषय में भी श्री द० के० केळकर की स्पष्ट मान्यता है कि एक तो सहृदय के लिए काव्य में वर्णित सभी पात्रों से तादात्म्य की आवश्यकता नहीं है। दूसरी बात 'खल पात्रों से तादात्म्य न होने से कोई हानि नहीं होती, क्योंकि उनसे जो श्रेष्ठ पात्र हैं, उनके साथ सहृदय का तादात्म्य होता है और श्रेष्ठ पात्रों पर इन खल पात्रों से होने वाले परिणामों की ओर सहृदय का ध्यान रहता है। श्रेष्ठ पात्रों से तादात्म्य होने के कारण ही खल पात्रों के प्रति सहृदय में जो क्रोध, तिरस्कार, आदि की भावनाएँ जाग्रत होती हैं, वे रसोत्पत्ति के लिए परिपोषक होती हैं।' हास्य रस के आस्वाद में सहृदय हास्यास्पद पात्र की अपेक्षा कवि से तादात्म्य-प्राप्त करता है। संक्षेपतः रसास्वाद में तादात्म्य किस से प्राप्त किया जाय, यह एकांततः सहृदय के स्वाधीन होता है।[1] अतः श्री द० के० केळकर ने काव्यास्वाद की स्थिति को 'स्वायत्त तादात्म्य' के रूप में प्रतिपादित किया है।

'सविकल्प समाधि' के समान 'स्वायत्त तादात्म्य' की भी मराठी में पर्याप्त समीक्षा हुई है। प्रा० रा० श्री जोग, कृ० पां० कुळकर्णी, डा० वाटवे आदि ने इस सिद्धान्त के गुण-दोषों का विवेचन किया है।[2] प्रा० कृ० पां० कुळकर्णी ने 'स्वायत्त' और 'तादात्म्य' इन दोनों शब्दों को ही परस्पर विरोधी ठहरा कर इस सिद्धान्त को सदोष बताया है।[3] डा० वाळिंबे ने इस तादात्म्य सिद्धान्त को पाश्चात्य 'एम्पथी' (Empathy) नामक तादात्म्य-सिद्धान्त के समरूप बताकर श्री कुळकर्णी के आक्षेप को निराधार माना है। परन्तु इन्होंने द० के० केळकर प्रयुक्त 'स्वायत्त' विशेषण को निरर्थक ठहराया है। क्योंकि काव्य विषय से सहृदय का तादात्म्य कलात्मक होता है। व्यावहारिक जगत् के प्रक्षोभात्मक तादात्म्य से इस काव्य के तादात्म्य का स्वरूप मूलतः भिन्न है। काव्य का तादात्म्य कल्पनाधिष्ठित भावनात्मक होता है, अतः इसे स्वायत्त विशेषण लगाना अनुपयोगी है।'[4] वस्तुतः अनेक बार सहृदय काव्य-वर्णित भावनाओं से इतना समरस और तल्लीन हो जाता है कि उसे अपने पृथक् अस्तित्व या व्यक्तित्व का भान ही नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में काव्यानंद के लिए 'स्वायत्त' का प्रयोग उपादेय नहीं लगता। सामान्यतः

---

१. काव्यालोचन तृ० सं० पृ० १९६

२. जोग—सौन्दर्यशोध आणि आनन्दबोध, पृ० १८७, डा० वाटवे : रसविमर्श, १८२।

३. शारदाविहार पृ० १०७।

४. साहित्य मीमांसा, पृ० १४५।

इस सिद्धान्त से ऐसा प्रतीत होता है कि काव्य-वर्णित अनिष्ट या खल पात्रों से भी तादात्म्य की स्थिति का परिहार करने के लिए श्री द० के० केळकर 'स्वायत्त' विशेषण प्रयुक्त करना चाहते हैं।

'सहानुभूतिपूर्वकताटस्थ्य'

प्रा० द० के० केळकर के 'स्वायत्त तादात्म्य' सिद्धान्त की समालोचना करते हुए प्रा० रा० श्री जोग ने 'सहानुभूतिपूर्वक ताटस्थ्य' सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इनकी मान्यता में तादात्म्य सिद्धान्त के कारण कतिपय बाधाएँ आती हैं। इससे सुखात्मक भावों के समान दुःखात्मक भावों से भी तादात्म्य की स्वीकृति अनिवार्य हो जाती है। जब काव्यास्वाद को आनंदात्मक स्वीकार किया जाता है, तब तादात्म्यवादियों को दुःखद या प्रतिकूल प्रसंगों से भी तादात्म्य स्वीकार करना पड़ता है। परन्तु रसास्वाद को आनन्दात्मक सिद्ध करने के लिए तादात्म्यवादी या तो अलौकिकता का आश्रय लेते हैं अथवा 'तादात्म्य को मर्यादित कर उसे स्वायत्त विशेषण जोड़ते हैं।' जिससे सहृदय स्वेच्छा से सुखानुभव के लिए सुखद प्रसंग से तादात्म्य कर ले और दुःख की आशंका में तटस्थ बना रहे। अतः श्री जोग को तादात्म्य सिद्धान्त में संकुचित दृष्टिकोण की झलक मिलती है। तादात्म्य सिद्धान्त की न्यूनताओं का निरूपण करते हुए उन्होंने सहानुभूतिपूर्वक तटस्थता के सिद्धान्त का इस प्रकार निरूपण किया है: 'स्पृहणीय नायक-नायिकाओं से भिन्न अनेक पात्रों से सहृदय तादात्म्य होने की अपेक्षा तटस्थ होकर उनकी भावनाओं का आकलन करता है। क्योंकि व्यक्ति-भिन्नता और रुचि-भिन्नता के कारण सहृदय के लिए 'एकरुचित्व' तादात्म्य पाना बहुत कठिन है ।...पूर्णतटस्थता और तादात्म्य की अवस्था में पर्याप्त अन्तर है। तटस्थता की स्थिति में भी सामान्य व्यक्ति के लिए सहानुभूति के बल पर इतर व्यक्तियों की भावनाओं की अनुभूति संभव है।'[1]

काव्यास्वाद में सहृदय की पूर्वानुभूति का भी महत्त्व है, इस आधार पर उसमें इतर व्यक्तियों की भावनाओं की अनुभूति करने की क्षमता आती है, जो काव्यास्वाद के लिए नितांत अपेक्षित है। पूर्वानुभूत अनुभव के आधार पर अन्य व्यक्तियों की भावनाओं की कल्पना करने का सहृदयत्व रसिक में अपेक्षित है। इस स्थिति में काव्यास्वाद ग्रहण की उसमें योग्यता आ जाती है। फलतः उसके हृदय में नितांत नायक-नायिकाओं की ही भावना न सही तो भी तत्सदृश भावना

---

१. अभिनवकाव्यप्रकाश, पृ० १४२।

जाग्रत होती है, यही काव्यास्वाद की अवस्था है ।'[१]

प्रा० जोग के सहानुभूतिपूर्वक तटस्थता में भी कतिपय न्यूनताएँ हैं। 'जिन पात्रों से सहृदय की सहानुभूति नहीं होगी, उन पात्रों के चित्रण से आनन्दोपलब्धि किस प्रकार से होगी ?'[२] प्रा० कृ० पां० कुळकर्णी ने सहानुभूति और तटस्थता को 'स्वायत्त और तादात्म्य' के समान ही परस्पर विरोधी दर्शाया है। 'सहानुभूति का अर्थ दया, माया नहीं है, सहानुभूति का अर्थ है एक जैसा, सजातीय अनुभव। जब सजातीय अनुभव होगा तब तटस्थता की स्थिति कैसे संभव है ?'[३] पाश्चात्य लेखिका वर्नानली ने प्रेक्षकों की रसास्वाद की प्रक्रिया का विस्तृत विवेचन किया है। उसने प्रेक्षकों में निहित सहानुभव या सहानुभूतिAesthetic sympathy को रसास्वाद का मूल कारण प्रतिपादित किया है।[४] डा० वाळिंबे ने प्रा० जोग के 'सहानुभूतिपूर्वक तटस्थता' के सिद्धान्त को भी लगभग उसी के समरूप दर्शाया है। 'सहानुभव में स्वत्व या अपनत्व की प्रतीति बनी रहती है, तभी वह नाटक या काव्य की भावनाओं का आस्वाद लेता है।'[५] संक्षेपतः इस सिद्धान्त में सहृदय के काव्यास्वाद की अवस्था का संवादी पात्रों की भावनाओं के सदृश भावना-जागृति के आधार पर विवेचन किया गया है और तादात्म्य सिद्धान्त में निहित आत्यंतिक एकरूपता की सर्वत्र असंभावना के दोषपरिहार का प्रयत्न किया गया है। फिर भी असंवादी पात्रों से सहानुभूति के प्रश्न का समाधान इसमें नहीं मिलता।

कलानंद या काव्यानंद के स्वरूप-विश्लेषण में प्रा० जोग ने शरीरानंद, ज्ञाना-नंद तथा 'भावनानंद' का पृथक्-पृथक् विवेचन किया है। नीले आकाश और सुंदर गुलाब को देख कर तथा इनके यथावत् उतारे गये चित्र को देख कर जो नेत्र-सुख मिलता है, इसका प्रथम रूप तो प्रत्यक्षतः ऐन्द्रियानंद का है। संगीत से भी प्रथम कर्णेन्द्रिय को सुख मिलता है, इस प्रकार शरीरानंद का स्वरूप ज्ञानानंद तथा भावनानंद से स्पष्टतः भिन्न किया जा सकता है। ज्ञानानंद भी अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखता है। 'सत्य की प्रतीति से उत्पन्न समाधान, औचित्यदर्शनजन्य आनंद, कतिपय उच्च नैतिक तत्वों की प्रतीति से उत्पन्न मन की प्रसन्न वृत्ति, कलाकार के रचना-कौशल से उत्पन्न कौतुक, वक्रोक्तिपूर्ण लेख के अध्ययन से प्रतीयमान

---

१. अभिनवकाव्यप्रकाश तृ० सं० पृ० १४२-१४३।
२. रस विमर्श पृ० १८३।
३. शारदाविहार पृ० १०७।
४. साहित्य मीमांसा (डा० वाळिंबे) पृ० १३९।
५. वही, पृ० १३९।

चमत्कृति . . . आदि सब का कहीं न कहीं बौद्धिक आनंद में ही समावेश होगा, इसमें केवल शरीर संवेदना की स्वीकृति अपर्याप्त है।'[१]

शरीरानंद तथा ज्ञानानंद से भावनानंद का भी अपना विशिष्ट स्वरूप है। भावनानंद का सम्बन्ध विचार, संकल्प, स्मृति और संस्कारों के अधिष्ठानभूत मन से है। सौन्दर्य-दर्शन से मन के संस्कार पुनः उद्‌बुद्ध होते हैं, स्मृति जाग्रत होती है, विचारों को गति मिलती है और इन सब का परिणाम 'मस्तिष्कपिंड' से सम्बद्ध शिराओं के द्वारा शरीरस्थ इतर घटकों पर भी होता है। यह परिणाम कभी तो द्रुति या विगलितत्व रूप होता है, कभी ज्वलंत चैतन्य स्वरूप होता है, तो कभी केवल प्रसन्नता रूप होता है। सामान्यतः इन अवस्थाओं का स्वरूप अनुकूल संवेदनात्मक होता है, कभी-कभी संवेदनाएँ सर्वथा अनुकूल भी नहीं होती हैं, कभी-कभी वे प्रमुख रूप से प्रतिकूल ही होती हैं। ऐसी स्थिति में यह परिणाम विशुद्ध सुखात्मक स्वरूप का न होकर सुखदुःख मिश्रित परन्तु 'सह्य' स्वरूप होता है।[२]

इस प्रकार प्रा० जोग ने काव्यास्वाद से उत्पन्न 'भावनानंद' का स्वरूप सामान्यतः सुखदुख मिश्रित तथा 'सह्य' रूप प्रतिपादित किया है।

आत्मसादृश्य से परकाया प्रवेश : ('आत्मौपम्यपूर्वक' परकाया प्रवेश)

रसास्वाद या काव्यानंद की प्रक्रिया में 'आत्मौपम्य' शब्द का प्रयोग प्रथम श्री न० चि० केळकर ने अपने सिद्धान्त 'सविकल्प समाधि' के विवेचन में किया है। तादात्म्य और तटस्थता से भिन्न आत्मौपम्य शब्द का प्रयोग करके रसास्वाद या काव्यानंद की मीमांसा की गई है। रस-पूर्ण काव्य के अध्ययन में जो आनंद प्राप्ति होती है वह 'आत्मौपम्य बुद्धि' के कारण ही। हम अपनी भूमिका का त्याग न करते हुए मन से (स्वेच्छा से) दूसरों की भूमिका पर संक्रमण करते हैं और प्रतिभा से ही अनुभव ग्रहण करते हैं। अतः दुखद प्रसंगों में भी दुःखानुभूति होने की बजाय आनन्दानुभूति ही होती है। 'आत्मौपम्य बुद्धि' से 'परकाया प्रवेश' का यह सिद्धान्त श्री वा० म० जोशी का है।[२]

तादात्म्य में अभेद की स्थिति दिखाई देती है और आत्मौपम्य में सादृश्य की। 'स्वायत्त तादात्म्य' और 'आत्मौपम्यपूर्वक परकाया प्रवेश' में विशेष अंतर

---

१. सौन्दर्य शोध आणि आनंद बोध, पृ० १७३-१७४।

२. वही, पृ० १७६।

३. स० के० ग्रन्थ साहित्य खंड पृ० ४१।

४. दे० शारदा विहार, पृ० १०६।

नहीं दिखाई देता। दोनों ही सिद्धान्तों में सहृदय को महत्वपूर्ण वैशिष्ट्य प्रदान किया गया है।

प्रस्तुत सिद्धान्त की न्यूनताओं का भी समालोचन हुआ है। यह आवश्यक नहीं कि संपूर्ण काव्य में सहृदय के स्वानुकूल चित्रण ही उपलब्ध हों। 'आत्मौपम्य' या आत्मसादृश्य से नितांत प्रतिकूल प्रसंग, चरित्र तथा भावनाओं का निरूपण काव्य में उपलब्ध होता है। ऐसी स्थिति में परकाया प्रवेश कैसे संभव होगा? सहृदय का निजी ज्ञान और अनुभव सीमित हो सकता है। काव्याध्ययन तथा नाटक-दर्शन से उसके ज्ञान और अनुभव की वृद्धि हो सकती है। रसास्वाद में सर्वत्र आत्मौपम्य को ही एक मात्र कसौटी मानना कैसे संभव है? पूर्व अनुभूत या आत्म-विसदृश प्रसंगों में भी सहृदय रसास्वाद प्राप्त करता है।[1]

श्री न० चि० केळकर के 'सविकल्प समाधि-सिद्धान्त' की समालोचना करते हुए श्री वा० म० जोशी ने काव्यानंद के आठ कारणों का इस प्रकार से निरूपण किया है: १. सहज सुंदर अथवा कला निर्मित सुंदर वस्तुएँ बहुधा ऐन्द्रिय सुख प्रदान करती हैं। पुष्प, नदी, हरियाली आदि नयनानंददायक होते हैं। चित्र नेत्र सुखद होता है तो काव्य कर्ण मधुर।

२. सहज सौन्दर्यजन्य आनंद का अथवा काव्यकलाजन्य आनंद का दूसरा कारण है—निर्माता के साथ इस प्रकार की समरसता का होना। सहृदय को निर्माता की सामर्थ्य, बुद्धि, वैभव, कौशल, सहृदयत्व आदि की प्रतीति होती है इससे उसमें आश्चर्य, आदर आदि भावनाएँ उत्पन्न होती हैं और इनकी अलौकिक परिपुष्टि सी हो जाती है।

३. कई बार हमारा और कवि अथवा वक्ता का अनुभव एक-सा हो जाता है। हमें जिस वस्तु की प्रतीति थी और जिसे हम व्यक्त करना चाहते थे, उसी को यदि कवि या वक्ता ऐसे मधुर रस में व्यक्त कर देते हैं कि उस प्रकार से अभिव्यक्त करना हमारे लिए सहज संभाव्य नहीं है। ऐसी स्थिति में हमें उस सफल अभिव्यक्ति से आनंद मिलता है। कवि अथवा वक्ता से हम भी विचार और भावनाओं में समानधर्मा हैं, इस तथ्य की प्रतीति से आनंद मिलता है।

४. काव्याध्ययन से विचार-साहचर्य (Through Association of Ideas) के कारण अनेक प्रिय या सुंदर वस्तुओं की स्मृति जाग्रत होती है और प्रस्तुत स्मृति एक प्रकार का आनंद प्रदान करती है।

---

१. **सौन्दर्य शोध आणि आनंदबोध (प्रा० जोग) पृ० १९०।**

५. विदग्धोक्ति, व्यंग्योक्ति आदि को सुनते ही हम आश्चर्यान्वित हो जाते हैं और 'अपेक्षाभंग' के कारण हमें इससे आनंद मिलता है।

६. कई बार हास्य रस के आनंद में हम हास्यास्पद व्यक्ति जैसे नहीं हैं, हम उससे श्रेष्ठ हैं, इस प्रकार की प्रतीति से भी आनंद मिलता है।

७. रम्योदात्त (Sublime) दृश्यों को देखने से अथवा उनका वर्णन पढ़ने से हमें जो आनंद मिलता है, उसका कारण दार्शनिक कान्ट (Kant) की धारणा में है : प्रस्तुत रम्योदात्त दृश्य और प्रसंग कितने भी सामर्थ्य सूचक (शक्तिशाली) हों, और उनसे भय का उत्पन्न होना संभव हो तो भी आनंद ही मिलता है। इसका कारण यह है कि सृष्टि की प्रचण्ड शक्ति से हमारी नैतिक शक्ति प्रचण्ड-तर, प्रबलतर है, इस प्रकार की प्रतीति हमें वहाँ होती है और इस आत्माभिमान-पोषक और आत्मप्रत्ययवर्धक प्रतीति से आनंद होता है।

८. सामान्य व्यक्तियों को हर प्रकार की वस्तुओं, प्रत्येक प्रकार के दृश्यों तथा प्रसंगों में निहित विशिष्ट सत्य, सौन्दर्य, रम्यत्व अथवा उदात्तत्व की प्रतीति नहीं होती। प्रतिभावान् चित्रकार, कवि, लेखक आदि इसी की प्रतीति दूसरों को करा देते हैं। कवि, लेखक आदि महापुरुषों के संकटों में, वीर योद्धा की मृत्यु में, विधवा के विलाप में जो 'ध्येयवादित्व-जन्य रम्यत्व' निहित है, उसकी प्रतीति दूसरों को करा देते हैं, फलतः सहृदयों को आनंद उपलब्ध होता है।[1]

जहाँ सहृदय काव्यगत पात्रों की भावनाओं से तादात्म्य प्राप्त कर लेता है, वहाँ उसकी आनंदानुभूति का प्रश्न जटिल नहीं है, परंतु विसंवादी पात्रों से, जिनसे सहृदय का भावनैक्य संभव नहीं है, वहाँ तादात्म्य के अभाव में आनंद-प्राप्ति कैसे संभव है? इसका समाधान श्री दा० ना० आपटे ने प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है : 'यद्यपि प्रत्येक मनुष्य का स्वभाव एक सुनिश्चित प्रकार का होता है तो भी प्रसंग विशेष में उसे अन्य प्रकार का अनुभव होता है तथा उसमें विशिष्ट भावना जाग्रत होती है उस अनुभव तथा भावना को वह अभिव्यक्ति देना चाहता है। इस अनुभवाभिव्यक्ति की उसकी तीव्र इच्छा साहित्य में पूर्ण होती है, फलतः उसे आनंद मिलता है।'[2]

वस्तुतः यह मत भी काव्यानंद प्राप्ति के पूर्वोक्त विविध कारणों की भाँति ही एक कारण प्रस्तुत करता है। सहृदय स्वतः अननुभूत भावना की भी अभि-

---

१. विचार सौन्दर्य पृ० ३५-३६।
२. साहित्य प्रकाश, पृ० १८७-१८८।

व्यक्ति साहित्य में पाता है। सर्वत्र अनुभूत भावना की ही अभिव्यक्ति साहित्य में हो, यह अनिवार्य नहीं है।

प्रत्यभिज्ञा जागृति :

रसास्वाद या काव्यानन्द के पूर्वोक्त 'सविकल्प समाधि', 'स्वायत्ततादात्म्य', 'सहानुभूतिपूर्वक तटस्थता' एवं 'आत्मौपम्यपूर्वक परकाया प्रवेश' इन चारों सिद्धान्तों का प्रत्याख्यान कर श्री कृ० पां० कुळकर्णी ने 'शारदोपासक सम्मेलन' के पाँचवें अधिवेशन (१९३६) में अपने अभिनव सिद्धान्त 'प्रत्यभिज्ञा जागृति' की प्रतिष्ठापना की। मनुष्य अपने प्रत्यक्ष व्यावहारिक जीवन में विभिन्न अनुभूतियों का संचय अपने मस्तिष्क में करता जाता है। इन पूर्वसंचित अनुभूतियों की जागृति काव्य-वर्णित विभिन्न प्रसंगों एवं पात्रों के कारण होती है, फलतः सहृदय को आनंदानुभूति होती है। इन्हीं के शब्दों में—'हम अपने जीवन में स्वतः जितने अनुभव प्राप्त करते हैं, अथवा दूसरों के अनुभवों को देखते हैं, जिन (मनो) विकारों के हम वशीभूत अथवा दूसरे व्यक्तियों को उन विकारों से प्रभावित देखते हैं, उन अनुभवों का, उन 'संवित्तियों' का संचय हम अपने मस्तिष्क में करते जाते हैं। इस प्रकार विभिन्न अनुभवों के या संवित्तियों (अनुभूत्यात्मक ज्ञान) के केन्द्र या ग्रन्थियाँ हमारे मस्तिष्क में बनती रहती हैं। जब कोई कलाकार अपनी प्रतिभा के बल पर अपनी कृति में विभिन्न पात्रों एवं प्रसंगों से नाना प्रकार के अनुभव, अनुभाव, भावना और विकारों की अभिव्यक्ति करता है, तब उनके दर्शन अथवा अध्ययन से हमारे मस्तिष्क में स्थित तज्जातीय 'केन्द्र' अथवा ग्रन्थियों में जागृति उत्पन्न होती है और इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा जागृति से कला-आनंद अथवा काव्यानंद की अनुभूति होती है। इस स्थिति में स्वत्व और परत्व दोनों की प्रतीति रहती है। हम अपनी काया में ही स्थित रहते हैं। जिस प्रकार की मनुष्य की 'संस्कृति' (संस्कारित भावना ?) होगी, उसी प्रकार उसके अनुभूति-केन्द्र की उच्चता या निकृष्टता होगी।'[1]

प्रा० जोग ने श्री कृ० पां० कुळकर्णी के 'प्रत्यभिज्ञा जागृति' सिद्धान्त पर अनेक आक्षेप किये हैं। जागृति भावनाओं की होती है, प्रत्यभिज्ञा की जागृति नहीं होती। प्रत्यभिज्ञा तो भावना जागृति का कारण है। निजी अनुभवों की सहृदय में जागृति मानने में आपत्ति नहीं होगी, परन्तु दूसरों के अनुभवों की अथवा दूसरे जिन भावों के वशीभूत हुए हैं, उनकी जागृति सहृदय में किस प्रकार संभव है ? 'अनुभव' और 'संवित्ति' का एक साथ प्रयोग भी सदोष है। अनुभव का

१. शारदा विहार पृ० ११०-१११।

सम्बन्ध भावना से और संवित्ति का निकट सम्बन्ध ज्ञान और बुद्धि से है। शास्त्रीय साहित्य में 'संवित्ति' की पुनः स्मृति (प्रत्यभिज्ञा ?) अनेक बार होती है परन्तु इसे काव्यानंद नहीं कहा जा सकता। तादात्म्य का प्रत्याख्यान करते हुए भी श्री कुळकर्णी ने प्रकारान्तर से प्रत्यभिज्ञा के लिए पात्रों तथा वर्ण्यविषय से तादात्म्य को स्वीकृति दी है।[1]

'पुनः प्रत्यय' और 'अतृप्त इच्छा की पूर्ति' :

प्रत्यभिज्ञा से मिलता-जुलता एक और सिद्धान्त मराठी में 'पुनःप्रत्यय' के नाम से प्रचलित है। प्रसिद्ध उपन्यासकार श्री ना० सी० फडके ने रसास्वाद या काव्यानंद की मीमांसा में इस सिद्धान्त का विस्तृत प्रतिपादन किया है। उनके प्रतिपादन का प्रमुख अंश यह है: 'जिस प्रकार मनुष्य में विवेक है, सौन्दर्य-लिप्सा है, निर्माण की उमंग है, उसी प्रकार जिन सुख दुःखों का वह भागी बनता है, उनका पुनः एक बार अनुभव करने की उसमें विलक्षण इच्छा भी है। जिन स्थानों को वह एक बार देख लेता है, उनके पुनर्दर्शन की उसमें आकांक्षा होती है, जिन व्यक्तियों को वह एक बार मिलता है, उनसे पुनर्मिलन की उसकी इच्छा होती है। जो घटना एक बार घट चुकी है, उसको दुबारा घटते हुए देखना चाहता है। इस प्रकार की अभीष्ट पुनरावृत्ति प्रत्यक्ष व्यक्ति-जीवन में बहुत कम होती है। कहा जाता है कि इतिहास अपने को दुहराता है, परन्तु यह बहुत सीमित अर्थ में ही सत्य है... व्यक्ति-जीवन में घटनाओं की पुनरावृत्ति बहुत कम होती है परन्तु साहित्य (ललित वाङ्मय) में इनकी पुनरावृत्ति का अनुभव हमें प्रत्यक्षतः मिलता है। इसकी प्राप्ति से हमें अवर्णनीय आनन्द की उपलब्धि होती है।' 'पुनः प्रत्यय' के सिद्धान्त का महत्वमापन करते हुए इन्होंने चिरस्थायी साहित्य के रसास्वादन में इसकी स्थिति का भी निरूपण किया है। 'जितनी ललित कलाएँ शाश्वत और अमर बन गई हैं, इसका कारण उनमें किसी राष्ट्र के समक्ष किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों में उपस्थित समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने का नहीं है, अपितु सामान्य और शाश्वत मानवी मनोविकारों की विशिष्ट तरंगों का उनमें चित्रण हुआ है, इनके अध्ययन या श्रवण से किसी भी सहृदय को स्वानुभव के पुनः प्रत्यय का आनन्द कभी भी प्राप्त हो सकता है।'[2]

पूर्वोक्त 'प्रत्यभिज्ञा' और 'पुनःप्रत्यय' के सिद्धान्त में परस्पर पर्याप्त साम्य-वैषम्य है। मूलतः 'प्रत्यय' और 'अभिज्ञा' शब्द में ही सूक्ष्म अंतर है। प्रत्यय में

---

१. सौन्दर्य शोध आणि आनंद बोध (प्रा० जोग) पृ० १०१-१०३।
२. साहित्य आणि संसार पृ० १०-११।

अनुभव की प्रधानता है तो अभिज्ञा में ज्ञान की। ज्ञान और अनुभव को एक दूसरे से पृथक् करना कठिन है। प्रत्यभिज्ञा सिद्धान्त में 'अनुभव' और 'संविति' दोनों की पुनरावृत्ति बताई गई है तो पुनः प्रत्यय में विशेषतः अनुभूति की ही। प्रत्यभिज्ञा में सादृश्य अनुभूति और ज्ञान से उत्पन्न आनंदानुभूति पर विशेष बल है तो पुनः प्रत्यय में पूर्वानुभूत अनुभूति के पुनरनुभव पर। एक में ज्ञान की प्रधानता है तो दूसरे में अनुभूति की। एक में बौद्धिक अंश या चिन्तन का प्राधान्य है तो दूसरे में चर्वणा या आस्वाद का। एक की ललित-इतर साहित्य-शास्त्र, दर्शन आदि में व्याप्ति संभाव्य है तो दूसरा विशेषतः ललित साहित्य पर केन्द्रित है। इतना सूक्ष्म अंतर होने पर भी दोनों सिद्धान्तों में विशेष साम्य है—पुनरावृत्ति की प्रक्रिया का। पूर्वानुभूत अनुभव तथा ज्ञान के पुनर्ज्ञान एवं अनुभूति के पुनः प्रत्यय पर दोनों का समान आग्रह है। फलतः प्रत्यभिज्ञा के सदृश ही पुनःप्रत्यय सिद्धान्त की अनेक न्यूनताओं का प्रा० जोग ने विवेचन किया है। व्यावहारिक जीवन में सुख-दुःख की प्रत्यक्षतः अनुभूति होती है। काव्यानंद में सुख के समान दुःख के भी पुनः प्रत्यय की आकांक्षा पाठकों में सिद्ध करना एकांततः सत्य नहीं है। प्रिया-विरह, अथवा पुत्र-शोक, द्रव्यहानि अथवा अपयश इत्यादि का पुनः-प्रत्यय, मानसिक प्रक्रिया का ही क्यों न हो, इसकी इच्छा रखने वाले व्यक्ति बहुत ही न्यून होंगे अथवा अपवादभूत ही होंगे।[1]

दुःखद अनुभवों के पुनः प्रत्यय की आपत्ति का समाधान पाश्चात्यों ने 'कँथार्सिस' या विरेचन सिद्धान्त के रूप में किया है। डा० वाळिंबे ने श्री फडके के 'पुनः प्रत्यय' सिद्धान्त की मीमांसा में उपर्युक्त कॅथार्सिस सिद्धान्त का निर्देश कर इस आक्षेप के निराकरण का प्रयत्न किया है।[2]

पुनः प्रत्यय सिद्धान्त की दूसरी न्यूनता स्वानुभूत अनुभव के पुनः प्रत्यय पर ही बल देना है। व्यक्ति-जीवन की अनुभूतियाँ सीमित होती हैं। उसे साहित्याध्ययन से नई-नई अनुभूतियों का भी प्रत्यय होता है। जिस प्रकार सौन्दर्य में नित्य नवीनता का महत्व है, उसी प्रकार अनुभूति के क्षेत्र में भी है। सहृदय नित्य नई-नई कहानियाँ, नवीन उपन्यास-नाटकों को पढ़कर अनुभूत भावों का भी आनन्द लेता है।[3]

पुनः प्रत्यय के सिद्धान्त को डा० रा० शं० वाळिंबे ने कुछ विस्तार प्रदान

---

१. सौन्दर्य शोध आणि आनंद बोध, पृ० २००।
२. साहित्य मीमांसा, पृ० १४२।
३. सौन्दर्य शोध आणि आनंद बोध, पृ० २००।

करने का भी प्रयत्न किया है। व्यावहारिक जीवन में व्यक्ति अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति में कई बार असमर्थ होता है, परन्तु साहित्य में उसकी मूक, अनुक्त भावनाओं को कवि जब पात्रों के माध्यम से शब्द रूप प्रदान कर अभिव्यक्ति देता है, तब उसे विशेष प्रकार का आनन्द मिलता है। इसे भी पुनः प्रत्यय का ही एक प्रकार कहा जा सकता है।[१]

श्री फडके ने 'अतृप्त इच्छा की परितृप्ति' को भी काव्यानंद या रसास्वाद के मूल कारणों में महत्वपूर्ण ठहराया है।[२] सांसारिक जीवन में व्यक्ति की अनेक इच्छाएँ अपरितृप्त रहती हैं, काव्य में उनका वर्णन पढ़कर सहृदयों को उन इच्छाओं की परितृप्ति का आनन्द मिलता है।

यह सिद्धान्त भी पूर्वोक्त अनेक सिद्धान्तों की भाँति ही अपूर्ण है, क्योंकि वस्तुतः साहित्य में केवल अतृप्त इच्छाओं का ही चित्रण नहीं होता, अपितु मनुष्य की परितृप्त इच्छाओं का भी उसमें चित्रण मिलता है। तृप्त इच्छा का परितोष, ध्येय-सिद्धि जनित विजयानंद आदि भावनाओं का भी वर्णन साहित्य में मिलता है।[३] अतः काव्यानंद की प्राप्ति का एकमेव कारण अतृप्त इच्छा की तृप्ति को नहीं माना जा सकता।

जिज्ञासापूर्ति या कुतूहल पूर्ति :

'प्रत्यभिज्ञा' और 'पुनः प्रत्यय' में पूर्वानुभूत अनुभव तथा ज्ञान के पुनर्ज्ञान या पुनः प्रत्यय पर विशेष बल दिया गया है परन्तु जिज्ञासापूर्ति के सिद्धान्त में नवीन ज्ञान, नवीन अनुभव जनित जिज्ञासा पूर्ति या कुतूहल पूर्ति को रसास्वाद या काव्यानंद का मूल कारण माना गया है। डा० माधवराव पटवर्धन ने श्री द० के० केळकर-निरूति स्वायत्त तादात्म्य की न्यूनताओं का विवेचन किया है और काव्यानंद के मूल कारणों में 'नवीन मार्मिक ज्ञानोपलब्धि' या 'कुतूहलपूर्ति' को महत्वपूर्ण ठहराया है। इन्होंने काव्यानंद में सहानुभूति की स्वल्प किन्तु जिज्ञासा पूर्ण तटस्थता की अधिक आवश्यकता पर बल दिया है। इनके मत में तादात्म्य और सहानुभूति के अभाव में भी जिज्ञासापूर्ति का सिद्धान्त काव्यानंद या काव्यास्वाद का मूल कारण है : 'मनुष्य मात्र में नये नये व्यापक अनुभव प्राप्त करने की जन्मजात दुर्दम्य 'वासना' होती है। इसकी तृप्ति जब साहित्य के माध्यम से होती है, तब उसे आनन्दोपलब्धि होती है। ऐसी स्थिति में तादात्म्य और

१. साहित्य मीमांसा पृ० १४२।
२. रस विमर्श, पृ० १८४।
३. रसविमर्श, पृ० १८४।

सहानुभूति के अभाव में भी सहृदय का मन एकाग्र हो जाता है। नित्य नवीन प्रसंग, नवीन विचारधारा, विविध व्यक्तियों के नानाप्रकार के स्वभावों की क्रिया प्रतिक्रियाओं के विषय में मनुष्य में दुर्दम्य कौतूहल होता है।'[1] प्रस्तुत कुतूहल पूर्ति ही काव्यानंद का महत्वपूर्ण कारण है।

डा॰ माधवराव पटवर्धन के प्रस्तुत सिद्धान्त में भी कतिपय दोष हैं। यद्यपि इस सिद्धान्त से 'प्रत्यभिज्ञा' और 'पुनःप्रत्यय' की अव्यापकता का परिहार हो जाता है, क्योंकि पुनः प्रत्यय के स्थान पर नवीन प्रत्यय और प्रत्यभिज्ञा के स्थान पर नई-नई प्रत्यभिज्ञा को महत्वपूर्ण ठहराया गया है, तथापि जिज्ञासा पूर्ति का सिद्धान्त अतिव्याप्ति के कारण सदोष है। 'जिज्ञासा पूर्ति' या 'कुतूहल पूर्ति' एकान्ततः काव्याध्ययन से ही नहीं अपितु ज्ञान-विज्ञान की अनेक शाखा-प्रशाखाओं के अध्ययन से भी होती है। यदि कुतूहल पूर्ति का सम्बन्ध मानव जीवन और स्वभाव से ही स्थापित किया जाय तो भी समाजशास्त्र के अध्ययन से मानव जीवन तथा स्वभाव सम्बन्धी जिज्ञासा और कुतूहल की पूर्ति होती है। परन्तु इसकी समता काव्यास्वाद या काव्यानंद से नहीं की जा सकती। अतः प्रा॰ जोग ने प्रस्तुत-सिद्धान्त की न्यूनता का उद्घाटन इस प्रकार किया है--'मानवों के पारस्परिक सम्बन्ध का चित्रण किये बिना, उनकी भावनाओं की रहस्यमयी गुत्थियों का चित्र उतारे बिना एवं सहृदय को भावनात्मक आस्वाद की प्राप्ति के बिना केवल कुतूहल पूर्ति का महत्व नहीं है।.... फलतः काव्यानंद में सहृदय को प्राप्त भावनानुभूति को ही महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है, कुतूहलपूर्ति को नहीं। भावानुभूति के बिना जो कुतूहलपूर्ति होगी वह इतिहास-वर्णित मनुष्यों के जीवन के अध्ययन-जनित कुतूहल पूर्ति के समान होगी, इसमें और काव्याध्ययन जनित आनंद में अंतर नहीं होगा।'[2] कुतूहल पूर्ति आवश्यक है, परन्तु इससे भावानुभूति की निष्पत्ति अनिवार्य है। भावनानुभूति में शाश्वत आनंद प्रदान करने की सामर्थ्य है तो कुतूहल पूर्ति में अचिरस्थायी और अशाश्वत की। शाकुन्तल आदि उत्कृष्ट कलाकृतियों को बार-बार पढ़ने की इच्छा उसमें निहित भावना जागृति की सामर्थ्य के कारण

---

१. लोकशिक्षण, अप्रैल १९३८ (अभिनव काव्य प्रकाश : जोग), पृ॰ १४७। प्रा॰ जोग ने इस सिद्धान्त की समता ल्यूकस के प्रस्तुत मत से दर्शाई है--'Curiosity the first intellectual emotion of the child, the last of the old man-that is the ultimate base of epic and novel and tragedy alike' एफ॰ एल॰ ल्यूकस Tragedy पृ॰ ५२।

२. अभिनव काव्य प्रकाश (जोग) पृ॰ १४८ तृ॰ संस्करण।

होती है, कुतूहल पूर्ति की सामर्थ्य तो एक बार पढ़ते ही समाप्त हो जाती है।[1]

भावना-प्रवाह का आनन्द :

श्री नी० र० वर्‌हाडपाँडे ने काव्यास्वाद जन्य आनन्द को 'निर्गुण' 'निराकार' या अलौकिक मानने की अपेक्षा सहृदय में काव्य-उद्दीप्त भावनाओं की अनुभूति का ही आनन्द माना है। आनन्द मन के अनिरुद्ध व्यापार से निष्पन्न होता है। इच्छा करना, विचार करना और भावनानुभव करना ये तीन मन के व्यापार हैं। प्रस्तुत तीनों व्यापार जब अनिर्बाध रूप से चलते हैं, तब कलाकृति से आनंद मिलता है। करुणा, भय आदि भी इतर व्यापारों की भाँति मन के स्वाभाविक व्यापार हैं और इन व्यापारों के स्वाभाविक प्रवाह में आनंद ही मिलता है, दुःखानुभूति नहीं होती।'[2]

'ललितानंद' या 'एस्थेटिक जॉय'

'जिज्ञासा पूर्ति' के सिद्धान्त से पर्याप्त मिलती-जुलती काव्यानंद की कल्पना य० र० आगाशे ने 'ललितानंद' के रूप में प्रतिपादित की है। इनकी मान्यता का सारांश है—'मानव में जिज्ञासा की प्रवृत्ति जन्मजात होती है। वह एक प्रकार की अखण्ड बुभुक्षा (Inner Urge) लिए रहती है। इसी से अन्तरात्मा की अभिव्यक्ति की भी प्रतीति होती है। संपूर्ण मानव जीवन विद्रूप जीवन तत्व (अहं) का ही आविष्कार है। मानव का अहं-विशिष्ट जीवन निज अस्तित्व की अभिव्यक्ति के लिए, पूर्णविकास के लिए तथा आत्मगत ज्ञान शक्तियों के उद्‌बोधनार्थ सतत प्रयत्नशील रहता है। उसकी ज्ञान-पिपासा प्रत्यक्ष अनुभूति के समान कल्पना द्वारा भी शांत होती है। कल्पना की सहायता से ज्ञान-पिपासा का शमन ललित कला के अन्तर्गत आता है। इसीलिए काव्यास्वाद या काव्याध्ययन जनित आनन्द को 'ललितानंद' (Aestheticjoy) कहा जाता है।'[3]

वस्तुतः जिज्ञासा पूर्ति या कुतूहलपूर्ति-जनित आनंद और कल्पनाप्रेरित ज्ञान-पिपासा के शमन से जनित आनंद में विशेष अंतर नहीं है।[4]

---

१. अभिनव काव्य प्रकाश, पृ० १४८।
२. कलेंचें तत्वज्ञान (लेख) : सह्याद्रि (मराठी मासिक) खंड २५, अंक ३, पृ० १७३-१८०।
३. लोक शिक्षण १९३८, रसविमर्श पृ० १८६।
४. रस विमर्श, पृ० १८६।

आहार्य ज्ञानोपपत्ति :

डा० वाटवे ने रसास्वाद कालीन सहृदय की मनोवस्था का विस्तृत विवेचन कर 'आहार्य ज्ञानोपपत्ति' की प्रतिष्ठापना की है । काव्य में अधिकांश वर्णन काल्पनिक होता है । उपमा, उत्प्रेक्षा, विरोध, विषम आदि अलंकारों की सहायता से अनेक काल्पनिक विचारों, घटनाओं एवं प्रसंगों का वर्णन किया जाता है । जब सहृदय कवि-निरूपित काल्पनिक वर्णन का, जो वास्तविक जगत् के प्रत्यक्ष सत्य से नितांत भिन्न होता है, अध्ययन करने लगता है, तब उसके मन की एक विशिष्ट अवस्था होती है, यही विशिष्टावस्था काव्यानंद का कारण बनती है । वह काव्याध्ययन में तल्लीन होकर समानधर्मी पात्रों से तात्कालिक तादात्म्य प्राप्त करता है । इसमें वह अपनी स्थिति (भूमिका) का ज्ञान रखते हुए कल्पित परकीय भूमिकाओं से तन्मय होता है और काव्य की भाषा, रचना, तथा प्रसंग में निहित 'असंभवनीयता' के 'वैरस्योत्पादक' अंश को निकाल देता है, जिससे उसे आनंद पाना संभव हो जाता है । इसी को कालरिज ने 'suspension of Disbelief' कहा है ।[1]

सहृदय काव्याध्ययन अथवा नाटक-दर्शन के लिए प्रस्तुत होते समय इस प्रकार की मनोवस्था 'बुद्धिपुरःस्सर' बना लेते हैं, इसी को 'आहार्य ज्ञानोपपत्ति' कहा जाता है ।'[2]

डा० वाटवे की 'आहार्य ज्ञानोपपत्ति' काव्यरसास्वाद का पूर्ण सिद्धान्त नहीं है । उन्होंने स्वतः इसे काव्यानंद की प्राप्ति का आंशिक सिद्धान्त स्वीकार किया है ।[3] यह सिद्धान्त काव्यस्थ नितांत काल्पनिक प्रसंगों में भी सहृदय की तन्मयता के कारण पर प्रकाश डालता है ।

भावनात्मक तादात्म्य :

डा० वाळिंबे की मान्यता में सहृदय का भावनात्मक तादात्म्य ही रसास्वाद है । इन्होंने सहृदय की रसास्वाद की प्रक्रिया का स्पष्टीकरण करने के लिए 'नट' के रसास्वाद का प्रथम स्पष्टीकरण किया है और इसी आधार पर प्रेक्षक के भी तादात्म्य या रसास्वाद को 'भावनात्मक तादात्म्य' के रूप में प्रतिपादित किया है । 'जिस प्रकार कला-निपुण नट अपनी भूमिका से तादात्म्य प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार प्रेक्षक को भी नट से अर्थात् नट द्वारा आविष्कृत भावनाओं से

---

१. रस विमर्श, पृ० १८७-१८८ ।
२. वही, पृ० १८८ ।
३. वही, पृ० १८९ ।

तादात्म्य पाना आवश्यक होता है । यदि सहृदय नट की भावनाओं से तादात्म्य अनुभव नहीं करता तो उसे रंगमंच पर उपस्थित घटनाओं का आंतरिक मर्म ही समझ में नहीं आता ।... नट का अपनी भूमिका से जिस प्रकार कल्पना-निर्मित जगत् का भावनात्मक तादात्म्य होता है, उसी प्रकार प्रेक्षकों का भी तादात्म्य होता है ।'[1]

इन्होंने श्री केळकर के 'स्वायत्ततादात्म्य' के सिद्धान्त में 'स्वायत्त' विशेषण निरर्थक ठहराया है, क्योंकि कला जगत् की अनुभूति सदैव कल्पनाधिष्ठित होती है और व्यावहारिक जगत् की अनुभूति से वह स्वरूपतः भिन्न होती है ।[2] नट के समान ही प्रेक्षक सहृदय में नाट्य जगत् या काव्य जगत् की कल्पनाधिष्ठितता की स्मृति अनिवार्य है । जो प्रेक्षक इस तथ्य को भुला देता है वह भावनात्मक तादात्म्य पाने की अपेक्षा वास्तविक व्यावहारिक जगत् की भावनोद्दीप्त शारीरिक प्रतिक्रियाओं पर उतर आता है ।[3]

इस प्रकार डा० वाळिंबे की मान्यता में सहृदय की कल्पनाधिष्ठित भावनात्मक तादात्म्य की स्थिति ही काव्य-रसास्वाद की स्थिति है । खल पात्रों से सहृदय के तादात्म्य की समस्या का समाधान भी इन्होंनेअपने दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है। जिस प्रकारश्री द०के०केळकर ने काव्य में वर्णित सभी पात्रों से सहृदय के तादात्म्य को अनावश्यक माना है, उसी प्रकार इन्होंने भी काव्यनिरूपित सभी घटनाओं, प्रसंगों एवं पात्रों से तादात्म्य को नितांत अनिवार्य नहीं माना है । हमारी चित्त वृत्तियों को तन्मय करने तथा उद्वेलित करने की सामर्थ्य साहित्य में वर्णित जिन

---

१. साहित्य मीमांसा पृ० १४४ ।
२. वही, पृ० १४६ ।
३. डा० वाळिंबे ने हेनरी बीअर्स निरूपित घटना का उल्लेख किया है, जो इस विषय का उपयुक्त स्पष्टीकरण कर देती है—'अमेरिका में बाल्टिमोर नामक गाँव में अगस्त १८२२ में शेक्सपियर के नाटक 'आथेलो' का रंगमंच पर प्रदर्शन हो रहा था । नाटक के पाँचवें अंक में नायक 'आथेलो' अपनी पत्नी 'देस्दिमोना' का गला घोंट कर हत्या करने के लिए ज्यों ही हाथ बढ़ाता है त्यों ही प्रेक्षकों में से एक सैनिक खड़े होकर पुकार उठा—मेरे देखते हुए एक नीच नीग्रो गौरांग स्त्री का वध करे यह मेरे लिए असह्य है' इतना कहते ही उसने 'आथेलो' पर बंदूक चला दी और गोली से उसका हाथ घायल कर दिया । A History of English Romanticism (Henry Bears) P. 212, Vol. II

व्यक्तियों में होती है, उन्हीं से हम समरस होते हैं। स्मृतिरूप में अवशिष्ट हमारी अनुभूतियों का आविष्कार साहित्य की जिन घटनाओं के द्वारा होता है, उन्हीं में हमें आत्मीयता अनुभव होती है, और उन्हीं से हमारा भावनात्मक तादात्म्य होता है। इसी प्रकार हमारी उत्कट भावनाओं का आविष्कार जिस किसी भी रूप में और जिस किसी भी व्यक्ति के द्वारा हो, चाहे वह व्यक्ति पुरुष हो अथवा स्त्री हो, चाहे स्वदेशी हो अथवा नितांत विदेशी हो, चाहे वर्तमान कालिक हो चाहे भूतकालिक हो, हम उससे तत्क्षण समरस हो जाते हैं।'[१]

इस प्रकार डा० वाळिंबे की मान्यता में सहृदय का तादात्म्य भावनोत्कट प्रसंग में ही संभव है और इस भावनोत्कट तादात्म्य या रसास्वाद में नट की भाँति कल्पना जगत् की सूक्ष्मस्मृति सहृदय के लिए भी अपेक्षित है, अन्यथा सहृदय का तादात्म्य वास्तविक जगत् का स्थूल प्रतिक्रियात्मक तादात्म्य बन जाएगा।

इस प्रकार मराठी के समीक्षकों ने रसास्वाद या काव्यास्वाद की प्रक्रिया और स्वरूप के प्रतिपादन में विभिन्न दृष्टियों से चिन्तन किया है। अधिकांश समीक्षकों की दृष्टि संस्कृत काव्यशास्त्र में प्रतिपादित अखण्ड, सत्वोद्रेकात्मक तथा आनंदमय रस-स्वरूप पर केन्द्रित नहीं रही है, परिणामतः यहाँ रसास्वाद की मीमांसा काव्यगत भावास्वाद के स्तर पर की गई है। इसी कारण रसास्वाद तथा रस-निष्पत्ति के मूल में संस्कृत आचार्यों द्वारा प्रतिपादित साधारणीकरण व्यापार का मराठी में विशेष विवेचन नहीं किया गया है, भावनात्मक तादात्म्य के आधार पर ही काव्यास्वाद की प्रक्रिया और काव्यानंद के स्वरूप की मीमांसा विस्तार से की गई है।

हिन्दी तथा मराठी के समीक्षकों के अभिमतों में पर्याप्त साम्य-वैषम्य है। आधुनिक काव्यशास्त्र में रसास्वाद की प्रक्रिया और उसके स्वरूप के विषय में अनेक महत्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होते हैं, उनका आरम्भ में निरूपण किया जा चुका है। उन सभी प्रश्नों का समाधान इन समीक्षकों की विविध मान्यताओं तथा उनके अभिमतों के आधार पर प्राप्त किया जा सकता है। संक्षेप में रसास्वाद या काव्यास्वाद की प्रक्रिया और स्वरूप से सम्बद्ध पूर्वोक्त प्रश्नों का समाधान हिन्दी-मराठी के समीक्षकों की धारणाओं के अध्ययन के आधार पर इस प्रकार उपलब्ध होता है।

---

१. साहित्य मीमांसा, पृ० १४७।

तुलनात्मक सारांश :

प्रथम प्रश्न था—क्या काव्यास्वाद में सहृदय आस्वादित सभी भावनाओं का स्वरूप आनन्दमय ही होता है ?

हिन्दी तथा मराठी के अधिकांश विवेचकों की धारणाओं में सहृदय का काव्यास्वाद आनन्दमय ही होता है। काव्य से सहृदय-आस्वादित सभी प्रकार के सुख-दु:खात्मक भावों का स्वरूप सुखात्मक या दु:खात्मक नहीं रहता, वरन् आनन्द स्वरूप बन जाता है। हिन्दी में पं० केशवप्रसाद मिश्र, डा० श्यामसुन्दर दास, डा० गुलाब राय, डा० नगेन्द्र, श्री रामदहिन मिश्र आदि तथा मराठी में श्री न० चि० केळकर, श्री वा० म० जोशी, श्री कृ० पां० कुळकर्णी, श्री नी० र० वऱ्हाड पांडे, श्री दा० ना० आपटे, डा० के० ना० वाटवे, श्री य० र० आगाशे आदि लगभग इसी प्रकार की धारणा के समर्थक हैं। इन विवेचकों ने सहृदय आस्वादित भावनाओं की एकांत आनन्दात्मकता के समर्थन में कहीं-कहीं परंपरा-भिन्न दृष्टि से तो कहीं-कहीं परंपरा के ही पुनराख्यान की दृष्टि से चिन्तन किया है, फिर भी संस्कृत के आनन्दवादी रस-स्वरूप से ही अधिकांश विवेचक प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में प्रभावित हैं।

इसके विपरीत दोनों ही भाषाओं के कतिपय विवेचकों ने सहृदय के काव्यास्वाद को काव्य-वर्णित सुखदु:खात्मक भावानुरूप ही भावात्मक सिद्ध किया है। हिन्दी में आ० शुक्ल ने तथा मराठी में श्री रा० श्री जोग ने काव्यास्वादक सहृदय की सुख दु:खात्मक अनुभूति का स्पष्टत: समर्थन किया है। आ० शुक्ल सहृदय की मुक्तावस्था के कारण दु:खानुभूति को सह्य मानते हैं[1] तो प्रा० जोग सहानुभूति के कारण।[2]

श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु[3] तथा श्री द० के० केळकर[4] ने काव्य-वर्णित सभी पात्रों से सहृदय के तादात्म्य को स्वीकार नहीं किया है, फलत: सहृदय के तादात्म्य के अभाव में आनन्द-इतर भावानुभूति का भी इन दोनों ने समर्थन किया है।

(२) काव्य-वर्णित पात्रों तथा भावनाओं से सहृदय की तन्मयता या समरसता का क्या रहस्य है ?

---

१. दे० इसी रसास्वादप्रकरण में।

२. वही, पृ० २०४।

३. वही, (हिन्दी में)

४. वही, पृ० २०२।

हिन्दी में पं० केशवप्रसाद मिश्र ने 'मधुमती भूमिका',[१] आ० शुक्ल ने 'हृदय की मुक्तदशा',[२] डा० नगेन्द्र ने कविभावन की प्रक्रिया[३] तथा अधिकांश अन्य विवेचकों ने साधारणीकरण को ही सहृदय की समरसता या तन्मयता के कारणों में महत्वपूर्ण ठहराया है।

मराठी में श्री न० चि० केळकर ने सहृदय के 'आत्मविस्तार'[४] श्री वा० म० जोशी ने 'आत्मौपम्य बुद्धि',[५] श्री कृ० पां० कुळकर्णी ने 'प्रत्यभिज्ञा जागृति',[६] श्री ना० सी० फडके ने 'पुनः प्रत्यय' तथा 'अतृप्त इच्छा की पूर्ति'[७], डा० माधवराव पटवर्धन ने जिज्ञासा पूर्ति,[८] श्री य० र० आगाशे ने 'ज्ञान-पिपासा',[९] डा० वाळिंबे ने भावनात्मक तादात्म्य,[१०] आदि को सहृदय के काव्यास्वाद तथा काव्यानन्द के मूल में प्रतिपादित करके इन्हीं के द्वारा प्रकारान्तर से सहृदय की समरसता या तन्मयता के कारणों की भी मीमांसा की है।

(३) क्या सहृदय काव्य-वर्णित खल पात्रों अथवा असंवादी पात्रों की भावनाओं से भी समरसता या तन्मयता प्राप्त करता है ?

आ० शुक्ल ने काव्य-वर्णित सभी पात्रों से सहृदय का तादात्म्य अनिवार्य नहीं माना है। इन्होंने असंवादी या खल पात्रों के चरित्र वर्णन के स्थलों में सहृदय को शील-द्रष्टा मात्र सिद्ध किया है अथवा इन स्थलों में कवि-भावनाओं से तादात्म्य का समर्थन किया है। डा० नगेन्द्र ने काव्य में सर्वत्र कवि के मूल संवेद्य भावों से ही सहृदय के तादात्म्य का प्रतिपादन किया है।[११]

श्री द० के० केळकर के 'स्वायत्त तादात्म्य', श्री रा० श्री० जोग के 'सहानुभूतिपूर्वक तटस्थता' तथा डा० रा० शं० वाळिंबे के 'भावनात्मक तादात्म्य' आदि

---

१. दे० इसी अध्याय में रसास्वाद प्रकरण ।
२. वही, ।
३. वही, ।
४. वही, पृ० २०१
५. वही, पृ० २०६ ।
६. वही, पृ० २०९ ।
७. वही, पृ० २१० ।
८. वही, पृ० २१२ ।
९. वही, पृ० २१४ ।
१०. वही, पृ० २१५ ।
११. दे० इसी अध्याय में रसास्वाद प्रकरण ।

अभिमतों से यही ध्वनित होता है कि वे काव्य-वर्णित सभी पात्रों तथा उनकी भावनाओं से तादात्म्य या समरसता अनिवार्य नहीं मानते ।

(४) सहृदय के काव्यास्वादजन्य आनन्द या भावना का क्या स्वरूप है ?

पं० केशवप्रसाद मिश्र तथा आ० श्यामसुन्दर दास के अनुसार सहृदय की भावना का काव्य-वर्णित भावनाओं से 'एक तान' 'एकलय' होजाना ही आनन्द है।[1] आ० शुक्ल ने काव्यानन्द का स्वरूप सहृदय के मन का सुखदु:खात्मक भावास्वादन की क्रिया में तत्पर रहना मात्र सिद्ध किया है। प्रस्तुत क्रिया में सहृदय 'मुक्तदशा' में पहुँच जाता है।'[2] डा० नगेन्द्र की मान्यता में काव्यास्वाद का आनन्द बौद्धिक तथा ऐन्द्रिय आनन्द से भिन्न है। फिर भी यह आनन्द ऐन्द्रिय अनुभूति से अधिक शुद्ध और परिष्कृत होता है तथा बौद्धिक अनुभूति से अधिक सरस होता है।[3] श्री रामदहिन मिश्र के अनुसार काव्यानन्द का स्वरूप सत्वोद्रेकात्मक है[4] तो श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु की मान्यता में काव्यानन्द सहृदय के मन के ओज का व्ययात्मक रूप है।[5]

मराठी में श्री न० चि० केळकर ने 'समाधि'[6] रूप, तथा श्री द० के० केळकर ने तन्मयता या तल्लीनता रूप को ही काव्यानन्द का स्वरूप माना है।[7] श्री रा० श्री० जोग ने शरीरानन्द तथा ज्ञानानन्द से भावनानंद का पृथक् स्वरूप निर्धारित किया है और काव्यानन्द को भावनानन्द रूप ही माना है।[8]

(५) काव्यास्वाद में कवि-व्यक्तित्व, कवि-कृति तथा सहृदय के व्यक्तित्व का क्या योग रहता है ?

हिन्दी में आचार्य शुक्ल, डा० नगेन्द्र तथा डा० गुलाब राय ने काव्यास्वाद में कवि-व्यक्तित्व के मूल्यांकन का प्रयत्न किया है। आ० शुक्ल तथा डा० गुलाबराय की अपेक्षा डा० नगेन्द्र ने काव्यास्वाद में सहृदय द्वारा कवि-भावनाओं से

---

१. वही, पृ० २८६-८७ ।
२. वही, पृ० २९० ।
३. वही, पृ० २९२ ।
४. वही, पृ० २९४ ।
५. वही, पृ० २९७ ।
६. वही, पृ० ३०० ।
७. पृ० ३०२ ।
८. वही , पृ० ३०५-६ ।

तादात्म्य पाने की अधिक सूक्ष्म मीमांसा की है।[1] संस्कृत साहित्यशास्त्र में काव्यास्वाद की प्रक्रिया में कवि-व्यक्तित्व की पर्याप्त उपेक्षा रही है।

मराठी में काव्यास्वाद की प्रक्रिया के विवेचन में कवि-व्यक्तित्व के मूल्यांकन के प्रति प्राय: विशेष लक्ष्य नहीं दिया गया। फिर भी श्री वा० म० जोशी ने काव्यानन्द की प्राप्ति में कविभावनाओं से समरसता का समर्थन करके इस दिशा में भी चिन्तन का प्रयत्न किया है।[2]

हिन्दी की अपेक्षा मराठी के काव्यास्वाद-मीमांसकों ने सहृदय के व्यक्तित्व तथा काव्यास्वाद कालीन उसकी चिन्तन-प्रक्रियाओं का अधिक व्यापक विवेचन-विश्लेषण किया है। मराठी के अधिकांश विवेचकों का काव्यास्वाद-चिन्तन सहृदय-केन्द्रित रहा है।

काव्यानन्द की प्राप्ति में कवि-कृति का महत्व अक्षुण्ण है। रचना के माध्यम के बिना सहृदय के लिए आस्वाद या आनन्द पाना असंभव है। अत: काव्यशास्त्र में काव्य-रचना प्रक्रिया (कलापक्ष) तथा काव्यदोषों के परिहार की विस्तृत मीमांसा की जाती है। आधुनिक काव्यशास्त्र में काव्यास्वाद तथा काव्यानन्द की प्रक्रिया तथा स्वरूप के विवेचन में कवि, कवि-कृति तथा सहृदय के व्यक्तित्व का यथावत् मूल्यांकन हमारे चिन्तन को निर्दोष तथा दृष्टिकोण को व्यापक बनाने में सहायक होगा। पूर्वोक्त समीक्षकों के अभिमत इस दिशा में और अधिक चिन्तन के लिए असंदिग्ध रूप से प्रेरक सिद्ध होंगे।

---

१. दे० इसी प्रकरण में। पृ० २९१-९२।
२. वही, पृ० ३०७-३०८।

५

करुण रसास्वाद प्रकरण

पृष्ठिभूमि

संस्कृत साहित्य में करुण रसानुभूति का स्वरूप

संस्कृत में जब मूलतः रस-स्वरूप के विषय में मत-भिन्नता है, तो करुण रसास्वाद के स्वरूप के विषय में मतैक्य न होना नितांत स्वाभाविक है। करुण रसास्वाद के स्वरूप-प्रतिपादकों के स्पष्टतः दो वर्ग बन जाते हैं—एक दुःखवादी तो दूसरा आनन्दवादी।

भरतमुनि का दृष्टिकोण उभयात्मक है। इन्होंने एक ओर करुण रस के स्थायी भाव-शोक के रंगमंच पर अभिनय से प्रेक्षकों को भी शोकानुभूति होती है, इसका नितांत स्पष्ट शब्दों में समर्थन किया है तो दूसरी ओर नाटच का अन्तिम प्रयोजन 'दुखार्त' 'श्रमार्त' तथा 'शोकार्त' व्यक्तियों को विश्राम देना भी स्वीकार किया है।[1]

भरत परवर्ती जिन आचार्यों ने रस-स्वरूप तथा रसों के अन्तिम साध्य-'विश्राम' को 'संविद्विश्रान्ति' तथा आनन्दरूप मान कर दोनों का समीकरण किया है, उन आचार्यों ने करुण रस में आनन्दानुभूति को ही एकांततः स्वीकृति दी है। रस को भाव रूप स्वीकार करने वाले आचार्यों की भी परंपरा समृद्ध है। इनमें अधिकांश ने करुण रस में प्रेक्षकों की दुःखानुभूति का समर्थन किया है। भाववादी आचार्यों के समक्ष एक नितांत महत्वपूर्ण और स्वाभाविक प्रश्न उपस्थित था। यदि करुण रस से दुःखानुभूति होती है तो कवि काव्य-सृजन के लिए और सहृदय उसके आस्वादनार्थ क्यों प्रवृत्त होगा? भाववादी आचार्यों ने इसका भी समाधान प्रस्तुत किया है।

आचार्य वामन ने प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर करुण रस के प्रेक्षकों में 'सुख दुःख' के 'संप्लव' (समंजन) का स्पष्टतः उल्लेख किया है।[2] इससे निष्कर्ष

---

१. ना० शास्त्र, ७।५५, और १।१११।

२. करुण प्रेक्षणीयेषु संप्लवः सुखदुःखयोः।
यथानुभवतः सिद्ध स्तथैवोजः प्रसादयोः। हि० का० सू०, पृ० १२२।

निकाला जा सकता है कि वे करुण रसास्वाद को न एकांततः सुखात्मक मानते थे और न एकांततः दुःखात्मक। इनका दृष्टिकोण समन्वयात्मक प्रतीत होता है। अतः वामन आनन्दवादी परंपरा की अपेक्षा भाववादी परंपरा के आचार्य प्रतीत होते हैं।

रुद्रभट्ट ने 'रसकलिका' में रस को सुखदुःखात्मक माना है तथा प्रेक्षक में भी रसानुरूप सुखदुःखात्मक अनुभूति का समर्थन किया है।[1]

भाववादी आचार्यों में रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने करुण रसानुभूति की प्रक्रिया और स्वरूप का पर्याप्त विस्तार से विवेचन किया है। इनकी प्रमुख स्थापनाएँ हैं :

१. जिस प्रकार भयानक रस से प्रेक्षक को भय का अनुभव होता है, उसी प्रकार करुण से दुःख का अनुभव होता है।
२. कवि सुखदुःखात्मक संसार के अनुरूप ही पात्रों के चरित्र को काव्य-निबद्ध करता है।

यदि काव्य में सुखदुःखात्मक भावों का निबन्धन है और प्रेक्षक को भी तदनुरूप ही अनुभूति होती है तो करुण रस के दुःख का आस्वाद सहृदय के लिए क्यों अनुकूल प्रतीत होता है? इसका समाधान भी इनके अनुसार है :

१. प्रेक्षक को रसास्वाद के उपरान्त ही कवि तथा नट की कुशलता से करुण रस में चमत्कारजन्य आनन्द की प्रतीति होती है।
२. कटु या तीक्ष्ण वस्तुओं के आस्वाद में भी अनुकूलत्व की प्रतीति होती है। जैसे, 'पानक रस' में।
३. दुःखी व्यक्ति को अन्यों की दुःखवार्ता से समाधान भी होता है।[2]

इस प्रकार भाववादी आचार्यों की धारणाओं का सारांश है : काव्य-निबद्ध शोक भाव सहृदय में शोक ही उत्पन्न करता है न कि आनन्द। शोक भावास्वाद के समय दुःख के साथ सुख का भी किंचित् मिश्रण रहता है (वामन)। करुण रसास्वाद के उपरान्त कवि तथा नट की कुशलता से इसमें आनन्द की भ्रान्त प्रतीति होती है। (रामचन्द्र-गुणचन्द्र)। वस्तुतः करुण रसास्वाद का स्वरूप आनन्दमय नहीं है।

---

१. **करुणामयानामप्युपादेयत्वं सामाजिकानाम्, रसस्य सुख दुःखात्मकता तदुभय लक्षणत्वेन उपपद्यते। अतएव तदुभय जनकत्वम्।**
रस कलिका, पृ० ५१-५२, नंबर आव् रसाज, (राघवन) पृ० १५५।

२. **नाटच दर्पण, पृ० १५८-५९।**

आनंदवादी परंपरा—

आनन्दवर्धन, भट्टनायक, अभिनव, मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने करुण रस की आनन्ददायकता का ही प्रतिपादन-समर्थन किया है ।

आनन्दवर्धन ने विप्रलंभ तथा करुण में माधुर्यगुण का प्रकर्ष माना है, क्योंकि इसमें सहृदय का मन अधिक 'आर्द्रता, को प्राप्त होता है।[1] इन्हें मन की 'आर्द्रता' में आर्तता की अपेक्षा आनन्दतरलता का ही आशय ग्राह्य रहा है। भट्टनायक ने भावकत्व व्यापार, सत्वोद्रेक, चित्त-द्रुति आदि के आधार पर अन्य रसों की भाँति करुण रस की भी आनन्ददायकता ही स्वीकार कर ली है। अभिनवगुप्त वासना संस्कार रूप में सहृदयस्थ स्थायी भावों की अभिव्यक्ति में एकघन संविद् विश्रान्ति तथा आनन्दमय रसास्वाद का ही समर्थन करते हैं। करुण रस के आस्वाद के विषय में तो उन्होंने स्पष्टतः लिखा है : 'भावानुभूति का अर्थ रस नहीं है। मेरी सम्मति में तो सहृदय करुण में 'संवेदन-आनन्दघन' का ही आस्वाद करता है। उसमें दुःख की आशंका के लिए स्थान ही नहीं है।'[2] इसी परंपरा में आचार्य विश्वनाथ ने करुण रस की आनन्ददायकता का समर्थन कुछ विस्तार पूर्वक किया है। इनके प्रतिपादन का मुख्य बल निम्न तत्वों पर है :

(१) करुण रस में सुखानुभूति होती है, इसमें सहृदय का अनुभव ही प्रमुख प्रमाण है।

(२) यदि करुण में दुःखानुभूति होती तो कोई भी प्रेक्षक आस्वाद के लिए उन्मुख न होता ।

(३) लोक व्यवहार में शोक तथा हर्ष के कारणों से शोक तथा हर्ष की ही प्राप्ति होती है, परन्तु काव्य में शोक तथा हर्ष को अलौकिक कारणों (विभावों) का स्वरूप प्राप्त होता है, अतः इससे सभी को सुख ही मिलता है ।

(४) जिस प्रकार सुरत में दन्तक्षत से सुख ही होता है, उसी प्रकार काव्य में व्यावहारिक दुःख-कारणों से सुख ही मिलता है ।

(५) करुण रसास्वाद में अश्रुपात मन के द्रुतत्व के कारण होता है न कि दुःखानुभूति के ।

(६) यदि करुण में मन की प्रस्तुत द्रुतात्मक रसानुभूति किसी प्रेक्षक को नहीं

---

१. हि० ध्वन्यालोक २।८

२. भावानां वस्तुस्वभावमात्रेणेति न किंचिदत्र तत्वम् । अस्मन्मते संवेदनमेवानन्दघनमास्वाद्यते । तत्र का दुःखाशंका ।
अ० भा० द्वि० सं० पृ० २९१-२९२ ।

होती, तो उसमें 'वासना' का अभाव है, ऐसे प्रेक्षक को रंगशाला के काष्ठ, पाषाण आदि के सदृश समझना चाहिए।[1]

संस्कृत के 'नव्यविद्वान्' भी करुण रस में आनन्दानुभूति का ही एक प्रकार से समर्थन करते हैं। इनके प्रमुख तर्क हैं :

१. लोकोत्तर काव्य-व्यापार की ही यह महिमा है कि जिससे अरमणीय शोक आदि भी अलौकिक आह्लाद प्रदान करते हैं।
२. काव्य व्यापार में जैसी 'आह्लाद प्रयोजकत्व' की शक्ति है, वैसी ही दुःख-प्रतिबन्धकत्व की भी शक्ति है।
३. करुण रस में इष्ट का भाग अधिक तथा अनिष्ट का भाग न्यून होता है। जैसे, मनुष्य अपने शरीर पर 'चन्दन द्रव' लगाता है। इससे शीतलताजन्य सुख अधिक होता है और उसके सूख जाने पर पपड़ियों के उखड़ने का कष्ट उसकी अपेक्षा कम होता है।[2]

संक्षेपत: आनन्दवादी आचार्यों ने करुण रसास्वाद की आनन्दमयता के समर्थन में निम्न तत्वों पर विशेष बल दिया है :

१. आस्वाद का स्वरूप—(क) सहृदय के मन की द्रुति (आनन्दवर्धन)
(ख) संवेदन-आनन्दघन (अभिनव गुप्त)
२. कारण— १. भावकत्व व्यापार (भट्टनायक)
२. काव्य की अलौकिक शक्ति (विश्वनाथ आदि)
३. सहृदय तथा सहृदयस्थ वासना (" ")
४. इष्ट तत्व की प्रधानता और अनिष्ट तत्व की न्यूनता (विश्वनाथ, नव्य विद्वान् आदि)

सारांश :

करुण रसानुभूति के स्वरूप की मीमांसा में मत-भिन्नता का मूल करण है—रस-स्वरूप की अनेकता। रस-स्वरूप के विषय में भरतमुनि का सुनिश्चित दृष्टि-कोण निर्धारित करना कठिन-सा हो गया है। इन्होंने 'रस' से प्रेक्षकों को 'हर्षादि' की प्राप्ति का प्रतिपादन करके इस समस्या का एक सुनिश्चित समाधान प्रस्तुत नहीं किया है। क्योंकि भाववादी आचार्य 'हर्षादि' का तात्पर्य हर्ष, शोक आदि ग्रहण करते हैं और रसों को सुखदुःखात्मक मानते हैं। इनके विपरीत आनन्दवादी आचार्यों ने भरत-प्रतिपादित नाट्य-प्रयोजनों का आधार लेकर रसों से केवल

१. साहित्य दर्पण, ३।४-८ (लक्ष्मी टीका)
२. हिन्दी रसगंगाधर, प्र० भा० पृ० ७२।

हर्ष-प्राप्ति का ही समर्थन किया है। फलतः करुण रसानुभूति के स्वरूप के विषय में संस्कृत साहित्यशास्त्र में ही भाववादी तथा आनन्दवादी आचार्यों की दु:खात्मक तथा सुखात्मक दो प्रकार की मान्यताएँ आरंभ से ही उपलब्ध होती हैं। आधुनिक हिन्दी-मराठी के समीक्षकों के सामने भी करुण-रसास्वाद के स्वरूप-निर्धारण का प्रश्न प्रमुख रूप से उपस्थित हुआ है। इन्होंने करुण रसानुभूति के स्वरूप-निर्धारण में संस्कृत आचार्यों की मान्यताओं, पाश्चात्य मनीषियों की विचार धाराओं तथा निजी चिन्तन का भी आश्रय लिया है। अगले प्रकरण में हिन्दी-मराठी के काव्यशास्त्रज्ञों के एतद्विषयक अध्ययन का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए इस समस्या का समाधान ढूँढ़ने का प्रयत्न किया जाएगा।

करुण रसानुभूति का स्वरूप

हिन्दी में

करुण रस की सुख-दु:खात्मकता का विवेचन हिन्दी में अपेक्षाकृत कम हुआ है। काव्यशास्त्र के आधुनिक विवेचकों में डा० गुलाबराय तथा रामदहिन मिश्र ने करुण रस की 'आनन्दात्मकता' पर अपेक्षित गंभीर चिन्तन प्रस्तुत नहीं किया है। इन्होंने दु:ख भाव की जीवन में स्थिति और उसके महत्व का प्रतिपादन मात्र किया है। 'दु:ख जितनी देर तक रहता है, तब तक वह अपना आत्म-संशोधन संबन्धी कार्य करता रहता है।...अच्छे को दु:ख सहते हुए देख कर, हमारे मन में मनुष्य जाति के प्रति गौरव के भाव उदय होते हैं।'[१] इस आधार पर गुलाबराय जी ने दशरथ, राम, हरिश्चन्द्र आदि महापुरुषों के जीवन में उपस्थित दु:खद प्रसंगों से प्रेक्षकों के हृदय में उत्पन्न 'उत्साह' और 'गौरव' का महत्वमापन मात्र किया है। रस के मूलभूत स्वरूप-आनन्द के आधार पर करुण रस की मीमांसा नहीं की। श्री रामदहिन मिश्र ने भी लगभग इन्हीं के विचारों के आधार पर अपना मन्तव्य स्पष्ट किया है। 'करुण बड़ा कोमल रस है। यह रसानुभूति के साथ सहृदयता को भी उत्पन्न करता है। इसके आँसू अमल शुद्ध तथा दिव्य होते हैं। आँसू हृदय की मलिनता को दूर कर देते हैं। दु:ख से हमारी आत्मा शुद्ध और परिष्कृत हो जाती है। दु:ख ही कर्त्तव्य का स्मरण दिलाता है।'[२] प्रस्तुत दु:खभाव का जीवगत और वह भी केवल महापुरुषों के आधार पर किया गया मूल्यांकन 'करुण रस' तथा 'त्रासदीजन्य करुण रस' की जटिल समस्या का सम्यक् रूप से समाधान नहीं करता—उस दिशा में इंगितमात्र करता है। मिश्र जी ने 'शोकान्त काव्य-नाटक

---

१. नवरस, पृ० ४५४-५५ द्वि० सं०।

२. काव्यदर्पण, पृ० १९५-९६ द्वि० सं० (१९५१)।

के अध्ययन, श्रवण और दर्शन से उत्पन्न आनन्द के नौ कारणों को प्रस्तुत किया है, जो पाश्चात्य विवेचकों की मान्यताओं के आधार पर लिखे गये हैं।'[१]

हृदय की मुक्त दशा :

हिन्दी में आचार्य शुक्ल ने पर्याप्त व्यापक दृष्टिकोण से करुण रस की आनन्द-दायकता का विश्लेषण-विवेचन किया है। इन्होंने 'हृदय की मुक्तावस्था' को 'रस दशा' माना है। फलतः करुण रस की रसात्मकता में भी वे 'हृदय की मुक्तावस्था को दृष्टिगत रख कर इस की आस्वादात्मकता का समर्थन करते हैं। परंपरानुसार रसास्वाद को आनन्द स्वरूप माना गया है। शुक्ल जी ने सहृदय के रसास्वाद-कालीन आनन्द की व्याख्या अपने दृष्टिकोण से की है : 'आनन्द शब्द को व्यक्तिगत सुख भोग के स्थूल अर्थ में ग्रहण करना मुझे ठीक नहीं जँचता। उसका अर्थ व्यक्तिवद्ध दशा से मुक्त और हल्का होकर अपनी क्रिया में तत्पर हो जाना ही समझता हूँ।'[२] काव्यास्वादकालीन आनन्द का स्वरूप शुक्ल जी के अनुसार हुआ : 'मुक्त हृदय का अपनी क्रिया में तत्पर होना'। यहाँ एक गंभीर प्रश्न उपस्थित होता है। मुक्त हृदय की अपनी क्रिया कौन सी है? क्या मुक्तहृदय काव्य में अभिव्यक्त भाव की अनुभूति से भिन्न किसी अन्य भाव की अनुभूति की क्रिया में तत्पर रहता है? शुक्ल जी की करुण-रसानुभूति की प्रक्रिया के विवेचन से ही इसका उत्तर मिल जाता है : 'करुण रस प्रधान नाटक के दर्शकों के आँसुओं के सम्बन्ध में यह कहना कि 'आनन्द में भी आँसू आते हैं' केवल बात टालना है। दर्शक वास्तव में दुःख ही का अनुभव करते हैं।[३] वस्तुतः जब प्रेक्षक का मुक्त हृदय दुःख भाव की अनुभूति-क्रिया में तत्पर है, तब उसे दुःखानुभूति ही होगी, इस तथ्य का प्रतिषेध आ० शुक्ल ने नहीं किया। परन्तु सहृदय के आस्वाद्यमान इस दुःख भाव को उन्होंने रसात्मक (आनन्दात्मक?) ही मान लिया है, क्योंकि 'हृदय की मुक्तदशा होने के कारण वह दुःख भी रसात्मक होता है।'[४]

आ० शुक्ल ने काव्य के 'रसात्मक भाव' और लौकिक या प्रत्यक्ष सुख-दुःखात्मक भावों के आस्वाद में मूलतः अन्तर माना है। दोनों के अन्तर की व्यावर्तक कसौटी भी शुक्ल जी ने प्रस्तुत की है—वह है 'हृदय की मुक्तदशा' की ही। काव्य के रसात्मक भावास्वाद में 'अहं या निज' का संबन्ध नहीं होता, परन्तु काव्य-इतर

---

१. काव्यदर्पण, पृ० १९६।
२. चिन्तामणि, (प्र० भा०) पृ० २५१।
३. वही, पृ० २५२।
४. चिन्तामणि, प्र० भा० पृ० २५२-२५३।

लौकिक भावों में प्रत्यक्षतः निजी सुख-दुःख का सम्बन्ध बना रहता है। इसी आधार पर इन्होंने करुण की रसात्मकता का विवेचन किया है। इन्होंने करुण में प्रत्यक्ष दुःख- भाव का निदर्शक 'शोक' शब्द माना है और रसात्मक भावानुभूति के लिए 'करुणा' का प्रयोग किया है : 'शोक अपनी निज की इष्ट हानि पर होता है और 'करुणा' दूसरों की दुर्गति या पीड़ा पर होती है। यही दोनों में अन्तर है। इसी अन्तर को लक्ष्य करके काव्यगत पात्र (आश्रय) की शोकपूर्ण व्यंजना द्वारा उत्पन्न अनुभूति को आचार्यों ने 'शोक-रस' न कह कर 'करुण रस' कहा है। करुणा ही एक ऐसा भाव है, जिसकी प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति सब रूपों में और सब दशाओं में रसात्मक होती है।'[१]

इस प्रकार शुक्ल जी की मान्यता में आश्रय की शोकपूर्ण व्यंजना से जो सहृदय को अनुभूति होती है, वह करुण रस है। आश्रय की 'शोक' व्यंजना प्रत्यक्ष या तीव्र दुःखात्मक (शोकात्मक) है और सहृदय की दुःखानुभूति 'करुण' रसात्मक है। परन्तु शुक्ल जी एक ओर तो पूर्ण रस उसी को मानते हैं जिसमें 'श्रोता का आलंबन वही हो जो आश्रय का है। यदि काव्यगत आश्रय की अनुभूति प्रत्यक्ष शोक या दुःखजनित है तो उससे तादात्म्य अनुभव करने वाले सहृदय की अनुभूति उससे भिन्न क्यों होगी ? उदाहरणार्थ, इन्दुमती की मृत्यु पर अज विलाप करता है, अज (आश्रय) का विलाप प्रत्यक्ष इष्ट हानि (इन्दुमती मृत्यु) जन्य दुःख या शोक है और अज से तादात्म्य करने वाले सहृदय की अनुभूति भी उसी प्रकार की शोक-पूर्ण होगी, अन्यथा आश्रय से तादात्म्य, अथवा पूर्ण रस के प्रतिपादन में सार्थकता ही क्या है ? यदि यह कहा जाय कि सहृदय इस तथ्य से पूर्णतः अवगत रहता है कि उसकी निजी इष्ट हानि नहीं हुई, वह परकीय पात्र—अज आश्रय की शोकानुभूति का मुक्त हृदय से आस्वादन कर रहा है, तब भी यह शंका बनी रहती है कि क्या हृदय की मुक्तावस्था में 'शोक' का स्वरूप ही बदल जाता है ? 'मुक्त हृदय' से जब हम दूसरे के 'शोक' का आस्वादन करेंगे, तब भी हमें शोकानुभूति ही होगी। हृदय की मुक्तदशा में अनुभूत कोई भी विशिष्ट भाव अपना विशिष्ट स्वरूप क्यों त्याग देगा ? दुःखद भावों से दुःखानुभूति तो सभी प्रेक्षकों को होती है, इससे शुक्ल जी भी सहमत हैं। निजी इष्ट हानि-लाभ का प्रश्न पृथक् है। इसे सुखात्मक भावा-स्वाद की भाँति दुःखात्मक भावास्वाद के समय भी पृथक् रखना ही उपयुक्त है, तभी हृदय की मुक्तावस्था का प्रतिपादन अपना महत्व रखता है। इससे स्पष्ट है कि 'हृदय की मुक्तावस्था' के सिद्धान्त से करुण रस की आनन्ददायकता या रसा-

---

१. काव्यदर्पण, पृ० १९६।

त्मकता सिद्ध नहीं हो सकती। संभवतः शुक्ल जी भी इस तथ्य से पूर्णतः अवगत थे। कालान्तर में करुण रस की आनंदानुभूति को एकांततः सहृदय की मुक्तदशा पर अवलंबित रखना इन्हें एकांत सत्य प्रतीत नहीं हुआ। फलतः इन्होंने करुण रस के मूल निरूपक 'कवि' की सत्ता का मूल्यांकन करना भी इस प्रसंग में उपयुक्त समझा है : 'यदि रस आनन्द की अनुभूति है तो करुण, बीभत्स को रस कैसे कहा जाय। इनके लिए दिए गए तर्क संतोषप्रद नहीं हैं। मनोवैज्ञानिक अनुभूति को क्रीडा वृत्ति मानते हैं। श्रम और पीड़ा जब क्रीडा की वृत्ति में स्वतः प्रवर्तित होते हैं, तब उनकी अनुभूति आनन्द स्वरूप होती है।'[1] यद्यपि शुक्ल जी ने प्रस्तुत मत का विस्तृत विवेचन नहीं किया, फिर भी इससे स्पष्ट है कि करुण रस की आनन्दानुभूति के मूल में कवि की क्रीडा वृत्ति की ओर वे पाश्चात्य मतानुसार संकेत दे रहे हैं। इस प्रकार इन्हें करुण रसानुभूति की आनन्ददायकता तथा आनन्दात्मकता के विश्लेषण-विवेचन में सहृदय के 'हृदय की मुक्तदशा' और कवि के काव्य-सृजन की क्रीडात्मक प्रक्रिया को दृष्टिगत रखना उपयुक्त प्रतीत हुआ है।

मधुमती भूमिका :

रसास्वाद प्रकरण में 'मधुमती भूमिका' का विस्तृत स्वरूप-विवेचन किया जा चुका है।[2] इस भूमिका में पं० केशवप्रसाद मिश्र ने सभी प्रकार के सुखात्मक या दुःखात्मक भावों का स्वरूप अलौकिक सुखात्मक ही सिद्ध किया है। क्योंकि मधुमती भूमिका चित्त की वह एक विशिष्ट अवस्था है जिसमें 'वितर्क' या 'पार्थक्यानुभव' की सत्ता नहीं रहती। इस स्थिति में 'शोचनीय अथवा अभिनंदनीय सभी प्रकार की वस्तुएँ हमारे केवल सुखानुभव का आलंबन बन कर उपस्थित होती हैं। उस समय दुःखात्मक क्रोध, शोक आदि भाव भी अपनी लौकिक दुःखात्मकता छोड़ कर सुखात्मकता धारण कर लेते हैं।'[3] अतः करुणरसास्वाद में भी इनके मतानुसार दुःखानुभूति का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। डा० श्यामसुन्दर दास ने भी इन्हीं के अभिमत का पूर्णतः समर्थन किया है और रसानुभूति मात्र को आनन्दमय ही माना है। 'इस रसदशा में' सभी प्रकार की वस्तुएँ हमारे सुखात्मक भावों का आलंबन बन जाती हैं। वह हमारा साधारण लोक नहीं है। वह असाधारण मधुमान लोक है। जिसे काव्यरसिक रस भूमिका कहते हैं उसे ही योग वाले

---

१. रस मीमांसा, पृ० ४१५, प्रथम सं० संवत् २००६।
२. दे० रसास्वाद प्रकरण, ।
३. साहित्यालोचन पृ० २३१।

मधुमतीभूमिका और ज्ञानी पर-प्रत्यक्ष की दशा कहते हैं। इसी बात को ध्यान में रख कर 'अलौकिक' विशेषण का व्यवहार किया गया है क्योंकि यहाँ लोक के साधारण कार्य-कारण नहीं काम करते। यहाँ तो दुःख कथा से भी एक प्रकार का सुखात्मक अनुभव होता है, रसानुभूति होती है। सामान्य लोक में कारण के अनुरूप ही कार्य होता है पर इस रस लोक में सदा आनन्द मिलता है।'[१]

पं० केशवप्रसाद मिश्र तथा डा० श्यामसुन्दर दास ने काव्य में अभिव्यक्त भावनाओं की 'अलौकिकता' पर विशेष बल दिया है, अतः करुण रस में भी दोनों ही आचार्य दुःखानुभूति की स्थिति नहीं मानते। अलौकिकता के कारण रसानुभूति मात्र को, चाहे वह सुखभावजन्य हो चाहे दुःखभावजन्य हो, वे एकांततः आनन्दमय ही स्वीकार करते हैं। इनके अभिमत संस्कृत के रस-ध्वनिवादी आचार्यों—विशेषतः अभिनव तथा मम्मट आदि के अलौकिक आनन्दमय रस-स्वरूप की मान्यता पर आधृत हैं।

कवि-भावना का आनन्द : तथा सहृदय की अखण्ड आनन्दमयी अन्तर्धारा :

रीति काव्य की भूमिका में डा० नगेन्द्र ने करुण रस की आनन्ददायकता का प्रतिपादन मूलतः कवि, उसकी भावन प्रक्रिया तथा अनुभूति-संवेदनों के स्वरूप-विश्लेषण द्वारा किया है। करुण रसास्वाद में शोक से शोक उत्पन्न नहीं होता, वरन् उसका स्वरूप आनन्ददायक बन जाता है, इस मान्यता के समर्थन में इनके विवेचन का सारांश है :(क) एक तो प्रेक्षक या पाठक को शोक का प्रत्यक्ष ज्ञान या साक्षात्कार नहीं होता केवल मनसा (कल्पना-द्वारा) साक्षात्कार होता है और मानसिक रूप धारण करने में कटु से कटु अनुभव भी क्रमशः अपनी कटुता खो देता है। स्मृति इसका एक साधारण प्रमाण है। कटु से कटु स्मृति में भी कटुता की क्षति और एक प्रकार के अपनेपन की उद्भूति हो जाती है। (ख) इसके अतिरिक्त कवि या नाटककार का अपना सृजन-अनुभव या सहजानुभूति—और स्पष्ट शब्दों में अनुभूति की सफलता का आनन्द भी तो इस शोक को अपने रंग में रँग कर हमारे सामने उपस्थित करता है। कवि का अनुभव दूसरे के शोक का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है, उस शोक के सफल भावन का अनुभव है जो स्वभावतः आनन्दमय होता है। प्रेक्षक या पाठक को कवि के इस सफल (आनन्दमय) भावन की अनुभूति होती है, अतएव उसका अनुभव भी आनन्दरूप ही होता है।'[२] अन्यत्र भट्टनायक-अभिनवगुप्त-प्रतिपादित आनन्दात्मक रस-स्वरूप का मूल आधार

---

१. साहित्यलोचन, पृ० २३४।

२. रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ४६, ६८ प्र० सं०।

ग्रहण करके डा० नगेन्द्र ने भारतीय दार्शनिक दृष्टिकोण से भी करुण रस की आनन्ददायकता का पुष्ट विवेचन किया है। सामान्यतः पाश्चात्यों ने अरस्तू-प्रतिपादित विरेचन-सिद्धान्त (कॅथार्सिस) में त्रासदी के आस्वाद के स्वरूप-विवेचन में प्रायः तीन तत्वों की मुख्य रूप से मीमांसा की है : १. उद्वेग के शमन से मनःशान्ति। २. भावों के परिष्कार की अनुभूति तथा ३. कलाजन्य चमत्कार की निष्पत्ति। इनमें प्रथम दो तत्वों का भारतीय रस-सिद्धान्त के 'समाहिति' तथा 'साधारणीकरण' की अवस्था में अन्तर्भाव हो जाता है। परन्तु भारतीय काव्य शास्त्र-निरूपित करुणरस के आस्वाद और अरस्तू-प्रतिपादित विरेचन-प्रक्रिया में अभिहित करुण के आस्वाद में मूलभूत अन्तर है। भारतीय 'करुण रस उद्वेग का शमन (राहत) मात्र न होकर उसका भोग है।' क्योंकि रस तो भौतिक राग द्वेष से मुक्त आत्मा द्वारा 'अस्मिता' का भोग है—उसके लिए तमोगुण और रजोगुण का तिरोभाव ही पर्याप्त नहीं है, उसके लिए तो आनन्द रूप आत्मा से सत्व का प्रचुर उद्रेक अनिवार्य है।'[1] इस व्याख्या में काव्य के आस्वाद से उत्पन्न सहृदय का रस भारतीय 'दर्शन' (विशेषतः शैवदर्शन) के 'आनन्दवाद' का आधार ग्रहण करता है, अतः डा० नगेन्द्र ने आनन्द के 'अभावात्मक' और 'भावात्मक' स्वरूपों का यहाँ के दार्शनिकों की मान्यताओं के आधार पर स्पष्टीकरण किया है। न्याय, वैशेषिक, साँख्य आदि में आनन्द का स्वरूप 'अभावात्मक' अर्थात् दुःख का अत्यन्त विमोक्ष रूप माना गया है। तो इसके विपरीत मीमांसा, वेदान्त आदि में आनन्द के 'भावात्मक' रूप की प्रतिष्ठा की गई है जिसमें आत्मा द्वारा नित्य सुख के उपभोग का प्रतिपादन है। रस को आनन्द के भावात्मक स्वरूप पर आधृत माना जाय, जैसी कि भट्टनायक-अभिनवगुप्त की मान्यता है, तो अरस्तू के विरेचन-सिद्धान्त से करुण रसास्वाद की भिन्नता स्पष्ट हो जाती है : 'यह (करुण) रस शोक आदि भावों के उन्नयन से भी आगे आत्मानंद का भोग है यह शान्ति रूप नहीं है, भोग रूप है। कलाजन्य चमत्कार भावों की परिष्कृति आदि उसकी सहायक अथवा आनुषंगिक उपलब्धियाँ हैं—वह स्वयं उनसे कहीं ऊपर है।'[2]

सुख-दुःख का स्वतंत्र स्वरूप-विश्लेषण कर के भी डा० नगेन्द्र ने अरस्तू के विरेचनजन्य प्रभाव और भट्टनायक-अभिनव के रस में स्पष्टतः अन्तर सिद्ध किया है। तात्विक रूप में सुख-दुःख की स्वतंत्र सत्ता है, वे एक-दूसरे के अभाव-स्वरूप नहीं हैं। सुख में 'आत्मा की वृद्धि' निहित है तो दुःख में 'आत्मा की क्षति।'

---

१. अरस्तू का काव्यशास्त्र, पृ० १०२।

२. अरस्तू का काव्यशास्त्र, पृ० १०२, प्र० सं०।

दुःख के अभाव का तात्पर्य सुख नहीं है, वह 'आत्मा की क्षतिपूर्ति—अथवा चेतना के अपकर्ष का निराकरण मात्र नहीं है। अरस्तू-प्रतिपादित विरेचनजन्य प्रभाव में 'आत्मा की क्षतिपूर्ति' रूप दुःखाभाव का समर्थन है, परन्तु भट्टनायक-अभिनव गुप्त के 'रस' में आत्मा की वृद्धि रूप 'लाभ' का प्रतिपादन है।'[१]

इस प्रकार डा० नगेन्द्र ने अरस्तू के विरेचनजन्य प्रभाव से भारतीय करुण रस की तुलना करते हुए रस-प्रभाव को अधिक उदात्त सिद्ध किया है। तुलना की दृष्टि से ही नहीं तात्विक रूप में भी इन्हें रसवाद ही परिपूर्ण प्रतीत होता है, जिसमें आनन्द की अखण्ड सत्ता विद्यमान होती है। यह आनन्द 'मनोरंजन, लज्जत या प्लेज़र का पर्याय नहीं है।' जिस प्रकार असंख्य लहरों को अपने वक्ष पर खिलाती हुई समुद्र की अन्तर्धारा आत्मस्थ बहती रहती है, इसी प्रकार अनेक करुण-मधुर अनुभूतियों से खेलती हुई आत्मा या चेतना की अन्तर्धारा अपने सुख में निरन्तर प्रवाहित रहती है।'[२] करुणमूलक काव्य भी 'सहृदय के मन को करुण की लौकिक अनुभूति से नीचे इसी अन्तर्धारा में निमज्जन का सुयोग प्रदान करता है।'[३] इससे स्पष्ट है कि डा० नगेन्द्र करुण रसानुभूति में भट्टनायक-अभिनवगुप्त के आनंदवाद के ही प्रबल समर्थक हैं।

श्री कन्हैयालाल पोद्दार की मान्यता में श्रृंगार रस प्रधान काव्य की भाँति करुण रसात्मक काव्य में भी आनंदानुभूति ही होती है। इसका कारण काव्यास्वादक सहृदय को प्रमाण मानने के अतिरिक्त विभावन व्यापार को भी इन्होंने महत्वपूर्ण ठहराया है: लौकिक में जो शोक के प्रसंग श्री रामनवास आदि दुःख के कारण दृष्टिगत होते हैं वे सब काव्यादि में निबद्ध होकर आते हैं, तब उनका व्यवहार 'कारण' शब्द से नहीं किन्तु 'विभाव' शब्द से होता है अर्थात् काव्य नाट्यादि से सम्बन्ध हो जाने पर उन कारणों में विभावन नाम का अलौकिक व्यापार उत्पन्न हो जाता है, अतएव उनके द्वारा सुख ही प्राप्त होता है—चाहे वे लौकिक के कारण ही क्यों न हों। शोकादि के कारणों से दुःखादि उत्पन्न होने का नियम लोक-व्यवहार ही में है—काव्यादि में नहीं।'[४] श्री पोद्दार की मान्यताएँ संस्कृत आचार्यों की मान्यताओं से नितांत भिन्न नहीं है, इन्होंने विभावन नामक अलौकिक व्यापार का अपेक्षित विस्तृत विवेचन भी नहीं किया है। सुख में निःसृत अश्रुओं

१. अरस्तू का काव्यशास्त्र, पृ० १०५, प्र० सं०।
२. वही, पृ० १०६।
३. वही, पृ० १०६।
४. संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ७३ प्र० भाग, द्वितीय संस्करण, २०११ संवत्।

तथा दुःख में निःसृत अश्रुओं की एकरूपता का प्रतिपादन चित्तद्रुति के मूल आधार पर किया है, परन्तु करुण रसानुभूति में निःसृत अश्रुओं की आनन्दात्मकता को इस आधार पर सिद्ध करना उपयुक्त नहीं है। यह एक वैज्ञानिक सत्य है कि दुःखद या कारुणिक भावों की अनुभूति के क्षणों में और सुखद या अनुकूल भावों की अनुभूति के क्षणों में हमारे स्नायुओं में भिन्न-भिन्न प्रकार के रासायनिक परिवर्तन होते हैं। अश्रु-मात्र को एकांततः आनन्दमूलक ठहराना वैसा ही असंगत और अपूर्ण है जैसा कि रोमांच या कम्प को एकांततः भयमूलक मान लेना।

जहाँ तक कवि के 'भावकत्व व्यापार' का सम्बन्ध है यह प्रक्रिया करुण रसास्वाद के आनन्दात्मक स्वरूप की सिद्धि में एकांत सत्य नहीं है। इस 'भावकत्व' की प्रक्रिया से काव्य-सृजन के एक प्रमुख तथ्य का उद्घाटन हो जाता है। वास्तविक जगत् में प्रत्यक्ष या स्थूल पीडात्मक दुःख सभी के लिए असह्य होता है। परन्तु जब स्वयं कवि दुःखद प्रसंग या घटना का काव्यमय या भावमय वर्णन करने के लिए प्रस्तुत होता है, तब इस दुःखभाव में स्पष्टतः व्यक्तिगत तीव्र शारीरिक पीड़ा या प्रत्यक्ष इष्ट-मृत्युजन्य शोक का स्थूल उद्वेग नहीं होता। यदि कवि-मानस दुःखद या करुण-प्रसंग के वर्णन में तल्लीन हो सकता है, तो सहृदय का मन भी उसके आस्वादन में तल्लीन होगा, इस तथ्य की ओर ही कवि का भावकत्व व्यापार संकेत करता है। करुणरसास्वाद में आनन्दानुभूति की मान्यता का इससे पूर्णतः समर्थन नहीं होता।

काव्य-सृजन से पूर्व कवि के मन में कोई भी शोक या करुण प्रसंग अमूर्त या सूक्ष्म रूप में निहित होता है। वह प्रस्तुत अमूर्त शोकभाव को विभिन्न पात्रों तथा घटना-प्रसंगों के माध्यम से मूर्त रूप प्रदान करता है। इस प्रक्रिया में दुःख या शोक भाव अधिक पुष्ट, व्यापक और तीव्रता प्राप्त करता है। इससे कविमानस में संचित अमूर्त शोक भाव का दंश नहीं मिटता, वरन् काव्य में वह परिपुष्टता, तीव्रता तथा व्यापकता का स्वरूप ग्रहण करता जाता है। जब शोक नामक अमूर्त स्थायीभाव, विभावानुभाव संचारी आदि से अर्थात् विविध पात्र, घटना, परिस्थिति व प्रसंगों से परिपुष्ट हो जाता है या मूर्त स्वरूप ग्रहण कर लेता है, तब उसी को 'रस' संज्ञा प्राप्त हो जाती है। अपरिपुष्ट या अमूर्त स्थायी भाव जैसे-जैसे मूर्त-रूप ग्रहण करता जाता है, वैसे-वैसे उसमें भावनात्मक तीव्रता बढ़ती जाती है। जब प्रस्तुत भावनात्मक तीव्रता कवि के हृदय में कभी-कभी अधिक प्रबल हो उठती है—वह भावमय क्षेत्र का अतिक्रमण करके स्थूल शारीरिक प्रतिक्रिया तक परिणामकारक हो जाती है, तब करुण भावना और तत्संबद्ध प्रसंग का वर्णन स्वयं कवि के लिए कठिन हो जाता है। वियोग व्यथा की चरमोत्कटता में 'पाती' न

लिख सकने की शिकायत से तो अनेक काव्य भरे पड़े हैं। मराठी के कवि एकनाथ जब भावार्थ रामायण में हनुमान के समुद्रोल्लंघन का वर्णन कर रहे थे, तब उनमें भी उत्साह भाव इतना तीव्र और उत्कट हो उठा कि उन्होंने स्वयं खिड़की से छलांग लगा दी थी! जब कोई भी भाव अनियन्त्रित हो कर कवि में ही शारीरिक प्रतिक्रिया तक अपना प्रभाव दिखाने लगते हैं तब काव्य-सृजन स्पष्टतः रुक जाता है। यही स्थिति सहृदय के करुण रसास्वाद के क्षणों में भी बन जाएगी। यदि करुण भाव अपने भावमय क्षेत्र का अतिक्रमण करके स्थूल शारीरिक व स्नायविक पीड़ा प्रदान करने लगेगा तब सहृदय के लिए इसका भावमय आस्वाद लेना कठिन हो जाएगा। इसी कारण अनेक प्रेक्षक अपनी भावनाओं पर नियन्त्रण रखने में असमर्थ हो जाते हैं और तीव्र करुण रस पूर्ण नाटक को देखते समय तीव्र दुःखानुभूति करने लगते हैं। कतिपय प्रेक्षकों में प्रस्तुत तीव्र दुःख की शारीरिक प्रतिक्रिया अश्रु-मोचन के रूप में भी दिखाई देने लगती है तो कतिपय दुःखद प्रसंगों को देखने के लिए ही उद्यत नहीं होते।

अतः कवि अपनी वैयक्तिक प्रतिक्रिओं पर नियन्त्रण रख कर जब करुण रस पूर्ण काव्य-सृजन में तल्लीन और समर्थ होता है तब सहृदय भी उसी प्रकार से करुण रसास्वाद में तल्लीन हो सकता है। एक की प्रक्रिया काव्य के सृजन की है दूसरे की भावास्वादन की। जिस प्रकार कवि का करुण या दुःखद प्रसंग के निरूपण में समर्थ होना मात्र दुःखभाव या शोकभाव की आनन्दात्मकता का प्रमाण नहीं है, उसी प्रकार सहृदय का करुण या शोक भाव का आस्वान करना उसकी आनन्दात्मकता का प्रमाण नहीं है। वास्तविक जगत् में भी पुत्र-मृत्यु की दुःखद घटना का लोग वर्णन करते ही हैं, परन्तु जब वे इस दुःख या शोक भाव की शारीरिक प्रतिक्रियाओं पर नियन्त्रण नहीं रख पाते, तब उनके नेत्रों से अश्रुओं की झड़ी लग जाती है, गला अवरुद्ध हो जाता है और वाणी मूक हो जाती है। आनन्दभाव के वर्णन के समान दुःखभाव के वर्णनकर्त्ता को भी 'भावभूमि' पर स्थित रहना आवश्यक है। अतः कवि के 'भावकत्व' व्यापार का आशय यही लिया जा सकता है कि वह 'भावभूमि' पर स्थित रह कर सुख के समान दुःख या शोक का भावमय वर्णन मात्र करता जाता है। इस अवस्था में 'शोक' न तो आनन्द में बदलता है और न उसकी भावमय तीव्रता नष्ट होती है, वह व्यापक और परिपुष्ट होकर करुण रस बन जाता है। चूंकि कवि ने स्वयं काव्य-सृजन के समय शोक या दुःख को निजी शारीरिक प्रतिक्रियाओं से सम्बद्ध नहीं होने दिया और स्वयं उसमें तल्लीन होकर शोक को व्यापक मूर्त स्वरूप प्रदान किया है, अतः सहृदय को भी उसी प्रकार से शोक के भावात्मक आस्वाद में तल्लीनता अनुभव

होती है। अब प्रश्न है इस तल्लीनता में किस भाव की अनुभूति होती है ? प्रथम कवि ही इसका उत्तर देगा कि यह तल्लीनता शोकमूलक ही है, अन्यथा आनन्द भाव में तल्लीन कवि शोक का वर्णन कैसे करेगा ? संस्कृत के अनेक अचार्य भाव की अनुभूति को रस की अनुभूति नहीं मानते। उनकी मान्यता में रस तो एक अखण्ड आनन्दमयी चेतना है; रति, शोक, उत्साह आदि भाव उस अखण्ड आनन्दमयी चेतना के परिपोषक अंगमात्र हैं। अतः शृंगार, करुण आदि सभी रस पूर्णतः आनन्दात्मक हैं। परन्तु काव्यास्वाद को भावास्वाद से अभिन्न मानने पर करुण रस में दुःखानुभूति की स्वीकृति नितांत अनिवार्य हो जाती है।

मन के अतिरिक्त ओज का व्यय :

काव्यानंद को काव्य के आस्वादक सहृदय की भाव-उद्बुद्धि पर अवलंबित मान कर श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु ने काव्य रसास्वादन का मूल आधार सहृदय के मन के अतिरिक्त ओज को ठहराया है।[१] प्रत्यक्ष व्यावहारिक जीवन में आनंद को प्राप्त करने और विषाद को दूर हटाने में मानव मन का ओज व्यय होता रहता है किन्तु काव्य के विषाद वर्णन को पढ़कर आनंद-प्राप्ति ही होती है, क्योंकि 'आनंद और विषाद—दो भिन्न-भिन्न तत्व हैं, परन्तु किसी विशेष मानसिक स्थिति में दोनों तत्वों का ऐसा रासायनिक सम्मिश्रण हो जाता है कि हम दोनों तत्वों को पृथक् नहीं कर पाते।'[२] उदाहरणार्थ, कालिदास के मेघदूत का विरही यक्ष जब अपनी विरहिणी प्रिया का स्मरण करता है तव उसकी स्मृति-भावना में आनंद और विषाद के तत्व एक-से मिले हुए होते हैं, उनको कोई भी वैज्ञानिक पृथक् नहीं कर सकता। इस प्रकार कवि एक ही मानसिक स्थिति में आनन्द और विषाद को अलग-अलग नहीं दिखा सकता। एक आँख में आनन्द का उल्लास और दूसरी में विषाद का अवसाद रह ही नहीं सकते। दोनों आँखों में दोनों तत्वों की मिश्रित सत्ता माननी पड़ेगी। बाह्य जगत् के विषाद को पाकर हमारे मन का ओज अनुत्पादक रूप से खर्च होने लगता है, परन्तु काव्य में जब हम किसी के विषाद का वर्णन पढ़ते हैं, तब आश्रय के साथ तादात्म्य स्थिति को प्राप्त कर उस विषाद से आनन्द प्राप्त करते हैं।'[३]

सभी अवस्थाओं में आश्रय से तादात्म्य का प्रश्न अपने आप में बहुत जटिल है। श्री सुधांशु संस्कृत रस-ध्वनिवादी आचार्यों के साधारणीकरण मूलक तादात्म्य

---

१. दे० रसास्वाद प्रकरण, ।

२. जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त, पृ० ७२।

३. वही, पृ० ७३।

के द्वारा ही विषाद भाव से आनंद-प्राप्ति का समर्थन नहीं करते वरन् यह मानते हैं कि जहाँ सहृदय का किसी विशेष पात्र से तादात्म्य नहीं हो पाता, वहाँ उसे आनंद-प्राप्ति नहीं होती क्योंकि उस स्थिति में मन के 'ओज का अपव्यय' होने लगता है।[1] इससे निष्कर्ष निकला कि काव्यगत विषाद वर्णन या करुण-प्रसंग में आनन्द और विषाद का रासायनिक सम्मिश्रण रहता है, जहाँ-जहाँ सहृदय का तादात्म्य होता है, वहाँ-वहाँ उसे आनन्द-प्राप्ति ही होती है, जहाँ तादात्म्य नहीं हो पाता वहाँ काव्यगत वर्णन उसे रुचिकर प्रतीत नहीं होता, क्योंकि उसके मन का ओज अनुत्पादक रूप से खर्च होता है।'[2]

मन के अतिरिक्त ओज के व्यय के सिद्धान्त में अरस्तू के 'कथार्सिस' (मनोरेचन) सिद्धान्त की ध्वनि निकलती है। अरस्तू के 'कथार्सिस' से इस सिद्धान्त का एकान्त साम्य दिखाना कठिन है फिर भी सुधांशु जी का प्रस्तुत चिंतन संस्कृत आचार्यों की परंपरा से भिन्न है।

'करुणा' और 'शोक' में आ० शुक्ल के अनुरूप अंतर स्वीकार करके श्री कन्हैयालाल सहल ने करुण रस की सुखात्मकता का विवेचन किया है। इन्होंने मुख्यतः दो कारण प्रस्तुत किये हैं : १. आत्मप्रसार की प्रक्रिया और २. भावमग्नता। प्रायः सभी दुःखी व्यक्तियों के दुःख को देखकर उसे दूर करने का प्रयत्न करते हैं और 'ऐसा करने में उन्हें सुख का अनुभव होता है। जब हम दुःखी व्यक्ति के दुःख-निवारण में प्रयत्नशील होते हैं तब उसके साथ हम आत्मीयता स्थापित करते हैं और अपने 'संकुचित अहं' के कारागार से ऊपर उठकर उसकी परिधि को विस्तृत करते हैं। 'आत्म-प्रसार' में ही सच्चा आनंद सन्निहित है। 'फलतः इनकी धारणा है कि दुःखात्मक नाटकों में 'करुणा' का भाव जाग्रत होने से आत्म-प्रसार का अवसर मिलता है और यही आनन्द का मूल कारण है। स्थूल शोक का अनुभव रस नहीं है, क्योंकि 'शोकार्त' व्यक्ति रस का अनुभव नहीं कर सकता। अतः जब सहृदय की वृत्तियाँ अन्तर्मुख होकर भावमग्न हो जाती हैं, तब उसे दुःख का अनुभव नहीं होता, वरन् सुख मिलता है। श्री सहल ने प्रस्तुत 'भावमग्नता' की प्रक्रिया को मूलतः कवि पर भी अभिघटित किया है और दुःखात्मक काव्य में भी दुःख के तिरोभाव का समर्थन किया है : 'दुःखात्मक काव्य-रचना करते समय भी कवि दुःख का अनुभव नहीं करता, वह एक ऐसी शांति का अनुभव करता है, जिसका उद्भव तो दुःख से ही हुआ है किन्तु भावमग्नता के स्पर्श से फिर

---

१. जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त, पृ० ६९।
२. वही, पृ० ७४।

भी जो स्वयं दुःख नहीं रह गई हैं।'[१]

जहाँ तक आत्मप्रसार से दुःखान्त में सुखानुभूति का सम्बन्ध है, वह आ० शुक्ल के 'हृदय की मुक्तावस्था' के प्रतिपादन से बहुत भिन्न नहीं है। आत्मप्रसार प्रत्येक प्रकार की भावानुभूति के लिए नितांत अनिवार्य है। 'अहं' और पूर्वग्रह से ग्रस्त व्यक्ति मूलतः काव्य के भावास्वाद में असमर्थ होता है। 'भावमग्नता' भावानुभूति की तल्लीनता की स्थिति को दर्शाती है। इन दोनों से करुणरसानुभूति के मूलभूत स्वरूप का एकांत स्पष्टीकरण नहीं हो पाता। काव्य-वर्णित सुखभाव के समान दुःखभाव में मग्न होना, मानव के सुख-दुःख संस्कारित मनोरचना का मूलभूत गुण है। दुःखभाव की अनुभूति में मग्न होने से दुःखभाव का स्वरूप नहीं बदलेगा, वरन् दुःखभाव की ही अनुभूति होगी। भावमग्नता की स्थिति में हम दुःख-इतर भाव के प्रति आकृष्ट नहीं होंगे, यही इसकी सार्थकता है।

श्री जगन्नाथ प्रसाद मिश्र ने 'ट्रेजिडी का स्वरूप विश्लेषण' लेख के अन्तर्गत दुःखान्तकी में आनन्दानुभूति के कारणों की संक्षिप्त मीमांसा की है। 'ट्रेजिडी का वेदना-बोध हमारे मन को व्यथित करता है अवश्य, किन्तु फिर भी वह इस रूप में परिणत होकर हमारे मन को आनन्दमुग्ध कर देता है। क्यों? इसलिए कि आनन्द का मूल सुर विरह-वेदना में ही निहित होता है। संपूर्ण सृष्टि के मूल में यह विरह-वेदना ही परिव्याप्त हो रही है। लौकिक प्रत्यक्ष दुःखानुभूति और ट्रेजिडी की दुःखानुभूति की तुलना करते हुए श्री जगन्नाथ प्रसाद मिश्र ने द्वितीय को अधिक प्रभावोत्पादक तथा चिरकाल स्थायी माना है। क्योंकि काव्य या नाटक के नायक-नायिका के जीवन का दुःख आकस्मिक न होकर नाटक की घटनाओं एवं चरित्रों के घात-प्रतिघात से उत्पन्न होता है।'[२] 'ट्रेजिडी' के प्रति मानव मन के आकर्षण के अनेक कारणों में घातप्रतिघात तथा संघर्षमय मानव जीवन को एक नितांत प्रमुख कारण माना जा सकता है परन्तु 'विरह-वेदना' में ही आनंद का सुर कैसे निहित है, इसका अपेक्षित विस्तृत विवेचन इन्होंने नहीं किया है।

सारांश :

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अतिरिक्त शेष सभी आधुनिक समीक्षकों ने करुण रसास्वाद में आनंदानुभूति की स्थिति का ही समर्थन किया है। इन आनन्दवादी समीक्षकों ने काव्य-निर्माण कालीन कवि की तथा काव्यास्वादकालीन सहृदय की

---

१. आलोचना के पथ पर : नाटयदर्पणकार का रस विवेचन, पृ० ५५।
२. साहित्य की वर्तमान धारा : ट्रेजिडी का स्वरूप विश्लेषण, पृ० ८८-८९।

मानसिक स्थिति का विवेचन करते हुए करुणरसास्वाद का स्वरूप आनंदमय निर्धारित किया है। कतिपय समीक्षकों ने संस्कृत आचार्यों की एतद्विषयक मान्यताओं का ही व्याख्यान-विवेचन कर दिया है। विशेषतः श्री रामदहिन मिश्र, डा० गुलाबराय, श्री कन्हैयालाल पोद्दार तथा डा० श्यामसुंदर दास ने परंपरागत साधारणीकरण तथा अलौकिकत्व के आधार पर करुण रसास्वाद को आनंदमय ही माना है। पं० केशवप्रसाद मिश्र ने 'मधुमती भूमिका' में कवि की काव्य-सर्जन कालीन विशिष्ट मानसिक स्थिति का प्रतिपादन किया है, जिसमें लौकिक सुखदुःखात्मक भाव अलौकिक सुखात्मक रूप को धारण कर लेते हैं, अतः इनके अनुसार जब सहृदय भी इसी मधुमती भूमिका में करुण रस का आस्वाद लेता है तब उसे भी आनंदानुभूति ही होती है, दुःखानुभूति नहीं। डा० नगेन्द्र ने भी करुण रस में मूलतः कवि-भावन की प्रक्रिया से दुःख का दंश मिट जाने का प्रतिपादन किया है और तदनुरूप सहृदय को भी आनंदानुभूति ही होती है, इसका विवेचन किया है। इसी प्रकार श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु का मत है कि आनंद और विषाद भाव के साथ आनन्दभाव अनिवार्यतः संलग्न रहता है। अतः कवि के विषाद वर्णन से आनंद को एकांततः पृथक् नहीं किया जा सकता। सहृदय आस्वादक को करुण-प्रसंग से जहाँ-जहाँ तादात्म्य होगा, वहाँ-वहाँ मन के ओज का व्यय अनुकूल दिशा में होने से उसे आनंदानुभूति ही होती है। श्री कन्हैयालाल सहल ने भी 'आत्म-प्रसार की भावना' तथा 'भावमग्नता' के कारण कवि तथा सहृदय दोनों की मानसिक स्थिति में दुःख के स्वरूप परिवर्तन का समर्थन करके करुण रसास्वाद को आनंदमय ही माना है। इस प्रकार हिन्दी के कतिपय आधुनिक समीक्षकों ने करुण रसास्वाद के स्वरूप-निर्धारण में कवि तथा सहृदय की मानसिक अवस्था का आँतरिक विश्लेषण किया है।

करुण रसानुभूति का स्वरूप

मराठी में

जिस प्रकार संस्कृत के आचार्यों में करुण रस की आनन्दात्मक स्थिति के विषय में मतैक्य नहीं है, उसी प्रकार मराठी के आधुनिक काव्यशास्त्रज्ञों में भी मत-भिन्नता है। मराठी के आधुनिक युग के आरम्भ से ही एक पक्ष करुणरस की आनन्दात्मक स्थिति पर बल देता आया है तो दूसरा दुःखात्मक। कतिपय विचारकों की धारणा में सुख-दुःख के समन्वय में ही करुण रसानुभूति का स्वरूप निहित है।

आचार्य भट्टनायक ने तटस्थता के आधार पर रस-प्रतीति में 'अनास्वाद्यत्व'

की स्थिति मानी है।[१] करुण रसानुभूति में भी तटस्थता नहीं होती वरन् तादात्म्य की स्थिति ही होती है, इस आशय से श्री० नी० चापेकर ने 'सहानुभूतिपूर्ण तादात्म्य' के अपने अभिमत का विस्तार से प्रतिपादन किया है। इनके मत में करुण रस का सम्बन्ध भावनाशील मानव जाति की स्वाभाविक एवं स्वयंसिद्ध शाश्वत मनोवृत्ति से है। जब कभी किसी व्यक्ति पर दुःख का पहाड़ टूट पड़ता है, तब मनुष्य में उसके प्रति सहानुभूति दिखाने और उसके दुःख से द्रवीभूत होने की प्रवृत्ति 'स्वभाव सिद्ध' और 'सद्यः प्रवाही' होती है। संकटग्रस्त व्यक्ति से हमारा प्रत्यक्ष सम्बन्ध भले ही न हो, चाहे हम उसके दुःख-परिहार में सर्वथा असमर्थ हों तो भी सर्वसामान्य मानवी मनोवृत्ति के आधार पर उस व्यक्ति से सहानुभूतिपूर्ण तादात्म्य पाने की जो हमारी अंतःकरण की शक्ति है, वही करुण रसोद्गम का उत्स है। अन्य रसों की तुलना में करुण रस में स्वार्थ-निरपेक्षता अधिक होती है, फलतः उदात्त व कोमल भावनाशील व्यक्ति करुण रस को ही श्रेष्ठ स्थान देते हैं।'[२]

हरिश्चन्द्र, द्रौपदी, रामचन्द्र आदि सात्विक वृत्ति के व्यक्तियों को संकटग्रस्त देखकर सहृदय उनसे सहानुभूति पूर्ण तादात्म्य प्राप्त कर लेता है, इसी से उसे एक प्रकार की आनन्दानुभूति होती है। श्री चापेकर ने करुण रसानुभूति में दुःख से द्रवित होने की 'स्वभाव सिद्ध' तथा 'सद्यः प्रवाही' मानवी मनोवृत्ति को ही करुण रसानुभूति की मार्मिकता का मूलभूत कारण ठहराया है। इनके विपरीत श्री गो० ग० आगरकर की मान्यता में दुःखपर्यवसायी काव्य के अध्ययन अथवा रंगमंच पर प्रदर्शन से सहृदय को दुःखानुभूति ही होती है, आनन्दानुभूति नहीं। इन्होंने काव्याध्ययन कालीन सहृदय की मानसिक स्थिति का विश्लेषण 'कल्पना शक्ति' और 'काव्यवस्तु' के आधार पर किया है। इनके मत में 'काव्याध्ययन के समय एक दूसरे से नितांत भिन्न दो प्रकार के मानसिक व्यापार होते हैं। प्रथम में कल्पनाशक्ति जाग्रत ('प्रज्वलित') होकर मन का काव्यवस्तु से तादात्म्य करने के लिए प्रयत्नशील रहती है। दूसरे में, कल्पना से निर्मित काव्यवस्तु अपने स्वभावानुरूप पाठकों के मन में अनुकूल या प्रतिकूल संवेदना जागृति के लिए अंशतः कारण रूप होती है। फलतः दुःखपर्यवसायी काव्यों के अध्ययन से मनोवृत्ति को किंचित् खिन्नता प्राप्त होती है और सुख पर्यवसायी काव्याध्ययन

---

१. 'भट्टनायकस्तु ताटस्थ्येन रस प्रतीतावनास्वाद्यत्वम्'.... रसगंगाधर (काव्यमाला) पृ० २८।
२. काव्यचर्चा, पृ० १५०-१५२।

से किंचित् आनन्द मिलता है ।'[1]

श्री आगरकर का अभिमत संस्कृत के भाववादी आचार्यों की धारणाओं से मिलता-जुलता है । रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने सुखदुःखात्मक भावों से काव्य-निबन्धन और तदनुरूप ही सहृदय के आस्वादन का समर्थन किया है ।[2] इसी प्रकार श्री आगरकर ने काव्यवस्तु को सहृदय में अनुकूल-प्रतिकूल संवेदना-जागृति का आंशिक कारण ठहराया है परन्तु साथ ही इन्होंने काव्याध्ययन के क्षणों में सहृदय की कल्पना-शक्ति की जागृति का भी विशेष प्रतिपादन किया है ।

रसास्वाद प्रकरण में श्री न० चि० केळकर के 'सविकल्प समाधि' के सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन हो चुका है ।[3] इसी प्रसंग में इन्होंने करुण रसानुभूति की प्रक्रिया का भी विवेचन किया है । इन्होंने व्यावहारिक जगत् की प्रत्यक्ष दुःखानुभूति और काव्य-जगत् की दुःखानुभूति के पारस्परिक अंतर को स्पष्ट किया है और करुणरसानुभूति में दुःखानुभूति की अपेक्षा आनंदानुभूति का ही एकांत रूप से समर्थन किया है । इनका अभिमत इस प्रकार है : 'काव्यास्वाद के लिए उपस्थित सहृदय अपनी भूमिका का परित्याग न करते हुए दूसरों की स्थिति का अनुभव-आनंद प्रतिभा द्वारा ही प्राप्त कर सकता है ।... रसपूर्ण काव्याध्ययन से जो आनन्द मिलता है, उसका मूल कारण है आत्मसादृश्य का ज्ञान । किसी भी रस के स्थायी भाव को, क्षण भर के लिए ही सही, जब तक उसे हम अपना नहीं समझते, तब तक रस-प्रतीति नहीं होती । प्रत्यक्ष जगत् में अपनी कन्या की बिदाई के समय अश्रुपात करते हुए हम जिन शब्दों का उच्चारण करते हैं, वे हमारे लिए काव्य-रूप नहीं होते । क्योंकि इसमें तो अपनी स्वतः की भूमिका का इकहरा अनुभव होता है । परन्तु शाकुन्तल के चतुर्थ अंक में कण्व के कन्या-विरह प्रसंग में अश्रुपात करते हुए हम जिन शब्दों को पढ़ते हैं, वे हमारे लिए काव्य रूप होते हैं, क्योंकि यहाँ एक की अपेक्षा दो भूमिकाएँ (स्थितियाँ) हैं । पाठक अपनी भूमिका का परित्याग न करके मन से दूसरी भूमिका पर संक्रमण करता है और प्रतिभा से अनुभव ग्रहण करता है, अतः वह दुःख न हो कर रसास्वाद का ही आनंद है ।'[4]

---

१. दे० 'कवि, काव्य व काव्यरति' लेख, काव्यालोचन (द० के० केळकर), पृ० १८२ ।
२. नाट्यदर्पण, पृ० १५ ।
३. दे० रसास्वाद प्रकरण, पृ० २०१ ।
४. विचार सौन्दर्य (वा० म० जोशी) पृ० २७ ।

श्री न० चि० केळकर के अभिमत से स्पष्ट है कि उन्होंने काव्यगत पात्रों से तादात्म्य का समर्थन किया है, तत्वतः पात्र तो कवि की भावना के प्रतीक होते हैं, अतः काव्य-वर्णित पात्रों की भावना से तादात्म्य का अर्थ होता है—कवि भावनाओं से तादात्म्य। इसीलिए श्री वा० म० जोशी ने इस अभिमत में तादात्म्य-प्रतिपादन को समीचीन नहीं माना है। सहृदय कण्व की भूमिका पर संक्रमण करने की अपेक्षा कालिदास-प्रेषित भावनाओं का आस्वाद लेता है।[1] काव्यगत पात्रों से एकांत तादात्म्य मानने से संभाव्य दुःखानुभूति के दोष का परिहार करने के लिए ही संभवतः स्वकीय भूमिका की रक्षा, 'परकीय भूमिका पर संक्रमण' और प्रातिभिक अनुभव का प्रतिपादन इस अभिमत में किया गया है। सिद्धान्त रूप में श्री न० चि० केळकर रस-ध्वनिवादी आचार्यों के समान करुण रस में आनंदानुभूति का ही समर्थन करते हैं, किन्तु करुण रसानुभूति की प्रक्रिया के विषय में इन्होंने परंपरा से भिन्न स्वतंत्र दृष्टि से विचार करने का प्रयत्न किया है।

द्विविधमन :

करुण रस को दुःखात्मक मानते हुए भी श्री दा० ना० आपटे ने उसके रसास्वाद को आनन्ददायक ठहराया है। इन्होंने पतंजलि के आधार पर मानव मन की द्विविधता 'अणु' तथा 'विभु' रूप की परिपुष्टि की है। इनके मत में करुण रस में आनन्दोपलब्धि का कारण सहृदय का अणु मन है। द्विविध मन की प्रक्रिया और करुण रस से आनन्दोपलब्धि के इनके विवेचन का मुख्य अंश इस प्रकार है : 'पतंजलि के योग सूत्र में मानवी मन की द्विविधता का प्रतिपादन है—एक 'अणु' और दूसरा 'विभु' कहाता है। अणु तो सूक्ष्म और कारणरूप होता है और 'विभु' व्यापक तथा कार्यरूप। 'विभु' अथवा कार्यरूप मन से वह संसार की विभिन्न वस्तुओं से उत्पन्न भावनाओं की अनुभूति कर सकता है, साथ ही दूसरे अणु अथवा कारण रूप मन से वह विविध व्यापारों के मूल में निहित आनन्द का आस्वाद ले सकता है। मन के सदृश ईश्वर का स्वरूप भी द्विविध है। एक अंश से वह समस्त रूपात्मक जगत् का संक्रमण करता है तथा दूसरे अंश से अपने मूल स्वरूप में स्थिर रहता है। ईश्वर मूलरूप में आनन्दस्वरूप है और बाह्य जगत् स्वरूप से वह दुःख का अनुभव करता हुआ प्रतीत होता है। . . . (इसी प्रकार) एक ही समय बाह्य मन से दुःखी संसार के दुःख का अनुभव लेते हुए भी जीवात्मा अन्तर्मन से नित्य आनन्द का उपभोग कर सकता है। मानवात्मा परमेश्वर का अंश है अतः वह द्विविध भावनाओं के आस्वादन में समर्थ होता है। इसी कारण शोक-

---

१. विचार सौन्दर्य, पृ० ३१।

पूर्ण साहित्य के अध्ययन से बाह्य मन को दुःख होने पर भी उसे दूसरे अन्तर्मन से कवि-कृति से प्राप्य आनन्द का लाभ होता है।'[१]

श्री आपटे की मान्यता का प्रा० जोग, डा० वाटवे आदि ने सुविस्तृत समालोचन किया है।[२] इनके मत में निहित अनेक न्यूनताएँ आलोचकों को प्रतीत हुई हैं। मानसशास्त्र का अन्तर्मन इनके 'अणु' मन से अधिक विशाल है, उसमें केवल सुख को ही नहीं सुखदुःख दोनों को ग्रहण करने की शक्ति है। यह समझना कठिन है कि 'अणु' मन केवल सुख को ही कैसे चुन लेता है। आज के तार्किक मस्तिष्क का समाधान इस आधार पर करना कठिन है कि जीवात्मा ईश्वर का अंश है, अतः उसमें भी ईश्वरीय अलौकिक गुण आ गये हैं। आधुनिक युग में ईश्वर की सत्ता पर आशंका करने वालों का एकांत अभाव नहीं है। यदि काव्याध्ययन में दो मनों का उपयोग हो सकता है तो व्यावहारिक जीवन में भी इनकी उपयोगिता सिद्ध होनी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में दुःखद प्रसंगों में फँसने पर भी अन्तर्मन से आनन्द प्राप्त कर लेता। आधुनिक युग के किसी भी मानसशास्त्रज्ञ ने अन्तर्मन (सब्-कानशस) का गुण नित्य आनन्दोपभोग करना प्रतिपादित नहीं किया है।[3]

कटुसत्य की प्रतीति

करुणरसास्वाद के प्रसंग में श्री न० चि० केळकर के अभिमत 'परकीय भूमिका संक्रमण' को श्री वा० म० जोशी ने अपर्याप्त और सदोष माना है। इसके स्थान पर इन्होंने करुण रसास्वाद में कटु सत्य की प्रतीति या उदात्तभाव की अनुभूति को ही आनन्द का कारण निर्धारित किया है। काव्याध्ययन में तल्लीन सहृदय की एक विशिष्ट मनोवृत्ति बनती जाती है। इसमें आनंदतत्व निहित होता है। प्रत्येक सहृदय काव्याध्ययन के समय काव्य-वर्णित विचारों तथा 'विकारों' के आकलन मात्र के लिए समरस होता है। वह अपनी तटस्थता तथा निजी व्यक्तित्व की भिन्नता को पूर्ण रूप से कभी भी नष्ट नहीं होने देता। शोक गंभीर नाटकों में जो आनंद मिलता है, उसका एक प्रमुख कारण है कटु सत्य की प्रतीति। नाटक के अध्ययन अथवा रंगमंच पर प्रेक्षण से इसकी प्रतीति होती है और इसी से मनुष्य को एक प्रकार का आनन्द मिलता है।'[४] उदाहरणार्थ, 'आथेलो' नाटक में 'देस्दि-

---

१. साहित्य प्रकाश, पृ० १४२-१४३।
२. अभिनव काव्य प्रकाश, पृ० १५४।
रस विमर्श, पृ० १९७।
३. सौन्दर्य शोध आणि आनंद बोध, पृ० २२९-३१।
४. विचार सौन्दर्य, पृ० ८४।

मोना' की हत्या को देख कर हमें जो आनन्द होता है उसका कारण 'आयेलो', देस्दिमोना या मूलतः शेक्सपियर से समरसत्व पाना नहीं है, बल्कि जिन विशिष्ट परिस्थितियों में पड़ कर सच्चरित्र पात्र भी इस प्रकार का आचरण करते हैं जो उनके लिए उन परिस्थितियों में संभाव्य है या अपेक्षित है, सहृदय प्रेक्षक को इसी कटु सत्य की प्रतीति होती है, अतः उसे दुःख की अपेक्षा आनंद मिलता है। रघुवंश के अज विलाप प्रसंग में हमें इंदुमती से अथवा शोकाकुल अज से तादात्म्य होने के कारण आनंद नहीं मिलता बल्कि प्रस्तुत प्रसंग के अध्ययन के समय हम व्यक्ति निष्ठ स्वार्थ-दृष्टि को दूर कर देते हैं और पति-पत्नी के प्रेम में जो उच्चतम भाव भरे होते हैं, उनकी प्रतीति हमें होती है, फलतः करुण रस से भी आनंद मिलता है।'[1]

इस अभिमत में एक ओर सहृदय की तटस्थता का समर्थन किया गया है तो दूसरी ओर 'कटुसत्य की प्रतीति' तथा 'उदात्तभाव की अनुभूति' में भावनात्मक तादात्म्य का प्रतिपादन किया गया है। तीसरी ओर व्यक्तिनिष्ठ स्वार्थ दृष्टि से ऊपर उठने का आग्रह प्रकट करके श्री वा०म० जोशी ने साधारणीकरण की प्रक्रिया का भी अनुमोदन कर दिया है। 'कटु सत्य' की प्रतीति और 'उदात्तभाव की अनुभूति' के विवेचन में श्री वा० म० जोशी पाश्चात्य लेखक 'निकल' के एतद्विषयक प्रतिपादन से प्रभावित प्रतीत होते हैं।[2]

प्रा० द० के० केळकर ने करुण रस के आस्वाद का विवेचन करते हुए प्रथम अभिनवगुप्त, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि आचार्यों की केवल आनंदवादी मान्यताओं का प्रत्याख्यान किया है। इनकी मान्यता में करुण रस के आस्वादकालीन आनंदावस्था में सुखदुःख का मिश्रण रहता है। संस्कृत आचार्यों द्वारा करुण रसास्वाद में निःसृत अश्रुओं को आनन्दाश्रु प्रतिपादित करना अनुभव-विरुद्ध है। करुण रसास्वाद के अश्रुपात में दुःखभावना ही निहित होती है, वे आनंद के अश्रु नहीं होते। दुःख, भय आदि प्रतिकूल भावनाओं की सहृदय अनुभूति करता ही है, परन्तु करुण रसास्वाद में इतना अंतर अवश्य हो जाता है कि वे भावनाएँ अधिक तीव्र नहीं होतीं। प्रमुख भावना आनंद की ही बन जाती है।[3]

करुण रसास्वाद में प्रमुख भावना आनंद की ही क्यों बन जाती है ? अथवा

---

१. विचार सौन्दर्य, पृ० २४।

२. दे० Allardyce Nicoll; The Theory of Drama, The Sense of nobility, The Sense of Universality. p. 124-132(1931)

३. काव्यालोचन, पृ० १८३।

दुःखानुभव सहृदय के लिए क्यों सह्य बन जाता है ? इस शंका का समाधान-श्री केळकर ने पर्याप्त विस्तार पूर्वक किया है। इन्होंने प्रथम प्लेटो, अरस्तू, आस्कर वाइल्ड, क्रोचे, गेटे आदि पाश्चात्यों की करुण रस से सम्बद्ध विशिष्ट मान्यताओं का समालोचन किया है, तदुपरान्त करुण रसास्वाद में आनन्द तत्व की प्रधानाता सिद्ध करने के लिए इसके तीन प्रकारों का उल्लेख किया है।

१ करुण रस का प्रथम प्रकार :—

व्यक्ति जीवन में संकट आते हैं, इसका कारण निष्ठुर भवितव्यता अथवा नियति है। इस प्रकार के संकटों में व्यक्ति का कोई दोष नहीं दिखाई देता। यदि इस प्रकार के संकटों का वर्णन काव्य-नायक के जीवन में किया जाय तो इससे पाठकों का हृदय हल्का हो जाता है। उन्हें नियति की निष्ठुरता की प्रतीति रहती है, उन्हें अपने समान ही दूसरों को भी संकट में दुखी जानकर समाधान होता है। निरपराधी राम का वनवास, निर्दोष द्रौपदी का वस्त्रहरण आदि कथाओं को पढ़कर दुःखी पाठक का मन द्रवित होकर एक प्रकार का हल्कापन अनुभव करता है। इसी कारण वन में रहते हुए पाण्डवों को हरिश्चन्द्र, रामचन्द्र आदि की कथाओं को ऋषिमुनियों से सुनने में तन्मयता की अनुभूति होती थी।

२ करुण रस का दूसरा प्रकार:—

अनेक करुण दृश्यों में व्यक्ति निजी दोषों के कारण ही यातनाएँ सहता है। पाण्डव द्यूतक्रीड़ा के निजी दोष के कारण संकट में फँस कर यातनाएँ सहन करते हैं। पाठक को इस प्रकार के दोष मानव स्वभाव सुलभ प्रतीत होते हैं। अतः इस प्रकार की करुण कथाओं में भी वह सरसता अनुभव करता है।

३ करुण रस का तीसरा प्रकार:—

इसमें नायक आदर्शवाद से प्रेरित होकर संकटों का सामना करता रहता है। इसमें सत्प्रवृत्तियों का पारस्परिक संघर्ष दर्शाकर जिस करुण कथा का विस्तार किया जाता है, वह अधिक श्रेष्ठ बन जाती है। लोकाराधन के लिए राम का सीता-त्याग इसी प्रकार का संघर्ष है। पाठक राम से तादात्म्य पाता है, उसकी धैर्य भावनाओं से प्रभावित होता है। प्रेक्षक की अंतःकरणस्थ उच्च प्रवृत्तियाँ जाग्रत हो जाती हैं, उसे आनंद मिलता है।

इन तीनों ही करुण रस के प्रकारों में श्री द० के० केळकर ने अंतिम प्रकार के करुण रस को 'करुणोदात्त रस' की संज्ञा देकर श्रेष्ठ बताया है। क्योंकि समस्त मानव संस्कृति के इतिहास का तात्पर्य इसी में निहित है कि कनिष्ठ प्रवृत्तियों पर श्रेष्ठ प्रवृत्तियों की विजय प्राप्ति का प्रयत्न हो। बाह्य जगत् पर विजय पाने से

मनुष्य को जितना आनन्द मिलता है, उतना ही बल्कि उससे भी अधिक अन्तर्जगत् पर विजय पाने से मिलता है। सुख और कर्त्तव्य के संघर्ष में सुख का परित्याग करने वाला वीर धीरोदात्त कहलाता है। सीता के परित्याग में राम ने अपने सुख को भी तिलांजलि दे दी। इसी आधार पर भवभूति ने वज्र के हृदय को भी विदीर्ण करने वाले करुण चित्र को उतारा है, उसमें चिरंतन आकर्षण की शक्ति भी इसी कारण निहित है।[१]

संक्षेप में करुण रस से आनंदानुभूति का ही समर्थन प्रा० द० के० केळकर ने किया है। परंपरागत चिंतन से इनका इतना ही मतभेद है कि प्राचीन संस्कृत के आचार्य केवल आनंदवादी दृष्टिकोण लेकर अग्रसर हुए हैं, अतः करुणरसास्वाद में निःसृत अश्रुओं को भी वे आनंदमूलक सिद्ध करते हैं। वस्तुतः करुण रस में दुःख की स्थिति है अवश्य किन्तु प्रधानता आनंद की ही हो जाती है।

सुख दुःखात्मक रस-स्वरूप के समर्थकों में प्रा० रा० श्री जोग के अभिमत का विस्तार से निरूपण किया जा चुका है।[२] रस की भाववादी परंपरा का अनुसरण करने के कारण प्रा० जोग ने करुण रसास्वाद में एकांततः आनन्द की स्थिति स्वीकार नहीं की है। इन्होंने भारतीय और पाश्चात्य मनीषियों की करुण रस से सम्बद्ध विभिन्न विशिष्ट मान्यताओं का विस्तृत समालोचन किया है। निष्कर्ष रूप में इनका अभिमत इस प्रकार है: 'इसमें सन्देह के लिए कोई कारण नहीं है कि करुण रस का अनुभव विशुद्ध सुखात्मक न होकर दुःखमिश्रित होता है। दुःखद प्रसंग के वर्णन से सर्वसाधारण को दुःख ही होगा। इस दुःख की तीव्रता कम हो सकती है और कई बार तो पर्याप्त न्यून हो जाती है, परन्तु इसमें दुःख के अस्तित्व का एकांत प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता'।[3]

करुण रस में दुःख की स्थिति स्वीकार करने के उपरान्त शंका उठती है कि सहृदय दुःखान्त के अध्ययनार्थ क्यों प्रवृत्त होता है? करुण रसात्मक काव्यों के अध्ययन में पाठक की प्रवृत्ति का विश्लेषण करते हुए प्रा० जोग ने मुख्यतः तीन कारणों पर प्रकाश डाला है:

१. काव्य में वर्णित दुःख निजी न होकर परकीय होता है तथा कल्पनाजन्य होता है, अतः उसमें प्रत्यक्ष व्यावहारिक जगत् की तीव्रता नहीं होती।

२. लेखक की वर्णन कुशलता, 'भाषा विलास', प्रसंग निरूपण की निपुणता

---

१. काव्यालोचन, पृ० १८४-१९३।

२. दे० रस-स्वरूप प्रकरण।

३. अभिनव काव्य प्रकाश पृ० १६९।

आदि से अनुकूल भावोत्पत्ति होती है और इसका परिणाम संमिश्र करुण रस में होता है।

३. नवीन ज्ञान की तथा जिज्ञासा की तृप्ति भी करुण रसात्मक काव्यों से होती है।

करुण रस अथवा दुःखान्तकी में दुःख के अस्तित्व की पुष्टि लेखक ने एक अन्य तथ्य के आधार पर भी की है। वाङमयीन अथवा कला विषय से सम्बद्ध व्यक्तियों से जब आस्वादक भी अधिक समरस हो जाता है तो उसे दुःख असह्य हो उठता है। अनेक व्यक्ति 'एक च प्याला' (मराठी) नाटक को अंत तक नहीं देख पाते क्योंकि उत्तरोत्तर दुःखद प्रसंग असह्य हो जाते हैं। कई लोग कविवर यशवंत की माँ शीर्षक कविता करुण भावना की तीव्रता के कारण अधिक देर तक सुन नहीं पाते। कलाजन्य अनुभूति और व्यावहारिक अनुभूति में पर्याप्त साम्य होता है। अतः इनके मत में करुण रस में दुःख की स्थिति का प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता।

प्रा० जोग ने विशेषतः भाववादी दृष्टिकोण अपनाया है। इन्होंने संस्कृत के आनन्दवादी आचार्यों की भाँति न तो काव्य के अलौकित्व व्यापार को स्वीकृति दी है और न साधारणीकरण की प्रक्रिया को और न काव्यास्वाद की अनिर्वचनीयता को। परिणामतः इन्होंने करुण-रसानुभूति में दुःखानुभूति की स्थिति स्पष्टतः स्वीकार की है। अपने अभिमत की पुष्टि में इन्होंने तीव्र करुणरसात्मक काव्य-नाटकों के आस्वादक सहृदयों की मनोवस्था का विवेचन किया है और उनके आधार पर भी करुण दुःखानुभूति को ही प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है।[१]

डा० वाटवे ने त्रासदी में आनन्दानुभूति का विवेचन करते हुए यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि दुःखद प्रसंगों से तादात्म्य होने पर सहृदय को असंदिग्ध रूप से दुःखानुभूति होती ही है। तादात्म्य या सहानुभूति का तात्पर्य यही है कि परकीय सुख में सुखानुभूति करना और परकीय दुःख में दुःखानुभूति। करुण रस में निरूपित दुःख सहृदय के लिए किस प्रकार सह्य बन जाता है अथवा इससे आनन्दोपलब्धि कैसे होती है? इस जटिल प्रश्न का समाधान डा० वाटवे ने समन्वयात्मक दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है। इन्होंने प्रथम दो प्रकार से प्रेक्षकों का निरूपण किया है। एक तो वे हैं, जो करुण दृश्य को देख कर वस्तुतः दुःखी होते हैं, ऐसे व्यक्ति शोकान्त नाटकों को पढ़ने अथवा देखने के लिए भी उद्यत नहीं होते, इनकी मानसिक अवस्था में मूलतः करुण-वृत्ति प्रचुर मात्रा में भरी रहती है, अतः

---

१. अभिनव काव्य प्रकाश, पृ० १६९।

इन्हें दुःखानुभूति ही होती है। दूसरे प्रकार के प्रेक्षक वे हैं, जो त्रासदी नाटकों के दृश्यों को तटस्थ होकर देखते रहते हैं, उन्हें दुःखानुभूति तनिक भी नहीं होती। तीसरे प्रकार के सच्चे सहृदय वे हैं, जिन्हें अनभिमत घटनाओं में भी सौन्दर्य-दर्शन की दृष्टि प्राप्त है। इन सच्चे सहृदयों को शोकान्त दृश्यों में दुःखानुभूति तो होती ही है परन्तु वे इस कड़वी गोली को मीठी बना कर निगलते हैं। वे तादात्म्य की स्थिति को कुछ शिथिल कर लेते हैं। तटस्थ बन कर अपने मन को दृढ़ कर लेते हैं। साथ ही यह नाटक है, मैं मनोरंजनार्थ इसे देखने आया हूँ इत्यादि विचारों से वे इस दुःख की स्थिति से कुछ दूर हटते जाते हैं। लगभग तटस्थता अथवा 'सेल्फ डिटेचमेन्ट' की उनकी स्थिति बन जाती है। इसके अतिरिक्त त्रासदी के दुःख-उपभोक्ता नायक आदि के गुण-दोषों का ध्यान, नट-कौशल, कवि-प्रतिभा इत्यादि के सौन्दर्य-चिन्तन से प्रेक्षक सहृदय के लिए दुःखानुभूति सह्य बन जाती है।[1]

बाह्य घटना शोककारक हो अथवा आनन्ददायक हो, यदि वह प्रतिभा द्वारा वर्णित है तो उसमें पाठक की कल्पना शक्ति को जाग्रत करने की सामर्थ्य होती है, जिससे आनन्द तत्व का मिश्रण हो जाता है। एडिसन की प्रस्तुत विचारधारा के अतिरिक्त नीत्शे जैसे दार्शनिकों की दृष्टि भी पाठकों में जाग्रत हो जाती है जिसमें 'मानवी आशा की निस्सारता, नियति की प्रबलता और ईश्वरेच्छा की बलवत्ता' से संसार के सत्यस्वरूप को समझने का प्रयत्न किया जाता है और ल्यूकस की मान्यतानुसार ज्ञानलालसा-तृप्ति से भी एक प्रकार का समाधान होता है।[2]

इस प्रकार पाश्चात्य मनीषियों के एतद्विषयक दृष्टिकोणों का अध्ययन करते हुए अन्त में करुण-रसानुभूति के स्वरूप के विषय में डा०वाटवे ने निष्कर्ष निकाला है : 'शोकान्त नाटक एक कड़वे करेले के समान है, जिसे तत्व जिज्ञासा के घी में तला जाता है, काव्य-सौन्दर्य की शर्करा में लिपटाया जाता है फिर भी कतिपय व्यक्तियों के मत में वह कड़वा ही रहता है, इसके विपरीत कतिपय अन्य व्यक्ति हैं जो बड़ी तन्मयता से इसका आस्वादन करते हैं। सारांश, केवल आनन्दवादी और केवल दुःखवादी विचारकों को अपनी ऐकान्तिक धारणाओं का परित्याग करके समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। क्योंकि शोकान्त वाङमय जन्य आस्वाद का मूल बीज इसी समन्वय में निहित है।'[3]

श्री नी० र० वर्‍हाडपाण्डे ने करुण रसानुभूति की आनन्दात्मकता का विश्ले-

---

१. रसविमर्श, पृ० २०४।
२. रसविमर्श पृ० २०५।
३. वही, पृ० २०६।

षण पर्याप्त व्यापक दृष्टिकोण से किया है। इन्होंने सामान्यतः अनुकूल वेदनीयता के आधार पर कला की अनुभूति को आनन्दात्मक स्वीकार किया है। 'कला मानव मन के इच्छात्मक, विचारात्मक और भावात्मक व्यापारों को निर्बाध रूप से प्रवाहित कर के आनन्द प्रदान करती है।'करुणा और भय भी अन्य व्यापारों की भाँति मन के स्वाभाविक व्यापार हैं। कलाकृति के अध्ययन से इनका स्वाभाविक प्रवाह होता रहता है, अतः करुणा में भी आनन्द ही प्राप्त होता है। प्रस्तुत 'करुण-भावना-प्रवाह' की विचार धारा अरस्तू के मनोरेचन (कॅथार्सिस) और भारतीय आचार्यों के 'पूरोत्पीडे तडागस्य परिवाहः प्रतिक्रिया' के चिन्तन से नितांत भिन्न नहीं है। इन्होंने करुण रसानुभूति की आनन्दात्मकता का समर्थन क्रीडा-सिद्धान्त के आधार पर भी किया है। मानवी मन में करुणानुभूति की स्वाभाविक शक्ति है।वास्तविक जीवन में करुणानुभूति के प्रसंग आते हैं, परन्तु इनमें करुणा का अनुभव करना मात्र हेतु नहीं होता। वास्तविक जीवन में करुणानुभूति के साथ आत्मकल्याण की वृत्तियाँ बाधित हो जाती हैं, अतः इसमें करुणा की सुखद शीतलता लुप्त हो जाती है। परन्तु कलानिर्मित करुणानुभूति में मन को केवल करुणा की अनुभूति कराना ही उसका हेतु होता है। मानवी मन मेंकरुणानुभूति के ग्रहण की स्वाभाविक शक्ति होती है। उसकी स्वाभाविक अभिव्यक्ति हो, उसे मार्गप्राप्त हो, उसका अनिवार्य उत्साह स्वच्छन्द विहार कर सके इसीलिए कला करुणानुभूति निर्माण करती है, अर्थात् इस करुणानुभूति का करुणानुभव के अतिरिक्त दूसरा कोई हेतु नहीं है। अतः क्रीडा के शक्तिव्यय के समान यह भी अहेतुक है, अतः आनन्ददायक है।'[1]

इन्होंने 'अनुकूलतया वेदनीयं सुखं' इस सुख की कसौटी पर करुण रस की सुखात्मकता या आनन्दात्मकता का समर्थन किया है, क्योंकि करुणभाव मानवमन के अनुकूल वेदनीय है तभी वह उसकी अनुभूति के लिए बार-बार प्रवृत्त होता है। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'काल-विस्मृति' की कसौटी पर भी करुण रस की आनन्दात्मकता सिद्ध की है। प्रत्यक्ष जीवन में अभिघटित दुःखानुभूति के क्षण शीघ्र नहीं बीतते परन्तु आनन्दानुभूति के क्षण शीघ्र समाप्त हुए से प्रतीत होते हैं।[2] इस व्यावहारिक तथ्य को श्री वऱ्हाडपांडे ने करुण रसानुभूति के क्षणों पर भी घटाया है। काव्य-नाटक के करुण रसानुभूति के क्षण भी आनन्दानुभूति के क्षणोंके समान

---

१. कलेचें तत्वज्ञान, सह्याद्रि खंड २५ अंक ३।

२. 'योगे वियोगे दिवसोऽङ्गनाया अणोरणीयान् महतो महीयान्'
प्रियतमा के योग में दिन की लघुता और वियोग में दिन की दीर्घता का वर्णन प्रायः शृंगार रस प्रधान काव्यों में सर्वत्र मिलता है।

ही शीघ्र समाप्त होते से प्रतीत होते हैं, उनके पुनरानुभव तथा पुनर्दर्शन की अकांक्षा बनी रहती है, अतः करुण रस आनन्दात्मक ही होता है, दुःखात्मक नहीं।[1]

नौ रसों का मानसशास्त्रीय विवेचन करते समय श्री वर्‌हाडपांडे ने इनकी सुखात्मकता का व्यापक प्रतिपादन किया है। इनकी एकांत दृढ़ धारणा है कि सभी भावनाओं का उद्‌गम सुखात्मक प्रवृत्ति से ही होता है। 'करुणा' की जागृति में भी प्रेमभाव की पूर्वस्थिति नितांत अनिवार्य है। 'करुणा' सुख-प्रवृत्ति से ही निर्मित होती है। 'क्योंकि' मानव की नैसर्गिक सुख-प्रियता में जब अननिवार्य बाधा उत्पन्न होती है, तब जो अभावात्मक भावना उत्पन्न होती है, वही करुणा है। फलतः करुणा मूलतः सुखप्रवृत्ति पर ही अवलंबित है। यदि सुख-प्रवृत्ति ही न होती तो उसकी बाधा या रुकावट से अन्य किसी भावना की उत्पत्ति ही असंभव हो जाती।'[2] इस प्रकार मूलतः करुणा के सुखजन्यत्व की मीमांसा करके इन्होंने करुणरसानुभूति को आनन्दात्मक सिद्ध किया है।

डा० वाळिंबे ने करुण रस की मीमांसा में संस्कृत आचार्यो एवं पाश्चात्य विद्वानों की विभिन्न धारणाओं का समीक्षण करते हुए अपने अभिमत का स्पष्टीकरण किया है। करुण रस प्रधान काव्य-नाटकों में रसास्वाद की स्थिति तभी संभव है जब कि सहृदय-प्रेक्षक के तादात्म्य-सिद्धान्त को स्पष्टतः स्वीकृति दी जाय। अन्यथा त्रासदी नाटकों की मार्मिकता से प्रेक्षक भली भाँति प्रभावित नहीं हो सकता। प्रायः त्रासदी नाटकों के पात्र सामाजिक संघर्ष अथवा इसी प्रकार की अन्य अनेक दारुण यातनाओं में फँसे हुए चित्रित किये जाते हैं, वे विभिन्न प्रकार की यातनाओं को सहन करते हैं। इन नाटकों के प्रेक्षक सहृदय को भी उसी प्रकार की यातनाओं की अनुभूति उनसे भावनात्मक दातात्म्य के कारण होती है। प्रस्तुत भावनात्मक तादात्म्य को चाहे 'एंपथी' कहा जाय चाहे 'स्पिरिचुअल सिंपथी'। "मूल प्रतिपाद्य यही है कि करुण रस पूर्ण घटनाओं के दर्शन से प्रेक्षक को दुःख ही होता है।'[3] आचार्य विश्वनाथ की केवल आनन्दवादी मान्यता का डा० वाळिंबे ने प्रत्याख्यान किया है।[4] क्योंकि अनेक त्रासदी नाटकों को देखने के पश्चात् प्रेक्षकों का हृदय दुःख से भर जाता है।

---

१. सुषमा, (मासिक) 'करुण रस व आनन्द' लेख; फेब्रुवारी १९४२, पृ० ७८-७९।
२. ज्योत्स्ना, मासिक (रसांचे मानसशास्त्र, लेखांक शेवटचा) १९४१।
३. साहित्य मीमांसा पृ० १५४।
४. वही, पृ० १५४।

जब त्रासदी या करुण रसपूर्ण रचनाओं के अध्ययन या दर्शन से प्रेक्षक को दुःखानुभूति होती है, तब प्रेक्षक इस प्रकार की रचनाओं के अध्ययनार्थ क्यों प्रवृत्त होता है ? वह जानबूझ कर दुःख सहन क्यों करना चाहता है ? इस महत्वपूर्ण प्रश्न का समाधान ढूँढ़ते हुए डा० वाळिंबे ने 'परपीड़न' (sadism) अर्थात् दूसरों के दुःख को देख कर सुखी होने की प्रवृत्ति, 'स्व-पीड़न' (masechism) अर्थात् अपने आप दुःख सहने में विचित्र आनन्दानुभव की प्रवृत्ति, तथा 'कॅथार्सिस' अर्थात् दुःखोद्वेग के विरेचन आदि अनेक पाश्चात्य मतों की समीक्षा के उपरान्त निष्कर्ष दिया है : 'नाटक में अभिव्यक्त भावनाओं से प्रेक्षक का तादात्म्य तथा प्रत्यक्ष व्यावहारिक जगत् की भावनाओं से तादात्म्य इन दोनों में स्पष्टत: अन्तर है। (उदाहरणार्थ, मार्ग में चलते हुए यदि हम किसी बालक को गाड़ी से गिरते हुए देखते हैं तो उसे उठाने के लिए दौड़ पड़ते हैं, परन्तु सिनेमा में इसी दृश्य को देखते हुए भी बैठे रहते हैं) । वास्तविक जगत् में किसी करुण दृश्य को देख कर हमारी भावनाओं का जो विलक्षण आलोड़न होता है, ठीक उसी प्रकार का आलोड़न नाटक में आविष्कृत भावनाओं से नहीं होता।

वास्तविक जगत् की घटनाओं का मन पर जितना प्रभाव पड़ता है उतना नाटक में देखने से नहीं पड़ता, फलतः त्रासदी नाटकों की करुण घटनाओं से जो दुःखानुभूति होती है वह हमारे लिए सह्य होती है। इतना ही नहीं इसी से अंत में हमारी चित्त-वृत्तियाँ मलिन होने की अपेक्षा उल्लसित होती हैं।'[१]

डा० वाळिंबे ने करुण रस्सास्वाद में प्रतिपादित प्रेक्षक की चित्तवृत्तियों की 'उल्लसित अवस्था' को आचार्य विश्वनाथ-निरूपित 'आनन्दावस्था' अथवा अरिस्टाटल के कथार्सिस सिद्धान्त में निरूपित सुखोत्पादक अवस्था से इसे भिन्न मानने पर बल दिया है। इनकी मान्यता में करुण रसास्वाद की 'उल्लसित अवस्था' को अंग्रेजी के Exaltation का समानार्थी समझना चाहिए।[२] क्योंकि त्रासदी के दर्शनसे प्रेक्षक पर इसी प्रकार का प्रभाव पड़ता है।

करुण रसानुभूति की प्रक्रिया और स्वरूप पर कतिपय अन्य लेखकों ने भी अपने विचार व्यक्त किये हैं। इनके विवेचन में पाश्चात्य लेखकों की एतद्विषयक विचारधाराओं का प्रभाव अधिक दिखाई देता है। इनका विवेचन स्फुट निबन्धों के रूप में उपलब्ध होता है। श्री स० ना० जोशी ने मानव मन की तीन प्रकार की वृत्तियों का निरूपण किया है। तदनुरूप इन्होंने करुण रस से भी आनन्द तथा दुःख की उपलब्धि का उल्लेख इस प्रकार से किया है—

१. सा० मीमांसा, पृ० १६०।
२. वही, पृ० १६०।

१. जिसकी मनोवृत्ति परकीय दुःख से सुखी होने की है, ऐसे प्रक्षक को काव्य-गत नायक पर भीषण संकट आने से ही आनन्द होगा।

२. जिसकी मनोवृत्ति केवल समरस होने की है, उसे संकटग्रस्त नायक के दुःख से दुःख ही होगा।

३. साधारण प्रवृत्ति का प्रेक्षक दुःखपूर्ण दृश्य को देखते समय सोचता है—हम इस दुःख पूर्ण प्रसंग से अलिप्त हैं, फलतः उसे आनन्द ही होता है। [1]

वस्तुतः प्रथम प्रकार की मनोवृत्ति रखने वाला व्यक्ति भारतीय काव्यशास्त्र की परिभाषा में सहृदयपद का अधिकारी ही नहीं है। सच्चे सहृदय के लिए पूर्वग्रह से मुक्ति अनिवार्य है तभी वह काव्य-वर्णित भावनाओं का यथावत् आस्वादन कर सकेगा, अन्यथा नहीं। इन्हीं के समकालीन एक अन्य लेखक श्री रंगनाथ जैजूरकर ने दुःखान्त वाङमय से दुःखानुभूति ही होती है, इसका प्रतिपादन किया है। इनके मत में अधिकांश साहित्यिकों का यह सिद्धान्त कि 'दुःखान्त वाङमय' से आनन्द होता है, सदोष है।[2] परन्तु इन्होंने अपने मत की अधिक सयुक्तिक मीमांसा नहीं की है। प्रा० क्षीरसागर ने दुःखान्तकी के प्रति सहृदय के आकर्षण की कारण-मीमांसा अधिक की है अपेक्षाकृत इसके आनन्दात्मक या दुःखात्मक स्वरूप निर्धा-रण के। इनके मत में 'श्रेष्ठ मानव और अंध नियति इन दोनों के भीषण संग्राम में प्रखर ध्येयवाद (आदर्शवाद) की अपेक्षा अपयश, निष्फलता, दुःख और यातना इनका ही सहृदय के मन पर अधिक प्रभाव पड़ता है।'[3] अतः दुःखान्तकी या करुण रस के प्रति सहृदय अधिक आकर्षित होते हैं। परन्तु इससे आनन्दानुभूति ही क्यों होती है, इसकी अपेक्षित मीमांसा इन्होंने नहीं की। करुण रस में आनन्दो-पलब्धि का समर्थन करने के लिए प्रा० वसन्त कानेटकर, प्रा० राजापाटणकर तथा श्री कर्नाटकी ने स्फुट लेख प्रकाशित किये हैं।[4] किन्तु इनके अभिमतों में परंपरा-भिन्न कोई नवीन उद्भावना दृष्टिगोचर नहीं होती। श्री कर्नाटकी ने 'मानवी अन्तरात्मा का पूर्णत्व की ओर आकर्षण ही दुःखान्तकी के आनन्द का मूल कारण' निर्धारित किया है।[5] वस्तुतः प्रस्तुत हेतु इतना अतिव्याप्त है कि इससे दुःखान्तकी से या करुण रस से आनन्दोपलब्धि के प्रश्न का सहज समाधान नहीं हो पाता।

---

१. स० ना० जोशी, सह्याद्रि, मार्च, १९३७।
२. श्री रंगनाथ दामोदर जेजूरकर, सह्याद्रि, जून १९३७।
३. नवभारत (मासिक) अक्टोबर १९५१।
४. नवभारत (मासिक), फरवरी १९५२।
५. वही, फरवरी, १९५२।

साहित्य में करुण रस के चित्रण की आवश्यकता क्यों हुई ? क्या मानवी समाज के आरम्भिक युग में भी करुण भावना के बीज सन्निहित थे ? इत्यादि प्रश्न करुण रस की मीमांसा में उपस्थित होते हैं। यद्यपि करुण रस में आनन्दोपलब्धि के प्रश्न से इनका सीधा सम्बन्ध नहीं है, तथापि करुण रस के उद्‌गम पर प्रकाश डालने से उसके एक विशिष्ट देश काल सीमा में आबद्ध प्रयोजन का स्पष्टीकरण हो जाता है।

अतः श्री दि० के० बेडेकर ने करुण रस अथवा त्रासदी के मूल उद्‌गम के विषय में स्वतन्त्र चिन्तन किया है। इन्होंने वैदिक युग से आरम्भ करके प्राचीन ऐतिहासिक महापुरुषों के जीवन की विशिष्ट आचरण-पद्धति में करुण भावना के मूल को खोजने का प्रयत्न किया है। इनकी मान्यता में 'सावित्री, धर्मराज युधिष्ठिर, कर्ण, बली आदि व्यक्तियों के उदात्त किन्तु भोलेपन से भरे हुए व्यवहार या आचरण में ही करुण भावना का मर्म निहित है। प्राचीन देवताओं के जन्म-मरण की अलौकिक कथाओं तथा यज्ञ में आत्म-बलिदान की घटनाओं से करुण भावना को प्रथमतः साहित्यिक रूप मिला है। वैदिक सूक्तों में यज्ञ वेदी पर देवताओं के आत्मबलिदान का वर्णन मिलता है।[१] यज्ञवेदी पर प्राणार्पण करने वाले यम-यमी आनुषंगिक रूप से नाटकों तथा कथाओं में नायक-नायिका का रूप ग्रहण करते गये। उनके आत्म-समर्पण के उपरान्त जिस विलाप का वर्णन मिलता है, वही आद्य 'शोकान्त नाटक' का रूप ग्रहण करता गया। यज्ञवेदी पर आत्माहुति करने वाले तत्कालीन स्त्री-पुरुषों में एक उदात्त भावना होती थी। वे समझते थे कि उनका आत्मबलिदान समाज के हितार्थ हो रहा है। फलतः समाज के व्यक्तियों में भी इनके आत्मबलिदान के प्रति नितांत आदर और प्रेम की भावना सहज ही उद्‌भूत होती थी।

युग्म-मेध की प्रथा अति प्राचीन काल से प्रचलित थी। समाज-हितार्थ आत्म बलि देने वाले स्त्री-पुरुषों के प्रति सामाजिकों के हृदय कृतज्ञता और प्रेम से भर जाते थे। साथ ही उनके वियोग से वे विलाप भी करते थे। इसी विलाप में करुण रस का और परवर्ती साहित्य के त्रासदी नाटकों का मूल रूप निहित है।

शारीरिक वेदना अथवा मानसिक क्लेशजनित विषाद या करुण भावना में तथा यज्ञवेदी पर आत्मार्पण करने वाले व्यक्तियों के विरह-जनित करुण भावना में पर्याप्त भिन्नता है। इसमें यद्यपि आत्म बलिदान करने वाले व्यक्तियों के विरह

---

१. ऋग्वेद के दशम मंडल चौदहवें सूक्त में यम का वर्णन है। अथर्ववेद (१८-३-१३) में यम के आत्म बलिदान का वर्णन है।

का दुःख निहित है, तो भी समाज-हितार्थ जीवन को सफल बनाने की भावना से उत्पन्न आनन्द का उसमें मिश्रण होकर वह अलौकिक रूप को प्राप्त हुआ है।[१]

इस प्रकार श्री बेडेकर की मान्यता में प्राचीन करुण रस के उद्‌गम के मूल में एक ओर आदर्श या उदात्त भावना निहित है तो दूसरी ओर आस्वादकों में शारीरिक संकटजन्य या मानसिक विषादजन्य शोक की अपेक्षा आनन्दमूलक विलाप है। इसी आधार पर इन्होंने साहित्यिक त्रासदियों और करुण रस का प्रयोजन समाज के कल्याणार्थ ही सिद्ध किया है : 'मेरे विचार में शोक का प्रयोजन किसी प्रकार की विरेचन-प्रक्रिया (कॅथार्सिस) से मनः शुद्धि तक सीमित करना अपूर्ण है। साथ ही किसी रहस्यमय, अज्ञात, 'दैव-दुर्विलास' के प्रदर्शन से मानवी मन को विस्मित और भयाकुल करना भी त्रासदी का प्रयोजन नहीं है। प्रत्युत् शोक नाटक के धीरोदात्त नायक-नायिका मानव-ध्येय और तेजस्विता का आदर्श निर्माण करके आत्मबलिदान से स्वतः को और समाज को पूर्णत्व की ओर ले जाते हैं। समाज का 'संभरण' करते हैं। इस प्रकार के पूर्णत्व की सिद्धि के लिए ही व्यास-वाल्मीकि ने शोकान्त महाकाव्यों की रचनाएँ की हैं'।[२]

प्राचीन युग के करुण रस अथवा शोकान्त नाटकों के मूल उद्‌गम की खोज की दृष्ट से श्री बेडेकर का उपर्युक्त चिन्तन महत्वपूर्ण है। परन्तु आधुनिक युग का समाज-जीवन तथा तदनुरूप करुण भावनाओं का काव्यमय आविष्कार वैदिक-युगीन करुण काव्य से पर्याप्त भिन्न है। आधुनिक युग की त्रासदियों तथा शोकान्त नाटकों का स्वरूप ही भिन्न है। इनमें धीरोदात्त, त्यागी, समाजहितार्थ आत्मोत्सर्ग करने वाले नायकों के आत्म-बलिदान का ही एकांत चित्रण नहीं मिलता। अतः इस प्रकार के शोकान्त नाटकों से प्राप्त आस्वाद में आदर्श, उदात्त भाव तथा आनन्द-मूलक विलाप की कल्पना करना ही कठिन है। एक विशिष्ट युग-सीमा को ध्यान में रख कर ही श्री बेडेकर के चिन्तन का मूल्यांकन उपयुक्त होगा।

सारांश :

इस प्रकार मराठी के आधुनिक काव्यशास्त्र के चिन्तकों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से करुण रसानुभूति के स्वरूप और उसकी अनुभूति-प्रक्रिया के विश्लेषण-विवेचन का सूक्ष्म तथा व्यापक प्रयत्न किया है। एक ओर जहाँ संस्कृत आचार्यों के चिन्तन का इनमें अन्धानुकरण उपलब्ध नहीं होता, वहाँ पाश्चात्य समीक्षकों की धार-

---

१. श्री दि० के० बेडेकर : साहित्य निर्मिति व समीक्षा : पृ० ७१-७२।

२. वही, पृ० ७४।

णाओं का एकांततः पिष्टपेषण भी नहीं मिलता। फिर भी अनेक मतों की अपनी सीमाएँ स्पष्टतः दिखाई देती हैं।

यदि समग्र रूप से मराठी में प्रस्तुत करुण रसानुभूति के स्वरूप-विवेचन पर दृष्टिपात किया जाय तो स्पष्ट होता है कि इन विभिन्न मान्यताओं में काव्य सहृदय तथा कवि की मनःस्थिति का विश्लेषण अन्तर्भूत हो गया है। कतिपय विवेचकों ने मूलतः करुण रसपूर्ण काव्य के पात्रों तथा घटनाओं के विश्लेषण पर अपना निष्कर्ष आधारित किया है। अतः इन्होंने हरिश्चन्द्र, राम, युधिष्ठिर आदि श्रेष्ठ पात्रों के जीवन में घटित दुःखद प्रसंगों से निष्पन्न आदर्शमूलक करुण रस की आनंदानुभूति की ही समीक्षा की है तो कतिपय अन्य वि वेचकों ने कवि या कवि-निर्मित काव्य की अपेक्षा एकांततः सहृदय की मनःस्थिति को ही करुण रस की आनन्दानुभूति या दुखानुभूति का मूल कारण ठहराया है। श्री न० चि० केळकर, श्री दा० ना० आपटे, श्री वा० म० जोशी, श्री नी० र० वऱ्हाडपांडे आदि ने सहृदय की करुण रसानुभूति कालीन चित्तवृत्तियों तथा भावनाओं का अपेक्षाकृत अधिक विश्लेषण किया है और करुण रसानुभूति के स्वरूप को आनन्दात्मक निर्धारित किया है। प्रा० रा० श्री० जोग, श्री द० के० केळकर, श्री दि० के० बेडेकर आदि ने मूलतः करुण रसमूलक काव्य के स्वरूप-विश्लेषण पर अधिक बल दिया है। डा० वाटवे ने रसास्वाद और काव्यानंद मीमांसा प्रकरण के अन्तर्गत क्रीड़ारूप आत्माविष्कार के सिद्धान्त का व्यापक प्रतिपादन किया है। इनकी सामान्य स्थापना है: 'काव्य निर्मिति और काव्यास्वाद दोनों ही स्वकीय भावनाओं तथा बुद्धि से स्वतः की गई आत्मक्रीड़ा मात्र है।'[1] फलतः इन्होंने रसास्वाद में आनन्द-तत्व का प्रतिषेध नहीं किया वरन् समर्थन ही किया है, परन्तु समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाने के कारण इन्होंने करुण रसास्वाद में कतिपय सहृदयों को दुःखानुभूति भी होती है, इस तथ्य का निष्कर्ष में पूर्णतः समर्थन कर दिया है। श्री आगरकर, प्रा० रा० श्री जोग आदि समीक्षक करुण रसास्वाद में दुःखानुभूति को स्पष्टतः स्वीकृति देते हैं। श्री द० के० केळकर ने दुःखानुभूति का एकांत प्रतिषेध तो नहीं किया परन्तु इस रसास्वाद में दुःख की तुलना में आनन्द को प्रमुख रूप में ही मान्यता दी है। डा० रा० शं० वाळिंबे ने 'आनंद' और 'दुःख' दोनों ही शब्दों का परित्याग करके 'मन की उल्लसित अवस्था' को ही करुण रसास्वादकालीन सहृदय की अवस्था के रूप में प्रतिपादित किया है।

करुण रस के विषय में हिन्दी और मराठी के विवेचकों ने अपने-अपने दृष्टि-

---

१. रसविमर्श, पृ० २१३।

कोण से सामान्यतः निम्न प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है :

१. सहृदय करुण या शोकात्मक काव्य-नाटकों के प्रति क्यों आकर्षित होता है ?
२. सहृदय को करुण रसास्वाद में दुःखानुभूति होती है अथवा सुखानुभूति ?
३. कवि शोकात्मक काव्य-सृजन के लिए क्यों प्रवृत्त होता है ?
४. काव्य-सृजन की प्रक्रिया में दुःख का दंश किस प्रकार मिट जाता है और वह आनन्दात्मक बन जाता है ?

पूर्वोक्त विभिन्न मान्यताओं को दृष्टिगत रख कर करुण रसानुभूति के स्वरूप का निर्धारण एक जटिल प्रश्न बन गया है। इसका समाधान भी किसी एक मान्यता में ही ढूँढ़ निकालना और भी दुष्कर कार्य है। फिर भी करुण रसानुभूति के स्वरूप-निर्धारण के लिए एक सामान्य तत्व की संभावना पर यहाँ चिन्तन अप्रस्तुत न होगा।

मनोरचना :

मानव जन्मतः मानो सुखदुःखात्मक अनुभूतियों की शक्ति लेकर अवतरित होता है। उसकी आरम्भिक दो प्रवृत्तियों—रुदन और हास्य में दुःखसुखात्मक भावों की प्रतीति होती है। प्रारम्भिक अवस्था में यह सुखदुःख की अनुभूति शारीरिक माध्यम से करता जाता है। आयु की वृद्धि के साथ उसमें इन भावों की संवेदनाएँ संचित होती जाती हैं। कालान्तर में शारीरिक स्थूल माध्यम के बिना भी वह भावरूप में इनकी अनुभूति कर लेता है। इस स्थिति में मन एक मात्र साधन व माध्यम बन जाता है, जिससे मानव सुखदुःखोत्पादक स्थूल उपकरणों के प्रत्यक्ष अभाव में भी चिन्तन, स्मृति आदि के द्वारा पूर्वानुभूत सुखदुःखात्मक भावों या संवेदनाओं की अनुभूति कर लिया करता है। दुःखात्मक स्मृति या संवेदना के मन में पुनर्जागरण से निस्सन्देह स्थूल व प्रत्यक्ष शारीरिक पीड़ा की तीव्रता उसमें नहीं होती, फिर भी सुखात्मक भाव की स्मृति तथा संवेदना के मन में पुनर्जागरण के स्वरूप से इसे भिन्न किया ही जा सकता है। इस स्थिति में अनुभूत सुख जिस प्रकार शारीरिक संपर्क जन्य नहीं है, अतः उसमें स्थूलता और तीव्रता नहीं है, उसी प्रकार दुःख में भी स्थूलता और तीव्रता नहीं होती। परन्तु इतने साम्य मात्र से सुख-दुःख के मूलभूत स्वरूप की भिन्नता का प्रत्याख्यान करके दोनों को एक रूप मान लेना कठिन है। तीव्र या स्थूल सुख का स्वरूप और तीव्र या स्थूल दुःख का स्वरूप जैसे भिन्न भिन्न है, उसी प्रकार अतीव्र या सूक्ष्म अनुभूत्यात्मक संवेदनात्मक व स्मृत्यात्मक सुख-दुःख का स्वरूप भी भिन्न-भिन्न ही होता है।

वस्तुतः मानव मनोरचना ही सुख और दुःख के भावों से हुई है। मन की घड़न ही ऐसी है कि वह सुखात्मक और दुःखात्मक दोनों ही प्रकार के भावों का आस्वाद

लेना चाहता है। दुःख के आस्वादन में मनोग्रन्थियों में संकोच की क्रिया होती है और सुखात्मक आस्वाद में विस्तार की। मानव मन इन दोनों प्रकार की क्रियाओं के लिए सदैव तत्पर रहता है, क्योंकि उसकी मूलभूत घड़न के उपादान कारण भी सुखदुःखात्मक भाव ही हैं। सुखभाव मूलक मनोविस्तारात्मक प्रक्रिया में दुःख-मूलक संकोच नहीं होगा और दुःखमूलक संकोचात्मक प्रक्रिया में सुखमूलक विस्तार नहीं होगा। फलतः दुःखात्मक भावास्वाद और सुखात्मक भावास्वाद की स्वरूप-भिन्नता नितान्त स्पष्ट हो जाती है। मन की प्रस्तुत प्रमुख दो भावों से मूलतः रचना हुई है अतः वह तदनुरूप सुखदुःखात्मक भावास्वाद के लिए उसे प्रेरित भी करती है। शोक प्रधान काव्यरचना में कवि को और इसके आस्वादन में सहृदय को प्रेरणा देने में उनकी मनोरचना का ही प्रमुख हाथ है।

सुखदुःखात्मक भावास्वाद के क्षणों में मन की विस्तार-संकोचात्मक प्रक्रिया वर्तमान रहती है और इस प्रक्रिया का कार्य-प्रवृत्त रहना ही भावास्वाद है। इससे भिन्न मन के भावास्वाद का स्वरूप निर्धारण करना कठिन है। जब मन सुखभाव के अनुरूप विस्तारात्मक और दुःख के अनुरूप संकोचात्मक प्रक्रिया समाप्त कर लेता है, तब वह 'विश्रान्ति' लेने लगता है। वस्तुतः प्रस्तुत विश्रान्ति की अनुभूति काव्या-स्वादकालीन अनुभूति नहीं है, यह या तो काव्यास्वाद से पूर्व की मन की प्रकृत स्थिति है अथवा काव्यास्वाद के उपरान्त की। काव्यास्वाद की अनुभूति तो जैसा शुक्लजी ने भी कहा है—'सहृदय के मन का' अपनी क्रिया में तत्पर होना ही है।[1] अपनी क्रिया से उपरत होने के उपरान्त मन की जो 'विश्रान्ति' रूप अवस्था है, वह काव्यास्वाद अथवा काव्यानुभूति की अवस्था नहीं है। प्रस्तुत 'विश्रान्ति' तो मन सभी प्रकार के लौकिक क्रियाव्यापारों के उपरान्त अनुभव करता है। विश्रान्ति तो मन की प्रकृत अवस्था है, क्रिया व्यापार की अवस्था नहीं है। कतिपय संस्कृत आचार्यों ने इसी 'संविद् विश्रान्ति' पर अधिक बल दिया है और सभी रसों या भावों की अनुभूति के उपरान्त जो मन की प्रकृत अवस्था शेष रहती है, उसी के आधार पर सभी रसों का स्वरूप एकांततः आनंदात्मक निर्धारित कर दिया है।[2] इसी-लिए संस्कृत साहित्यशास्त्र में भावानुभूति और रसानुभूति को नितांत भिन्न-भिन्न प्रतिपादित किया गया है, अन्यथा 'आनंदैकघन संविद् विश्रान्ति' के रूप में रसस्वरूप का निर्धारण कठिन हो जाता।

भावास्वाद या काव्यास्वाद के स्वरूप को सामान्यतः 'मन का अपनी क्रिया'

---

१. चिन्तामणि, पृ० २५१।
२. दे० रस-स्वरूप प्रकरण।

में तत्पर रहना माना जाय, तो शोकात्मक भावानुभूति में दुःख-भाव की स्थिति अनिवार्यतः स्वीकृत करनी होगी। संक्षेपतः उपर्युक्त मानव मनोरचना के स्वाभाविक तथ्य पर दृष्टिपात कर करुण रसानुभूति की प्रक्रिया का विश्लेषण किया जाय तो इसी में करुण भावों के प्रति सहृदय के आकर्षण और कवि द्वारा इसके वर्णन की आकांक्षा के सूक्ष्म और जटिल प्रश्न का समाधान भी पर्याप्त सीमा तक उपलब्ध हो सकता है।

तुलनात्मक निष्कर्ष

आधुनिक हिन्दी-मराठी के काव्य-शास्त्र में संस्कृत आचार्यों के रस-सम्बद्ध आनंदवादी तथा दुःखवादी दृष्टिकोणों का अनुसरण करुणरसास्वाद के विषय में भी उपलब्ध होता है। इसी आधार पर पूर्वोक्त हिन्दी-मराठी के समीक्षकों को दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं। एक वर्ग करुण रसास्वाद में आनंदानुभूति का समर्थन करता है तो दूसरा वर्ग दुःखानुभूति का। इन दोनों परस्पर विरोधी विचारधाराओं के बीच एक अन्य समीक्षक-वर्ग भी है जो समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाता है और करुणरसानुभूति में सुख-दुःख का समन्वय प्रतिपादित करता है।

आनंदवादी दृष्टिकोण :

संस्कृत साहित्यशास्त्र के रस-ध्वनिवादी—अभिनव, मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने करुण रसास्वाद को आनंदमय निर्धारित करने में जिन हेतु-प्रमाणों का आश्रय लिया था, लगभग उन्हीं का व्याख्यान-विवेचन करते हुए हिन्दी के अधिकांश समीक्षकों ने करुण रस से आनंदानुभूति का समर्थन किया है। संस्कृत के आनंदवादी आचार्यों की परंपरानुसार ही डा० गुलाबराय, श्री रामदहिन मिश्र, पं० केशवप्रसाद मिश्र, डा० श्यामसुन्दरदास तथा श्री कन्हैयालाल पोद्दार ने करुण रसास्वाद को आनंदमय माना है। इनमें पं० केशवप्रसाद मिश्र ने 'मधुमती भूमिका' की स्थापना में विशेष चिन्तन किया है।[1] डा० श्यामसुंदर दास, डा० गुलाब राय तथा श्री कन्हैयालाल पोद्दार ने परंपरागत साधारणीकरण, अलौकिकत्व और विभावन व्यापार का व्याख्यान-विवेचन करके इन्हीं को करुण रसास्वाद में आनंदानुभूति का कारण माना है।[2]

यद्यपि डा० नगेन्द्र ने आनंदवादी संस्कृत आचार्यों की मान्यताओं के अनुरूप ही करुण रसानुभूति को आनंदमय माना है तथापि इन्होंने मूलतः कवि की भावन

---

१. दे० करुण रसानुभूति का स्वरूप, पृ० २२९
२. दे० वही, पृ० २३०

प्रक्रिया का जो विवेचन-विश्लेषण किया है, वह संस्कृत परंपरा से किंचित् भिन्न है।[१] तुलना की दृष्टि से इन्होंने अरस्तू के विरेचनजन्य प्रभाव से भारतीय करुण रसानुभूति के स्वरूप को अधिक उदात्त ठहराया है।[२]

श्री कन्हैयालाल सहल विवेचित 'आत्मप्रसार की प्रक्रिया और 'भावमग्नता' के दृष्टिकोण[३] में तथा श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु के 'मन के अतिरिक्त ओज का व्यय'[४] इस सिद्धान्त-प्रतिपादन में संस्कृत आचार्यों की चिन्तन-पद्धति का ही एकांत अनुसरण नहीं हुआ है। इसमें करुण रसानुभूति की प्रक्रिया पर नवीन पद्धति से प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। कवि तथा सहृदय की एतद्विषयक अनुभूति के स्वरूप का आंतरिक विश्लेषण-विवेचन करना इन आधुनिक समीक्षकों की विशेषता है।

इसी प्रकार मराठी के आधुनिक अधिकांश समीक्षकों ने संस्कृत आचार्यों के अनुसार ही करुण रसास्वाद की आनंदमयता को स्वीकार किया है, किन्तु इसके समर्थन में इन्होंने परंपराभिन्न तर्क और युक्ति-प्रमाणों का आश्रय लिया है। श्री० नी० चापेकर के अभिमत 'सहानुभूतिपूर्ण तादात्म्य',[५] श्री न० चि० केळकर के 'परकीय भूमिका संक्रमण' तथा 'प्रातिभिक अनुभव',[६] श्री दा० ना० आपटे के 'द्विविध मन',[७] श्री वा० म० जोशी के 'कटु सत्य की प्रतीति और उदात्तभाव की अनुभूति',[८] श्री नी० र० वर्‍हाडपांडे के 'अनुकूल वेदनीयता-सुख'[९] आदि मतों में संस्कृत आचार्यों के विचारों का ही अनुसरण नहीं किया गया है, वरन् परंपरा- भिन्न, नवीन दृष्टिकोण से भी चिन्तन किया गया है। इन सभी समीक्षकों के मत में करुण रस से एकांततः आनंदानुभूति ही होती है, दुःखानुभूति नहीं। श्री दि० के० बेडेकर ने करुण रस या त्रासदी के उद्गम का ऐतिहासिक विवेचन

---

१. दे० करुण रसानुभूति का स्वरूप, पृ० २३०-३१
२. दे० वही, पृ० २३२
३. दे० वही, पृ० २३६
४. दे० वही, पृ० २३६
५. दे० वही, पृ० २३९
६. दे० वही, पृ० २४०-४१
७. दे० वही, पृ० २४१
८. दे० वही, पृ० २४२
९. दे० वही, पृ० २४८

किया है और करुण रस के उद्गम में ही आनंद की स्थिति का प्रतिपादन किया है।[१]

समन्वयात्मक दृष्टिकोण :

करुण रसानुभूति में आनंदानुभूति की स्थिति का समर्थन करते हुए भी कतिपय समीक्षकों ने इसमें दुःखानुभूति का एकांत अभाव नहीं माना है। इन समीक्षकों में श्री द० के० केळकर तथा डा० के० ना० वाटवे का विवेचन विशेष उल्लेखनीय है। श्री द० के० केळकर करुण रसानुभूति में प्रधानता आनंद तत्व की ही मानते हैं, किन्तु इसमें दुःख के संमिश्रण का वे प्रतिषेध नहीं करते।[२] इसी प्रकार डा० वाटवे ने करुण रसास्वाद के स्वरूप को मुख्य रूप से आनंदमय ही माना है परन्तु इस विषय में एकांत दुःखानुभूति के प्रतिपादक अनेक समीक्षकों की विचारधारा को दृष्टिगत रखकर करुण रसानुभूति को सुख-दुःख समन्वित मान लेना इन्हें असमीचीन प्रतीत नहीं होता।[३]

इन समन्वयवादियों की परंपरा में ही डा० रा० शं० वाळिंबे ने एक मध्यम मार्ग निकालने का प्रयत्न किया है। करुण रसास्वाद में सुख-दुःख का समन्वय प्रतिपादित करना सरल है, किन्तु इसका एक ही सुनिश्चित स्वरूप निर्धारित करना कठिन है। इसलिए डा० वाळिंबे ने सुख और दुःख शब्दों का त्याग करके सहृदय के मन की 'उल्लसितावस्था' को ही करुण रसास्वाद का स्वरूप निर्धारित किया है।[४]

दुःखवादी दृष्टिकोण :

संस्कृत साहित्यशास्त्र में अनेक आचार्यों ने करुण रसानुभूति में दुःख की स्थिति का स्पष्ट रूप से समर्थन किया है।[५] यह परंपरागत विचारधारा आधुनिक हिन्दी-मराठी के काव्यशास्त्र में भी अवतरित हुई है। हिन्दी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने करुण रसानुभूति का स्वरूप एकांततः आनंदमय नहीं माना है। इन्होंने आनंद-वादी विचारधारा की समीक्षा करते हुए करुण रसानुभूति में दुःखानुभूति की स्थिति का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया है।[६] परन्तु सहृदय की 'मुक्तदशा' तथा

---

१. दे० इसी प्रकरण में, पृ० २५२
२. वही, पृ० २४५
३. वही, पृ० २४६
४. वही, पृ० २४९
५. वही, पृ० २२३
६. दे० इसी प्रकरण में, पृ० २१७-१८

कवि की क्रीड़ा-प्रवृत्ति के कारण करुण रस की दुःखानुभूति इनके मत में 'रसात्मक' बन जाती है ।[1]

इसी प्रकार मराठी में भी रस-स्वरूप की सुख-दुःखात्मक भाववादी परंपरा का अनुसरण करके करुण रसानुभूति में दुःखानुभूति की स्थिति का समर्थन किया गया है। इनमें श्री गो० ग० आगरकर तथा प्रा० रा० श्री जोग का विवेचन उल्लेखनीय है। इन्होंने करुण रसानुभूति में दुःखानुभूति का ही प्रतिपादन किया है, आनंदानुभूति का नहीं ।[2]

करुण रस के आस्वाद में एकांततः आनन्दानुभूति होती है अथवा दुःखानुभूति । इसके निर्धारण में जिस प्रकार संस्कृत के काव्यशास्त्रज्ञ एकमत नहीं हो सके, उसी प्रकार आधुनिक हिन्दी तथा मराठी के काव्यशास्त्र-समीक्षकों की धारणाएँ भी भिन्न-भिन्न हैं। मराठी के कतिपय समीक्षकों ने इन दो परस्पर विरोधी, ऐकान्तिक मान्यताओं में से माध्यम मार्ग निकालने का भी प्रयत्न किया है और करुण रसानुभूति में सुखदुःख के समन्वय का प्रतिपादन किया है। फिर भी सामान्यतः हिन्दी-मराठी के अधिकांश समीक्षकों ने करुण रसानुभूति में आनन्ददायकता का ही समर्थन-प्रतिपादन किया है, इसमें दुःखानुभूति की स्थिति के समर्थक विवेचकों की संख्या अपेक्षाकृत न्यून है।

---

१. दे० इसी प्रकरण में, पृ० २१७-१८

२. वही, पृ० २३९ और २४५

६

भक्तिरस प्रकरण

संस्कृत काव्यशास्त्र में भक्ति रस की स्थिति

ईसा की सोलहवीं शती के लगभग रस-तालिका में भक्ति रस को उत्कृष्ट स्थान देने का श्रेय रूप गोस्वामी और मधुसूदन सरस्वती को ही है। इनसे पूर्व डेढ़ हज़ार वर्ष के संस्कृत साहित्यशास्त्र के इतिहास में स्वतन्त्र भक्ति रस का स्थान नगण्य-सा ही रहा है। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में भक्तिरस का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। उन्होंने मुख्यतः आठ रसों का ही निरूपण किया है। नाट्यशास्त्र में शान्तरस का समावेश डा० राघवन तथा डा० वाटवे के मत से कालान्तर में प्रक्षिप्त रूप में हुआ है।[1] क्योंकि जिस स्थल पर उन्होंने आठ रसों का विवेचन किया है, उनमें शान्त का उल्लेख नहीं है और परवर्ती काव्य-साहित्य में भी भरतमुनि के आठ रसों की मान्यता का ही अधिकांश रूप से उल्लेख मिलता है। अभिनव गुप्त के समय तक नाट्यशास्त्र में शान्त रस के प्रतिपादक श्लोक का समावेश हो चुका था, अतः अभिनव गुप्त ने शान्त रस को पृथक् स्वतन्त्र मान्यता दी है, परन्तु भक्ति को इन्होंने पृथक् स्वतन्त्र रस मानना निष्प्रयोजन समझा है। अभिनव गुप्त के समय तक नौ रसों के अतिरिक्त कतिपय अन्य भावों 'स्नेह,' 'लौल्य', भक्ति, श्रद्धा आदि को भी रस-तालिका में पृथक् स्थान देने की चर्चा रही होगी, फलतः इन्होंने इन चारों भावों के रसत्व का प्रत्याख्यान कर के नौ रसों को ही पृथक् स्वतन्त्र मान्यता देने पर बल दिया है। क्योंकि इन्हीं में 'पुरुषार्थोपयोगितत्व' और 'रंजनाधिक्य' की शक्ति निहित है।[2] भक्ति और श्रद्धा को इन्होंने स्पष्टतः स्मृति, धृति, उत्साह, आदि के समान भावों में ही स्थान दिया है।[3] धनंजय ने भी

---

१. डा० वाटवे : रसविमर्श, पृ० २१९ डा० राघवन : 'नम्बर आव् रसाज,' पृ० ६१।

२. एते नवैव रसाः पुरुषार्थोपयोगित्वेन रंजनाधिक्येन वा इयतामेव उपदेश्यत्वात्। अ० भा० पृ० ३४१ प्र० सं०

३. अत एव ईश्वर प्रणिधानविषये भक्तिश्रद्धे स्मृति मति धृत्युत्साहानुप्रविष्टे अन्यथैवांगमिति न तयोः पृथक् रसत्वेन गणनम्। वही, पृ० ३४० प्र० सं०।

भक्ति को सामान्य भाव के रूप में प्रतिपादित कर उसके रसत्व का प्रत्याख्यान किया है।[1]

उत्तर ध्वनिकालीन आचार्यों ने रस-संख्या में वृद्धि का प्रयत्न किया है। भोज ने भरत के आठ रसों में शान्त, प्रेयान्, उद्धत और उदात्त रसों का समावेश किया है और विश्वनाथ ने वात्सल्य रस का। परन्तु भोज, मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि आचार्यों में से किसी ने भी भक्ति को स्वतन्त्र रस रूप में मान्यता नहीं दी है। पंडितराज जगन्नाथ के समय तो भारतवर्ष में दक्षिण से उत्तर तक भक्ति भावना की प्रबल धारा प्रवाहित हो रही थी। भक्ति रस से परिपूर्ण काव्यों की संस्कृत और देशभाषाओं में भी रचनाएँ हो रही थीं, तथापि काव्यशास्त्र के आचार्यों ने भक्ति को पृथक् रस की पदवी देना उपयुक्त नहीं समझा। आचार्य जगन्नाथ ने भक्ति का शान्त रस में समावेश करने की अपेक्षा स्नेह, भक्ति और वात्सल्य को रति का ही विशिष्ट रूप माना है।[2]

इस प्रकार प्रायः सभी संस्कृत आचार्यों ने भक्ति को या तो केवल भाव रूप माना है अथवा उसका अन्तर्भाव 'शान्त' या 'रति' में ही कर दिया है। परन्तु रूप गोस्वामी और मधुसूदन सरस्वती इन दोनों आचार्यों ने परंपरा का अनुसरण न करके तत्कालीन सामाजिक विचारधारा और तदनुरूप निर्मित साहित्य को दृष्टि में रखकर भक्ति रस की पृथक् स्वतन्त्र प्रतिष्ठापना प्रबल शब्दों में की है। रूपगोस्वामी ने भक्ति के 'परा' और 'अपरा' वर्ग बनाये हैं, इनमें प्रथम श्रेष्ठ और दूसरा कनिष्ठ माना गया है। प्रथम उत्तमा नामक परा भक्ति का स्वरूप इतना उदात्त और उच्च है कि इसको जान लेने पर कोई भी भक्ति को साधारण भाव मात्र कहने का साहस ही नहीं कर सकेगा। उत्तम भक्ति के आगे मोक्ष भी फीका पड़ जाता है। शान्त रस के स्थायी भाव ब्रह्मानंद, तत्वज्ञान अथवा आतमानंद से सहस्रगुण अधिक भक्ति सुख होता है, इस सुख की प्राप्ति पर भक्तों को मोक्ष की भी इच्छा नहीं होती।[3]

दूसरे आचार्य मधुसूदन सरस्वती की मान्यता में भक्तियोग स्वतन्त्र पुरुषार्थ है और वह नवरस मिश्रित है। सामान्य चित्तवृत्ति से भिन्न भगवदाश्रित विभावादि से ही स्वतन्त्र रूप में भक्ति रस की अभिव्यक्ति होती है। इसका अन्तर्भाव न शान्त

---

१. दशरूपक ४-८३।

२. स्नेहो भक्तिर्वात्सल्यमिति रतेरेव विशेषाः। र० गं० पृ० ४५।

३. एषां मोक्षाय भक्तानां न कदापि स्पृहा भवेत्। भक्ति रसामृतसिंधु पूर्वभाग १, लहरी ११, १२, १३, १९ लहरी २, १३ र० विमर्श, पृ० २६४ से।

रस में हो सकता है और न सामान्य देव आदि विषयक रति भाव में। कान्तादि विषयक रति भाव में अपूर्ण सुख होता है और क्रोध, शोक, भय आदि तो स्पष्टतः सुख-विरोधी भाव हैं। अतः भक्ति को छोड़ कर अन्य किसी भी रस को पूर्ण रस नहीं कहा जा सकता। भक्ति रस सूर्य के समान है तो शेष अन्य रस खद्योत के समान हैं। मधुसूदन सरस्वती जब तर्क के तूणीर को खाली कर चुके तब आवेश में आकर प्रतिपक्षी से कहते हैं—'भक्ति रस का अनुभव प्रत्यक्षतः होने पर भी उसका प्रत्याख्यान करने वाला प्रतिपक्षी तू निस्सन्देह जड़ है और प्रलाप करता है।'[1]

इन दोनों आचार्यों के अतिरिक्त बलदेव विद्याभूषण की रचित साहित्य कौमुदी की कृष्णानंदिनी टीका तथा भागवत पुराण की श्रीधर टीका में अन्य रसों के साथ भक्ति रस की भी पृथक् गणना की गई है, इस विषय में स्वतन्त्र विवेचन उपलब्ध नहीं होता।[2]

हिन्दी तथा मराठी साहित्य के इतिहास पर सामान्यतः दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक काल के आरम्भ से पूर्व दोनों ही भाषाओं का संपूर्ण साहित्य प्रायः भक्तिभावना से ही अनुप्राणित है। भक्ति ही उसकी प्रेरणा, भक्ति ही उसका प्राण रस और भक्ति ही उसका परिणाम है। यद्यपि हिन्दी में रीतिकालीन कवियों तथा मराठी में कला कवियों की कृतियों और लावणियों में उत्तान श्रृंगार भावना उपलब्ध होती है तथापि उस काल में भी भक्ति-भावना से पूर्ण काव्यों का नितान्त अभाव नहीं है। श्रृंगारिक कवियों ने भक्तों के प्रेरणा-स्रोत, राधा-कृष्ण, कृष्ण-रुक्मिणी आदि का आश्रय लेकर भी रचनाएँ की हैं। दोनों ही भाषाओं में आधुनिक काल के आरम्भ से पूर्व का कुछ काल छोड़ दिया जाय तो भी चार सौ वर्ष से भी अधिक का साहित्य भक्ति-भावना से परिपूर्ण रहा है। यद्यपि इस युग के भक्त कवियों ने भक्ति-रस का शास्त्रीय विवेचन अधिक नहीं किया है तथापि इनकी रचनाओं में भक्ति रस की पूर्ण परिपुष्टि हुई है।

भक्ति रस

हिन्दी में—

हिन्दी के आधुनिक काव्यशास्त्र-विवेचकों ने भक्ति की रसात्मकता की सैद्धान्तिक चर्चा अपेक्षाकृत कम की है। मराठी के समान हिन्दी में भी भक्ति रसात्मक

---

१. **'इहानुभव सिद्धेऽपि सहस्र गुणितो रसः। जडेनैव त्वया कस्मादकस्मादपलप्यते।' भगवद्भक्ति रसायन, पृ० २-७४।**

२. **डा० वाटवे : रसविमर्श, पृ० २६५।**

साहित्य का भंडार विपुल मात्रा में है। अतः कतिपय आधुनिक विवेचकों ने भक्ति रस की स्वतन्त्र मान्यता पर विशेष बल दिया है।

बिहारीलाल भट्ट तथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अन्य रसों के साथ 'भक्ति रस' की भी गणना मात्र कर दी है।[1] इसकी रसात्मकता की सयुक्तिक विशेष चर्चा नहीं की। श्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने चौदह रस गिनाये हैं, इनमें 'भक्ति' का भी समावेश हो गया है। परन्तु भक्ति व दास्य लिख कर इन्होंने सन्देह में डाल दिया है कि क्या भक्ति और दास्य का स्वरूप एक ही है? परंपरागत मान्यता-अनुसार 'भक्ति' एक व्यापक तत्व है, दास्य तो भक्ति-पद्धति के रूप में उसी का एक अंग मात्र है।

हरिऔध जी ने परंपरागत नौ रसों को मान्यता दी है, परन्तु भक्ति और वात्सल्य की रसात्मकता का इन्होंने पुष्ट विवेचन किया है। इनकी मान्यता में भक्ति की रसात्मकता की स्वीकृति निम्न कारणों से अनिवार्य है :

१. 'वेद्यान्तर स्पर्श शून्यः', 'ब्रह्मास्वाद सहोदरः' की कसौटियों पर अन्य रसों की तुलना में भक्ति रस विशेष एवं पूर्ण रूप से अभिघटित होता है।' जब भक्ति अन्य वेद्य विषयों को तिरोहित कर देती है, तभी तो वह स्पष्ट झलकती है, तभी तो हृदय में प्रवेश करती है और तभी तो सर्वांग सुधारस सिंचित होता है।' . . . 'रस को ब्रह्मानंद सहोदर कहा गया है, किन्तु भक्ति रस में ही इसकी व्याप्ति है।'[2]

२. साहित्यिक आविष्कृति भी भक्तिरस की पर्याप्त हुई है :

(क) वैदिक काल से आरम्भ करके पौराणिक काल तक का जितना साहित्य है, उसके बाद के जितने काव्य अथवा अन्य धार्मिक किंवा ऐतिहासिक ग्रन्थ हैं, वे सब भक्ति के चमत्कार से भरे पड़े हैं।

(ख) भक्ति साहित्य किसी अन्य रस के साहित्य से अल्प नहीं, हिन्दी संसार में तो संतों की वाणियों ने उसका भंडार भली-भाँति भर दिया है।

अतः इनका निष्कर्ष है : 'भक्ति जैसा चमत्कार किसी रस में नहीं, इस दृष्टि से भी उसकी सब रसों पर प्रधानता है।'[3]

श्री कन्हैयालाल पोद्दार ने भी हरिऔध जी के समान ही भक्ति की रसात्मकता

---

१. साहित्यसागर, प्रथम भाग, पंचम तरंग पृ० १६२, हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० २२७ भारतेन्दु हरिश्चन्द्रः नाटक।

२. रसकलस, पृ० २०२ और २०४।

३. रसकलस, पृ० २०६।

का पूर्ण समर्थन किया है। 'वस्तुतः देखा जाय तो साहित्याचार्यों ने शृंगार आदि रसों को तो ब्रह्मानंद सहोदर मात्र ही माना है किन्तु भक्ति रस और ब्रह्मानंद की तो केवल संज्ञा (नाम) मात्र दो हैं—वस्तुतः दोनों एक ही हैं।'[1] श्री पोद्दार ने संस्कृत आचार्यों की भक्ति को केवल भाव मात्र मानने की धारणा पर नितान्त आश्चर्य प्रकट किया है। साथ ही इस बात पर भी इन्हें आश्चर्य है कि संस्कृत आचार्यों ने शोक, क्रोध, भय और बीभत्स जैसे 'सुख विरोधी' भावों को रस मान लिया परन्तु 'इनसे अमित गुण अधिक' भगवद् विषयक रति पर आधृत आनन्दात्मक भक्ति को पृथक् रस रूप में मान्यता नहीं दी। जब अन्य रसों की आस्वादात्मकता के लिए सहृदयों को प्रमाण ठहराया जाता है तो भक्ति की रसात्मकता के लिए भक्तजनों को क्यों नहीं प्रमाण मान लिया जाता ? अतः इनका स्पष्ट निष्कर्ष है कि भक्ति को रस रूप में मान्यता न देने में 'प्राचीन साहित्याचार्यों के दुराग्रह के सिवा अधिक क्या कहा जा सकता है ?'[2]

'रसमीमांसा' में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने परंपरागत नौ रसों में भी शान्त रस को छोड़ कर शेष आठ रसों के ही वर्गीकरण-विश्लेषण तथा रसात्मक आस्वाद की विस्तृत मीमांसा की है। शास्त्रीय दृष्टि से भक्ति को पृथक् स्वतन्त्र रस माना जाय अथवा नहीं, इस विषय में शुक्लजी की धारणा पूर्णतः स्पष्ट नहीं हो सकी। इन्होंने भक्ति भावना के उद्भव और विकास की चर्चा अन्यत्र पर्याप्त विस्तारपूर्वक की है।[3] परन्तु इन्होंने भक्ति के रसत्व की काव्यशास्त्र की दृष्टि से परिपुष्ट स्थापना नहीं की। इन्होंने विभिन्न सगुण-निर्गुण भक्तिपद्धतियों का व्यापक विवेचन किया है और रामोपासकों की शक्ति, शील और सौन्दर्य के तत्वों पर आधृत भक्ति-पद्धति को श्रेष्ठ ठहराया है। 'माधुर्यभाव' और 'मधुररस' की परिभाषा का भी शुक्लजी ने उल्लेख किया है।[4] भक्ति के रसात्मक आस्वाद का भी शुक्लजी ने पूर्णतः समर्थन किया है : 'कीर्तन द्वारा भक्तिरस का संचार सहस्रों नर-नारियों में एक साथ होता है। किसी भजन-मंडली के चारों ओर बैठे सैकड़ों मनुष्य भक्तिरस में झूमते पाए

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ६८।
२. वही, पृ० ७१।
३. दे० सूरदास, तुलसीदास, पृ० ४५-५७ जायसी ग्रन्थावली की भूमिका पृ० ५३-६२।
४. प्रियतम के रूप में भगवान् की भावना को 'माधुर्य भाव' और उनके प्रति प्रेमानुभूति को 'मधुर रस' कहते हैं।' सूरदास, पृ० ७३, द्वि० सं०, संवत् २००६।

जाते हैं। किसी कथावाचक के मुँह से कोई मार्मिक प्रसंग सुन कर सहस्रों श्रोता भीतर बाहर की सब सुध भूल रसमग्न हो जाते हैं।'[१] इससे स्पष्ट है कि व्यावहारिक दृष्टि से शुक्लजी भक्तिभाव की रसात्मकता का प्रत्याख्यान नहीं करते, वरन् पूर्ण समर्थन ही करते हैं, फिर भी परंपरागत आठ रसों के मूल स्थायी भाव और उनसे निर्मित आठ रसों की जैसी सूक्ष्म विवेचना शुक्लजी ने की है वैसी भक्ति के मूल में निहित स्थायी भाव की नहीं की। एक स्थान पर इन्होंने भक्ति की परिभाषा दी है 'श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है।'[२] अतः विरक्ति, निर्वेद या वैराग्यमूलक शान्त रस में 'भक्ति' का अन्तर्भाव शुक्लजी को स्पष्टतः अमान्य है।

डा० नगेन्द्र ने भक्ति की रस-परिणति का पूर्णतः समर्थन करते हुए भी इसे स्वतंत्र पृथक् रस रूप में मान्यता देना विशेष उपादेय नहीं माना है। इन्होंने भक्ति रस के मूल में निहित 'रति', 'निर्वेद', 'प्रश्रय' आदि भावों का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। मीरा की माधुर्य भावना रति का ही परिष्कृत रूप है। सूर और तुलसी का कार्पण्य निर्वेद का। इसके अतिरिक्त जहाँ इन्होंने प्रत्यक्ष भक्ति-निवेदन किया है—वहाँ भी कहीं तो स्पष्ट ही रति का परिपाक मिलता है, जैसे सूर के अनेक पदों में जिनमें कृष्ण की रूपमाधुरी का अंकन किया गया है और कहीं स्पष्ट निर्वेद का, जैसे तुलसी के बहुत से पदों में जहाँ संसार की असारता—कराल कलिकाल से उसकी रक्षा आदि के लिए प्रार्थना की गई है। शेष कुछ ऐसे पद रह जाते हैं जिनमें प्रश्रय भाव ही मानना पड़ेगा।[3] अतः भक्ति की पृथक् रसरूपता के विषय में इनका निष्कर्ष है : 'भक्ति को रस के योग्य मानते हुए भी उसका अन्तर्भाव इन्हीं निर्णीत स्थायी भावों में हो जाता है। जहाँ राग का प्राचुर्य है वहाँ रति, जहाँ विराग का प्राधान्य है वहाँ निर्वेद माना जा सकता है।'[४]

डा० गुलाबराय ने भक्ति रस की रसात्मकता का समर्थन किया है। इनका विशेष तर्क यह है कि भक्ति के स्थायीभाव में भी वही 'कोमलता और तन्मयता है जो और रसों में है।'[५] इसका अन्य रसों में अन्तर्भाव कहाँ तक संगत है, इस विषय में गुलाबराय जी ने अपना मन्तव्य स्पष्ट नहीं किया है। परन्तु श्री रामदहिन मिश्र की स्पष्ट धारणा है कि 'भक्तिरस किसी भी अन्य रस में अन्तर्भूत नहीं हो सकता

---

१. सूरदास, पृ० ८२-८३।
२. चिन्तामणि, पृ० ३२, प्र० भाग।
३. रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ७७।
४. वही, पृ० ७७।
५. सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० १५८, द्वि० सं० १९५५।

विशेषतः इन्होंने शृंगार (रति) और शान्त (निर्वेद) से इसकी पृथक् स्वतंत्र सत्ता का समर्थन किया है। आस्वाद्यता, उत्कटता, पुरुषार्थोपयोगिता, व्यापकता और मनोरंजकता की कसौटियों के आधार पर इन्होंनेइसे स्वतंत्र रस मानने पर आग्रह व्यक्त किया है। इनका भक्ति रस विवेचन मराठी के काव्यशास्त्र-विवेचक डा० वाटवे तथा श्री द० के० केळकर के विवेचन से पर्याप्त प्रभावित है। कहीं-कहीं तो उनके विवेचन का अनुवाद-सा ही है।[१] इन्होंने भक्तिरस की स्वतन्त्र मान्यता में जो निष्कर्ष दिया है, वह भी इन्हीं विवेचकों की धारणाओं के नितांत अनुरूप है : 'शास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर भक्ति रस परिपूर्ण तथा खरा उतरता है और रसश्रेणी में आने के उपयुक्त है। भक्ति रस के विरुद्ध जितने तर्क हैं वे निस्सार हैं। भक्तिरस की आस्वाद्य-योग्यता निर्बाध है।[२] अतः इन्होंने 'रति' और 'निर्वेद' की अपेक्षा डा० वाटवे के विवेचनानुरूप 'ईश्वरानुराग' को भक्ति का स्थायीभाव स्वीकार किया है।

डा० भगीरथ मिश्र ने 'भगवत्प्रेम' को भक्तिरस का स्थायीभाव मान कर इसकी पृथक् रसात्मकता का समर्थन किया है। इन्होंने भक्ति को भावमात्र मानने का प्रत्याख्यान किया है क्योंकि हिन्दी साहित्य की भक्तिकाव्य-धारा के प्रभाव से सरसित होकर वात्सल्य और भक्ति रस रूप में प्रतिष्ठित हुए हैं।[३] इसकी रसात्मकता की पुष्टि में भानुदत्त, मधुसूदन सरस्वती, रूपगोस्वामी की मान्यताओं का प्रमाण उद्धृत करना सदोष नहीं परन्तु आचार्य विश्वनाथ को भी 'भक्ति रस' का समर्थक मान लेना उपयुक्त नहीं लगता। कम से कम विश्वनाथ के साहित्यदर्पण में तो कहीं भी भक्तिरस का विवेचन पढ़ने में नहीं आया है।

'भक्तिभाव' एकघन, अखण्ड भाव है अथवा अनेक भावों का मिश्रण ? मराठी में इसके स्थायीभाव का मानसशास्त्रीय प्रतिपादन डा० वाटवे ने विस्तारपूर्वक किया है।[४] हिन्दी में 'भक्तिरस' के स्थायी भाव का निरूपण भिन्न-भिन्न शब्दावली में किया गया है। श्री कन्हैयालाल पोद्दार ने 'भगवद्विषयक अनुराग रति' का श्री रामदहिन मिश्र ने 'ईश्वरानुराग' का तथा डा० भगीरथ मिश्र ने 'भगवत्प्रेम' का स्थायीभाव के रूप में उल्लेख किया है। 'भक्तिभाव' में दास्य, सख्य, वात्सल्य,

---

१. मिलाइए द० के० केळकर : काव्यालोचन, पृ० १५६-५७ और रा० मिश्र : काव्यदर्पण, पृ० २१२-१३।
२. काव्यदर्पण, पृ० २१४ द्वि० सं० १९५१।
३. काव्यशास्त्र, पृ० २५३ और पृ० २६६-६७।
४. दे० भक्तिरस प्रकरण मराठी में, पृ० २७४।

माधुर्य और शांत का अन्तर्भाव किया जाता है। श्री चन्द्रबली पांडे की मान्यता में भक्तिभाव का प्रस्तुत वर्गीकरण असंगत है। 'यदि ईश्वर की अनुरक्ति अथवा देव-परक परम रति को ही भक्ति कहते हैं तो निश्चय ही शांत भाव भक्ति भाव का कोई भाग नहीं', क्योंकि इसमें परमात्मा के अनुध्यान की उतनी प्रतिष्ठा नहीं है, जितना संसार से उदासीन होने का आग्रह है। अतः श्री चन्द्रबली पांडे की धारणा में सख्य, वात्सल्य आदि भक्तिभावों के साथ माधुर्य का उल्लेख करना भी 'भूल या प्रमाद है, कुछ किसी चिन्तन का फल नहीं।' संक्षेपतः इनका आशय है कि 'दास्य-भाव' ही एक ऐसा भाव है, जिसे हम सर्वत्र भक्तिभाव में सुरक्षित पाते हैं... सख्य, वत्सल और शांत भाव के मूल में भी वस्तुतः दास्य भाव ही रहता है।'[1]

वस्तुतः दास्य, सख्य, वात्सल्य आदि भावों का मूल उत्स 'ईश्वरानुराग' ही है। सामान्यतः ईश्वर निराकार है, उसका मूर्तरूप दृष्टिगोचर नहीं होता, फलतः उसके अवतारों के रूप में साकार-स्वरूप की कल्पनाएँ की गई हैं। भक्त-हृदयों ने अपने अनुराग को सांसारिक सम्बन्धों का आश्रय लेकर अनेक रूपों में व्यक्त किया है। भक्तों की आस्था तो उसके साकार और निराकार दोनों ही स्वरूपों पर रही है। आलंबन की स्वरूप-भिन्नता से मूल स्थायीभाव में अंतर न मान कर सामान्यतः 'ईश्वरानुराग' या 'भगवत्प्रेम' को भक्ति का स्थायीभाव मानना सदोष प्रतीत नहीं होता।

हिन्दी में 'भक्ति' की रसात्मकता के विरुद्ध प्रायः तर्क या युक्ति-प्रमाण प्रस्तुत नहीं किये गये। सामान्यतः सभी आधुनिक हिन्दी के काव्यशास्त्र के विवेचकों ने भक्ति की रस परिणति का समर्थन ही किया है।

सारांश :

हिन्दी में अधिकांश विवेचकों ने भक्ति रस के स्वतंत्र अस्तित्व का ही समर्थन किया है। भक्ति को केवल भावमात्र स्वीकार करने की संस्कृत आचार्यों की प्रवृत्ति को अनेक विवेचकों ने अनुपयुक्त ठहराया है। श्री हरिऔध तथा कन्हैयालाल पोद्दार ने विशेषतः आस्वाद्यत्व तथा साहित्यिक आविष्कृति के आधार पर भक्ति को स्वतंत्र रस मानने पर विशेष बल दिया है। आचार्य शुक्ल ने भी भक्तिभाव की रसात्मकता का समर्थन किया है। डा० नगेन्द्र ने भक्तिभाव की रस परिणति का समर्थन करते हुए भी इसके मूल में निहित 'रति', 'निर्वेद' आदि भावों का पृथक् पृथक् विश्लेषण किया है और इनका परंपरागत स्थायी भावों में ही अन्तर्भाव दर्शाया है। डा० गुलाबराय, श्री रामदहिन मिश्र, डा० भगीरथ मिश्र आदि ने भक्ति-

---

१. साहित्य संदीपनी, पृ० १-३, प्र० सं० १९४७।

रस तथा इसके मूल में निहित भगवदानुराग अथवा भगवत्प्रेम के स्थायित्व की पुष्टि की है और इसे स्वतंत्र रस माना है। संक्षेप में अधिकांश समीक्षकों ने 'भक्ति' को स्वतत्र रस ही माना है, जिन समीक्षकों ने इसे परंपरागत नौ रसों से पृथक् स्वतंत्र स्थान देना अनुपादेय ठहराया है, उन्होंने भी भक्ति की रस-परिणति का समर्थन ही किया है। हिन्दी के आधुनिक समीक्षकों ने 'भक्ति' की रसात्मकता का प्रायः प्रतिषेध नहीं किया है।

भक्ति रस

मराठी में

संस्कृत साहित्यशास्त्र में जिस प्रकार भक्ति को स्वतंत्र रस रूप में मान्यता देने में मतैक्य नहीं है, उसी प्रकार मराठी में भक्ति की रसात्मकता पर भिन्न-भिन्न मत उपलब्ध होते हैं। कतिपय विचारक भक्ति को भावमात्र मानते हैं, स्वतंत्र रस नहीं। कोई इसकी सार्वत्रिकता का प्रत्याख्यान करता है तो कोई इसे 'रति' या 'निर्वेद' में समाविष्ट करने पर बल देता है। कतिपय विचारक भक्ति का आलंबन विभाव निर्जीव जड़ मूर्ति होने से इसकी रस-परिपुष्टि का प्रतिषेध करते हैं तो अन्य अनेक निर्गुण भक्ति में उत्कटत्व के अभाव का प्रतिपादन करते हैं। दूसरी ओर भक्तिरस के समर्थकों ने अपनी स्वतंत्र युक्तियों तथा प्रमाणों से इसकी रसात्मकता की परिपुष्टि की है। और इन्होंने भक्तिरस के विरोधियों के आक्षेपों का भी समाधान प्रस्तुत किया है। दोनों पक्षों की मान्यताओं का पृथक्-पृथक् उल्लेख भक्तिरस की वास्तविक स्थिति के निर्धारण में उपादेय होगा।

भक्ति रस के विरोधियों की मान्यताएँ :

भक्ति रस के प्रतिपक्षियों में कतिपय ने संस्कृत आचार्यों के तर्कों का ही आश्रय लिया है तो अनेकों ने स्वतंत्र चिन्तन का भी प्रयत्न किया है। श्री बलवन्त कमलाकर माकोडे ने अपने ग्रन्थ 'रसप्रबोध' (ई० सन् १८९२) में संस्कृत आचार्यों की भाँति ही भक्ति के रसत्व का विरोध कर उसे भावमात्र माना है।[1] डा० पा० वा० काणे ने रूपगोस्वामी और उज्ज्वल नीलमणि की मान्यताओं का विवेचन करते हुए भक्तिरस के विषय में लिखा है : 'इस विषय में जब तक प्राचीन साहित्यशास्त्रकारों की रस-परिभाषाओं का उपयोग करना है तब तक भक्तिरस को पृथक् स्वतंत्र मान्यता देने में मुझे कोई भी कारण नहीं दिखाई देता। यदि उनकी परिभाषा का परित्याग करके स्वतंत्र बुद्धि से साहित्य के विवेचक भक्ति रस को प्रधानता

---

१. रसप्रबोध, पृ० ६८ प्र० संस्करण।

देना चाहते हैं तो इसमें कोई आपत्ति दिखाई नहीं देती'। फिर भी अंत में इन्होंने एक संभाव्य आपत्ति की ओर संकेत कर दिया है—भक्तिरस को इस प्रकार से प्रधानता मिलने पर भक्ति में भी (दानवीर, दयावीर आदि वीर रस के भेदों के समान) ईश्वर भक्ति, पुत्र भक्ति, पितृभक्ति, इत्यादि भेद मानने पड़ेंगे।[1]

श्री रंगाचार्य रेड्डी ने भक्ति रस के विरोध में अनेक तर्क प्रस्तुत किये हैं। इनकी मान्यता का सारांश यही है कि रति के अन्तर्गत ही भक्ति को 'भाव' मात्र माना जाय स्वतंत्र रस रूप में मान्यता न दी जाय। (१) स्थायी भावों में रति-भाव अत्यन्त विस्तारात्मक है। इसमें एक ओर देवता, गुरु, राजा विषयक प्रेम भाव आता है, जो भक्ति के अन्तर्गत होगा और दूसरी ओर स्त्री-पुरुष का प्रेम शृंगार के। एक ही स्थायीभाव 'रति' से दो स्वतंत्र रसों का प्रतिपादन शास्त्र-मर्यादा से हटकर है, अतः सजीव सृष्टि में सुगमता से, विस्तार और उत्कटता से जिस प्रेम की प्रतीति होती है उस स्त्री-पुरुष-प्रेम (रति) को स्थायी भाव माना जाय और अन्य प्रेम-प्रकारों को भाव मात्र समझा जाय। (२) भक्ति मार्ग और भक्तिरस का पारस्परिक अन्तर भली प्रकार समझना चाहिए। रसनिष्पत्ति में विभाव, अनुभाव तथा संचारीभाव की सामग्री अपेक्षित है, इनसे परिपुष्ट होकर ही रस निष्पत्ति होती है। ज्ञानेश्वर आदि कवियों ने भक्तिमार्ग का वर्णन उपमादि अलंकारों से किया है, वह भक्तिरस नहीं है। भक्तिरस में चरित्र-वर्णन अपेक्षित है। भक्ति के वर्णन से भक्ति रस नहीं बनता। (३) देवता विषयक प्रेम को ही यदि स्थायी भाव मानना है तो राष्ट्र-प्रेम, शास्त्र-प्रेम आदि को भी स्थायी भावों में क्यों न समाविष्ट किया जाय?'[2] प्रा० भा० दा० अळतेकर ने भक्ति को शृंगार के अन्तर्गत ही समाविष्ट करने पर बल दिया है। इनकी मान्यता में अनेक भक्त कवि ज्ञानेश्वर, नामदेव, तुकाराम आदि की रचनाओं में व्यक्त भक्ति में शृंगार के समान ही अनुरागात्मक स्थायी भाव है। अतः भक्ति और वात्सल्य इन दोनों का शृंगार रस में ही समावेश होना चाहिए, शान्त रस में नहीं।[3] प्रो० द० सी० पंगु ने भी भक्ति के रसत्व का प्रत्याख्यान करते हुए उसे भाव रूप मानने पर बल दिया है। इनकी मान्यता में निर्जीव-जड़ देवता की मूर्ति से सजीव मनुष्य प्राणी के समान वर्गत्व के अभाव से रस-परिपुष्टि के लिए अपेक्षित तन्मयता या उत्कटता नहीं आ सकेगी। इसके अतिरिक्त इस नवीन भक्तिरस को अनुभाव और व्यभिचारी

---

१. संस्कृत साहित्य शास्त्रा चा इतिहास, पृ० २४५-२४६।

२. विविधज्ञान विस्तार, फरवरी-मार्च १९३२ रसविमर्श पृ० १६२।

३. ज्ञानदेव : पृ० २३१।

भावों का संयोग भी प्राप्त नहीं हो सकेगा। अतः ऐसी स्थिति में यहाँ भक्ति रस न होकर भक्ति भाव ही होगा।[1]

श्री० कृ० कोल्हटकर की मान्यता में अद्‌भुत रस को ही यदि व्यापकता प्रदान की जाती तो देवता, देश और राजा से सम्बद्ध भक्ति का अद्‌भूत रस में ही अन्तर्भाव करना सुगम हो जाता।[2] श्री वामन ना० देशपांडे ने भी भक्तिरस के 'अद्‌भुत' में समावेश का ही समर्थन किया है।[3]

प्रा० द० के० केळकर ने 'भक्तिरस और पाश्चात्य काव्यशास्त्र' के अन्तर्गत पूर्व पक्ष के रूप में डा० जान्सन के भक्ति से सम्बद्ध आक्षेपों का निरूपण किया है। डा० जान्सन के भक्ति की रसात्मकता के विरुद्ध प्रस्तुत तर्कों का यहाँ उल्लेख करने का उद्देश्य केवल यही है कि भक्ति रस के समर्थकों की धारणाओं का भली प्रकार स्पष्टीकरण हो सके। डा० जान्सन ने 'वालर' कवि के चरित्र-निरूपण में प्रस्तुत विवाद को उपस्थित कर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि ईश्वर और मनुष्य का पारस्परिक धार्मिक सम्बन्ध अनेक कारणों से काव्य का विषय नहीं बन सकता। अतः भक्ति को काव्यगत रस मानने का प्रश्न ही नहीं उठता। इनके प्रमुख आक्षेप हैं—(क) भक्त जब दीन वाणी से ईश-प्रार्थना करने लगता है अथवा उसका गुणगान करने लगता है तब वह काव्य की अपेक्षा एक उच्चतर वातावरण में पहुँचा होता है (ख) इसके अतिरिक्त काव्य का प्रयोजन कुछ न कुछ अभिनव एवं अनपेक्षित रचना करके मन को उल्लसित करना होता है। परन्तु भक्ति का विषय तो मर्यादित होता है, फिर उसमें नवीनता कैसे आ सकेगी? (ग) साथ ही काव्य में रमणीयता लाने के लिए वस्तु का यथावत् वर्णन करने की अपेक्षा उसके दोषों को प्रच्छन्न कर गुणों का उत्कर्षपूर्ण वर्णन करना पड़ता है, परन्तु धर्म के विषय में इस प्रकार का दुराव-छिपाव कैसे उपयुक्त होगा? वहाँ तो वस्तु का यथावत् निरूपण अपेक्षित है। (घ) इसके अतिरिक्त ईश्वर संपूर्ण गुणों का सागर है तब इस गुण-समृद्ध विभूति को अन्य गुणों से कैसे गौरवान्वित किया जाय? (ङ) ईश्वर-चिन्तन में मन की तल्लीनता की स्थिति में काव्य-सृजन के लिए अवसर ही कब मिलेगा?[4]

---

१. सह्याद्रि : रस विमर्श, पृ० २६३।
२. ज्योत्स्ना, नवंबर, १९३६।
३. कोल्हटकर-लेख संग्रह, पृ० ८३४।
४. काव्यालोचन, पृ० १५२ तृ० संस्करण।

श्री गो० रा० हिंगणेकर ने भी 'भक्ति' के पृथक् स्वतंत्र रस के अस्तित्व का प्रत्याख्यान किया है। इनके मत में 'भक्ति विचारशीलता की विलीनावस्था है। रस-संज्ञा में भावनाओं की तरलता और प्रमाद शीलता के प्रति थोड़ा बहुत आकर्षण या खिचाव आवश्यक है।'[1] अतः विलीनावस्था की द्योतक भक्ति-भावना अन्य रसों की भाँति स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रखती।

अब तक भक्तिरस के स्वतन्त्र अस्तित्व का प्रत्याख्यान जिन युक्तियों के आधार पर किया गया है, उनका सारांश है :

१. संस्कृत आचार्यों की मान्यतानुरूप भक्ति को भावमात्र स्वीकार किया जाय, पूर्ण रस नहीं।
२. भक्ति का रति में अथवा अद्भुत में अन्तर्भाव किया जाय।
३. निर्जीव जड़ देवता की मूर्ति में अथवा निराकार आलंबन में अपेक्षित तन्मयता का अभाव होता है।
४. भक्ति एक प्रकार की तन्मयता की विलीनावस्था है, इसमें काव्य की-सी रसात्मकता नहीं है।
५. भक्त कवि की ईश-स्तवन की तन्मयता उसे काव्य की अपेक्षा एक उच्चतर वातावरण में पहुँचा देती है।
६. काव्य का प्रयोजन तथा काव्य-सृजन-प्रक्रिया तथा भक्ति का प्रयोजन तथा भक्ति की प्रक्रिया का स्वरूप मूलतः भिन्न-भिन्न होता है।

भक्ति रस के समर्थकों की मान्यताएँ :

मराठी में जिस प्रकार आधुनिककाल के आरम्भ से ही भक्ति रस के स्वतन्त्र रसत्व के विरुद्ध तर्क उपस्थित किये गये हैं उसी प्रकार उसकी रसात्मकता का समर्थन भी आरम्भ से ही उपलब्ध होता है। श्री राव जी मोडक ने अपने 'साहित्य-सार' ग्रन्थ में ग्यारहवाँ रस भक्ति रस माना है। 'रसमाधव' (१८६८ ई० सन्) के रचयिता प्रभुदाजी शिवाजी प्रधान, 'अलंकार मीमांसा' के रचयिता श्री भागवत, 'अलंकार चन्द्रिका' के रचयिता श्री ग० म० गोरे आदि ने भक्ति रस को मान्यता दी है।[2] शास्त्रीय दृष्टि से भक्ति रस का विवेचन व समर्थन प्रो० श्री० नी० चापेकर ने ही प्रथम किया है। इन्होंने भक्ति रस के विरोधियों के आक्षेपों का प्रथम निराकरण किया है। इनकी मान्यता में सभी विषयों में प्राचीन रस-व्यवस्था को एकांत प्रमाण मानना उचित नहीं है। मराठी साहित्य में भक्ति का अत्यन्त स्पष्ट स्वरूप

---

१. **काव्यचर्चा, पृ० ३३०।**
२. **रसविमर्श पृ० २६६,**

दिखाई देता है। अतः इसके समृद्ध साहित्य को ध्यान में रख कर तो कम से कम भक्ति को स्वतंत्र रस रूप में मान्यता देनी ही चाहिए।[१]

भक्ति रस के समर्थकों का दृष्टिकोण शास्त्रीय तर्क प्रमाण उपस्थित करने की अपेक्षा प्रायः व्यावहारिक अधिक रहा है। इनके समक्ष भक्ति रस पूर्ण समृद्ध मराठी साहित्य है। प्रो०श्री०नी० चापेकर के समान ही प्रा०बनहट्टी ने इसी दृष्टि-कोण से भक्ति रस के स्वतंत्र रसत्व का समर्थन किया है। 'संत कवियों के अपूर्व प्रभाव से मराठी साहित्य में' भक्ति ही सब से अधिक नैसर्गिक और 'पट्टाभिषिक्त' (मूर्धन्य) रस बन बैठा है। हमारे प्राचीन कवियों ने भक्ति-प्रेम का इतना अधिक निरूपण किया है कि उसके आगे अन्य सभी रस दीन और निस्तेज दिखाई देते हैं। मराठी कविता में भगवद्भक्ति का स्थान इतना श्रेष्ठ और महत्वपूर्ण है कि यदि भक्ति को रस ही न माना जाय तो मराठी साहित्य की अनेक उत्कृष्ट कविताएँ नीरसता की कोटि में डाल देनी होंगी। कदाचित्, शृंगार, हास्य इत्यादि रसों को हटाने से काम चल सकेगा परन्तु मराठी साहित्य के लिए भक्ति रस के बहि-ष्कार से काम नहीं चल सकता।'[२]

प्रा० बनहट्टी के समान ही श्री ल० रा० पाँगारकर भी भक्ति के पृथक् स्वतन्त्र रसत्व की मान्यता के कट्टर समर्थक हैं।[३] श्री नी० र० वर्हाडपांडे ने रसों के मानसशास्त्र का विवेचन करते हुए रति या शृंगार की अपेक्षा 'प्रेम' स्थायीभाव को व्यापक शृंगारमूलक, वात्सल्यमूलक तथा भक्तिमूलक मानने पर विशेष बल दिया है तथा भक्ति का शान्तरस में अन्तर्भाव उनुपयुक्त माना है। इन्होंने भक्ति रस का स्थायीभाव 'आदर' की अपेक्षा 'ईश-प्रेम' ही निर्धारित किया है।[४]

डा० मा० गो० देशमुख ने ज्ञानेश्वर से रामदास तक के संतकवियों की साहित्य शास्त्रीय मान्यताओं का विस्तृत उल्लेख किया है। इन भक्तिकालीन कवियों की सामान्य धारणाओं को दृष्टिगत रख कर भक्ति रस के सम्बन्ध में इन्होंने निष्कर्ष निकाला है 'मराठी साहित्यशास्त्र में भक्ति को कौन सा स्थान दिया जाय इसके निर्धारण करने का वास्तविक अधिकार मराठी के जिन कवियों को है, उनकी मान्यताओं को स्वीकार किया जाय तो सभी रसों पर छाकर अवशिष्ट रहने वाले

---

१. काव्यचर्चा (१९२५) पृ० १४०-१४३ 'रस विचार' (निबन्ध)
२. मयूर काव्य विवेचन : पृ० ३७१-३७२ (१९२६ ई० सन्)
३. दे० रसविमर्श, पृ० २८७-८८।
४. रसांचे मानसशास्त्र, लेखांक तिसरा, ज्योत्स्ना।

भक्ति रस को स्वतंत्र 'रसत्व' दिये बिना 'गत्यन्तर' नहीं हैं।'[१]

डा० वाटवे ने मानसशास्त्र और संस्कृत साहित्यशास्त्र के आधार पर भक्ति के पृथक् स्वतन्त्र रसत्व की परिपुष्टि की है। इनकी दृढ़ मान्यता है कि 'भक्ति-भावना केवल स्थायीभाव न होकर स्थायितम है।' और केवल सेन्टिमेन्ट (Senti ment) न होकर 'मास्टर-सेन्टिमेन्ट' है।[२] मानसशास्त्र के आधार पर भक्ति-भावना को निम्नलिखित कारणों से 'सेन्टिमेंट' सिद्ध करने का इन्होंने प्रयत्न किया है :

१. स्थिरवृत्ति (सेंटिमेंट) में प्राथमिक (प्राइमरी) भावनाओं का सम्मिश्रण होता है अथवा इस स्थिरवृत्ति का स्वरूप संम्मिश्र (Blended) होता है। इसी प्रकार भक्ति भावना में भी १ भय (Fear) २ आत्महीनता या शरणागति (submission) और ३ जिज्ञासा (curiosity) इन प्राथमिक भावनाओं का सम्मिश्रण रहता है। भक्तिभावना के सम्मिश्र (Blended) होने का मूल कारण है उस भावना का उद्दीपक विषय—ईश्वर। ईश्वर के स्वरूप की सम्मिश्रता के कारण ही भक्तिभावना का स्वरूप भी सम्मिश्र बनता गया है। मानसशास्त्र की परिभाषा का आधार लेकर डा० वाटवे ने अंग्रेजी में भक्ति के स्वरूप की सम्मिश्रता का प्रतिपादन किया है।[३] फलतः भक्ति-भावना साधित (Derived) नहीं कहला सकती। स्थिरवृत्ति (सेंटिमेंट) अनेक भावनाओं से घिरी हुई होती है, अन्य भावनाएँ मूल भावना की परिपोषक बन कर आती हैं। इसी प्रकार ईश्वरानुरक्ति की मूलभावना में उत्सुकता, विषाद, दैन्य, चिंता, व्याधि, भय, निर्वेद, ग्लानि, गर्व, व्रीडा जिज्ञासा आदि भावनाएँ परिपोषक रूप में आती हैं। भाव-विस्तार के लिए माता-पिता, स्वामी, सखा, पुत्र, बन्धु, भगिनी, पत्नी आदि अनेक प्रकार के नाते-रिश्ते ईश्वर से स्थापित किये जाते हैं। शांत, वात्सल्य, श्रृंगार, वीर, क्रोध, करुण, नम्रता, आत्मसमर्पण आदि भावों का भक्ति भाव में समावेश

---

१. मराठी चें साहित्यशास्त्र, पृ० २८९।

२. रसविमर्श, पृ० २८३।

३. "Divotion (भक्ति) is a complex emotional experience. It is not liberally formed by separate excitements. It is a complex reaction of the mind of the devotee to a complex of sensory impressions produced by either the sight of the image of God or by a mere thought of Him."

होता है । इस प्रकार से 'अनेक संचारीभाव तथा अन्य रसों के स्थायी भाव भी ईश्वरानुरक्ति भाव के चारों ओर जमा होते हैं और उसे उत्कट रूप में आस्वाद्य बनाते हैं ।'[१]

भक्ति-भावना विरोधी भावों से भी प्रच्छन्न नहीं होती । इसमें क्रोध, भय, जुगुप्सा आदि भाव विघ्न उपस्थित नहीं करते । भक्तिभावना मूलतः संतों के अथवा सहृदय पाठकों के मन में प्रच्छन्न रूप से सततवास करती है और विषयगोचरता से जाग्रत हो उठती है। प्रत्येक व्यक्ति में अपने से श्रेष्ठ के प्रति आदर, किसी बलवान की शरण में जाने की इच्छा, गूढ़तत्व विषयक जिज्ञासा, उदात्तता के प्रति आकर्षण, अद्भुत में विस्मय आदि भावनाएँ जन्मजात होती हैं । इन सभी भावनाओं को परमेश्वर जैसा विषय मिलते ही वे उसके चारों ओर केन्द्रित हो जाती हैं जिससे व्यक्ति के मन में एक स्थायी भाव बन जाता है । 'इसी को सहृदयस्थ भक्ति रस का स्थायी भाव कहा जा सकता है ।'[२]

इस प्रकार भक्ति को केवल भाव मात्र न मान कर उसे स्थायी भाव सिद्ध करने के उपरान्त डा० वाटवे ने भक्ति भावना के शान्त में अन्तर्भाव करने का प्रत्याख्यान किया है। शान्त के स्थायी भाव शम और भक्ति के स्थायी भाव ईश्वरानुरक्ति में परस्पर पर्याप्त भिन्नता है। शान्तरस का आधार ज्ञानमार्ग है और उसका उद्गम वैराग्य की भावना से होता है । ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग में जो अन्तर है लगभग वही अन्तर शान्तरस और भक्तिरस में है। मराठी के अधिकांश भक्त कवियों ने भक्तिमार्ग को ही ज्ञानमार्ग से श्रेष्ठतर प्रतिपादित किया है। निर्गुण की अपेक्षा सगुण साकार ईश्वर पर भक्तों की चित्तवृत्ति अधिक देर तक स्थिर रहती है । शान्तरस के समान ज्ञान का आनन्द अपने तक सीमित न होकर भक्ति रस में वह दूसरों तक भी संक्रमित किया जा सकता है । इस कारण भक्त अपने कुलों को ही नहीं संपूर्ण धरित्री को पावन कर देते हैं । शांतरस में भी भाव प्रतीति होती है परन्तु वह नितांत संयमित और नियन्त्रित होती है भक्तिरस के समान उन्मुक्त और सर्वसुलभ नहीं होती । 'भक्तिमार्ग और ज्ञानमार्ग का उद्दिष्ट एक ही होता है परन्तु मार्ग मात्र भिन्न-भिन्न होते हैं । दोनों में विषय पराङ्मुखता, नित्यानित्यवस्तु विवेक, वैराग्य, शम आदि साधन संपत्ति और मुमुक्षुत्व की आवश्यकता होती है परन्तु भक्ति में मनोविकारों पर विजय पाने के लिए रूक्ष विरोध या संयम से काम नहीं लिया जाता बल्कि ईश्वर-प्रेम जैसे उत्कृष्ट और बलवान

---

१. रसविमर्श, पृ० २८२ ।

२. वही, पृ० २८४ ।

मनोविकार की सहायता ली जाती है ।'[१]

इस प्रकार शान्तरस में भक्ति रस के अन्तर्भाव का प्रतिषेध करने के उपरान्त डा० वाटवे ने भक्ति रस-विरोधियों के आक्षेपों का भी सयुक्तिक निराकरण किया है ।[२] इनकी दृढ़ मान्यता है कि भक्तिरस एक उत्कट रूप में अस्वाद्यमान स्वतंत्र रस है, इसका किसी अन्य रस में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता ।

श्री द० के० केळकर ने भक्ति भावना के रसत्व की सिद्धि के लिए मानस-शास्त्रीय स्थायीभाव (सेंटिमेंट) की कसौटी को अनावश्यक ठहराया है । इनकी मान्यता में किसी भाव को रस का स्थायीभाव सिद्ध करने के लिए उसे उत्कट रूप में आस्वाद्यमानता की कसौटी पर कसना ही उचित है ।[३] फिर वह भावना मूलभूत हो अथवा संमिश्र हो, संकीर्ण हो अथवा साधित हो, उत्कट रूप से आस्वाद्य होने पर रसत्व को ही प्राप्त होती है ।

डा० जान्सन द्वारा भक्ति रस के विरुद्ध प्रतिपादित आक्षेपों का इन्होंने सयुक्तिक खंडन किया है ।[४] और उनके अनेक आक्षेपों को नितांत सारहीन माना है । भक्ति भावना एकस्वरूपा होने पर भी भारतीय संत कवियों नेउसका स्वामी, सखा बंधु, पिता, पुत्र, माता आदि अनेक रूपों में वर्णन किया है । ईश्वर गुणों का सागर है अत: उसमें और अधिक गुणों के समावेश का प्रश्न नहीं उठता परन्तु उसके गुणों का अनेक प्रकार से वर्णन करने की इच्छा को तो पूर्ण किया ही जा सकता है । भक्ति-परक काव्य-निर्माण भक्ति की समाधि-अवस्था में नहीं होता बल्कि समाधि से पूर्व अथवा पश्चात् भक्त कवि काव्य-निर्माण के लिए प्रवृत्त होता है । यदि वह ईश्वर-भक्ति में तल्लीन होकर आत्मविस्मृत हो जाता है तब उसके लिए काव्य-निर्माण का व्यापार मंद पड़ जाता है । इसमें सन्देह नहीं कि काव्य-निर्मिति एक आल्हादपूर्ण व्यापार है और ईश्वर-प्राप्ति की तल्लीनता काव्यानंद से भी उच्चतर है । यदि भक्त की तन्मयता तीव्र कोटि की होगी तो उस स्थिति में काव्य-निर्मिति संभव नहीं है परन्तु बाद में भक्त को अपनी तल्लीनता की स्मृति काव्य-निर्माण में सहायक सिद्ध होती है ।

भक्ति भावना की सार्वत्रिकता के अभाव का प्रतिपादन कर इसके रसत्व का प्राय: प्रत्याख्यान किया जाता है । प्रस्तुत आक्षेप में आंशिक सत्य है । अतः श्री

---

१. रसविमर्श, पृ० २९१ ।
२. रसविमर्श, पृ० २९२-२९७ तक ।
३. काव्यालोचन, तृ० सं० पृ० १५७ ।
४. वही, पृ० १५२-५३ ।

द० के० केळकर की दृढ़ मान्यता है—'मानवी संस्कृति के विकास में जो भावनाएँ संस्कार परंपरा से दृढ़ हुई हैं, उनमें ईश्वर-भक्ति एक प्रबल भावना है।'[१] करोड़ों व्यक्ति भक्ति-भावना में तल्लीन दिखाई देते हैं। कतिपय व्यक्तियों में भक्तिभावना का अभाव होने से इसकी आनंदात्मक स्थिति का प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता। जिस भावना में आनंद और प्रेम को स्फूर्ति प्राप्त होती है उसे रसात्मक ही समझना चाहिए।[२]

आंशिक रूप में ही सही, जब भक्तिभावना सार्वत्रिक नहीं है तब अन्य अनेक असार्वत्रिक, अस्थिर, छोटी-मोटी भावनाओं का भी रस में समावेश होने लगेगा और प्राचीन रस-व्यवस्था उच्छिन्न हो जायेगी। प्रस्तुत आक्षेप का समाधान श्री केळकर की मान्यता में इस प्रकार है: 'भावनाओं का विषय बदलता है, मूल-भूत भावना नहीं बदलती। वह अधिक व्यापक या संकीर्ण मात्र होती है। राष्ट्र-प्रेम और विश्व-प्रेम मर्यादित परिस्थिति में परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं, परन्तु व्यापक अर्थ में वे विरोधी नहीं हैं, प्रेम भावना ही दोनों में भिन्न-भिन्न रूपों में निहित है। फलतः शृंगार रस का नाम परिवर्तित करके उसके स्थान पर 'प्रेम' संज्ञा को रूढ़ किया जाय और पत्नी-प्रेम, राष्ट्र-प्रेम, विश्व-प्रेम, ईश-प्रेम (भक्ति) इन सब का एक 'प्रेम रस' में समावेश मेरे विचार में उपयुक्त लगता है।'[३]

इस प्रकार श्री केळकर एक ओर भक्ति रस की उत्कट आस्वाद्यमानता सिद्ध करके उसके रसत्व का पूर्ण समर्थन करते हैं, दूसरी ओर रस-संख्या के विस्तार की अपेक्षा मूलभूत भावना 'प्रेम' में ही भक्ति के अन्तर्भाव का प्रतिपादन करते हैं।

प्रा० जोग ने अभिनव काव्य प्रकाश के प्रथम संस्करण में भक्ति की रसात्मकता का प्रत्याख्यान दो तत्वों के आधार पर किया था—भक्ति भावना मूलभूत नहीं है और वह सार्वत्रिक अर्थात् सभी मनुष्यों में और एक मनुष्य की भी सभी अवस्थाओं में दृष्टिगोचर नहीं होती।[४] परन्तु अपने ग्रन्थ के द्वितीय और तृतीय संस्करण में भक्ति रस विषयक इनकी धारणाओं में परिवर्तन दिखाई देता है। मूलभूत प्रश्न 'भक्ति के रति या शान्त' में अन्तर्भाव का नहीं है, अपितु इसे स्वतन्त्र रस रूप में मान्यता दी जाय अथवा नहीं, यह है। अभिनवगुप्त, मम्मट, जगन्नाथ आदि आचार्यों ने इसे भाव मान कर 'रति' या 'शान्त' में ही इसके अन्तर्भाव का

---

१. काव्यालोचन, पृ० १५७।
२. काव्यालोचन, पृ० १५७।
३. काव्यालोचन पृ० १५८ तृ० संस्करण।
४. अभिनवकाव्यप्रकाश, प्र० सं० पृ० ७५।

समर्थन किया ही है। प्राचीन संस्कृत आचार्यों और अर्वाचीनभक्ति-रस-विरोधियों की मान्यताओं को ध्यान में रख कर प्रा० रा० श्री० जोग ने इस विषय में अत्यन्त उपयुक्त निष्कर्ष दिया है। भक्ति भावना उत्कट रूप में अभिव्यक्त हुई है अथवा नहीं, यह सहृदयों को उत्कट आस्वाद देने में समर्थ है अथवा नहीं, इसी पर मुख्यत: विचार करना उचित है। ईश्वर की वास्तविक सत्ता हो अथवा न हो। उसकी सत्ता के विषय में आज नहीं तो एक समय ऐसा था जब कि उसमें विश्वास था। भक्ति-भावना आज सार्वत्रिक भले ही न हो, परन्तु एक समय तो वह सार्वत्रिक थी ही। इसकी स्थिति संपूर्ण साहित्यों में न सही मराठी साहित्य में तो थी ही। उसकी पाषाण मूर्ति पर ही नहीं अपितु अमूर्त निराकार स्वरूप पर भी भक्ति थी। पाषाण की बनी मूर्ति पर भी उत्कट भक्ति रखने वाले नामदेव जैसे भक्त थे। उनकी भक्ति भावना के विषय में और उसकी उत्कटता के विषय में शंका के लिए स्थान नहीं है। आज यूरोप में अथवा भारतवर्ष में भक्ति-भावना के समर्थक लोग हों अथवा न हों, एक समय ऐसा था जब कि कवियों और लेखकों ने उसका उत्कट आविष्कार किया और आस्वाद लिया है। यही एक तथ्य भक्ति को रस रूप में मान्यता देने में पूर्ण समर्थ है।'[१]

डा० प्र० न० जोशी ने 'मराठी साहित्यांतील मधुरा भक्ति' शीर्षक शोध-प्रबन्ध में मधुरा भक्ति की पाश्चात्य मानसशास्त्र के आधार पर व्यापक समीक्षा की है। मानस शास्त्र के आधार पर इन्होंने भक्ति की निम्न परिभाषा की है: मानव जीवन में सार्वत्रिक, अज्ञात सत्य की ओर बार-बार आकर्षित करने वाली उसके मिलनार्थ उत्सुक, उससे नाना प्रकार के सम्बन्धों को स्थापित करने की इच्छुक, भय, आदर जिज्ञासा, आत्मसमर्पण इत्यादि भावनाओं से परिपुष्ट मन की जो अनुभवगम्य 'स्थिरवृत्ति' (सेंटिमेंट) बनती है, उसका नाम भक्ति है।'[२]

डा० वाटवे ने भी भक्तिभाव को सेंटिमेंट के रूप में ही सिद्ध किया है और डा० प्र० न० जोशी भी 'भक्ति भावना' को सेंटिमेंट ही प्रतिपादित करते हैं। मधुरा-भक्ति में प्राय: लौकिक शृंगार-प्रेम जैसी भावनाएँ माधुर्य भक्ति के उपासक कवियों ने व्यक्त की हैं। भक्त कवियों द्वारा व्यक्त शृंगारपरक भावनाओं में मूलत: 'भक्ति-वृत्ति' निहित होती है अथवा 'कामुकता' या 'विषयवृत्ति' यह प्रश्न पर्याप्त गूढ़ है। डा० प्र० न० जोशी ने पाश्चात्य मानसशास्त्र के आधार पर इस प्रश्न का समाधान खोजने का प्रयत्न किया है। इनकी स्पष्ट धारणा है कि 'भक्तिवृत्ति और कामुकता

---

१. अभिनव काव्य प्रकाश, पृ० ११७-११८ तृ० संस्करण १९५१।
२. मराठी साहित्यातील मधुराभक्ति, पृ० २१८।

का कार्य कारण रूप सम्बन्ध नहीं है। प्रस्तुत दोनों वृत्तियाँ नितांत भिन्न-भिन्न हैं। दोनों के लक्ष्य, गति, जीवनव्यापी दीर्घता, आचरण-पद्धति, प्राप्य सुख, इत्यादि सभी बातों में दोनों में ज़मीन आसमान का अंतर है।'[1]

जब भक्तिवृत्ति और कामवृत्ति में एकांततः भिन्नता है, तब प्रश्न उठता है—क्या भक्तों के जीवन में काम भावना का आत्यंतिक अभाव होता है? क्या वे विषय-वृत्ति को बिल्कुल विनष्ट कर देते हैं? मानव जीवन में कामवृत्ति के तीव्र प्रभाव तथा मानव को कार्योन्मुख करने की उसकी सामर्थ्य को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। फिर भक्तों के जीवन में इस कामवृत्ति या विषयवृत्ति की स्थिति किस रूप में रहती है? इसका समाधान डा० जोशी ने मानसशास्त्र के दो विशिष्ट तत्वों के आधार पर खोजने का प्रयत्न किया है। एक है—उदात्तीकरण (sublimation) और दूसरा है—रूपान्तर (Conversion)।

(१) उदात्तीकरण

डा० जोशी ने आधुनिक पाश्चात्य मानसशास्त्रज्ञों, कॅनिथवाकर (Kenneth walker) फ्रॉयड, ओस्वाल्ड श्वार्झ (Oswald schwarz) आल्फ्रेड सी० किन्से (Alfred c. kinsey) आदि की उदात्तीकरण विषयक धारणाओं का उल्लेख करके निष्कर्ष दिया है :

१. फ्रायड आदि मानसशास्त्रज्ञों द्वारा निरूपित उदात्तीकरण की कल्पना प्रयोग सिद्ध नहीं है।
२. काम भावना के उदात्तीकरण का स्वरूप मूलतः मानसशास्त्र में पूर्णतः स्पष्ट नहीं हो सका है। कामभावना की दिशा बदलती है अथवा इस मूलवृत्ति का स्वरूप ही बदल जाता है? इसमें परिवर्तन कितनी मात्रा में होता है और किन-किन नियमों से होता है?—इस विषय में मानसशास्त्रज्ञों में मतभेद है।
३. उदात्तीकरण में स्वीकृत यह विचारधारा कि कामुकवृत्ति अत्यन्त भयानक और बुरी है और इसका उदात्तीकरण ही होना चाहिए, इसका मानसशास्त्र ने अब तक पूर्ण परीक्षण नहीं किया है। पूर्ण उदात्तीकरण की स्थिति में वैषयिक-भावना अपने मूल स्वरूप में मानवजीवन में अवशिष्ट रहती है या नहीं? इस प्रश्न पर भी मानसशास्त्र को अभी भली प्रकार विचार करना है।
४. कामुक वृत्ति को यदि हीनतर माना जाय तो इससे उन्नत होनेवाली भक्ति-

---

१. **मराठी साहित्यांतील मधुरा भक्ति पृ० २१९।**

भावना में कितनी शुद्धता रह सकेगी इस पर भी मानसशास्त्र ने पूर्णतः विचार नहीं किया है।

अतः डा० जोशी की धारणा में मधुरा भक्ति के विवेचन-प्रसंग में भक्त कवि की कामभावना के उदात्तीकरण की कल्पना को पूर्णतः स्वीकार कर लेना अनुपयुक्त है।[1]

(२) 'रूपांतर' (Conversion) या 'स्थित्यंतर'

डा० जोशी ने 'रूपांतर' के विषय में विलियम जेम्स, मिस् अंडरहिल, थाउलेस, स्टारबक, सेल्बी आदि मानसशास्त्रज्ञों की धारणाओं का उल्लेख किया है। श्रेष्ठ या अलौकिक विभूति के सान्निध्य से साधक के जीवन में रूपांतर अभिघटित होता है। उदात्तीकरण और रूपांतर की स्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए लेखक ने भक्तों के जीवन में कामभावना के उदात्तीकरण की अपेक्षा रूपांतर का कुछ सीमा तक समर्थन किया है। 'उदात्तीकरण में मूल प्रवृत्ति अपने गुण-धर्मों सहित अवशिष्ट रहती है, इसी तथ्य का समर्थन आज तक का मानसशास्त्र करता आया है। 'कामुक प्रवृत्ति का उदात्तीकरण होते ही भक्तिभावना का निर्माण होता है। इस भक्ति-भावना में कामुकता के गुण-धर्म अवशिष्ट रहते ही हैं। इसके विपरीत 'स्थित्यंतर' में मूलभूत सब वासनाएँ और कल्पनाएँ नष्ट हो जाती हैं। भक्त का इसमें एक प्रकार का पुनर्जन्म होता है। बीज को जला कर जिस प्रकार खीलें बनती हैं, लगभग उसी प्रकार की स्थिति इसमें रहती है।.... मूलभूत दोष पूर्णतः समाप्त हो जाते हैं और भक्त की मनःस्थिति का नया अवतार प्रकट होता है। विषयादि भावनाओं का उदात्तीकरण होने की अपेक्षा रूपांतर होता है—यही मेरे कथन का अभिप्राय है।'[2]

अन्त में लेखक ने मधुराभक्ति के उपासक कवियों में 'स्थित्यंतर' (Conversion) की वास्तविक अवस्था को यथावत् पहचानने में पूर्ण सावधानी बरतने पर विशेष बल दिया है। अन्यथा मधुरा भक्ति के नाम पर मानवी विकारों की अभिव्यक्ति ही संभव है। राधाकृष्ण के उज्ज्वल परिधान को धारण कर अनेक शृंगारी कवियों ने भक्ति के आविर्भाव का प्रयत्न किया है परन्तु ज्ञान वैराग्य की तीव्र अनुभूति और उदात्त चरित्र के आधार पर ही वास्तविक या अस्वास्तविक मधुराभक्ति को समझा जा सकता है।[3]

---

१. मराठी साहित्यांतील मधुरा भक्ति, पृ० १८६-१८७।
२. वही पृ० २०४।
३. वही, पृ० २२०।

तुलनात्मक निष्कर्ष

मराठी तथा हिन्दी के अधिकांश आधुनिक समीक्षकों की धारणा भक्ति को स्वतन्त्र रस मानने के पक्ष में हैं। हिन्दी की अपेक्षा मराठी में भक्तिरस-विरोधियों ने भक्ति की रसात्मकता का प्रत्याख्यान विविध युक्ति-प्रमाणों के आधार पर किया है। भक्तिरस-विरोधियों की स्पष्टतः तीन प्रमुख प्रवृत्तियाँ लक्षित होती हैं : (१) संस्कृत आचार्यों की-सी भाववादी प्रवृत्ति (२) भक्ति रस को अन्य रस——रति, अद्भुत या शांत——में अन्तर्भूत करने की प्रवृत्ति तथा (३) पाश्चात्यों के अनुरूप भक्तिभावना और काव्य-भावना में मूलभूत अन्तर स्वीकार करने की प्रवृत्ति।

भक्ति रस के समर्थकों ने इन आक्षेपों का सयुक्तिक उत्तर दिया है और भक्ति को स्वतन्त्र रस रूप में मान्यता देना उपयुक्त ठहराया है। (१) अन्य रसों के समान ही भक्तिरस का भी काव्यों में परिपुष्ट और व्यापक चित्रण हुआ है। इसमें स्वतन्त्र आस्वाद्यत्व निहित है। अतः इसे केवल भाव की कोटि में रखना उपयुक्त नहीं है। (२) शृंगारमूलक रति भावना तथा भक्तिमूलक अनुराग में पर्याप्त साम्य होने पर भी दोनों का एक ही स्वरूप नहीं है, भक्ति भाव को भी एक स्वतन्त्र 'सेंटिमेंट' या 'स्थिरवृत्ति' का रूप प्राप्त होता है। (३) काव्य-सर्जन की प्रक्रिया और भक्तिपद्धति में भले ही अन्तर हो परन्तु भक्त कवि के लिए भक्ति-भावना में एकान्त विलीनावस्था से पूर्व या उपरान्त भक्तिभाव से परिपूर्ण काव्य-सर्जन पूर्णतः सम्भव है। (४) आधुनिक युग में ईश्वर पर आस्था रखने वालों का भले ही अभाव हो तथा भक्तिरसपूर्ण काव्य का निर्माण भी न हो रहा हो, फिर भी भक्ति रस को काव्यशास्त्र में स्वतन्त्र मान्यता देना आवश्यक है। क्योंकि एक युग था जब कि भक्ति रसात्मक काव्य का प्रचुर निर्माण हुआ और उसका आस्वाद लिया गया।

७

रस-सिद्धान्त आधुनिक कसौटी पर

रस-सिद्धान्त की सीमाएँ तथा न्यूनताएँ

रस-सिद्धान्त का अध्ययन वस्तुतः एकांगी होगा, यदि इस सिद्धान्त की सीमाओं तथा न्यूनताओं का भी विस्तृत निरूपण न हो। हिन्दी-मराठी के आधुनिक समीक्षकों ने रस-सिद्धान्त की विभिन्न दृष्टियों से प्रत्यालोचनाएँ की हैं और इसे आधुनिक साहित्य के मूल्यांकन का एकांत मानदण्ड स्वीकार करना अनुपयुक्त ठहराया है।

हिन्दी में :

रस-सिद्धान्त की न्यूनताओं का विवेचन हिन्दी में अधिकांशतः प्रगतिवादी समीक्षकों ने किया है। प्रगतिवाद साहित्य और जीवन के सभी क्षेत्रों में नवीन प्रगति पर दृष्टि केन्द्रित रखता है। अतः सामान्यतः प्रगतिवादी समीक्षकों के प्रतिपादन में प्राचीन मान्यता के प्रति अनास्था का और नवीनता के प्रति पक्षपात का स्वर विशेष मुखरित रहता है। रस-सिद्धान्त की सीमा-न्यूनताओं के प्रदर्शन में इनकी प्रतिक्रियाएँ निम्न रूप में अभिव्यक्त हुई हैं :

१. नौ रसों से आधुनिक साहित्य की परख नहीं हो सकती। विशेषतः आधुनिक उपन्यासों में कौन सा रस प्रधान है यह निर्धारित करना कठिन हो जाता है।

इस पुराने सिद्धान्त से साहित्य को समझने में भी कितनी मदद मिल सकती है, यह संदिग्ध है, क्योंकि 'जीवन की धाराएँ एक दूसरे से इतनी मिली-जुली हैं कि नौ रसों की मेड़ बाँध कर उन्हें अपने मन के मुताबिक नहीं बहाया जा सकता।'[१]

२. रस भी कविता का आवश्यक तत्व नहीं है।... मजदूर किसान के जीवन की समस्यायें उनके भाव और विचार, उनके संघर्ष के तरीके, उनका समस्त आन्दोलन और उनकी समस्त प्रतिक्रियाएँ कविता के आवश्यक तत्व ही हैं।[२]

---

१. डा० रामविलास शर्मा : प्रगति और परंपरा, पृ० १३०, १३१।

२. पारिजात दिसम्बर १९४६, काव्यदर्पण, पृ० १०।

३. नवीन मनोवैज्ञानिक संशोधन ने प्राचीन रस-सिद्धान्त में आमूल अन्तर कर दिये हैं। (उदाहरणार्थ फ्रायड वात्सल्य को भी रति मानता है, या जुगुप्सा या घृणा भी एक प्रकार की रति भावना ही है।) अतः चूँकि रस-सिद्धान्त कोई अटल वस्तु नहीं है, छंद, अलंकार, भाषा आदि बाह्य रूपों के समान इनकी भी नये सिरे से व्याख्या होनी चाहिए।[1]

४. रस-सिद्धान्त जहाँ एक ओर अलौकिक आनंदानुभूति का पोषक है, वहाँ अनिवार्य रूप से उसकी स्थिति भावावेग के समक्ष बौद्धिक चेतना को उपेक्षित अथवा पराजित माने बिना संभव नहीं होती। 'रस-सिद्धान्त' बुद्धि की क्रियाओं पर आवरण डाल कर आदिम संवेगों को जाग्रत करता है।[2]

५. रस की वृद्धि मित्र रसों को एकत्रित करने से और शत्रु रसों के निष्कासन से होती है। यह सिद्धान्त शेक्सपियर के अभ्यास से विपरीत है। शेक्सपियर हास्य को अद्भुत, करुण और भयानक रसों से अनिर्बंधेन मिला देता है। उसकी धारणा थी कि विरुद्ध रस एक दूसरे को सुस्पष्ट करते हैं, एक दूसरे को निष्फलीकृत नहीं करते, जैसे यदि किसी बिल्कुल सफ़ेद समतल पर कोई काला चित्र हो तो दोनों के संन्निकर्ष से दोनों अधिक सुस्पष्ट हो जाते हैं।[3]

६. कला के लिए आधार में आत्मसम्मिश्रण द्वारा ऐसे गुण निर्मित वस्तु में आरोप कर देना जो उसके आधार में नहीं हैं, आवश्यक है। कोरे नियमों को लेकर चतुरता से आधार पर प्रक्रियाशील होना और वस्तु निर्माण करना तो शिल्प ही है, जो उपयोगी हो सकती है, परन्तु सौन्दर्यविहीन रहेगी। भारतीय रसशास्त्रपद्धति से काव्य की रचना में प्रतिभाहीन चतुर कवियों की ओर से यही भय बना रहेगा। उत्कृष्ट प्रतिभा तो निर्भीक और अबद्ध क्रियाशीलता में अपने रचना नियम अपने आप निकाल लेती है।[4]

मराठी में :

हिन्दी की भाँति मराठी में भी रस-सिद्धान्त की प्रत्यालोचनाएँ विभिन्न दृष्टियों से हुई हैं। इनमें प्रमुख मत इस प्रकार हैं :

७. रसों की काव्यगत तथा सहृदयगत स्थिति दर्शाने में सुसंगति नहीं है। कतिपय रस काव्यगत होते हैं तो कतिपय सहृदयगत। हास्य और बीभत्स की स्थिति

---

१. साहित्य संदेश, अगस्त, १९४६।
२. डा० जगदीश गुप्त : आलोचना अंक ७, समालोचक जुलाई १९५८।
३. श्री लीलाधर गुप्त : पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त, पृ० ८०।
४. वही, पृ० ८२।

प्रायः सहृदयनिष्ठ ही है। काव्यगत पात्र के बिना हंसे और बिना जुगुप्सा भाव-प्रदर्शन के भी सहृदयों को इन रसों की अनुभूति होती है।[१]

८. रस-सिद्धान्त को एकांततः सहृदयस्थ स्थायीभाव के आस्वादन पर आधृत किया गया है। यदि कोई सहृदय किसी रचना का अध्ययन नहीं करता या आस्वाद नहीं लेता तब भी रचनागत सौन्दर्य का अस्तित्व अक्षुण्ण रहता है।[२]

९. रसास्वाद के क्षणों में काव्य नाटकगत स्थायीभाव और सहृदयस्थ स्थायीभाव में सर्वत्र अनिवार्य एकसूत्रता नहीं होती। उदाहरणार्थ, नरमांस-भक्षण के दृश्य में दोनों ही मनुष्य हों तो एक का स्थायीभाव 'भय' तो दूसरे का क्रोध-उत्साह होगा और इस दृश्य के दर्शक सहृदय का जुगुप्सा।[३]

१०. साहित्यिक अनुभव के तीन अंग होते हैं—संवेदना, भावना और विचार। परन्तु रस-सिद्धान्त केवल भावना पर आधृत है। इसमें प्रथम और द्वितीय अंग को पृथक्-पृथक् कर दिया गया है। संवेदना को भावना निर्मिति का एक साधनमात्र माना गया है। विचार प्रधान साहित्य को पढ़कर भी भावनाएँ जाग्रत हो सकती हैं।[४]

११. साहित्य द्वारा अभिव्यक्ति अनुभव जाग्रत नहीं होता, बल्कि निर्मित होता है। कलाकृति एक निर्मिति है इसका समर्थन रस-सिद्धान्त से नहीं होता।[५]

१२. रस-सिद्धान्त में कवि-व्यक्तित्व की उपेक्षा की गई है। इसके महत्व का वास्तविक मूल्यांकन नहीं किया गया है।[६]

१३. साहित्य के द्वारा निर्मित भावनाओं का वर्गीकरण रस-सिद्धान्त का एक महत्वपूर्ण अंग है। परन्तु इस प्रकार से रस-संख्या का निर्धारण अनावश्यक है। साहित्यकार अनुभवों का निर्माण करता है और वह अनुभव केवल भाव-

---

१. डा० माधव त्र्यंबक पटवर्धन, दे० 'महाराष्ट्र साहित्य पत्रिका', आक्टोबर, १९३७ तथा सह्याद्रि, नोव्हेंबर १९३७।
२. श्री बा० सी० मर्ढेकर, सौन्दर्य आणि साहित्य, पृ० ८०।
३. वही, पृ० ८१-८२।
४. प्रा० गंगाधर गाडगीळ, रस आणि अनुभव, नवभारत, जून १९५५।
५. वही।
६. वही।

नात्मक ही नहीं होता। अतः रस-सिद्धान्त में पूर्व संचित नौ भावों की ही अभिव्यक्ति मानना सदोष है।[1]

तुलनात्मक निष्कर्ष

हिन्दी-मराठी के रस-सिद्धान्त के प्रत्यालोचकों की विभिन्न मान्यताओं में पर्याप्त साम्य है। डा० रामविलास शर्मा, श्री लीलाधरगुप्त, प्रा० गंगाधर गाडगीळ आदि के आक्षेपों में शब्द-भेद अवश्य है परन्तु आशय में तात्विक भिन्नता नहीं है। इन समीक्षकों की मान्यताओं को परस्पर मिला कर निम्न लिखित प्रमुख आक्षेप अवशिष्ट रहते हैं :

१. रस-सिद्धान्त काव्य-मूल्यांकन और काव्य-सृजन में बँधे-बँधाये साँचे प्रस्तुत करता है। आधुनिक साहित्य के निर्माण और मूल्यांकन में नौ रसों की लीक या सीमा अनुपयोगी है।

   (१ ला ६ ठा और १३ वाँ मत)

२. रस-सिद्धान्त साहित्य के बुद्धितत्व, संवेदना तथा विचार तत्व की उपेक्षा करता है, केवल भाव तत्व को ही एकांत प्रश्रय देता है।

   (२ रा, ४ था और १० वाँ मत)

३. स्थायी भाव पर आधृत रसास्वाद में एकसूत्रता नहीं है। अनेक स्थलों पर काव्यगत स्थायी तथा सहृदयगत स्थायी भिन्न-भिन्न होता है। विशेषतः हास्य और बीभत्स रसों के आस्वाद में।

   (७ वाँ तथा ९ वाँ मत)

४. रस-सिद्धान्त में कवि-व्यक्तित्व की उपेक्षा की गई है और सहृदय को ही एकांत महत्व प्रदान किया गया है।

   (८ वाँ और १२ वाँ मत)

५. काव्य-साहित्य सहृदयस्थ भावना की ही अभिव्यक्ति मात्र नहीं करता, वरन् भावना-निर्माण की भी उसमें क्षमता होती है।

   (११ वाँ मत)

६. प्राचीन संस्कृत आचार्यों की मित्र तथा अमित्र रसों की कल्पना और उनकी व्यवस्था एकांत सत्य नहीं है।

   (५ वाँ मत)

७. आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने भावों का अध्ययन व्यापक रूप में किया है, रस-

---

१. प्रा० गंगाधर गाडगीळ, नवभारत, जून १९५५।

सिद्धान्त अपनी परंपरित चिंतन-प्रक्रिया का त्याग करके इनके अध्ययन को भी अपने में अन्तर्हित कर ले ।

(३ रा मत)

समीक्षा :

इन सभी आक्षेपों में सत्य का अंश पर्याप्त है, ये सभी मत एकांततः निराधार या असंगत नहीं हैं । इनसे रस-सिद्धान्त के पुनराख्यान में सहायता मिल सकती है ।

१. रस-सिद्धान्त की इस प्रथम सीमा की प्रतीति स्वयं संस्कृत आचार्यों को ही हो चुकी थी । परिणामतः जितने भाव उतने ही रस मानने की परंपरा संस्कृत साहित्यशास्त्र में चली और २०-२५ से भी अधिक अनेक नवील-नवीन रसों की स्थिति वहाँ दर्शाई गई ।[1]

आधुनिक हिन्दी-मराठी के साहित्य शास्त्र के समीक्षकों ने आधुनिक सामाजिक-आर्थिक जीवन तथा विचार-प्रक्रिया आदि के आधार पर निर्मित काव्य-साहित्य को दृष्टिगत रख कर अनेक नवीन रसों के स्वतंत्र अस्तित्व पर चिन्तन किया है ।[2]

किसी भी विशिष्ट भाव की परिपुष्ट साहित्यिक आविष्कृति उसे स्वतन्त्र रस पदवी प्रदान करने में समर्थ हो सकेगी । उदाहरणार्थ, भक्तिभावात्मक स्वतंत्र समृद्ध साहित्य ने परंपरागत नौ रसों के बाँध को तोड़ दिया है और भक्तिरस के स्वतंत्र अस्तित्व को मान्य करने के लिए बाध्य किया है ।

अतः यह सत्य है कि प्राचीनों की नौ रस-संख्या अटूट और शाश्वत सीमा नहीं है । परन्तु संस्कृत आचार्यों के चिन्तन को आधुनिक नवीन चिन्तन में बाधक मान बैठना असंगत है ।

२. दूसरा आक्षेप है—बौद्धिक चेतना की उपेक्षा का । इसे भी पुनराख्यान द्वारा रस-सिद्धान्त में अन्तर्भूत किया जा सकता है । आचार्य शुक्ल ने 'भाव' के स्वरूप को 'प्रत्यय बोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति' के गूढ़ संश्लेष के रूप में स्वीकार किया है । इससे रस में ज्ञान, अनुभूति और प्रेरणा आदि का अन्तर्भाव हो जाता है ।[3] श्री नी० र० वर्‌हाडपांडे ने रसों के दो सामान्य वर्ग—'मनोजन्य

---

१. विस्तार के लिए दे० 'रस-संख्या प्रकरण'

२. वही ।

३. दे० भाव स्वरूप प्रकरण ।

रस' तथा 'बुद्धिजन्य रस' बनाये हैं।[1] इससे रसों के मूल में निहित बुद्धितत्व का भी संकेत मिल जाता है। इस दिशा में अधिक पुनराख्यान और चिन्तन हो तो रस-सिद्धान्त में बुद्धि तत्व का एकांत अभाव सिद्ध करना कठिन होगा। वैसे तो प्रत्येक प्रकार की भावानुभूति के मूल में विचार और संवेग अभिन्न रूप से जुड़े रहते हैं। परन्तु प्रधानता भावात्मक तत्व की हो जाती है, विचार और संवेग गौण पड़ जाते हैं। अतः आचार्य शुक्ल ने भी रस-विवेचन में बुद्धि तत्व को गौण स्थान ही प्रदान किया है।[2] प्रा० द० के० केळकर के मत में भी रस-सिद्धान्त में प्रधानता भावना तत्व की होती है किन्तु विचार, भावना और कल्पना आदि मानसिक व्यापार एकांत पृथक-पृथक् या स्वतंत्र नहीं होते हैं।[3] वे सम्पृक्त रहते हैं, अतः रस-सिद्धान्त को एकांततः बुद्धितत्व-हीन सिद्धान्त मानना अतिवाद होगा।

३. स्थायी के आस्वाद में असंगति का आक्षेप इसलिए उपस्थित होता है कि सर्वत्र सहृदय की प्रतिक्रिया को रस-स्वरूप का निर्धारक आधार मान लिया जाता है। यदि कवि-व्यक्तित्व और उसकी परिपुष्ट भावनाविष्कृति को भी 'रस' के निर्धारण में महत्व प्रदान किया जाय तो किसी प्रकार की असंगति का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रक्रिया से रस-सिद्धान्त की विवृत्ति होगी।

शेष आक्षेप भी संस्कृत परंपरा से भिन्न अर्वाचीन विचार-विकास तथा प्रगति के ही सूचक हैं। रस-सिद्धान्त में कवि-व्यक्तित्व के महत्त्व की स्वीकृति, भावना-निर्मिति की क्षमता, तथा मनोविज्ञान के आधार पर रस तत्व की विवृत्ति को स्थान देना असंगत नहीं है। इससे रस-सिद्धान्त की न्यूनताएँ और सीमाएँ दूर होंगी। यह सिद्धान्त समृद्ध और व्यापक बनेगा तथा आधुनिकतम साहित्य के मूल्यांकन में भी समर्थ होगा।

रस-सिद्धान्त की शक्ति और व्याप्ति

आधुनिक हिन्दी-मराठी के काव्यशास्त्र में रस-तत्व का पुनराख्यान वस्तुवादी, भाववादी तथा आनन्दवादी दृष्टिकोणों से हुआ है। इनके आधार पर रस तत्व की शक्ति और परिव्याप्ति का दिग्दर्शन आधुनिक काव्यशास्त्र में रस-सिद्धान्त की उपादेयता पर प्रकाश डाल सकेगा।

---

१. दे० 'रस प्रकरण।'

२. दे० रसमीमांसा, पृ० ९०

३. काव्यालोचन, पृ० १२८

वस्तुवादी दृष्टिकोण :

रस के वस्तुनिष्ठ स्वरूप की व्याख्या कला-स्वरूप के आधार पर की गई है। कला की तीन अवस्थाएँ होती हैं। प्रथम अवस्था कलाकार के मन में निहित अमूर्त स्वरूप होती है। दूसरी अवस्था में कलाकार के मन में निहित अमूर्त कला वस्तु रूप में परिणत हो जाती है, इस स्थिति में कलाकार की मानसिक अवस्थाएँ 'रंग और रेखा', 'वाक्, अंग और भाव', 'अभिनय अथवा नाद' इत्यादि माध्यमों से प्रकट हो जाती हैं। तीसरी अवस्था में रसज्ञ कला को समझते हैं, उसका अर्थ ग्रहण करते हैं। इस स्थिति में रसज्ञों को ज्ञात अर्थ और कलाकार के मन में निहित अर्थ में एक साम्य अवस्था उत्पन्न होती है। डा० बारलिंगे की धारणा में कला के समान ही रस और भाव की तीन अवस्थाएँ होती हैं।[1] 'नाटक काव्यकला का प्रकार समझा गया है। उसकी तीन अवस्थाएँ होती हैं। एक कवि के मन की, दूसरी कवि के मन की स्थिति की रंग भूमि पर नट द्वारा जो परिणति होती है वह या भाषा में जो परिणति होती है वह और तीसरी रंगभूमि पर या भाषा में प्रदर्शित की गई स्थिति का प्रेक्षकों द्वारा जो अर्थ ग्रहण किया जाता है वह। इन तीन अवस्थाओं में नाट्य की अवस्था दूसरी है .. नाट्य का स्वरूप विशद करने में ही भरत ने 'रस' शब्द का उपयोग किया है यह भी समझना जरूरी है। इसीलिए रस का सम्बन्ध भी नाट्य से एवं नाटक की मध्य अवस्था से है ऐसा मैं मानता हूँ।'[2]

इस प्रकार रस तत्व कवि-मनोभावों के प्राप्त वस्तुरूप का प्रतीक बन जाता है। नाट्य के सामान नाटक तथा काव्यमात्र के वस्तुरूप का द्योतक सिद्ध किया जाता है।

भाववादी दृष्टिकोण :

इस दृष्टिकोण से रस-सिद्धान्त की शक्ति और परिव्याप्ति की दिशाओं में विस्तार हो गया है। इससे काव्य में अभिव्यक्त सम्पूर्ण भाव-राशि, विचार-राशि, कल्पना-सम्पत्ति आदि का समावेश रस तत्व में सिद्ध किया गया है।

भरतमुनि ने 'रस' की अभिव्यक्ति का मूल हेतु ४९ भावों को स्वीकार किया है। आधुनिक हिन्दी-मराठी के समीक्षकों ने ८ स्थायीभावों, ३३ संचारीभावों तथा ८ सात्विकों की मानसशास्त्र आदि के आधार पर व्यापक परीक्षा की है। फलत: अनेक आधुनिक काव्य-शास्त्र-समीक्षकों ने नये-नये स्थायी भावों, संचारी

---

१. डा० बारलिंगे : भरतमुनि का रस-सिद्धान्त, समालोचक : जून १९५८।
२. भरतमुनि का रस-सिद्धान्त (डा० सुरेन्द्र बारलिंगे) समालोचक, जून १९५८।

भावों तथा सात्विकों का प्रतिपादन एवं समर्थन किया है। इससे परंपरागत ४९ भावों में प्रचुर अभिवृद्धि हुई है।[1]

रस-सिद्धान्त के आधारभूत तत्व—भाव की परिभाषा में अन्तर आ गया है। भरतमुनि के व्यापक दृष्टिकोण का आधार लेकर मराठी के आधुनिक समीक्षकों ने भाव का व्यापक अर्थ किया है। इन्होंने रस-निर्माण के लिए आवश्यक सम्पूर्ण सामग्री को 'भाव' मान लिया है। इसमें कतिपय मूलभूत भावनाएँ, कतिपय भावनाओं के शारीरिक परिणाम, कतिपय साधित भावनाएँ, कतिपय शारीरिक अवस्थाएँ, कतिपय ज्ञानात्मक मनोवस्थाएँ तथा कतिपय सम्मिश्र भावनाएँ भी अन्तर्भूत हो गई हैं।[2]

हिन्दी में आचार्य शुक्ल ने 'रस' के मूलभूत तत्व 'भाव' की व्यापक व्याख्या की है। इसमें प्रत्ययबोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति का गूढ़ संश्लेष स्वीकार किया गया है। यदि भाव का प्रस्तुत व्यापक दृष्टिकोण अपनाया जाय तो रस-सिद्धान्त अपने व्यापक रूप में आधुनिक युग में भी काव्य का आत्मतत्व और काव्य-मूल्यांकन का महत्वपूर्ण मानदण्ड स्वीकृत हो सकता है। आचार्य शुक्ल ने इस दिशा में व्यापक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

रसवाद के विरोधी समीक्षकों ने रस-सिद्धान्त में बुद्धि तत्व या विचार तत्व के एकांत अभाव का निरूपण करके इसे अपूर्ण या अग्राह्य सिद्धान्त माना है।[3] हिन्दी-मराठी के आधुनिक काव्यशास्त्रज्ञों ने अनेक संचारियों में ज्ञानात्मक मनोवस्था की स्पष्टतः स्वीकृति दी है। डा० वाटवे ने मति, वितर्क, अवहित्थ, स्मृति आदि संचारियों में बौद्धिक व्यापार का स्पष्टतः समर्थन किया है।[4] श्री नी० र० वर्‍हाड पांडे ने रसों के दो स्थूल वर्गीकरण सुझाये हैं: मनोजन्य रस तथा बुद्धिजन्य रस। इन्होंने बुद्धिजन्य रसों में हास्य तथा अद्भुत का अन्तर्भाव किया है। श्री न० चि० केळकर ने हास्यरस के मूल में बौद्धिक तत्व या विचार तत्व का विस्तृत प्रतिपादन किया है।[5]

आचार्य शुक्ल ने भी रस-सिद्धान्त में बुद्धितत्व के अन्तर्भाव का प्रतिपादन किया है। इनके मत में किसी वस्तु या तथ्य के मार्मिक पक्ष के प्रत्यक्षीकरण में

---

१. दे० भाव, स्थायी भाव तथा संचारी भाव प्रकरण।
२. दे० भाव प्रकरण।
३. दे० रस-सिद्धान्त की सीमा और न्यूनताएँ प्रकरण पृ० २८५।
४. रसविमर्श (डा० वाटवे) पृ० १२९-१३०।
५. दे० रस प्रकरण।

बोध वृत्ति का समावेश बराबर रहता है।[1] शुक्ल जी ने रस में भाव, ज्ञान, अनुभूति, इच्छा, या संकल्प इन सब का संश्लेष माना है। इससे रस में बुद्धि तत्व का एकांत अभाव मानना संगत नहीं लगता।[2]

भरतमुनि ने ४९ भावों में संचारियों के अन्तर्गत बौद्धिक व्यापारों का अन्तर्भाव किया है। परन्तु संस्कृत साहित्यशास्त्र में रस तत्व के अन्तर्गत मनोभावों (इमोशन्स) को ही एकांत महत्व दिया गया है। उनकी सामयिक चिंतनधारा और युगधर्म के अनरूप संस्कृत आचार्यों का दृष्टिकोण सदोष प्रतीत नहीं होता। बौद्धिक तत्व या विचार तत्व का प्रमुख क्षेत्र है—दर्शन, विज्ञान, शास्त्र आदि। काव्य में विचारतत्व की अपेक्षा प्रमुखता भावना तत्व को ही प्रदान की जाती है, अन्यथा बौद्धिक तत्व की कसौटी पर तो दर्शन-शास्त्र तथा काव्य-साहित्य में अंतर करना ही कठिन हो जाएगा। फलतः विचार प्रधान या बौद्धिक तत्व प्रधान साहित्य से काव्य का व्यावर्तक तत्व 'रस' (इमोशन) अर्थात् जिसमें बौद्धिक तत्व की न्यूनता और भावना तत्व की प्रधानता है, स्वीकार किया गया है।

आधुनिक युग की वैज्ञानिक चेतना से काव्य-साहित्य में बौद्धिक तत्व को भी पर्याप्त स्थान मिल रहा है। तथाकथित प्रगतिवादी एवं प्रयोगवादी काव्य बौद्धिक चेतना तथा विचार-सम्पत्ति को ही काव्य का प्रमुख प्रेषणीय तत्व बनाने में प्रयत्नशील हैं। अतः इन्हें एक प्रकार के 'बुद्धि रस' के स्वतंत्र अस्तित्व की आवश्यकता अनुभव हो रही है। वर्तमान वैज्ञानिक प्रगति तथा बौद्धिक विकास के फलस्वरूप काव्य-साहित्य का भावना की अपेक्षा विचार प्रधान बनना एकांत अस्वाभाविक घटना नहीं है। भारतीय रस-सिद्धान्त इस बौद्धिक चेतना को भी अपने में अन्तर्हित करने की क्षमता रखता है। हिन्दी-मराठी के आधुनिक रस-तत्व के समीक्षकों ने भाववादी दृष्टिकोण अपना कर रस सिद्धान्त को इस क्षेत्र तक भी परिव्याप्त करने का प्रयत्न किया है।

यदि प्रस्तुत भाववादी दृष्टिकोण अपनाया जाय तो 'रस-सिद्धान्त' में प्रदर्शित अन्य न्यूनताओं या अभावों की पूर्ति सहज संभव है। 'बुद्धि तत्व' के अभाव के समान 'भावना-निर्मिति' की अक्षमता का आरोप भी रस-सिद्धान्त पर लगाया गया है।[3] भरतमुनि ने अपने नाटचशास्त्र में कहीं भी भावों की जन्मजातता या वासना संस्कारिता का प्रतिपादन नहीं किया है। परवर्ती आनंदवादी एवं अद्वैत-

---

१. रस-मीमांसा, पृ० १३७।

२. डा० रामलाल सिंह : आचार्य शुक्ल के समीक्षा सिद्धान्त, पृ० २०४।

३. दे० रस-सिद्धान्त की सीमाएँ तथा न्यूनताएँ, इसी प्रबन्ध में, पृ० २८५।

वादी दार्शनिक आचार्यों ने 'भुक्तिवाद' या 'अभिव्यक्तिवाद' का आधार लेकर स्थायी भावों की जन्मजातता का प्रतिपादन किया है। इससे परंपरागत नौ स्थायी भावों की 'भुक्ति' या 'उद्बुद्धि' तक ही रस-सिद्धान्त को सीमित किया गया। वस्तुतः यदि मनोभाव मात्र की रस-परिणति का समर्थन किया जाय तो इसमें 'भावना-निर्मिति' की क्षमता सहज अन्तर्भूत हो जाती है।

रस-सिद्धान्त के 'विभाव' तत्व की परिव्याप्ति आचार्य शुक्ल ने मनुष्य से लेकर कीट, पतंग, वृक्ष, नदी आदि सृष्टि के साधारण-असाधारण सभी गोचर पदार्थों तक कर दी है। सृष्टि के सम्पूर्ण जड़-चेतन पदार्थ कवि में नाना भावों तथा विचारों की शृंखला को जन्म देते हैं। इनसे प्रेरित कवि आत्माभिव्यक्ति के लिए प्रवृत्त होता है। इस प्रकार से रस-सिद्धान्त अभिव्यक्ति-प्रक्रिया तथा भावनाओं के आधारभूत साँचे प्रस्तुत नहीं करता, वरन् कवि के समक्ष विराट् संसार का व्यापक आधार-फलक 'विभाव' तत्व के रूप में प्रदान करता है। आचार्य शुक्ल की व्यापक 'विभाव' सम्बन्धी धारणा में काव्य-जगत् का सम्पूर्ण वातावरण भी अन्तर्भूत हो जाता है।[1]

'विभाव' के समान रस-सिद्धान्त का 'अनुभाव' तत्व भी अपनी व्यापक शक्ति रखता है। इसके अन्तर्गत पात्रों की उक्तियाँ, उनकी चेष्टाएँ, कार्य-व्यापार आदि का समावेश हो जाता है। 'प्रबन्ध काव्यों का कार्य-व्यापार तत्व तथा सम्वाद-तत्व बहुत दूर तक अनुभाव के अन्तर्गत आ जाता है।'[2]

आचार्य शुक्ल ने रस-मीमांसा में भाव-वर्गीकरण के अन्तर्गत स्थायीदशा और शीलदशा का पृथक्-पृथक् प्रतिपादन किया है। 'शीलदशा' का आधार मानव-स्वभाव तथा मानव-चरित्र ही है। इससे रस-तत्व में काव्य के चरित्र-चित्रण के तत्व को भी अन्तर्हित किया जा सकेगा।[3]

आचार्य शुक्ल ने भाववादी दृष्टिकोण अपना कर रस-सिद्धान्त को आधुनिक कल्पना तत्व, ऐतिहासिक तत्व, युगचेतना, दार्शनिक तत्व, सांस्कृतिक तत्व, सामाजिक जीवन, आदर्श तथा यथार्थ-पक्ष तक व्याप्त कर दिया है।[4] इन्होंने रसानुभूति की कोटियों का प्रतिपादन करके काव्य-प्रेषित सभी प्रकार की भावानुभूति को रस तत्व में अन्तर्भूत कर लिया है।

---

१. दे० आचार्य शुक्ल के समीक्षा सिद्धान्त, (डा० रामलाल सिंह) पृ० २०३।
२. वही, पृ० २०३।
३. वही, पृ० २०३।
४. वही, पृ० २०३।

इस प्रकार रस-सिद्धान्त को एकांततः आनंदवादी दृष्टिकोण से पृथक् करके भाव की व्यापक एवं वास्तविक पृष्ठभूमि पर अधिष्ठित किया जाय तो आधुनिक युग में भी पुनराख्यान द्वारा रस-तत्व को काव्य-मूल्यांकन का महत्वपूर्ण सिद्धान्त स्वीकार किया जा सकता है ।

द्वितीय अध्याय

अलंकार-सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन
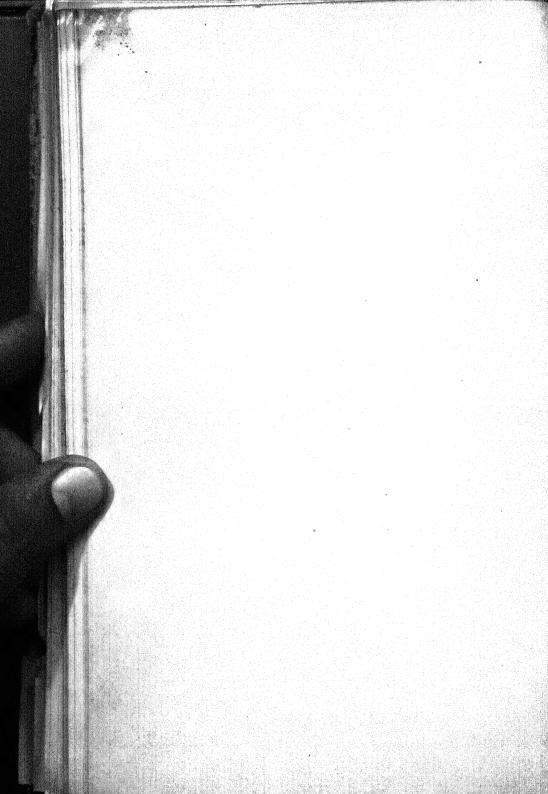
अलंकार-सिद्धान्त की पूर्वपीठिका

अलंकार शब्द का अर्थ :

अलंकार शब्द का अर्थ प्रारम्भ में 'अलंकृति', 'सजावट' या सौन्दर्यवर्धन रहा है। यह काव्य के सम्पूर्ण तत्वों के लिए भी सामान्यरूप से व्यवहृत होता रहा। कालान्तर में अलंकार शब्द एक विशिष्ट पारिभाषिक बन गया, जिसमें केवल शब्द एवं अर्थ-सौन्दर्य-वर्द्धक कतिपय विशिष्ट तत्वों का अन्तर्भाव हुआ। सामान्यतः अलंकार शब्द का अर्थ-विकास तीन रूपों में हुआ है :

१. सामान्य अर्थ—सजावट या सौन्दर्य है, जो काव्य में तथा काव्य-इतर वस्तु-जगत् में सौन्दर्य के लिए व्यवहृत होता है।

२. काव्य जगत् में व्यापक अर्थ—काव्य के सामान्यतः सभी तत्वों के लिए अलंकार शब्द का प्रयोग होता रहा। इसमें 'काव्यालंकार' शब्द 'काव्यसौन्दर्य' का पर्याय बनकर आया है।

३. काव्य में पारिभाषिक अर्थ—विशिष्ट शब्द योजना तथा अर्थचमत्कृतिमूलक अनुप्रास, उपमा, रूपक आदि विशिष्ट तत्वों का द्योतक अलंकार शब्द है जो काव्यशास्त्र में इन्हीं के लिए एकांततः रूढ़ बन गया है।

प्रथम सामान्य अर्थ तो संस्कृत साहित्य तथा साहित्यशास्त्र में आरम्भ से अन्त तक प्रचलित रहा है। परन्तु द्वितीय प्रकार का अर्थ—जिसमें अलंकार शब्द का व्यापक प्रयोग काव्य-मूल्यांकन या काव्य-सौन्दर्यवर्द्धक विभिन्न रस, रीति, गुण आदि तत्वों के लिए किया गया है–भामह से लेकर अभिनव गुप्त तक व्यवहृत होता रहा है। भामह का काव्यालंकार, उद्भट का काव्यालंकार सार संग्रह, वामन का काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, रुद्रट का काव्यालंकार आदि ग्रन्थ इसके प्रमाण हैं। आचार्य कुंतक तक ने अपने ग्रन्थ का नाम काव्यालंकार ही दिया है और इन्होंने उपर्युक्त तीनों अर्थों की संगति का भी अपने ग्रन्थ के नामकरण-प्रसंग में विवेचन कर दिया है। जिस प्रकार अलंकार शब्द शरीर सौन्दर्यातिशय जनक कुण्डल आदि आभूषणों के लिए मुख्यतः व्यवहृत होता है, उसी प्रकार काव्य में काव्य-सौन्दर्य जनक उपमा आदि के लिए सादृश्यमूलक लक्षणा से प्रयोग में लाया जाता है और इसी आधार पर गुण, रीति आदि के लिए भी इसका प्रयोग होता है और इन सब

तत्त्वों के प्रतिपादक ग्रन्थ का नाम भी अलंकार रख दिया जाता है।[१] अभिनव गुप्त के पश्चात् अलंकार शब्द प्रायः उपमा आदि के लिए ही रूढ़ बनता गया।

आधुनिक हिन्दी और मराठी काव्यशास्त्र में अलंकार शब्द एकांततः उपमा-अनुप्रास आदि शब्दार्थ-चमत्कृतिजनक तत्वों के लिए व्यवहृत होता है। इन अलंकारों की साहित्यिक स्थिति का इतिहास वस्तुतः बहुत प्राचीन है। वैदिक साहित्य में अरंकृति (अलंकृति) तथा उपमा शब्द का प्रयोग मिलता है।[२] इसके अतिरिक्त जिन वैदिक ऋचाओं में ऋषियों की वाणी अनन्त प्राकृतिक सौन्दर्य तथा विराट् ब्रह्म के असीम शक्ति-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति में प्रवाहित हुई है, उनमें आलंकारिक भाषा का होना सहज स्वाभाविक है। वैदिक शब्दों के कोश—निघण्टु में उपमा वाचक १२ शब्दों का उल्लेख है।[3] गार्ग्य, यास्क आदि अनेक निरुक्त-कारों ने 'उपमा' का विश्लेषण किया है। गार्ग्य ने उपमा की व्याख्या में कहा है : 'भिन्न वस्तु का उस (उपमान) से सादृश्य ही उपमा है, इसमें गुणवान् अथवा प्रख्यात नाम से गुणन्यून अथवा अप्रख्यात की तुलना हो सकती है अथवा कभी-कभी न्यून-गुण (कनीयस्) से प्रख्यात गुण की तुलना की जा सकती है।' इस पर यास्क का कथन है कि अधिक गुणयुक्त अथवा अधिक प्रसिद्ध वस्तु की न्यूनगुण युक्त अथवा न्यून प्रसिद्ध वस्तु से तुलना करने की सामान्य पद्धति होने पर भी ऋग्वेद में कभी-कभी इसके विपरीत श्रेष्ठ वस्तु की कनिष्ठ वस्तु से तुलना की हुई उपलब्ध होती है। इन्होंने अपने मत की पुष्टि में ऋग्वेद के दो मन्त्रों का उल्लेख करके उसमें उपमा की स्थिति दर्शाई है।[४] प्रस्तुत उपमा की परिभाषा परवर्ती 'उपमालंकार' से सर्वथा भिन्न नहीं कही जा सकती। भरतमुनि-निरूपित 'उपमालंकार' के पूर्णोपमा तथा लुप्तोपमा का भेद मूलतः यास्क के निरुक्त में ही मिल जाता है।

भरतमुनि से पर्याप्त समय पूर्व संस्कृत साहित्य में उपमा आदि का विवेचन मिलता है। पूर्णोपमा में उपमान, उपमेय, सामान्यधर्म तथा सादृश्यवाचक इव, तुल्य आदि शब्दों का प्रयोग होता है। पाणिनि से पूर्व ही इनकी स्थिति संस्कृत भाषा में थी।[५] बादरायण के वेदान्त सूत्र में 'उपमा' और 'रूपक' दोनों का निर्देश

१. हिन्दी वक्रोक्तिजीवित, (आचार्य विश्वेश्वर) पृ० ८।
२. ऋग्वेद : १, ७, ३१, १५
३. निघण्टु : ३.१३।
४. संस्कृत साहित्यशास्त्रा चा इतिहास, (डा० पा० वा० काणे) पृ० २६७।
५. "उपमानानि सामान्यवचनैः", "उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्य प्रयोगे" (अष्टाध्यायी) २. १. ५५-५६ तथा "तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां०" (अ० २. ३. ७२) आदि पाणिनि के सूत्र इसके प्रमाण हैं।

है।[1] इससे स्पष्ट है कि भरतमुनि से पूर्व वैदिक तथा संस्कृत साहित्य में उपमा, उपमा के भेद–पूर्णोपमा, लुप्तोपमा तथा 'रूपक' की स्थिति वर्तमान थी। भरत-मुनि ने चार—उपमा, दीपक, रूपक तथा यमक अलंकारों का निरूपण किया है।[2] इनमें 'उपमा' और 'रूपक' की पूर्व स्थिति के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं, इसी प्रकार दीपक और यमक की भी पूर्वस्थिति का अनुमान अनर्गल नहीं कहा जा सकता। इस प्रसंग में अधिक महत्वपूर्ण विचारणीय प्रश्न है कि सर्वप्रथम किस आचार्य ने इन्हें 'अलंकार' संज्ञा से संबोधित किया होगा। भरतमुनि ने तो इन्हें स्पष्टतः 'वाणी के अलंकार' कहा है। इन्होंने उपमा के पाँच और यमक के १० भेदों का उल्लेख किया है। उपमा के अन्य भेदों के लक्षण-उदाहरणों का इन्होंने निर्देश नहीं किया, क्योंकि इनकी मान्यता में इन्हें 'काव्य लक्षण तथा लोक' से जाना जा सकता है।'[3] इससे स्पष्ट है कि भरतमुनि से पूर्व किसी क्रमिक अलंकारशास्त्र की स्थिति नहीं थी। स्फुट रूप में काव्य में अलंकार शोधन की प्रवृत्ति रही होगी। इसके सामान्यतः दो ही आधार थे—'लक्षण' और 'लोक'।

भरत के पश्चात् भामह का 'काव्यालंकार' ग्रन्थ उपलब्ध होता है, जिसमें ४० अलंकारों का विवेचन है। भरतमुनि-निरूपित चार अलंकारों से भामह तक ४० संख्या की वृद्धि किस प्रकार हो गई इसका आज क्रमिक इतिहास नहीं मिलता। भामह की कृति के आधार पर ही कतिपय अनुमान लगाये जाते हैं। इन्होंने अनेक पूर्वाचार्यों का 'अन्यैः' 'कैश्चित्' 'अपरे', 'केचित्' आदि शब्दों से भी उल्लेख कर दिया है तो कतिपय ग्रन्थों तथा ग्रन्थकारों के नामों का भी निरूपण कर दिया है। इनमें रामशर्मा, शाखवर्धन, पाणिनि, मेधावी आदि का नाम उल्लेखनीय है।[4] भरत ने वाणी के चार अलंकारों का उल्लेख किया है तो भामह ने अनुप्रास, यमक, रूपक, दीपक और उपमा इन 'पाँच वाणी के अलंकार' मानने वालों का एक पृथक् मत उद्धृत किया है।[5] इससे अनुमान लगाया जाता है कि भरत के

---

१. ब्रह्मसूत्र, ३।२।१८ और १।४।१
२. नाट्यशास्त्र, १७।४३
३. नाट्यशास्त्र, १७।५६
४. संस्कृत साहित्यशास्त्राचा इतिहास (डा० पा० वा० काणे) पृ० ३६-३७।
५. भामह : काव्यालंकार, २।४।

पश्चात् 'अनुप्रास' के आविष्कर्ता एक अन्य आचार्य हुए होंगे। मेधावी ने 'यथा-संख्य' या 'संख्यान' का प्रतिपादन किया है।[१] भामह ने राम शर्मा और शाखवर्धन की कृतियों से अलंकारों की अपेक्षा दोषों के उदाहरण उद्धृत किये हैं, अतः इन आचार्यों को किसी सुनिश्चित नवीन अलंकारों के विवेचक आचार्यों में स्थान देना तब तक कठिन है जब तक इनकी कृतियाँ अथवा इनके अलंकार-प्रतिपादन के स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलते। अब तक के उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर आरम्भिक अलंकार-विवेचकों का क्रम इस प्रकार निर्धारित किया जा सकता है : भरत, अनु-प्रास आविष्कारक एक आचार्य, मेधावी और भामह। मेधावी तो स्पष्टतः अलंकार शास्त्र के निर्माता थे।[२] इनकी रचना से अलंकार-संख्या के विकास की कड़ियों को जोड़ने में पर्याप्त सहायता मिल सकती है, परन्तु इनकी रचनाएँ आज उपलब्ध नहीं हैं।

भामह के समान आचार्य दण्डी ने भी अपने पूर्ववर्ती तथा समकालीन आचार्यों का उल्लेख किया है। इन्हें अलंकार 'विकल्पन' का 'बीज' 'पूर्वाचार्यों' से प्राप्त हो चुका था। दण्डी के समय तक अलंकारों का प्रचुर विस्तार हो गया था, इन्हीं का 'परिसंस्कार' करने के लिए इन्होंने प्रयत्न किया है।[३] इन्होंने अलंकारों के दो वर्ग बनाये—शब्दालंकार तथा अर्थालंकार। दण्डी से पूर्व भट्टि काव्य में शब्दा-लंकारों तथा अर्थालंकारों का वर्गीकरण है और यमक, अनुप्रास सहित अलंकारों का निरूपण है।[४] परन्तु दण्डी ने ३५ अर्थालंकारों का निरूपण किया है। भामह वक्रोक्ति को अलंकारों का प्राण मानते थे, अतः उन्होंने हेतु, सूक्ष्म और लेशकी अलंकारिता स्वीकृत नहीं की परन्तु दण्डी ने इन तीनों को स्वतंत्र अलंकार माना है।[५] दण्डी के 'हेतु' और 'लेश' अलंकार भरत-निरूपित लक्षणों में इन्हीं नामों से उल्लिखित हैं, यहाँ तक कि इनकी परिभाषाएँ भी लगभग भरत से मिलती-जुलती

---

१. संस्कृत साहित्य शास्त्राचा इतिहास, (डा० पा० वा० काणे) पृ० २५।

२. 'दंडिमेधाविरुद्र भामहादि कृतानि सन्त्येवालंकारशास्त्राणि'—नमि साधु।

३. काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते।
ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते क स्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति॥
किन्तु बीजं विकल्पाना पूर्वाचार्यैः प्रदर्शितम्
तदेव परिसंस्कर्तुमयमस्मत् परिश्रमः॥ काव्यादर्श, २।१, २

४. भट्टिकाव्य : दशम सर्ग १-२२ श्लोकों में शब्दालंकार तथा २२-७३ में अर्था-लंकार हैं।

५. भामह : काव्यालंकार, २।८६, दण्डी : काव्यादर्श २।२३५।

हैं। 'सूक्ष्म' अलंकार भरत-निरूपित 'मनोरथ' नामक लक्षण से बहुत दूर नहीं है।[१] फिर भी भामह-दण्डी ने अलंकार-संख्या की वृद्धि को ही अपना साध्य नहीं बनाया था। इन्होंने अलंकारों के आत्मतत्व का भी अनुसन्धान किया है। भामह ने वक्रोक्ति को तो दण्डी ने वक्रोक्ति और अतिशय दोनों को ही अलंकारों का मूलतत्व स्वीकार किया है।[२]

भामह-दण्डी के उपरान्त उद्भट ने 'काव्यालंकार सार-संग्रह' में ४१ अलंकारों का विवेचन किया है। इनका अलंकार-विवेचन दण्डी की अपेक्षा भामह के अधिक निकट है। फिर भी उद्भट के अलंकार-विवेचन में नवीनता है। उद्भट के समय तक अलंकार मान्यताओं में नवीनता आ रही थी। स्वयं उद्भट ने दृष्टान्त, काव्यलिंग, संकर और पुनरुक्तवदाभास इन चार अलंकारों का नवीन निर्देश किया है। दृष्टान्त और काव्यालिंग तो भरत-निरूपित लक्षणों—दृष्टान्त तथा प्राप्ति से पर्याप्त साम्य रखते हैं।[३] श्लेष का शब्द तथा अर्थ श्लेष वर्गीकरण संभवतः प्रथम उद्भट की रचना में ही उपलब्ध होता है। इन्होंने इन दोनों भेदों को अर्थालंकार के अन्तर्गत स्थान दिया है, परवर्ती मम्मट आदि आचार्यों ने इसका प्रत्याख्यान किया है। उद्भट गुण तथा अलंकार के भेद को स्वीकार नहीं करते, इनकी मान्यता में दोनों ही शब्दार्थ में समवायवृत्ति से स्थित हैं और काव्यसौन्दर्य के विधायक धर्म हैं। दोनों में अन्तर इतना ही है कि गुण संघटनाश्रित होते हैं और अलंकार शब्दार्थाश्रित।[४]

उद्भट प्रतिभावान् आचार्य थे। इन्होंने अलंकार-विवेचन में परंपरा का अनुसरण करते हुए भी निजी चिन्तन को कुंठित नहीं होने दिया। इन्होंने एक ओर भामह निरूपित यमक, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षावयव को अलंकार रूप में स्वीकार नहीं किया तो दूसरी ओर परंपरागत अलंकार-प्रभेदों में संशोधन भी किया है। भामह ने अनुप्रास के ग्राम्या और उपनागरिका वृत्ति के आधार पर दो ही भेद किये हैं, रूपक के दो भेद माने हैं और श्लेष के तीन, परन्तु उद्भट ने परुषावृत्ति के आधार पर अनुप्रास का एक अन्य भेद, रूपक के चार तथा श्लेष के दो ही भेदों का प्रतिपादन किया है। उद्भट ने भामह के काव्यालंकार पर 'भामह विवरण' शीर्षक से टीका-

---

१. नाट्यशास्त्र, १७।१०, ३६, ३७।

२. भामह : काव्यालंकार, २।८५, दण्डी : काव्यादर्श, २।२२० व ३६३ तथा २।२

३. नाट्यशास्त्र, १७।१२, १३।

४. श्री० ग० त्र्यं० देशपांडे, भारतीय साहित्यशास्त्र, पृ० ८८।

त्मक ग्रन्थ लिखा था, अतः उद्भट के 'काव्यालंकारसारसंग्रह' में अनेक अलंकारों के विवेचन में उससे शब्द सादृश्य भी मिल जाता है।[१]

आचार्य उद्भट भामह से अधिक प्रभावित थे तो आचार्य वामन दण्डी से। उद्भट ने भामह की अलंकार-मीमांसा को व्यवस्थित, व्यापक और विशिष्ट स्वरूप प्रदान करने का प्रयत्न किया तो आचार्य वामन ने दण्डी के रीति-गुण विवेचन को। वामन प्रारम्भ में अपने ग्रन्थ के नाम 'काव्यालंकार' की ही मानो व्याख्या कर रहे हैं: 'काव्य अलंकार के कारण ही ग्राह्य बनता है और अलंकार का तात्पर्य है 'सौन्दर्य'। सौन्दर्य की वृद्धि के तीन तत्व हैं—दोष त्याग, गुण तथा अलंकार-ग्रहण।[२] दण्डी ने दस गुणों को वैदर्भमार्ग का प्राण माना है तो वामन भी रीति की आत्मा गुणों को ही मानते हैं।[३] अंतर आ गया है अलंकार की स्थिति के विषय में। दण्डी काव्य शोभाकारक धर्म के रूप में अलंकारों को मान्यता देते हैं तो वामन सौन्दर्यवर्द्धक अनित्यतत्व के रूप में। वामन गुणों को काव्य के नित्य और आंतरिक तत्व मानते हैं तो अलंकारों को बाह्य और अनित्य।[४] इन्होंने कुल ३३ अलंकारों का विवेचन किया है। परंपरागत स्वभावोक्ति, प्रेयस्, रसवत्, ऊर्जस्वी, पर्यायोक्त, उदात्त, भाविक तथा आशी का वामन ने उल्लेख नहीं किया और हेतु, सूक्ष्म आदि को भी अलंकार रूप में मान्यता नहीं दी। उद्भट के काव्यलिंग और दृष्टान्त की भी इन्होंने चर्चा नहीं की। शब्दालंकारों में यमक और अनुप्रास का विवेचन किया है। उपमाप्रपंच में २८ अलंकारों की चर्चा है। इन्होंने 'वक्रोक्ति' को अलंकार रूप में प्रथमतः मान्यता दी है। भामह-दण्डी इसे सभी अलंकारों का मूल मानते हैं परन्तु वामन 'उपमा' को अलंकारों का मूल मानते हैं।[५] व्याजोक्ति का भी इन्होंने निर्देश किया है, पहले इस अलंकार को मायोक्ति कहा जाता था।[६] संक्षेपतः

---

१. डा० पा० वा० काणे, संस्कृत साहित्यशास्त्राचा इतिहास, पृ० ८२।
२. काव्यंग्राह्यमलंकारात्। सौन्दर्यमलंकारः। स दोषगुणालंकार हानादानाभ्याम्। हिन्दी काव्यालंकार सूत्र, पृ० ४-५।
३. दण्डी : काव्यादर्श, १।४२।
४. 'युवती का रूप मूलतः शुद्ध गुणान्वित हो तो अलंकारों के बिना भी मोहक होता है, इसी प्रकार शुद्ध गुण युक्त काव्य सहृदयों को आनंदित करता है... लावण्यहीन स्त्री-शरीर के समान गुणहीन काव्य चाहे जितने लोकप्रिय अलंकारों से लदा हो शोभा नहीं देता।' काव्या० सूत्र०, पृ० ११७।
५. 'तन्मूलं चोपमेति'—हि० काव्यालंकार सूत्र, ४।२
६. हि० का० सूत्र ४-३-२५।

आचार्य वामन की धारणा अलंकारों के नव आविष्कार की नहीं है, वरन् प्राचीन अलंकारों की अपनी मान्यता के अनुरूप व्यवस्था और परिशोधन की रही है।

इस प्रकार भरतमुनि के समय जो 'वागभिनय' के तत्व गुण, वृत्ति, अलंकार आदि थे, वे भामह-दण्डी-उद्भट तक काव्य के सौन्दर्यवर्द्धक धर्म समान रूप से बने रहे। फिर भी संस्कृत काव्यशास्त्र में गुण-दोषों की तुलना में अलंकारों का विवेचन अधिक हो रहा था। अलंकारों के शब्दालंकार, अर्थालंकार वर्ग बन गये थे और इनके भी भेद-उपभेदों की संख्या निरन्तर बढ़ रही थी। गुण तत्व की उपेक्षा कर अलंकार तत्व को अधिक प्रश्रय देना संभवतः वामन को रुचिकर प्रतीत नहीं हुआ। फलतः इसकी प्रतिक्रिया में इन्होंने गुण-रीति को अधिक प्रतिष्ठित करने के लिए इन्हें 'नित्य तत्व' ठहराया और अलंकारों के समान ही गुणों के भी 'शब्द गुण' और 'अर्थ गुण' दो वर्ग बना कर इनकी विस्तृत मीमांसा की। अलंकारों को वामन ने अनित्य तो माना ही, साथ ही इनके विवेचन को अपेक्षित विस्तार भी नहीं दिया। शब्दालंकारों में केवल दो—यमक और अनुप्रास को स्थान मिला, अर्थालंकारों में उपमा को एकान्त महत्व देकर शेष २९ अर्थालंकारों को उपमा का प्रपंच मान लिया गया है।[1]

वामन के उपरान्त रुद्रट ने अलंकार और रस दोनों की संख्या में वृद्धि की है। भरतमुनि के प्रसिद्ध आठ रसों में 'शांत' और 'प्रेयस्' की अभिवृद्धि करके इन्होंने रस-संख्या दस तक पहुँचा दी है।[2] अलंकारों के वर्ग-विभाजन तथा भेद-उपभेदों का विस्तार अब तक के आचार्यों की तुलना में सर्वाधिक इन्हीं की रचना में उपलब्ध होता है। रुद्रट ने परंपरागत शब्दालंकार और अर्थालंकार दो सामान्य वर्ग तो स्वीकार ही किये हैं, परन्तु अर्थालंकार के पुनः चार उप-वर्ग—वास्तव्य, औपम्य, अतिशय तथा श्लेष मूलक बनाये हैं। रुद्रट को रसवादी आचार्य माना जाय अथवा अलंकार-वादी, इसके निर्णय में काव्यालंकार के टीकाकार नमिसाधु की व्याख्या सहायक हो सकती है : शब्दार्थ काव्य के शरीर हैं, उसके वक्रोक्ति (शब्दालंकार), वास्तव्य (अर्थालंकार) आदि कटक-कुंडल की भाँति कृत्रिम अलंकार हैं। रस तो सौन्दर्य आदि के समान सहज (प्रकृति सिद्ध) गुण है, अतः इसका अलग प्रकरण में विवेचन किया जाता है।'[3] स्वयं आचार्य रुद्रट कवि-कर्त्तव्य का सबल शब्दों में निर्देश करते हैं। इनकी मान्यता में कवि को चाहिए कि वह अपने काव्य को शृंगार आदि रसों

---

१. हिन्दी काव्यालंकार सूत्र, पृ० २२०।
२. रुद्रट : काव्यालंकार, १२।३
३. वही, १२।२

से समन्वित करने का 'महत्प्रयत्न' करे, अन्यथा शास्त्रों की भाँति काव्य-अध्ययन में भी 'उद्विग्नता' होने लगेगी।[1]

यद्यपि आचार्य रुद्रट ने काव्य में 'काव्यत्व' का मूल तत्व रस ही माना है, फिर भी इन्होंने अलंकारों का अत्यन्त विस्तृत विवेचन किया है। बहुत से अलंकार प्रथम-बार इन्हीं की रचना में दिखाई देते हैं। भामह-दण्डी के समय से चल रहा अलंकार 'विकल्पन' रुद्रट के समय निरन्तर विकास-पथ पर ही था। इन्होंने लगभग ७० अलंकारों का विवेचन किया है। पाँच शब्दालंकार, शेष अर्थालंकारों में वास्तव-मूलक २३, औपम्यमूलक २१, अतिशयमूलक १२, तथा श्लेषमूलक १० अलंकारों की गणना की गई है। पूर्व वर्णित आलंकारिक आचार्यों की तुलना में रुद्रट ही सर्वाधिक अलंकार-संख्या के निर्देशक व प्रतिपादक प्रतीत होते हैं। इनके ७१ अलंकारों में से लगभग आधे तो भामह, दण्डी, उद्भट आदि निरूपित अलंकार हैं, शेष अलंकारों का प्रतिपादन इन्होंने अपने सम-सामयिक आलंकारिकों की रचनाओं के आधार पर किया होगा अथवा कतिपय अलंकारों का नवीन उद्भावन भी पूर्णतः संभव है।

अलंकार-स्वरूप का आंतरिक विवेचन

आनन्दवर्धन, कुंतक तथा अभिनव गुप्त ने अलंकारों को सामान्यतः बाह्य तत्व मानते हुए भी इनकी आन्तरिक स्थिति का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। आनंद-वर्धन ने एकांततः 'ध्वनि' सिद्धान्त की महत्व-प्रतिष्ठा के प्रयोजन से प्रेरित होकर ध्वनि-इतर अलंकार, गुण, वृत्ति आदि तत्वों का विवेचन किया है, अतः 'ध्वनि' को अंगी या मुख्य और अन्य तत्वों को अंग या अमुख्य रूप में प्रतिपादित किया गया है। आनन्दवर्धन ने वामन के समान ही अलंकारों को काव्य-सौन्दर्यवर्द्धक बाह्य तत्व के रूप में सामान्यतः मान्यता दी है।[2] इनके मत में सहृदय श्लाध्य काव्यार्थ दो प्रकार का होता है—वाच्य तथा प्रतीयमान। इनमें वाच्यार्थ वह है जो उपमादि प्रकारों से प्रसिद्ध है, इसका अन्य पूर्ववर्ती आचार्यों ने विवेचन किया है। महाकवियों की वाणी में वाच्यार्थ से भिन्न प्रतीयमान कुछ और ही 'वस्तु' है, जो रमणी के सुव्यक्त शारीरिक अवयवों से भिन्न लावण्य के समान भासित होती है।[3] अलंकार, गुण, वृत्ति आदि इस प्रतीयमान ध्वन्यर्थ के अंगमात्र हैं।[4] अलंकार और गुणों को

१. रुद्रट : काव्यालंकार १२।२ तथा १।४
२. हिन्दी ध्वन्यालोक, द्वि० उद्योत, कारिका १७।
३. हिन्दी ध्वन्यालोक, प्र० उ० का० २, ३, ४।
४. हिन्दी ध्वन्यालोक प्र० उ० का० १३ की वृत्ति।

सामान्यतः अंगमात्र स्वीकार करने के उपरान्त आनन्दवर्धन ने इन दोनों में भी गुणों को अधिक आंतरिक और अलंकारों को अपेक्षाकृतबाह्य ही माना है। 'प्रधान अंगी (ध्वनि या रस) के आश्रित गुण होते हैं और काव्य के अंग—वाच्य वाचक या शब्दार्थ के आश्रित अलंकार होते हैं।'[१] इस प्रकार इन्होंने सैद्धान्तिक दृष्टि से ध्वनि (रस) गुण तथा अलंकारों का क्रमिक स्थान निर्धारित किया है।

आनन्दवर्धन के समय अलंकारों का विकास अवरुद्ध नहीं हुआ था। 'वाग्विकल्पों की अनन्तता' का दण्डी ने संकेत दिया था, आनन्दवर्धन भी इसी तथ्य का स्पष्टीकरण करते हैं।[२] इन्होंने भामह, दण्डी, वामन, आदि की रचनाओं का अध्ययन किया था। भामह की उक्तियों का इन्होंने स्पष्ट उल्लेख किया ही है।[३] सैद्धान्तिक दृष्टि से अलंकारों को बाह्य मानते हुए भी आनन्दवर्धन ने तत्वतः अलंकारों की अंतरंगता का पूर्ण समर्थन किया है। इन्होंने अलंकारों को ध्वनि या रस के अविभाज्य या सहज अंग सिद्ध करने के लिए मूलतः कवि की काव्य-निर्माण की प्रक्रिया का ही विश्लेषण किया है। 'प्रतिभावान् कवि जब काव्य-निर्माण में तल्लीन होता है ('समाहित चेतसः') तब अनेक दुःसाध्य अलंकार 'अहमहमिका' से स्वयं दौड़े आते हैं। रसाभिव्यक्ति में इस प्रकार के अलंकारों को नितांत बाह्य मानना असंगत है।'[४] इनके समय भी अलंकारों की सीमातीत वृद्धि हो रही थी, फलतः इन्होंने सभी अलंकारों को मान्यता देना अनुपयुक्त ठहराया है। इनके मत में वे ही अलंकार ध्वनि-सिद्धान्त में मान्यता प्राप्त कर सकते हैं जो 'रसाक्षिप्त' अर्थात् रस-प्रवाह में स्वयं निष्पन्न और 'अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य' हों।[५] इस आधार पर इन्होंने यमक आदि अलंकारों को रस का अंग स्वीकार करने से असहमति प्रकट की है, क्योंकि रस-प्रवाह में डूबे हुए कवि को शब्दान्वेषण में लग कर इस प्रकार के अलंकारों के निर्माण में व्यर्थ बौद्धिक श्रम करना पड़ता है।'[६]

---

१. तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः ।
   अंगाश्रितास्त्वलंकारा मन्तव्याः कटकादिवत् ॥
   हिन्दी ध्वन्यालोक, द्वि० उ० का० ६
२. हि० ध्वन्यालोक ३।३७ पर वृत्ति—'अनन्ता हि वाग्विकल्पास्तत्प्रकारा एव चालंकाराः ।
३. हि० ध्वन्यालोक, ३।३७ पृ० ३९४ ।
४. हि० ध्वन्यालोक, २।१६ पृ० १४७ ।
५. हिन्दी ध्वन्यालोक २।१६ पृ० १४५ ।
६. हिन्दी ध्वन्यालोक २।१६ पृ० १४७ ।

आनन्दवर्धन के समय काव्यों में अलंकार-नियोजन का अतिचार-सा हो रहा था। रूपक आदि 'अनन्त' वाच्यालंकारों का आविष्कार कर लिया गया था। अतः आनन्दवर्धन ने रस या भावमूलक दृष्टिकोण से काव्य में अलंकार-नियोजकों को निम्नलिखित कतिपय सुझाव दिये हैं:—

१. रूपक आदि अलंकारों का कथन 'रसपरत्वेन' (रस को प्रधान मान कर) हो।
२. अलंकारों का प्रधान रूप से कथन किसी भी दशा में न हो।
३. अलंकारों का उचित समय पर ग्रहण और उचित समय पर त्याग हो।
४. काव्य के आदि से अन्त तक इनके निर्वाह की इच्छा कवि को नहीं रखनी चाहिए।
५. यदि कहीं आदि से अन्त तक अलंकार-नियोजन हो भी जाय तो उनका अंग रूप में ही नियोजन हुआ है, इस बात को कवि सावधानी से फिर एक बार देख ले।[1]

तत्वतः आचार्य कुन्तक ने भी अलंकारों को कटक आदि आभूषणों के समान नितान्त बाह्य प्रतिपादित नहीं किया है। कलात्मक रचना से अलंकार वस्तुतः अविच्छेद्य या अभिन्न होते हैं, इस तथ्य को भारतीय काव्यशास्त्र में अधिक स्पष्ट और व्यापक रूप में उपस्थापित करने में यदि कोई समर्थ आचार्य हुए हैं, तो वे कुंतक ही हैं। भामह, दण्डी और वामन के समान ही कुंतक ने भी अलंकार शब्द का प्रयोग व्यापक सौन्दर्य के अर्थ में तथा सीमित या पारिभाषिक उपमा आदि अलंकारों के अर्थ में किया है। इन्होंने अपनी कृति को 'काव्यालंकार' नाम दिया है और सालंकार रचना में ही वे एकांततः 'काव्यत्व' स्वीकार करते हैं।[2] इन दोनों स्थलों पर 'अलंकार' शब्द काव्य सौन्दर्यजनक समस्त उपादानों को अपने में समाविष्ट किये हुए है। सहृदयों का आह्लादक शब्द-अर्थ और उनका वक्र व्यापार इन सब का समवेत या संगठित रूप ही काव्य है और इस काव्य को अलंकृत करने वाले समस्त उपादानों का नाम 'अलंकार' है। यद्यपि काव्य से या अलंकार्य से अलंकारों को अथवा सौन्दर्यस्वरूपाधायक तत्वों—शब्द-अर्थ तथा इनके वक्रव्यापार आदि को पृथक् करना कठिन है, फिर भी उनका पृथक् विवेचन व्याकरण शास्त्र की भाँति सुगमतापूर्वक समझने के लिए ही किया जाता है।[3] इस प्रकार आरम्भ

---

१. हिन्दी ध्वन्यालोक, द्वि० उ० का० १८, १९ पृ० १५०।
२. काव्यस्यायमलंकारः कोऽप्यपूर्वोविधीयते, हिन्दी वक्रोक्तिजीवित, १।२ ...तत्वं सालंकारस्य काव्यता, वही, १।६
३. हिन्दी वक्रोक्तिजीवित, १।६ पृ० १५-१६।

में ही आचार्य कुन्तक ने अलंकार शब्द को सौन्दर्य का पर्याय-सा माना है और इसमें शब्द––अर्थ, पद, वाक्य, रीति, गुण, रस तथा अलंकार सभी का समावेश किया है।

जब विवेचन-विश्लेषण की सुगमता के लिए एक-एक काव्य-तत्व का पृथक्-पृथक् निरूपण किया जाता है, तब उन तत्वों की एक प्रकार से पृथक्-पृथक् सत्ता मान ली जाती है। फलतः आचार्य कुंतक ने परंपरागत उपमा आदि अलंकारों का पूर्वाचार्य-प्रतिपादित सीमित अर्थ ग्रहण करके इनका पृथक् विवेचन किया है। परन्तु इनके अलंकार-विवेचन में एक विशाल दृष्टिकोण है, वे इन पृथक्-पृथक् काव्य-तत्वों को काव्य के आत्म तत्व––'उक्ति वक्रता' या 'वैदग्ध्यभंगी भणिति' से किसी भी स्थिति में विच्छिन्न या नितांत असम्पृक्त नहीं देख सकते। इसी कारण इन्होंने परंपरागत 'कटकादि' आभूषण के रूपक का प्रयोग अलंकार-स्वरूप-निर्देशन में करना उचित नहीं समझा है।

कुंतक की धारणा में काव्य-सौन्दर्य का मूल आधार या काव्य की आत्मा 'उक्तिवक्रता' में निहित है[१] और सम्पूर्ण तथाकथित परंपरागत अलंकार-प्रपंच वाक्यवक्रता के अन्तर्गत आता है।[२] यद्यपि भामह ने भी सम्पूर्ण अलंकारों का मूल 'वक्रोक्ति' को ही माना था, परन्तु उन्होंने कुंतक के सदृश उक्ति-वक्रता और अलंकार के आंतरिक सुदृढ़ सम्बन्ध का विवेचन नहीं किया था। फलतः कुंतक ने भामह स्वीकृत अनेक रसवद् आदि अलंकारों को अलंकार वर्ग से वहिष्कृत कर दिया है। आनन्दवर्धन ने रस या भाव-प्रेरणा के आधार पर अलंकारों की सार्थकता निर्धारित की है, इनके मत में रस-मग्न कवि के सामने अलंकार 'अहमहमिका' से दौड़े आते हैं, परन्तु कुंतक के मत में जहाँ वक्रोक्ति वैचित्र्य हुआ वहीं अलंकार वैचित्र्य बन गया।[३] वक्रोक्ति का मूल तात्पर्य है विदग्धतापूर्ण, शोभन या रमणीय उक्ति, भणिति या कथन।[४] अलंकार भी इस विदग्धतापूर्ण कथन का ही अंग है, वह शब्द तथा अर्थ से भिन्न पृथक् कोई तत्व नहीं है। आनन्दवर्धन भाव-प्रेरणा से अलंकार का सम्बन्ध जोड़ते हैं और कुंतक कलात्मक रचना का ही उसे अभिन्न अंग मानते हैं। अतः कुंतक ने उक्ति वैचित्र्य या विदग्धतापूर्ण कथन के प्रकार से भिन्न जो भाव रूप या रसरूप अलंकार रसवत्, प्रेयस्, ऊर्जस्वी समाहित आदि

१. हिन्दी वक्रोक्ति जीवित, १।१० पृ० ५१।
२. वही, २।२१ पृ०
३. वक्रोक्ति वैचित्र्यमलंकारः विचित्रभावः १।२७ की वृत्ति।
४. हिन्दी वक्रोक्ति जीवित, १।१० पर वृत्ति, पृ० ५१।

थे, उनके अलंकारत्व का प्रत्याख्यान किया है।[१] इनके अतिरिक्त कुंतक ने 'यथा-संख्य, आशी, विशेषोक्ति, हेतु, सूक्ष्म, लेश तथा उपमारूपक के अलंकारत्व का भी प्रत्याख्यान किया है। कुंतक ने परंपरागत अनेक अलंकारों की अलंकारिता का निम्न तथ्यों के आधार पर खंडन किया है :

१. कतिपय वर्ण्यमान वस्तु के स्वरूप से भिन्न अन्य किसी अतिरिक्त या अत्यधिक रूप की प्रतीति नहीं कराते।[२] जैसे रसवद् आदि।
२. कतिपय अलंकारों का दूसरों में अन्तर्भाव हो जाता है। तथा
३. कतिपय 'शोभाशून्य' हैं।[३]

स्वयं कुंतक ने दीपक, रूपक, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्त, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, उपमा, श्लेष, सहोक्ति, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, आक्षेप इन १२ अलंकारों को मान्यता दी है और 'रसवत्' अलंकार भी इन्हें मान्य हैं, परन्तु इसका स्वरूप परंपरागत नहीं है, कुंतक ने स्वयं निर्धारित किया है।[४] इन्होंने रूपक अलंकार को उपचार वक्रता का आधार माना है।[५]

आचार्य अभिनव गुप्त और कुंतक लगभग समकालीन आचार्य थे।[६] कुंतक की अलंकार-सम्बद्ध मान्यताओं से अभिनव गुप्त भी परिचित-से प्रतीत होते हैं। कुंतक ने स्पष्ट लिखा है कि काव्य के कलात्मक स्वरूप से अलंकारों को भिन्न मानना तत्वतः अनुपयुक्त है, फिर भी स्पष्ट रूप से समझने के लिए इन्हें पृथक्-पृथक् करके इनका विवेचन किया जाता है।[७] अभिनव गुप्त ने भी अभिनव भारती में पूर्वपक्षी का मत विस्तार से निरुपित किया है : मनुष्य के विषय में जैसे लक्षण, गुण, अलंकार का व्यवहार संभव है, वैसे काव्य के विषय में लक्षण, गुण, अलंकार का व्यवहार संभव नहीं है। क्योंकि पुरुष में शरीर और चेतना का भेद स्पष्ट दिखाई देता है और कटक आदि अलंकार इनसे भी भिन्न हैं, इसकी भी स्पष्ट प्रतीति होती है। परन्तु काव्य-रचना के समय अथवा काव्यास्वाद के क्षणों में इन लक्षण-गुणालंकारों की स्वतंत्र प्रतीति नहीं होती। दण्डी ने

---

१. हिन्दी वक्रोक्ति जीवित ३।११, १२, १३
२. हिन्दी वक्रोक्ति जीवित, ३।११
३. हिन्दी वक्रोक्ति जीवित, ३।४४ पृ० ४७८
४. हिन्दी वक्रोक्ति जीवित ३।१४, १५
५. हिन्दी वक्रोक्ति जीवित ३।२०
६. संस्कृत साहित्य शास्त्राचा इतिहास, (डा० पा० वा० काणे) पृ० १६९।
७. 'व्युत्पत्ति निमित्तमपोद्धृत्य विवेचनम्' हिन्दी वक्रोक्ति जीवित, १।६ पृ० १६

काव्यशोभाकरधर्मों को अलंकार कहा है और इसी में प्रसाद आदि शोभाकर धर्मों को गुण भी कहा है, इससे स्पष्ट है कि दण्डी ने भी गुणालंकार विभाजन की असंभवता की ही सूचना दी है। पूर्वपक्षी के इस आक्षेप का अभिनव गुप्त स्वयं इस प्रकार से उत्तर देते हैं : 'इसमें पर्याप्त सत्य है, किन्तु कवि की काव्य-निर्माण की सामर्थ्य अथवा सहृदय की काव्यविवेचन-सामर्थ्य की यथावत् प्रतीति के लिए, काल्पनिक ही क्यों न हों, प्रस्तुत अलंकार-गुण आदि के वर्गीकरण का आश्रय लेना पड़ता है।'[1] इस प्रकार कुंतक के समान ही अभिनवगुप्त भी अलंकारों को तत्वतः कटक आदि के समान काव्य के नितान्त बाह्य तत्व मानने के पक्ष में नहीं हैं।

उत्तरध्वनिकालीन अलंकार-विकास :

आनन्दवर्धन, कुंतक, अभिनव गुप्त आदि प्रौढ़ चिंतक तथा प्रतिभावान् आचार्यों ने अलंकारों की अमर्याद वृद्धि का समर्थन नहीं किया। वे उन्हें भावों के निकट अथवा कलात्मक काव्यरूप से अभिन्न मानने पर बल देते रहे, फिर भी अलंकार-संख्या की वृद्धि निरन्तर होती गई। इनके उपरान्त अलंकार-संख्या की ही वृद्धि नहीं हुई, बल्कि इनके नये-नये वर्ग-उपवर्गों का भी अनुसन्धान हुआ। भोजराज ने 'सरस्वती कण्ठाभरण' में अलंकारों के प्रथम ही तीन वर्ग सुझाये हैं—बाह्य, आभ्यन्तर तथा उभय।[2] बाह्य में शब्दालंकार आते हैं, इनकी संख्या २४ है। आभ्यन्तर में निरूपित अर्थालंकारों की संख्या भी २४ ही है। इसी प्रकार उभयालंकारों—जिनकी प्रतीति शब्द तथा अर्थ दोनों से होती है—की संख्या भी २४ ही है।[3] भोज देव २४ संख्या को संभवतः अत्यन्त पवित्र मानते थे। अतः 'उपमा' और रूपक अलंकार के भी इन्होंने २४-२४ भेद किये हैं।

आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त की परंपरा के ही विश्वस्त प्रतिनिधि हैं—आचार्य मम्मट। इन्होंने अलंकारों की काव्यस्थ स्थिति का विवेचन रसवाद का विशेष आधार ग्रहण करके किया है। रस अंगी है, काव्य का प्राण है और अलंकार हार आदि के समान बाह्य हैं, रसोत्कर्ष के साधन हैं।[4] इनकी काव्य में अनित्य स्थिति है, अलंकारों के बिना भी काव्य की स्थिति संभव है।[5] अलंकारों को काव्य

---

१. अभिनवभारती, २।२९,
२. भोज : सरस्वती कण्ठाभरण, द्वितीय परिच्छेद
३. भोज : सरस्वती कण्ठाभरण, ३।१
४. मम्मट : काव्यप्रकाश, ८।६६, ६७
५. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि। वही, प्र० उ० सूत्र १।

में अनित्य तथा हारादि के समान नितांत बाह्य तत्व मान कर भी आचार्य मम्मट अलंकार-विवेचन में युगप्रभाव से ऊपर नहीं उठ सके। इन्होंने काव्यप्रकाश के नवम उल्लास में छः शब्दालंकारों—वक्रोक्ति (श्लेष तथा काकु), अनुप्रास (छेक तथा वृत्ति), लाटानुप्रास, यमक, श्लेष, चित्र तथा पुनरुक्तवदाभास का विस्तृत विवेचन किया है तथा दशम उल्लास में ६१ अर्थालंकारों का। इन ६७ अलंकारों के भेद-उपभेदों का प्रपंच भी विस्तृत है। भोज के उपरान्त आचार्य मम्मट चाहते तो बहुत से अलंकारों की अमर्याद वृद्धि को नियन्त्रित करते। परन्तु इन्होंने स्वयं मालादीपक, विनोक्ति सामान्य, सम इत्यादि का नवीन आविष्कार कर के इनकी संख्या-वृद्धि में योगदान ही दिया है।[1]

भामह, दण्डी, आनन्दवर्धन, कुंतक आदि पूर्वाचार्यों की काव्यशास्त्रीय मान्यताओं से आचार्य रुय्यक पूर्णतः परिचित थे। इनके अभिमतों का इन्होंने स्थान-स्थान पर उल्लेख भी किया है।[2] इनकी अपनी मान्यता में ध्वनि या व्यंग्य को ही काव्य का आत्मतत्व मानना उपयुक्त है। गुणालंकार इसी के 'चारुत्वहेतु' हैं, रसों को अलंकार कहना उपयुक्त नहीं, क्योंकि ये तो रसों के उपकारक मात्र हैं।[3] रुय्यक ने काव्य में तत्वतः अलंकारों को गौण मानकर भी अपनी प्रतिभा या पांडित्य का उपयोग ८२ अलंकारों को नौ वर्गों में विभाजित करने तथा उनके वर्गीकरण को यथासंभव वैज्ञानिक, सूक्ष्म एवं व्यापक बनाने में ही किया है। सामान्य वर्ग तो दो ही हैं—शब्दालंकार तथा अर्थालंकार, परन्तु इन्होंने अर्थालंकारों के उपवर्गों का विभाजन बहुत ही सूक्ष्म बनाने का प्रयत्न किया है।

अलंकारों की काव्य में वास्तविक स्थिति तथा उसके स्वरूप का वैज्ञानिक एवं मौलिक चिन्तन अब अवरुद्ध-सा हो गया। मम्मट परवर्ती आचार्यों ने अपनी प्रतिभा का व्यय मुख्यतः अलंकार-संख्या की वृद्धि, उनके वर्ग-उपवर्ग तथा उनके पारस्परिक अन्तर्भाव के विवेचन में ही कर डाला। रुय्यक के उपर्युक्त अलंकार-वर्गीकरण से प्रभावित होकर विद्याधर ने अपनी 'एकावली' में २२ वर्गों में ७१ अलंकारों की व्यवस्था की है।

---

१. आ० मम्मट के नवाविष्कृत अलंकारों के लिए दे० संस्कृत साहित्य का इतिहास, (श्री कन्हैयालाल पोद्दार) पृ० २२१।

२. रुय्यक : अलंकार सर्वस्व, पृ० १, ४, ६, ७।

३. ... रसादयस्तु जीवितभूता नालंकारत्वेन वाच्याः। अलंकाराणामुपस्कारकत्वाद् रसादीनांच प्राधान्येनोपस्कार्यत्वात्। तस्माद् व्यंग्य एव वाक्यार्थीभूतः काव्यजीवितम्। अलंकारसर्वस्व, पृ० ८।

जयदेव ने आचार्य मम्मट की अलंकार-सम्बद्ध मान्यता का प्रत्याख्यान तो नितांत सबल शब्दों में किया है।[1] परन्तु वे अपनी इस स्थापना का पुष्ट विवेचन नहीं कर सके। उन्होंने अपने ग्रन्थ में विवेचन-विश्लेषण रहित लक्षण-उदाहरणात्मक शैली अपना ली थी। अतः ऐसा प्रतीत-सा होने लगता है कि वे अपनी प्रथम स्थापित मान्यता पर भी अन्त तक दृढ़ नहीं रह सके। अलंकार-निरूपण के प्रसंग में वे काव्य में अलंकारों की स्थिति मम्मट के अनुरूप ही 'हार' आदि के सदृश प्रतिपादित करते हैं।[2] संख्या की दृष्टि से जयदेव ने पूरे १०० अलंकारों का निरूपण किया है।

वस्तुतः उत्तर ध्वनिकाल में मम्मट और जगन्नाथ के अतिरिक्त रसवादियों में अलंकारों का विस्तृत विवेचन विश्वनाथ ने ही किया है। इन्होंने कुल ८९ अलंकारों का निरूपण किया है, इनमें शब्दालंकार १२, अर्थालंकार ७० और रसवत् ७ उल्लिखित हैं। विश्वनाथ रस को ही काव्य की आत्मा मानते थे, अतः इनके अनुसार भी अलंकार नितांत बाह्य तत्व हैं। केशव मिश्र ने भी रस को मुख्य और अलंकारों को गौण व शोभावर्द्धक तत्वमात्र माना है।[3]

अलंकार-संख्या-वृद्धि की दृष्टि से अंतिम भगीरथ प्रयत्न अप्पयदीक्षित ने किया है। प्रथम इन्होंने प्राचीन और अपने सम-सामयिक आचार्यों की मान्यतानुसार १०० अलंकारों का विवेचन किया है, तदुपरान्त पच्चीस अन्य अलंकारों का भी प्रतिपादन कर दिया है।[4]

संस्कृत अलंकारशास्त्र की विकास-परंपरा में अन्तिम आचार्य जगन्नाथ आते हैं। ये परम्परागत मान्यताओं को अपने चिन्तन और तर्क की कसौटी पर कसते थे। इन्होंने देखा कि अलंकारों का संबन्ध शब्दार्थ से स्थापित किया जाता है, परन्तु शब्द शक्ति-विवेचन प्रसंग में अभिधा, लक्षणा और व्यंजना का ही विवेचन किया जाता है। इन्होंने अलंकार-निरूपण की पद्धति में नवीनता लाने का प्रयत्न किया।

---

१. अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती। असौ, न मन्यते कस्यादनुष्णमनलं कृती। चन्द्रालोक १।८।

२. शब्दार्थयोः प्रसिद्धया वा कवेः प्रौढिवशेन वा।
हारादिवदलंकार : सन्निवेशो मनोहर :। वही

३. काव्यं रसादिमद् वाक्यं श्रुतं सुखविशेषकृत्।
अलंकारस्तु शोभायै, रस आत्मा परे मतः॥ अलंकार शेखर,

४. एवं पंचदशानन्यानप्यलंकारान् विदुर्बुधाः। कुवलयानंद॥१७१॥ पृ० १६९। (निर्णयसागर, १९३७)

फलतः शब्द-शक्तियों के आश्रित अलंकार बना दिये और लक्षणा के प्रसंग में ही रूपक आदि अलंकारों का इन्होंने विवेचन किया। 'उपमा' से आरम्भ करके ७० अलंकारों का विवेचन करने के उपरान्त 'उत्तर' अलंकार के बीच में ही इनका विवेचन रुक गया है। रस गंगाधर ग्रन्थ अपूर्ण है, अतः सुनिश्चित रूप से कितने अलंकारों को जगन्नाथ मान्यता देना चाहते हैं, यह निर्धारण करना आज कठिन है।

सारांश

१. संस्कृत साहित्यशास्त्र में अलंकार शब्द के तीन अर्थ हैं। अलंकार-शब्द एक ओर काव्य के सम्पूर्ण सौन्दर्य-वर्द्धक तत्वों के लिए भी व्यवहृत होता रहा और दूसरी ओर उपमा, रूपक आदि विशिष्ट शब्दार्थ के सौन्दर्य-वर्द्धक तत्वों को भी अपने में समाहित किये रहा। तीसरा सामान्य अर्थ सौन्दर्य-वर्द्धक उपादान के रूप में प्रायः प्राचीन काल से अब तक प्रचलित है।

२. अलंकार तत्व का आरंभिक उत्स वैदिक साहित्य में ही मिलने लगता है। अतः भरतमुनि-पूर्व अलंकारों तथा अलंकार-संज्ञाओं की स्थिति स्पष्टतः थी। भरत-निरूपित 'काव्यलक्षण' अलंकारों के पूर्ववर्ती तथा परवर्ती विकास-विस्तार की कड़ियों को जोड़ने में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

३. भरतोत्तर आलंकारिकों में भामह, दण्डी, उद्भट, वामन आदि का अलंकार-विवेचन अपना विशिष्ट स्थान रखता है। भामह-दण्डी ने एक प्रकार से उक्ति चमत्कार के रूपों को अलंकार माना है और इनकी काव्य में अनिवार्य स्थिति का ही एक प्रकार से समर्थन किया है परन्तु आचार्य वामन ने गुण तत्व की तुलना में अलंकारों को कम महत्व दिया और उपमादि अलंकारों को काव्य में अनित्य तत्व के रूप में मान्यता दी है।

४. ध्वनिवादी आनंदवर्धन, वक्रोक्तिवादी कुंतक तथा रसध्वनिवादी अभिनव गुप्त आदि आचार्यों ने मूलतः कवि की काव्य-निर्माण कालीन मनःस्थिति का विश्लेषण करते हुए अलंकारों की आंतरिक—भाव या रस-सम्बद्ध—स्थिति की मीमांसा की है। परन्तु सामान्यतः ध्वनि रसवादी आचार्य रस की तुलना में अलंकारों को नितान्त बाह्य तत्व ही प्रतिपादित करते रहे।

५. उत्तरध्वनिकालीन मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि रसवादी आचार्य अलंकारों को बाह्य तत्व मानते थे फिर भी इन्होंने अलंकार-निरूपण को अपने-अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में अत्यंत विस्तृत स्थान प्रदान किया है।

६. भरतमुनि से जगन्नाथ तक के आचार्यों ने भारतीय अलंकार-सिद्धान्त में अलंकारों की अमर्याद वृद्धि की है। अनेक आचार्यों ने अलंकार-गणना को असंभव

प्रतिपादित किया है। कतिपय ने अलंकारों की वृद्धि को नितान्त अनुपादेय ठहराया है, तो कतिपय ने नये अलंकारों का आविष्कार तथा प्राचीनों का परस्पर अंतर्भाव भी कर दिखाया है।

७. अलंकारों की आत्मा या प्राण के विषय में भी संस्कृत आचार्यों में मत-भिन्नता रही है। भामह ने वक्रोक्ति को, दण्डी ने अतिशयोक्ति को, वामन ने उपमा को कुंतक ने वाक्य-वक्रता को अलंकारों का मूल या प्राण प्रतिपादित किया है।

८. अलंकार-वर्गीकरण के विषय में भी संस्कृत के सभी आचार्य एकमत नहीं रखते। शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार तो प्रायः वहुमान्य वर्ग रहे परन्तु इनके भी अनेक उपवर्ग बनाने में संस्कृत के आलंकारिकों ने पर्याप्त बौद्धिक श्रम किया है।

इस प्रकार अलंकार-सिद्धान्त अपने समग्र रूप में भारतीय साहित्याचार्यों के काव्यशास्त्र-विवेचन का एक नितान्त प्रमुख सिद्धान्त रहा है। आधुनिक हिन्दी तथा मराठी के काव्य-शास्त्र के विवेचकों पर इनकी चितनधारा का प्रभाव पड़ना नितांत स्वाभाविक है। हिन्दी तथा मराठी के आधुनिक लेखकों ने अलंकार-सिद्धान्त के उपरोक्त अंगों की पर्याप्त व्यापक मीमांसा की है। इनके तुलनात्मक अध्ययन से संस्कृत के अलंकार-सिद्धान्त के गुण-दोषों का ही उद्‌घाटन नहीं होगा, वरन् आधुनिक काव्य-साहित्य के मूल्यांकन में इस सिद्धान्त की उपादेयता या अनुपादेयता पर भी प्रकाश पड़ सकेगा।

हिन्दी में अलंकार-सिद्धान्त का अध्ययन

हिन्दी के आधुनिक युग में रस-सिद्धान्त की भाँति अलंकार सिद्धान्त का भी पर्याप्त विवेचन हुआ है। इसका कारण स्पष्ट है। आधुनिक युग के आरम्भ से पूर्व ब्रज-भाषा साहित्य के रीतिकालीन अधिकांश आचार्य अलंकारों का विस्तृत विवेचन करते रहे। अनेक आचार्यों ने अलंकार विषय पर ही स्वतन्त्र ग्रन्थों का निर्माण किया है। उनकी दृष्टि में काव्य-कौशल का मानदण्ड मानो विभिन्न अलंकारों के चमत्कारक नवीन उदाहरण प्रस्तुत करने में ही निहित था। हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों ने सैद्धान्तिक विवेचन पर बहुत कम ध्यान दिया था। वे संस्कृत के अलंकार-सिद्धान्त को अपनी भाषा के माध्यम से अनूदित कर रहे थे। कतिपय स्वतंत्र चेता आचार्य भी हुए, परन्तु उनका चिन्तन अलंकारों के भेद-उपभेद या नवीन नाम-निर्देश तक ही सीमित रहा। रीतिकालीन अधिकांश काव्यशास्त्र के ग्रन्थों का स्वरूप स्वतंत्र विवेचनात्मक की अपेक्षा शिक्षात्मक बन रहा था। फलतः हिन्दी के आधुनिक युग के आरम्भ में रीतिकालीन आचार्यों की अलंकार-निरूपण की शैली ही अधिकांश लेखकों ने अपनाई है। कतिपय आधुनिक लेखकों ने लक्षण भी पद्य में दिये हैं और उदाहरण भी ब्रज-भाषा पद्य में ही। खड़ी बोली गद्य का प्रयोग अलंकारों के परस्पर भेद को निर्दिष्ट करने अथवा विशेष सूचना देने के लिए ही किया गया है। सामान्यतः खड़ी बोली गद्य का आश्रय लेकर जिन विचारकों ने अलंकारों का विवेचन किया है, उनके स्पष्टतः दो वर्ग बन सकते हैं। प्रथम वर्ग में अधिकांश प्राचीन परम्परा के अनुयायी विद्वान् हैं। इन्होंने प्राचीन संस्कृत तथा हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों के अलंकार-विवेचन का आश्रय लेकर अधिक से अधिक अलंकारों को लक्षण-उदाहरणपूर्वक समझाने का प्रयत्न किया है। द्वितीय वर्ग उन मनीषियों का है जिन्होंने अलंकार-सिद्धान्त का आधुनिक दृष्टिकोण से पुनराख्यान करने का प्रयत्न किया है। इनके समक्ष परंपरा-पालन की अपेक्षा नवीन दृष्टि से अलंकार-चिन्तन एवं उनके पुनराख्यान का लक्ष्य था। अतः इनकी शैली भी भिन्न है। विभिन्न अलंकारों के लक्षण-उदाहरण प्रस्तुत न करके इन्होंने मूलतः अलंकार-स्वरूप एवं उनकी काव्यस्थ उपयोगिता पर वैज्ञानिक ढंग से प्रकाश डाला है।

परंपरानुयायी आख्याता :

अलंकारों की परम्परागत विवेचन-शैली अपनाने वाले आधुनिक लेखकों में उल्लेखनीय हैं—मुरारिदान, जगन्नाथ प्रसाद भानु, भगवानदीन, कन्हैयालाल पोद्दार, अर्जुनदास केडिया, बिहारीलाल भट्ट, मिश्रबन्धु, रामदहिन मिश्र इत्यादि ।[1]

इन आख्याताओं के सामने प्राय: अलंकार-अध्येता विद्यार्थी-वर्ग रहा है । अत: इनका लक्ष्य प्राचीन अलंकारों के लक्षण तथा उनके भेद-उपभेदों को सुगम बना कर हिन्दी के उदाहरणों से विद्यार्थियों को समझाना था । इन्होंने संस्कृत के तथा हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों से लक्षण-उदाहरणों के विवेचन में पर्याप्त सहायता ली है । उदाहरणों में कतिपय उदाहरण संस्कृत के अनूदित, कतिपय स्वरचित तथा शेष अनेक प्राचीन और क्व चित् अर्वाचीन हिन्दी-कवियों की रचनाओं से उद्धृत हैं । कतिपय विवेचक अंग्रेजी साहित्य से भी परिचित थे । जगन्नाथप्रसाद भानु तथा श्री भगवानदीन ने कतिपय अलंकारों के अंग्रेजी पर्यायवाची नाम भी उद्धृत किये हैं । श्री रामदहिन मिश्र ने ७ शब्दालंकारों तथा ७७ अर्थालंकारों के अंग्रेजी नाम भी लिख दिये हैं । श्री भगवानदीन ने यथास्थान उर्दू तथा फारसी संज्ञाओं का भी अनेक अलंकारों के साथ उल्लेख कर दिया है । यद्यपि इन परम्परानुयायी अलंकार-विवेचकों ने पाश्चात्य अलंकारों तथा भारतीय अलंकारों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत नहीं किया है फिर भी इस प्रकार के अध्ययन की संभावना का अप्रत्यक्ष संकेत तो दे ही दिया है ।

जगन्नाथ प्रसाद भानु, बिहारीलाल भट्ट, कन्हैयालाल पोद्दार, मिश्रबन्धु तथा रामदहिन मिश्र ने अलंकार-इतर अन्य काव्यांगों का भी विवेचन किया है । संस्कृत तथा हिन्दी के अलंकार शास्त्र के ऐतिहासिक विकास का विवेचनात्मक दिग्दर्शन श्री कन्हैयालाल पोद्दार की अलंकार मंजरी, संस्कृत साहित्य का इतिहास, डा० रसाल के अलंकार पीयूष तथा डा० ओम्प्रकाश के आधुनिकतम प्रबन्ध हिन्दी अलंकार साहित्य में उपलब्ध होता है । पूर्वोक्त परंपरानुयायी लेखकों में प्राय: सभी ने शब्दालंकार, अर्थालंकार तथा उभयालंकार वर्ग के अन्तर्गत कम से कम ७० तथा अधिक से अधिक १२४ तक के अलंकारों का विवेचन किया है । प्राय: सभी लेखकों का दृष्टिकोण संस्कृत तथा ब्रज-भाषा में निहित अलंकार-सम्पत्ति को खड़ी बोली गद्य में अवतरित कर विद्यार्थी-वर्ग को सरलतापूर्वक इनका ज्ञान

---

१. इनकी रचनाओं के नाम क्रमश: हैं : 'जसवंत भूषण', 'काव्य प्रभाकर', 'अलंकार-मंजूषा', 'अलंकार मंजरी', 'अलंकार पीयूष', 'भारती भूषण', 'साहित्य-सागर,' 'साहित्य पारिजात', और 'काव्य दर्पण' ।

करा देना मात्र प्रतीत होता है। फलतः काव्य में अलंकारों का स्थान, अलंकार और रस का सम्वन्ध अलंकार-वर्गीकरण तथा संख्या-वृद्धि का औचित्य या अनौचित्य इत्यादि विषयों पर अधिक वैज्ञानिक दृष्टि से सूक्ष्म विवेचन नहीं मिलता। फिर भी इस प्रकार के विवेचन का प्रारम्भिक प्रयत्न श्री कन्हैयालाल पोद्दार तथा श्री रामदहिन मिश्र ने किया है। डा० विजयेन्द्र स्नातक ने 'अलंकार शास्त्र' तथा 'अलंकार सम्प्रदाय' के अन्तर्गत संस्कृत तथा हिन्दी में उपलब्ध अलंकार-विकास का ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत किया है। इन्होंने १५-२० अलंकारों का स्वतंत्र पृथक्-पृथक् स्वरूप-निर्देश करते हुए उनमें प्रस्तुत ऐतिहासिक परिवर्तनों का भी दिग्दर्शन कराया है।[1]

पुनराख्याता विवेचक :

इस प्रकार आधुनिक हिन्दी काव्यशास्त्र में अलंकार-विवेचन का प्रथम चरण प्रायः परंपरानुसारी तथा शिक्षात्मक रहा है। आधुनिक युग में भारतीय संस्कृति तथा साहित्य पर पाश्चात्य दृष्टिकोण का गहरा और व्यापक प्रभाव पड़ रहा है। पाश्चात्य साहित्य तथा उसके काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों का अध्ययन हिन्दी के अनेक आधुनिक विवेचकों ने किया है। फलतः अन्य काव्य-सिद्धान्तों के समान ही अलंकार-सिद्धान्त के पुनराख्यान की ओर भी इनकी दृष्टि गई है। इनमें उल्लेखनीय हैं : महावीर प्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य श्यामसुंदर दास, डा० रमाशंकर शुक्ल रसाल, डा० गुलाबराय, डा० नगेन्द्र, श्री सुधांशु, डा० भगीरथ मिश्र, श्री बलदेव उपाध्याय इत्या दि। इन सुधी आलोचकों के अतिरिक्त कतिपय लब्ध प्रतिष्ठ हिन्दी कवियों ने भी अलंकारों के विषय में अपना चिन्तन प्रस्तुत किया है जिनमें श्री जयशंकर प्रसाद, श्री सुमित्रानन्दन पंत तथा डा० रामकुमार वर्मा का नाम उल्लेख्य है। इनका व्यक्तित्व उभयात्मक है। एक ओर ये सशक्त साहित्य-स्रष्टा के रूप में हिन्दी-साहित्य में प्रसिद्ध हैं तो दूसरी ओर इन्होंने काव्य-तत्व विषयक चिन्तन भी किया है।

इन पुनराख्याता विवेचकों ने अलंकारों की लक्षण-उदाहरणात्मक शैली नहीं अपनाई है। इनका मूल प्रतिपाद्य रहा है अलंकार-स्वरूप, काव्य में अलंकारों का स्थान, अलंकार-विस्तार का औचित्य, अलंकार और रस का सम्बन्ध, पाश्चात्य अलंकार और भारतीय अलंकारों का पारस्परिक सम्बन्ध इत्यादि। इन्होंने सहृदय तथा कवि दोनों ही दृष्टियों से अलंकारों के स्वरूप एवं महत्व पर प्रकाश डाला है। इनकी शैली सूक्ष्म विवेचनात्मक तथा मनोवैज्ञानिक रही है।

---

१. दे० हिन्दी साहित्य कोश (सं० धीरेन्द्र वर्मा)।

इनके अतिरिक्त पाठ्य पुस्तकों के रूप में 'अलंकार-ग्रन्थों' के रचयिताओं की सूची भी उद्धृत की जा सकती है। परन्तु अलंकार-सिद्धान्त के तात्विक विकास में इनका योगदान नहीं के बराबर है, फलतः उन सभी अलंकार-ग्रन्थों के रचयिताओं का उल्लेख करना यहाँ अनावश्यक समझ कर छोड़ दिया गया है।

अलंकार : परिभाषा : स्वरूप : काव्य में स्थान

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि 'अलंकार' शब्द संस्कृत के काव्यशास्त्र में दो अर्थों में प्रयुक्त होता रहा है। एक में वह काव्य-सौन्दर्य का पर्याय है, दूसरे में उपमा आदि 'वाणी' के अलंकारों का द्योतक है। प्रथम अर्थ व्यापक है, इसमें वह शब्द-सौन्दर्य, अर्थ-सौन्दर्य, रीति-गुण-सौन्दर्य, भाव-सौन्दर्य, रस-सौन्दर्य या समग्र रूप से कहें तो काव्य-सौन्दर्य का ही पर्याय है। परन्तु द्वितीय उपमा आदि का द्योतक अलंकार शब्द अपना निश्चित अर्थ नहीं रख सकता। क्योंकि 'उपमा' आदि की काव्यस्थ स्थिति के विषय में दो भिन्न मत स्पष्टतः बनते गये। दण्डी आदि ने उपमा आदि अलंकारों को काव्य-सौन्दर्य का विधायक या कारक तत्व मान लिया है, अतः इनके अनुसार उपमा आदि का द्योतक अलंकार शब्द काव्य-सौन्दर्य का पर्याय ही बन गया है। परन्तु वामन तथा ध्वनि-रसवादी आचार्यों ने उपमा आदि अलंकारों की काव्यगत स्थिति के विषय में अपना विशिष्ट दृष्टिकोण उपस्थित किया है। उपमा आदि अलंकार काव्य-सौन्दर्य के विधायक तत्व नहीं हैं, अपितु अस्थिर रूप से शब्दार्थ के सौन्दर्य-वर्द्धक तत्व हैं। फलतः संस्कृत में अलंकार की व्युत्पत्ति दो प्रकार से होती है : 'अलंकरोतीति अलंकारः' और 'अलंक्रियतेऽनेनेत्यलंकारः', प्रथम व्युत्पत्ति दण्डी के आशय को स्पष्ट करती है और द्वितीय ध्वनि रसवादी आचार्यों के। आधुनिक हिन्दी काव्यशास्त्र के चाहे वे परंपरानुयायी विवेचक हों चाहे पुनराख्याता आलोचक हों, प्रायः सभी ध्वनि-रसवादी आचार्यों की अलंकार परिभाषा को ही विशेष रूप से मान्यता देते हैं।

परंपरानुयायी विवेचकों की अलंकार परिभाषाएँ--

१. जगन्नाथप्रसाद भानु--

जो काव्य की शोभा बढ़ावे वही अलंकार है।[1]

२. भगवान दीन--

किसी वाक्य के वर्णन करने का चमत्कारिक ढंग अलंकार कहलाता है। अथवा

---

१. काव्यप्रभाकर, पृ० ४७२।

जिस सामग्री से किसी वाक्य में रोचकता वा चमत्कार आ जाय वह सामग्री अलंकार कहलाती है।[१]

३. कन्हैयालाल पोद्दार—

अलंकार पद में 'अलं' और 'कार' दो शब्द हैं। इनका अर्थ शोभा करने वाला है। अलंकार काव्य के बाह्य शोभाकारक धर्म हैं, अतः इनकी अलंकार संज्ञा है।[२]

४. मिश्रबन्धु—

जिससे शब्द या वाच्यार्थ की शोभा बढ़े उसे अलंकार कहते हैं। अथवा प्रभावशाली वर्णन के विविध-विधान ही अलंकार हैं।[३]

५. रामदहिन मिश्र—

इन्होंने प्राचीन अधिकांश आचार्यों की परिभाषाओं का ही उल्लेख किया है, स्वतंत्र निश्चित मत नहीं दिया। फिर भी इनका अलंकार लक्षण है—'अलम् का अर्थ है—भूषण। जो अलंकृत-भूषित करे वह है अलंकार।' आगे वामन की वृत्ति की ही इन्होंने व्याख्या की है—'जिसके द्वारा अलंकृत किया जाय इस करण व्युत्पत्ति से उपमा आदि का ग्रहण हो जाता है।'[४]

अलंकारों के पुनराख्याताओं की परिभाषाएँ :

१. रामचन्द्र शुक्ल—

(क) वस्तु या व्यापार की भावना चटकीली करने और भाव को अधिक उत्कर्ष पर पहुँचाने के लिए कभी किसी वस्तु का आकार या गुण बहुत बढ़ा कर दिखाना पड़ता है, कभी उसके रूप-रंग या गुण की भावना को उसी प्रकार के और रूप-रंग मिलाकर तीव्र करने के लिए समान रूप और धर्मवाली और और वस्तुओं को सामने लाकर रखना पड़ता है। कभी-कभी बात को घुमा फिरा कर कहना पड़ता है। इस प्रकार के भिन्न-भिन्न विधान और कथन के ढंग अलंकार कहलाते हैं।[५]

(ख) मैं अलंकार को केवल वर्णन-प्रणाली मात्र मानता हूँ, जिसके अन्तर्गत

---

१. अलंकार मंजूषा, पृ० १।
२. अलंकारमंजरी, पृ० ५८ (पंचम संस्करण) सं० २००६ वि०।
३. साहित्य पारिजात, पृ० ९७ और पृ० ५०४ (द्वितीय संस्करण, १९५१ ई० सन्)
४. काव्यदर्पण, पृ० ३२० (द्वितीय संस्करण, सन् १९५१)
५. चिन्तामणि, पृ० १८१ (प्रथम भाग) सन् १९५३।

करके चाहे किसी वस्तु का वर्णन किया जा सकता है। वस्तु-निर्देश अलंकार का काम नहीं।[१]

(ग) अलंकार हैं क्या ? वर्णन करने की अनेक प्रकार की चमत्कारपूर्ण शैलियाँ जिन्हें काव्यों से चुन कर प्राचीन आचार्यों ने नाम रखे और लक्षण बनाये।[२]

२. श्यामसुंदर दास—

अलंकार यथार्थ में वर्णन करने की एक शैली है, वर्णन का विषय नहीं।[३]

३. डा० रसाल—

(१) व्यापकार्थ—जिसके आधार पर काव्य-सौन्दर्य को ही, चाहे वह वर्ण्य हो या वर्णन में, अलंकार कहते हैं।

(२) संकीणर्थि—जिसके आधार पर काव्य-शरीर अर्थात् भाषा के शब्दार्थ से सुसज्जित एवं सुंदर बनाने वाले चातुर्य-चमत्कार पूर्ण मनोरंजक ढंग को अलंकार कहते हैं।[४]

४. डा० गुलाबराय—

अलंकार शोभा को अलं अर्थात् पूर्ण वा पर्याप्त करने के कारण अलंकार कहलाते हैं।[५]

५. श्री सुधांशु—

'भाव को तीव्र करने में कभी-कभी सहायक होने वाली योजना ही अलंकार है।[६]

६. डा० नगेन्द्र—

अलंकार के सर्वमान्य अर्थ को दृष्टि में रखते हुए दूसरी व्युत्पत्ति ही अधिक संगत है—जिसके अनुसार अलंकार काव्य की शोभा का साधन मात्र है।[७]

७. सुमित्रानंदन पंत—

अलंकार वाणी की सजावट के लिए नहीं वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। भाषा की परिपुष्टि के लिए राग की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपा-

---

१. काव्य में प्राकृतिक दृश्य, चिन्तामणि, द्वि० भा० पृ० ५
२. जायसी ग्रंथावली की भूमिका।
३. साहित्यालोचन पृ० २६२, ग्यारहवीं आवृत्ति, २०११।
४. अलंकार पीयूष, पृ० २९ (द्वितीय संस्करण, सन् १९५४)।
५. सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० ३२ (द्वि० सं०, सन् १९५५)
६. काव्य में अभिव्यंजनावाद पृ० ८७ (तृ० सं०, संवत् २००७)
७. रीति काव्य की भूमिका पृ० ८० (प्र० सं० सन् १९४९)

दान हैं,....।[१]

८. डा० रामकुमार वर्मा—

वस्तुतः अलंकारों का प्रयोग भाषा और भावों का सौन्दर्य-दृष्टि से संचय करने में तथा उनके द्वारा जीवन के कार्य व्यापारों को आकर्षक बनाने में है। इन प्रयोगों को इसीलिए 'अलंकार' नाम दिया गया कि उनसे भाषा और भावों की नग्नता दूर होकर सुषमा और सौन्दर्य की सृष्टि होती है।[२]

सामान्यतः इन सभी अलंकार-परिभाषाओं में इस तथ्य पर विशेष बल दिया गया है कि 'अलंकार' उपकरण, साधन, उपादान, कथन का ढंग या शैली मात्र है। वर्ण्यविषय नहीं है, वस्तु-निर्देश नहीं है, वरन् शब्दार्थ का, काव्य का, भाषा और भाव का सौन्दर्य-वर्द्धक साधन मात्र है। कतिपय विवेचकों ने अपनी परिभाषाओं में इस तथ्य पर भी विशेष बल दिया है कि 'अलंकार' काव्य के लिए अनिवार्य या नित्य तत्व नहीं है। यह काव्य का बाह्य शोभाकारक धर्म है, अंतरंग-भाव में 'कभी कभी' तीव्रता लाने में सहायक होता है। इस प्रकार समग्र रूप से देखा जाय तो उपर्युक्त अलंकार-परिभाषाएँ प्रायः संस्कृत के ध्वनि-रसवादी आचार्यों की धारणाओं की ही पूर्णतः समर्थक हैं।

अलंकारों का काव्य में स्थान और उनकी उपादेयता :

संस्कृत साहित्य-शास्त्र में ध्वनि तथा रस-सिद्धान्त की महत्व-प्रतिष्ठा के उपरान्त भी अलंकार-विवेचन अक्षुण्ण रूप से चलता ही रहा। हिन्दी का रीतिकालीन साहित्यशास्त्र विशेषतः उत्तरध्वनिकालीन परंपरा का उपजीवी रहा है। गम्भीर और प्रौढ़ चिन्तन बहुत कम आचार्यों की कृतियों में मिलता है। सैद्धान्तिक रूप से रसध्वनि की महत्ता स्वीकार करके भी व्यावहारिक धरातल पर अलंकारों का ही अपेक्षाकृत अधिक विवेचन हुआ है। केशव आदि आचार्यों ने सिद्धान्त और व्यवहार दोनों ही दृष्टियों से अलंकारों को काव्य के लिए नित्य और अनिवार्य तत्व मान लिया था। सूरति मिश्र, रसिक सुमति, शंभुनाथ मिश्र, बैरीसाल, पद्माकर, भूषण आदि ने अलंकार-विवेचन के लिए ही पृथक्-पृथक् ग्रन्थ रचे हैं। काव्य के व्यावहारिक जगत् एवं सैद्धान्तिक जगत् में अलंकारों को ही मूर्धाभिषिक्त किया गया। स्वभावतः इस अतिचार की प्रतिक्रिया आधुनिक युग में हुई। काव्य में नव जीवन के संचार के लिए यह प्रतिक्रिया आवश्यक ही नहीं नितांत अनिवार्य भी थी। रीतिकालीन आचार्यों ने संस्कृत के अलंकार शास्त्र को ब्रज-भाषा में अवतरित

---

१. 'पल्लव' की भूमिका, पृ० १० (पाँचवाँ संस्करण, संवत् २००५)
२. साहित्य शास्त्र, पृ० ११८ (प्रथम संस्करण, १९५५ ई०)

किया तो हिन्दी के आधुनिक काल के परंपरावादी विवेचकों ने संस्कृत तथा ब्रज भाषा में निरूपित अलंकार-विवेचन को खड़ी बोली में अवतरित किया है। परन्तु पुनराख्याता विवेचकों ने अपनी अभिनव शैली से अलंकारों की उपादेयता पर प्रौढ़ और गम्भीर चिन्तन किया है। इन्होंने अलंकारों को साध्य या वर्ण्य के पद से हटा कर साधन या उपकरण के रूप में ही प्रतिष्ठित किया है।

प्राचीन लक्षण-उदाहरण की शैली को अपना कर जिन लेखकों ने अलंकार-विवेचन किया है, उनमें अलंकार-स्वरूप और इनकी काव्यगत उपादेयता की दृष्टि से श्री कन्हैयालाल पोद्दार, मिश्रबन्धु तथा श्री रामदहिन मिश्र का विवेचन उल्लेखनीय है।

साधारण बोलचाल की भाषा और काव्य की भाषा में अंतर उपस्थित करने में समर्थ तत्व उसकी शैली अथवा उक्ति-वैचित्र्य ही है। श्री पोद्दार ने काव्य के विभिन्न उद्धरणों का उल्लेख करके उनमें निहित उक्ति-वैचित्र्य पर प्रकाश डाला है और इसी को विभिन्न अलंकारों का मूल आधार माना है।[१] संभवतः इसी कारण इन्होंने अलंकारों को काव्य के लिए महत्वपूर्ण तत्व माना है।[२]

अलंकारों की उपादेयता पर मिश्र बन्धुओं ने श्री पोद्दार की अपेक्षा अधिक विस्तृत विवेचन किया है। आनन्दवर्धन, मम्मट आदि आचार्यों की मान्यता में व्यंजनागर्भित काव्य ही उत्तम काव्य है, परन्तु मिश्रबन्धुओं का 'जी नहीं चाहता' कि अलंकारयुक्त काव्य को 'अधम' कहा जाय।[३] अतः इन्होंने काव्य की परिभाषा में ही स्पष्ट कर दिया है कि जहाँ केवल अलंकार होगा वहाँ भी काव्य ही होगा।[४] एक अन्य प्रकार से भी उन्होंने काव्य में अलंकारों की उपादेयता पर प्रकाश डाला है। अलंकार 'प्रभावशाली वर्णन के विविध विधान' तो हैं ही साथ ही 'अलंकार जनित आनंद भी काव्य में अपना एक स्थान रखता है।' काव्य में रसास्वाद आनंद की चरम सीमा है, पर उससे पूर्व भी आनन्द की अनेक भूमिकाएँ हैं। अलंकार जनित आनंद भी उनमें से एक है।'[५] काव्य में अलंकारों का इतना महत्वपूर्ण स्थान

---

१. अलंकारमंजरी, पृ० ४-११।
२. 'यद्यपि काव्य में अलंकार का स्थान तीसरी श्रेणी में अवश्य है, किन्तु इस विश्लेषण से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि अलंकार विषय कुछ कम महत्व रखता है। अलंकार मंजरी, पृ० २।
३. साहित्य पारिजात, पृ० ४६।
४. वही, पृ० ४२।
५. वही, पृ० ५०५।

तभी है जब कि वे वर्णनीय रस-भाव-वस्तु आदि का उत्कर्ष करने तथा उनकी शोभा बढ़ाने में समर्थ होते हैं। अन्यथा, जहाँ 'अलंकार, अलंकार के लिए आते हैं वहाँ कविता न होकर कोरी कलाबाज़ी होती है।' अलंकार के द्वारा शब्दार्थ विशेष शक्तिसम्पन्न बनता है जिसके फलस्वरूप सहृदय के अंतःकरण में रसादि चर्वणानुकूल स्थिति उत्पन्न करने में समर्थ होता है।'[१] संक्षेपतः मिश्रबन्धुओं ने अलंकारों को काव्य में नितांत उपयोगी, आनन्दोत्पादक, रस-चर्वणा में सहायक, एवं भाषा का प्रभावशाली माध्यम स्वीकार किया है।

अलंकार-विवेचन में प्राचीन शैली को अपनाते हुए भी, युगप्रभाव से इन लेखकों की धारणाओं में परिवर्तन आता गया है। काव्य के बाह्य तत्व समझे जाने वाले अलंकारों की स्थिति अब धीरे-धीरे आंतरिक बनती गई है। श्री रामदहिन मिश्र के शब्दों में 'भावों को सजाना, उन्हें रमणीयता प्रदान करना अलंकारों का एक काम है और उसका दूसरा काम भावों की अभिव्यक्ति को प्रांजल करना वा उसे प्रभावशाली बनाना।'[२] आधुनिक युग में काव्य-शास्त्र के सैद्धान्तिक विवेचन में मनोविज्ञान का विशेष आधार लिया जाता है। मिश्रजी ने भी अलंकार और मनोविज्ञान प्रकरण में प्रायः सभी अलंकारों के साथ मनोविज्ञान का अपरिहार्य सम्बन्ध स्थापित कर दिया है। 'यदि चमत्कार को ही अलंकारों के प्राण मान लें और जहाँ चमत्कार अलंकारों में उपलब्ध हो वहाँ मन का सम्बन्ध आप ही आप हो उठता है। क्योंकि चमत्कृत मन ही होता है। इस प्रकार प्रायः सभी अलंकारों के साथ मनोविज्ञान का अपरिहार्य सम्बन्ध हो जाता है।'[३]

मिश्र जी की प्रस्तुत स्थापना में प्रौढ़ विवेचन नहीं है और न गंभीर चिन्तन ही है। अनेक शब्दालंकार तथा यथासंख्य आदि अनेक अर्थालंकार प्रयत्नपूर्ण, श्रम-साध्य रचना के प्रतीक हैं। कतिपय अलंकारों में तो केवल बौद्धिक श्रम और शाब्दिक चुनाव पर ही विशेष बल है। ऐसी स्थिति में समस्त अलंकारों को मनोविज्ञान से सम्बद्ध करने के लिए प्रथम उनके वास्तविक स्वरूप का विश्लेषण अनिवार्य है। श्री रामदहिन मिश्र की अपेक्षा श्री कन्हैयालाल सहल ने अलंकारों की मनोवैज्ञानिक स्थिति का अधिक स्पष्टीकरण किया है। इनके मत में 'विचारों के विश्लेषण में 'तीन प्रकार की मानसिक प्रक्रियाओं'—सादृश्य, विरोध और भाव साहचर्य—की प्रतीति होती है। प्रस्तुत मानसिक प्रक्रियाएँ भावाभिव्यक्ति के न जाने

---

१. साहित्य परिजात, पृ० ५०७।
२. काव्यदर्पण, पृ० ३२६।
३. साहित्य पारिजात, पृ० ३४१।

कितने प्रकार ढूंढ़ निकालती हैं और इन्हीं से अलंकारों की निष्पत्ति हुई है। श्री सहल ने सादृश्य, विरोध तथा भाव साहचर्यात्मक अलंकारों के मूल में निहित मानसिक स्थिति का स्पष्टीकरण अनेक उदाहरणों से किया है।[1] प्रो० बेन का अलंकार-वर्गीकरण इन्हीं तीन आधारों पर निहित है।[2]

काव्य का अंतिम साध्य भाव-परिपुष्टि या रस है। अलंकार इस साध्य के साधन मात्र हैं। अतः अलंकार काव्य के लिए नितांत अनिवार्य तत्व नहीं है। इसी दृष्टिकोण से ध्वनि-रसवादी आचार्यों का आधार ग्रहण करके अधिकांश पुनराख्याता विवेचकों ने अलंकार-स्वरूप एवं उनकी काव्यगत उपादेयता का विश्लेषण किया है। शुक्ल जी की धारणा में सम्पूर्ण अलंकार, इनमें चाहे कतिपय केवल शब्द से सम्बन्ध रखते हों, चाहे अप्रस्तुत वस्तु योजना से, चाहे वाक्य की वक्रता (अर्थ) से; इन सब का एक ही ध्येय है, साध्य है—'भाव' या 'भावना' का उत्कर्ष साधन।[3]

शुक्ल जी की अलंकार-परिभाषा से स्पष्ट है कि अलंकार वर्णन की एक विशिष्ट प्रणाली है। सम्पूर्ण अलंकार, चाहे वे शब्दालंकार हों अथवा अर्थालंकार 'भाव' या 'प्रस्तुत वर्ण्य वस्तु' को प्रभावोत्पादक रूप में उपस्थित करने की भिन्न-भिन्न प्रणालियाँ मात्र हैं।[4] जब वर्णन-प्रणाली रूप अलंकार, भाव या आशय की शोभा बढ़ाने में असमर्थ हो जाते हैं, तब उन्हें वस्तुतः काव्यालंकार की संज्ञा देना ही अनुपयुक्त है।[5] इनके सहारे कविता अपना प्रभाव बढ़ाती है, वस्तुओं के रूप, गुण, क्रिया को बहुत बढ़ा कर इनका तीव्र अनुभव कराती है।[6] यही इनकी उपादेयता है।

रीतिकालीन अलंकार-अतिचार की प्रतिक्रिया ही मानो शुक्ल जी तथा श्याम-

---

१. आलोचना के पथ पर, 'अलंकार और मनोविज्ञान,' पृ० १७-३४।
२. दे० पाश्चात्य अलंकार, पृ० ३८४।
३. 'अलंकार चाहे अप्रस्तुत-वस्तु योजना के रूप में हों (जैसे उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा इत्यादि में) चाहे वाक्य वक्रता के रूप में (जैसे, अप्रस्तुत प्रशंसा, परिसंख्या, व्याजस्तुति इत्यादि में), चाहे वर्ण-विन्यास के रूप में (जैसे अनुप्रास में) लाए जाते हैं, वे प्रस्तुत भाव या भावना के उत्कर्ष-साधन के लिए ही।' चिंतामणि प्र० भा० पृ० १८५।
४. चिन्तामणि पृ० १८३।
५. वही, पृ० १८४।
६. तुलसीदास (आ० रामचन्द्र शुक्ल) पृ० १४८।

सुंदर दास जी की अलंकार-विषयक चिन्तन-प्रणाली में उपलब्ध होती है।[1] श्याम-सुंदर दास जी ने अलंकारों को शब्दार्थ का अस्थिर धर्म ही माना है।[2] अलंकार एक ओर भाषा की सौन्दर्य-वृद्धि करते हैं और इसी परंपरा से रस तथा भाव के उत्तेजन में भी सहायक होते हैं, परन्तु ये काव्य की अन्तरात्मा का स्थान ग्रहण नहीं कर सकते। काव्य के प्रत्येक वाक्य की अंतरात्मा भिन्न है और उस वाक्य में निहित अलंकार का स्वरूप भिन्न है। वाक्य-निर्मित काव्य की अन्तरात्मा के मुख्य तत्व तीन हैं--भाव, विचार और कल्पना। अलंकार इन तीनों की महत्ता को बढ़ा सकते हैं, परन्तु स्वयं इनका स्थान ग्रहण नहीं कर सकते--'वास्तव में काव्य की महत्ता इन्हीं के कारण प्रतिपादित तथा व्यंजित होकर स्थिरता धारण करती है। अलंकार इस महत्ता को बढ़ा सकते हैं, उसे अधिक सुन्दर बना सकते हैं, परन्तु भाव, विचार तथा कल्पना का स्थान नहीं ग्रहण कर सकते और न उनके आधिपत्य का विनाश करके उनके स्थान के अधिकारी हो सकते हैं।'[3] फलतः श्यामसुंदर दास जी ने अलंकारों को वर्णन करने की शैली मात्र कहा है, जब कि शुक्ल जी इन्हें 'वर्णन की प्रणालियाँ', 'कथन के ढंग' मात्र कहते हैं। इस प्रकार दोनों ही आचार्यों ने अलंकारों को काव्य के लिए अनित्य तथा बाह्य तत्व के रूप में मान्यता दी है।

अलंकार-अतिचार के विरुद्ध प्रतिक्रिया का चरम रूप श्री सुधांशु जी के अलंकार-विवेचन में मिलता है। निस्सन्देह इनका चिन्तन पर्याप्त गंभीर और व्यापक है। इनकी मान्यता में काव्य के कलापक्ष को पूर्णत्व प्रदान करना अलंकारों का मुख्य प्रयोजन है। भावपक्ष का उत्कर्ष बहुत कुछ कला-पक्ष के सौन्दर्य-वर्धन पर निर्भर रहता है। परन्तु कलापक्ष का सौन्दर्य-वर्धन भी एकांततः अलंकारों पर ही अवलंबित हो, यह अनिवार्य नहीं है। अलंकार तो साधन हैं, साध्य नहीं हैं। वे भाव 'प्रकाशन के भिन्न-भिन्न साँचे नहीं हैं वरन् भाव को तीव्र करने के साधन मात्र हैं। उनकी सार्थकता इसी में है कि वस्तु से पृथक् रहकर ही भावोत्तेजन में योग दें।[4]

जब सुधांशु जी ने अलंकारों की वस्तु या भाव से पृथक् सत्ता की स्वीकृति दी तब उन्होंने उन समस्त अलंकारों को अलंकार-तालिका से बहिष्कृत करने की

---

१. 'दुर्भाग्यवश हमारी हिन्दी कविता में अलंकारों को ही सब कुछ मान लिया गया है...इन्हीं के पठन-पाठन तथा विवेचन को कविता का सर्वस्व समझ रखा है।' साहित्यालोचन, पृ० २६० ।
२. साहित्यालोचन, पृ० २६१ ।
३. साहित्यालोचन, पृ० २६० ।
४. काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृ० ८६ ।

सम्मति दी है जो वस्तु या भाव से पृथक् अपने अस्तित्व को बनाये रखने में असमर्थ हैं। शुक्ल जी तथा श्यामसुन्दर दास जी ने वर्ण्यवस्तु-निर्देशक स्वभावोक्ति, उदात्त, अत्युक्ति आदि पाँच-छः अलंकारों की अलंकारिता का प्रत्याख्यान किया है,[1] परन्तु सुधांशु जी ने लगभग ४०-४२ अलंकारों को इसी कोटि में डाल दिया है।

काव्य की प्रत्येक उक्ति में स्वाभाविक रूप से चमत्कार निहित होता है। चमत्कार-हीन नितांत साधारण उक्ति में वस्तुतः काव्यत्व आना ही कठिन है। फिर प्रश्न उठता है कि क्या प्रत्येक उक्ति में निहित चमत्कार अलंकार है? यदि उक्तिमात्र में निहित चमत्कृति में अलंकार की सत्ता मान ली जाय तो अलंकारों की संख्या अमर्याद रूप से बढ़ जाएगी। इस पर सुधांशु जी की धारणा है: 'उक्ति में स्वाभाविक रूप से मिला हुआ जो चमत्कार आ जाता है उसके लिए अलंकार की संज्ञा अनुपयुक्त ही नहीं, उलझन बढ़ाने वाली भी है।'[2]

श्री सुधांशु अलंकारों को काव्य के लिए अनित्य साधन मानते हैं। अतः इन्होंने अलंकारों को 'भावोत्तेजन में कभी-कभी सहायक होने वाली योजना' कहा है। अलंकारों की स्थिति काव्य के वाच्य-अर्थ में ही इन्हें मान्य है न कि व्यंग्य अर्थ में। व्यंग्य-अर्थ में निहित सौन्दर्य भाव से सम्बद्ध सौन्दर्य है न कि आलंकारिक सौन्दर्य। उदाहरणार्थ, 'सीता का मुख चन्द्रमा के समान सुंदर है' इस वाक्य में जो कुछ है वह वाच्यार्थ है, लक्षणा और व्यंजना के लिए प्रकरण से भिन्न रह कर इसमें थोड़ी भी गुंजाइश नहीं। सीता के मुख की सुंदरता वस्तु है, और इसका बोध 'सीता का मुख सुंदर है' कहने से ही हो जाता है। किन्तु अप्रस्तुत-विधान के लिए चन्द्रमा को पकड़कर वाक्य में बैठाना पड़ता है—'सीता का मुख चन्द्रमा के समान सुंदर है।' इस प्रकार चन्द्रमा को उपमान के रूप में रखने से इस वाक्य में एक अतिरिक्त सौन्दर्य आ जाता है, इसी अतिरिक्त सौन्दर्य विधान को अलंकार कहते हैं।[3]

आ० शुक्ल ने 'अप्रस्तुत रूप-विधान' के प्रसंग में कल्पना का विवेचन अलंकारों

---

१. चिन्तामणि, प्र० भा० पृ० १८३, साहित्यालोचन, पृ० १६१-१६२।

२. 'इससे क्रोचे के 'उक्ति ही काव्य है' इस कथन का विरोध नहीं होता। काव्य में अलंकार की स्थिति अनिवार्य मानी जाती तो क्रोचे का विरोध संभव था। अलंकार को काव्य से पृथक् मानने में ही उसकी प्रतिष्ठा है।... भाव को तीव्र करने में कभी-कभी सहायक होने वाली योजना ही अलंकार है।' काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृ० ८७

३. काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृ० ८८।

की स्पष्टता के लिए किया है। इससे वे अलंकारों का सम्बन्ध कल्पना तत्व से भी स्थापित करते हैं।[1]

श्यामसुन्दर दास जी ने भाव, विचार तथा कल्पना इन तीन तत्वों में निहित महत्ता को बढ़ाने में सहायक तत्व के रूप में अलंकार-स्वरूप का विश्लेषण किया है। फिर भी उन्होंने कल्पना तत्व के साथ अलंकारों का घनिष्ठ सम्बन्ध प्रतिपादित किया है। श्री सुधांशु भी कल्पना तत्व से अलंकार का अटूट सम्बन्ध दर्शाते हैं 'जिस अलंकार विधान में कल्पना की सहायता नहीं रहती, उसमें अलंकारत्व मानने या मानने का दुराग्रह नहीं होना चाहिए। भाव की महत्ता स्वतंत्र रहने में ही है। कभी-कभी उसे अपनी स्थिति को तीव्र रूप में प्रकट करने के लिए कल्पना का आश्रय लेना पड़ता है और यहीं उसमें अलंकारत्व मिलता है।'[2] श्री सुधांशु ने अलंकार-विवेचन में अधिकांश बल अलंकारों को काव्य के बाह्य, अस्थिर, अनित्य और केवल कल्पना से सम्बद्ध तत्व के रूप में प्रतिपादित करने पर दिया है। इस प्रकार से इनका विवेचन अलंकारों की आंतरिकता के प्रत्याख्यान का यह चरम रूप है और उनकी बहिरंग-स्थिति के निर्देशन का आदर्श रूप भी है। क्योंकि इनकी मान्यता में कवि अलंकारों की तभी सहायता लेता है जब कि वह 'काव्य रचना में अपने मनोनुकूल भावों को पुष्ट नहीं कर सकता।'[3] अत: अलंकार का यथार्थ प्रयोजन है—'प्रभाव की क्षमता प्राप्त करना।' इनकी सार्थकता इसी में है कि वे भावों के प्रेषक या उत्तेजक बनें।

श्री सुधांशु ने अलंकारों की उत्पत्ति का मूल एक प्रकार से आवश्यकता जनित आविष्कार के रूप में माना है। इनके मत में अलंकार-अभाव-प्रसूत हैं। कवि जब कभी अपने भावों को प्रेषणीय बनाने में अथवा उनकी परिपुष्ट अभिव्य क्ति में असमर्थता अनुभव करता है, तब वह अलंकारों की सहायता लेता है।[4] प्रस्तुत चिन्तन एक दृष्टिकोण से उपयुक्त भी है। क्योंकि इनके अलंकार-विवेचन का मूल आधार इन्हें बाह्य साधनात्मक रूप में स्वीकृति देता है। यद्यपि शुक्लजी ने भी अलंकारों को बाह्य साधन ही माना है फिर भी उन्होंने अलंकारों के जन्म की कहानी कुछ निराले ढंग से कही है: 'सूक्ष्म दृष्टि वालों ने काव्य में सुंदर-सुंदर स्थल चुने और उनकी रमणीयता के कारणों की खोज करने लगे। वर्णन-शैली या कथन

---

१. रस-मीमांसा, ३५१-३५५।
२. काव्य में अभिव्यंजनावाद पृ० ८९।
३. वही, पृ० ९४।
४. काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृ० ९४।

की पद्धति में ऐसे लोगों को जो-जो विशेषताएँ मालूम होती गईं, उनका वे नामकरण करते गये।'[१] अलंकारों की उत्पत्ति में शुक्ल जी का चिन्तन आलोचक या सहृदय की दृष्टि पर आश्रित है और सुधांशु जी का मूलतः कवि की मनःस्थिति पर। चूँकि इस युग में अलंकारों को नितांत बाह्य साधनात्मक तत्व के रूप में मान्यता देने की एक प्रचण्ड प्रतिक्रियात्मक आँधी-सी चल पड़ी थी, अतः अलंकारोत्पत्ति में कवि की मनःस्थिति का विश्लेषण करते हुए भी सुधांशु जी ने उनकी आंतरिक स्थिति का विवेचन नहीं किया। कवि की भावनोद्दीपन की स्थिति में भाषा के साथ अलंकार भी अनायास ही जन्म लेते हैं। वे भावनोद्दीपन में निःसृत कवि-वाणी के अभिन्न अंग बन जाते हैं, इस तथ्य पर अपेक्षित प्रकाश नहीं डाला गया।

डा० नगेन्द्र ने अलंकारों की उत्पत्ति का पर्याप्त आंतरिक विश्लेषण किया है। इनकी मान्यता में 'मूलतः भावनोद्दीपन से अनायास ही वाणी भी उद्दीप्त और अलंकृत हो जाती है।'[२] जब हमारी भावना उद्दीप्त हो जायगी, तो हमारी वाणी भी आप से आप उद्दीप्त हो जायगी। भावना के उद्दीपन का मूल कारण है मन का ओज, जो मन को उद्दीप्त करता हुआ वाणी को भी उद्दीप्त कर देता है। मन के ओज का सहज माध्यम है आवेग और वाणी के ओज का सहज माध्यम है अतिशयोक्ति। इस प्रश्न को दूसरे प्रकार भी हल किया जा सकता है। हमारे अलंकार प्रेम की प्रेरक-प्रवृत्ति है आत्म-प्रदर्शन और प्रदर्शन में अतिशय का तत्व अनिवार्यतः होता है।'[३]

अलंकारोत्पत्ति एवं उनकी उपादेयता का प्रश्न मूलतः भामह-दण्डी-कुंतक तथा ध्वनि-रसवादी आचार्यों के दृष्टिकोण पर विचार करने के लिए प्रेरित करता है। इन्होंने स्पष्टतः दो दृष्टिकोण उपस्थित किये हैं। प्रथम दृष्टिकोण भामह-दण्डी-कुंतक का है, जिन्होंने 'वक्रता' या 'अतिशय' को सम्पूर्ण अलंकारों का प्राण-तत्व माना है। वक्रता ही काव्यार्थ के विभावन का मूल बीज है। अलंकार एक प्रकार से काव्य का नित्य तत्व है, कोई भी काव्यमयी उक्ति सामान्यतः अलंकार-हीन नहीं हो सकती। दूसरा दृष्टिकोण ध्वनि-रसवादी आनन्दवर्धन, मम्मट आदि का है, जो इससे नित त विपरीत है। वे अलंकार-रहित उक्ति में भी काव्यत्व की स्वीकृति देते हैं। डा० नगेन्द्र ने प्रस्तुत दोनों ही परस्पर विरोधी मान्यताओं का सामंजस्य पूर्ण विश्लेषण इस प्रकार से किया है: 'वास्तव में ये दोनों ही सिद्धान्त

---

१. चिन्तामणि, पृ० १८४।

२. रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ९०।

३. वही, पृ० ९०।

अपने-अपने ढंग से ठीक हैं। रसवादियों का यह सिद्धान्त कि रमणीयता मूलतः भाव के आश्रित है सर्वथा निर्भ्रान्त है, परन्तु भाव की रमणीयता, कोमलता, सूक्ष्मता, अथवा तीव्रता सर्वथा साधारण शब्दों द्वारा—बिना किसी प्रकार की वक्रता के—व्यक्त की जा सके, यह सम्भव नहीं। भाव के सौन्दर्य से उक्ति के सौन्दर्य में चमक आप से आप आ जाएगी। मनोवैज्ञानिक शब्दावली में कहें तो यह कह सकते हैं कि भाव का सौन्दर्य और उक्ति का सौन्दर्य दो सर्वथा भिन्न तत्व नहीं हैं। अनुभूति और अभिव्यक्ति में निश्चित पार्थक्य नहीं किया जा सकता।'[१]

वस्तुततः भावरमणीयता और उक्ति-रमणीयता का तत्वतः पार्थक्य कठिन है। परन्तु संस्कृत साहित्यशास्त्र में काव्योक्ति में नित्य रूप से स्थित अलंकार तत्व (रमणीय उक्ति तत्व) का भेद-उपभेद रूप में जितना ही अधिक विश्लेषण-विवेचन आरम्भ हुआ, उतना ही अधिक अलंकारों का स्वरूप बाह्य और अनित्य बनता गया। ध्वनि-रस-सिद्धान्त के प्रबल समर्थक अभिनवगुप्त इस तथ्य को स्पष्टतः स्वीकार करते हैं कि अलंकारों को काव्य से पृथक् नहीं किया जा सकता, वे उसके अभिन्न अंग हैं।[२] ऐसी स्थिति में भी कवि की काव्यरचना सामर्थ्य तथा सहृदय की काव्य-विवेचन सामर्थ्य की प्रतीति के लिए काल्पनिक ही सही, अलंकार-विभाजन का आश्रय लेना इनकी धारणा में आवश्यक हो जाता है। वस्तुतः जिन आचार्यों ने अलंकारों को जहाँ 'कटक-कुंडल' सदृश नितान्त बाह्य निरूपित किया है वहाँ वे रूपक के निर्वाह में अलंकारों की आंतरिक स्थिति के प्रति किंचित् दुर्लक्ष ही कर गये हैं। अभिनवगुप्त के समान कुंतक भी इसी तथ्य पर विशेष बल देते हैं।[३] ऐसी स्थिति में कुंतक, अभिनव गुप्त आदि आचार्य पाश्चात्य दार्शनिक क्रोचे की तात्विक मान्यता[४]—अलंकार और अलंकार्य का वर्ग-विभाजन अनुपयुक्त है—

---

१. रीति काव्य की भूमिका, पृ० ९० ।

२. दे० 'अलंकार सिद्धान्त की पूर्वपीठिका' पृ० ३०३ ।

३. हिन्दी वक्रोक्तिजीवित, पृ० १६ ।

४. One can ask oneself how an ornament can be joined toexpression. Externally ? In that case it must always remain separate. Internally. In that case either it does not assert expression and mars it or it does form part of it and is not an ornament but a constituent element of expression undistinguishable from the whole (Expression & Rhetoric-Croce)

का विरोध नहीं करते, बल्कि समर्थन ही करते हैं। परन्तु भारतीय आचार्यों ने व्यावहारिक धरातल पर इनका पार्थक्य इसलिए स्वीकार किया था कि काव्य-निर्माण और काव्य-मूल्यांकन में इनसे सहायता मिल सके। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि अलंकार भी काव्य में स्वभावतः नित्य और उसके अभिन्न अंग हैं। परन्तु जब इसे व्यावहारिक दृष्टि से पृथक् किया गया तब यह कवियों और काव्य-मूल्यांकनकर्ता आचार्यों को इतना स्पृहणीय लगा कि उन्होंने अपनी प्रतिभा का अधिकांश व्यय इन्हीं के निर्माण और प्रदर्शन में किया। फलतः जैसे-जैसे अलंकारों का काव्य में निर्माण और प्रदर्शन सप्रयत्न होने लगा, वैसे-वैसे उनका स्वरूप बाह्य बनता गया। क्योंकि भावोद्दीपन की मूल-प्रेरणा से वे दूर हटते गये।

अभिनव गुप्त ने काव्य-रचना और काव्यास्वाद दोनों में अलंकारों की उपादेयता का समर्थन किया है। अलंकारों को नितांत बाह्य तत्व के रूप में मान्यता देने वाले हिन्दी के पुनराख्याता विवेचकों ने उनकी रसानुभूति में सहायक आंतरिक स्थिति का अधिक विश्लेषण नहीं किया। श्री सुधांशु की मान्यता में 'अलंकार की सबसे बड़ी कसौटी यही है कि काव्य में हम किसी उक्ति व्यंजना की पूर्णता और बोधगम्यता पर ही ध्यान देते हैं, उसमें अलंकारत्व नहीं खोजते। उपमा है या नहीं, उत्प्रेक्षा हुई या नहीं, रूपक का निर्वाह हुआ या नहीं, इन प्रश्नों को लेकर व्यर्थ माथापच्ची नहीं करते'[1]। यद्यपि अलंकार रसास्वाद में अपने स्थूल व्यक्तित्व का भाव-राशि में विलय कर देते हैं फिर भी पाठक की रसमग्नता में वे किस प्रकार सहायता पहुँचाते हैं, इसका सूक्ष्म आंतरिक विश्लेषण अपेक्षित था जो डा० नगेन्द्र ने प्रस्तुत किया है। इन्होंने प्रथम रस-स्वरूप का स्पष्टीकरण किया है: 'रस मन की वह अवस्था है, जिसमें हमारी मनोवृत्तियाँ अन्वित हो जाती हैं' और इस रसानुभूति अथवा मनोवृत्तियों की अन्विति में साधर्म्यमूलक, अतिशयमूलक, वैषम्यमूलक, औचित्यमूलक, वक्रतामूलक तथा चमत्कारमूलक अलंकार किस प्रकार से योग देते हैं, इसका इन्होंने सोदाहरण सूक्ष्म विवेचन किया है।[2]

इस प्रकार अलंकारों का सम्बन्ध प्रथम कवि-मन के ओज से, फिर सहृदय की चित्तवृत्तियों की अन्विति से बिठा कर इनके सूक्ष्म आंतरिक स्वरूप का विश्लेषण करना हिन्दी के आधुनिक युग के अलंकार-विवेचन की अपनी विशेषता है। डा० गुलाब राय भी इसी दिशा में चिन्तन के लिए प्रवृत्त हुए हैं। जब तक अलंकार भीतरी उत्साह के द्योतक होते हैं तब तक तो वे शोभा के उत्पन्न करने वाले

---

१. काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृ० ८६।

२. रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ९७-९९।

या बढ़ाने वाले कहे जा सकते हैं किन्तु जब वे रूढ़ि या परंपरा मात्र रह जाते हैं, तभी वे भार रूप दिखाई देने लगते हैं ।[१]

इन्होंने अलंकारोत्पत्ति के मूल में कवि के ओज और उल्लास की नितांत अनिवार्यता का प्रतिपादन किया है । फलतः इन्हें कुंतक और क्रोचे की अलंकार तथा अलंकार्य से सम्बद्ध मान्यताएँ नितांत आत्यंतिक प्रतीत हुई हैं । इनके मत में कुंतक का अलंकार और अलंकार्य का एकांत पार्थक्य स्वीकार करना वैसे ही है मानो यह कहना कि 'तरंगें समुद्र की होती हैं और समुद्र तरंगों का नहीं होता ।' 'अलंकार और अलंकार्य का भेद मानते हुए भी हमें उसे बिल्कुल ऊपरी नहीं मानना चाहिए । वस्तु के भीतर की चीज़ भी उसका अलंकार हो उसकती है । जैसे, फूल वृक्ष के अलंकार कहे जा सकते हैं ।'[२] इन्होंने इसी फूल और वृक्ष के उदाहरण को क्रोचे की उक्ति के प्रत्याख्यान में भी प्रस्तुत किया है ।[३]

अलंकार-स्वरूप एवं उनकी उपादेयता पर प्रसाद, पंत तथा रामकुमार वर्मा ने भी अपने-अपने दृष्टिकोण से विचार किया है । श्री जयशंकर प्रसाद ने रस-स्वरूप विश्लेषण के प्रसंग में ही अलंकार तत्व का भी निरूपण किया है, उन्होंने संकल्पात्मक अनुभूति के अन्तर्गत 'रस' को तथा विकल्पात्मक मनन-धारा के अन्तर्गत अलंकार एवं अन्य रीति, वक्रोक्ति तत्वों को स्थान दिया है । भामह, दण्डी, वामन, उद्भट आदि आलंकारिकों को प्रसाद ने स्पष्टतः अभिव्यंजनावादी माना है ।[४] अलंकार तत्व का साध्य इनकी मान्यता में भी भावानुभूति कराने में ही योग देना है ।

श्री सुमित्रानंदन पंत के चिन्तन में भी रीतिकालीन अलंकार-अतिचार की प्रतिक्रिया स्पष्ट झलकती है । 'इनके मत में ब्रजभाषा के अलंकृत काल की अधिकांश कविता इसका उदाहरण है । अनुप्रासों की ऐसी अराजकता तथा अलंकारों का ऐसा व्यभिचार और कहीं देखने को नहीं मिलता । स्वस्थ वाणी में जो एक सौन्दर्य मिलता है उसका कहीं पता नहीं ।'[५] फलतः अलंकार-स्वरूप के

---

१. सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० ३४ ।

२. सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० ३५ ।

३. 'क्रोचे ने अलंकारों को अभिव्यक्ति का अंग और पूर्ण रूप से पृथक् न किये जाने योग्य कहा तो है, किन्तु वे फूल की भाँति अलग दिखाई दे सकते हैं ।' सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० ३५ ।

४. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ४२-४३ ।

५. पल्लव, भूमिका, पृ० १८ ।

विषय में इन्होंने स्पष्ट किया है कि अलंकार भावाभिव्यक्ति के विशिष्ट द्वार हैं, वे साधन या उपादान मात्र हैं साध्य नहीं हैं। इनसे भाषा में परिपुष्टि और भावों में परिपूर्णता आती है। इनसे विशिष्ट प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति में भी सहायता मिलती है। अतः अलंकार भावाभिव्यक्ति के भी उपयुक्त माध्यम हैं। जब केवल भाषा सौन्दर्य की अभि-वृद्धि के लिए इनसे सहायता ली जाती है, तब भावों का अस्तित्व महत्व हीन हो जाता है और साधन ही साध्य का स्थान ग्रहण कर लेता है। परिणामतः अलंकारों का प्रयोग अलंकार-प्रदर्शन के लिए बन जाता है जिससे काव्य-साम्राज्य में 'अराजकता' पैदा हो जाती है।[१]

प्रायः सभी आधुनिक अलंकार-विवेचकों ने अलंकारों को भाषा और भाव दोनों के सौन्दर्य-वर्द्धक तत्वों के रूप में मान्यता दी है। डा० रामकुमार वर्मा ने इन दोनों विशेषताओं के साथ ही एक अन्य तत्सम्बद्ध विशेषता का भी निरूपण किया है कि इनके द्वारा जीवन के कार्य-व्यापारों को आकर्षक बनाने में भी सहायता मिलती है।[२] अलंकार-प्रयोग में श्री वर्मा ने पाँच बातों की प्रमुखता का विवेचन किया है—

१. भाषा की परिष्कृत सृष्टि।
२. नाद-संसार की परिव्याप्ति।
३. चमत्कार प्रवणता।
४. मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण।
५. भाव-तीव्रता अथवा वस्तु-जगत् में प्रच्छन्न भाव को विभिन्न दृष्टि से उभार कर गति प्रदान करना।

श्री वर्मा ने अलंकार-प्रयोग में एक विशिष्ट अन्तर्दृष्टि का विवेचन किया है। इनके मत में 'स्थूलतः जहाँ अलंकार भाषा-परिष्कार करते हैं, वहाँ भाव-प्रयोजन की अन्तर्दृष्टि को भी सूचित करते हैं। जहाँ ये भाव-प्रयोजन में अन्तर्दृष्टि के सूचक होते हैं, वहाँ इनका सम्बन्ध मनोविज्ञान से समझना चाहिए।' किसी विशेष परि-स्थिति में वस्तु-विशेष को प्रकट करने की दृष्टि विशेष होती है और उसी दृष्टि का अभिज्ञान किसी विशिष्ट अलंकार का निर्धारण करने में होता है। इस प्रकार विविध परिस्थितियों में जितनी भी दृष्टियाँ प्रयुज्यमान होती हैं उतने ही अलंकारों की संभावनाएँ हमारे सामने आकर स्पष्ट हो जाती हैं। आवश्यकता इस बात की है कि ये दृष्टियाँ शब्द और अर्थ की दृष्टि से लालित्य का विस्तार करने वाली

---

२. पल्लव, भूमिका, पृ० १९।
३. **साहित्यशास्त्र, पृ० ११८।**

हों। फलतः इन्होंने अलंकारों के प्रयोग में मनोविज्ञान का सम्बन्ध इस प्रकार से निर्धारित किया है : 'मैं समझता हूँ कि जिन आचार्यों ने सर्वप्रथम अलंकारों की उपयोगिता समझी होगी, उन्होंने इसके अन्तर्गत मनोविज्ञान को अपने समक्ष अवश्य ही रखा होगा।' अतः इन्होंने अनेक अलंकारों के प्रयोग के मूल में निहित मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टियों का विवेचन किया है।[१] इनकी दृढ़ धारणा है कि 'अलंकार केवल काव्य को अलंकृत करने का उपकरण ही नहीं है, वरन् वस्तु या पात्र में निहित मनोवैज्ञानिक सौन्दर्य को स्पष्ट करने का साधन भी है।'[२]

इस प्रकार आधुनिक हिन्दी में अलंकारों के मूल में निहित मानव-मन की सौन्दर्यान्वेषिणी शक्तियों के अन्वेषण का प्रयत्न करके अलंकारों का मनोविज्ञान से भी सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है।

सारांश

आधुनिक हिन्दी के अलंकार-विवेचन में परंपरावादी तथा पुनराख्याता विवेचकों की धारणाओं में क्रमशः सूक्ष्मता आई है। परंपरानुयायियों ने प्रायः संस्कृत-आचार्यों की मान्यताओं का ही विशेष स्पष्टीकरण किया है, परन्तु आ० शुक्ल, श्री सुधांशु, डा० नगेन्द्र, डा०गुलाबराय आदि ने पाश्चात्यों की अलंकार-धारणाओं को दृष्टिगत रखते हुए उनके स्वरूप-निर्धारण का वैज्ञानिक विवेचन किया है। सामान्यतः सभी आधुनिक अलंकार-विवेचकों की धारणाओं में अलंकार काव्य का नितांत अनुपयोगी तत्व नहीं है। इसकी उपादेयता कवि तथा सहृदय दोनों की दृष्टियों से है।

---

१. 'रूपक का निर्धारण तन्मयता में हुआ होगा, इसके विपरीत उत्प्रेक्षा में कल्पना की प्रचुरता ने कार्य किया होगा। उपमा का निर्धारण रूपलिप्सा से प्रेरित होकर सादृश-मूलकता में स्थिर हुआ होगा, दीपक का निर्धारण अर्थलाघव की दृष्टि से हुआ होगा। अर्थान्तर न्यास में न्याय की दृष्टि प्रमुख रही होगी, विभावना में प्रलाप की अवस्था होगी, परिसंख्या में किसी वैयाकरण की दृष्टि काम कर रही होगी, यथासंख्य में किसी गणितज्ञ की प्रतिभा कार्य कर रही होगी, असंगति में कुतूहल का चमत्कार होगा, यमक और श्लेष एक ही मनोभाव की दो शाखाएँ रही होंगी, ... अप्रस्तुत प्रशंसा में किसी कूटनीतिज्ञ की कला काम कर रही होगी और एकावली में किसी ऐतिहासिक मनोवृत्ति की क्रमबद्धता का प्रभाव स्पष्ट हुआ होगा।' साहित्य शास्त्र, पृ० ११९।

२. वही, पृ० १२०।

कवि का साध्य आत्माभिव्यक्ति है। इसका साधन है भाषा। भाव-निमग्न कवि जब आत्माभिव्यक्ति के लिए प्रस्तुत होता है, तब भाषा जिस प्रकार से भावानुगामिनी बनकर अनायास फूट पड़ती है, उसी प्रकार अलंकार भी जन्म लेते हैं। भाषा और भाव का जैसा अविच्छिन्न संबन्ध है, उसी प्रकार अलंकार और भाव का भी। इसीलिए शुक्लजी से लेकर गुलाबराय तक प्रायः सभी ने अलंकारों के मूल में कवि-मनोभाव या उसके हृदय के उल्लास की प्रेरणा को अनिवार्य ठहराया है। कतिपय अलंकारों का सम्बन्ध मूलतः भाव-प्रेरणा से नहीं है, वे या तो वर्ण्य-विन्यास के क्रम को सुझाते हैं या बौद्धिक श्रम के प्रतीक मात्र हैं। फलतः विशिष्ट भाव-हीन, शब्दाडंबर पूर्ण भाषा जिस प्रकार काव्य के लिए भार रूप है, उसी प्रकार के अलंकार भी हैं। वस्तुतः कोई भी भावमग्न कवि या कलाकार अलंकार-योजना से असम्पृक्त रहे, यह असम्भव है। भारतीय अलंकारों का विकास इतना अधिक हो गया है कि वे कवि की भावना, विचार, तथा कल्पना तीनों के क्षेत्र में व्याप्त हो गये हैं। जहाँ कवि भावोद्दीपन में अनायास ही इनका प्रयोग करता है वहाँ वे अलंकार सीधे भाव से सम्बद्ध हैं, और जहाँ इनका सप्रयत्न प्रयोग होता है वहां वे कल्पना और विचार तत्व की अधिक परिपुष्टि करते हैं। हिन्दी में कवि-मानस के विश्लेषण के साथ सहृदय की रसास्वादकालीन चित्तवृत्तियों का भी विश्लेषण अलंकार-स्वरूप की यथावत् प्रतीति के लिए किया गया है और इसकी उपादेयता की मीमांसा भी दोनों को दृष्टिगत रख कर की गई है।

अलंकार-वर्गीकरण

हिन्दी में अलंकार-वर्गीकरण का अपेक्षाकृत कम प्रयत्न हुआ है। संस्कृत साहित्यशास्त्र में ४ अलंकारों से बढ़ते हुए १२४ अलंकार बन गये। आधुनिक हिन्दी साहित्य के लिए इनमें से कितने अलंकार उपयोगी हो सकते हैं और शेष अनुपयोगी अलंकारों का किस आधार पर परित्याग किया जाय, एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। अलंकार-वर्गीकरण भी आरम्भ में भरत के समय केवल एक—'वाणी के अलंकार' नाम से प्रचलित था। तदुपरान्त शब्द और अर्थ दो वर्ग बने और रुद्रट तक अलंकारों के नौ वर्ग बन चुके हैं। संस्कृत में अलंकार-संख्या की वृद्धि और उनके वर्गों की वृद्धि भी लगभग साथ-साथ होती गई है। परन्तु हिन्दी में अलंकार-संख्या के समान उनके वर्गीकरण के संकोच-विस्तार का अपेक्षित विस्तृत विवेचन नहीं हुआ है। आधुनिक युग के लेखकों में श्री कन्हैयालाल पोद्दार तथा डा० रसाल ने अलंकार-वर्गीकरण पर किंचित् प्रकाश डाला है। शेष लेखकों ने प्रायः शब्दालंकार, अर्थालंकार इन दो ही वर्गों का निरूपण किया है। किसी-किसी ने 'उभयालंकार' भी एक पृथक् वर्ग-सा मान लिया है। शब्दालंकार तथा उभयालंकार वर्ग

में कितने अलंकारों को स्थान दिया जाय, इस विषय में मतैक्य नहीं है। श्री मुरारि-दान ने शब्दालंकारों में केवल एक––अनुप्रास––को स्थान दिया है और अर्थालंकार वर्ग में उपमा आदि ८० अलंकारों की गणना की है तो श्री जगन्नाथ प्रसाद भानु ने कुवलयानंद का आधार लेकर शब्दालंकार वर्ग में आठ, अर्थालंकार वर्ग में पूरे १०० तथा उभयालंकार में संकर-संसृष्टि को स्थान दिया है। श्री भगवानदीन ने शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों की संख्या और अधिक बढ़ा दी है। प्रथम वर्ग में १० अलंकारों की तो द्वितीय में १०८ अलंकारों की गणना की है, लेकिन उभया-लंकार वर्ग में दो––संकर-संसृष्टि––ही अलंकार हैं। श्री कन्हैयालाल पोद्दार ने 'प्राक्कथन' में रुय्यक के अलंकार-वर्गीकरण का विस्तृत उल्लेख तो किया है, परन्तु अलंकार-संख्या में रुय्यक का अनुसरण नहीं किया है। रुय्यक ने ६ शब्दालंकार और ७५ अर्थालंकार दिये हैं, परन्तु पोद्दार जी ने ६ शब्दालंकार और पूरे १०० अर्थालंकारों का निरूपण किया है। संकर-संसृष्टि इनसे पृथक् ही हैं। श्री पोद्दार के अनुसार संकर और संसृष्टि तो प्रायः सभी अलंकारों के हो सकते हैं।[1] इन्होंने अलंकारों के भेद-उपभेद के प्रपंच को भी अनावश्यक विस्तार दे दिया है। अतिश-योक्ति के नौ भेद दिये हैं तो व्यतिरेक के २४ भेद।[2] इसी प्रकार के भेद-उपभेदों का प्रपंच-विस्तार इन्होंने रूपक, उत्प्रेक्षा, अपह्नुति आदि अलंकारों के विवेचन में भी कर दिया है। इससे संस्कृत-अलंकार शास्त्र को हिन्दी में अवतरित करने का ही महत्व हो सकता है, परन्तु आधुनिक हिन्दी काव्य-शास्त्र के लिए इन सब की उपादेयता संदेहास्पद है। श्री अर्जुनदास केडिया अलंकारों की संख्या के विस्तार में दीन जी से आगे नहीं बढ़ सके, इन्होंने शब्दालंकारों में आठ और अर्थालंकारों में १०० अलंकारों की गणना की है। इसमें सम्पूर्ण अलंकारों के पुनर्वर्गीकरण का कोई प्रयत्न नहीं है, परंपरागत वर्गों का ही उल्लेख है। बिहारीलाल भट्ट ने शब्दालंकारों की संख्या दीन जी के समान १० ही रखी है, परन्तु विवेचन-क्रम अकरादि वर्ण-माला से है। शेष विवेचन में कोई नवीनता नहीं है। इन सब परंपरानुयायी अलंकार-विवेचकों की तुलना में डा० रसाल ने अलंकार-वर्गों का सर्वाधिक विस्तृत निरूपण किया है। इन्होंने प्रथम संस्कृत आचार्यों में से दंडी, वामन, रुद्रट, रुय्यक, विद्यानाथ तथा कुंतक के उन विशिष्ट दृष्टिकोणों का उल्लेख किया है, जो उनके अलंकार-वर्गीकरण के मूल में निहित हैं। तदुपरान्त इन्होंने हिन्दी के रीतिकालीन आचार्य केशवदास, मतिराम, भूषण, भिखारीदास, जसवन्तसिंह आदि के विशिष्ट अलंकार-

---

१. **अलंकारमंजरी, पृ० ४३६।**

२. **वही, पृ० १९८ और २३०।**

वर्गीकरण का उल्लेख किया है और जसवन्त सिंह, पद्माकर, लच्छिराम, दूलह के विवेचन का आधार कुवलयानंद को ठहराया है। अब तक के उपलब्ध अलंकार-वर्गीकरणों की संख्या दस है।[1]

डा० रसाल ने शब्दालंकारों के भी दो वर्ग सुझाये हैं––१. आवृत्ति-मूलक शब्दालंकार, २. वर्णकौतुक या चित्ररूप शब्दालंकार। प्रथम वर्ग के भी तीन उपवर्ग सुझाये हैं––

(क) वर्णावृत्ति सम्बद्ध––(ख) पदावृत्ति सम्बद्ध (ग) शब्दावृत्ति सम्बद्ध।[2]

संभवतः अर्थालंकारों के वर्ग-उपवर्ग के प्रपंच को देख कर डा० रसाल ने शब्दालंकारों में भी वर्ग-उपवर्ग सुझाये हैं। यह प्रयत्न श्रम-साध्य अवश्य है, परन्तु आधुनिक काव्य-शास्त्र के लिए इसे महत्वपूर्ण देन नहीं कहा जा सकता। अधिकांश पुनराख्याता विवेचकों ने अलंकारों के भेद-उपभेदों के गोरखधंधे को आधुनिक काव्यशास्त्र के लिए विशेष उपादेय नहीं माना है।

उभयालंकार एवं मिश्रालंकार वर्गीकरण

डा० रसाल ने अलंकार-वर्गीकरण में शब्दालंकारों के दो मुख्य वर्ग सुझाने के अतिरिक्त उभयालंकार से भिन्न एक अन्य वर्ग––'मिश्रालंकार' की स्वीकृति पर बल दिया है। 'उभयालंकार'––संकर-संसृष्टि––से भिन्न 'मिश्रालंकार' वर्ग को पृथक् मान्यता देना दो विशेष कारणों से इन्होंने आवश्यक माना है। एक यह कि उभयालंकार वर्ग के दोनों अलंकार संकर-संसृष्टि मिल कर नवीन रूप धारण नहीं करते और इन दोनों का सम्बन्ध शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों से होता

---

१. (१) शब्दालंकार
(२) अर्थालंकार
(३) शब्दार्थालंकार (मिश्र या उभयालंकार)
(४) रस सम्बन्धी अलंकार
(५) भाव संबंधी अलंकार
(६) ध्वनि और व्यंग्य सम्बन्धी अलंकार
(७) तर्क-न्याय मूलक अलंकार (प्रमाणालंकार भी)
(८) विज्ञान सम्बन्धी (कार्य-कारण सम्बन्धी) अलंकार।
(९) संकर } अलंकार समष्टि।
(१०) संसृष्टि }

अलंकार पीयूष, पृ० १३७।

२. अलंकार पीयूष, पृ० १३८।

है, परन्तु मिश्रालंकार वर्ग में स्थित अलंकारों का सम्बन्ध एकांततः अर्थालंकारों से है। दूसरी विशेषता मिश्रालंकार वर्ग के अलंकारों की यह है कि वे जब आपस में मिलते हैं तो उन्हें एक नवीन रूप प्राप्त होता है।[१] वस्तुतः यदि दो अर्थालंकारों का रसायन होकर उसे एक नवीन रूप प्राप्त होता है तो उसे अर्थालंकार वर्ग के अन्तर्गत ही एक नवीन नाम दिया जाय, पृथक् मिश्रालंकार वर्ग बनाने की आवश्यकता ही क्या है? यदि उभयालंकारवर्ग के अलंकारों––संकर-संसृष्टि––का क्षेत्र शब्दालंकार तथा अर्थालंकार तक व्यापक है तो केवल अर्थालंकारों तक ही सीमित क्षेत्र रखने वाले मिश्रालंकारों का पृथक् वर्ग बनाने में कोई विशेष हेतु दिखाई नहीं देता। इसके अतिरिक्त मिश्रालंकार की परिभाषा भी वैज्ञानिक नहीं बन सकी, क्योंकि इसके अपवाद रूप मिल ही जाते हैं। 'श्लेषोपमा' में शब्दालंकार की भी स्थिति आ ही आती है। अतः विशुद्ध अर्थालंकारों के मिश्रण से बना पृथक् 'मिश्रालंकार वर्ग' अनावश्यक उलझन बढ़ाने वाला है। अलंकारों के मिश्रण पर व्यापक दृष्टि से विचार करें तो वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति अर्थालंकार तो प्रायः सभी अलंकारों के मूल में रहते हैं। यदि दो अर्थालंकारों के मिश्रण में दोनों अंश प्रधान रहते हैं तो वस्तुतः वहाँ दो पृथक् अलंकारों की स्थिति ही माननी चाहिए, यदि दोनों मिलकर नितांत नवीन रूप ग्रहण करते हैं तो एक नया अर्थालंकार बन जाएगा, अन्यथा संकर-संसृष्टि का क्षेत्र तो पर्याप्त व्यापक ही है। डा० नगेन्द्र ने भी मिश्रालंकार को उभयालंकार से पृथक् वर्ग मानने का प्रत्याख्यान किया है।[२]

मिश्रबन्धुओं ने परंपरागत उभयालंकार वर्ग के संकर-संसृष्टि को ही मिश्रालंकार वर्ग में रखा है।[३] उन्होंने 'मिश्रालंकार' वर्ग के नामकरण के औचित्य-अनौचित्य पर प्रकाश नहीं डाला। संभवतः संकर-संसृष्टि अलंकारों को 'उभयालंकार' वर्ग में रखने में इन्हें कतिपय हिन्दी-लेखकों की भ्रांति प्रतीत हुई हो, अतः इसे इन्होंने 'मिश्रालंकार' नाम दे दिया है और 'उभयालंकार' वर्ग पर कुछ भी नहीं लिखा। श्री रामदहिन मिश्र को संकर-संसृष्टि के लिए न तो 'उभयालंकार वर्ग' नाम उपयुक्त लगा और न 'मिश्रालंकार'। इसके लिए इन्होंने नया वर्ग-नाम सुझाया है 'सम्मिलितालंकार'। इन्होंने 'उभयालंकार' वर्ग में संकर-संसृष्टि की गणना करने का प्रत्याख्यान किया है। इनके मत में जब संसृष्टि शब्दालंकारों की होती है तब वह उभयालंकार कैसे कहा जा सकता है, क्योंकि उसमें अर्थालंकार तो होता नहीं।

---

२. अलंकार पीयूष, पृ० १६३।
२. रीति काव्य की भूमिका, पृ० १६७।
३. साहित्य पारिजात, पृ० ९८ और ४८७।

अतः अलंकारों का जहाँ सम्मिश्रण हो उसे सम्मिलित व संयुक्त अलंकार ही कहना उपयुक्त है ।[1]

श्री रामदहिन मिश्र का कथन असंदिग्ध रूप से सही है । संस्कृत आचार्यों ने 'उभयालंकार' उन अलंकारों के लिए कहा है, जो शब्दालंकार भी बन जाते हैं और अर्थालंकार भी । जैसे वक्रोक्ति, श्लेष, पुनरुक्तवदाभास आदि । आचार्य मम्मट, काव्यप्रदीपकार गोविन्द आदि ने पुनरुक्तवदाभास को स्पष्टतः 'उभयालंकार' कहा है ।[2]

'उभयालंकारों' में शब्दालंकारत्व और अर्थालंकारत्व का गुण विद्यमान होता है, वे अपना उभयात्मक स्वरूप रखते हैं । अतः उभयालंकार कहलाते हैं । इनमें शब्दालंकारत्व और अर्थालंकारत्व का गुण मिला रहता है, अतः सम्मिश्रण तो इनमें भी है, परन्तु संकर-संसृष्टि अलंकारों का स्वरूप और श्लेष, वक्रोक्ति, पुनरुक्तवदाभास का स्वरूप मूलतः भिन्न है । 'संकर' में तो केवल अनेक शब्दालंकारों का भी सम्मिश्रण संभव है, परन्तु 'उभयालंकार' वर्ग के पुनरुक्तवदाभास आदि का स्वरूप उससे भिन्न है । उभयालंकारों में अनिवार्यतः शब्द तत्व और अर्थ तत्व का सौन्दर्य एक में ही समाहित रहता है ।

हिन्दी में संकर-संसृष्टि को 'उभयालंकार' वर्ग में रखने की भ्रांति आरम्भ से ही चल पड़ी है । श्री जगन्नाथ प्रसाद भानु ने 'उभयालंकार' वर्ग की परिभाषा दी है—'जिस पद्य' पाद अथवा वाक्य में एक से अधिक अलंकारों का समावेश हो वही उभयालंकार है, फिर चाहे उन समावेशित अलंकारों में शब्दालंकार हों चाहे अर्थालंकार हों और चाहे दोनों के सम्मिलित क्यों न हों पर उसकी उभयालंकार ही संज्ञा है ।'[3] अतः इन्होंने उभयालंकार के अन्तर्गत संकर-संसृष्टि अलंकारों का निरूपण किया है । वस्तुतः संस्कृत आचार्यों की उभयालंकार परिभाषा ही भिन्न थी । प्राचीन आचार्यों ने संकर-संसृष्टि को उभयालंकार वर्ग में नहीं रखा है । भामह, दण्डी, वामन ने 'संसृष्टि' रुद्रट ने 'संकीर्ण', उद्‌भट ने 'संकर' संज्ञा का उल्लेख करके संकर-संसृष्टि दोनों अलंकारों का निरूपण किया है । उन्होंने इन दोनों के लिए नया वर्ग-विशेष बना कर नाम नहीं दिया है । कोई 'संसृष्टि' शब्द द्वारा, कोई 'संकीर्ण' शब्द द्वारा तो कोई 'संकर' शब्द द्वारा एक से अनेक अलंकारों के मिश्रण को प्रकट कर रहा है, 'उभय' शब्द द्वारा किसी प्राचीन संस्कृत आचार्य ने संकर-

---

१. **काव्यदर्पण, पृ० ४२३ ।**

२. **काव्यप्रकाश, ९।३९१ तथा काव्य प्रदीप ९९**

३. **काव्य प्रभाकर, पृ० ४७२ ।**

संसृष्टि का वर्गीकरण संभवतः नहीं सुझाया है।

मिश्रबन्धुओं ने २४ अलंकारों का विवेचन किया है, इनके पारस्परिक सूक्ष्म अंतर को भी समझाया है। साथ ही उन्होंने अलंकार-वर्गीकरण का भी प्रयत्न किया था परन्तु जब वर्गीकरण के चक्र-व्यूह में फँस कर निकलना उन्हें कठिन प्रतीत हुआ तो उन्होंने इस प्रयत्न को छोड़ देने की स्पष्टतः स्वीकृति दी है।[1]

श्री रामदहिन मिश्र ने बिना किसी सूक्ष्म-विवेचन के समस्त अलंकारों को तीन वर्गों में विभाजित करने का सुझाव दिया है।[2] १. अप्रस्तुत वस्तु योजना के रूप में आने वाले अलंकार—उपमा, उत्प्रेक्षा रूपक आदि। २. वाक्य वक्रता के रूप—व्याज स्तुति, समासोक्ति आदि। तथा ३. वर्ण-विन्यास के रूप—अनुप्रास आदि। मिश्र जी का प्रस्तुत अलंकार-वर्गीकरण सूचनात्मक है, वैज्ञानिक-विश्लेषण से इसकी सार्थकता सिद्ध नहीं की गई है।

आधुनिक युग के कतिपय पुनराख्याता अलकार-संख्या की अमर्याद वृद्धि के विरुद्ध हैं, अतः इन्होंने अलंकारों के वर्ग-उपवर्गों की वृद्धि का भी प्रतिषेध किया है। प्राचीन अलंकार-वर्गीकरण का प्रत्याख्यान किये बिना भी कतिपय लेखकों ने निजी सुझाव प्रस्तुत किये हैं। डा० श्यामसुंदर दास ने शब्दालंकार, अर्थालंकार तथा उभयालंकार तीन वर्गों का उल्लेख किया है। इन्होंने शब्दालंकारों में वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष तथा चित्र का अन्तर्भाव किया है।[3] अर्थालंकार वर्ग के प्रसंग में इन्होंने स्पष्ट लिखा है कि 'अर्थालंकारों की संख्या का तो ठिकाना ही नहीं है।' फलतः इन्होंने अलंकारों का सम्बन्ध मूलतः कल्पना तथा बुद्धितत्व से स्थापित करके इनके मूल में निहित अंतःसूत्र का अन्वेषण किया है। मानव मन तीन प्रकार की प्रज्ञात्मक शक्तियों से प्रभावित होता है। वे शक्तियाँ हैं—साम्य, विरोध और सान्निध्य। इन तीन प्रज्ञात्मक शक्तियों के आधार पर समस्त अलंकारों के वर्गीकरण का इन्होंने सुझाव दिया है। परन्तु साम्य-मूलक, विरोधमूलक तथा सान्निध्य-मूलक वर्गों में कौन-कौन से और कितने अलंकारों का अन्तर्भाव किया जाय, इसका

---

१. 'अलंकारों के वर्गीकरण का भी प्रयास किया गया है और हमने भी इस पर श्रम किया था, किन्तु यह ठीक बैठता नहीं, क्योंकि एक अलंकार के विविध भेद और कहीं कहीं वही अलंकार पृथक् वर्गों में पड़ने लगते हैं।' साहित्य पारिजात, पृ० ९९

२. 'हमारे मत से अलंकार तीन श्रेणियों में बाँटे जा सकते हैं,' काव्यदर्पण, पृ० ३२३।

३. साहित्यालोचन, पृ० २६१-६२।

अपेक्षित विवेचन इन्होंने नहीं किया। इनका प्रज्ञात्मक शक्तियों के आधार पर निरूपित अलंकार-वर्गीकरण प्रो० बेन के अलंकार-वर्गीकरण पर आधारित है।[१]

डा० नगेन्द्र ने संस्कृत आचार्यों के तथा पाश्चात्यों के अलंकार-वर्गीकरण का निरूपण किया है। रुद्रट, रुय्यक, विद्याधर, विश्वनाथ, विद्यानाथ के अलंकार-वर्गीकरण के आधारों का निरूपण करने के उपरान्त, पाश्चात्यों के साधर्म्य, सम्बन्ध, अंतर, कल्पना, वक्रता तथा ध्वनि (नाद) मूलक आधारों का प्रतिपादन किया है। इनकी मान्यता में न तो संस्कृत आचार्यों का अलंकार वर्गीकरण सर्वथा संगत है और न पाश्चात्यों का वर्गीकरण ही सर्वथा पूर्ण है। संस्कृत में मूलतः अनेक अलंकारों का स्वरूप ही सर्वथा अस्पष्ट है तो उनका वर्गीकरण कितना वैज्ञानिक बन सकता था। पाश्चात्यों ने कल्पना को भी अलंकार-वर्गीकरण का आधार माना है, वस्तुतः कल्पना के आश्रित तो सभी अलंकार हैं।'[२]

डा० नगेन्द्र ने अलंकारों की मूल प्रेरणा 'भावोद्दीपन' को माना है। भावोद्दीपन का मूल कारण है—मन का ओज, जिससे वाणी भी उद्दीप्त हो जाती है। उद्दीप्त वाणी का सहज माध्यम है अतिशयोक्ति। अतः इन्होंने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति को अलंकारों का मूल आधार स्वीकार किया है।[३] और व्यावहारिक धरातल पर अलंकारों के स्पष्टता, विस्तार, आश्चर्य, अन्विति, जिज्ञासा, कुतूहल आदि छः मनोवैज्ञानिक आधारों तथा उनके छः मूर्त रूपों—साधर्म्य, अतिशय, वैषम्य, औचित्य, वक्रता, चमत्कार आदि का उल्लेख किया है। इन्होंने अलंकारों के मनोवैज्ञानिक आधार, उनके मूर्तरूप तथा उनमें 'अन्तर्भूत' अलंकारों का भी विस्तृत निरूपण किया है।[४]

इस प्रकार हिन्दी में अलंकार-वर्गीकरण के अभिनव प्रयत्न हुए हैं। परंपरानुयायी लेखकों ने संस्कृत के अलंकार-वर्गीकरण का ही विशेषतः आश्रय लिया है। नवीनता की दृष्टि से डा० रसाल ने मिश्रालंकार वर्ग सुझाया है, परन्तु यह वर्ग महत्वहीन है। श्री रामदहिन मिश्र ने बहुत ही चलता-सा वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। श्री श्यामसुंदर दास ने अलंकार-वर्गीकरण के मूल में प्रज्ञात्मक शक्तियों के तीन साम्य, विरोध तथा सान्निध्य भेदों का स्पष्टतः सुन्दर विवेचन किया है,

---

१. दे० इसी प्रबन्ध में : यूरोपीय अलंकार-संख्या और उनका वर्गीकरण तथा हिन्दी और मराठी में पाश्चात्य अलंकारों का अध्ययन, पृ० ३८४।
२. रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ९३-९४।
३. वही, पृ० ९४।
४. वही, पृ० ९४।

परन्तु इन तीन वर्गों में अन्तर्भूत अलंकारों का तनिक भी निर्देश नहीं किया गया है। इनका यह वर्गीकरण प्रो० बेन के अलंकार-वर्गीकरण पर आधृत है। डा० नगेन्द्र का अलंकार-वर्गीकरण निस्सन्देह सूक्ष्म और व्यापक है। वस्तुतः स्वीकृत अलंकार-वर्गों में कितने अलंकारों का अन्तर्भाव किया जाय, इस प्रश्न का समाधान अलंकार-संख्या के सुनिश्चित निर्धारण पर अवलंबित है। आधुनिक काव्यशास्त्र के लिए प्राचीन अलंकारों में से कितने ग्राह्य हो सकते हैं और शेष अलंकारों का परस्पर अन्तर्भाव अथवा उनका नितांत परित्याग किस आधार पर किया जाय, इसका सूक्ष्म एवं व्यापक विवेचन अपेक्षित है। इस विषय में भी आधुनिक हिन्दी-काव्यशास्त्र में स्वल्प प्रयत्न हुआ है।

अलंकार-सख्या : संकोच और विस्तार

आधुनिक काव्यशास्त्र के समक्ष परंपरागत अनेक अनुपयोगी अलंकारों के बहिष्कार, उपयोगी अलंकारों की स्वीकृति तथा अभिनव अलंकारों के आविष्कार का महत्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित है। संस्कृत साहित्यशास्त्र में अलंकार-संख्या की वृद्धि के साथ उनके पारस्परिक अन्तर्भाव की प्रवृत्ति भी दिखाई देती है, परन्तु अन्तर्भाव की तुलना में अलंकारों के नव-आविष्कार की प्रवृत्ति अधिक उग्र थी। फलतः वहाँ अलंकार-संख्या की गणना ही एक प्रकार से कठिन हो चुकी है।

हिन्दी में अलंकार-संख्या के संकोच-विस्तार का अधिक प्रयत्न नहीं हुआ है। चूँकि संस्कृत में ही अलंकार-संख्या की असीम वृद्धि हो चुकी थी, अतः पुनः नवीन अलंकारों के आविष्कार या विस्तार का प्रयत्न-विशेष न होना स्वाभाविक ही है। फिर भी परंपरानुयायी लेखकों में श्री मुरारिदान ने १८ परंपरागत अलंकारों का अन्य अलंकारों में अन्तर्भाव सुझाया है और १३ नवीन अलंकारों की उद्भावना की है। इन्होंने अलंकार-विवेचन में पिष्ट-पेषण से अरुचि प्रकट की है,[१] अतः इन्होंने विभिन्न अलंकारों के लक्षण, उनकी संख्या के संकोच एवं विस्तार में भी मौलिकता दिखाने का प्रयत्न किया है। अन्य अलंकारों में अन्तर्भूत १८ अलंकारों के नाम हैं—अत्युक्ति, अनन्वय, अनुगुण, अर्थान्तिर न्यास, असंगति, आशी, उन्मीलित, उपमेयोपमा, परिकरांकुर, पुनरुक्तवदाभास, प्रतीप, प्रस्तुतांकुर, प्रौढोक्ति, ललित, व्याजनिंदा, व्याजोक्ति, विभावना और विशेषोक्ति। इनके नवोद्भावित

---

१. ....संस्कृत और भाषा में अलंकारों के ग्रन्थ अनेक हैं, पिष्ट-पेषण तो व्यर्थ है, कोई नवीन युक्ति निकालनी चाहिए कि जिससे विद्वानों को इस ग्रन्थ के अवलोकन की रुचि होवे और विद्यार्थियों को इस ग्रन्थ के पढ़ने से विलक्षण लाभ होवे।' 'जसवंत भूषण', प्रस्तावना, पृ० ३।

अलंकारों के नाम हैं : अतुल्ययोगिता, अनवसर, अपूर्वरूप, अप्रत्यनीक, अभेद, अवसर, आभास, नियम, प्रतिभा, मिष, विकास, संकोच और संस्कार। इनमें अतुल्ययोगिता, अपूर्वरूप तथा अप्रत्यनीक तो पूर्व स्वीकृत अलंकारों के विपरीत रूप हैं। अवसर तथा अनवसर और संकोच तथा विकास स्व-स्वीकृत अलंकारों के ही परस्पर विपरीत रूप हैं। शेष छः अलंकारों में से अभेद का 'अभेद रूपक' अलंकार से साम्य-सा है, तथा नियम का परिसंख्या अलंकार से। शेष आभास प्रतिभा, मिष और संस्कार अलंकार यद्यपि किसी के विपरीत प्रतीत नहीं होते फिर भी अन्य नवोद्भावित अलंकारों के समान इनमें कोई विशेष सौन्दर्य नहीं है। वस्तुतः मुरारिदान में प्रतिभा भी थी और अलंकारों के नवोद्भावन की अदम्य लालसा भी, परन्तु युग-प्रभाव ही ऐसा था कि अलंकारों के मूल में भाव-प्रेरणा या भावोद्दीपन के महत्व को प्रश्रय नहीं दिया गया था। फलतः इनके सभी नवोद्-भावित अलंकारों की आधुनिक काव्यशास्त्र के लिए उपयोगिता सन्देहास्पद है। इनमें कतिपय तो न शब्द-सौन्दर्य की वृद्धि करते हैं और न अर्थ-सौन्दर्य की ही। यद्यपि इन सभी नव-आविष्कृत अलंकारों का अन्तर्भाव अर्थालंकार में ही इन्होंने किया है। उदाहरणार्थ, 'विकास' अलंकार की परिभाषा है—'पसरना' और इसमें निहित सौन्दर्य (?) का मूल्यांकन निम्न उदाहरण से किया जा सकता है—

सर सरिता गिरि सिंधु सौं, रुकत नहिं दिन रात।
जस भूपत जसवन्त कौ, जग में परसत जात।।

लगभग यही स्थिति प्रायः सभी नव-आविष्कृत अलंकारों की है! मुरारिदान ने अलंकार-परिभाषा और उनके स्वरूप पर गम्भीर चिन्तन अवश्य किया है, परन्तु इनकी चिन्तन-प्रणाली परंपरावादी है, वैज्ञानिक नहीं है। इन्होंने न तो अलंकारों के अन्तर्भाव के मूल में कोई सुदृढ़ आधार भूमि प्रस्तुत की है और न नव-आविष्कार के पीछे कोई मनोवैज्ञानिक प्रेरणा या भावनोत्कटता निरूपित की है।

यद्यपि जगन्नाथ प्रसाद भानु की प्रवृत्ति न अलंकारों के अन्तर्भाव की रही है और न नव-आविष्कार की, फिर भी इन्होंने अपह्नुति के भेदों में परिहासापह्नुति का निर्देश किया है, यह भ्रान्तापह्नुति का ही एक उपभेद है। इनमें परंपरापालन की ही विशेष प्रवृत्ति रही है, नवीनता के प्रति विशेष आग्रह नहीं है। उदाहरणार्थ, भानु जी की निजी मान्यता में पदार्थावृत्ति दीपक अलंकार अर्थालंकार नहीं है, शब्दालंकार है, क्योंकि इसमें पद की आवृत्ति होती है, परन्तु परंपरापालन के आग्रह से इन्होंने इसका अर्थालंकार-वर्ग में ही निरूपण कर दिया है।[1] भानु जी

---

१. काव्य प्रभाकर, नवम मयूख, पृ० ५२२।

के समान श्री भगवानदीन भी अलंकार-विवेचन में नवीनता नये-नये, अधिक से अधिक उदाहरण प्रस्तुत करने में ही समझते थे न कि प्राचीन अलंकारों के संकोच और विस्तार में। श्री अर्जुनदास केडिया भी परंपरावादी अलंकार-विवेचक हैं, अतः इनसे भी नवीनता का आग्रह करना व्यर्थ है। श्री उत्तमचंद भंडारी ने अपने 'अलंकार आशय' ग्रन्थ में 'बैण सगाई' नामक नवीन अलंकार का उल्लेख किया था, श्री केडिया ने भी भारतीभूषण में इसका निरूपण कर दिया है।[१] इन्होंने बैण सगाई को अनुप्रास शब्दालंकार का ही एक भेद मान लिया है। चूँकि परंपरावादी अलंकार-विवेचकों ने अलंकारों की मूलभूत प्रेरणा के प्रति विशेष लक्ष्य नहीं दिया था, फलतः वे शब्दालंकारों के कतिपय अनावश्यक भेद-उपभेद जुटाने में भी लगे रहे। श्री बिहारीलाल भट्ट ने शब्दालंकारों के विवेचन को अपेक्षाकृत अधिक विस्तार दे दिया है।[२] इन्होंने अलंकार-संख्या संकोच की दृष्टि से 'उदाहरण' अलंकार के अलंकारत्व का प्रत्याख्यान किया है और नवीनता की दृष्टि से 'गुणोक्ति' का उद्भावन।[३]

मिश्रवन्धुओं ने अलंकारों के भेद-उपभेद के सूक्ष्म उदाहरण-निर्देश पूर्वक १२४ अलंकारों का निरूपण किया है। परन्तु इनकी मान्यता में अलंकारों की इस प्रवृद्ध सेना को कम करना ही उपयुक्त है।... 'अलंकार विषय को लोगों ने बढ़ाया आवश्यकता से बहुत अधिक है। कई अलंकारों में एक दूसरे से बहुत कम भेद हैं। और नहीं तो दस-पन्द्रह अलंकार घट ही जाने चाहिए।'[४] अतः इन्होंने प्राचीन अनेक अलंकारों के अलंकारत्व का प्रत्याख्यान जहाँ अनेक संस्कृत आचार्यों की मान्यताओं का आधार लेकर किया है, वहाँ साथ ही कहीं-कहीं पर स्वतन्त्र सम्मति भी अभिव्यक्त की है। मिश्रबन्धुओं ने अलंकार-संख्या को घटाने के तीन आधार ग्रहण किये हैं: १. कतिपय अलंकार नितांत चमत्कार-हीन हैं। २. कतिपय में वाच्य की अपेक्षा व्यंग्य की प्रधानता है। ३. कतिपय तो अन्य अलंकारों में ही

---

१. भारतीभूषण, पृ० १४।
२. देखिए : साहित्य सागर : शब्दालंकार प्रकरण।
३. गुणोक्ति की परिभाषा है—'जहाँ अनेक गुण छोड़कर एक को एक ही गुण से श्रेष्ठता देवे।' उदाहरण देने के बाद वे लिखते हैं—'इस भाव की कविता कुछ-कुछ पहले भी हुई है। किन्तु इसमें प्रधान रूप से कोई अर्थ अलंकार स्पष्ट घटित नहीं होता है, इसी कारण इस भाव के लिए हमें यह गुणोक्ति नाम का अलंकार नवीन निर्माण करना पड़ा।' साहित्यसागर, पृ० ४८५।
४. साहित्य पारिजात, भूमिका, पृ० ३३।

अन्तर्भूत हैं, उनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। इनके मतानुसार :—

१. निम्नलिखित अलंकारों में चमत्कार का अभाव है—

विधि, मुद्रा, रत्नावली, अनुगुण, पुनरुक्तवदाभास और चित्र। संकर-संसृष्टि तो अलंकारों के एक साथ रहने की रीतियाँ मात्र हैं इनसे कोई पृथक् चमत्कार नहीं निकलता।'[1] आठ प्रमाणलंकार भी अमान्य हैं।[2]

२. निम्नलिखितों में व्यंग्य की प्रधानता है :

सूक्ष्म, पिहित, गूढोक्ति, विवृतोक्ति, युक्ति और स्वाभावोक्ति। इनके अतिरिक्त रसवत्, प्रेयस्, ऊर्जस्वि, समाहित, भावोदय, भावसंधि, भाव सबलता इत्यादि में तथा रसवदादि अलंकारों में अलंकारत्व नहीं है, क्योंकि इनमें 'असंलक्ष्य-क्रम, अपरांग व्यंग्यमात्र' है।[3]

३. कतिपय अलंकार अन्य प्रमुख अलंकारों में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं, जैसे—

विषादन (विषय में), प्रतिषेध (व्यतिरेक में), निरुक्ति (श्लेष में) अवज्ञा (विशेषोक्ति में), प्रस्तुतांकुर (अप्रस्तुत प्रशंसा में), तिरस्कार (अनुज्ञा में) लेश (अनुज्ञा में) अधिक और अल्पक (सम्बन्धातिशयोक्ति में)। इनके अतिरिक्त अतिशयोक्ति अत्युक्ति और उदात्त को एक ही अलंकार मानना चाहिए। लाटानुप्रास, यमक और वीप्सा को भी पृथक् पृथक् अलंकार नहीं समझना चाहिए।

श्लेष और वक्रोक्ति को केवल अर्थालंकार मानने पर मिश्र बन्धुओं ने विशेष बल दिया है। इस प्रकार लगभग ४० से भी अधिक अलंकारों की अनुपादेयता इनके मतानुसार सिद्ध होती है। इन्होंने अलंकारों की अमान्यता में विशेषतः 'उद्योतकार' का अधिक अनुसरण किया है।

इस प्रकार अलंकार-विवेचन में लक्षण-उदाहरण की शैली के अनुकर्ता विवेचकों ने तत्वतः अलंकारों की असीम-प्रवृद्धि को उपयोगी नहीं ठहराया है। व्यवहारतः इन्होंने भले ही संस्कृत के अलंकारों को अविकल रूप से हिन्दी में अवतरित करने का प्रयत्न किया है। फलतः श्री मुरारिदान के अतिरिक्त अन्य किसी आधुनिक परंपरानुयायी विवेचक ने नवीन अलंकारों के अधिक उद्भावन का प्रयत्न नहीं किया है। परिहासापह्नुति, गुणोक्ति तथा बैण सगाई अलंकार मुरारिदान के नव-आविष्कृत १३ अलंकारों में संख्या की दृष्टि से भले ही वृद्धि कर दें

---

१. साहित्य परिजात, पृ० ५०१।

२. वही, पृ० ४५०।

३. वही, पृ० ४४८।

परन्तु प्रस्तुत तीनों अलंकार भी महत्व-हीन हैं।

यद्यपि आ० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने नये अलंकारों के आविष्कार का विशेष सुझाव दिया है[1] फिर भी आधुनिक युग के पुनराख्याता विवेचकों ने अलंकार-संख्या की असीम वृद्धि पर असन्तोष ही प्रकट नहीं किया बल्कि यथासंभव कम से कम अलंकारों को मान्यता देने पर बल दिया है। आचार्य शुक्ल ने अलंकार-संख्या को कहाँ तक घटाया जा सकता है, इसका स्पष्टतः निर्देश तो नहीं किया, परन्तु इनके स्वरूप-विश्लेषण में इन्होंने एक कसौटी निश्चित करने का प्रयत्न किया है, जिस पर मूल्यांकन करके परंपरागत अलंकारों के अलंकारत्व का निर्धारण किया जा सके। वह कसौटी है भाव या भावना की। इनके मत में सुन्दर अर्थ की शोभा बढ़ाने में जो अलंकार प्रयुक्त नहीं, वे काव्यालंकार नहीं। वे ऐसे ही हैं जैसे शरीर पर से उतार कर किसी अलग कोने में रखा हुआ गहनों का ढेर। किसी भाव या मार्मिक भावना से असम्पृक्त अलंकार चमत्कार या तमाशे हैं।[2] वर्ण्य वस्तु के निर्देशक स्वभावोक्ति, उदात्त, अत्युक्ति आदि के अलंकारत्व का इन्होंने स्पष्ट शब्दों में प्रत्याख्यान किया है।[3]

अलंकार-संख्या-संकोच की दृष्टि से श्यामसुन्दर दास जी का दृष्टिकोण शुक्ल जी से भी अधिक स्पष्ट हो गया है। इन्होंने शुक्ल जी के समान ही वस्तु-निर्देशक स्वभावोक्ति, अत्युक्ति आदि के अलंकारत्व का प्रत्याख्यान तो किया ही है साथ ही अन्य अलंकारों की अनुपयोगिता का भी स्पष्ट निर्देश किया है : 'हमारे यहाँ कुछ लोगों ने अलंकारों की संख्या घटा कर ६१ मानी है, पर इनमें भी एक अलंकार के अनेक भेद-उपभेद आ मिले हैं। साम्य, विरोध और सान्निध्य या तटस्थता के विचार से हम इन अलंकारों की तीन श्रेणियाँ बना सकते हैं। और उनमें के उपभेदों को घटा कर अलंकारों की संख्या नियत कर सकते हैं।'[4]

यद्यपि श्री सुधांशु की धारणा में 'अलंकारों की संख्या न निश्चित है और न निश्चित की जा सकती है' फिर भी वास्तविक अलंकार-स्वरूप का निर्धारण करते

---

१. भारती को नवीन भूषणों से अलंकृत करने में हमें संकोच नहीं करना चाहिए फिर क्या कारण कि बेचारी भारती के जेवर वही भरत, कालिदास, भोज इत्यादि के जमाने के ज्यों के त्यों बने हुए हैं ?
'भारती भूषण' की प्रस्तावना में उद्धृत पं० महावीर प्रसाद का एक पत्र।
२. चिन्तामणि, प्र० भाग, पृ० १८४।
३. वही, पृ० १८३।
४. साहित्यालोचन, पृ० २६२।

समय इन्हें प्रतीत हुआ कि अनेक परंपरागत अलंकार अलंकार-क्षेत्र का ही अतिक्रमण कर गये हैं। फलतः उन्होंने वस्तु, भाव, न्याय, वाणी, क्रिया तथा काल के क्षेत्र में पहुँचे हुए अलंकारों की अलंकार-क्षेत्र से बहिष्कृति अनिवार्य ठहराई है।[1]

(१) वस्तु या भाव में मिले हुए अलंकार—
असम, अधिक, अनुमान, असम्भव, उल्लेख, उदाहरण, उल्लास, उदात्त, काव्यार्थपत्ति, काव्यलिंग, तिरस्कार, निश्चय, प्रत्यनीक, प्रतिषेध, परिसंख्या, पर्याय, प्रहर्षण, भ्रान्ति, भाविक, मुद्रा, युक्ति, लेश, लोकोक्ति, वीप्सा, विरोध, विषादन, विकल्प, विशेषोक्ति, विचित्र, विधि, व्याघात, सम, समाधि, सहोक्ति, समुच्चय, सामान्य, सूक्ष्म, स्वभावोक्ति, स्मरण, सन्देह, हेतु आदि (४१)

(२) न्याय के क्षेत्र में प्रविष्ट अलंकार—
८ प्रमाणालंकार, काव्यार्थापत्ति, संसृष्टि, संकर तथा एक वाचकानुप्रवेशसंकर। (११)

(३) वाणी के क्षेत्र में प्रविष्ट अलंकार—
काकु वक्रोक्ति (१)

(४) क्रिया के क्षेत्र में प्रविष्ट अलंकार—
सूक्ष्म, पिहित, व्याजोक्ति, युक्ति (४)

(५) काल विभागस्थ अलंकार—
भाविक (१)

(६) शब्दाभाव पर आश्रित अलंकार—
श्लेष-अर्थ-वक्रोक्ति, विवृतोक्ति, गूढोक्ति, समासोक्ति आदि। (५)

इनकी धारणा में एक अन्योक्ति अलंकार में अप्रस्तुत प्रसंशा, प्रस्तुतांकुर, समासोक्ति, आक्षेप, व्याजोक्ति तथा पर्यायोक्ति इन छः अलंकारों का अन्तर्भाव हो सकता है। इस प्रकार श्री सुधांशु ने अलंकार-क्षेत्र का अतिक्रमण करने वाले ६०-७० से भी अधिक अलंकारों की निस्सारता का प्रतिपादन किया है। इनकी मान्यता में मुख्य तथा शुद्ध अलंकार ठहरते हैं : उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि। क्योंकि आरोपित तथा संभावित वस्तु या तथ्य में ही अलंकार रहता है।'[2]

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि आधुनिक युग में संस्कृत तथा हिन्दी के रीतिकालीन अलंकार-अतिचार की प्रतिक्रिया-सी हो रही है। फलतः इस युग में सामा-

---

१. काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृ० ८७।
२. वही, पृ० १०९।

न्यत: अलंकार-संख्या-संकोच का जितना विवेचन हुआ है, उतना उनके नव-आविष्कार का नहीं। पुनराख्याता विवेचकों में से किसी ने भी नवीन अलंकार का उद्भावन नहीं किया है। इनकी अधिकांश प्रतिभा नवीन अलंकारोद्भावन की अपेक्षा उनके मूल्यांकन, विश्लेषण या पुनराख्यान पर केन्द्रित रही है।

मराठी में अलंकार-सिद्धान्त का अध्याय

मराठी साहित्य के इतिहास में हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों की-सी समृद्ध परंपरा लगभग नहीं के बराबर है। मराठी-साहित्य के भक्ति युग में नागेश तथा विट्ठल की 'रसमंजरी' और गंगाधर शास्त्री कृत 'रसकल्लोल' ग्रन्थ मराठी में मिलते हैं। इनमें भी प्रथम तो भानुदत्त की रसतरंगिणी पर ही आधृत है। इसके अतिरिक्त, छन्दः शास्त्र पर निरंजनमाधव का एक ग्रन्थ उपलब्ध होता है, परन्तु अलंकार-सिद्धान्त का स्वतंत्र विवेचक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। यद्यपि आधुनिक युग से पूर्व मराठी साहित्य में मुक्तेश्वर, वामन, सामराज, विट्ठल, नागेश, रघुनाथ पंडित, मोरोपंत आदि अनेक कवि 'कलाकवि' या 'पंडित कवि' के रूप में ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। इनमें प्रायः सभी ने संस्कृत के काव्य-नाटकों का गहन अध्ययन किया था और संस्कृत काव्यशास्त्र के भी ये पूर्ण ज्ञाता थे। परन्तु हिन्दी के रीतिकालीन अनेक कवि-आचार्यों की भाँति साहित्य-शास्त्रीय विवेचन अथवा संस्कृत-काव्य-शास्त्र का अनुवाद अपना साध्य बना कर साहित्य जगत् में नहीं उतरे। साहित्य के लाक्षणिक ग्रन्थ-निर्माण की अपेक्षा सृजनात्मक साहित्य-निर्माण में ही इनकी प्रतिभा संलग्न रही। फलतः आधुनिक युग के आरम्भ में मराठी-लेखकों को अलंकार-विवेचन के लिए सीधे संस्कृत के अलंकार-ग्रन्थों का ही आश्रय लेना पड़ा है।

परंपरानुयायी विवेचक :

आधुनिक युग के प्रथम चरण में अलंकार-विवेचन के लिए मराठी लेखकों ने आ० जगन्नाथ के रसगंगाधर, अप्पयदीक्षित के कुवलयानंद, जयदेव के चन्द्रालोक, विश्वनाथ के साहित्यदर्पण, मम्मट के काव्यप्रकाश, दण्डी के काव्यादर्श तथा भामह के काव्यालंकार का विशेष आधार ग्रहण किया है। आरम्भ में मराठी अलंकार विवेचकों ने संस्कृत के पद्यों का मराठी पद्यों में तथा संस्कृत गद्य का मराठी के गद्य में ही अनुवाद भी किया है। परिणामतः हिन्दी के समान मराठी में भी अनेक ग्रन्थों में अलंकार-लक्षण पद्य में भी मिलते हैं। अप्पय दीक्षित के कुवलयानन्द का

मराठी में अनुवाद श्री वामन एकनाथ क्षीर सागर ने (सन् १८८६ ई० में) इसी शैली में किया है। कालान्तर में यह शैली बदल गई। लक्ष्मण शास्त्री लेले (१९०५ ई० सन्) ने अपने 'अलंकार प्रकाश' में लक्षण भी मराठी गद्य में ही दिये हैं।

वर्तमान समय तक लक्षण-उदाहरणात्मक शैली में जिन लेखकों ने अलंकार-विवेचन किया है, उनमें उल्लेखनीय हैं: ज० वि० दामले, रा० वा० तळेकर, लक्ष्मण शास्त्री लेले, गणेश मोरेश्वर गोरे, राजाराम शास्त्री भागवत, विद्याधर वामन भिडे, रा० भि० जोशी, बाळुताई खरे, मधुकर वासुदेव, धोण्ड गं० त्र्यं० देशपाण्डे तथा पु० गो० निजसुरे इत्यादि।

इन लेखकों में कतिपय ने अलंकारों के अतिरिक्त आनुषंगिक रूप से रस, रीति, गुण, दोष आदि का भी विवेचन किया है। राजाराम शास्त्री भागवत, लक्ष्मण शास्त्री लेले, ग० म० गोरे, रा० भि० जोशी आदि ने अलंकार-इतर काव्य-तत्वों का भी निरूपण कर दिया है। प्राचीनों में राजाराम शास्त्री भागवत ने अंग्रेजी अलंकारों का निरूपण भी किया है। नितांत आधुनिक लेखकों में मधुकर वासुदेव धोण्ड, ग० त्र्यं० देशपांडे तथा पु० गो० निजसुरे आदि की रचनाओं में भी अंग्रेजी अलंकारों का संक्षिप्त निर्देश हुआ है। हिन्दी के परंपरानुयायी अलंकार-विवेचकों के समान सामान्यतः इन सभी लेखकों का प्रयोजन संस्कृत की अलंकार-सम्पत्ति को मराठी भाषा में लाना था। इनके समक्ष प्रायः अलंकार-अध्येता विद्यार्थी वर्ग रहा है, अतः नवीनता मराठी साहित्य के उदाहरणों के अन्वेषण में दिखाई गई है। सर्वप्रथम संस्कृत आचार्यों के अलंकार-चिन्तन को तुलनात्मक और व्यापक दृष्टि से मराठी में अवतरित करने का प्रशंसनीय कार्य बाळुताई खरे ने ही किया है। इसके अतिरिक्त श्री भिडे, श्री जोशी, श्री धोण्ड आदि की अलंकार रचनाओं का विद्यार्थी वर्ग की दृष्टि से ही विशेष महत्व है।

पुनराख्याता विवेचक :

लक्षण-उदाहरणात्मक शैली का अनुसरण किये बिना रस, रीति, गुण, दोष, काव्यस्वरूप आदि के साथ अलंकार-स्वरूप, अलंकार-वर्गीकरण, उनकी काव्यस्थ उपादेयता आदि पर पर्याप्त गंभीर और व्यापक चिन्तन अनेक आधुनिक मराठी लेखकों ने किया है। इनमें उल्लेखनीय हैं: रा० श्री० जोग, द० के० केळकर, न० चि० केळकर, वा० म० जोशी, के० ना० वाटवे, ना० वनहट्टी, कृ० पाँ० कुलकर्णी, रा० शं० वाळिंबे, ग० त्र्यं० देशपाण्डे, रा० अ० काळेले इत्यादि।

इन विवेचकों के दृष्टिकोण में पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्तों के अध्ययन से व्यापकता भी आई है। इनमें कतिपय कवि और समर्थ साहित्य-स्रष्टा के रूप में भी मराठी में पर्याप्त यश प्राप्त कर चुके हैं। श्री जोग, श्री द० के० केळकर,

डा० वाटवे, डा० वाळिंबे, तथा ग० त्र्यं० देशपांडे आदि ने संस्कृत अलंकार-शास्त्र की व्यापक पृष्ठभूमि का सबल आधार ग्रहण करके अपने अलंकार-विवेचन को प्रस्तुत किया है ।

अलंकार-परिभाषा

हिन्दी में परंपरानुयायी एवं पुनराख्याता विवेचकों ने लगभग ध्वनि-रस-वादी आचार्यों की अलंकार-परिभाषा का ही समर्थन और आख्यान किया है । मराठी साहित्यशास्त्र में भी लगभग यही स्थिति रही है । मराठी के अलंकार-आख्याताओं ने उत्तर ध्वनिकालीन अलंकार-विवेचकों की रचनाओं का अलंकार-परिभाषा के निरूपण में विशेष रूप से आधार ग्रहण किया है । अतः परंपराभुक्त सभी अलंकार-परिभाषाओं का उल्लेख न कर केवल दो-एक परिभाषाएँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं ।

रा० भि० जोशी—'अलंकार शब्द का अर्थ शोभा प्रदान करना है।' अलंकार के प्रयोग से एक ओर चित्त का रंजन होता है तो दूसरी ओर मन मुख्य आशय को सरलतापूर्वक ग्रहण करता है ।[१]

देशपाँडे तथा जिनसुरे—'अलंकार से रस का उन्नयन और रस की परिपुष्टि अभीष्ट है । अलंकार रस की शोभा बढ़ाने वाले धर्म हैं ।'[२]

२. पुनराख्याताओं की अलंकार-परिभाषाएँ :—

१. श्री रा० श्री० जोग—अलंकार का अर्थ है मनोभावों की अभिव्यक्ति की भिन्न-भिन्न आकर्षक और रमणीय पद्धति या प्रकार ।[३]

अथवा

अलंकार काव्य के अर्थात् शब्दार्थ के धर्म हैं, वे अस्थिर, सौन्दर्य-वर्धक, तथा चमत्कार पूर्ण बोलने की पद्धतियाँ हैं ।[४]

२. श्री द० के० केळकर—जहाँ-जहाँ कवि स्वाभिप्राय को सामान्य जन से भिन्न विशिष्ट प्रकार से अभिव्यक्ति देता है, वहाँ-वहाँ कल्पना के अभिनव रूप को देख कर आनंद होता है और इस कल्पना के अभिनव चमत्कृतिजनक रूप को ही अलंकार कहते हैं ।[५]

---

१. सुलभ अलंकार, प्रस्तावना ।
२. अलंकार प्रदीप, पृ० १४ ।
३. अभिनव काव्य प्रकाश, पृ० २५८ ।
४. अभिनव काव्य प्रकाश, पृ० २५४ ।
५. काव्यालोचन, पृ० ३२७ ।

३. ग० त्र्यं० देशपाँडे——रसावेश में प्रतिभावान् कवि जिन शब्दों का प्रयोग करता है, उन शब्द-प्रयोगों से निर्मित वाच्यार्थ विशेष ही अलंकार हैं। इसे 'उक्ति-विशेष' भी कहा जाता है ।[१]

मराठी के अधिकांश आधुनिक अलंकार-विवेचकों ने अलंकार की स्वतंत्र परिभाषाएँ प्रस्तुत करने का विशेष प्रयत्न नहीं किया, संभवत: उनकी धारणा में संस्कृत का अलंकार-लक्षण नितांत स्पष्ट ही है। जिन लेखकों ने अलंकार-लक्षण प्रस्तुत किये हैं, उनमें रस-ध्वनिवादी आचार्यों के दृष्टिकोण का अपेक्षाकृत अधिक अनुसरण हुआ है। शब्दार्थ की शोभा बढ़ाने वाले धर्म की अपेक्षा रस की शोभा बढ़ाने वाले धर्म के रूप में अलंकार-परिभाषा प्रस्तुत करके श्री देशपांडे और निज-सुरे ने अलंकारों का रस या भाव से प्रत्यक्ष सम्बन्ध दर्शाना चाहा है। मनोभावों की अभिव्यक्ति का प्रकार मान कर श्री जोग ने अलंकार को साधन रूप में ग्रहण किया है तो श्री द० के० केळकर ने अलंकार में चमत्कृतिजनकता पर विशेष बल दिया है। सामान्यत: अलंकार को काव्य का नितांत बाह्य तत्व न मानने की आधुनिक धारणा का इन अलंकार-परिभाषाओं में आभास मिलने लगता है।

अलंकारों का स्वरूप, काव्य में स्थान और उनकी उपादेयता

अलंकार-विवेचन की परंपरागत लक्षण-उदाहरणात्मक शैली का अनुसरण न करके मूलत: अलंकार-स्वरूप एवं उनकी काव्यस्थ उपादेयता का विश्लेषण-विवेचन जिन आधुनिक युग के मराठी लेखकों ने किया है, उनमें प्रमुख हैं : प्रा० जोग, प्रा० द० के० केळकर, श्री न० चि० केळकर, श्री वा० म० जोशी, श्री वा० ल० कुळकर्णी, प्रा० बनहट्टी, श्री कृ० पाँ० कुळकर्णी, डा० वाळिंबे आदि। यद्यपि इनमें प्रा० जोग ने लक्षण-उदाहरणात्मक शैली में भी पृथक् ग्रन्थ 'काव्य-विभ्रम' लिखा है, परन्तु इनके 'अभिनव काव्य प्रकाश' की शैली मुख्यत: विवेचनात्मक ही है। आधुनिक पुनराख्याता विवेचकों में अलंकार-स्वरूप एवं उसकी उपादेयता के विषय में मत-भिन्नता स्वाभाविक ही है। अलंकार तत्व के मूल आविष्कारक और विवेचक संस्कृत-आचार्यों में ही इनके स्वरूप के विषय में मतैक्य नहीं है, फिर आधुनिक बौद्धिक तत्व प्रधान वैज्ञानिक युग में एकांत मत-साम्य की आशा करना व्यर्थ है। मराठी के आधुनिक समीक्षकों ने अलंकार-स्वरूप, अलंकारों की काव्य-गत उपादेयता आदि के विषय में विभिन्न दृष्टियों से चिन्तन किया है।

संस्कृत के ध्वनिरसवादी आचार्यों ने एक ओर अलंकारों को काव्य के अवि-भाज्य अंग के रूप में मान्यता दी है और रसोपकारक अलंकारों को ही वास्तविक

---

१. भारतीय साहित्य शास्त्र, पृ० ३१२।

अलंकार तथा रसोपकारकत्व ही उनका अंतिम साध्य उद्घोषित किया है, परन्तु दूसरी ओर इन्होंने ही काव्य-पुरुष के रूपक-निर्वाह में अलंकारों को कटक-कुंडल आदि आभूषणों के समान प्रतिपादित करके उन्हें नितांत बाह्य स्थान दे दिया हैं। प्रा० जोग को प्रस्तुत द्विधात्मक प्रतिपादन अनुपयुक्त प्रतीत हुआ है। फलतः इन्होंने 'अलंकार'—शब्द प्रयोग के स्थान पर 'विभ्रम' शब्द की प्रतिष्ठापना करके इनकी आंतरिक स्थिति दर्शाने का प्रयत्न किया है। मानव शरीर रक्त-मांस से निर्मित है, आभूषणों का निर्माण सुवर्ण रजत आदि से होता है। परन्तु काव्य-शरीर की स्थिति इससे भिन्न है। काव्य-शरीर भी शब्दार्थ से निर्मित है और उसके अलंकारों का निर्माण भी शब्दार्थ से ही हुआ है। काव्य में अलंकार अस्थिर हैं, कभी इनकी स्थिति स्पष्ट दिखाई देती है, कभी नहीं दिखाई देती, केवल इतने मात्र से इन्हें आभूषणों की भाँति काव्य-शरीर से नितांत पृथक् रूप में मान्यता देना वस्तुतः अनुपयुक्त है, क्योंकि 'काव्य की और उसके अलंकारों की सृष्टि एक ही वस्तु से होती है और वह है—शब्दार्थ।'[1]

अतः प्रा० जोग ने अलंकारों को काव्य-शरीर के अविभाज्य अंग सिद्ध करने के लिए परंपरागत 'अलंकार' संज्ञा के स्थान पर 'विभ्रम' को रूढ़ करने का प्रयत्न किया है। 'विभ्रम' का अर्थ है शरीरावयवों की प्रत्येक प्रकार की रमणीय गति, चेष्टा या हलचल। इन्होंने मानव-शरीर के विभ्रम और काव्य-शरीर के विभ्रमों (अलंकारों) में पूर्ण साम्य दर्शाया है। जिस प्रकार 'विभ्रम' शरीर से अन्यत्र नहीं रह सकते, उसी प्रकार काव्यालंकार, काव्य-शरीर शब्दार्थ से पृथक् नहीं रह सकते, क्योंकि उनका जन्म उसी से होता है। विभ्रमों से शरीर-सौन्दर्य की वृद्धि होती है, काव्या-लंकारों से काव्य-सौन्दर्य की। विभ्रम भी अस्थिर होते हैं और काव्यालंकार भी उसी प्रकार के हैं, अतः शब्दालंकारों को अलंकार कह कर काव्य-शरीर से बाहर न निकाला जाय वरन् काव्य-विभ्रम नाम देकर काव्य-शरीर के अन्तर्गत ही उन्हें स्थान दिया जाय।'[2]

काव्य-शरीर के अविच्छिन्न अंग हैं—अलंकार। काव्य का अस्तित्व शब्दार्थ के बिना नहीं है और अलंकारों का अस्तित्व भी मूलतः इन्हीं पर आधृत है। परन्तु जहाँ तक अलंकारों के आत्मतत्व का प्रश्न है, श्री जोग की मान्यता में 'चमत्कार ही अलंकारों का प्राण है।' इन्होंने स्पष्टतः 'अलंकारों को शब्दार्थ से निर्मित तथा

---

१. अभिनव काव्य प्रकाश, पृ० २५९।

२. अभिनव काव्य प्रकाश, पृ० २५९।

उनके प्राणभूत तत्व को चमत्कृति माना है।'[1] इन्होंने अर्थाभिव्यक्ति की विभिन्न पद्धतियों के रूप में ही अलंकार-स्वरूप का विश्लेषण किया है।[2] फलतः अलंकार और अलंकार्य के पार्थक्य की स्वीकृति स्वाभाविक ही है। विषय को मूलतः अलंकार्य कहा जाता है और विषय-निरूपण की विशिष्ट चमत्कारपूर्ण पद्धति को अलंकार कहते हैं। इससे विषय-सौन्दर्य का संवर्द्धन होता है। विषय को रमणीय बनाने की पद्धति में वैशिष्टय आता है--'वाग्वैचित्र्य' से और यही वाग्वैचित्र्य अलंकारों का प्राण है।[3] ध्वनि-रस मतानुयायी आचार्यों के अनुरूप इनकी मान्यता में भी मूलतः विषय से संबद्ध अनेक अलंकार--प्रत्यनीक आदि--वास्तविक अलंकार नहीं बन सकते, क्योंकि 'इनमें प्रतिपादन की पद्धति की अपेक्षा प्रतिपाद्य को ही अधिक महत्व दिया गया है।'[4] संस्कृत साहित्यशास्त्र के अलंकार-विवेचन में अलंकार्य और अलंकार का पार्थक्य इसलिए अस्पष्ट बनता गया कि मूलतः 'विषय-वैचित्र्य और पद्धति-वैचित्र्य में ही सूक्ष्म भेद है। और इन दोनों को वहाँ अलंकारों में ही स्थान-सा प्राप्त हो गया था। अतः इनके मत में 'अर्थाविष्करण की पद्धति' को ही अलंकार मानना अधिक संगत है।[5]

प्रा० जोग यदि अलंकारोत्पत्ति के मूल में भावोद्दीपन की प्रक्रिया का भी यहीं प्रतिपादन करते तो अलंकारों की आंतरिकता का और अधिक स्पष्टीकरण हो जाता। मानव में विभ्रमोत्पत्ति की मूल प्रेरणा विशिष्ट मनोभावों पर आश्रित है। भावशून्य मन से विभ्रमों की उत्पत्ति असंभव है। अतः विभ्रमों का सम्बन्ध जहाँ स्थूलतः बाह्य मानव शरीर से है, उसी प्रकार उसका आंतरिक सम्बन्ध उसकी भाव-प्रेरणा से भी है। इस प्रकार अलंकार काव्य के शब्दार्थ-शरीर से एक ओर अविच्छिन्न सम्बन्ध रखते हैं तो दूसरी ओर आंतरिक भावोद्दीपन से भी। इस प्रकार अलंकारों की मनोभाव प्रेरणा मूलक आंतरिकता का प्रतिपादन संभवतः श्री जोग ने इसलिए नहीं किया कि इनकी मान्यता में रस और गुणों की तुलना में अलंकारों का स्थान पर्याप्त गौण है। इनके मत में विभ्रमों (अलंकारों) को रस के समान महत्व प्राप्त होना कठिन है और उनमें काव्य के आत्मतत्व बनने की पात्रता भी नहीं हैं। यहाँ तक कि इन्हें काव्य-गुणों के समकक्ष भी स्थान प्राप्त नहीं

---

१. काव्य विभ्रम, पृ० ९८।
२. अभिनव काव्य प्रकाश, पृ० २७२।
३. वही, पृ० २७३।
४. वही, पृ० २७३।
५. अभिनव काव्य प्रकाश, पृ० २७३।

हो सकता—'मानव शरीर में विभ्रमों से अधिक आकर्षण भले ही आ जाय फिर भी मूलभूत सुवर्ण अथवा शाररिक गठन, नासिका की सरलता, केशों की दीर्घता आदि शारीरिक गुण अथवा औदार्य, मुग्धता, सरलता इत्यादि आत्मिक गुण जिस प्रकार से विभ्रमों की अपेक्षा अधिक मूल्य रखते हैं, उसी प्रकार काव्य में भी प्रसाद, माधुर्य, ओज सुश्लिष्टता आदि गुणों का महत्व अधिक मानना चाहिए।'[1]

डा० वाळिंबे अलंकारों की आँतरिक स्थिति का ही समर्थन करते हैं, परन्तु इन्हें श्री जोग प्रतिपादित 'विभ्रम' शब्द अनुपयुक्त प्रतीत हुआ है। क्योंकि शास्त्र-कारों ने विभ्रम का अर्थ दिया है—गड़बड़ी में आभूषणों के स्थान का विपर्यय हो जाना,[2] फलतः इन्होंने 'विभ्रम' के स्थान पर 'विलास' शब्द का प्रयोग समीचीन ठहराया है, विलास की व्याख्या है—'प्रियसंगमकाले तु नेत्र भ्रू वक्त्र कर्मणाम् विशेषो यः स विज्ञेयो विलासो'ङ्ग क्रियादिषु।'[3]

श्री द० के० केळकर ने अपनी विशिष्ट चिन्तन प्रणाली से अलंकारों की आंत-रिकता एवं काव्य के लिए इनकी अनिवार्यता का विवेचन किया है। प्रथम भाषा की उत्पत्ति और अलंकार-उत्पत्ति का इन्होंने सूक्ष्म विश्लेषण किया है। इन्होंने काव्य के लिए आलंकारिक भाषा की अनिवार्यता पर प्रकाश डाला है। अलंकार को ये भाषा का बहुत ही महत्वपूर्ण गुण मानते हैं। प्रथम इन्होंने वर्डसवर्थ आदि पाश्चात्यों की अलंकारिक भाषा के विरुद्ध प्रचंड प्रतिक्रियात्मक विचार धारा का सयुक्तिक प्रत्यांख्यान किया है। अठारहवीं शताब्दी के आंग्ल साहित्य में भावनाओं के विश्लेषण विवेचन की अपेक्षा काव्य की बाह्य अलंकृति पर विशेष बल दिया गया था, जिसकी प्रतिक्रियास्वरूप वर्डसवर्थ आदि ने भाषा की स्वाभाविकता पर अतिरिक्त आग्रह प्रकट किया है। 'मनोविकारों की कतिपय इकहरी वृत्तियों को भले ही स्वाभाविक शब्दों से प्रभावोत्पादक रूप में व्यक्त किया जा सकेगा, परन्तु जहाँ संमिश्र और उत्कट भावनाओं की अभिव्यक्ति अपेक्षित है, वहाँ भाषा को भी अनेक प्रकार की 'कसरतें' करनी पड़ती हैं। इस प्रकार की कसरत भरी भाषा को ही आलंकारिक भाषा कहा जाता है।'[4] यदि साधारण बोलचाल की भाषा से ही मनोभावों की अर्थपूर्ण अभिव्यक्ति संभव है तो प्रायः हम सभी सर्व-

---

१. काव्य विभ्रम, पृ० ५।

२. वागंगसत्वाभिनय भूषा स्थान विपर्ययः। त्वरयाकल्पितोऽभीष्टदर्शने यसः विभ्रमः। शारदातनयः, भावप्रकाश, पृ० ९।

३. भाव प्रकाश, पृ० ९, डा० वाळिंबे, साहित्य मीमांसा, पृ० ३१५ (टिप्पणी)

४. काव्यालोचन, पृ० ३२२।

साधारण व्यक्ति कवि बने होते।'[१]

आलंकारिक भाषा की उत्पत्ति का विवेचन करते समय श्री सुधांशु के समान ही इन्होंने आवश्यकता-जनित आविष्कार के रूप में ही इसका जन्म माना है। परन्तु विश्लेषण में सुधांशु जी से पर्याप्त भिन्नता है। इनके मत में प्रत्येक वस्तु के लिए पृथक्-पृथक् शब्द-प्रयोग करते समय मनुष्य की स्मरण-शक्ति पर अधिक बल पड़ता है। अतः नई वस्तुओं के लिए पूर्व परिचित शब्दों का साम्य के अनुरूप प्रयोग कर लिया जाता है। जैसे, इसी वाक्य में 'बल' शब्द का प्रयोग है। 'बल' मुख्यतः शारीरिक शक्ति के लिए आता है परन्तु यहाँ निकट सम्बन्ध के आधार पर 'जोर' के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार जब भाषा में किसी प्रकार की न्यूनता की प्रतीति होने लगती है, तो शब्दों को नये-नये अर्थ प्रदान करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगती है। जब शब्दों को नये-नये अर्थ प्रदान करने लगते हैं तो उनके मूल में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों की स्थिति निहित होती है। इस प्रकार प्रथम आवश्यकता के उदर से ही आलंकारिक भाषा का जन्म होता है। जब आवश्यकता के रूप में प्रयुक्त आलंकारिक भाषा का सौन्दर्यवर्धक गुण कवियों को प्रतीत हुआ तो वे उसका काव्य-शोभा के संवर्धनार्थ प्रयोग करने लगे।'[२]

मूलतः लौकिक नित्य व्यवहार में ही अलंकृत भाषा का महत्व निर्विवाद है। कई बार तो केवल सरल अनलंकृत भाषा से लोक-व्यवहार का निर्वाह नहीं हो सकता, इस तथ्य का प्रतिपादन करने के उपरान्त श्री केळकर ने लिखा है 'सादी भोली स्वभावोक्ति जब व्यवहार कुशल प्रसंग में उसका निभाव होना कठिन समझती है, तब वह अपनी विदग्ध बहिन वक्रोक्ति को ही आगे भेजा करती है।'[3] अतः आलंकारिक भाषा से यदि समस्त लोक व्यवहार ही व्याप्त है तो यह स्वाभाविक ही है कि कवि उसके चमत्कृति जनक गुणों से लाभ उठाये। इन्होंने आलंकारिक भाषा को रस-निष्पत्ति में बाधक नहीं अपितु पूर्ण साधक माना है: 'कदाचित् कोई काव्य भावना की उत्कटता पर रमणीयता प्राप्त कर ले तो भी उसका आलंकारिक भाषा के बिना काम नहीं चल सकता।' जहाँ तक काव्य के लिए अलंकारों की अनिवार्य आवश्यकता का प्रश्न है, इनकी धारणा स्पष्ट है कि काव्य में बहुत कम

---

१. काव्यलोचन, पृ० ३२३।

२. काव्यालोचन, पृ० ३२४—'हम प्रथम शीतवात् निवारणार्थ वस्त्र का प्रयोग करते हैं, परन्तु जब उसका सौन्दर्य वर्द्धकगुण ध्यान में आता है, तब उसका 'शान शौकीनी' के लिए प्रयोग करने लगते हैं।' वही पृ० ३२४।

३. काव्यालोचन, पृ० ३२५।

ऐसे स्थल होते हैं जहाँ अलंकार की आवश्यकता नहीं होती, अन्यथा सर्वत्र अलंकारों के बिना काव्य के लिए गत्यंतर नहीं है।'[१]

श्री जोग के समान इन्होंने भी अलंकारों को नितांत बाह्य तत्व मानना अनुपयुक्त ठहराया है। संस्कृत काव्यशास्त्र में अलंकारों को कटक-कुंडल का स्थान देने से इनकी स्थिति नितांत बाह्य प्रतीत होती है। 'वस्तुतः रस और अलंकार का सम्बन्ध इस रूपक के अनुरूप इतना दूर का नहीं है, रस की परिपुष्टि तो सामान्यतः आलंकारिक भाषा के बिना संभव ही नहीं है।'[२]

काव्य में अलंकारों के प्रयोग से दो मुख्य प्रयोजन सिद्ध होते हैं। एक ओर इनसे अर्थाभिव्यक्ति के रमणीय विकास में सहायता मिलती है, दूसरी ओर कल्पना विलासजन्य आह्लाद की उपलब्धि होती है। सामान्य व्यक्ति की शैली से भिन्न शैली में जहाँ-जहाँ कवि स्वाभिप्राय को व्यक्त करता है, वहाँ-वहाँ कल्पना का अभिनव रूप देख कर आनंद अनुभव होता है और कल्पना के इस अभिनव चमत्कृति जन्य रूप को ही सहृदय अलंकार कहते हैं।[३]

संक्षेपतः श्री द० के० केळकर की मान्यता में अलंकारों की उत्पत्ति अभाव जन्य आवश्यकता के रूप में हुई है। अलंकार काव्य के लिए सामान्यतः नितांत अनिवार्य हैं, रस परिपुष्टि में बाधक नहीं, वरन् साधक ही हैं। इन्हीं से भावाभिव्यक्ति में स्पष्टता, तथा रमणीयता आती है और कल्पनाजन्य आनंद का मूल भी अलंकार ही हैं।

प्रा० जोग ने अलंकारों की आंतरिक स्थिति का निदर्शन करने के लिए 'विभ्रम' नाम सुझाया है तो श्री केळकर ने इन्हें रस और कल्पना तत्व से सम्बद्ध करके इनकी आंतरिकता की परिपुष्टि की है। मानसशास्त्र का आधार लेकर डा० वाटवे ने अलंकारों की कवि तथा पात्रों की मनःस्थिति से सम्बन्ध का वैज्ञानिक विश्लेषण किया है, और विचार या कल्पना तथा भावना तत्व से अलंकारों के प्रत्यक्ष सम्बन्ध को दर्शाया है। इनके मत में विचारों के अथवा कल्पना के मूल बीज से ही अलंकारों का अंकुर प्रस्फुटित होता है और भावना से सम्बद्ध होकर पल्लवित होता है। इसी कारण अलंकारों का कवि तथा पात्रों की मनःस्थिति से सम्बन्ध हो जाता है। इसी को अलंकारों का Subjective aspect कहा जा सकेगा। किसी बाह्यपदार्थ के दर्शन से उत्पन्न व्यक्ति की अनुभूति का भाग साहित्य या काव्य का व्यवच्छेदक

१. काव्यलोचन, पृ० ३२५।
२. वही, पृ० ३२६।
३. काव्यालोचन, पृ० ३२७।

विशिष्ट भाग होता है, अतः भावानुकूल इतर तत्वों के समान अलंकारों का समावेश भी रस की अंगभूत वस्तु के रूप में किया जाना चाहिए। ज्यों ही मन में उत्कट भावना की उद्बुद्धि होती है, त्यों ही वह मन की विचारात्मक, कल्पनात्मक, स्मृत्यात्मक इत्यादि सर्व शक्तियों को अत्यन्त वेग से उद्दीप्त कर देती है, जिससे मन व शरीर की सभी शक्तियां भावानुरूप उपयोग में आती हैं।'[१]

डा० वाटवे ने उपमालंकार का उदाहरण प्रस्तुत करके यह स्पष्ट कर दिखाया है कि अलंकार-योजना से कवि-मन की अन्तःस्थिति ही पूर्णतः व्यक्त होती है।[२] अतः इन्होंने न केवल सादृश्यमूलक अपितु 'इतर अलंकारों का भी कवि की विचार प्रक्रिया व भावना से आंतरिक सम्बन्ध सिद्ध किया है और कवि-प्रयुक्त अलंकारों को उसके अन्तरंग के निरीक्षण करने के सुंदर गवाक्ष माना है।[3]

इन्होंने मानसशास्त्र के आधार पर अलंकारों की आंतरिक मानसिक स्थिति का विश्लेषण करने पर भी काव्य में अलंकारों को नितांत अनिवार्य तत्व नहीं माना है। रस-ध्वनिवादी आचार्यों के अनुरूप इनकी धारणा में भी निरलंकृत काव्य भी सरस हो सकता है, अलंकार काव्य के लिए नित्य या अनिवार्य तत्व नहीं है: 'संवेदनशील और 'भावघन' काव्य अलंकारों के बिना भी रसोत्पत्ति में समर्थ हो सकता है। फलतः मैं काव्य की तत्वतः निरलंकारता को मान्यता देता हूँ।'[४] इन्होंने अपनी मान्यता की परिपुष्टि में रसपूर्ण किन्तु परंपरागत अलंकार-हीन अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।[५]

संस्कृत काव्यशास्त्र में अलंकारों की नित्यता और अनित्यता तथा अंतरंगता एवं बहिरंगता के विषय में स्पष्टतः दो मत हैं। उसी प्रकार श्री न० चि० केळकर की मान्यता में भी दो प्रकार की विचार धाराओं का प्रतिपादन हुआ है। एक ओर उन्होंने सामान्यतः वास्तविक काव्य के लिए छंद, यमक, अलंकार आदि की अनावश्यकता की स्वीकृति दी है। परन्तु जब उन्होंने रसतत्व को काव्य का आत्मतत्व मान लिया तब अलंकार तत्व को भी वे नित्य और रस के समकक्ष ही स्थान देना उपयुक्त समझते हैं। इनके मत में रस यदि काव्य की आत्मा है तो अलंकृत भाषा उस रसरूपी आत्मा की देह है। अलंकारों को जब काव्य-आत्मा की देह रूप में

---

१. रसविमर्श, पृ० ३७२।
२. वही, पृ० ३७२।
३. वही, पृ० ३७२।
४. नवे अलंकार, परिचय, पृ० ७, ८।
५. रसविमर्श, पृ० ७१, ७२।

मान्यता दी जाती है तो वे एक प्रकार से अनिवार्य तत्व बन जाते हैं, क्योंकि बिना शरीर के आत्मा का अस्तित्व ही व्यवहारतः कठिन है। रस तत्व और अलंकार तत्व में संभवतः श्री न० चि० केळकर ने विशेष अंतर मान्य नहीं किया है, फलतः वे लिखते हैं : 'अलंकार, वक्रोक्ति और व्यंग्योक्ति को भी काव्य की आत्मा न मानने वालों का दृष्टिकोण संकुचित है।' जब रस और अलंकार दोनों ही काव्य के आत्म-तत्व बन जाते हैं, तब उनका वास्तविक अंतर मिट जाना चाहिए, परन्तु श्री न० चि० केळकर की मान्यता में 'रस और अलंकार के स्वरूप में' वास्तविक अंतर इतना ही है कि रस का स्थायीभाव सजीव सृष्टि की भावनाओं पर अधिष्ठित है और अलंकारों का स्थायीभाव अचेतन सृष्टि पर भी अधिष्ठित हो सकता है।'[१] इस प्रकार श्री न० चि० केळकर ने मानो रसतत्व का ही एक भेद अलंकार तत्व मान लिया है।[२] इनकी मान्यता में 'स्वभावोक्ति से रसोत्कर्ष में सहायता मिल सकती है परन्तु सर्वत्र स्वभावोक्ति ही रसोत्कर्ष में अनिवार्यतः योग नहीं देती।' अतः समग्र रूप से श्री न० चि० केळकर की मान्यताओं का निष्कर्ष निकाला जाय तो स्पष्ट है कि वे अलंकारों को बाह्य और अनित्य तत्व नहीं मानते अपितु रस की भाँति अनिवार्य ही मानते हैं। सहृदय की दृष्टि से अलंकार-स्वरूप पर चिंतन करके श्री न० चि० केळकर इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि अर्थालंकार ही नहीं शब्दालंकार भी सहृदय में कल्पना तत्व की उद्‌बुद्धि में समर्थ होते हैं। 'यमक (अलंकार) से केवल शब्दों की प्रतीति ही नहीं होती वरन् कल्पना की भी प्रतीति होती है।'[३]

अलंकार-स्वरूप पर श्री न० चि० केळकर का चिंतन परंपरा-भुक्त नहीं है। वे स्वयं भी एक सशक्त साहित्य-स्रष्टा के रूप में ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। परन्तु अलंकार और रस का लगभग समान स्वरूप और इन दोनों की समान अनि-वार्यता आधुनिक अनेक विवेचकों को अनुपयुक्त प्रतीत हुई है। श्री वा० म० जोशी

---

१. विचार सौन्दर्य, पृ० २०।

२. इन्होंने अलंकारजनित आनंद का विश्लेषण इस प्रकार किया है—'स्त्री को लता की उपमा देने से मन में आनंदप्राप्ति इसलिए होती है कि मन समान गुणों वाले दो पदार्थों का एकदम ही अनुभव कर सकता है। यही तथ्य समान गुणों वाले जितने अधिक पदार्थों के विषय में अभिघटित होगा उतना ही आनंद अनुभव होगा। इस आनन्द से एक प्रकार की तल्लीनता आती है और यदि यह अनंद उत्कट हो जाता है तो इससे समाधान प्राप्त होता है।' वही पृ० २०

३. विचार सौन्दर्य, पृ० २०-२१।

ने परंपरागत अलंकार स्वरूप का आधार लेकर श्री न० चि० केळकर की मान्यताओं का प्रत्याख्यान किया है। इनके मत में 'इसमें मुझे आपत्ति नहीं है कि (काव्य में) भावना-विलास, कल्पनाविलास और विचार-विलास को गौरव का स्थान दिया जाय, परन्तु 'तर-तम-भाव' का निर्धारण करना हो तो मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि 'भावना-विलास' को ही उच्चतम स्थान देना होगा। भावना-विलासात्मक उत्कृष्ट काव्य की आत्मा न अलंकार हो सकते हैं, न वक्रोक्ति न व्यंग्योक्ति ही। भावना-विलासात्मक उच्चतम काव्य के देह रूप में भी मैं अलंकारों को मान्यता देने के लिए उद्यत नहीं हूँ। क्योंकि देह रूप में 'मान्यता देने का तात्पर्य होगा उनकी अनिवार्यता को स्वीकृत करना।'[१]

श्री वा० म० जोशी ने तात्विक रूप में तो प्रत्येक काव्य में भाव, विचार और कल्पना तत्व का निकट सम्बन्ध स्वीकार किया है, परन्तु सामान्यतः गौण-प्रधान-भाव की दृष्टि से वे भावतत्व को प्रधान और अलंकारों को गौण तथा अनित्य मानने पर बल देते हैं। इनके मत में किसी भी बौद्धिक व्यापार के सन्निकट तद्विशिष्ट भावना नियमित रूप से विद्यमान होती है, इस मानसशास्त्रीय तत्व को ध्यान में रखना आवश्यक है। इस आधार पर सामान्यतः काव्यमात्र को भावना-विलासात्मक कहा जा सकता है, परन्तु प्रधानता के आधार पर जिन्हें हम भावना प्रधान काव्य कहते हैं, उनमें उत्कृष्ट काव्य के लिए यमक, अलंकार इत्यादि की आवश्यकता नहीं है, वे अंगभूत नहीं हैं वरन् आनुषंगिक रूप से, गौण रूप से और अनित्य रूप से आने वाले तत्व हैं।'[२]

फलतः श्री वा० म० जोशी ने मृच्छकटिक, ऑथेलो, उत्तररामचरित, आदि से अनेक अनलंकृत साधारण वाक्यों को प्रस्तुत करके यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि विशिष्ट प्रसंग में प्रयुक्त अलंकार-रहित शब्द भी रसोत्पत्ति में समर्थ हो सकते हैं।[3] इस प्रकार व्यावहारिक धरातल पर अलंकार-हीन उक्तियों में

---

१. विचार सौन्दर्य, पृ० २१।

२. वही, पृ० २२।

३. 'मृच्छकटिक में शकार हत्या करने का प्रयत्न करता है, परन्तु वह न्याय सभा में स्पष्ट 'न मया' (मैंने नहीं किया) कहता है, आथेलो के अंतिम अंक में आथेलो इआगो पर तलवार से आक्रमण करता है तब इआगो 'I bleed but not killed कहता है, अथवा उत्तर रामचरित में सीता राम के विषय में आदरपूर्वक कहती है 'इसीलिए ये रघुकुल के भूषण भूत हैं' अथवा राम अपने परिचारक को कहते हैं 'मुझे पहले जैसे ही रामभद्र पुकारते जाना' आदि

रसोत्पत्ति को मान्यता देने पर भी अन्त में श्री जोशी ने व्यापक रूप में रस और अलंकार के एक रूपत्व की श्री न० चि० केळकर की मान्यता का समर्थन ही किया है। इनके विचार में काव्यानंद का मूलभूत कारण है—'वाग्विलास', फिर चाहे यह प्रधान रूप से भावना रम्यत्व मूलक हो, चाहे कल्पना वैभवमूलक हो, चाहे बुद्धिवैभव मूलक हो। 'वाग्विलास' तो अलंकार और रस दोनों के मूल में निहित है। इस दृष्टि से रस और अलंकार के एक-रूपत्व को मैं स्वीकार करता हूँ। इसी प्रकार भावना, कल्पना और बुद्धि का परस्पर नितांत निकट संबन्ध है, यहाँ तक कि वे एक दूसरे के अंगभूत हैं इस आशय से भी मैं रस और अलंकारों के एक रूपत्व को मान्यता दे सकता हूँ। परन्तु सामान्य दृष्टि से रस और अलंकार में जो भेद माना गया है वह महत्वपूर्ण है, उस ओर दुर्लक्ष करना उपयुक्त नहीं।[1]

श्री वा० ल० कुळकर्णी का विवेचन कालक्रम की दृष्टि से पर्याप्त बाद का है, फिर भी उसका यहाँ निरूपण इसलिए आवश्यक है कि इन्होंने श्री न० चि० केळकर तथा श्री वा० म० जोशी की अलंकार-धारणाओं का अपने दृष्टिकोण से समालोचन किया है। इन्होंने श्री न० चि० केळकर की मान्यता का प्रत्याख्यान इस आधार पर किया है कि मूलतः अलंकारतत्व और रस तत्व को समकक्ष मानना ही अनुपयुक्त है: 'वस्तुतः रस और अलंकार का सम्बन्ध साध्य-साधन का संबंध है, कार्य-कारण का सम्बन्ध है, परन्तु प्रस्तुत कार्य-कारण रूप सम्बन्ध भी तभी मान्य किया जा सकता है तथा वह शीघ्र मनो-ग्राह्य हो सकता है, जब कि अलंकार की एक कल्पना-चित्र (Image) के रूप में सामान्य व्याख्या की जाय।'[2]

इनकी स्पष्ट धारणा है कि संस्कृत साहित्यशास्त्र में काव्य-शरीर के सौन्दर्य-वर्धन के लिए ही नाना प्रकार के अलंकारों का निर्माण हुआ है और इन सब का जब रस से किसी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया जाता है तो अपयश ही हाथ लगता है। श्री न० चि० केळकर की प्रवृत्ति सामान्यतः कल्पना विलास और बुद्धि-विलास पर ही प्रसन्न होने की प्रतीत होती है, फलतः वे इसी प्रकार के अलंकारों से उत्पन्न चमत्कृति पर अधिक मुग्ध होते थे। अतः इनके

वाक्यों में न छन्द हैं, न यमक है, न अलंकार है, न कल्पना विलास है और न बुद्धिविलास है फिर भी इन वाक्यों से 'उत्कट' रूप में रसोत्पत्ति होती है।' विचार सौन्दर्य, पृ० २३।

१. विचार सौन्दर्य, पृ० २४।

२. वाङमयीन टीपा आणि टिप्पणी, पृ० १३२।

मत में अलंकार साधन हैं, कारण हैं, इनका स्वरूप कल्पना-चित्रात्मक है तो रस साध्य है, कार्य है । परन्तु श्री वा० म० जोशी का अलंकार-स्वरूप के विषय में चिंतन भी परंपराभुक्त है । क्योंकि श्री कुळकर्णी के मत में अलंकार-स्वरूप विवेचन की बहुत बड़ी न्यूनता है—कल्पनाचित्र (Image) के प्रति दुर्लक्ष करना ।'[1]

प्रा० बनहट्टी ने अलंकारतत्व को श्री वा० ल० कुळकर्णी के समान कल्पना तत्व से ही संबद्ध किया है । परन्तु इन्होंने अलंकारों को रसतत्व या भाव तत्व में बाधक नहीं माना है । रस तत्व के साथ अलंकारतत्व के महत्व-मापन में इन्होंने समन्वयात्मक दृष्टि अपनाई है । वे उत्कृष्ट काव्य में रस के साथ अलंकारों की स्थिति भी नितांत महत्वपूर्ण मानते हैं : 'इस कथन में तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं कि यदि संत कवि (भक्त कवि) अलंकारों का बहिष्कार करते तो उनके काव्य का आधे से अधिक रस समाप्त प्राय हुआ होता ।' आगे वे भाव तत्व और कल्पना तत्व की परस्पर पूरकता का ही समर्थन करते हैं : 'भावना और कल्पना काव्य के दो भिन्न-भिन्न अंग हैं अतः दोनों परस्पर विरोधी हैं, यह मानना असंगत है । भावना-उल्लास और कल्पना-विलास दोनों अंग पर्याप्त अंश में परस्पर पूरक होते हैं । संसार के प्रथम श्रेणी के कवि इन दोनों अंगों में परिपूर्ण और समान रूप से समर्थ होते हैं ।'[2]

कल्पना तत्व और भाव या अलंकार तत्व तथा रसतत्व की पारस्परिक पूरकता का विचार पाश्चात्यों ने पर्याप्त विस्तार से किया है । भारतीय संस्कृत आचार्यों की धारणाओं में भी इसी तथ्य की परिपुष्टि मिलती है । अतः डा० वाळिंबे ने प्रस्तुत चिन्तन-प्रणाली का प्रथम श्रेय आनन्दवर्धन और कुंतक को दिया है और इनकी मान्यताओं को उपयुक्त ही सिद्ध किया है । इनके मत में सौन्दर्य ही अलंकार है इस सिद्धान्त के समर्थक आचार्य वामन से यह आशा स्वाभाविक ही थी कि वह कलात्मक रचना द्वारा निर्मित आकर्षक सौन्दर्य से अलंकारों की एकरूपता को स्वीकार करते । परन्तु यह आशा तब व्यर्थ सिद्ध हुई जब कि उन्होंने इस वचन के बाद ही गुणों को नित्य और अलंकारों को अनित्य मान कर उन्हें गौण स्थान दे दिया । कुंतक ने मात्र कलात्मक रचना को ही काव्य के अलंकार के रूप में स्वीकार किया है और उसके गौणत्व या बाह्यत्व को दूर कर दिया है । इस प्रकार अलंकार सौन्दर्यतत्व से एकरूप हो गये । प्रस्तुत कुंतक का 'कर्तृत्व

---

१. वाङमयीन टीपा आणि टिप्पणी, पृ० १३२-१३३ ।
२. मयूर काव्य विवेचन, पृ० ३६० ।

असंदिग्ध रूप से महत्वपूर्ण है। कुंतक से पूर्व आनन्दवर्धन के मन में भी प्रस्तुत विचारधारा का प्रादुर्भाव हो चुका था। इन्होंने भी स्पष्टतः ही अलंकारों को बाह्य शोभावर्द्धक तत्व तक ही सीमित नहीं किया वरन् रस तत्व से अलंकारों के अत्यन्त निकट सम्बन्ध का एवं काव्य के अन्तरंग से इनकी पूर्णतः एकरूपता का भी प्रतिपादन किया है।'[१]

डा० वाळिंबे के समान ही आनन्दवर्धन और अभिनव गुप्त के अलंकार-विवेचन का विस्तृत निरूपण करते हुए श्री ग० त्र्यं० देशपाण्डे ने अलंकारों की रस-व्यंजकता का स्पष्ट प्रतिपादन किया है। इनके मत में अलंकार शब्दार्थ के आश्रित होते हैं और वे ही शब्दार्थ में रस व्यंजकता की सामर्थ्य लाने में समर्थ होते हैं। रसाभिव्यक्ति के लिए काव्य प्रथम वाच्यार्थ का आश्रय ग्रहण करता है, वाच्यार्थ में रसाभिव्यक्ति की सामर्थ्य अलंकारों के कारण ही आती है। इसी तथ्य को प्रकारान्तर से भी स्पष्ट किया जा सकता है। रस वाच्य के लौकिक स्वरूप में अभिव्यक्त नहीं होता। रसाभिव्यक्ति के लिए वाच्यार्थ को लौकिक से भिन्न अर्थात् लोकोत्तर रूप धारण करना पड़ता है, इस लोकोत्तर रूप का तात्पर्य ही वाच्य का अलंकृत रूप है। रसावेश में प्रतिभावान् कवि जिन शब्दों का प्रयोग करता है, उन शब्द-प्रयोगों से निर्मित वाच्यार्थ विशेष ही अलंकार है। इसी को 'उक्ति विशेष' भी कहते हैं।'[२]

इस प्रकार अलंकारों की काव्य में आँतरिक स्थिति का विश्लेषण प्रायः आधुनिक युग के मराठी काव्य-शास्त्र के विवेचकों की प्रमुख विशेषता है। अलंकृत वाणी का मूल आधार भावोच्छ्वास है। रसावेश या भावावेश में वाणी अलंकृत हो जाती है, अतः अलंकृत वाणी और रस का अविच्छिन्न सम्बन्ध हो जाता है, फलतः अलंकारों को रस से नितांत पृथक् करना कठिन है। इस सामान्य सिद्धान्त की स्वीकृति के साथ ही कुछ उप-सिद्धान्त भी निकाल लिये जाते हैं। अर्थात् काव्य में सर्वत्र अलंकारों की स्थिति अनिवार्य नहीं है, अलंकार-रहित रचना में भी रसानुभूति संभव है, जैसा कि श्री वा० म० जोशी और डा० वाटवे ने प्रतिपादित किया है। इसी के साथ एक अन्य धारणा भी जुड़ी हुई है कि वे अलंकार वस्तुतः अलंकार ही नहीं हैं जो रसाभिव्यक्ति में समर्थ नहीं हैं। इनके अतिरिक्त एक अन्य धारणा भी है कि अलंकार काव्य के नित्य और अनिवार्य साधन हैं। श्री रा० अ० काळेले ने अलंकारों को साधन ही माना है, साध्य नहीं, परन्तु इनके मत

१. साहित्य मीमांसा, पृ० २९७।
२. भारतीय साहित्य शास्त्र, ३१२।

में जिस प्रकार शब्दार्थ काव्य का अनिवार्य या अपरिहार्य साधन है, उसी प्रकार लगभग अलंकार भी नितांत अपरिहार्य साधन है।' अलंकारों के बिना मूलतः काव्य-निर्माण ही कठिन है।[१]

फलतः श्री काळेले ने श्री वा० म० जोशी तथा डा० वाटवे-निरूपित निरलंकृत किन्तु रसपूर्ण उदाहरणों में भी अलंकार-स्थिति दर्शाने का प्रयत्न किया है।[२] स्वभावोक्ति को भी वे अलंकार ही मानते हैं। स्वभावोक्ति और स्वाभाविक उक्ति में इनके मतानुसार अन्तर है। काव्य में निरूपित स्वभावोक्ति वह लौकिक स्वाभाविक उक्ति नहीं होगी, उसमें भी चातुर्य की अनिवार्यतः स्थिति होती है। 'इस दृष्टि से स्वभावोक्ति केवल स्वाभाविक उक्ति न होकर वह वक्रोक्ति ही है।'[३] इनकी मान्यता में अलंकार वस्तुतः कवि की भाषा है,इसके बिना काव्य-निर्माण उसके लिए संभव ही नहीं है। अपने उद्दिष्ट कार्य, या 'स्वभाव निवेदन, को यथार्थ रूप में पूर्ण करने के लिए अलंकार नितांत आवश्यक हो जाते हैं। श्री काळेले ने २५ नये अलंकारों का निरूपण किया है। इनकी नवीनता का समर्थन वे भाषा का आधार लेकर करते हैं। क्योंकि इन्होंने अलंकारों को वस्तुतः कवि की भाषा ही मान लिया है। 'भाषा में जिस प्रकार से पुराने शब्द पिछड़ते हैं, उनका व्यवहार कम हो जाता है और पुराने शब्दों का स्थान नवीन शब्द ग्रहण कर लेते हैं। यही नियम कवि की भाषा—अलंकारों—पर भी अभिघटित होता है।'[४] इस प्रकार श्री काळेले ने अलंकारों को कवि की भाषा से सम्बद्ध करके शब्दार्थ के समान अलंकारों को भी काव्य के नितांत अनिवार्य साधन के रूप में मान्यता दी है।

अलंकारों का भाषा से निकट सम्बन्ध होने पर भी उनमें भावनात्मक अंश की अपरिहार्य स्थिति का श्री कृ० पां० कुळकर्णी ने सूक्ष्म विवेचन किया है। इन्होंने अलंकार-योजना का मूल आधार शब्दार्थ के भावनात्मक अंश पर अवलंबित माना है। 'अलंकार तो वस्तुतः शब्द के अर्थ-परिवर्तन के रूप हैं। अलंकारों के कारण शब्द के अर्थ का परिवर्तन नहीं होता, वरन् शब्द के अर्थ में परिवर्तन आ जाने से अलंकार बन जाता है। शब्द के अर्थ में प्रस्तुत परिवर्तन मनस्थ भिन्न-भिन्न

---

१. नवे अलंकार, परिचय, पृ० २।

२. नवे अलंकार, पृ० ८.९, परन्तु डा० वाटवे ने इसी ग्रन्थ की भूमिका में ही काळेले की मान्यताओं का प्रत्याख्यान करके स्व-निरूपित उदाहरणों की निरलंकारता सिद्ध की है। दे० परिचय, पृ० ८ ।

३. नवे अलंकार, पृ० १४।

४. वही, पृ० १८।

मानसिक क्रियाओं का परिणाम है। शब्दों में 'भावनात्मक अंश' (Emotional content) के समावेश से ही शब्दों के उच्चारण में अथवा उनके अर्थ में परिवर्तन आ जाता है, फलतः अलंकारों का निर्माण होता है।[1] यद्यपि श्री कृ० पां० कुळकर्णी का प्रयोजन काव्यगत अलंकारों की उपादेयता या उनके स्वरूप-विश्लेषण का नहीं था, फिर भी इन्होंने अलंकृत भाषा का विश्लेषण जिस भावनात्मक अंश के आधार पर किया है, वह काव्यालंकारों के लिए भी नितांत उपादेय है।

अलंकार-वर्गीकरण

मराठी में अलंकार-वर्गीकरण के अभिनव प्रयत्न पुनराख्याताओं की अपेक्षा परंपरानुयायियों ने ही प्रायः अधिक किये हैं। जहाँ अलंकारों के सुगम लक्षण और नये-नये उदाहरणों को प्रस्तुत करके विद्यार्थी वर्ग को समझाना इनका उद्देश्य था वहाँ उनके वर्गीकरण को भी सुगम बनाना स्वाभाविक ही था। अतः कतिपय लेखकों ने रुय्यक के जटिल वर्गीकरण में ही संशोधन सुझाये हैं तो कतिपय ने मम्मट आदि का स्थूल वर्गीकरण ही किंचित् परिवर्तन के साथ स्वीकार किया है। दो-एक लेखकों ने अभिनव वर्गीकरण भी प्रस्तुत किये हैं।

रुद्रट, रुय्यक आदि आचार्यों के सूक्ष्म वर्गीकरण की अपेक्षा सामान्यतः स्थूल वर्गीकरण को ही श्री लक्ष्मण शास्त्री लेले तथा श्री वि० वा० भिडे ने उपस्थित किया है। श्री लेले ने शब्दालंकार, अर्थालंकार, रसवदादि अलंकार तथा 'अलंकार सम्मेलन' इन चार वर्गों में लगभग १०० से भी अधिक अलंकारों का अन्तर्भाव किया है। श्री भिडे ने मम्मट स्वीकृत अलंकार-वर्गीकरण का भी निर्देश किया है और स्वयं शब्दालंकार अर्थालंकार रूप सामान्य वर्गीकरण मान्य किया है।[२] इन्होंने शब्दालंकारों में अनुप्रास, यमक, श्लेष और चित्र का अन्तर्भाव किया है और शेष ६१ अलंकारों की गणना अर्थालंकार वर्ग के अन्तर्गत कर दी है।

अलंकार-वर्गीकरण तथा संख्या-संकोच की दृष्टि से बाळुताई खरे का अलंकार-विवेचन मराठी साहित्यशास्त्र में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इन्होंने प्राचीन संस्कृत आचार्यों के विभिन्न अलंकार-वर्गीकरणों का उल्लेख किया है, परन्तु विशेष विस्तार रुय्यक के अलंकार-वर्गीकरणों को ही दिया है। रुय्यक का अलंकार-वर्गीकरण भी लेखिका को उपयुक्त नहीं लगा। अतः इन्होंने रुय्यक के

---

१. महाराष्ट्र साहित्य सम्मेलन १९५०, भाषा व्याकरण शाखा के अध्यक्षीय भाषण से।

२. अर्थालंकार, पृ० १९।

अलंकार-वर्गीकरण का मूल आधार ग्रहण करके अपना अभिनव वर्गीकरण सुझाया है।

इसमें ८० अलंकारों का १३ वर्गों में विभाजन किया गया है। बाळुताई खरे ने प्रत्येक अलंकार की परिभाषा में भरतमुनि से आचार्य जगन्नाथ तक उपस्थित परिवर्तनों का यथासंभव निर्देश किया है।[1]

श्री मधुकर वासुदेव धोण्ड की मान्यता में शब्दालंकार और अर्थालंकार-वर्गीकरण ही मूलतः सदोष है, क्योंकि 'शब्दों का अर्थ के बिना वस्तुतः अस्तित्व ही नहीं है।' काव्य में शब्दालंकारों को महत्व देने का परिणाम यह हुआ कि किसी-किसी कवि ने एक ही व्यंजन की सहायता से श्लोक-रचना करके अपनी प्रतिभा का अनुपयुक्त मार्ग में प्रदर्शन किया है। अतः काव्यशास्त्र में शब्दालंकार, अर्थालंकार वर्ग की अपेक्षा केवल दो वर्ग बनाने चाहिए : १. अर्थ के अलंकार और २. अर्थाभिव्यक्ति के अलंकार। अर्थ के अलंकारों को इन्होंने पुनः तीन वर्गों में विभक्त किया है : १ केवल प्रस्तुत प्रशंसा वर्ग २ प्रस्तुत-अप्रस्तुत प्रशंसा वर्ग तथा ३ अप्रस्तुत प्रशंसा वर्ग। इनमें द्वितीय वर्ग प्रस्तुताप्रस्तुत प्रशंसा के भी साम्य, विरोध, साम्य-विरोध, कार्यकारण, स्थल, काल आदि के आधार पर उपवर्ग सुझाये हैं। दूसरा प्रमुख वर्ग अर्थाभिव्यक्ति के अलंकारों का है। इस वर्ग का सामान्य स्वरूप है : एक ही अर्थ विभिन्न शब्दों से और शब्दों की विभिन्न रचना से व्यक्त किया जा सकता है। परन्तु इन अनेक शब्दों में कतिपय विशिष्ट शब्द और अनेक रचनाओं में कतिपय विशिष्ट रचनाएँ ही काव्य-रस की पोषक होती हैं। प्रस्तुत शब्द-योजना और रचना (पद्धति)पर आधृत अलंकारों को अर्थाभिव्यक्ति के अलंकार कहा जाय।'[2] अतः इन्होंने अर्थाभिव्यक्ति के अलंकारों के भी दो उपवर्ग सुझाये हैं—१. रसानुकूल शब्द-योजना व रचनामूलक तथा २. चमत्कृतिजनक बन्ध। प्रथम उपवर्ग में अनुप्रास, यमक, यथासंख्य, परिकर आदि छः का तथा द्वितीय में चित्रबंध, पुनरुक्तवदाभास, माला दीपक आदि छः अलंकारों का अन्तर्भाव किया है।

प्रथम प्रमुख वर्ग 'अर्थ के अलंकारों' का मूल आधार अप्रस्तुत प्रशंसा है। लेखक की मान्यता में अप्रस्तुत प्रशंसा ही अलंकारों की आत्मा है।[3] अतः इन्होंने अप्रस्तुत प्रशंसा को मूल आधार बना कर अन्य अलंकारों का इसके तीन वर्गों में

---

१. दे० अलंकार मंजूषा : बाळुताई खरे।
२. काव्याची भूषणें, पृ० २०।
३. वही, पृ० १८।

ही अन्तर्भाव कर दिया है ।[1]

इस प्रकार मम्मट-निरूपित ६७ अलंकारों का इन्हीं वर्ग-उपवर्गों में अन्तर्भाव हो जाता है । परन्तु इनकी अपनी मान्यता में मराठी के अलंकार शास्त्र के लिए लगभग ४०-४१ अलंकार ही विशेष उपयोगी हो

---

१. केवल प्रस्तुत प्रशंसा वर्ग––इसमें केवल दो अलंकार स्वभावोक्ति और प्रथम उदात्त अन्तर्भूत हैं, क्योंकि इनमें अप्रस्तुत प्रशंसा का सम्बन्ध नहीं होता ।

२. प्रस्तुत-अप्रस्तुत प्रशंसा वर्ग––जिन अलंकारों में प्रस्तुत के साथ अप्रस्तुत का वर्णन मिलता है, उन्हें इसी वर्ग में अन्तर्भूत समझना चाहिए । प्रस्तुत और अप्रस्तुत का सम्बन्ध भी अनेक प्रकार का होता है––

(क) साम्य पर आधृत––(अ) वस्तुगत––उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, उत्प्रेक्षा, ससंदेह, रूपक, अपह्नुति, निदर्शना, प्रथम अतिशयोक्ति, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, तुल्ययोगिता, अर्थान्तरन्यास, अशोभनाविनोक्ति, अन्योन्य, सम मीलित, स्मरण, भ्रांतिमान्, प्रतीप और सामान्य ।

(आ) शब्दगत-श्लेष, श्लेष पर आधृत श्लिष्टपरंपरित रूपक, छेकापह्नुति, तथा समासोक्ति ।

(ख) विरोध पर आधृत––विरोधाभास, अतिशयोक्ति, शोभनाविनोक्ति, विषम और व्याघात अलंकार ।

साम्य और विरोध दोनों सम्बन्धों पर आधृत––तीसरी अतिशयोक्ति और व्यतिरेक ।

(ग) कार्यकारण भाव सम्बन्ध पर आधृत––विभावना, हेतूत्प्रेक्षा, फलोत्प्रेक्षा, चौथी अतिशयोक्ति, पाँचवी अतिशयोक्ति, विशेषोक्ति, काव्यलिंग और अनुमान ।

(घ) स्थल पर आधृत––पर्याय, अधिक, प्रथम और द्वितीय विशेष अलंकार । कार्य कारण भाव और स्थल दोनों सम्बन्धों पर आधृत––असंगति ।

(ङ०) काल पर आधृत––भाविक अलंकार ।

इस प्रकार श्री धोण्ड ने प्रस्तुत-अप्रस्तुत प्रशंसा वर्ग में निहित अलंकारों के पाँच आधारों का स्पष्टीकरण किया है ।

३. अप्रस्तुत प्रशंसा वर्ग ––इस वर्ग में निहित अलंकारों का प्रयोजन प्रस्तुत को आकर्षक बनाना है । इसमें अन्तभूत हैं––व्याजस्तुति, आक्षेप, अप्रस्तुत प्रशंसा, पर्यायोक्ति, प्रथम उत्तर और सूक्ष्म अलंकार । दे० काव्याची भूषणें, पृ० १८-२२ ।

सकते हैं ।[1]

श्री धोण्ड के समान विद्यार्थी वर्ग को ध्यान में रख कर ही श्री ग० त्र्यं० देशपांडे तथा पु० गो० निजसुरे ने अलंकार-वर्गीकरण किया है, जिसमें छः शब्दालंकार तथा ६० अर्थालंकारों का अन्तर्भाव हुआ है । बाळुताई खरे के समान इन्होंने वर्गीकरण का मूलतः आधार तो रुय्यक का ही ग्रहण किया है और उसी प्रकार से वर्ग-उपवर्ग बनाये हैं । अलंकारों का क्रम भी रुय्यक पर आधृत है । शब्दालंकारों में—अनुप्रास, चित्र, पुनरुक्तवदाभास, यमक आदि हैं तथा अर्थालंकारों में लगभग ६० अलंकारों का वर्गीकरण पाँच मुख्य वर्गों में किया गया है । जब कि रुय्यक ने ७६ अर्थालंकारों को नौ वर्गों में विभाजित किया था । रुय्यक के 'रसाश्रय वर्ग एवं उसमें निरूपित नौ अलंकारों—रसवत्, प्रेयान्, ऊर्जस्वि समाहित, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता, संसृष्टि और संकर को वस्तुतः पृथक् अलंकार मानने की आवश्यकता ही नहीं है । उपर्युक्त अलंकार-वर्गीकरण में इन्हें स्थान नहीं दिया गया, जो उपयुक्त ही है ।

मराठी के अलंकार-पुनराख्याताओं ने अलंकार-वर्गीकरण का विशेष प्रयत्न नहीं किया है । प्रा० जोग ने 'विद्यार्थी वर्ग' और 'सामान्य पाठक' दोनों की आवश्यकताओं को दृष्टिगत रख कर 'काव्य-विभ्रम' ग्रन्थ रचा है ।[2] अतः अलंकार-वर्गीकरण में परंपरागत वर्गीकरण के साथ निजी दृष्टिकोण से भी इन्होंने वर्गीकरण सुझाया है । इन्होंने चमत्कृति या चारुत्व को अलंकारों का प्राण माना है और इसी आधार पर अलंकारों का वर्गीकरण किया है । कतिपय अलंकारों में चमत्कृति का आधार अर्थ होता है तो कतिपय में वर्ण । इन दोनों के बीच भी एक वर्ग होता है, जिसमें अर्थ सहित विशिष्ट वर्णसमूहों की अर्थात् विशिष्ट शब्दों की योजना आवश्यक होती है।इसमें चमत्कृति शुद्ध अर्थ की नहीं होती, वरन् अर्थपूर्ण विशिष्ट शब्दों की होती है । इस प्रकार की चमत्कृति के दो वर्ग बन गये—१. वर्णगत चमत्कृति और २. शब्दगत चमत्कृति । अर्थ चमत्कृति के भी दो वर्ग बन जाते हैं, १. विषयगत चमत्कृति तथा २. अर्थगत चमत्कृति । अर्थगत चमत्कृति, शब्दगत चमत्कृति तथा वर्णगत चमत्कृति के भी इन्होंने योजना मूलक और रचना मूलक दो-दो उप-विभाग सुझाये हैं ।[3]

इन्होंने अर्थ चमत्कृति पूर्ण अर्थालंकारों के कतिपय अन्य वर्गीकरण भी निर्दिष्ट

---

१. दे० अलंकार संख्या संकोच और विस्तार प्रकरण, पृ० ३६९ ।
२. काव्य विभ्रम, पृ० २१० ।
३. वही, पृ० ९९ ।

किये हैं, जो परंपरागत हैं। जैसे, सादृश्यमूलक, विरोधमूलक, तर्कमूलक, लोक-न्यायमूलक इत्यादि। परन्तु इनमें भी प्रमुखता दी है साम्यमूलक और विरोधमूलक वर्ग को ही, क्योंकि 'साम्य और विरोध अर्थ ग्रहण करने के बहुत बड़े मार्ग हैं।'[१]

अलंकारों के पुनराख्याताओं में श्री द० के० केळकर ने अलंकारों के नाम-परिवर्तन संख्या-संकोच आदि का जितना विस्तृत विवेचन किया है, उतना इनके वर्गीकरण का नहीं। सामान्यतः उन्होंने साधर्म्यनिष्ठ, वैधर्म्यनिष्ठ, वक्रोक्तिमूलक तथा शृंखलामूलक चार वर्गों का निर्देश तो कर दिया है, परन्तु इनके औचित्य-अनौचित्य अथवा अन्य अलंकार-वर्गों की संभावना पर तनिक भी प्रकाश नहीं डाला। डा० वाटवे ने अलंकार-वर्गीकरण का अभिनव प्रयत्न नहीं किया, परन्तु प्रो० बेन-निरूपित विरोध, साम्य तथा सामीप्य इन तीन विचार-प्रक्रियाओं के अथवा ज्ञानोपलब्धि के मार्गों के आधार पर संस्कृत अलंकारों को भी अधिष्ठित माना है।[२]

संकर-संसृष्टि और उभयालंकार

मराठी में अधिकांश अलंकार-विवेचकों ने उभयालंकार में उन्हीं अलंकारों की गणना की है जिनमें एक ओर शब्द या उनकी रचना की विशेषता होती है तो दूसरी ओर जिनमें अर्थचमत्कृति का भी वैशिष्ट्य होता है। श्लेष तथा पुनरुक्तवदाभास के उभयालंकारत्व का प्रा० जोग ने सोदाहरण प्रतिपादन किया है।[3] संकर और संसृष्टि के लिए कतिपय हिन्दी-विवेचकों की भाँति मराठी में किसी ने भी उभयालंकार के रूप में वर्ग-विभाजन सूचित नहीं किया। श्री लक्ष्मण शास्त्री लेले ने इन्हें 'अलंकार-सम्मेलन' के अन्तर्गत रखा है, परन्तु बाळुताई खरे ने 'संकर' नामक वर्ग ही सूचित किया है और अन्य अधिकांश विवेचकों ने भी संकर-संसृष्टि नाम से ही इन अलंकारों का पृथक् विवेचन किया है। बाळुताई खरे ने श्लेष और वक्रोक्ति को उभयालंकार वर्ग में स्थान दिया है।

इस प्रकार मराठी में हिन्दी की भाँति अलंकार-वर्गीकरण के अभिनव प्रयत्न हुए हैं। अधिकांश वर्गीकरण परंपराभुक्त हैं। परंपरागत संस्कृत आचार्यों के अलंकार-वर्गीकरणों में ही स्वल्प संशोधनात्मक एवं परिवर्धनात्मक प्रयत्न किये गये हैं। इनमें उल्लेखनीय प्रयत्न बाळुताई खरे, प्रा० जोग, ग० त्र्यं० देशपांडे तथा पु० गो० निजसुरे का है। श्री मधुकर वासुदेव धोण्ड का प्रस्तुत-अप्रस्तुतात्मक

---

१. **काव्यविभ्रम, पृ० १००।**
२. **रसविमर्श, पृ० ३७१।**
३. **काव्य विभ्रम, पृ० २०३।**

वर्गीकरण अभिनव है। अन्य अनेक अलंकार-विवेचकों की भाँति श्री लक्ष्मण शास्त्री लेले, वि० वा० भिडे, तथा द० के० केळकर ने एक प्रकार से अलंकार -वर्गीकरण को अपना विवेच्य विषय ही नहीं बनाया है।

अलंकार-संख्या : संकोच और विस्तार

परंपरानुयायी अलंकार-विवेचकों में अलंकार-संख्या-संकोच का व्यापक प्रयत्न बाळुताई खरे ने किया है। इन्होंने लक्षणोदाहरणपूर्वक लगभग ८० से अधिक अलंकारों का विवेचन किया है और यथासंभव प्रत्येक अलंकार में भरत से जगन्नाथ तक प्रस्तुत परिवर्तनों या विशेषताओं का निरूपण किया है। इनकी अपनी मान्यता में आधुनिक मराठी काव्यशास्त्र के लिए अलंकारों की इतनी प्रवृद्ध संख्या अनुपादेय है। अनेक परंपरागत अलंकारों में तो मूलतः काव्य-सौन्दर्यवर्धक गुण ही नहीं है। 'उन्हीं अलंकारों को वास्तविक अलंकार कोटि में स्थान दिया जाना चाहिए जिनका अस्तित्व स्पष्टतः प्रतीत होता है, जो रुचिकर या मनोरंजक हैं, तथा जिनकी व्यापकता और महत्ता पर शीघ्र ही ध्यान आकर्षित हो जाता है।'[1] इसी आधार पर लेखिका ने लगभग २० अलंकारों को ही विशेष मान्यता दी है, शेष अलंकारों का या तो इन्हीं में अन्तर्भाव माना है अथवा मूलतः उनके अलंकारत्व का ही प्रत्याख्यान किया है।

शब्दालंकार—यमक, अनुप्रास, पुनरुक्तवदाभास तथा चित्र में से बाळुताई खरे ने चित्र के बहिष्कार का समर्थन किया है तथा पुनरुक्तवदाभास के मूलतः अलंकारत्व का ही प्रत्याख्यान किया है, शेष 'यमक' और 'अनुप्रास' दो को ही शब्दालंकार माना है।

उभयालंकार—इसमें निरूपित श्लेष और वक्रोक्ति में से इन्होंने वक्रोक्ति का श्लेष में ही अन्तर्भाव सुझाया है और केवल श्लेष अलंकार को पृथक् मान्यता दी है।[2]

अर्थालंकार—लेखिका की मान्यता में शब्दालंकारों की अपेक्षा अर्थालंकारों का सौन्दर्य-दृष्टि से विशेष महत्व है। अर्थालंकारों में भी तर-तम की भावना से 'बुद्धिगम्य' अर्थालंकारों की अपेक्षा 'भावनागम्य' अलंकारों का अधिक महत्व है। 'अलंकारशास्त्र' को जितना ही सुगम बनाया जाएगा, अपनी सरसतावश अर्थालंकार उतना ही अधिक महत्व प्राप्त करते जायेंगे। 'अतः अर्थालंकारों में विशेषतः 'भावना-

---

१. अलंकार मंजूषा, पृ० ३२२।
२. वही, पृ० ३२५।

गम्य', अलंकारों को ही विशेष मान्यता दी गई है और अन्य अनेक अलंकारों का सादृश्य के कारण परस्पर अन्तर्भाव या विशेष सौन्दर्य-हीनता के कारण उनके बहिष्कार अथवा उनके मूलतः अलंकारत्व का ही प्रत्याख्यान किया गया है। निम्न लिखित सोलह अलंकारों को बाळुताई खरे ने स्वतंत्र मान्यता दी है और अन्य अनेक अलंकारों का इन्हीं में अन्तर्भाव भी सुझाया है :

१. उपमा : इसमें उपमेयोपमा, अनन्वय, स्मरण, प्रतीप और व्यतिरेक का अन्तर्भाव होना चाहिए, क्योंकि इन सब में सादृश्य की अवस्था ही मुख्य रूप से ग्राह्य है।

२. रूपक : इसमें परिणाम, उल्लेख, अपह्नुति और समासोक्ति अन्तर्भूत हो सकते हैं, क्योंकि इन सब में सादृश्य की दूसरी अवस्था सामान्यतः पाई जाती है, जिसमें उपमेय को ही उपमान माना जाता है।

३. उत्प्रेक्षा : कतिपय अलंकारों में उपमेय पर उपमान का आरोप करके 'उपमेय' का लोप करने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। 'संदेह' अलंकार में उपमेय के स्थान पर उपमान का संदेह होने लगता है तो 'भ्रान्तिमान्' में इसी प्रकार की भ्रान्ति होने लगती है। उत्प्रेक्षा में उपमेय के स्थान पर उपमान की कल्पना करने की इच्छा होती है, फलतः तीनों अलंकारों में उपमेय का ही ग्रास होने लगता है, अतः तीनों का उत्प्रेक्षा में ही अन्तर्भाव हो।

४. अतिशयोक्ति : इसकी परंपरागत परिभाषा, जिसमें उपमेय का निगरण होता है, एकांततः स्वीकार न की जाय। अतिशयोक्ति की परिभाषा हो—अतिशयोक्त वर्णन। इसमें उपमेय का ग्रास होना, कार्यकारण का एक साथ होजाना, कार्य पहले और कारण बाद में होना, सम्बन्ध होने पर भी सम्बन्ध न दिखाना, दो वस्तुओं में सम्बन्ध न होने पर भी सम्बन्ध दिखाना आदि प्रकार के वर्णन लोक सीमातिवर्ती हैं, अतः इन सब का अतिशयोक्ति में ही अन्तर्भाव मानना चाहिए।

५. दृष्टान्त : इसमें निदर्शना, प्रतिवस्तूपमा और दृष्टान्त तीनों का अन्तर्भाव होना चाहिए।[१]

६. तुल्ययोगिता : मालादीपक, तुल्ययोगिता और दीपक तीनों को एक ही संज्ञा तुल्ययोगिता से संबोधित करना उपयुक्त होगा।

७. अन्योक्ति : इसमें 'अप्रस्तुत प्रशंसा' और व्याजस्तुति का अन्तर्भाव होगा।

---

१. अलंकार मंजूषा, पृ० ३२७।

८. पर्यायोक्त : आक्षेप और परिकर का इसमें अन्तर्भाव हो। परिकर अलंकार की साभिप्राय विशेषण योजना पर्याय से सत्य कथन को ही सूचित करती है।

९. एकावली : कारणमाला और एकावली की परिभाषा को मिला देना ही उपयुक्त है।

१०. हेतु : इसमें काव्यलिंग और अनुमान अन्तर्भूत होंगे, क्योंकि इनमें भी हेतु ही मुख्य होता है।[1]

११. विषम : इसमें विभावना, विशेषोक्ति, असंगति, विषम, विचित्र, विशेष और व्याघात अलंकार अन्तर्भूत होंगे, क्योंकि इन सब में कार्य-कारण की विसंगति ही दिखाई देती है।

१२. विरोध : इसमें अतद्गुण, विकल्प और विनोक्ति का अन्तर्भाव हो सकता है। जिस 'विषम' में अतिवैधर्म्य के कारण प्रतीयमान दो वस्तुओं का सम्बन्ध असंभव हो, उसे 'विरोध' में डाला जाय। जहाँ कहीं कार्य-कारण विरोध रूप विसंगति हो वहाँ 'विषम' समझा जाय और तदितर विसंगति अथवा विरोध को विरोध अलंकार समझा जाय।

१३. पर्याय : पर्याय और परिवृत्ति में आधार-आधेय का अविरोधी सम्बन्ध सामान्य बात है, अतः इस प्रकार का सम्बन्ध जिस किसी अन्य 'विषम' आदि अलंकार में दिखाई दे, उसका भी इसी में अन्तर्भाव हो।

१४. समुच्चय : इसमें समाधि, अन्योक्त और सम अलंकारों का अन्तर्भाव हो, क्योंकि एक ही क्रिया को सहायता पहुँचाना अथवा उसमें सरलता लाना रूप तत्व सब में सामान्य है।

१५. उत्तर : प्रश्नोत्तर की विशेषता के कारण 'परिसंख्या' और उत्तर को एक ही अलंकार बना दिया जाय।

१६. संसृष्टि : संकर और संसृष्टि को मिलाकर एक ही संसृष्टि नाम दे दिया जाय।

१७. स्वभावोक्ति : इस अलंकार को स्वतंत्र अलंकार के रूप में मान्यता दी जाय।

इस प्रकार २०-२२ अलंकारों को ही विशेषतः मान्यता देने के पक्ष में बाळुताई खरे ने अपनी सम्मति पर्याप्त विस्तारपूर्वक व्यक्त की है। इन्होंने रसवद् अलंकारों के अलंकारत्व का ही मूलतः प्रत्याख्यान किया है, क्योंकि इनमें रसत्व की प्रधानता है और ये रसोपकारक ही हैं।[2] अलंकारों के नवआविष्कार का प्रयत्न

---

१. अलंकार मंजूषा, पृ० ३२९।
२. अलंकार मंजूषा, पृ० ३३१।

इन्होंने नहीं किया है।

आधुनिक मराठी काव्यशास्त्र के लिए संस्कृत काव्यशास्त्र के सम्पूर्ण अलंकार सर्वथा उपयोगी नहीं हो सकते। कतिपय नये अलंकारों की जहाँ आवश्यकता है, वहाँ प्राचीनों के परित्याग की भी है। मराठी काव्य पर संस्कृत काव्य का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है, परन्तु आधुनिक मराठी-काव्य पर अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव का भी प्रतिषेध नहीं किया जा सकता। अतः इन दोनों भाषाओं के प्रभाव और मराठी भाषा की स्वतंत्र प्रवृत्ति को ध्यान में रखकर ही श्री म० वा० धोण्ड की मान्यता में अभिनव अलंकार शास्त्र के निर्माण की आवश्यकता है। प्रथम इन्होंने परंपरागत संस्कृत अलंकारों के बहिष्कार का निम्न आधार पर प्रतिपादन किया है :

(क) कतिपय अलंकार कृत्रिम हैं, इनमें शब्दजाल मात्र है अतः इनका बहिष्कार होना चाहिए, जैसे शब्दालंकारों में चित्रबंध, वक्रोक्ति, पुनरुक्तवदाभास का तथा अर्थालंकारों में मालादीपक, कारणमाला और एकावली का।

(ख) मराठी काव्य में जिनके उदाहरण नहीं मिलते और जिनका प्रयोग भी नहीं होता, जैसे, पदार्थ, क्रियादर्शना, परिवृत्त, अनुमान, अन्योन्य, पहिला उत्तर, समाधि, अधिक, प्रत्यनीक, मीलित, सामान्य, विशेष, तद्गुण, अतद्गुण और व्याघात।

(ग) कतिपय अलंकार कृत्रिम नहीं हैं, इनका प्रयोग भी मिलता है, परन्तु 'हृद्य' नहीं हैं, जैसे, सहोक्ति, विनोक्ति समुच्चय, संकर और संसृष्टि।

(घ) कतिपय अलंकार एक ही तत्व पर आधृत हैं, अतः इनके सूक्ष्म भेदों को अमान्य करके उनका तत्सदृश मुख्य अलंकार में अन्तर्भाव किया जाना चाहिए। जैसे, प्रतिवस्तूपमा, क्रियादीपक और तुल्ययोगिता उपमा के ही प्रकार हैं, तीनों का उपमा में अन्तर्भाव होना चाहिए। विभावना और विशेषोक्ति भी एक जैसे ही अलंकार हैं। व्यतिरेक और प्रतीप को भी मिलाकर एक ही बना दिया जाय।

फलतः श्री धोण्ड की मान्यता में आधुनिक मराठी अलंकार शास्त्र के लिए अधिक से अधिक ४१ अलंकार उपयोगी होंगे।[1]

---

१. अनुप्रास, यमक, उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, उत्प्रेक्षा, ससंदेह, रूपक, अपह्नुति, श्लेष, समासोक्ति (वाक्यार्थ) निदर्शना, अप्रस्तुत प्रशंसा, अतिशयोक्ति, दृष्टान्त, (कारक) दीपक, व्यतिरेक, आक्षेप, विभावना तथा विशेषोक्ति (दोनों मिला कर एक) यथासंख्या, अर्थान्तरन्यास, विरोध, स्वभावोक्ति, व्याजस्तुति, भाविक, काव्यलिंग, पर्यायोक्ति, उदात्त, पर्याय, परिकर, व्याजो-

कतिपय नवीन अलंकारों की स्वीकृति पर भी श्री धोण्ड का आग्रह है। इनमें अधिकांश अंग्रेजी के ही अलंकार हैं। इनकी सम्मति में नाटक के 'पताका स्थान' को भी अलंकार के रूप में स्वीकृति देनी चाहिए, लोकोक्ति अलंकार और छेकापह्नुति तो मराठी में भी रूढ़ हैं। इनके अतिरिक्त अंग्रेजी से आये हुए निम्नलिखित अलंकारों को मराठी अलंकारशास्त्र में स्थान देना उपयुक्त है :

१. ध्वन्यानुकारी Onomotopoeia २. चेतनोक्ति Personification
३. सुभाषित (Epigram) ४. अल्पोक्ति (Litotas)
५. प्रक्रमभंग (Bathos) ६. विरुद्धगुणन्यास (Antithesis)
७. संबोधन (Apostrophe)

पुनराख्याताओं में श्री द० के० केळकर ने अलंकार-संख्या-संकोच का सूक्ष्म विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। इन्होंने न केवल अनुपयोगी अलंकारों के बहिष्कार का ही समर्थन किया है, वरन् उपयोगी अलंकारों की अप्रचलित संज्ञाओं को भी परिवर्तित करने का सुझाव दिया है। इन्होंने अलंकार-संज्ञाओं के परिवर्तन में कतिपय प्राचीन आचार्यों की मान्यताओं को भी प्रमाण-स्वरूप उपस्थित किया है तथा कतिपय नये अलंकारों को मान्यता देने पर आग्रह प्रकट किया है। इन्होंने स्वतंत्र चिन्तनपूर्वक अनेक अलंकारों के भेद-उपभेदों को निरर्थक ठहराया है और निजी मान्य लगभग ३८ अलंकारों की स्वतंत्र सत्ता का निम्न रूप में प्रतिपादन किया है।

१. साधर्म्यनिष्ठ अलंकार (औपम्यनिष्ठ अलंकार)

प्राचीन आचार्यों ने इसी वर्ग में सबसे अधिक अलंकारों का समावेश किया है—उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, उत्प्रेक्षा, ससंदेह, रूपक, अपह्नुति, समासोक्ति, निदर्शना, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, अतिशयोक्ति, व्यतिरेक, प्रतीप, भ्राँतिमान्, सामान्य, मीलित, सम, स्मरण, तुल्ययोगिता, दीपक, अप्रस्तुत प्रशंसा, अर्थान्तर न्यास आदि। इन तेइस अलंकारों में से श्री केळकर ने केवल १२ अलंकारों को इस वर्ग में रखने की सम्मति दी है और कतिपय के नाम-परिवर्तन करना आधुनिक मराठी काव्यशास्त्र के लिए आवश्यक माना है। उपर्युक्त अलंकारों में प्रायः सभी में उपमा के कारण ही चमत्कृति नहीं है, फलतः जिन अलंकारों में विशेष बल उपमा पर दिया गया है, उनका एक वर्ग बनाया जाय और उपमेयोपमा के समान ही इस वर्ग के अलंकारों का 'उपमान्तक' नामकरण हो, यथा—आत्मोपमा, अन्योन्योपमा,

---

क्ति, परिसंख्या, उत्तर, सूक्ष्म, सार, असंगति, विषम, सम, स्मरण और भ्रान्तिमान्। काव्याची भूषणें, प्रस्तावना।

ससंदेहोपमा, छायोपमा, उत्कर्षोपमा, मीलनोपमा और भ्रांतोपमा । कतिपय अलंकारों के प्राचीन नाम मराठी में चिर-रूढ़ हैं, फलतः उन्हें यथावत् स्वीकार करना चाहिए, जैसे—उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि ।

१. आत्मोपमा—अनन्वय अलंकार को 'आत्मोपमा' कहा जाय, क्योंकि इसमें एक वस्तु की उसी से उपमा दी जाती है । दण्डी ने इसका नाम 'असाधारणोपमा दिया है, जो 'अनन्वय' की अपेक्षा अधिक सुगम है; परन्तु इससे भी सरल 'आत्मोपमा' नाम देना उपयुक्त होगा ।

२. अन्योन्योपमा—उपमेयोपमा को 'अन्योन्योपमा' नाम दण्डी ने सुझाया है जो उपयुक्त ही है ।

३. ससंदेहोपमा—ससंदेह को 'ससंदेहोपमा' नाम देना उपयुक्त होगा ।

४. छायोपमा—'समासोक्ति' अलंकार को 'छायोपमा' संज्ञा देने से इस अलंकार का स्वरूप समझने में सहायता मिल सकेगी ।

५. उत्कर्षोपमा—व्यतिरेक तथा प्रतीप का एक प्रकार जिसमें उपमान का तिरस्कार पूर्वक उल्लेख होता है, इन दोनों में बहुत ही न्यून अंतर होता है । दोनों में वर्ण्य वस्तु का उत्कर्ष ही दिखाया जाता है, अतः इन दोनों को मिला कर 'उत्कर्षोपमा' कहा जाय । अतिशयोक्ति के काव्यप्रकाशकार-निरूपित चार भदों में से प्रथम भेद—यद्यर्थातिशयोक्ति और व्यतिरेक में सूक्ष्म अन्तर है, अतः यद्यर्थातिशयोक्ति को भी उत्कर्षोपमा में ही समाविष्ट किया जाय ।

६. विपर्ययोपमा—प्रतीप का दूसरा भेद है जिसमें उपमान को ही उपमेय बनाया जाता है । इसमें चमत्कृति का मूल आधार है उपमान और उपमेय का विपर्यय करना । फलतः केशव मिश्र-निरूपित 'विपर्ययोपमा' नाम ही उपयुक्त प्रतीत होगा ।

७. दृष्टान्त—निदर्शना, प्रतिवस्तूपमा और दृष्टान्त इन तीनों में जो अंतर है वह बहुत सूक्ष्म है । अतः तीनों अलंकारों को मिलाकर एक ही नाम 'दृष्टान्त' रूढ़ करना चाहिए । आचार्य जगन्नाथ ने प्रतिवस्तूपमा और दृष्टान्त के पारस्परिक अंतर को निरर्थक सिद्ध किया है और हेमचन्द्र ने तो तीनों को निदर्शना में ही अन्तर्भूत कर दिया है ।[1] निदर्शना दृष्टान्त का ही एक प्रकार है, किसी कठिन कार्य के लिए किसी असंभाव्य वस्तु का दृष्टान्त देना ही निदर्शना है, जैसे, मूर्ख को समझाना, रेत से तेल निकालना है ।

---

१. **काव्यालोचन, पृ० ३४२ ।**

अर्थान्तिर न्यास के दूसरे प्रकार को जिसमें सामान्य से विशेष की ओर जाया जाता है, दृष्टान्त अलंकार में ही अन्तर्भूत किया जाय।

८. रूपकातिशयोक्ति—जिस परंपरागत अतिशयोक्ति के भेद में उपमान उपमेय को निगरण करता है, इसकी समता रूपक से ही है। अतः इसे रूपकातिशयोक्ति ही कहा जाय।

९. विपर्यास—जिस अतिशयोक्ति में कार्य-कारण का विपर्यय वर्णित हो उसे विपर्यास कहा जाय। आधार-आधेय के विपर्यय पर आधृत— 'अधिक' अलंकार का समावेश भी इसी 'विपर्यास' अलंकार में हो।

विशेष अलंकार का प्रथम प्रकार (हेमचन्द्र-निरूपित) जिसमें आधार के बिना भी 'आधेय' की स्थिति वर्णित हो, उसे 'अधिक' अलंकार के समान मान कर ही 'विपर्यास' में अन्तर्भूत किया जाय।

१०. अतिशयोक्ति—अतिशयोक्ति का सामान्यतः मराठी में प्रचलित अर्थ-ग्रहण कर इसे अतिशयोक्ति अलंकार समझा जाय और इसमें 'अत्युक्ति' का अन्तर्भाव हो।

११. अद्‌भुत—विशेष अलंकार का जो दूसरा प्रकार है, जिसमें एक ही समय एक ही पदार्थ अनेक स्थलों पर वास करता है, उसे स्वतंत्र नाम दिया जाय—अद्‌भुत अलंकार।

१२. दीपक—विशेष के तीसरे प्रकार को, जिसमें एक काम करते समय इतर कार्य भी सहज सिद्ध हो जाते हैं, दीपक अलंकार में समाविष्ट किया जाय। तुल्य योगिता और समुच्चय का भी 'दीपक' में ही अन्तर्भाव हो। 'सहोक्ति' भी दीपक में ही अन्तर्भूत होगी।

१३. सिद्धान्त—अर्थान्तिर न्यास के प्रथम भेद को जिसमें विशेष से सामान्य सिद्धान्त निकाला जाता है, अर्थान्तिरन्यास समझा जाय और इसका नाम हो 'सिद्धान्त' अलंकार।[१]

वैधर्म्यमूलक अलंकार—विरोध, विषम, विभावना, विशेषोक्ति, असंगति, व्याघात इत्यादि।

१. विरोधाभास—संस्कृत में जिस अलंकार को 'विरोध' कहा जाता है, उसे मराठी में 'विरोधाभास' नाम देना उपयुक्त है।

२. विषम—जहाँ विरोधाभास न होकर वास्तविक विरोध होता है, उसे संस्कृत आचार्य 'विषम' अलंकार नाम देते हैं। इसी को मराठी में प्रचलित रखना

---

१. काव्यालोचन, पृ० ३४६।

उपयुक्त है ।

३. कार्यकारण असंगति---असंगति, विभावना और विशेषोक्ति तीनों को मिला-कर 'कार्य कारण असंगति' नाम दिया जाय। क्योंकि असंगति में कारण एक जगह तो कार्य अन्यत्र होता है, विभावना में कारण के बिना कार्य हो जाता है और विशेषोक्ति में कारण होने पर भी कार्य नहीं होता ।

वक्रोक्तिमूलक अलंकार---पर्यायोक्ति, व्याजस्तुति, अप्रस्तुतप्रशंसा और आक्षेप ।

१. अन्योक्ति---अप्रस्तुतप्रशंसा का अन्योक्ति अलंकार नाम रूढ़ होना चाहिए । मराठी में भी अन्योक्ति शब्द इसके लिए प्रचलित है और संस्कृत में हेमचन्द्र तथा रुद्रट इसके समर्थक हैं । इसके अतिरिक्त अप्रस्तुत प्रशंसा में 'प्रशंसा' शब्द अन्वर्थक नहीं है, क्योंकि अनेक स्थानों पर पर्यवसान में प्रशंसा होती है तो अन्य अनेक स्थानों में निंदा ।

२. व्याजोक्ति---'व्याजस्तुति' का नाम भी परिवर्तित करना आवश्यक है, क्योंकि इसमें दोनों प्रकारों ---बाह्यतः स्तुति और परिणाम में निन्दा तथा बाह्यतः निंदा और परिणाम में स्तुति---का अन्तर्भाव होता है, परन्तु व्याजस्तुति शब्द इसके लिए अनुपयुक्त है, इससे प्रथम प्रकार की ही प्रतीति विशेषतः होती है, अतः इसे 'व्याजोक्ति' कहना उपयुक्त है ।

३. गूढोक्ति---संस्कृत में 'व्याजोक्ति' अलंकार वहाँ समझा जाता है जहाँ प्रकट न करने योग्य वस्तु के प्रकट हो जाने पर उसे छिपाने का पुनः प्रयत्न किया जाता है। इसमें और अपह्नुति में बहुत ही सूक्ष्म अंतर है, अतः इन दोनों को मिला कर 'गूढ़ोक्ति' अलंकार कहा जाय ।

४. अर्थोक्ति---अधिक वर्णन न करके जहाँ बीच में ही बात छोड़ दी जाती है वहाँ आक्षेप अलंकार होता है। परन्तु संस्कृत में ही 'आक्षेप' का प्रस्तुत अर्थ अधिक रूढ़ नहीं है, अतः मराठी पाठकों के लिए उपयुक्त नाम होगा 'अर्थोक्ति' अलंकार ।

५. लक्षणोक्ति---जहाँ शब्द का लाक्षणिक अर्थ सादृश्य पर आधृत होता है, वहाँ गौणी लक्षणा होती है, जैसे, देवदत्त बैल है, इसे रूपक अलंकार ही समझा जायगा, परन्तु सादृश्य-इतर सम्बन्धों पर आधृत शुद्धा लक्षणा और इसके प्रकारों को भी अलंकार में समाविष्ट किया जा सकता है और इसे 'लक्षणोक्ति' नाम दिया जा सकता है ।

शृंखलामूलक अलंकार---कारणमाला, एकावली, सार इत्यादि ।

१. शृंखला---कारणमाला, एकावली और सार को मिला कर एक ही नाम दिया जाय---शृंखला। तीनों का आधार एक ही है। अधिक स्पष्टता के लिए कारण

श्रृंखला, नाम श्रृंखला तथा उत्कर्ष श्रृंखला तीन उपवर्ग श्रृंखला के बनाये जा सकते हैं।[1]

इस प्रकार चार वर्गों में निरूपित परंपरागत संस्कृत अलंकारों के नाम-परिवर्तन सुझाने के साथ अतिशयोक्ति, अर्थान्तर न्यास, विशेष आदि अलंकारों के उपभेदों को पृथक्-पृथक् करके उनका यथासंभव अन्य अलंकारों में भी अन्तर्भाव कर दिया गया है।[2]

काव्य प्रकाश में निरूपित परिकर, प्रत्यनीक, सम, अन्योन्य, स्मरण, पर्याय, यथासंख्य और काव्यलिंग को अलंकार-वर्ग से बहिष्कृत करने का श्री केळकर ने समर्थन किया है।

नवीन अलंकार

श्री केळकर ने लोकोक्ति, सुभाषितोक्ति, चेतन धर्मोक्ति तथा लक्षणोक्ति इन चार नवीन अलंकारों की स्वीकृति पर बल दिया है। लेखक ने निजी मान्य अलंकारों की नामावलि परिशिष्ट में दी है। इसमें ३८ अलंकारों के स्वतः स्वीकृत नामों का तथा इनमें अन्तर्भूत अनेक अलंकारों का कोष्ठक में उल्लेख किया गया है।[3]

आधुनिक मराठी काव्यशास्त्र में नवीन अलंकारों की सर्वाधिक वृद्धि श्री रा० अ० काळेले ने ही सूचित की है। इन्होंने २५ 'नवीन अलंकारों' को तीन वर्गों में इस प्रकार से विभक्त किया है—

१. उभयालंकार : (१) अनुनाद (२) आवर्तन (३) भाषामिश्र (४) विपर्यय (५) शब्दानुमान (६) संयोग।

२. अर्थालंकार : (७) अविषय (८) अंशभक्ति (९) उपदेशापदेश (१०) एकोन (११) कविकथा (१२) तर्क (१३) निपात (१४) निर्देश (१५) निक्षेप (१६) पुनरुक्ति (१७) प्रत्ययान्तर (१८) प्रमाद स्वीकार (१९) व्यस्त (२०) श्रेयः सन्धि (२१) समान्तिक (२२) सहृय।

३. प्रकरणालंकार : (२३) दारुण (२४) पताका (२५) भङ्ग।

इन में अनुनाद (Onomotopoeia), अविषय (BrokenMataphor) अंश-भक्ति (Metonymy), निपात (Anticlimax), निर्देश (Allusion), पुनरुक्ति (Tautology) और दारुण (Irony) तो अंग्रेजी अलंकारों पर ही

---

१. काव्यालोचन, पृ० ३४६–३४९

२. दे० काव्यालोचन : परिशिष्ट—पृ० ३५५-५६।

३. वही, पृ० ३५६,

मूलतः आधृत हैं। शेष अठारह अलंकारों की नवीनता का विवेचन अपेक्षित है। डा० वाटवे ने इनमें से कतिपय अलंकारों में ध्वनि या व्यंग्य की प्रधानता स्वीकार की है तो कतिपय को परंपरागत अलंकारों का ही भेद-सा ठहराया है। 'प्रत्ययान्तर' शब्द-शक्तिनिष्ठ है तो 'समान्तिक' 'उपमाध्वनि' है, पुनरुक्ति अपुष्टार्थ दोष के समान प्रतीत होता है तो 'शब्दानुमान' चित्रकाव्य-रचना के 'प्रहेलिका' अलंकार-सा लगता है। 'भंग' कथानक रचना की विशेषता है, अलंकार नहीं, इसी प्रकार 'पताका' में ध्वन्यर्थ मुख्य है न कि अलंकार। फिर भी 'सहृय', श्रेयःसन्धि, निक्षेप, उपदेशापदेश आदि अलंकारों में अभिनव चमत्कृति को डा० वाटवे ने स्वीकार किया है।[1] श्री ग० त्र्यं देशपाण्डे तथा पु० गो० निजसुरे ने कतिपय नवीन अलंकारों में काळेले-निरूपित अनुनाद, अविषय, अंशभक्ति, निपात, विपर्यय, श्रेयःसन्धि, समान्तिक, सहृय आदि अलंकारों का उल्लेख किया है।[2]

सैद्धान्तिक दृष्टि से श्री काळेले ने अलंकारों को एक प्रकार से कवि की भाषा से ही सम्बद्ध कर दिया है, ऐसी स्थिति में अभिनव अलंकारों की उत्तरोत्तर आविष्कृति कठिन नहीं है। परन्तु इन्होंने नवीन अलंकारों का आविष्कार मानव के संवेदना-केन्द्र के परिवर्तन पर स्थिर किया है। 'फ्रेडरिक पाल के सिद्धान्तानुसार समयानुरूप संवेदना-केन्द्र भी परिवर्तित होते हैं (Shift of Sensibility) और संवेदना केन्द्र के परिवर्तन के साथ नवीन भाषा विशेष (Emergent idiom) का निर्माण होता है। यही नवीन अलंकारों की उत्पत्ति का रहस्य है।'[3] कवि अपनी नवीन अनुभूति को व्यक्त करना चाहता है, फलतः उसे नई भाषा की आवश्यकता पड़ती है और इसी आवश्यकतावश नवीन अलंकार-योजना आरम्भ होती है। यदि काळेले-निरूपित प्रस्तुत कसौटी पर २५ नये अलंकारों को कसा जाय तो वस्तुतः बहुत कम अलंकारों के मूल में अनुभूति की नवीनता और तज्जनित भाषा-परिवर्तन दृष्टिगोचर होगा। फिर भी इनके सभी अलंकारों को प्राचीन अलंकारों में अन्तर्भूत करना न्याय पूर्ण नहीं कहा जा सकता, ७-८ अलंकारों की अभिनवता असंदिग्ध है।

श्री काळेले-प्रतिपादित २५ अलंकारों में से जिन अलंकारों की नवीनता की स्वीकृति डा० वाटवे, श्री ग० त्र्यं० देशपांडे तथा श्री निजसुरे एकमत से देते हैं, वे हैं 'श्रेयः सन्धि' और 'सहृय'। इनके लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं।

---

१. नवे अलंकार : रा० अ० काळेले, परिचय, पृ० १२-१४।
२. दे० अलंकार प्रदीप : देशपांडे और निजसुरे।
३. नवे अलंकार : पृ० १८-१९।

श्रेयः सन्धि : 'यदि कोई बुराई हो जाय तो भी उससे किसी अच्छाई को बड़ी चतुराई से साध लेना 'श्रेयः सन्धि' अलंकार कहलाता है।'[१]

उदाहरणार्थ—

आणि अचानक आज कळे कीं
तुझा दुज्याशीं विवाह झाला
उपहासुनि मी मनास म्हटलें
कवितेसाठी विषय मिळाला !

(व्यंकटेश माडगूळकर—'कवितेसाठी विषय')

अर्थ—और आज जब अचानक ही मुझे पता चला कि तुम्हारा विवाह किसी और से हो गया है तब मैं अपने मन से उपहासपूर्वक कहने लगा कि तुझे कविता के लिए विषय तो मिल ही गया ![२]

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि कवि एक अवांच्छित कार्य हो जाने पर भी उससे बड़ी चतुराई से एक अच्छाई साध लेना चाहता है।

श्री काळेले की कल्पनानुसार श्री मैथिलीशरण गुप्त के काव्य 'पंचवटी' की प्रस्तुत पंक्तियों में 'श्रेयः सन्धि' अलंकार की स्थिति स्वीकार की जा सकती है—

यदि बाधाएँ हुईं हमें तो, उन बाधाओं के ही साथ।
जिससे बाधा-बोध न हो, वह सहन शक्ति भी आई हाथ॥

सह्यः 'यदि अप्राप्य किन्तु इष्ट वस्तु संकटों के सहने पर मिल सकती है, तो उन संकटों को सहने की भी आकांक्षा जहाँ प्रकट की गई हो वहाँ सह्य अलंकार होता है।'[३]

श्री काळेले ने इसका उदाहरण दिया है—

'ये रागवावयाहि
परि येई येई वेगे ।'

प्रस्तुत पंक्तियाँ मराठी के सुप्रसिद्ध कवि यशवंत की 'माँ' शीर्षक कविता से उद्धृत हैं। कवि अपनी दिवंगत माता को बुलाते हुए कहता है 'यदि तू मुझ पर नाराज़गी प्रकट करने के लिए भी आ सकती है, तो भी तू जरूर आ।' इसमें दिवंगत माँ इष्ट किन्तु अप्राप्य वस्तु है, माँ का क्रोध करना एक प्रकार का संकट ही है। फिर भी यह संकट 'माँ' के पुनर्मिलन के लिए कवि को नितांत सह्य प्रतीत

---

१. नवे अलंकार, पृ० ७८।
२. नवे अलंकार, पृ० ७९।
३. वही, पृ० ८१।

हो रहा है। इसमें कवि की आर्तता पराकाष्ठा पर पहुँची है। अतः कवि की प्रस्तुत उक्ति में सह्य अलंकार है।

इनके अतिरिक्त दो एक नव-प्रतिपादित अलंकारों की नवीनता को सोदाहरण प्रस्तुत करना अप्रासंगिक न होगा। इनकी नवीनता डा० वाटवे को भी मान्य है।

निक्षेप : 'दो अथवा दो से अधिक समुचित वस्तुओं का चतुराई से एकत्र स्थापन निक्षेप अलंकार कहलाता है।'

उदाहरण—रणदेवी सुयशाची अर्पण वीरास ज्या करी कण्ठी ।
आम्ही क्षत्रिय बाला मिठी तयाच्याच घालतो कण्ठी ॥ [1]

कविवर विनायक की प्रस्तुत पंक्तियों का आशय है कि 'रणदेवी जिस वीर के कण्ठ में सुयश की माला अर्पण करती है हम क्षत्रिय बालाएँ भी उसी वीर के कण्ठ में अपने कर अर्पित करती हैं। इसमें सुयश की माला और करों का एकत्र कण्ठ में स्थापन निक्षेप अलंकार की स्वतंत्र स्वीकृति को प्रमाणित करता है।

उपदेशापदेश : कोई किसी प्रकार की क्रिया कर रहा हो तो उसे उस क्रिया को प्रकारान्तर से करने के लिए प्रेरित करते हुए स्वाभिप्राय को जहाँ प्रकट किया जाता है, वहाँ उपदेशापदेश अलंकार होता है।'[2]

श्री काळेले ने 'रत्नावली' के प्रस्तुत श्लोक में 'उपदेशापदेश' अलंकार की स्थिति स्वीकार की है :[3]

अलमलमतिमात्रं साहसेनामुना ते
त्वरितमयि विमुंच त्वं लतापाशमेतम् ।
चलितमपि निरोद्धुं जीवितं जीवितेशे
क्षणमिह मम कण्ठे बाहुपाशं निधेहि ॥[4]

प्रा० जोग ने अध्ययन की सुगमता को ध्यान में रख कर लगभग ६५-७० अलंकारों का विवेचन किया है। आधुनिक मराठी काव्यशास्त्र के लिए इन सभी अलंकारों की एकांत उपयोगिता नितांत सन्दिग्ध है। आधुनिक युग का साहित्य सरलता और सुगमता की ओर अधिक अग्रसर है, अपेक्षाकृत कृत्रिमता और आडम्बर के। अतः इनकी मान्यता में आधुनिक साहित्य में पाँच-दस अलंकारों से

---

१. नवे अलंकार, पृ० ७४।
२. वही, पृ० ६७।
३. वही, पृ० ६८।
४. रत्नावली, (श्री हर्ष), तृतीय अंक, सप्तदश श्लोक।

अधिक अलंकारों का नियोजन सन्देहास्पद ही है। सामान्यतः शब्द चमत्कृति को तो आधुनिक काव्य में मान्यता ही नहीं दी जा रही है और अर्थचमत्कृति की कृत्रिमता को भी दूर किया जा रहा है। अतिशयोक्ति की अपेक्षा यथार्थ वर्णन को सहज ही अधिक प्रश्रय दिया जा रहा है। ऐसी स्थिति में यह नितांत सन्दिग्ध है कि विद्यमान अलंकार ही अपने अस्तित्व को बचाये रखने में कितने समर्थ होंगे। फलतः इनके मत में नवीन अलंकारों को मान्यता मिलने का प्रश्न सहज ही कठिन प्रतीत होता है।'[1]

नवीन अलंकारों के आविष्कार के विषय में भी इनकी धारणा स्पष्ट है। अलंकारों की मूलभूत कल्पना 'वाग्विकल्प' पर आधृत है। यह नितांत स्वाभाविक है कि जीवित भाषा में नये-नये वाग्विकल्प प्रचलित हों। इन्होंने श्री काळेले निरूपित नवीन अलंकारों का संकेत तो दिया है, परन्तु प्रस्तुत नव-आविष्कार का समर्थन तथा विवेचन सद्यः दो कारणों से इन्होंने अनुपयोगी ठहराया है। आधुनिक मराठी नव कविता का बाह्य स्वरूप ही अस्थिर है और अलंकार एक प्रकार से बाह्य स्वरूप से ही सम्बद्ध हैं, अतः निश्चित स्वरूप प्राप्ति से पूर्व नवीन अलंकार-आविष्कार स्थगित रखना उचित है। अलंकारों का मुख्य महत्व है वाग्विकल्प की चमत्कृतियों की प्रतीति कराना, इस दृष्टि से अर्थ-योजना अथवा अर्थ-रचना, शब्द-योजना अथवा शब्द-रचना और वर्ण-योजना अथवा वर्णरचना पर ही अलंकारों की चमत्कृति अवलंबित होती है। इनका आरम्भ में श्री जोग ने अलंकार-वर्गीकरण के मूल आधार में विवेचन किया है, फलतः विशिष्ट 'वाग्विकल्प' के नवीन नामकरण का प्रश्न इनकी मान्यता में अपेक्षाकृत गौण है।[2] श्री काळेले का नवीन अलंकारों के आविष्कार का प्रयत्न स्वल्प और अप्रौढ़ होने पर भी स्तुत्य है, क्योंकि इससे इस दिशा में चिन्तन करने के लिए प्रेरणा मिलती है।

पाश्चात्य अलंकार

हिन्दी और मराठी के कतिपय आधुनिक समीक्षकों ने भारतीय अलंकारों तथा पाश्चात्य अलंकारों का तुलनात्मक समीक्षण किया है। अतः प्रथम पाश्चात्य अलंकारों की विकास-परंपरा का निरूपण इनके तुलनात्मक अध्ययन के निष्कर्षों को समझने में नितांत सहायक होगा।

अलंकार तत्व का आविष्कार भारत की भाँति पाश्चात्य काव्यशास्त्र में भी

---

१. काव्यविभ्रम, पृ० २१० ।

२. वही, पृ० २११ ।

आरंभिक काल से ही हुआ है। पश्चिम के आदि कवि होमर की रचना में स्पष्टतः आलंकारिक वर्णन मिलते हैं। पाँचवीं शताब्दी ईसा पूर्व 'जार्जियास' (गोर्जियास?) ने भाषा-सौन्दर्य पर विशेष बल देते हुए पद्य की भाँति गद्य में भी अलंकार-प्रयोग को आवश्यक ठहराया है।[१] गद्य में भी अलंकार-नियोजन के आग्रह के पीछे तत्कालीन यूनानी संस्कृति की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। यूनान में ५१० ईस्वी पूर्व प्रजातंत्र शासन की स्थापना हो चुकी थी और प्रजातंत्र शासन में भाषण-कला का महत्व असन्दिग्ध है। फलतः इस युग में भाषण शास्त्र (रहेटरिक) का समुचित विकास हुआ और कविता की भाँति गद्य को भी आकर्षक एवं प्रभावोत्पादक बनाने के लिए अलंकार-प्रयोग को आवश्यक ठहराया गया।

अरस्तू (ई० पूर्व ३८४-३२१) ने भाषण शास्त्र (रहे्टरिक) और काव्य-शास्त्र (पोइटिक्स) दोनों का निर्माण किया और इन दोनों ही ग्रन्थों में अलंकार-प्रयोग के महत्व पर प्रकाश डाला है। इन्होंने रूपक या लक्षणा (मेटाफर) के नियोजन को कवि-प्रतिभा का एक नितांत महत्वपूर्ण लक्षण माना है : 'परन्तु सब से अधिक महत्वपूर्ण तो यह है कि कवि लक्षणा (रूपक-मेटाफर) के प्रयोग में सिद्धहस्त हो। यही एक ऐसा गुण है, जिसका उपार्जन नहीं हो सकता, यह तो प्रतिभा का लक्षण है, क्योंकि औपचारिक प्रयोग की सिद्धि के लिए ऐसी दृष्टि अपेक्षित है, जो सादृश्य को ग्रहण कर सके।'[२]

काव्यशास्त्र के समान भाषण शास्त्र (रहेटरिक) में भी अरस्तू ने रूपक, लक्षणा या मेटाफर के प्रयोग को महत्वपूर्ण माना है। इन्होंने गद्य को अलंकृत या ऊर्जस्वी बनाने का मुख्य साधन रूपक या लक्षणा को ही निर्धारित किया है। परन्तु साथ ही दूरारूढ़ रूपक-योजना को जो विषय से नितांत असंबद्ध है, इन्होंने अनुपयोगी माना है और इस प्रकार के अलंकार-प्रयोग से लेखकों को यथासंभव

---

१. '(गद्य में) अलंकारों का प्रयोग करना चाहिए, इतिवृत्त वर्णन के स्थान पर रूपकादि का प्रयोग करना चाहिए—अर्थात् सामान्य रूप से गद्य में भी कविता के रंग और वैचित्र्य का समावेश करना चाहिए।' हिन्दी वक्रोक्ति जीवित : भूमिका, (डा० नगेन्द्र) पृ० २१४।

2. much the most important point is to be able to use metaphors for this is the one thing that cannot be learned fron othere; and it is also a mark of genius, since a good metaphor implies an intuitive perception of the similarity in dissimilars. Aristotle, Poetics (XXII 16, 17)

बचने का सुझाव दिया है ।[1]

अरस्तू के परवर्ती विद्वानों में सिसरो, डायोनीसियस, डिमेट्रियस, क्विण्टि-लियन आदि ने भाषणशास्त्र की विभिन्न शैलियों तथा उनके सौन्दर्यवर्धक तत्वों की सूक्ष्म तथा विस्तृत मीम सा की है । प्रायः अधिकांश मीमांसकों ने गद्य शैली के सौन्दर्यवर्धक तत्वों में अलंकारों का विवेचन किया है और उनकी संख्या को यथा-संभव बढ़ाने का प्रयत्न किया है ।

रोमी आचार्य सिसरो ने भाषण-शास्त्र की परंपरा को विकसित करने में ही योग दिया है । इन्होंने उपदेशात्मक भाषण-शैली में अनलंकृति और ऋजुता पर विशेष बल दिया है। इसके अतिरिक्त इन्होंने अन्य दो शैलियों का भी विवेचन किया है, एक है 'मध्यम शैली' और दूसरी है 'उदात्त शैली।अरस्तू के समान ही सिसरो ने भी प्रस्तुत दोनों शैलियों में लाक्षणिक तथा आलंकारिक प्रयोग का प्रतिषेध नहीं किया, वरन् इनमें अलंकार-प्रयोग को उपयोगी ही ठहराया है ।[2]

डायोनीसियस ने 'पद रचना' रीति या काव्य शैली का मुख्यतः विवेचन किया है । वे तीन प्रकार की भाषा मानते हैं—उदात्त-अलंकृत, प्रसादमयी तथा मिश्र और इसी आधार पर शैली के भी तीन भेद करते हैं—'कठिनोदात्त, मसृण या सज्जित ,मिस्र अथवा समंजित ।'[3]

इन तीन शैलियों में मसृण या सज्जित शैली में अलंकार-प्रयोग का प्रतिषेध डायोनीसियस ने नहीं किया, वरन् इसमें ग्राह्य अलंकारों के विषय में अपनी मान्यता का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है : 'जहाँ तक अलंकारों का संवन्ध है, इसमें प्रचलित तथा रूढ़ अलंकारों—अथवा गरिमा-गांभीर्य आदि के व्यंजक अलंकारों का प्रयोग नहीं होता, वरन् प्राय: ऐसे अलंकारों का प्रयोग होता है, जो मधुर और रम्य हों, जिनमें ललित कल्पना की छलना हो ।'[4]

---

1. If it is your wish to adorn a subject, the proper means is to borrow metophor from things superior to it · : · The metapor should not be far-fetched but derived from cognate and homogeneous subjects, · · ·

   Rhetorics P. 232-234.

२. डा० नगेन्द्र : 'हिन्दी वक्रोक्ति जीवित', भूमिका पृ० २२०
   सिसरो : आरेटरे, ३।१७१

३. भारतीय काव्य शास्त्र की भूमिका, (डा० नगेन्द्र) पृ० १०४

४. वही, पृ० १०५ ।

अलंकार-विकास की दृष्टि से पाश्चात्य साहित्य शास्त्र में यह युग एक प्रकार से स्वर्ण युग रहा है। प्रायः सभी आचार्यों ने भाषण-शैली या गद्य-शैली के अन्तर्गत अलंकारों का विवेचन पर्याप्त विस्तार से किया है। इस युग में भाषा शैली के सौन्दर्य वर्धक तत्व के रूप में ही अलंकारों का विकास और विवेचन होता रहा, फलतः डिमेट्रियस ने भी 'शैली' के चार वर्ग बनाये हैं और 'उदात्त शैली' में अपेक्षित अलंकारों का निर्देश किया है। अलंकार-प्रयोग से शैली में गरिमा और रमणीयता की वृद्धि का ही वे समर्थन करते हैं।[1]

इसी परंपरा में क्विण्टिलियन का स्थान भी महत्वपूर्ण है। इन्होंने भाषण शैली या गद्य शैली के प्रमुख तीन तत्व माने हैं, शब्दचयन, पदरचना और अलंकरण। अलंकरण के अन्तर्गत इन्होंने उन्हीं अलंकारों को विशेष मान्यता दी है, 'जिनमें मूर्ति-विधान की क्षमता है, क्योंकि अलंकार का मुख्य उद्देश्य है सजीव चित्रण और वही उसकी सिद्धि है।'[2]

इस प्रकार ईसा की तीसरी शताब्दी तक विकसित यूरोपीय भाषण शास्त्र या रीतिशास्त्र (रहे्टरिक) में शैली के अन्तर्गत अलंकारों को प्रायः नितांत अनिवार्य और उपयोगी तत्व के रूप में मान्यता दी गई। भाषण-शास्त्र के विकास के साथ-साथ काव्य-शास्त्र (पोइटिक्स) का भी विकास अरस्तू से ही आरम्भ हो चुका था। अरस्तू ने काव्य–'नाटक'–की भाषा-शैली के सौन्दर्यवर्धक तत्वों में अलंकार-प्रयोग को उपयोगी और महत्वपूर्ण ठहराया है। इनके काव्यशास्त्र (पोइटिक्स) विवेचन की परंपरा को आगे बढ़ाने में 'लांजाइनस' का योगदान महत्वपूर्ण रहा है। इन्होंने काव्य-शैली की महत्ता का गुण गान ही नहीं किया, वरन् उत्कृष्ट शैली के साधक पाँच तत्वों में अलंकारों के प्रयोग को भी एक तत्व मान लिया है। इनकी मान्यता में काव्य का मूलभूत तत्व है—उदात्तभावना (सब्लाइम) और अलंकार जहाँ इस भावना के परिपोषक बन जाते हैं, वहाँ अलंकारों में चमत्कृतिजनक शक्ति का समावेश इसी उदात्त भावना के कारण हो जाता है। काव्य में अलंकार-प्रयोग का प्रयोजन केवल अलंकार-प्रदर्शन के लिए नहीं है, वरन् उसका चरम साध्य उदात्तभावना की परिपुष्टि है। इसी आशय से 'लांजाइनस' ने काव्य में उत्कृष्ट अलंकार-स्वरूप का निर्धारण किया है: 'वे ही अलंकार काव्य में उत्कृष्ट अलंकार हैं, जो पाठक की भावानुभूति में अपने पृथक् अस्तित्व को

---

१. भारतीय काव्य शास्त्र की भूमिका, पृ० १०७।
२. वही, पृ० ११२।

विलीन कर दें ।'[१] परंपरागत आचार्यों ने अलंकारों का स्वरूप पर्याप्त बाह्य, सौन्दर्यवर्धक आभूषणों के सदृश प्रतिपादित किया है, परन्तु लांजाइनस ने काव्य में इनकी वास्तविक स्थिति एवं स्वरूप का किंचित् आंतरिक विवेचन भी कर दिया है ।

इस प्रकार यूरोप में ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी से लेकर ईसा की तीसरी शताब्दी तक अलंकारों का विवेचन 'भाषण शास्त्र' (रहेटरिक) तथा काव्यशास्त्र (पोइटिक्स) दोनों ही दृष्टियों से हुआ । इस अवधि में अलंकार-संख्या की प्रचुर वृद्धि हुई । अलंकार का स्वरूप सामान्यतः बाह्य सौन्दर्यवर्धक ही समझा जाता रहा । ईसा की तीसरी शताब्दी के पश्चात् काव्यशास्त्र के विवेचक आचार्यों की परंपरा टूट-सी गई । १८ वीं शताब्दी तक जो भी अलंकार-विवेचन हुआ, वह नितांत परंपराभुक्त था । इसमें अलंकारों को बाह्य सौन्दर्यवर्धक तत्व के रूप में ही मान्यता दी गयी। काव्य के आंतरिक आशय से इन्हें सम्बद्ध नहीं किया गया ।[२] इस युग में सृजनात्मक साहित्य की चतुर्मुखी प्रगति हुई । सत्रहवीं-अठारहवीं शती के नव्यशास्त्रवादी युग के काव्यों में अलंकारों का प्रयोग होता था, इनमें विशेष स्थान था—उपमा, पर्यायोक्त, सालंकृत विशेषण, विरोध, संतुलन (बैलेंस) तथा विषम का ।[3]

यूरोपीय साहित्य जगत् में स्वच्छन्दतावाद के आविर्भाव के साथ जहाँ प्रतिपाद्य विषय में अभिनवता या स्वच्छन्दता का मोह लेखकों को रहा, वहाँ परंपरागत प्रतिपादन पद्धति के तत्वों–शैली, अलंकार, छंद आदि–में भी परिवर्तन की आकांक्षा उनमें जाग्रत हुई । इस युग में विशेषतः 'भाषागत' वैशिष्टच के आधार पर अलंकारों का विवेचन हुआ । काव्य-भाषा से पृथक् करके इनका मूल्यांकन नहीं किया गया । वर्ड्सवर्थ ने ग्रामीण तथा निम्न वर्ग के जन-जीवन को अपने काव्य का प्रतिपाद्य विषय बनाया था, फलतः इन्होंने आलंकारिक भाषा को काव्य

I. A figure looks best when it escapes one's notice that it is a figure. Longinous' on the Sublimes Ch. xvll
(भारतीय साहित्य शास्त्र, पृ० ११८ (बलदेव उपाध्याय) से उद्धृत ।

2. The Philosophy of Rhetoric (I. A. Richards) P. 100

3. Neo-Classical poetry, for example, is characterized by the simile, periphrasis, ths ornamental epigram, balance, antithesis.
R. Wellek. Theory of Literature, P. 203 (1954)

के लिए कृत्रिम, अस्वाभाविक तथा अनुपयुक्त ठहराया है। सैद्धान्तिक रूप से परंपरागत अलंकार-प्रचुर भाषा-प्रयोग पर निर्मम प्रहार करते हुए भी वर्ड्सवर्थ व्यावहारिक रूप में अलंकार-नियोजन से बच नहीं सके। उनके काव्य में अनायास ही अलंकारों का सहज प्रयोग हुआ है। फलतः इन्हें आवेग-प्रेरित अलंकारों के प्रयोग को स्वीकृति देना अनिवार्य हो गया : 'कुछ अलंकार ऐसे भी हैं जो आवेग-प्रेरित होते हैं और मैंने उनका इसी रूप में प्रयोग किया है।'[१] वर्ड्सवर्थ ने गद्य और पद्य की भाषा में किसी प्रकार की भिन्नता नहीं मानी।[२]

परन्तु कालरिज ने वर्ड्सवर्थ की मान्यता का प्रत्याख्यान करके गद्य और पद्य की भाषा में स्पष्टतः अंतर की स्वीकृति दी है। कीट्स और शैले ने भी काव्य-भाषा की पृथक् विशेषताओं का निरूपण किया है। शैले ने तो सामान्यतः भाषा को रूपकात्मक या लाक्षणिक ही माना है।[3] स्वच्छन्दतावादी युग के कवि मूलतः कवि ही थे, सैद्धान्तिक समीक्षक नहीं, फिर भी काव्य-भाषा के साथ अलंकार-प्रयोग का प्रश्न इनके सामने उपस्थित हुआ और इसका समाधान इन्होंने अपने दृष्टि-कोण से प्रस्तुत कर दिया है। परन्तु बीसवीं शताब्दी के समीक्षकों ने अलंकार-प्रयोग एवं उसके स्वरूप के विषय में व्यापक और गंभीर चिन्तन किया है।

बीसवीं शताब्दी में अलंकार-विवेचन

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त और बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में प्रो० अलक-झंडर बेन ने अलंकारों का मूलतः सैद्धान्तिक विवेचन किया है। इनकी शैली प्रायः लक्षण-उदाहरणात्मक रही है। इन्होंने अलंकार-परिभाषा, अलंकार-वर्गी-करण तथा इनकी उपादेयता का भी विवेचन किया है। 'फिगर्स आफ स्पीच' में निहित 'फिगर' शब्द का संबन्ध गणित के संख्यावाचक शब्द से नहीं, वरन् इसका अर्थ भाषण के विशिष्ट रूप या आकार (फार्म) से है।[४] आरंभिक भाषण शास्त्र

---

१. प्रिफ़ेस टू लिरिकल बैलड्स, हिन्दी वक्रोक्ति जीवित (डा० नगेन्द्र) पृ० २३४।

२. वही, पृ० २३२।

3. Language is vitally metaphorical. -- The philosophy of Rhetoric (I. A. Richards) P. 90.

4. The idea of 'Figure' has nothing to do with Arithmetic; it signifies an unusual form of speech. Alexander Bain. English Composition & Rhetoric, Part first (P. 901) P. 135.

के इतिहास में अलंकार भाषण के विविध रूप या आकार थे। परंपरागत आशय को ध्यान में रख कर प्रो० बेन ने अलंकारों का सामान्य स्वरूप इस प्रकार निर्धारित किया है : 'अलंकार ऋजु और सामान्य भाषण-पद्धति से भिन्न पद्धति का नाम है, जिसका प्रयोग अधिक प्रभाव उत्पन्न करने के लिए किया जाता है।'[१]

अलंकार-प्रयोग के मूल में प्रो० बेन ने मानव विचार-प्रक्रिया (Human understanding) को आधार माना है और अलंकारों के 'वैधर्म्य' 'साधर्म्य' तथा 'साहचर्य' मूलक वर्ग माने हैं। इन तीनों को वे बुद्धि या ज्ञान की तीन शक्तियाँ (Three powers of intellect) मानते हैं। अधिकांश अलंकारों का सम्बन्ध वे प्रायः इन्हीं तीन शक्तियों से स्थापित करते हैं।

बीसवीं शताब्दी के अधिकांश समीक्षकों ने 'काव्य-भाषा' और 'शैली' के अन्तर्गत ही अलंकारों का विवेचन किया है। वाल्टर रेले ने भी शैली-विवेचन के प्रसंग में ही काव्य-भाषा तथा अलंकारों के घनिष्ठ सम्बन्ध का प्रतिपादन किया है। इनकी सम्मति में 'अलंकार रीतिविदों अथवा भाषणशास्त्रज्ञों द्वारा आविष्कृत तत्व नहीं है वरन् यह तो भाषा-परिवर्तन का आद्यतम नियम है'।[२]

प्राचीनों में अरस्तू, क्विण्टिलियन, लांजाइनस (लांगिनस) आदि ने रूपक (मेटाफर) को अन्य अलंकारों की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण माना है। वाल्टर रेल ने भी रूपक का पर्याप्त महत्वमापन किया है: वैधर्म्य में साधर्म्य और साधर्म्य में वैधर्म्य का अन्वेषण करने में कवि-प्रतिभा को एक प्रकृष्ट आनन्द मिलता है और साहित्य की अभिव्यक्ति प्रस्तुत अन्वेषण की ही एक क्रमिक प्रक्रिया है। इससे साहित्यकार को अनिर्वचनीय आनन्द मिलता है। इस अन्वेषण-प्रक्रिया का सर्वोत्तम साधन है—रूपक (मेटाफर)।[3]

---

1. A Figure of speech is a deviation from the plain and ordinary way of speaking, for the sake of greater effect. Rhetoric, P. 135
2. Fignre is not a late device of the Rhetoricians, but the earliest principle of change in language. Style, P.56 (1916)
3. The discovery of likeness in the midst of difference, and of diference in the midst of likeness, is the keenest pleasure of the

रूपक-उपमा का प्रयोग मूल प्रतिपाद्य को स्पष्ट और प्रभावोत्पादक रूप में उपस्थित करने के लिए किया जाता है, परन्तु कई बार कवि इन अलंकारों के अंत तक निर्वाह करने के मोह में फँस जाता है। कविता की प्रथम पंक्ति में ही किसी एक रूपक का आश्रय लेते ही वह उसे अंत तक निभाना चाहता है, फलतः उसकी कविता में अलंकार ही सर्वेसर्वा बन बैठते हैं और मूल प्रतिपाद्य दबने लगता है।[१] इस प्रकार अलंकार-प्रयोग के अतिचार जनित दोषों का निरूपण करने के उपरान्त वाल्टर रेले ने शैली में सौन्दर्यवर्द्धक अलंकारों के प्रयोग का प्रतिषेध नहीं किया, वरन् यह भी माना है कि इनसे मूल प्रतिपाद्य में कल्पनाओं और स्मृतियों की समृद्धि होती है।[२]

मिडल्टन मरी ने भी साहित्य की शैली से सम्बद्ध समस्याओं का अत्यन्त विस्तार से विवेचन किया है। परंपरागत अलंकारों में से रूपक तथा उपमा का इन्होंने स्पष्ट विवेचन किया है, इन दोनों में भी रूपक (मैटाफर) का पर्याप्त आंतरिक विवेचन किया गया है। इन्होंने प्राचीनों की अलंकार-विषयक धारणाओं को अनुपयुक्त ठहराया है: 'रूपक का प्रयोग एक बाह्य आभूषण की भाँति होता रहा और अब भी प्रचलित है। कतिपय प्राचीन लेखकों ने तो अपनी भाषा को बाह्य आभूषणात्मक रूपकों से सजाया है।.....परन्तु भाषा में प्रयुक्त वास्तविक रूपक की स्थिति आभूषण की भाँति नितांत बाह्य और पृथक् नहीं है, रूपक तो एक प्रकार से भावानुभूति का साधन बन जाता है।'[3] शेक्सपिअर की रचना से रूपकात्मक उदाहरणों को प्रस्तुत करने के उपरान्त मरी ने स्पष्ट किया है कि इनमें रूपक को केवल बाह्य आभूषण के रूप में मान्यता देना वस्तुतः नितांत असंभव है। 'रूपक तो कवि-व्यक्तित्व या कवि के व्यक्तिगत दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति का अनन्य साधन है।'[४]

---

intellect, · · · discoveries is metaphor. P. 60-61 Style: walter Raleigh

1. The danger that comes in with the employment of fignres of speech ....is greater still. See P. 96-97.
2. None the less there is undecorativeuse of figures whereby a theme is enriched with imaginntions and memories that are foreign to the main purpose, Style P. 100.
3. Metaphor becomes almost a mode of apprehendsion.
   J. Middleton Murry. The problem of Style (1942) P. 13
4. Metaphor is the unipue expression of write'r individual vision.

मरी ने 'रूपक' की उत्पत्ति-प्रक्रिया का विश्लेषण अपने दृष्टिकोण से किया है। कवि जब कभी अपने आशय को यथावत् अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त विशेषणों का प्रयोग करना चाहता है, तब उसके लिए रूपक का प्रयोग सहज अनिवार्य हो जाता है।[१] भावनाओं और विचारों की अभिव्यक्ति में रूपक और उपमा के महत्वपूर्ण योग की चर्चा मरी ने विस्तार पूर्वक की है और इन दोनों को भावाभिव्यक्ति का अनन्य साधन माना है।[२] इनकी रूपक-उत्पत्ति-प्रक्रिया कुछ सीमा तक अन्य अलंकारों पर भी अभिघटित हो सकती है।

हर्बर्ट रीड ने गद्य की भाषा के दृष्टिकोण से मरी-प्रतिपादित रूपक-निष्पत्ति प्रक्रिया का स्पष्टतः प्रत्याख्यान किया है।[3] पद्य सृजनात्मक अभिव्यक्ति (Creative expression) है तो गद्य रचनात्मक अभिव्यक्ति (constructive expression)। पद्य में शब्दों का पुनर्जन्म होता है तो गद्य में पूर्व-निर्मित शब्दों का ही एकत्र आकार खड़ा कर दिया जाता है।[४] गद्य का स्वरूप विशेषतः विश्लेषात्मक होता है, अतः इनकी मान्यता में गद्य के लिए रूपकात्मक भाषा-प्रयोग विशेष आवश्यक नहीं है। अपनी मान्यता की पुष्टि में रीड ने 'स्विफ़्ट' के 'गलियर्स ट्रवल' नामक ग्रन्थ से ४२ पंक्तियों का विस्तृत गद्यांश प्रस्तुत किया है, जिसमें न कहीं रूपक अलंकार का प्रयोग दिखाई देता है और न उपमा का ही।[५]

हर्बर्ट रीड ने उपमा को साहित्यिक अभिव्यक्ति की आरम्भिक अवस्था का अलंकार माना है और 'रूपक' को इससे अधिक महत्वपूर्ण मान कर इसके दो भेद किये हैं, एक विशदतावर्द्धक (Illuminative) और दूसरा शोभावर्द्धक (Decorative)। प्रस्तुत दोनों प्रकार के रूपकों की पद्य-क्षेत्र में उपादेयता असंदिग्ध है, परन्तु गद्य के क्षेत्र में विशदतावर्द्धक रूपक ही उपयोगी सिद्ध होता है। शोभावर्द्धक रूपक का क्षेत्र गद्य नहीं है। 'मटानिमि' 'सिनकडकि' और 'परसोनिफिकेशन' का भी संक्षिप्त निरूपण रीड ने किया है और

---

1. A metapnor is the result of the seareh for a precise epithet.... Try to be precise, and you are bound to be metaphorical; P83
2. The problem of Style, P. 98.
3. To say that a metaphor is the result of the search for *a* precise epithet is misleading, Heıbert Read, English Prose Style, P. 26
4. English Prose Style, Introduction, x
5. English ProseStyle, P.27

"रूपक' के समान 'परसोनिफिकेशन' अलंकार का उपयुक्त क्षेत्र एकांततः पद्य को ही माना है, गद्य को नहीं। अरस्तू के समान ही इन्होंने रूपक को कवि-प्रतिभा के विकास का परिचायक माना है और बुद्धि की परिणत अवस्था का द्योतक सिद्ध किया है।[१]

परंपरागत अलंकारों में से 'रूपक' (मैटाफर) और उपमा का ही आधुनिक समीक्षकों ने अधिक विवेचन किया है। आई० ए० रिचर्ड्स ने रूपक (मैटाफर) स्वरूप का आंतरिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। प्राचीन भाषणशास्त्र (र्हैट-रिक) के इतिहास में रूपक को बाह्य शोभावर्द्धक, आभूषणात्मक तत्व माना गया था, इसका प्रत्याख्यान करते हुए इन्होंने लिखा है कि वस्तुतः रूपक इतना बाह्य तत्व नहीं है। 'वह तो भाषा में सर्वत्र व्याप्त नियम है। हम सामान्य सप्रवाह भाषा के तीन चार वाक्यों को भी बिना रूपक के व्यवहार में नहीं लाते। यहाँ तक कि रूढ़ वैज्ञानिक भाषा में भी रूपक का निवारण कठिन हो जाता है'।[२]

सी० डे० लेविस ने प्रतिमा (Image), रूपक तथा उपमा का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। प्रतिमा (Image) और रूपक (मेटाफर) का वे काव्य में शाश्वत महत्व निरूपित करते हैं: 'नवीन प्रवृत्तियाँ जन्म लेती हैं और विलीन हो जाती हैं, शैली का स्वरूप बदलता है छन्द-प्रयोग की अभिरुचि भी बदलती है, काव्य का मूलभूत आशय भी परिवर्तित हो जाता है, परन्तु काव्य का प्राणतत्व, कवि की सच्ची कसौटी और उसका गौरव जिसमें निहित है, वह रूपक मात्र स्थिर रहता है'।[3] हर्बर्ट रीड, अरस्तू, ड्राइडन आदि की प्रतिमा (इमेज) और रूपक (मेटाफर) से सम्बद्ध मान्यताओं का उल्लेख करने के उपरान्त इन्होंने स्पष्ट किया है कि १६ वीं, १७ वीं और १८ वीं शती में प्रतिमा (Image) को केवल बाह्य आभूषणात्मक सौन्दर्यवर्धक तत्व समझा जाता था। रोमांटिक युग के आरंभ से पूर्व यूरोप में प्रतिमा (इमेज) को काव्य में आंतरिक और महत्वपूर्ण

---

1. Fnglish Prose Style. P.34.
2. That Metaphor is the omnipresent primiple of language can be shown m.re observation. We cannot get through there sentences of ordinary fluid discourse without it. I. A. Richrds: The philosophy of Rhetoric P. 92.
3. 'Trends come come and go, diction alters, metrical fashions even the elemental subject-matter may change almost out of recognition: but metaphor remains, the life-principle of poetry, the poet's chief list and glory' - The poetic image, P. 17.

स्थान नहीं मिला। वस्तुतः प्रत्येक काव्यमयी प्रतिमा किसी हद तक रूपकात्मक ही होती है।'[1]

रूपक और उपमा का आंतरिक विश्लेषण करने के लिए सी० डे० लेविस ने प्रथम प्रश्न उठाया है कि रूपक और उपमा से हमारी वृत्तियाँ क्यों उल्लसित हो जाती हैं ? हमें इनसे आनंदानुभूति क्यों होने लगती है ? रूपक-निष्पत्ति की मरी प्रतिपादित प्रक्रिया से सी० डे० लविस भी विशेष सहमत नहीं हैं। इनकी मान्यता में जहाँ कहीं पदार्थो के पारस्परिक संबन्ध की तथा वस्तु जगत् एवं अनुभूतियों के पारस्परिक संबन्ध की अभिव्यक्ति कवि को आवश्यक प्रतीत होती है, वहीं वह रूपक-नियोजन के लिए विवश हो जाता है। ऐसी स्थिति में कवि की प्रतिमाओं (Images) का भी उसकी आंतरिक भावनाओं से संबन्ध हो जाता है।[2]

इसी प्रकार लेविस की मान्यता में वस्तु जगत् के साधर्म्य का ज्ञान जहाँ कहीं हमें नहीं होता वहाँ उपमा-रूपकों की सहायता ली जाती है और इनसे विभिन्न पदार्थो तथा तत्सम्बद्ध अनुभूतियों की प्रतीति होने लगती है। इसी कारण इनसे हमारा हृदय उल्लसित और आनंदित होता है।[3]

'रूपक' (मैटाफर) के अतिरिक्त उपमा अलंकार की काव्यगत उपादेयता का भी कतिपय समीक्षकों ने विशद विवेचन कियया है। आर० एच० फागल ने उपमा से निम्नलिखित आठ कार्यों की सिद्धि मानी है : (१) विविध पदार्थ, विविध कल्पना तथा विविध मानसिक अवस्थाओं का एकत्र मिलन उपमा द्वारा हो जाता है। (२) पदार्थ और कल्पना का मेल उपमा ही कराती है। (३) भाव रूप पदार्थों के द्वारा भावशून्य कल्पनाओं का आशय अभिव्यक्त करा देती है। (४) इसके विपरीत भावशून्य कल्पनाओं की सहायता से भावरूप पदार्थों के स्वरूप को अधिक स्पष्ट कर देती है। (५) किसी भाव-हीन कल्पना का मर्म उसी प्रकार की किसी अन्य कल्पना की सहायता से प्रकट कर देती है। (६) प्रकृति की किसी घटना या उसके दृश्य की सहायता से मानवमन की किसी भावना या प्रवृत्ति को

---

1. Every poetic Image, therefore, is to some degree metaphorical. C. Day Lewis: The poetic Image, P. 18.(1947)
2. It is this need for exprssing the relationship between things and the relationship between things and feelings, which compels the poet to metaphor; C. Day Lewis: The poetic Image, P. 25,
३. वही, पृ० २५।

मूर्तरूप में दिखा देती है। (७) कभी-कभी प्रकृति के पदार्थों पर मानवी गुणों व भावनाओं का अध्यारोप भी उपमा ही करती है। (८) इन्द्रियों के विविध संवेदनों का सम्मेलन कर वह उनका कभी-कभी मोहक संमिश्रण भी कर दिखाती है।[1]

आधुनिक यूरोपीय साहित्यालोचन में जिस प्रकार शैली का नितांत आंतरिक, कवि-मनोभाव तथा कवि-व्यक्तित्व से सम्बद्ध विवेचन मिलता है, उसी प्रकार अलंकारों—विशेषतः रूपक-उपमा—का आंतरिक विवेचन हुआ है। प्राचीनों ने काव्य का बाह्य शरीर और इसका आन्तरिक आशय इन दोनों की परस्परभिन्नता को आवश्यकता से अधिक प्रश्रय दिया था। इसकी प्रतिक्रिया आधुनिक युग में हुई। फ़्लाबर्त ने इन दोनों की अभिन्नता का अत्यन्त प्रबल शब्दों में प्रतिपादन किया है : 'मनोगत भाव और उसका बाह्य आकार दोनों ही इतने एकरूप होते हैं कि सुन्दर आकार के बिना मनोभाव की स्थिति नहीं होती, और सुन्दर मनोभावों के बिना बाह्य आकार का अस्तित्व नहीं होता'। जिन तत्वों से बाह्य शरीर का निर्माण होता है, उन तत्वों को ही हटा दिया जाय तो फिर शेष क्या रहेगा ? अतः इनकी मान्यता में एक प्रकार से कल्पना, विचार और बाह्य आकार इनका पार्थक्य असंभव-सा ही है।[2] नितांत आधुनिक विवेचक रेन वेलेक ने भी प्राचीनों की काव्य के बाह्य रूप और आन्तरिक आशय को पृथक्-पृथक् मानने की धारणा को अनुपयुक्त ठहराया है। वे प्राचीनों के अलंकार-स्वरूप-विवेचन के मूल में इसी धारणा को प्रमुख कारण मानते हैं, जिससे इन्हें शोभावर्द्धक, बाह्य आभूषणों के समान काव्य से पृथक् किये जाने योग्य तत्व समझा गया। इनकी धारणा में भी इस आत्यंतिक भिन्नता को मान्यता देना उपादेय नहीं है।[3] रूपक का आंतरिक स्वरूप निर्धारित करते हुए रेन वेलेक ने स्पष्ट लिखा है कि कतिपय विचार तो रूपक के माध्यम से ही व्यक्त होते हैं, कवि या साहित्यकार के विचार ही रूपक का रूप धारण कर लेते हैं।'[4] इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के समीक्षकों ने काव्य के आंतरिक आशय

---

1. R. H. Fogle. The Imagery of Keats & Shelly. P. 1I-I2
   (डा० वाळिंबे, साहित्य मीमांसा, पृ० ३१०-३११ से उद्धृत०)
2. 'The idea only exists by virtue of its form ; Flaubert, quoted by walter Peter, Style. P. 30. (I9I8)
3. Rene wellek : Theory of Literature, P. 197-198 (1954)
4. There are such activities as metaphoric and mythic thinking, a thinkiug by means of metaphors, a thinking in poetic narrative or vision. R. wellek : Theory of Literature. P. 198.

से नितांत पृथक् करके अलंकार-विवेचन नहीं किया है। संक्षेपतः प्रतिमा (इमेज), कल्पना, भाषा-शैली तथा रूपक के विवेचन-प्रसंग में ही सामान्यतः अलंकार-विवेचन हुआ है और इन्होंने अलंकारों को यथासंभव काव्य का अभिन्न अङ्ग सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। कवि की भावनाओं से अलंकारों का प्रत्यक्ष संबन्ध निर्धारित करके अलंकारों (विशेषतः रूपक, उपमा आदि) को भावाभिव्यक्ति के शाश्वत तत्वों में स्थान दिया है।

यूरौपीय अलंकार-संख्या और उनका वर्गीकरण

पश्चिम में जब अलंकारों का विकास भाषण-शास्त्र (र्हेटरिक) के अंग के रूप में हो रहा था, तब इनकी गणना वस्तुतः कठिन हो गई थी। भाषण-शैली को रोचक और प्रभावोत्पादक बनाने के लिए जितनी भी नवीन विधियाँ अपनाई जाती थीं उन सब का एक प्रकार से अलंकारों में ही अन्तर्भाव हो जाता था। रेन वेलेक ने स्पष्ट लिखा है कि यूरोपीय अलंकार साहित्य में 'अलंकारों के ढाई सौ सूक्ष्म भेदों को दो-तीन प्रमुख वर्गों में विभाजित करने के अनेक प्रयत्न हुए।[१] प्रस्तुत अलंकार-संख्या अप्पयदीक्षित निरूपित १२५ अलंकारों से ठीक दुगनी है। इससे स्पष्ट है कि संस्कृत की भाँति पाश्चात्य साहित्य में भी अलंकारों की प्रचुर वृद्धि हुई है। सिसरो, होरेस आदि रोमी तथा डायोनीसियस, डिमेट्रियस आदि यूनानी आचार्य अलंकारों की निरंतर वृद्धि में योग दे रहे थे। रोमी आचार्य क्विण्टिलियन ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की अलंकार-संख्या की वृद्धि करने की प्रवृत्ति के प्रति असन्तोष प्रकट किया है। परन्तु प्रो० बेन लिखते हैं कि फिर भी स्वयं क्विण्टि-लियन ने अलंकारों की बहुत लंबी सूची उद्धृत की है।[२] क्विण्टिलियन ने अलं-कारों के दो प्रमुख वर्गों 'स्कीम्स' और 'ट्रोप्स' का भी विवेचन किया है।[3] अलंकार संख्या-वृद्धि की दृष्टि से अरस्तू से लेकर क्विण्टिलियन तक का युग मानो स्वर्ण युग रहा है।

उन्नीसवीं शताब्दी में साहित्य के प्राचीन मूल्य-मानदण्डों में परिवर्तन होने लगा। प्राचीन मान्यताओं के प्रति प्रबल प्रतिक्रिया हुई और अलंकार-संख्या -वृद्धि का प्रश्न तो दूर रहा, मूलतः परंपरागत अलंकार-स्वरूप को ही परिवर्तित करने का एकांत आग्रह प्रकट किया गया। फलतः अनेक अलंकार, जिनका स्वरूप

---

1. R. wellek : Theory of Literaeure : P. 198.
2. Quintilian took objection to the useless multiplication of Figures, by many of his predecessors, though even he gives a list of considerable length. Rhetorics. P. 232 (Foot note)
3. R. wellek, Theory of Literature, P. 331 Note 23.

नितांत बाह्य, शब्द-सौन्दर्यवर्धन मात्र रहा और जो काव्य के आंतरिक आशय, कल्पना तथा प्रतिमा (इमेज) से अपने को एकाकार नहीं कर सके, वे सब अलंकार-जगत् में अपने अस्तित्व की रक्षा नहीं कर सके। प्रो० बेन ने प्राचीन अलंकार-संख्या को यथावत् स्वीकार करना उपयुक्त नहीं समझा है: 'प्राचीनों की अलंकार-सूची उपयोगी नहीं है, उनमें बहुत से अलंकार नितांत महत्वहीन हैं, कतिपय तो वे ही बार-बार रूप बदल कर आ जाते हैं। उल्लेखनीय अलंकारों की संख्या वस्तुतः बहुत कम है।'[1] प्राचीन अलंकार-संख्या ही नहीं उनके वर्गीकरण को भी इन्होंने अपूर्ण माना है।[2]

प्रो० बेन ने अलंकार-वर्गीकरण के मूल में मानवमनोविज्ञान या मानव की ज्ञानार्जन प्रक्रिया का आधार ग्रहण कर इनके तीन प्रमुख वर्ग बनाये हैं :

१. विरोध या वैधर्म्यमूलक—इनमें 'एन्टिथीसिस' व 'कन्ट्रास्ट' जैसे अलंकारों का अन्तर्भाव होता है।
२. समता या साधर्म्यमूलक—इनमें 'सिमली', 'मैटाफर' तथा 'एलिगरी' आदि अलंकार आते हैं।
३. सान्निध्य या तटस्थतामूलक—वर्ग में 'मटानिमी' जैसे अलंकारों की गणना की गई है।

चूँकि प्रो० बेन अलंकार-संख्या-वृद्धि को महत्वपूर्ण नहीं समझते थे और प्राचीन वर्गीकरण को भी अनपयुक्त तथा विवादास्पद मानते थे, अतः इन्होंने २०-२५ से अधिक अलंकारों का निरूपण नहीं किया है। इन्होंने प्रथम जिन अलंकारों को सोदाहरण समझाया है, वे प्रमुख अलंकार हैं : मटाफर, सिमिली, ऐलिगरी, सिनकडकी, मटानिमी, ट्रान्सफर्ड एपिथेट, एपिग्राम, पन, इनुऐन्डो, आयरनी, इन्टरोगेशन, एक्स्क्लीमेशन, अपस्ट्रोफ-विजन, हाइपरबोल, क्लाइमेक्स आदि।

इनके अतिरिक्त इन्होने नितांत सामान्य आठ अलंकार और गिना दिये हैं, इन्हें सोदाहरण नहीं समझाया गया : पलिलोजिआ, एपिनाफोरा, एन्टिस्ट्रोफ, एसिन्टेन्डन, पोलिसेन्टेन्डन, लिटोटस, एपालरफोसिस और आक्सिमारन।

`प्रो० बेन परवर्ती बीसवीं शताब्दी के समीक्षकों ने 'मैटाफर' और 'सिमीली' का ही अधिक विवेचन किया है। रेन वेलेक ने परंपरागत अलंकार-वर्गों स्कीम्स

1. A. Bain : Rhetorics I, P. 231.
2. A. Bain. Rhetorics I Preface, P. VI.

और ट्रोप्स का निर्देश किया है। प्रथम वर्ग को ध्वनि या उच्चारण (Sound Figure) पर आधृत माना है, द्वितीय वर्ग को अर्थ या भाव (Sense Figure) पर। प्रथमवर्ग में Rhyme (यमक) और Alliteration (अनुप्रास) की गणना की है। इन्होंने Pun (श्लेष) के विषय में विभिन्न प्राचीन अर्वाचीन मान्यताएँ प्रकट की हैं, परन्तु अपना निश्चित मत व्यक्त नहीं किया है। फिर भी इसे वे 'स्कीम' वर्ग के अन्तर्गत ही स्थान देते हुए प्रतीत होते हैं।

इन्होंने ट्रोप्स (Tropes) वर्ग के दो उपवर्ग और बनाये हैं : १ साहचर्य पर आधृत अलंकार (Figures of contiguity) और २ साधर्म्य पर आद्धृत अलंकार (Figures of similarity)। प्रथम उपवर्ग में इन्होंने परंपरागत 'मटानिमी' और 'सिनकडकी' का अन्तर्भाव किया है और द्वितीय उपवर्ग में 'सिमिली' तथा 'मैटाफर' का।[1]

आई० ए० रिचर्ड्स ने 'मैटाफर' (रूपक) के विभिन्न प्रकारों का निर्माण मूलतः तुलना के तीन कारणों से माना है : (१) दो भिन्न-भिन्न वस्तुओं का एकत्र प्रयोग (२) इन दो भिन्न-भिन्न वस्तुओं के पारस्परिक साधर्म्य तथा वैधर्म्य का निरीक्षण करना (३) एक वस्तु की विशेषता का अन्य वस्तु से निरूपण करना।[2]

रेन वेलेक ने भी 'मैटाफर' के चार प्रमुख घटकों (Basic elements) का निरूपण इस प्रकार से किया है — १. अनालाजी (Analogy) = साधर्म्य २. डबल विजन = एक ही समय दो विभिन्न अनुभूतियों की प्रतीति ३. सेन्सुअस इमेजेज (Sensuous images) = संवेदनाओं पर आद्धृत प्रतिमाएँ तथा ४. एनिमिस्टिक प्रोजक्शन (Animistic Projection) = चेतना का आरोपण। इनकी मान्यता में मैटाफर के प्रस्तुत चारों घटक विभिन्न देशों तथा विभिन्न कालों में एक जैसे प्रयुक्त नहीं होते, वरन् विभिन्न देश-कालानुरूप पृथक्-पृथक् घटकों को मान्यता मिलती है।[3]

इस प्रकार आधुनिक योरोपीय काव्यशास्त्र में न अलंकार संख्या-वृद्धि पर विशेष आग्रह किया जा रहा है और न उनके वर्गीकरण पर ही। अलंकारों का विवेचन काव्य भाषा-शैली या रूपक (मैटाफर) के प्रसंग में ही

1, R. Wellek : Theory of Literature. P. 198—99.
2. I. A. Richards · The philosophy of Rhetoric, p. 120
3. R. Wellek. Theory of Literature : p. 101-3.

कतिपय समीक्षक कर देते हैं, स्वतंत्र अलंकार-विवेचन को वहाँ प्रश्रय नहीं दिया गया है।

हिन्दी में पाश्चात्य अलंकारों का अध्ययन

हिन्दी और मराठी के परंपरानुयायी अलंकार-विवेचकों ने भारतीय अलंकारों से मिलते-जुलते कतिपय अंग्रेजी अलंकारों के नाम भर गिना दिये हैं, उनका गंभीर तुलनात्मक अध्ययन नहीं किया है। परन्तु कतिपय अलंकार-पुनराख्याताओं ने यूरोपीय अलंकारों पर किंचित् गंभीर दृष्टिपात भी किया है। आचार्य श्यामसुंदरदास ने अलंकार-वर्गीकरण के प्रसंग में प्रो० बेन का नामोल्लेख किये बिना ही उन्हीं के आधार पर अलंकारों के तीन प्रमुख वर्ग——साम्यमूलक, विरोधमूलक और सान्निध्य या तटस्थतामूलक सुझाये हैं। प्रत्येक वर्ग की विस्तृत व्याख्या भी लगभग बेन की व्याख्या के अनुरूप ही है।[1] आचार्य शुक्ल ने क्रोचे के अभिव्यंजनावाद के प्रसंग में भारतीय अलंकारों की चर्चा की है, परन्तु व्यापक तुलना वहाँ नहीं मिलती।[2] श्री सुधांशु ने पाश्चात्य अलंकार-स्वरूप का अध्ययन किया है, फलतः भारतीय अलंकारों की समीक्षा इन्होंने पर्याप्त व्यापक रूप में की है। क्रोचे की अलंकार-संबद्ध धारणा का उल्लेख करते हुए इन्होंने अपनी पृथक् मान्यता का स्पष्ट विवेचन किया है।[3] तुलनात्मक दृष्टि से श्री बलदेव उपाध्याय ने भी 'औचित्य विचार' तथा 'रीति विचार' के प्रसंग में भारतीय आलंकारिकों की मान्यताओं का यूरोपीय आलंकारिकों से कहीं-कहीं साम्य निरूपित किया है। इनके मत में लांजाइनस (लांगिनस) और आनन्दवर्धन ने अलंकृति-विधान के सम्बन्ध में एक जैसी मान्यताएँ अभिव्यक्त की हैं। आनन्दवर्धन का कथन कि 'रसाक्षिप्त चित्त वाले कवि के द्वारा बिना किसी विशिष्ट यत्न से निर्वर्त्य अलंकार ही ध्वनि काव्य में विधान पा सकता है, लांगिनस के पूर्वोक्त कथन का प्रकारान्तर से प्रतिपादन है।'[4] श्री रामदहिन मिश्र ने ७७ भारतीय अलंकारों के अंग्रेजी नाम सुझाये हैं। इन्होंने पाश्चात्यों के 'मानवीकरण' (परसोनिफि-

---

१. श्यामसुंदर दास : साहित्यालोचन, पृ० २६१-६२।

२. चिन्तामणि, द्वितीय भाग, पृ० २४०।

३. काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृ० ८६ (तृतीय संस्करण २००७)

४. भारतीय साहित्य शास्त्र, द्वितीय खंड, पृ० ११८, लांजाइनस की अलंकार-मान्यता पृ० ४ पर देखिए।

केशन), 'ध्वन्यर्थ व्यंजना' और 'विशेषण विपर्यय' को स्वतंत्र मान्यता दी है।[1]

हिन्दी में भारतीय और यूरोपीय अलंकारों का पर्याप्त विशद तुलनात्मक अध्ययन डा० नगेन्द्र ने किया है। इन्होंने यूरोपीय अलंकारों के तीन वर्गों—शब्द विन्यास सम्बन्धी, वाक्यविन्यास सम्बन्धी तथा अर्थविन्यास सम्बन्धी—का उल्लेख करके प्रथम वर्ग को संस्कृत आचार्यों के व्याकरणिक नियमों में अन्तर्भूत माना है। शेष दोनों वर्गों में निहित अनेक अलंकारों की समता संस्कृत अलंकारों से निर्दिष्ट की है। इनके मत में साधर्म्यमूलक अलंकारों में अंग्रेजी के सिमिली और मैटाफ़र हमारी उपमा और रूपक के पर्याय ही हैं—फ़ेबिल, पैरेबिल, फ़ेबिल, और ऐलीगरी वास्तव में शुद्ध अलंकार नहीं हैं, फिर भी इनको अन्योक्ति और रूपक के रूपान्तर माना जा सकता है। वैषम्य-मूलक आक्सीमारन तो स्पष्ट रूप से विरोध ही है। इसी प्रकार अतिशयमूलक अलंकारों के अन्तर्गत हायपरबोल और अतिशयोक्ति में सार और क्लाइमैक्स में कोई अन्तर नहीं है, वक्रता पर आश्रित यूफ़्यूमिज्म पर्याय का ही एक रूप है, इनुऐन्डो गूढोक्ति से बहुत भिन्न नहीं है, आयरनी काकु का पर्याय है, और चमत्कार प्राण अलंकारों में पन श्लेष और यमक का समकक्ष है। वाक्य रचना वास्तव में भाषा की रचना का बाह्य उपादान है अतएव उससे सम्बद्ध अलंकारों का साम्य साधारणतः संभव नहीं है। फिर भी ज्यूग्मा और दीपक की समानता दर्शनीय है।'[2]

इस समता के साथ इन्होंने भारतीय और पाश्चात्य अलंकारों की पारस्परिक भिन्नता का भी स्पष्ट विवेचन किया है। भारतीय आचार्यों ने शब्दशक्तियों से पृथक् अलंकारों का विवेचन किया है, परन्तु यूरोप में लक्षणा और व्यंजना को भी अलंकारों में अन्तर्भूत कर लिया गया है। डा० नगेन्द्र ने पाश्चात्य लक्षणामूलक चार अलंकारों-मैटानिमी, सिनकडकी, हाइपैलेज और परसोनिफिकेशन का स्वरूप निर्देश करने के उपरान्त लिखा है : 'वास्तव में ये चारों न केवल स्वतंत्र अलंकार के गौरव के अधिकारी हैं—वरन् इन्हें प्रधान अलंकार स्वीकार करने में भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए।' ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य जगन्नाथ इस तथ्य को भाँप चुके थे, अतः उन्होंने शब्दशक्ति-अभिधा, लक्षणा, व्यंजना—के प्रकरण में ही अलंकार-प्रपंच का विवेचन किया है। फिर भी वे परंपरागत अलंकार-

---

१. काव्यदर्पण, पृ० ४३०-३३।
२. रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ९५-९६।
३. वही, पृ० ९६।

स्वरूप और मान्यताओं से अधिक ऊपर नहीं उठ सके, अतः उनका लक्षणा-व्यंजना और अलंकार का विवेचन पृथक्-पृथक् ही दिखाई देता है।

मराठी में पाश्चात्य अलंकारों का अध्ययन

मराठी के अलंकार पुनराख्याताओं में श्री द० के० केळकर ने आंग्ल कवि वर्ड्सवर्थ की मान्यताओं का प्रत्याख्यान करके काव्य-भाषा में आलंकारिक प्रयोग को नितांत अनिवार्य ठहराया है। इन्होंने सादृश्य-इतर लक्षणा को स्वतंत्र 'लक्षणोक्ति' अलंकार मानने पर बल दिया है, गौणी लक्षणा का रूपक में ही अन्तर्भाव माना है।[१]

डा० वाटवे ने पाश्चात्य अलंकारों का संक्षिप्त निरूपण किया है। इन्होंने अलंकारों की आंतरिकता और रस-परिपोषकता के समर्थन में वाल्टरपेटर-निरूपित फ़्लाबर्त की मान्यता उद्धृत की है, जिसमें काव्य के आंतरिक आशय और बाह्य आकार की अभिन्नता व एकात्मता का समर्थन किया गया है।[२] पाश्चात्य 'सिनकडकी' और 'मटानिमी' अलंकारों का इन्होंने लक्षणा में ही अन्तर्भाव माना है। इनकी मान्यता में 'हाइपरबोल' (अत्युक्ति) और अपस्ट्रोफ (अनुपस्थित व्यक्ति को उपस्थित समझ कर संबोधित करना) दोनों ही अलंकारों को संस्कृत में मान्यता प्राप्त नहीं है। 'परसोनिफिकेशन' संभवतः समासोक्ति आदि किसी में समाविष्ट हो सकेगा। कुंतक ने इसका समावेश वक्रोक्ति में किया है।[३] 'अलिटरेशन' (अनुप्रास) और 'इन्टेरोगेशन' (प्रश्नालंकार) ये दोनों स्वतंत्र अलंकार नहीं हैं। 'रिम' (Rhym) का आशय 'यमक' से है, परन्तु अंग्रेजी यमक हमारे जैसा वर्णनिष्ठ नहीं है, वरन् उच्चारणनिष्ठ है, जैसे Bear, Here- इस प्रकार यूरोपीय अलंकारों का संक्षिप्त निरूपण करने के उपरान्त डा० वाटवे ने लिखा है: 'पाश्चात्य अलंकार शास्त्र हमारे जैसा समृद्ध नहीं है, परन्तु इसी कारण वह अनावश्यक अलंकार-विस्तार से भी बच सका है। मराठी में भी २०।२५ अलंकारों से अधिक अलंकारों का आडम्बर खड़ा करके इस शास्त्र को बोझिल बना देना उपयुक्त नहीं है।'[४]

डा० रा० शं० वाळिंबे ने पर्याप्त विस्तार पूर्वक भारतीय आलंकारिक आचार्यों तथा पाश्चात्यों की मान्यताओं का निरूपण किया है। संस्कृत और अंग्रेजी दोनों

---

१. काव्यालोचन, पृ० ३४९।
२. रसविमर्श, पृ० ३७४।
३. वही, पृ० ३७६।
४. वही, पृ० ३७६।

ही साहित्यों में अलंकारों को नितांत बाह्य आभूषणात्मक तत्व मानने वाले आचार्यों की समृद्ध परंपरा है। परन्तु यूरोप में उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी में अलंकारों का पर्याप्त आंतरिक विवेचन हुआ है। डा० वाळिंबे ने मिडल्टनमरी, वल्टर रेले, टी० एम० ग्रीन, रेन वेलेक, सी० डे० लेविस, टी० इ० ह्यूम, आर० एच०फागल, आइ० ए० रिचर्ड्‌स, हर्बर्ट रीड इत्यादि समालोचकों की अलंकार विषयक, विशेषत: रूपक-उपमा से सम्बद्ध, मान्यताओं का सविस्तर निरूपण किया है। इन्होंने तुलनात्मक अध्ययन में साम्य की दृष्टि से कुंतक और आनन्दवर्धन की अलंकार-धारणाओं को अनेक आधुनिक पाश्चात्यों की मान्यताओं के समरूप सिद्ध किया है। इनके मत में पाश्चात्य समीक्षा में अनेक विचारकों ने नितांत आग्रहपूर्वक सिद्ध किया है कि अलंकार काव्य-स्वरूप से अभिन्न होते हैं, उन्हें बाह्य आभूषणात्मक मानना अनुपयुक्त है। फलत: कुंतक और आनन्दवर्धन की अलंकार विषयक मान्यताओं का महत्व और भी बढ़ जाता है। रसोत्कर्ष में तल्लीन प्रतिभावान् कवि की लेखनी से अलंकार स्वयमेव प्रस्फुटित होते हैं, इनके लिए उसे विशेष प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती। प्रस्तुत आनन्दवर्धन की मान्यता आधुनिक पाश्चात्य साहित्य-समीक्षकों के एतद्विषयक विवेचन से मिलती जुलती है।'[1]

हिन्दी और मराठी में अंग्रेजी अलंकारों के पर्याय कहीं-कहीं भिन्न-भिन्न रूप में सुझाये गये हैं। कतिपय नये-नये पारिभाषिक शब्द गढ़े गये हैं। निम्नलिखित तालिका से पाश्चात्य अलंकारों के पर्याय निश्चित करने में सहायता मिल सकती है :

पाश्चात्य अलंकार	हिन्दी-पर्याय व नये पारिभाषिक शब्द	मराठी-पर्याय व नये पारिभाषिक शब्द
१. परसोनिफिकेशन	मानवीकरण (श्री रामदहिन मिश्र, डा० नगेन्द्र)	चेतनधर्मोक्ति (द० के० केळकर) चेतनगुणोक्ति (श्री काळेले, ग० त्र्यं० देशपांडे) चेतनोक्ति (श्री धोण्ड)
२. आनोमोटोपिया (Onomotopoea)	ध्वन्यर्थ व्यंजना (श्री रामदहिन मिश्र)	अनुनाद (श्री काळेले व देशपांडे) ध्वन्यानुकारी शब्द योजना (श्री धोण्ड)

१. साहित्य मीमांसा, पृ० २९७-९८।

पाश्चात्य अलंकार	हिन्दी-पर्याय व नये पारिभाषक शब्द	मराठी-पर्याय व नये पारिभाषिक शब्द.
३. आयरनि (Irony)	काकुवक्रोक्ति (डा० नगेन्द्र)	व्याजस्तुति (ग० त्र्यं० देशपांडे) वक्रोक्ति (डा० वाटवे)
४. हायपरबोल (Hyperbol)	अतिशयोक्ति (डा० नगेन्द्र व (रामदहिन मिश्र)	अतिशयोक्ति (ग० त्र्यं० देशपांडे) अत्युक्ति (डा० वाटवे)
५. परिफ्रेसिस (Periphresis)	पर्यायोक्त (रामदहिन मिश्र)	पर्यायोक्त (ग० त्र्यं० देशपांडे)
६. एपिग्राम(१) (Epigram)	(१) विरोध (डा० नगेन्द्र)	(१) विरोध (देशपांडे) विरोधाभास (डा० वाटवे)
एन्टिथीसिस (२) (Antithesis)		(२) विरोध, विषम (डा० वाटवे) विरुद्ध-गुणन्यास (श्री धोण्ड)
आक्सीमारन (३)	(३) विरोध (डा० नगेन्द्र)	
७. पन (Pun)		शब्दश्लेष (ग० त्र्यं० देशपांडे)
परॉनोमासिया (Peronomasia)	श्लेष (रामदहिन मिश्र)	श्लेष (डा० वाटवे)
८. पोइटिक फेंसी (Poetic fancy)	(१) उत्प्रेक्षा (रामदहिन मिश्र)	(१) उत्प्रेक्षा (ग० त्र्यं० देशपांडे)
पोइटिक प्रोबे-बिलिटी (२) (Poetic probebility)		(२) " "
९. पराबेल (१) (Parable)	(२) दृष्टान्त (रामदहिन मिश्र)	(१) दृष्टान्त "
एक्झाम्पल (२) (Ezample)		(२) " "

पाश्चात्य अलंकार	हिन्दी-पर्याय व नये पारिभाषिक शब्द	मराठी-पर्याय व नये पारिभाषिक शब्द
१०. परालेप्सिस (१) (Paralapsis)		(१) आक्षेप (ग० त्र्य० देशपांडे)
प्रोलेप्सिस (२) (Prolepsis)	(२) आक्षेप (रामदहिन मिश्र)	(२) ” ”
११. क्लाईमेक्स (१) (Climax)	(१) सार (रामदहिन मिश्र व डा० नगेन्द्र)	(१) सार (ग० त्र्यं० देशपांडे)
एन्टिक्लाइमेक्स (२) (Anticlimax)		(२) निपात (काळेले)
बाथोज (३) (Bathos)		(३) प्रक्रमभंग (धोण्ड)
१२. प्रोसोपोपिया (prosopopocia)		भाविक (देशपांडे)
१३. ऐलिगरी (Allegory)	अन्योक्ति रूपक (डा० नगेन्द्र)	विस्तृत रूपक (डा० वाटवे)
१४. इन्टेरोगेशन (Interrogation)		प्रश्नालंकार (डा० वाटवे)
१५. यूफ्यूमिज्म	पर्याय (डा० नगेन्द्र)	
१६. इनुएन्डो (Innuendo)	गूढोक्ति ”	
१७. ज्यूग्मा	दीपक ”	
१८. मेटाफर (१) (Metaphor)	रूपक (रामदहिन, डा० नगेन्द्र)	(१) रूपक (ग० त्र्यं० देशपांडे)
फारफेचड् (२) मेटाफर (Far fetched metaphor)		(२) रूपकातिशयोक्ति (ग० त्र्यं० देशपांडे)
१९. टूटालाजि (Tautology)	पुनरुक्ति (रामदहिन मिश्र)	पुनरुक्ति (काळेले)
२०. एलुजन (Allusion)		निर्देश (काळेले) श्रुतियोजना (धोंड)

पाश्चात्य अलंकार	हिन्दी-पर्याय व नये पारिभाषिक शब्द	मराठी-पर्याय व नये पारिभाषिक शब्द
२१. लिटोट्स (Litotes)		अल्पोक्ति (,,)
२२. अपस्ट्रोफ (Apostrophe)		संबोधन (,,)
२३. अलिटरेशन (Alliteration)	अनुप्रास (रामदहिन मिश्र)	अनुप्रास (ग० त्र्यं० देश-पांडे, डा० वाटवे)
२४. ट्रांसफर्ड एपिथेट (Transferred epithet)	विशेषण विपर्यय (डा० नगेन्द्र, रामदहिन मिश्र) या विशेषण व्यत्यय (रामदहिन मिश्र)	
२५. रिह्म (Rhym)		यमक (ग० त्र्यं० देशपांडे, डा० वाटवे)
२६. सिनकडेकी (१) (Synecdoche)		(१) लक्षणोक्ति (द० के० केळकर) अंशभक्ति (काळेले)
मटानिमी (२) (metonymy)		

इन पाश्चात्य अलंकारों के लिए पारिभाषिक हिन्दी-मराठी शब्दों का निरूपण दो रूपों में हुआ है। कतिपय ने पाश्चात्य अलंकारों का उल्लेख करते समय हिन्दी-मराठी के पारिभाषिक शब्द सुझाये हैं तो कतिपय ने संस्कृत अलंकारों के लिए अंग्रेजी-संज्ञाओं के निर्देश का प्रयत्न किया है। द्वितीय प्रकार का प्रयत्न रामदहिन मिश्र ने किया है।

यद्यपि हिन्दी तथा मराठी में पाश्चात्य अलंकार शास्त्र का विशद अध्ययन नहीं हुआ है, फिर भी प्रस्तुत संक्षिप्त अध्ययन को चार भागों में विभक्त कर कति-पय सामान्य निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। अब तक अलंकार शास्त्र के अध्ययन में प्रायः निम्नलिखित विवेच्य अंग रहे :

१. अलंकार-स्वरूप
२. अलंकार-वर्गीकरण
३. अलंकार-संख्या

४. अलंकार-साम्य-वैषम्य

अलंकार-स्वरूप : इस विषय में भारतीय संस्कृत आचार्यों तथा पाश्चात्यों की धारणाओं में पर्याप्त साम्य है। पश्चिम में भी एक युग था जब कि अलंकारों को पर्याप्त बाह्य तत्व समझा जाता था। संस्कृत साहित्यशास्त्र में भी अलंकारोंकी बहिरंगता का विपुल प्रतिपादन हुआ है।

कतिपय पाश्चात्यों ने अलंकारों का कवि-मनोभाव या काव्य के अंतरंग से अभिन्न सम्बन्ध स्थापित किया है। इसी प्रकार भारतीय आचार्यों—आनन्दवर्धन, कुंतक आदि—ने भी अलंकारों के कविभावों से आंतरिक सम्बन्ध की चर्चा की है। परन्तु पश्चिम में विशेषतः आधुनिक युग में कवि-व्यक्तित्व तथा उसकी कृति का अभिन्न सम्बन्ध दर्शाने की प्रवृत्ति विशेष प्रबल रही है, परिणामतः अलंकारों के मनोभावमूलक स्वरूप की जितनी विशद चर्चा वहाँ हुई है, उतनी भारतीय अलंकार शास्त्र में नहीं हो सकी। हिन्दी तथा मराठी के अनेक आधुनिक काव्यशास्त्र-विवेचकों ने अलंकार-स्वरूप के प्रतिपादन में प्रस्तुत पाश्चात्य दृष्टिकोण अपना कर भारतीय अलंकार-स्वरूप का पुनराख्यान आरंभ किया है।

अलंकार-वर्गीकरण :

आरंभ में पाश्चात्य अलंकार शास्त्र में अलंकार-स्वरूप की भाँति अलंकार-वर्गीकरण भी पर्याप्त स्थूल रहा है। अलंकार-वर्गीकरण के मूल में किसी प्रकार के मनोवैज्ञानिक आधार की खोज नहीं की गई थी ; वहाँ 'स्कीम्स' अर्थात् ध्वनि या उच्चारण पर आधृत तथा 'ट्रोप्स' अर्थात् भाव या अर्थ पर आधृत दो स्थूल अलंकार-वर्ग रहे। परन्तु आधुनिकों में प्रो० बेन आदि ने मनोविज्ञान का आधार लेकर साधर्म्य, वैधर्म्य तथा सान्निध्य मूलक वर्गीकरण सुझाये हैं।

भारतीय आलंकारिक आचार्यों का अलंकार-वर्गीकरण भी स्थूल ही रहा है। इन्होंने अलंकार-वर्गीकरण में मनोवैज्ञानिक आधार खोजने की अपेक्षा वस्तु-परक दृष्टिकोण ही विशेषतः अपनाया था और शब्दालंकार, अर्थालंकार तथा उभयालंकार वर्ग यहाँ प्रायः सर्वमान्य से ही रहे। आधुनिक हिन्दी तथा मराठी के कतिपय काव्यशास्त्र-विवेचकों ने अलंकार-वर्गीकरण में पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक आधार ग्रहण करने पर भी बल दिया है।

अलंकार-संख्या :

अलंकार-संख्या वृद्धि की दृष्टि से पाश्चिम के आरंभिक आचार्यों तथा भार-

तीय संस्कृत आचार्यों की प्रवृत्ति लगभग समान रही है। पश्चिम के अलंकार-शास्त्र में तथा भारतीय अलंकारशास्त्र में अलंकार-संख्या की इतनी वृद्धि हो चुकी थी कि इनकी गणना करना या सुनिश्चित संख्या-निर्धारण करना कठिन हो गया था। इसी तथ्य का अनेक आचार्यों ने निरूपण किया है। पाश्चात्य अलंकारों की संख्या-वृद्धि अमर्याद हो चकी थी, फिर भी ढाई सौ अलंकारों की गणना का उल्लेख वहाँ स्पष्टतः मिलता है। इसी प्रकार अप्पयदीक्षित के कुवलयानन्द में एक सौ पच्चीस अलंकारों की गणना स्पष्टतः की गई है।

आधुनिक युग में पाश्चात्य विवेचकों ने अलंकारों की संख्या-वृद्धि के प्रतिकूल ही दृष्टिकोण अपनाया है और २०-२२ से अधिक अलंकारों को मान्यता देना वे विशेष उपादेय नहीं समझते।

आधुनिक हिन्दी तथा मराठी काव्यशास्त्र के विवेचकों ने भी लगभग इसी प्रकार का अभिमत व्यक्त किया है और अलंकार-वृद्धि को अनुपादेय ठहराया है।

अलंकार-साम्य-वैषम्य :

हिन्दी तथा मराठी के अलंकार-विवेचकों ने जब पाश्चात्य अलंकारों का अध्ययन किया तब उन्हें अनेक भारतीय अलंकार पाश्चात्य अलंकारों के नितांत समरूप प्रतीत हुए। फिर भी पश्चिम में लक्षणा पर आधृत अनेक अलंकार भारतीय अलंकार-परंपरा से स्पष्टतः भिन्न हैं।

तुलनात्मक निष्कर्ष

अलंकार परिभाषा और स्वरूप :

हिन्दी और मराठी के आधुनिक अधिकांश अलंकार-मीमांसकों ने ध्वनि-रसवादी आचार्यों की मान्यताओं के अनुरूप अलंकार-परिभाषाएँ दी हैं। कतिपय ने भामह, दण्डी, वामन आदि का भी अनुसरण किया है। परंपरानुयायी विवेचकों ने प्रायः संस्कृत अलंकारशास्त्र की परिभाषाओं को ही हिन्दी तथा मराठी में भाषान्तरित करने का प्रयत्न किया है। पुनराख्याताओं ने 'काव्य की रमणीय अभिव्यक्ति-पद्धति', 'चमत्कारपूर्ण वर्णन शैली', 'कथन का ढंग', 'भाव को तीव्र करने में सहायक योजना', 'भावाभिव्यक्ति का विशेष द्वार', 'रस की शोभा बढ़ाने वाला धर्म', 'कल्पना चमत्कृतिजनक रूप' आदि शब्दावली में अलंकार परिभाषाएँ देकर उसका स्वरूप निर्धारित किया है।[1] अनेक अलंकार-परिभाषाओं से इस आधुनिक

---

१. दे० 'अलंकार परिभाषा' प्रकरण (हिन्दी तथा मराठी में) पृ० ३९५

धारणा की पुष्टि होने लगती है कि अलंकारों का काव्य के अंतरंग-रस या भाव से नितांत घनिष्ठ सम्बन्ध है ।

काव्य में स्थान और उपादेयता :

हिन्दी और मराठी में कतिपय लेखकों ने अलंकारों को काव्य का नितांत महत्वपूर्ण, अनिवार्य और सहज सम्पन्न तत्व माना है । कवि के भावोच्छ्वास में वाणी का उच्छ्वसित होना अनिवार्य एवं स्वाभाविक है । अतः काव्यमयी उक्ति निरलंकृत नहीं हो सकती । काव्य की उक्ति सामान्य व्यावहारिक उक्ति से स्वरूपतः भिन्न होती है, उसमें परंपरागत विशिष्ट अलंकार न दिखाई दें तो भी लक्षणा-व्यंजना की स्थिति अनिवार्यतः होती है । पश्चिम में लक्षणा-व्यंजना को भी अलंकारों के अन्तर्गत स्थान दिया गया है । अतः आधुनिक युग में अलंकारों को परंपरागत काव्य-शोभावर्द्धक, अनित्य और बाह्य तत्व न मान कर इन्हें व्यापक रूप में ग्रहण किया जाता है । ऐसी स्थिति में भावरमणीयता और कल्पनारमणीयता के अभिन्न अंग बन कर ही अलंकार काव्य में सहज अवतरित होंगे । हिन्दी में डा० नगेन्द्र ने इसी दृष्टिकोण से अलंकारों की काव्य में सहज अनिवार्यस्थिति का समर्थन किया है ।[1] मराठी में श्री न० चि० केळकर भी लगभग इसी दृष्टिकोण से अलंकारों को काव्य के लिए नित्य और अनिवार्य तत्व मानते हैं ।[2]

काव्य में अलंकार-प्रयोगजनित आनंद का विवेचन श्री द० के० केळकर और मिश्र-बन्धुओं ने लगभग मिलता-जुलता-सा किया है । श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु तथा श्री द० के० केळकर ने अलंकारोत्पत्ति-प्रक्रिया का विश्लेषण अभाव-जनित आवश्यक आविष्कार के रूप में किया है ।[3]

मराठी में श्री वा० म० जोशी और हिन्दी में श्री श्यामसुंदरदास ने विचार, कल्पना और भावना से भी अलंकारों के सम्बन्ध का संकेत दिया है ।[4] डा० वाटवे ने मानसशास्त्र का आधार लेकर अलंकारों की अंतरंग स्थिति का उपयुक्त विश्लेषण किया है । अलंकार-प्रयोग के मूल में निहित कवि की मनःस्थिति का डा० वाटवे ने तथा डा० नगेन्द्र ने अभिनव-पद्धति से विश्लेषण किया है ।[5]

---

१. दे० हिन्दी में अलंकार-सिद्धान्त का अध्ययन, पृ० ३२५—३२६

२. दे० मराठी में अलंकार-सिद्धान्त का अध्ययन, पृ० ३५५

३. वही, पृ० ३२४ और ३५३

४. वही, पृ० ३५६ और ३२४

५. वही, पृ० ३५४ और ३२६

चमत्कृति को अलंकारों का प्राण मानने का लगभग समान रूप से विशेष समर्थन आचार्य शुक्ल और प्रा० जोग ने किया है।[१] श्री बनहट्टी ने तथा श्री सुधांशु ने अलंकार का निकट सम्बन्ध कल्पना से और श्री वा० ल० कुळकर्णी ने 'कल्पना-चित्र' (इमेज) से स्थापित किया है।[२] श्री कन्हैयालाल पोद्दार और श्री रा० अ० काळेले ने सामान्यत: काव्यभाषा से अलंकारों को सम्बद्ध किया है, तो श्री कृ० पां० कुळकर्णी ने 'भावना' के आधार पर अलंकारोत्पत्ति-प्रक्रिया का विवेचन किया है।[3]

इस प्रकार आधुनिक हिन्दी और मराठी काव्यशास्त्र में अलंकारों के काव्यगत स्थान और उनकी उपादेयता की समीक्षा नितांत व्यापक रूप में हुई है। कोई उसे भाव से सम्बद्ध करता है तो कोई विचार और कल्पना से, कोई उसेभाषा-शैली का अंग मानता है तो कोई उसकी कल्पना चित्रात्मक (इमेज) व्याख्या करता है।

आधुनिक युग के अलंकार विवेचन की एक अन्य विशेषता यह भी है कि अलंकारोत्पत्ति एवं उनकी उपादेयता का कवि, सहृदय और काव्य तीनों को दृष्टिगत रख कर समीक्षण-विश्लेषण किया गया है। संस्कृत साहित्यशास्त्र के अधिकांश आचार्यों की मान्यताओं के विपरीत आधुनिक हिन्दी और मराठी के अनेक समीक्षकों की धारणा में अलंकार काव्य के कटक-कुंडलवत् बाह्य और अनित्य तत्व नहीं हैं वरन् काव्य के अन्तरंग के अविच्छेद्य या अविभाज्य अंग हैं।

अलंकार-वर्गीकरण :

हिन्दी में डा० रसाल , रामदहिन मिश्र, श्यामसुंदरदास तथा डा० नगेन्द्र ने अलंकार-वर्गीकरण का अभिनव प्रयत्न किया है।[४] डा० रसाल ने परंपरा से भिन्न मिश्रालंकार वर्ग सुझाया है। रामदहिन मिश्र ने समस्त अलंकार प्रपंच को तीन वर्गों—अप्रस्तुत वस्तु योजना, वाक्यवक्रता तथा वर्णविन्यास—में विभक्त करना चाहा है, परन्तु सूक्ष्म वैज्ञानिक विवेचन के अभाव में इनकी उपयुक्तता संदिग्ध है।

आचार्य श्यामसुंदरदास-प्रतिपादित—साम्यमूलक, विरोधमूलक और सान्निध्य या तटस्थतामूलक तीन वर्ग मूलत: प्रो० बेन के ही प्रतिपादित अलंकार-वर्ग हैं। इनका स्वरूप-विश्लेषण भी प्रो० बेन पर आधृत है। रामदहिन मिश्र की

---

१. हिन्दी-मराठी में अलंकार-सिद्धान्त का अध्ययन, पृ० ३२३ और ३४७
२. वही, पृ० ३५८, ३२४ और ३५८।
३. वही, पृ० ३१९, ३६० और ३६०—६१।
४. दे० अलंकार-वर्गीकरण, पृ० ३३१—३३८।

भाँति आचार्य श्यामसुंदरदास के अलंकार-वर्गीकरण की बहुत बड़ी न्यूनता है— इन तीनों वर्गों में अन्तर्भूत अलंकारों का निरूपण न करना। डा० नगेन्द्र-निर्दिष्ट साधर्म्य, अतिशय, वैषम्य, औचित्य, वक्रता और चमत्कार (बौद्धिक) छः वर्ग यद्यपि परंपरागत हैं, फिर भी इनके मूल में निहित मनोवैज्ञानिक तत्वों का सूक्ष्म विवेचन और इन छः वर्गों में अलंकारों के अन्तर्भाव का स्पष्ट प्रतिपादन उनके अलंकार-वर्गीकरण की व्यापकता को स्पष्ट करता है।[१]

मराठी में बाळुताई खरे, श्री मधुकर वासुदेव धोण्ड, श्री रा० श्री जोग, श्री० ग० त्र्यं देशपाँडे तथा निजसुरे ने अलंकार-वर्गीकरण का प्रयत्न किया है। बाळुताई खरे और ग० त्र्यं देशपांडे तथा निजसुरे ने संस्कृत आचार्यों के अलंकार-वर्गीकरण में ही कतिपय संशोधन-परिवर्तन किये हैं, अतः इनका वर्गीकरण परंपराभुक्त ही है।[२] श्री मधुकर वासुदेव धोण्ड तथा श्री रा० श्री० जोग ने अलंकार-वर्गीकरण में अभिनवता लाने का प्रयत्न किया है।[3] डा० वाटवे ने प्रो० बेन के साधर्म्य, वैधर्म्य और सान्निध्य के आधार पर संस्कृत अलंकारों के वर्गीकरण की संभावना का संकेत मात्र दे दिया है। श्री द० के० केळकर ने परंपरागत अलंकार-वर्गों में से साधर्म्य-मूलक, वैधर्म्यमूलक, वक्रोक्तिमूलक तथा शृंखलामूलक इन चार वर्गों का ही निरूपण किया है और इन्हीं में निज स्वीकृत अलंकारों का अन्तर्भाव दर्शाया है।[४] इस प्रकार हिन्दी तथा मराठी के आधुनिक काव्यशास्त्र में अलंकार-वर्गीकरण का जहाँ अभिनव प्रयत्न किया गया, वहाँ पाश्चात्य अलंकार-वर्गीकरण पर भी दृष्टि-पात किया गया है। सामान्यतः संस्कृत के अलंकार-वर्गीकरण के संशोधन की ही प्रवृत्ति अधिकांश समीक्षकों की रही है।

अलंकार-संख्या :

हिन्दी और मराठी के आधुनिक अलंकार-विवेचकों की धारणा अलंकार-संख्या-वृद्धि के नितांत प्रतिकूल रही है। फलतः दोनों ही भाषाओं में अलंकार-संख्या को घटाने का जितना प्रयत्न हुआ, उतना अभिवृद्धि का नहीं।

हिन्दी में अलंकार-संख्या को सीमित करने का सयुक्तिक विवेचन बहुत कम समीक्षकों ने किया है। श्री मुरारिदान ने परंपरागत केवल १८ अलंकारों का अन्य

१. दे० हिन्दी में अलंकार-सिद्धान्त का अध्ययन, पृ० ३३७।
२. वही, (मराठी में) पृ० ३६४।
३. वही, (मराठी में) पृ० ३६२।
४. वही, पृ० ३६५।

अलंकारों में अन्तर्भाव दर्शाया है।[1] मिश्रबन्धुओं ने स्व-निरूपित संस्कृत के १२४ अलंकारों में से लगभग ४० अलंकारों के स्वतंत्र अस्तित्व का प्रत्याख्यान किया है। मुरारिदान से इनका विवेचन अधिक तर्कपूर्ण है। इन्होंने परंपरागत अलंकारों से कतिपय के मूलतः अलंकारतत्व का ही प्रतिषेध किया है तो कतिपय का अन्य अलंकारों में अन्तर्भाव सिद्ध कर दिया है।[2] संस्कृत की अलंकार-संख्या को सीमित करने का सयुक्तिक विवेचन श्री सुधांशु ने व्यापक रूप में किया है। इन्होंने मिश्र-बन्धुओं की अपेक्षा अधिक व्यापक धरातल पर परंपरागत अलंकारों को अलंकार क्षेत्र से बहिष्कृत करने का प्रयत्न किया है।[3] वैसे सामान्यतः श्यामसुंदर दास, आ० शुक्ल, डा० नगेन्द्र आदि सभी समीक्षकों का दृष्टिकोण अलंकार-संख्या-वृद्धि के प्रतिकूल ही रहा है।

मराठी में बाळुताई खरे, द० के० केळकर तथा मधुकर वासुदेव धोण्ड ने संस्कृत अलंकार-संख्या को सीमित करने का सयुक्तिक और व्यापक विवेचन किया है। बाळुताई खरे ने स्वनिरूपित संस्कृत के ८० अलंकारों में से २०-२२ को मान्यता देना उचित ठहराया है तो श्री द० के० केळकर और श्री धोण्ड ने लगभग ४० अलंकारों को।[4] श्री केळकर ने न केवल अलंकार-संख्या को सीमित करने का सयुक्तिक विवेचन किया है, वरन् प्राचीन अनेक दुरूह अलंकार-संज्ञाओं को मराठी भाषा की प्रकृति के अनुरूप परिवर्तित करने का भी सुझाव दिया है।[5]

नये अलंकार :

हिन्दी में अलंकारों के नवीन आविष्कार की प्रवृत्ति दिखाई नहीं देती। परंपरानुयायी लेखकों में मुरारिदान ने १३ नये अलंकारों का प्रतिपादन किया है, परन्तु इनमें या तो अधिकांश परंपरागत अलंकारों में ही अन्तर्भूत होते हैं या कतिपय नितांत सौन्दर्य-हीन हैं।[6] नवीन अलंकारों के प्रतिपादन के लिए पाश्चात्य अलंकारों का आश्रय लिया गया है। रामदहिन मिश्र ने 'मानवीकरण', 'ध्वन्यर्थव्यंजना'

---

१. अलंकार-संख्या संकोच-विस्तार (प्रकरण) पृ० ३३८।
२. अलंकार-संख्या संकोच-विस्तार (प्रकरण) पृ० ३४०।
३. वही, पृ० ३४३।
४. मराठी में अलंकार-सिद्धान्त का अध्ययन पृ० ३७१—३७४ और ३६९।
५. वही, पृ० ३७१—३७३।
६. अलंकार-संख्या संकोच-विस्तार (प्रकरण) पृ० ३३८—३३९।

और 'विशेषण विपर्यय' इन तीन पाश्चात्य अलंकारों को मान्यता दी है।[१] लक्षणा या व्यंजनामूलक पाश्चात्य अलंकारों के महत्व का डा० नगेन्द्र ने भी प्रतिपादन किया है।[२]

नवीन अलंकारों के आविष्कार का प्रयत्न हिन्दी की अपेक्षा मराठी में अधिक हुआ है। हिन्दी की भाँति मराठी में भी कतिपय पाश्चात्य अलंकारों का महत्व-स्वीकार किया गया है। श्री द० के० केळकर ने जिन ३८ अलंकारों को मान्यता दी है, इनमें लगभग चार अलंकार नये हैं। इन चारों में भी 'लक्षणोक्ति' और 'चेतन-धर्मोक्ति' पाश्चात्य अलंकार हैं।[3] कतिपय पाश्चात्य अलंकारों का आधार लेकर तथा कतिपय अलंकारों के विषय में नवीन चिन्तन करके श्री रा० अ० काळेले ने २५ नये अलंकारों का सोदाहरण प्रतिपादन किया है।[४] इनमें सात-आठ अलंकारों की नवीनता असंदिग्ध है।[५] अधिकांश अलंकार-विवेचकों ने कतिपय पाश्चात्य अलंकारों का उल्लेख किया है और इन्हें मान्यता प्रदान की है।

पाश्चात्य अलंकार :

हिन्दी में पाश्चात्य अलंकारों का विस्तृत अध्ययन नहीं हो सका है। इस दिशा में श्यामसुंदरदास, आ० शुक्ल, रामदहिन मिश्र, लक्ष्मीनारायण सुधांशु तथा बलदेव उपाध्याय ने नितांत संक्षिप्त अध्ययन किया है। इनका अध्ययन संकेतात्मक है, तुलनात्मक नहीं है। भारतीय और पाश्चात्य अलंकारों तथा उनके स्वरूप का थोड़ा-बहुत तुलनात्मक अध्ययन डा० नगेन्द्र ने ही सर्वप्रथम उपस्थित किया है।[६]

मराठी में भी पाश्चात्य अलंकारों का विस्तृत अध्ययन नहीं हो सका है। अधिकांश समीक्षकों ने पाश्चात्य अलंकार-धारणाओं का संक्षिप्त विवेचन किया है, तुलनात्मक व्यापक अध्ययन यहाँ भी नहीं हुआ। श्री द० के० केळकर, डा० के० ना० वाटवे, श्री रा० अ० काळेले आदि ने पाश्चात्य अलंकारों का निरूपण मात्र कर दिया है। डा० रा० शं० वाळिंबे का अध्ययन इनकी अपेक्षा पर्याप्त व्यापक है। इन्होंने भारतीय आचार्यों की अलंकार-मान्यताओं तथा पाश्चात्यों की अलंकार-

---

१. दे० हिन्दी में पाश्चात्य अलंकारों का अध्ययन, पृ० ३९४—३९५।
२. वही, पृ० ३९४।
३. दे० अलंकार संख्या-संकोच और विस्तार (मराठी में) ३७०—३७४।
४. वही, पृ० ३७४।
५. वही, पृ० ३७५।
६. दे० हिन्दी में पाश्चात्य अलंकारों का अध्ययन, पृ० ३९४

धारणाओं का थोड़ा-बहुत तुलनात्मक अध्ययन भी किया है ।[1]

आधुनिक हिन्दी-मराठी के अलंकार-शास्त्र के निर्माण के लिए व्यापक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण की आवश्यकता है । इसके लिए पाश्चात्य कल्पना, प्रतिमा (इमेज), रूपक (मैटाफर) तथा अलंकारों से सम्बद्ध अन्य अनेक तत्वों का व्यापक तुलनात्मक अध्ययन वास्तव में अत्यन्त अपेक्षित है ।

१. दे० मराठी में पाश्चात्य अलंकारों का अध्ययन, पृ० ३९५
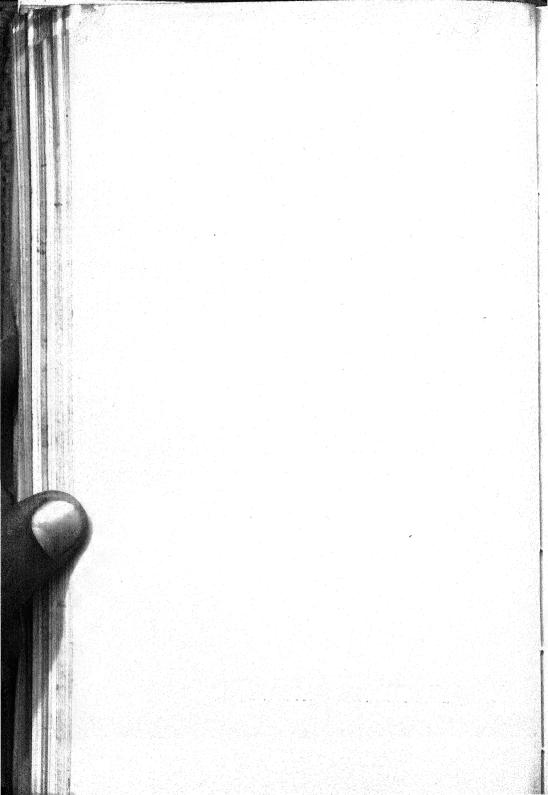
तृतीय अध्याय

रीति-सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन
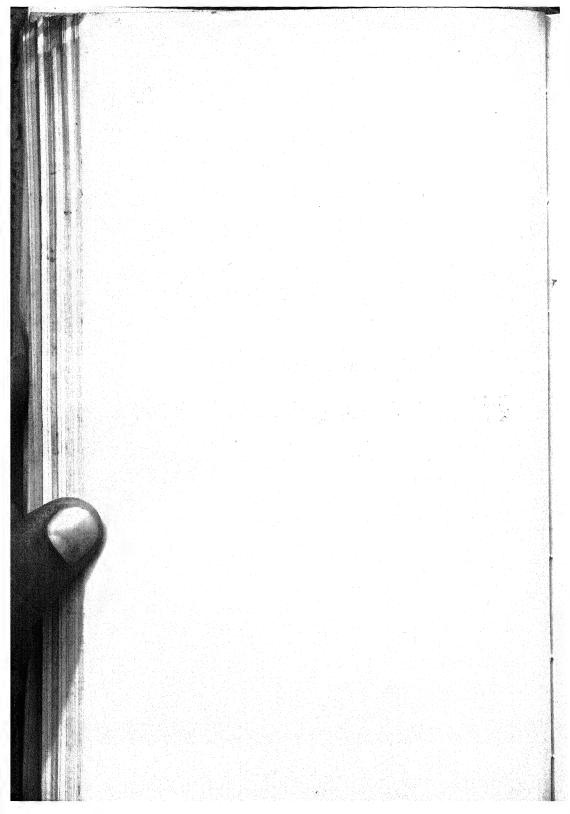
रीति-सिद्धान्त की पूर्वपीठिका

यद्यपि काव्यालंकारसूत्र के प्रणेता आचार्य वामन प्रमुख रूप से रीति-सिद्धान्त के प्रवर्तक माने जाते हैं तथापि इनसे पूर्व रीति-सिद्धान्त के कतिपय अंग—गुण, दोष, वृत्ति आदि का विवेचन भरत, भामह और दण्डी की कृतियों में उपलब्ध होता है। भरतमुनि ने नाटयकला के सर्वांगीण विवेचन को लक्ष्य में रखकर नाटय-शास्त्र की रचना की है, फलतः उन्होंने नाटक का स्वरूप तथा उसके प्रयोजन आदि के साथ भाषा और अभिनय-पद्धति का सुविस्तृत निरूपण किया है। एक ओर गुणों का सम्वन्ध स्पष्टतः भाषा अर्थात् शब्द से है तो दूसरी ओर अर्थ से। भरतमुनि के अनुसार नाटक में शब्द-योजना रसानुकूल, मृदु उदार और मधुर होनी चाहिए तथा वाक्य भी अत्यन्त हृद्य और मधुर होनें चाहिए।[1] परन्तु नाटक की भाषा के स्वरूप व शैली का विवेचन करते हुए भरतमुनि ने कहीं भी रीति शब्द का प्रयोग नहीं किया है। भारत के विभिन्न प्रदेशों की भाषा, वेशभूषा, और आचार की विशेषता का निर्देश करने के लिए उन्होंने प्रवृत्ति शब्द का उल्लेख किया है। प्रवृत्ति को भी चार विभागों में बाँटा है। भारत के पश्चिमी प्रदेश की प्रवृत्ति—अवन्ती, दक्षिण भाग की प्रवृत्ति–दाक्षिणात्या, मध्यदेश की प्रवृत्ति—पांचाली तथा पूर्वभारत अर्थात् उड़ीसा और मगध की प्रवृत्ति—उड्रमागधी।[2] इन प्रवृत्तियों में केवल पांचाली का आचार्य वामन-प्रतिपादित पांचाली रीति से नाम-साम्य मिलता है।

भरतमुनि का दृष्टिकोण मूलतः नाटक से सम्बद्ध समस्त उपादानों के विवेचन द्वारा रस-निष्पत्ति में सहायक तत्वों का अन्वेषण करना था। तदनुसार उन्होंने प्रवृत्ति के अतिरिक्त चार प्रकार की वृत्तियों—कैशिकी, आरभटी, सात्वती और भारती का निरूपण किया है। शृंगार और हास्य के लिए कैशिकी, वीर, रौद्र के लिए सात्वती, बीभत्स, भयानक और रौद्र के लिए आरभटी, करुण और अद्भुत रस में भारती वृत्ति का प्रयोग रस निष्पत्ति में सहायक माना है। जैसे-जैसे संस्कृत

---

१. नाटयशास्त्र—१७।१२०-१२१।

२. वही, १४।३६-४५।

काव्यशास्त्र का विकास होता गया 'वृत्ति' के विभिन्न अर्थ किये गये और अन्ततः वृत्ति और रीति की प्रकारान्तर से एकता स्वीकार कर ली गई।

नाटचशास्त्र में भरतमुनि ने रीति शब्द का प्रयोग नहीं किया तथापि श्रेष्ठ काव्य के लिए त्याज्य दोषों और उपादेय गुणों का सुविस्तृत विवेचन किया है। इन काव्य-दोषों में गूढार्थ, अर्थान्तिर, अर्थहीन, भिन्नार्थ, एकार्थ, अभिप्लुतार्थ, न्यायादपेत, विषम, विसन्धि और शब्दच्युत की गणना की है। दोषों के स्वरूप-विवेचन के अतिरिक्त श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, उदारता और कान्ति इन दस गुणों का निरूपण कर उनके स्वरूप का भी स्पष्टीकरण किया गया है।[1]

रीति-सिद्धान्त के विकास में भरतमुनि के नाटचशास्त्र का प्रत्यक्ष सम्बन्ध न होने पर भी ऐसे अनेक तत्वों का आरम्भिक विवेचन उसमें मिलता है, जिनके आधार पर रीति-सिद्धान्त का सुदृढ़ प्रासाद खड़ा हुआ है।

भामह ने न रीति शब्द का प्रयोग किया है और न मार्ग या वर्त्म का। काव्य-भेदों में गौडी और वैदर्भ का निर्देश कर उन्होंने इस मान्यता का सबल शब्दों में प्रत्याख्यान किया है कि निर्बुद्धि लोग ही गतानुगतिकतावश दो पृथक् नाम देकर एक को उत्कृष्ट और दूसरे को निकृष्ट प्रतिपादित करते हैं। जिस गौडी काव्य को निकृष्ट कहा जाता है वह भी यदि अलंकारों से युक्त, ग्राम्यत्व दोष से निर्मुक्त, उचितार्थ समन्वित, न्याय—लोकशास्त्र प्रतिपादित सिद्धान्तानुकूल और अना-कुलत्व—शब्दाडंबर-हीन हो तो उत्कृष्ट काव्य समझा जाना चाहि। यदि इन्हीं गुणों का अभाव वैदर्भ में हो तो उसे भी उत्कृष्ट काव्य न समझा जाय।[2]

भरत के समान ही भामह ने प्रथम दोषों का विवेचन किया हैऔर इन्होंने दोष तीन प्रकार के माने हैं।[3]

---

१. नाटचशास्त्र १७।८७-१०७

२. काव्यालंकार १-३१, १-३२, १-३५।

३. सामान्य दोष—१ नेयार्थ २ क्लिष्ट ३ अन्यार्थ ४ अवाचक ५ अयुक्तिमत और ६ गूढ शब्द।
वाणी के दोष—१ श्रुतिकटु २ अर्थदुष्ट ३ कल्पना दुष्ट ४ श्रुतिकष्ट।
अन्य दोष—१ अपार्थ, २ व्यर्थ, ३ एकार्थ ४ संशय ५ अपक्रम ६ शब्दहीन ७ यतिभ्रष्ट ८ भिन्नवृत्त ९ विसन्धि १० देश-काल-कला—लोक—न्याया-गम विरोधी ११ प्रतिज्ञा-हेतु-दृष्टान्तहीन।

दोषों का विवेचन भामह ने जितने विस्तार से किया है, उसकी तुलना में गुण-विवेचन नितांत गौण ठहरता है। भरत ने दस काव्य-गुणों का निर्देश किया है, परन्तु भामह केवल तीन-माधुर्य, ओज, प्रसाद—गुणों को मान्यता देते हैं।

आचार्य दण्डी ने ही सर्वप्रथम रीति के अर्थ में 'मार्ग' और 'वर्त्म' शब्दों का प्रयोग किया है। दण्डी अलंकारवादी थे, फिर भी गुणों का विवेचन इन्होंने पर्याप्त विस्तार से किया है। वाणी के अनेक मार्ग स्वीकार करते हुए भी वैदर्भ और गौडी मार्ग में स्पष्टतः अंतर होने के कारण इन दोनों का पृथक्-पृथक् विवेचन किया गया है। इन्होंने भामह की अपेक्षा अधिक स्पष्टता से गुणों का सम्बन्ध रीति से स्थापित कर दिया है। दण्डी के अनुसार वैदर्भ मार्ग के प्राण निम्नलिखित गुण हैं:

१ श्लेष २ प्रसाद ३ समता ४ माधुर्य ५ सुकुमारता ६ अर्थव्यक्ति ७ उदारता ८ ओज ९ कान्ति और १० समाधि।

इनके मत में वैदर्भ काव्य में दस गुणों का समावेश होता है और गौड मार्ग का काव्य इसके विपरीत होता है, प्रायः इसमें गुणों का विपर्यय मिलता है।[1]

भरत और भामह ने काव्य-दोषों का विवेचन प्रथम किया है और काव्यगुणों का बाद में परन्तु दण्डी ने काव्यादर्श के प्रथम परिच्छेद में ही काव्य-गुणों का सोदाहरण विवेचन किया है और ग्रन्थ के अंत में दस दोषों का निरूपण कर दिया है।[2]

दण्डी-प्रतिपादित दोष भरत से नितांत भिन्न नहीं हैं। साथ ही भामह-निर्दिष्ट अन्य काव्यदोषों से पूर्णतः समता रखते हैं। दण्डी ने भामह-निर्दिष्ट अंतिम दोष प्रतिज्ञा-हेतु दृष्टान्तहीन को छोड़कर शेष दस दोषों को ज्यों का त्यों अपनाया है।

आचार्य वामन रीति-सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक थे। इन्होंने रीति को काव्य की आत्मा सिद्ध किया और रीति के साथ गुणों का अटूट सम्बन्ध स्थापित करके गुणों के भी दस शब्द गुण और दस अर्थ गुण दो वर्ग बना दिये। वैदर्भी और गौडी के अतिरिक्त इहोंने एक अन्य रीति पांचाली की सत्ता भी स्वीकार की। वैदर्भी में समस्त गुणों का सद्भाव रहता है, गौडी में ओज तथा कान्ति गुणों का और पांचाली में माधुर्य तथा सौकुमार्य का। भामह और दण्डी काव्य में अलंकारों के महत्वमापन पर अधिक बल देते हैं तो वामन ने अलंकारों के मूल में गुणों की स्थिति

---

१. काव्यादर्श १।४०, ४२

२. वही, ३।१२५

१ अपार्थ २ व्यर्थ ३ एकार्थ ४ संशय ५ अपक्रम ६ शब्दहीन ७ यतिभ्रष्ट ८ भिन्न वृत्त ९ विसन्धि १० देशकाल न्यायागम विरोधी।

प्रथम आवश्यक ठहरायी है। अलंकार-तत्व के अतिरिक्त रस-तत्व को भी रीति में समाविष्ट करने के लिए इन्होंने अर्थ गुण कान्ति में रस का अन्तर्भाव कर दिया है।[1]

भरत ने गुणों को स्वतन्त्र भावरूप न मान कर दोषाभाव रूप स्वीकार किया था, परन्तु वामन ने गुणों को भावरूप देकर उनके स्वरूप का स्पष्टीकरण किया और दोषों को इनका विपर्यय माना है। इन्होंने दोषों को भी चार वर्गों में विभाजित किया है—पद दोष, पदार्थदोष, वाक्यदोष और वाक्यार्थ दोष।

इनके मत में शब्द गुणों की भाँति अर्थ गुण भी दस हैं, इनके नाम भी वे ही हैं, परन्तु अर्थगुणों की परिभाषा शब्द गुणों से भिन्न प्रकार की दी गई है।[2]

रुद्रट ने काव्यालंकार में वैदर्भी, गौड़ी, पाँचाली के साथ चौथी लाटी नामक रीति की भी सत्ता मानी है। वामन से एक नितांत नवीन मत की उद्‌भावना भी इन्होंने की है कि रीतियों का अस्तित्व सामासिक शब्दों पर निर्भर है।[3]

रुद्रट ने रीति के विवेचन में गुणों का उल्लेख न कर के रचना-चारुत्व की ओर विशेष ध्यान दिलाया है और उन्हीं शब्दों के नियोजन पर अधिक बल दिया है, जिनसे रचना का सौन्दर्य निखर सके।

रीति के क्षेत्र में दूसरी नवीनता रस के आधार पर रीतियों के विभाजन की है। इन्होंने शृंगार, वीर, करुण, भयानक तथा अद्‌भुत रस का वर्णन वैदर्भी और पांचाली रीति में तथा रौद्र रस का लाटी और गौडी में उपयुक्त माना है।[4]

राजशेखर ने काव्यमीमांसा में वैदर्भी, पांचाली और गौडी तीन रीतियों का उल्लेख किया है।[5] कर्पूर मंजरी में वच्छोमि (वैदर्भी), मागधी और पांचालिका (पांचाली) का भी निर्देश मिलता है। इसके अतिरिक्त बाल रामायण में राजशेखर ने मैथली रीति का भी उल्लेख किया है। राजशेखर के अनुसार रीति की परि-

---

१. हिन्दी काव्यालंकार सूत्र, ३।२।१५

२. वही ३।१।१, २८ और ३।२, १-१५

३. १. वैदर्भी—जिसमें सामासिक शब्दावली का अभाव रहता है।
   २. पाँचाली—जिसमें दो-तीन पद ही सामासिक होते हैं।
   ३. लाटी—जिसमें पाँच या सात पद समस्त होते हैं।
   ४. गौडी—जिसमें यथाशक्ति समस्त शब्दों का ही प्रयोग होता है।
   काव्यालंकार, २, ४-६।

४. वही, १५-२०।

५. राजशेखर : काव्यमीमांसा, पृ० १०१ मधुसूदनी-विवृति-संहिता, चौ० सं० सीरिज १९३४

भाषा है : 'वचनविन्यासक्रमा ।' काव्यमीमांसा को राजशेखर का काव्यशास्त्रीय विवेचन का प्रामाणिक ग्रन्थ मान कर निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उन्हें वामन-प्रतिपादित वैदर्भी, गौडी और पांचाली तीन ही रीतियाँ प्रमुख रूप से मान्य थीं ।

आचार्य कुन्तक ने रीति शब्द का प्रयोग नहीं किया प्रत्युत् दण्डी के अनुसार मार्ग शब्द का किया है। उन्होंने रीतियों की प्रादेशिक स्थिति का खंडन किया है और उनका सम्बन्ध कवि-स्वभाव से स्थापित कर दिया है।[1] इनके मत में रीति 'कवि-प्रस्थान हेतु' : अर्थात् काव्य-निर्मिति का कारण है। इस प्रकार रीति का आधार कवि-स्वभाव मानकर इन्होंने उसके भी तीन भेद किये हैं—१ सुकुमार, २ विचित्र, ३ मध्यम। यद्यपि कवि-स्वभाव अनन्त हो सकते हैं, उनकी संख्या-निर्धारण करना कठिन है, फिर भी सामान्य रूप से तीन भेद किये जाते हैं। इन तीनों मार्गों के भी सामान्य और विशेष दो प्रकार के गुणों का निर्देश किया गया है। सामान्यगुण भी दो प्रकार के होते हैं : औचित्य और सौभाग्य । इन दोनों सामान्य गुणों की स्थिति तीनों मार्गों में होती है। विशेष गुण चार प्रकार के होते हैं : माधुर्य, प्रसाद, लावण्य तथा अभिजात्य। प्रस्तुत चारों गुण प्रत्येक मार्ग में होते हैं परन्तु इनका स्वरूप मार्ग के अनुरूप भिन्न-भिन्न हो जाता है। आचार्य कुन्तक ने रीति का आधार कवि-स्वभाव पर निर्धारित कर अपनी मौलिकता का परिचय दिया है।

अग्निपुराण में पांचाली, गौडी, वैदर्भी और लाटी चार रीतियों का निरूपण हुआ है।[2] काव्य में अलंकारों की अपेक्षा गुणों का अधिकमहत्व-प्रतिष्ठापन किया गया है। अग्निपुराणकार का मत है कि गुणों से रहित अलंकृत काव्य भी आह्लादक नहीं हो सकता, क्योंकि स्त्री के असुन्दर शरीर पर आभूषण तो भार रूप ही लगते हैं ।[3] अग्नि पुराण में गुणों के दो वर्ग किये गये हैं : सामान्य और विशेष।[4] सामान्य के तीन भेद किये गये हैं—शब्द गुण, अर्थगुण और उभयगुण ।[5]

---

१. हिन्दी वक्रोक्तिजीवित, प्रथम उन्मेष, कारिका २४ तथा, पृ० १०१ ।

२. अग्निपुराण, अध्याय ३४०, श्लोक १-४ तथा अ० ३४५, श्लो० ३-४ ।

३. अलंकृतमपि प्रीत्यै न काव्यं निर्गुणं भवेत् ।
   वपुष्य ललिते स्त्रीणां हारो भारायते परम् ॥

४. वही, अध्याय ३४५, श्लोक ३-४ ।

५. शब्दगुण—श्लेष, लालित्य, गाँभीर्य, सौकुमार्य, उदारता, सती और यौगिक । अर्थगुण—माधुर्य, संविधान, कोमलत्व, उदारता, प्रौढि, सामयिकत्व । उभयगुण—प्रसाद, सौभाग्य, यथासंख्या, प्रशस्यता, पाक और राग ।

सरस्वती कंठाभरण में भोज ने पांचाली, लाटी, वैदर्भी, गौडी, मागधी और अवन्तिका छः भेद किये हैं।[१] वैदर्भी और पांचाली के बीच की रीति अवन्तिका है, जिसमें तीन या चार समस्त पद होते हैं। संपूर्ण रीतियों का मिश्रण जिसमें हो उसे लाटी तथा जिसमें समग्र रीतियों का निर्वाह न हो सके, खण्ड रूप में हो, वह मागधी रीति कहलाती है।

भोज ने गुणों के परंपरागत दो भेद किये हैं: शब्द गुण और अर्थगुण। शब्द गुणों की संख्या २४ है और वे सब के सब बाह्य गुण हैं। इसी प्रकार अर्थ गुण भी चौवीस हैं, परन्तु ये आभ्यन्तरिक गुण हैं।

भोज ने वृत्तियों का भी विवेचन किया है, उसके अनुसार वृत्ति की परिभाषा है: 'विकास, विक्षेप, संकोच, व विस्तार में चित्त को जो गतिशील करे वह वृत्ति है'।[२]

'काव्यानुशासन' में हेमचन्द्र ने रीति, वृत्ति, गुण और दोष का निरूपण किया है। उनके मत में गुण-दोष तो रस के ही उत्कर्ष-अपकर्ष के कारण हैं, प्रकारान्तर से वे शब्दार्थ के उत्कर्षापकर्षक कहलाते हैं।[३] माधुर्य, प्रसाद और ओज तीन ही गुण हैं और इन गुणों को व्यक्त करने वाले वर्ण ही उपनागरिका, कोमला व परुषा रूप वृत्तियाँ हैं। इन्हीं को वैदर्भी, पांचाली और गौडी नामक तीन रीतियों की संज्ञा दी जाती है।[४] दोषों का इन्होंने तीन भागों में वर्गीकरण किया है: रस दोष, वाक्यदोष और पददोष। रस दोष आठ, वाक्य दोष तेरह तथा पददोष आठ माने गये हैं।

ध्वनि-सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आनन्दवर्धन ने रीति-सिद्धान्त के बारे में कहा है—'अस्फुट रूप से प्रतीत होने वाले इस ध्वनि तत्त्व की व्याख्या करने में जो लोग असमर्थ रहे, उन्होंने ही रीतियाँ प्रचलित की हैं।"[५] इनके मत में रीति का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है, वह तो माधुर्य आदि गुणों के आश्रित रह कर रसाभिव्यक्ति में सहायक होती है। इन्होंने रीति के स्थान पर संघटना शब्द का प्रयोग किया है।

आचार्य मम्मट, आनन्दवर्धन और अभिनव गुप्त से प्रभावित थे। इन्होंने

---

१. सरस्वती कण्ठाभरण २।२८ निर्णयसागर (१९३४)
२. वही, २।३४
३. काव्यानुशासन पृ० १६।
४. वही, पृ० २०४।
५. हिन्दी ध्वन्यालोक उ० ३ का० ४७।

रीति-सिद्धान्त का प्रबल शब्दों में खण्डन किया है। इन्होंने वृत्तियों और रीतियों को एकरूप ही माना है। उपनागरिका और वैदर्भी, परुषा और गौडी, कोमला और पांचाली रीति में परस्पर एकता स्वीकृत की है। इनके मत में वैदर्भी और उपनागरिका में माधुर्य व्यंजक वर्ण होते हैं, गौडी और परुषा में ओज व्यंजक वर्ण तथा इन दोनों से भिन्न वर्णों की स्थिति पांचाली और कोमला में होती है।

मम्मट ने काव्यगुण और काव्यदोषों को रस-निष्पत्ति में सहायक तथा बाधक तत्वों के रूप में माना है। रस को ही उन्होंने प्रधानता दी है, काव्य गुणों को नहीं। परंपरागत दस गुणों के स्थान पर इन्होंने माधुर्य, ओज और प्रसाद तीन गुण ही माने हैं तथा वामन-प्रतिपादित दस शब्द गुण और अर्थ गुण के वर्गीकरण का भी प्रत्याख्यान किया है।[१]

आचार्य विश्वनाथ ने मम्मट के समान रीतियों का वृत्तियों में अन्तर्भाव नहीं किया। रीतियों की स्वतंत्र परिभाषा दी : 'पदों की संघटना का नाम रीति है, वह अंगसंस्थान (शारीरिक गठन) के समान है, रस आदि का उत्कर्ष-वर्धन करती है।'[२] रीति के परम्परागत वैदर्भी, गौडी, पांचाली और लाटी चार भेद इन्हें मान्य थे। इनके स्वरूप का विवेचन इस प्रकार है : माधुर्य व्यंजक वर्णों से समन्वित, समासहीन अथवा थोड़े से समासवाली रचना का नाम वैदर्भी रीति है, ओज व्यंजक वर्णों से युक्त, समास-प्रचुर, आडम्बरयुक्त रचना गौडी कहलाती है। इन दोनों रीतियों में उल्लिखित वर्णों से इतर वर्णों की रचना, जिसमें पाँच-छः समास हों, पांचाली रीति है तथा वैदर्भी और पांचाली के बीच की रचना का नाम लाटी रीति है।

रीति के अतिरिक्त गुणों का भी उल्लेख विश्वनाथ ने किया है। इन्होंने काव्य पुरुष का रूपक इस प्रकार बाँधा है : शब्दार्थ काव्य-शरीर, रस आत्मा, गुण शूरता आदि, दोष काणत्व आदि, रीति शरीर-अवयव, अलंकार कटक या कुंडल के सदृश होते हैं। रीति की अपेक्षा गुणों को कुछ आंतरिक स्थान दिया गया है, परन्तु इन्होंने मम्मट के समान ही माधुर्य, ओज, प्रसाद तीन ही गुण माने हैं। इन्हें विशिष्ट वर्ण-विन्यास पर आश्रित तथा रस-पर्यवसायी माना है।

रसगंगाधर में जगन्नाथ ने वामन-प्रतिपादित दस शब्द गुणों का निरूपण तो किया है, परन्तु मान्यता तीन ही गुणों को दी है, वे हैं—माधुर्य, प्रसाद और ओज।

---

१. **काव्य प्रकाश, पृ० ३०६, हरिमंगल मिश्र (१९४३)।**
२. **साहित्य दर्पण, परिच्छेद ९।१-५।**

साथ ही इन गुणों के वर्गीकरण में एक विशेष बात यह भी कह दी गई है कि इनकी उत्पत्ति पाठक के मन में होती है, गुणानुरूप विशिष्ट रसों की चर्वणा से पाठक के मन में भी उसी प्रकार के गुण उत्पन्न होते हैं। रसानुभूति में मन की जो अवस्थाएँ होती हैं, उन्हीं के आधार पर गुणों का वर्गीकरण किया गया है। माधुर्य में मन की द्रुति, ओज में दीप्ति और प्रसाद में उसका विकास होता है। संक्षेपतः, जगन्नाथ के मत में भी गुण रस में ही पर्यवसित होते हैं।[1]

सारांश :

इस प्रकार संस्कृत साहित्यशास्त्र में रीति-तत्व की विकास-परंपरा का अपना विशिष्ट इतिहास है। भरतपूर्व अथवा भरत समकालीन आरंभिक आचार्यों ने रीति शब्द का प्रयोग काव्य अथवा नाटक की 'शैली' या अभिव्यक्ति-पद्धति के लिए नहीं किया है। फिर भी भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में नाटक की भाषागत विशेषताओं, अवन्ती, दाक्षिणात्या, पांचाली, उड्रमागधी आदि प्रवृत्तियों तथा कैशिकी, सात्वती, आरभटी, भारती आदि वृत्तियों तथा दस दोषों और दस गुणों का निरूपण मिलता है। इससे स्पष्ट है कि भारतमुनि काव्य, नाटक तथा नाट्य की भाषा-शैलीगत विशेषताओं की पूर्णतः जानकारी रखते थे। इन्होंने विभिन्न रसों में भिन्न-भिन्न वृत्तियों का प्रयोग निर्दिष्ट करके भावानुरूप या रसानुरूप शैली तत्व के नियोजन का स्पष्ट संकेत दे दिया है।

भरत समकालीन तथा भरतोत्तर युग में इस विशाल देश के विभिन्न भागों में काव्य-निर्माण की विभिन्न शैलियों का आविष्कार हो चुका था। उत्कृष्ट काव्य-निर्धारण में प्रादेशिकता की भावना भी बाधक-सी बन रही थी। भामह के समय तो गौड़, विदर्भ आदि प्रदेशों में निर्मित काव्य प्रादेशिकता के आधार पर उत्कृष्ट या निकृष्ट उद्घोषित किये जा रहे थे। भामह ने इस प्रवृत्ति के विरुद्ध सबल शब्दों में अपना अभिमत व्यक्त किया और काव्य की उत्कृष्टता के निर्धारण के लिए भाषा-शैलीगत विशिष्ट मानदण्ड निर्धारित किये। भामह-निरूपित उत्कृष्ट काव्य-निर्धारण का मानदण्ड प्रायः भाषा-शैलीगत तत्वों से विनिर्मित था। उन्होंने अलंकार समन्वित दोष-विनिर्मुक्त, शब्दाडंबरहीन, उचितार्थ समन्वित काव्य को, जो किसी भी प्रदेश में निर्मित हुआ हो, श्रेष्ठ बताया है। इनके उत्कृष्ट काव्य-निर्धारण के मानदण्ड में 'रस' तत्व पर अतिरिक्त आग्रह नहीं है, जैसा कि आनन्दवर्धनोत्तर रस-ध्वनिवादी आचार्यों की धारणाओं में है। इससे स्पष्ट है कि भरतोत्तर युग में काव्य की भाषा-शैली के तत्वों का अधिक अनुसन्धान हुआ अपेक्षाकृत

---

१. रस गंगाधर पृ० ६७-६८ निर्णयसागर (१९३८)

नाट्यशास्त्र के रस तत्व के। भामह-दण्डी की कृतियां भी इसी तथ्य को प्रमाणित करती हैं, क्योंकि इन्होंने अलंकार, गुण-दोष, मार्ग-रीति का अधिक विवेचन-विश्लेषण किया है अपेक्षाकृत रसों के।

भामह-दण्डी प्रायः जिस बाह्य शैलीगत आधार पर किसी भी काव्य को उत्कृष्ट निर्धारित कर रहे थे उसका चरम रूप वामन के 'काव्यालंकार-सूत्र वृत्ति' में मिलता है। इन्होंने रीतितत्व को ही मुख्यतः उत्कृष्ट काव्य का मूलभूत निर्धारक मानदण्ड स्वीकार किया। रस तत्व का इन्होंने अपेक्षित विवेचन-विश्लेषण नहीं किया। परन्तु ध्वनिकार या आनंदवर्धन से नाट्यशास्त्र के 'रसवाद' को काव्य में भी व्यापक रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न आरम्भ हुआ, परिणामतः भाषा-शैलीगत तत्व--रीति तत्व अपेक्षाकृत गौण पड़ गया और उत्कृष्ट काव्य का मूल्यमापक तत्व बन गया--रस। इसी रस तत्व के आधार पर ही अलंकार, रीति, गुण-दोषों का भी मूल्यांकन आरम्भ हुआ। फलतः अलंकार, रीति, गुण आदि तत्वों का बाह्य स्वरूप अधिक स्पष्ट होने लगा। ये काव्य के साध्य न होकर साधनमात्र समझे जाने लगे। रसवाद के प्रभाव से रीति तत्व का काव्य के आंतरिक तत्व--रस से सम्बद्ध अध्ययन तो आरम्भ हुआ, परन्तु रीति या शैली तत्व का कवि-मानस से सम्बद्ध अध्ययन नहीं किया गया। क्योंकि आनंदवादी 'रसवाद' ने कवि-व्यक्तित्व के प्रति दुर्लक्ष-सा कर दिया है। 'रस' के विवेचन को अत्यधिक सहृदयपरक बना दिया गया है। परिणामतः रीतियां तथा माधुर्य, ओज, प्रसाद आदि गुणों का सहृदय की चित्तवृत्तियों के आधार पर विवेचन अधिक हुआ। परन्तु इसी युग में 'रस'तत्व की अपेक्षा 'वक्रोक्ति' या 'वैदग्ध्यभंगीभणिति' को उत्कृष्ट काव्य का निर्धारक मानदण्ड स्वीकार करने वाले आचार्य कुंतक ने रीति तत्व का अपेक्षाकृत आंतरिक विवेचन किया है। इन्होंने रीति या शैली तत्व के विवेचन में कवि-स्वभाव का भी मूल्यांकन किया है और कवि-स्वभावानुरूप शैली-परिवर्तन की स्पष्ट उद्घोषणा की है। परन्तु संस्कृत साहित्यशास्त्र में रस-ध्वनिवाद का इतना प्रबल प्रभाव रहा कि रीति या शैली तत्व का कवि-स्वभाव के आधार पर अधिक विवेचन नहीं हो सका। आधुनिक हिन्दी तथा मराठी के काव्यशास्त्र में संस्कृत के रीति तत्व का व्यापक पुनराख्यान आरम्भ हुआ है। पाश्चात्य साहित्यशास्त्रज्ञों की 'स्टाइल' विषयक धारणाओं का आधार ग्रहण करके अनेक हिन्दी तथा मराठी के आधुनिक लेखकों ने परंपरागत रीति तथा गुणों के स्वरूप में संशोधन-परिवर्तन प्रस्तुत किये हैं। अगले प्रकरण में इनके अभिमतों का विस्तृत अध्ययन किया जाता है।

हिन्दी में रीति-सिद्धान्त का अध्ययन

हिन्दी साहित्य के इतिहास में 'रीतिकाल' अपना विशिष्ट स्थान रखता है, परन्तु 'रीति' तत्व की अपेक्षा उस काल में रस तथा अलंकार तत्व का ही विशेष अध्ययन हुआ है। हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में रीति तत्व का अपेक्षाकृत अधिक अध्ययन हो सका है। आधुनिक काल में भी आरंभिक परंपरानुयायी आख्याताओं ने रीति तत्व की व्यापक मीमांसा पर विशेष बल नहीं दिया है। संस्कृत के आचार्यों की रीति-गुण-सम्बद्ध धारणाओं का ही इन्होंने स्पष्ट या अस्पष्ट रूप में आख्यान किया है। बिहारीलाल भट्ट के 'साहित्यसागर', कन्हैयालाल पोद्दार की 'रसमंजरी' तथा 'संस्कृत साहित्य का इतिहास', सीताराम शास्त्री के 'साहित्य-सिद्धान्त', मिश्र बन्धुओं के 'साहित्य-पारिजात', तथा रामदहिन मिश्र के 'काव्य-दर्पण' में रीति-गुण-वृत्ति आदि का निरूपण मिलता है। इन लेखकों ने संस्कृत आचार्यों की मान्यताओं को सोदाहरण स्पष्ट करके हिन्दी में समझाने का प्रयत्न मात्र किया है।

आधुनिक हिन्दी काव्यशास्त्र के पुनराख्याताओं में आचार्य शुक्ल, डा० श्याम-सुंदरदास, डा० गुलाबराय, डा० नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० नगेन्द्र, लक्ष्मीनारायण सुधांशु, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, बलदेव उपाध्याय आदि का रीति-गुण-विवेचन उल्लेखनीय है। इन पुनराख्याताओं में से कतिपय ने पाश्चात्य 'स्टाइल' की धारणाओं को दृष्टिगत रख कर भारतीय रीति तत्व की विवेचना की है तो कतिपय ने संस्कृत-साहित्यशास्त्र में ही विकसित रीति-गुण तत्व के ऐतिहासिक क्रमिक विकास का पर्यालोचन किया है।

रीति की परिभाषा और उनका स्वरूप

संस्कृत काव्यशास्त्र में अलंकारवादी भामह, दण्डी और वामन की मार्ग या रीतिविषयक धारणाओं में तथा आनन्दवर्धन एवं परवर्ती ध्वनि-रसवादी आचार्यों की एतद्विषयक धारणाओं में किंचित् भिन्नता है। इसका स्पष्टीकरण संस्कृत में रीति-विकास की परंपरा के अन्तर्गत हो चुका है। आधुनिक हिन्दी में कतिपय लेखकों ने वामन की रीति-परिभाषा का अनुसरण किया है तो कतिपय ने ध्वनि-रसवादी आचार्यों की धारणाओं के अनुरूप रीति तत्व का स्पष्टीकरण किया है। परंपरानुयायी एवं पुनराख्याता विवेचकों के रीति-विषयक अभिमतों का पृथक्-पृथक् उल्लेख इस तथ्य को अधिक स्पष्ट करने में सहायक होगा।

बिहारीलाल भट्ट का रीति-निरूपण नितांत परंपराभुक्त है, संक्षिप्त तथा

साधारण कोटि का है। इन्होंने साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ की रीति-परिभाषा का ही अनुसरण किया है—

कविता में पद अर्थ की संघटना अति होय,
तौन सरस समुदाय को रीति कहत कवि लोय।[1]

इसी प्रकार श्री कन्हैयालाल पोद्दार ने आचार्य वामन के रीति-लक्षण का ही उल्लेख किया है—'विशेष प्रकार की माधुर्य आदि गुण युक्त पदों वाली रचना को रीति कहते हैं।'[2]

रामदहिन मिश्र के मत में 'शब्दार्थ शरीर काव्य के आत्मभूत रसादि का उपकार करने—प्रभाव बढ़ाने वाली पदों की जो विशिष्ट रचना है, उसे रीति कहते हैं।'[3]

पं० रामदहिन मिश्र की इस परिभाषा में वामन की रीति-परिभाषा तथा ध्वनि रसवादियों की रीति-मान्यता का समन्वय-सा हो जाता है। इन्होंने इस परिभाषा में एक ओर शब्दार्थ—अर्थात् काव्य के वस्तु तत्व और दूसरी ओर 'रस' अर्थात् काव्य के आत्मतत्व-भाव की उपकारक विशिष्ट पद-रचना को 'रीति' कहा है। परन्तु इन्होंने इस तथ्य पर विशेष प्रकाश नहीं डाला कि 'रीति' रस की उपकारक किस प्रकार से बनती है? रस ध्वनिवादी आचार्य केवल तीन—माधुर्य, ओज तथा प्रसाद गुणों के आधार पर ही 'रीति' को रसोपकारक सिद्ध करते हैं और आचार्य वामन तो दस शब्द गुणों तथा दस अर्थ गुणों से समन्वित होना ही आदर्श रीति का स्वरूप निर्धारित करते हैं।[4]

रीतितत्व के पुनराख्याताओं का रीति-स्वरूप-निरूपण :

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल रसवाद के प्रबल समर्थक थे। यद्यपि इन्होंने स्पष्ट रूप से रीति की पृथक् परिभाषा नहीं दी, फिर भी एक स्थान पर इन्होंने लिखा है : "रीति का विधान शुद्ध नाद का प्रभाव उत्पन्न करने के लिए हुआ है। इस दृष्टि से कोमल रसों में कोमल वर्णों और रौद्र, भयानक आदि उग्र

---

१. साहित्यसागर, पृ० ३४३, साहित्यदर्पण (लक्ष्मी टीका) परि० ९।१।
२. संस्कृत साहित्य का इतिहास द्वि० सं० पृ० १०७।
३. काव्यदर्पण, पृ० ३१६ द्वि० सं० १९५१।
४. 'समग्रगुणा वैदर्भी', हि० काव्यालंकार सूत्र, १-२-११।
'तासां पूर्वा ग्राह्या गुणसाकल्यात्', वही, १-२-१४।

और कठोर रसों में परुष और कठोर वर्णों का प्रयोग अच्छा बताया गया है।"[१]

इस प्रकार शुक्ल जी रीति का सम्बन्ध नाद और उसी परंपरा से रसों से स्थापित करते हैं। परन्तु कोमल और कठोर वर्णों से किस प्रकार कोमल–शृंगार, करुण आदि तथा कठोर–रौद्र, भयानक आदि रसों की परिपुष्टि होती है, इसका इन्होंने अपनी परिभाषा में स्पष्टीकरण नहीं किया है। अन्यत्र काव्यभाषा की प्रमुख चार विशेषताओं के प्रतिपादन में शुक्ल जी ने रीति-तत्वों का ही आंतरिक विश्लेषण किया है। वे हैं : १. गोचर रूप विधान करनेवाले शब्द २. विशेष रूप एवं व्यापार सूचक शब्द, ३. वर्ण्य-विन्यास, ४. साभिप्राय विशेषण।[२] इन चारों विशेषताओं का सम्बन्ध रीति-तत्वों—शब्द योजना, वर्णविन्यास आदि से ही प्रमुख रूप से है। शुक्ल जी ने इनके विवेचन में भाव या रस तत्व की प्रेषणीयता को ही विशेष ध्यान दिया है। वर्ण-विन्यास के कृत्रिम-प्रयोग पर शुक्ल जी की प्रतिक्रिया है : 'जो बात भाव या रस की धारा का मन के भीतर अधिक प्रसार करने के लिए थी वह अलग चमत्कार या तमाशा खड़ा करने के लिए काम में लाई गई।'[3] अतः सामान्यतः शुक्ल जी प्रतिपादित रीति-स्वरूप का बाह्य संबन्ध वर्ण-विन्यास तथा शब्द योजना से है। फिर भी इसका आंतरिक स्वरूप तथा अंतिम साध्य 'भाव' या रस की प्रेषणीयता में निहित है।

डा० श्यामसुन्दरदास ने रीति की स्वतंत्र परिभाषा नहीं की। उन्होंने माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों के आधार पर पद या वाक्य-रचना की तीन रीतियों -वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली का निरूपण किया है।[४] इन्होंने संस्कृत रीति-परिभाषा की अपक्षा पाश्चात्य शैली-परिभाषा का विशेष स्पष्टीकरण किया है : 'किसी कवि या लेखक की शब्द योजना, वाक्यांशों का प्रयोग, वाक्यों की बनावट और उसकी ध्वनि आदि का नाम शैली है।'......शैली को विचारों का परिधान न कह कर उनका बाह्य और प्रत्यक्ष रूप कहना कुछ बहुत संगत होगा अथवा उसे भाषा का व्यक्तिगत प्रयोग कहना भी ठीक होगा।"[५] इस प्रकार श्यामसुन्दरदास जी ने प्रस्तुत शैली-परिभाषाओं में शब्द, वाक्य, वाक्यांश पर अधिक बल देकर रीति

---

१. चिन्तामणि, द्वि० भाग, पृ० २४५।
२. चिन्तामणि प्र० भा०, पृ० १७५-१८०।
३. वही, पृ० १७९।
४. साहित्यालोचन, ११ वीं आवृत्ति, पृ० २५९।
५. वही, पृ० २४९।

के वस्तुतत्व का अधिक निरूपण किया है। फिर भी अभिव्यक्ति-पद्धति और विचारों में अटूट सम्बन्ध दर्शाकर इन्होंने शैली के आंतरिक तत्व की ओर भी स्पष्ट संकेत दे दिया है।

डॉ० श्यामसुन्दर दास के समान डॉ० गुलाबराय ने भी पाश्चात्य शैली तत्व का अपने रीति तत्व के अध्ययन में समुचित उपयोग किया है। इन्होंने शैली की परिभाषा दी है : 'शैली अभिव्यक्ति के उन गुणों को कहते हैं जिन्हें कवि या लेखक अपने मन के प्रभाव को समान रूप से दूसरों तक पहुँचाने के लिए अपनाता है.... भारतीय समीक्षा में शैली का सम्बन्ध केवल भाषा से ही नहीं, वरन् अर्थ से भी है।'[१] इस प्रकार इन्होंने पाश्चात्य शैली और भारतीय रीति-गुणों में पारस्परिक सामंजस्य बिठाने का प्रयत्न किया है। शैली के स्पष्टीकरण में इन्होंने 'अभिव्यक्ति-गुणों पर अधिक बल दिया है, फलतः गुणों के आधार पर शैली तत्व की विस्तृत मीमांसा की है। एक ओर इन्होंने रीतियों का शैली से विशेष सम्बन्ध निर्धारित किया है तो दूसरी ओर रीतियों के मूल में निहित गुणों को रसोपकारक भी माना है।[२] इस प्रकार श्री गुलाबराय रीति को केवल बाह्य वस्तुतत्व ही नहीं मानते, वरन् उसे गुणों के द्वारा रस से भी सम्बद्ध करते हैं।

डा० नगेन्द्र ने भारतीय रीति तत्व का वामन तथा रस-ध्वनिवादी आचार्यों की धारणाओं के आधार पर पृथक्-पृथक् विश्लेषण किया है। इन्होंने सर्वप्रथम आचार्य वामन, आनन्दवर्धन, राजशेखर, कुन्तक, भोज, मम्मट तथा विश्वनाथ की मान्यताओं के अनुरूप रीति-परिभाषाओं का स्पष्टीकरण किया है; तदुपरान्त वामन तथा रस-ध्वनिवादी आचार्यों की धारणाओं का पृथक्-पृथक् मूल्यांकन इस प्रकार किया है : "वामन की 'विशिष्ट पदरचना' ही रीति की सर्वमान्य परिभाषा रही—और यह विशिष्टता भी प्रायः शब्द और अर्थ के चमत्कार पर मानी गई और वामन के निर्देशानुसार गुणों के साथ रीति का नित्य सम्बन्ध रहा। अंतर केवल यह हुआ कि वामन ने जहाँ शब्द और अर्थ के शोभाकारक धर्मों के रूप में गुणों को और उनसे अभिन्न रीति को अपने आप में सिद्धि माना, वहाँ आनन्दवर्धन तथा परवर्ती आचार्यों ने गुणों को रस के धर्म माना—और उनके आश्रय से रीति को भी रसाभिव्यक्ति के माध्यम रूप में ही स्वीकार किया, उनके अनुसार रीति शब्द और अर्थ के आश्रित रचना-चमत्कार का नाम है जो माधुर्य, ओज अथवा प्रसाद गुण के द्वारा चित्त को द्रवित, दीप्त और परिव्याप्त करती हुई रस-दशा

---

१. सिद्धान्त और अध्ययन, द्वि० सं० (१९५५) पृ० २३३।

२. वही, पृ० २३५।

तक पहुँचाने में साधन रूप में सहायक होती है।"[१] रीति-स्वरूप के विषय में डा० नगेन्द्र लगभग रस-ध्वनिवादी आचार्यों के दृष्टिकोण से ही सहमत प्रतीत होते हैं, जिसमें रीति-मुख्यतः शब्दार्थ के आश्रित होती हुई रसाभिव्यक्ति की माध्यम मात्र है।

श्री बलदेव उपाध्याय ने प्रथम वामन के 'रीति लक्षण' का स्पष्टीकरण किया है तदुपरान्त आनन्दवर्धन की रीति विषयक मान्यताओं का उल्लेख किया है। तुलना की दृष्टि से श्री उपाध्याय ने आनन्दवर्धन के रीति-निरूपण को 'नितांत तलस्पर्शी' और उपादेय माना है।'[२] श्री नन्ददुलारे वाजपेयी तथा श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु ने रीति-गुण-तत्व की संस्कृत-साहित्यशास्त्र में विकसित परंपरा का पर्यालोचन करते हुए संस्कृत आचार्यों की मान्यताओं का ही स्पष्टीकरण किया है।[३] श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने रीति-स्वरूप का व्यापक विवेचन नहीं किया। इनकी संक्षिप्त मान्यता में 'रीति भी वर्णन-शैली ही है और इसका संबंध भाषा से है[४]

इस प्रकार हिन्दी में रीति-स्वरूप का विवेचन मुख्यतः दो रूपों में हुआ है। एक में रीति को काव्य के बाह्य वस्तुतत्व, शब्द, वाक्य रचना, भाषा, नाद आदि से सम्बद्ध करके देखा गया है। दूसरे में रस, भाव, विचारों से भी रीति का प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापन करने का प्रयत्न किया गया है। प्रथम रीति-स्वरूप-निर्देशन में रीति के बाह्य रूपों—शब्द, वाक्य रचना, भाषा आदि की अधिक मीमांसा हुई है तो दूसरे में रीति के आंतरिक तत्व—गुणों की। रीति का रस, भाव तथा विचारों से सम्बन्ध स्थापन करने में कतिपय लेखकों ने पाश्चात्यों की 'स्टाइल' विषयक धारणाओं का भी आधार ग्रहण किया है। भारतीय रसवाद रीति-स्वरूप-विश्लेषण में माधुर्य, ओज, प्रसाद गुणों को अधिक महत्व देता है। आधुनिक हिन्दी के काव्यशास्त्र के विवेचकों पर रसवाद का अपेक्षाकृत अधिक प्रभाव है। अतः आधुनिक हिन्दी काव्यशास्त्र में अधिकांशतः रसवादी दृष्टिकोण से रीति-तत्व की मीमांसा हुई है।

---

१. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, प्र० सं० पृ० ४०।
२. भारतीय साहित्यशास्त्र, द्वि० खण्ड पृ० १९८ प्रथम संस्करण।
३. नन्ददुलारे वाजपेयी : नया साहित्य नये प्रश्न : पृ० १०९-१२ (१९५५)
लक्ष्मीनारायण सुधांशु : काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृ० ५-६ और १०-११ तृ० सं० २००७।
४. वाङ्मय विमर्श, प्र० सं० १९९९ पृ० १९०।

सारांश :

रीति की दो परिभाषाएँ हुईं :—

१. रीति भाषा-सरणि है, अभिव्यक्ति-पद्धति है। इसका स्वरूप स्पष्टतः शब्द-चयन, वाक्य-रचना, नाद तथा शब्दार्थ चमत्कारात्मक है।

२. रीति स्थूलतः पदसंघटना है, परन्तु इसका मूल आधार वर्ण-रचना, भाषा अथवा शब्द-चयन नहीं है, वरन् माधुर्य, ओज तथा प्रसाद गुण है, जो तत्वतः चित्तवृत्तियों से सम्बद्ध है।

द्वितीय प्रकार की रीति-परिभाषा आधुनिक अधिकांश पुनराख्याताओं को विशेष ग्राह्य प्रतीत हुई है। इसका मूल आधार रस-ध्वनिवादी आचार्यों का दृष्टि-कोण है।

मराठी में रीति-सिद्धान्त का अध्ययन

हिन्दी की भाँति आधुनिक काल में मराठी में भी संस्कृत रीति-सिद्धान्त के आख्यान और पुनराख्यान का व्यापक प्रयत्न हुआ है। आधुनिक काल के आरंभिक परंपरानुयायी विवेचकों ने संस्कृत के रीति-तत्व की मराठी में भाषान्तरात्मक व्याख्या की है। श्री बळवंत कमलाकर माकोडे के 'रसप्रबोध', राजाराम शास्त्री भागवत के 'अलंकार-मीमांसा', गणेश सदाशिव लेले के 'साहित्यशास्त्र', गणेश मोरेश्वर गोरे की 'अलंकार चन्द्रिका' सदाशिव बापु जी कुलकर्णी के 'भाषा सौन्दर्य-शास्त्र' आदि ग्रन्थों में रीति ,गुण, वृत्ति दोष आदि का संस्कृत काव्यशास्त्र के नितांत अनुरूप व्याख्यात्मक निरूपण मिलता है। इन लेखकों में से अधिकांश का विवेच्य विषय 'रस' तथा अलंकार ही रहा है, फिर भी प्रसंगवश रीति-गुण तत्व का भी इन्होंने निरूपण कर दिया है। इनके रीति-गुण-निरूपण में किसी प्रकार की नवीनता नहीं है, संस्कृत आचार्यों द्वारा प्रस्तुत लक्षणों का अनुवादमात्र किया गया है।

आधुनिक पुनराख्याताओं में श्री द० के० केळकर, श्री रा० श्री० जोग, डा० के० ना० वाटवे, डा० मा० गो० देशमुख, श्री ग० त्र्यं० देशपांडे, डा० रा० शं० वाळिंबे आदि का रीति-सिद्धान्त विवेचन विशेष उल्लेखनीय है। इनमें कतिपय लेखकों ने संस्कृत साहित्य-शास्त्र के रीति-गुणों की विस्तृत मीमांसा की है तो कतिपय ने पाश्चात्य 'स्टाइल' की धारणाओं के साथ भारतीय रीति तत्व का तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया है।

रीति-परिभाषा और उसका स्वरूप :

मराठी काव्य-शास्त्र के आरंभिक लेखकों की दृष्टि रीति की स्वतंत्र परि-भाषा प्रस्तुत करने पर अथवा रीति के नवीन स्वरूप-निर्धारण पर केन्द्रित नहीं

थी। अतः उन्होंने युग-धर्मानुरूप दण्डी, वामन, आनन्दवर्धन, मम्मट आदि आचार्यों की रीति-परिभाषाओं या रीति के भेदों का मराठी में अनुवाद मात्र प्रस्तुत किया है। इनकी तुलना में पुनराख्याताओं का दृष्टिकोण अधिक व्यापक है। पाश्चात्यों की रीति-विषयक मान्यताओं से प्रायः सभी आधुनिक लेखक परिचित हो चुके हैं। अतः इनके रीति-विवेचन में संस्कृत परंपरागत मान्यताओं का एकांत अनुसरण नहीं मिलता। नवीन चिन्तन के प्रति इनका विशेष आग्रह है। प्रमुख पुनराख्याताओं के रीति-स्वरूप विषयक अभिमतों का सारांश इस प्रकार है।

श्री द० के० केळकर ने 'काव्यालोचन' में रीति का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि वैदर्भी, गौड़ी आदि नामों का वर्तमान काव्यजगत् में व्यवहार विशेष उपयोगी नहीं है। रीति तो भाषा-सरणि है, वह न तो वामन-प्रतिपादित दसों गुणों से नितांत समन्वित पाई जा सकती है और न रस-ध्वनिवादियों के केवल तीन—माधुर्य, ओज तथा प्रसाद गुणों से ही। मराठी-काव्यशास्त्र को पुराने वैदर्भी, गौड़ी आदि रीति-नामों का परित्याग कर मधुर, ललित, आवेशयुक्त, प्रौढ़, मनोरंजक इत्यादि नामों को रूढ़ करना चाहिए। भाषासरणि अर्थात् रीति के विषय में इतना ही कहना पर्याप्त है कि 'भाषा के जितने भी प्रकार हैं (रीतियाँ हैं) वे विचारों के अनुरूप होने पर ही रमणीय प्रतीत होते हैं।'[1] इस प्रकार श्री केळकर विचारों के अनुरूप प्रयुक्त रमणीय भाषा सरणि को उत्कृष्ट रीति का स्वरूप घोषित करते समय रीति के वस्तुतत्व पर अधिक बल देते हुए भी विचार और रमणीयता द्वारा उसके आत्मतत्व का भी स्पष्ट निर्देश करते हैं।

श्री रा० श्री० जोग ने 'अभिनव काव्यप्रकाश' में निरूपित रीति-परिभाषा में प्रायः भारतीय संस्कृत आचार्यों और पाश्चात्यों की शैली-मान्यताओं का समन्वय-सा ही किया है। रीति-संख्या के विषय में इन्होंने लिखा है 'स्थूल रूप से आज हम जिसे शैली कहते हैं वही रीति है, प्रत्येक श्रेष्ठ लेखक की अपनी निजी शैली होती है। वस्तुतः जितने लेखक होते हैं उतनी ही शैलियाँ होती हैं। आदर्श रीति का स्वरूप स्पष्ट करते हुए इन्होंने लिखा है 'वस्तुतः उत्कृष्ट लेखन के लिए किसी एक सुनिश्चित रीति का निर्धारण करना संभव नहीं है। उपयुक्त शब्दों द्वारा उपयुक्त रचना[2] में ही उसका रहस्य निहित है। शैली में विषय की अर्थात् अर्थ की अभिव्यक्ति के अनुरूप ही शब्दों का नियोजन करना पड़ता है।'[3] इन्होंने रीति

---

१. काव्यालोचन : पृ० ३५२ तृ० सं० १९५६।
2. The right vocabulary, Walter Pater, Essay on Style, Appreciation.
३. अभिनव काव्य प्रकाशः पृ० १७२, तृ० सं० १९५१।

का स्वरूप शब्द-गुणों और अर्थ-गुणों पर आधृत माना है। तदनुसार इन्होंने वामन-निरूपित दस शब्द तथा दस अर्थ गुणों का सुविस्तृत विवेचन किया है और मम्मट निरूपित तीन गुणों—माधुर्य, ओज, प्रसाद की एकांत मान्यता का सयुक्तिक खंडन किया है।

डा० के० ना० वाटवे ने रस-विमर्श में वामन की रीति और पाश्चात्य 'स्टाइल' में भिन्नता स्वीकार की है। इनके मत में वामन ने गुणों अथवा रीतियों का पात्रों की मनःस्थिति से सम्बन्ध नहीं दर्शाया, फलतः दण्डी के मार्ग को अथवा वामन की रीति को इनकी धारणा में अधिक से अधिक 'डिक्शन' या 'कम्पोजिशन' कहा जा सकता है।[1] डा० वाटवे ने रीति का सम्बन्ध रस-ध्वनिवादी आचार्यों के अनुरूप ही 'रस' तत्व से स्थापित किया है। इन्होंने रीति तथा गुण को नितांत अभिन्न मान कर रीति का स्वरूप निर्धारित किया है : 'गुणयुक्त पदरचना।' गुणों में भी ये ध्वनि-रसवादी आचार्यों द्वारा निरूपित माधुर्य, ओज तथा प्रसाद को ही एकांत मान्यता देते हैं और गुण-स्वरूप के निर्धारण के उपरान्त रीति-स्वरूप का पृथक् विवेचन निरर्थक समझते हैं।[2] ध्वनि-रसवादियों से इनके रीति प्रतिपादन में किंचित् भिन्नता है। इन्होंने गुणों का सहृदय की चित्तवृत्तियों की अपेक्षा मूलतः कवि-मानस से सम्बन्ध-स्थापन उपादेय ठहराया है।

इनके अतिरिक्त डा० मा० गो० देशमुख, श्री ग० त्र्यं० देशपांडे, डा० रा० शं० वाळिंबे आदि ने भारतीय रीति और पाश्चात्य 'स्टाइल' की कल्पनाओं में निहित साम्य-वैषम्य का प्रतिपादन किया है। इनकी धारणाओं का निरूपण भारतीय रीति और पाश्चात्य स्टाइल प्रकरण में विस्तारपूर्वक किया जाएगा।

सारांश :

मराठी के आरंभिक परंपरानुयायी आख्याताओं ने संस्कृत आचार्यों की रीति मान्यता का ही भाषान्तर-सा प्रस्तुत किया है। इनके रीति-लक्षण तथा रीति-स्वरूप के निरूपण में किसी प्रकार की नवीनता नहीं है।

पुनराख्याताओं में संस्कृत रीति-परंपरा के एकांत अनुसरण की प्रवृत्ति दिखाई नहीं देती। श्री द० के० केळकर-निरूपित रीति-परिभाषा संस्कृत-परंपरा से विनिर्मुक्त है। वे रीति के परंपरागत वैदर्भी, गौड़ी आदि संज्ञाओं के परिवर्तन पर भी बल देते हैं। श्री जोग पाश्चात्यों की 'स्टाइल' विषयक धारणाओं को दृष्टिगत रख कर रीति-स्वरूप का विवेचन करते हैं। इन्होंने रस-ध्वनिवादियों की अपेक्षा

---

१. **रसविमर्श, प्र० सं० १९४२, पृ० ३५८।**

२. **वही, पृ० ३६३।**

वामन की रीति की ही पाश्चात्य 'स्टाइल' की धारणाओं के अनुरूप व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। इन्होंने रीति को केवल तीन गुणों पर आधृत मानना असंगत ठहराया है।

डा० के० ना० वाटवे वामन की अपेक्षा रस-ध्वनिवादी आचार्यों की रीति-परिभाषा का समर्थन करते हैं और रीति तथा गुण में अभिन्न सम्बन्ध स्थापित करके रीति का मूलतः कवि-व्यक्तित्व से सम्बन्ध दर्शाते हैं। डा० वाटवे सामान्यतः रीति को तीन गुणों पर ही आधृत मानना उपयुक्त समझते हैं।

संक्षेपतः मराठी के आधुनिक विवेचकों की धारणाओं के अनुरूप रीति की परिभाषाएँ इस प्रकार हैं :

१. रीति केवल भाषा सरणि है। यह मूलतः विचारों के अनुरूप उपयुक्त शब्द चुनाव या विशिष्ट भाषा-प्रयोग पर आधृत है। अतः इसका आधार केवल तीन गुण—माधुर्य, ओज, प्रसाद—नहीं हैं, वरन् प्रत्येक लेखक अपने विचारों के अनुरूप विशिष्ट रीति अपनाता है।
२. रीति तो गुणयुक्त पद-रचना का नाम है, जो स्पष्टतः माधुर्य, ओज तथा प्रसाद गुणों पर आधृत है और गुणों का मूलतः सम्बन्ध कवि के मनोभावों से है।

हिन्दी तथा मराठी में निरूपित रीति-स्वरूप के अध्ययन से निम्नलिखित तीन तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है :

१. भारतीय रीति का स्वरूप ध्वनि-रसवादी आचार्यों को मान्य प्रमुख तीन गुणों—माधुर्य, ओज तथा प्रसाद पर ही निर्धारित होना चाहिए।

गुणों का सम्बन्ध कवि-मानस से भी स्थापित किया जा सकता है और इस प्रक्रिया से रीति तत्व में कवि-व्यक्तित्व की अवतारणा भी अनायास ही सिद्ध की जा सकती है।

२. आधुनिक रीति का स्वरूप केवल तीन गुणों पर आधृत करना अपर्याप्त है। रीति तो भाषा-सरणि है, अतः रीति-संख्या का निर्धारण कठिन है। प्रत्येक लेखक अपनी विशिष्ट रीति अपना सकता है। वाक्य-रचना, शब्द-चुनाव तथा भाषागत वैशिष्ट्य रीति-स्वरूप के निर्धारक तत्व हैं।
३. भारतीय रीति तथा पाश्चात्य 'स्टाइल' में पर्याप्त साम्य निर्धारित किया जा सकता है। पाश्चात्य 'स्टाइल' में निरूपित कतिपय तत्वों का भारतीय रीति तत्व में समन्वय करके भारतीय रीति-परिभाषा को व्यापक या आधुनिकतम बनाना पूर्णतः सम्भव है।

भारतीय रीतिवाद में गुणों का पर्याप्त महत्वमापन हुआ है और गुण तथा

रीति अभिन्न तत्व से बन गये हैं । अतः रीति-सिद्धान्त का गुण-स्वरूप के बिना अध्ययन नितांत अपूर्ण होगा । रीति-परिभाषा के समान गुण-परिभाषा और गुण स्वरूप का पृथक् पृथक् अध्ययन आवश्यक हो जाता है । गुण-स्वरूप के स्पष्टीकरण से ही रीति-स्वरूप को समग्रतः समझने में सहायता मिलती है और पाश्चात्य 'स्टाइल' से भारतीय रीति-तत्व के साम्य-वैषम्य के प्रतिपादन का उचित मूल्यांकन हो सकता है ।

हिन्दी तथा मराठी के आधुनिक परंपरावादी तथा पुनराख्याताओं के रीति-स्वरूप-निरूपण को समग्रतः दृष्टि में रख कर आज भी यही निष्कर्ष दिया जा सकता है कि वस्तुतः वामन की 'विशिष्टा पदरचना रीतिः' ही नितांत ग्राह्य और उपादेय रीति-परिभाषा हैं । क्योंकि इस परिभाषा में निहित 'विशिष्टा' विशेषण काव्य के रीति तत्व को वस्तुतत्व की ऐकान्तिक स्थूलता से बचाता है । और रीति या शैली के मूलभूत विधायक तत्वों—गुणों के भी समुचित मूल्यमापन की प्रेरणा देता है । अधिक स्पष्टता के लिए 'गुणयुक्ता पदरचना रीति' कहा जा सकता है । जब रीति-परिभाषा में गुणों की अनिवार्यतः स्थिति स्वीकार की जाती है तब भारतीय रीति-सिद्धान्त को केवल भाषागत तथा बाह्य पदरचना पर अधिष्ठित स्थूल सिद्धान्त मानना कहाँ तक समीचीन हो सकता है? क्या रीति तत्व की ऐकान्तिक स्थूल वस्तुरूपता का परिहार गुण तत्वों से पूर्णतः सम्भव है ? इस महत्वपूर्ण प्रश्न का समाधान 'गुण-स्वरूप' के निर्धारण की अपेक्षा रखता है। फलतः अगले प्रकरण में हिन्दी तथा मराठी के काव्यशास्त्र-विवेचकों की धारणाओं का निरूपण करते हुए गुण-स्वरूप के निर्धारण का प्रयत्न किया जाता है ।

गुण-स्वरूप का अध्ययन

संस्कृत आचार्यों के रीति-सिद्धान्त-विवेचन पर समग्ररूप में ध्यान दें तो स्पष्ट होगा कि उन्होंने काव्य के बहिरंग तत्व—'रीति' का पर्याप्त आंतरिक विवेचन किया है। रीति तत्व का प्रयोजन केवल शब्द या वाक्य-नियोजन की पद्धति सिखाना मात्र नहीं था, वरन् भावानुगामिनी प्रभावोत्पादक शैली-निर्माण की प्रणालियों को भी सूचित करना था। इसके लिए उन्होंने रीति के अभिन्न रूप में गुणों का आविष्कार किया था। भारतीय गुण तत्व रीति या शैली के आंतरिक स्वरूप का उद्घाटन करने में पर्याप्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है, परन्तु संस्कृत आचार्यों में ही गुण-स्वरूप के विषय में मतैक्य नहीं है। भरतमुनि गुणों को दोषाभावरूप मानते हैं, परन्तु आचार्य वामन गुणों की भावात्मक सत्ता स्वीकार करके गुणाभाव रूप

में ही दोषों की स्थिति स्वीकार करते हैं।[1] रस-ध्वनिवादी आचार्य गुणों को शब्दार्थ की अपेक्षा चित्त-वृत्तियों के ही अभिन्न रूप में मान्यता देते हैं। आधुनिक हिन्दी तथा मराठी काव्यशास्त्र-विवेचकों के सामने गुण-स्वरूप के विषय में अनेक प्रश्न उपस्थित थे। गुणों को दोषाभावरूप माना जाय अथवा इनकी स्वतंत्र भावात्मक सत्ता स्वीकार की जाय ? काव्य के वस्तुतत्व तथा भावतत्व में से गुणों का मूलतः सम्बन्ध किस तत्व से है ? अथवा दूसरे शब्दों में गुण रीति के उपकारक तत्व हैं या प्रत्यक्षतः रस के ? रस-परिपाक में गुणों का उपकर्तृत्व कैसे सिद्ध होता है ? क्या गुणों का सम्बन्ध सहृदय की चित्तवृत्तियों से ही है ? क्या गुणों का कवि-मानस से भी किसी प्रकार का सम्बन्ध संभव है ? इत्यादि प्रश्नों पर आधुनिक हिन्दी तथा मराठी के काव्यशास्त्र-विचारकों ने निजी अध्ययन प्रस्तुत किया है। गुण-स्वरूप का व्यापक विश्लेषण रीति-सिद्धान्त की अनेक गुत्थियों को सुलझा देता है।

हिन्दी में गुण-स्वरूप का अध्ययन

रीति-स्वरूप की भाँति गुण-स्वरूप के निरूपण में अधिकांश परंपरानुयायी लेखकों ने संस्कृत-आचार्यों की धारणाओं का अनुवाद-सा प्रस्तुत किया है। फिर भी परंपरानुयायियों में श्री कन्हैयालाल पोद्दार तथा रामदहिन मिश्र का गुण-निरूपण उल्लेखनीय है। पुनराख्याताओं में आचार्य शुक्ल, डा० श्यामसुंदर दास, श्री बलदेव उपाध्याय, डा० नगेन्द्र आदि ने संस्कृत आचार्यों की गुण-सम्बद्ध धारणाओं का निरूपण करते हुए भी स्वतन्त्र विवेचन को किंचित् स्थान दिया है।

श्री कन्हैयालाल पोद्दार ने गुण-स्वरूप के निरूपण में ध्वनि-रसवादी आचार्यों की मान्यताओं का विशेष स्पष्टीकरण किया है। आचार्य मम्मट के अनुरूप ही श्री पोद्दार ने गुण का सामान्य लक्षण दिया है :

'जो रस के धर्म एवं उत्कर्ष के कारण हैं और जिनकी रस के साथ अचल स्थिति रहती है, वे गुण कहे जाते हैं।'[2] इस लक्षण में गुणों को एकांततः रस के धर्म रूप में स्वीकार किया गया है और गुणों की रस में ही स्थिति स्वीकार की गई है। इन्होंने गुण-स्वरूप एवं उसके मूल आधार के विषय में आचार्य मम्मट तथा जगन्नाथ की धारणाओं के सूक्ष्म अंतर का भी स्पष्टीकरण कर दिया है। "आचार्य मम्मट का मत है कि 'वास्तव में माधुर्य आदि गुण केवल वर्ण-रचना के आश्रित नहीं हैं, किन्तु

---

१. दे० संस्कृत में रीति-सिद्धान्त की विकास परंपरा (इसी अध्याय में) पृ० ४१४
२. रसमंजरी, पृ० १३० पंचम संस्करण २००४ वि०।

वे रस के धर्म हैं और समुचित वर्ण, समास और रचना द्वारा व्यंजित होते हैं।' पंडित-राज वर्ण-रचना में भी गुणों की स्थिति मानते हैं।"[१]

वस्तुत: रस-ध्वनिवाद के प्रबल प्रभाव से गुणों की स्थिति नितांत आंतरिक बनती गई। रसवाद के प्रबल समर्थक आचार्य जगन्नाथ इस तथ्य से पूर्णत: अवगत हो गये थे। फलत: उन्होंने 'वर्ण-रचना' में भी गुण-स्थिति की अपनी निजी मान्यता का स्पष्ट उल्लेख किया है।[२] गुण तत्व को यदि रीति-सिद्धान्त का आधारभूत तत्व स्वीकार करना अपेक्षित है तो गुणों के 'वर्ण-रचना' या 'पदरचना' के आश्रित स्वरूप की एकांत उपेक्षा अनुपादेय है।

श्री रामदहिन मिश्र ने भी आचार्य मम्मट, विश्वनाथ आदि रसवादी आचार्यों के अनुरूप ही गुण का लक्षण प्रस्तुत किया है: 'जो रस के धर्म हैं और जिनकी स्थिति रस के साथ अचल है वे गुण हैं।'[3] इसमें गुणों की स्थिति रस के साथ नितांत अभिन्न रूप में स्वीकार की गई है। इनकी मान्यता में केवल वर्ण-रचना के आश्रित गुण नहीं होते, वरन् वर्ण-रचना गुणों की अभिव्यंजक मात्र है। इस प्रकार मिश्रजी ने रस-ध्वनिवादियों के अनुरूप गुणों को एकांतत: रस से सम्बद्ध कर दिया है। गुण-स्वरूप के निरूपण में वस्तुतत्व के एकांत बहिष्कार से कदाचित् एकांगिता का दोष अनुभव करके मिश्र जी ने अन्त में लिखा है—'यद्यपि गुणों को रसधर्म बताकर शब्द-अर्थ से साक्षात् सम्बन्ध का निराकरण सिद्ध किया गया है, किन्तु वर्णों की कोमलता तथा कर्कशता उसके कारण होते हैं। अतएव यह निश्चित है कि रसोचित वर्ण-विन्यास गुण के मूल हैं।'[४] इन्होंने श्रृंगार-करुण रस में माधुर्य की तथा वीर बीभत्स और रौद्र में ओज की एवं सभी रसों में प्रसाद गुण की स्थिति का संस्कृत आचार्यों की परंपरा के अनुकूल ही वर्णन किया है। मिश्रजी के गुण-स्वरूप निरूपण में किसी प्रकार की नवीनता नहीं है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी गुण-स्वरूप के विषय में रसवादी मम्मट, विश्व-नाथ आदि आचार्यों की धारणाओं से ही पूर्णत: प्रभावित हैं। इन्होंने रस और गुण का 'अन्वय-व्यतिरेक-सम्बन्ध' स्वीकार किया है। इनके मत में 'शब्दार्थों' का

---

१. 'तथा च शब्दार्थयोरपि माधुर्यादैरीदृशस्य सत्वादुपचारो नैव कल्प्य इति तुमादृशा :' रसगंगाधर, प्रथम आनन, पृ० ५५।

२. रसगंगाधर प्र० आ० पृ० ५५।

३. काव्यदर्पण, पृ० ३०८ द्वि० सं० १९५१, काव्यप्रकाश (मम्मट) उ० ८ श्लो० ६६, साहित्यदर्पण, परिच्छेद ८ श्लो० १।

४. वही, पृ० ३०८।

विशेषण 'सगुणौ' भी असमीचीन है, क्योंकि गुण का सम्बन्ध रस से है, शब्द और अर्थ से नहीं जैसा कि लक्षणकार ने स्वयं स्वीकार किया है। यह कहना भी ठीक नहीं कि शब्द और अर्थ से, जो रस के व्यंजक हुआ करते हैं, गुणों का अप्रत्यक्ष सम्बन्ध (उपचार) होता है। 'शब्द और अर्थ में रस नहीं होता। इसलिए उनमें गुण भी नहीं होते। रस और गुण का सम्बन्ध अन्वय-व्यतिरेक-सम्बन्ध है।'[१]

संक्षेपतः शुक्ल जी की दृष्टि में गुण रसाश्रित हैं, 'रसपरिपाक में सहायक तथा उत्कर्षकारक होते हैं,' चितवृत्तियों के तद्रूप हैं। 'शुक्ल जी ने मम्मट के समान शब्द-धर्म में रस नहीं माना है। अतः उनमें गुण की सत्ता का निरूपण नहीं किया है। इन्होंने गुण का रस से अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध स्थापित कर दिया है।

डा० श्यामसुंदरदास ने रीति-गुण तथा वृत्तियों के विवेचन में शास्त्रीय परंपरा का नितांत अनुसरण न कर उनमें परस्पर संगति बिठाने का प्रयत्न किया है। इन्होंने मधुरा, परुषा तथा प्रौढ़ा वृत्तियों को शब्द-धर्म और वैदर्भी, गौड़ी तथा पांचाली रीति को वाक्य-रचना के भेद रूप में निरूपित किया है और प्रस्तुत तीनों वृत्तियों तथा रीतियों को क्रमशः माधुर्य, ओज तथा प्रसाद गुणों से सम्बद्ध कर दिया है। इस प्रकार इन्होंने शब्द-धर्म के रूप में वृत्तियों का तथा वाक्य-रचना-भेद के रूप में रीतियों का गुणों में अन्तर्भाव किया है। इस अन्तर्भाव की सूक्ष्म रूप से परीक्षा करने पर सदोषता स्पष्ट हो जाती है।[२] जहाँ तक गुण-परिभाषा का सम्बन्ध है, इन्होंने ध्वनि-रसवादियों की परिभाषा को ही मान्यता दी है।[3] इन्होंने शास्त्रीय परंपरा का आधार लेकर ही माधुर्य गुण को शृंगार, करुण और शांत रस का तथा ओज गुण को वीर, बीभत्स और रौद्र रस का एवं प्रसाद गुण को सब रसों का परि-पोषक प्रतिपादित किया है।

---

१. रसमीमांसा पृ० ३६८।
२. देखिए भारतीय काव्य शास्त्र की भूमिका (डा० नगेन्द्र) पृ० १६५।
३. साहित्यालोचन पृ० २५८-२५९ (११ वीं आवृत्ति)
'हमारे यहाँ काव्यों के अनेक गुण माने गये हैं और उन्हें 'प्रधान रस का उत्कर्ष बढ़ाने वाले धर्म' कहा है। वाक्यों में रसों की प्रधानता होने और उन्हीं के आधार पर समस्त साहित्यिक सृष्टि की रचना होने के कारण सब बातों में रस का सम्बन्ध हो जाता है। पर वास्तव में गुण शब्दों से और उनके द्वारा वाक्यों से सम्बन्ध रखते हैं।'३

श्यामसुंदरदास जी ने गुणों का एक ओर तो शब्द और वाक्यरचना के आधार पर काव्य के वस्तुतत्व से घनिष्ठ सम्बन्ध दर्शाया है तो दूसरी ओर आत्मतत्व-रस से। परन्तु गुण तीन ही क्यों माने जायँ ? क्या वामन निरूपित दस गुण रस-परिपोषक नहीं हो सकते ? तीनों ही गुण रसनिष्पत्ति में किस प्रकार से सहायक होते हैं ? इत्यादि प्रश्नों का समाधान इनके गुण-विवेचन में उपलब्ध नहीं होता।

गुणों के भावात्मक पक्ष को स्पष्टतः स्वीकार करके डा० गुलाबराय ने गुण-स्वरूप के प्रतिपादन में समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाया है। एक ओर आपने ध्वनि-रसवादियों की गुण-परिभाषा का ही उल्लेख किया है : 'शौर्यादि की भाँति रस के उत्कर्ष-हेतु रूप स्थायी धर्मों को गुण कहा गया है'[1] तो दूसरी ओर इन्होंने पाश्चात्य 'स्टाइल' की परिभाषा को ध्यान में रख कर गुणों के विषय में लिखा है : माधुर्य और ओज गुणों का सम्बन्ध एक ओर तो विशिष्ट वर्णों, असमस्त-समस्त पदावलियों से है तो दूसरी ओर 'इनका सम्बन्ध पाठकों और श्रोताओं और कुछ-कुछ लेखकों और कवियों की मनोवृत्ति से भी है।'[2] एक स्थान पर इन्होंने माधुर्य, ओज, प्रसाद का चित्तवृत्तियों से सम्बन्ध दर्शाकर प्रमुख तीन गुण मानने का स्पष्टीकरण किया है, तो अन्य स्थान पर वामन के दस गुणों का निरूपण कर इनके ही आधार पर छः प्रकार की शैलियों ओज, प्रसाद, समास आदि का प्रतिपादन भी किया है।[3] कुल मिला कर इनके गुण-विवेचन का सार यही है कि रीति और गुण शैली के ही तत्व हैं : 'जिस प्रकार आत्मा की अभिव्यक्ति के लिए शरीर आवश्यक है, उसी प्रकार रस की अभिव्यक्ति के लिए शैली आवश्यक है। शैली रस से संश्लिष्ट है, केवल अध्ययन के लिए पृथक् की जाती है।'[4]

श्री बलदेव उपाध्याय ने रीति और गुण तत्व की संस्कृत आचार्यों की धारणाओं के अनुरूप व्यापक मीमांसा की है। इन्होंने भामह, दण्डी, वामन, कुंतक, आनंदवर्धन आदि आचार्यों की गुण-सम्बद्ध विशिष्ट धारणाओं का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया है। आचार्य दण्डी के गुण-स्वरूप विवेचन के विषय में श्री उपाध्याय का अभिमत यह है कि इनके 'दस गुण अत्यन्त व्यापक हैं—वे केवल इने-गिने बाह्य उपकरणों का ही बोध नहीं कराते, प्रत्युत काव्य के अंतरंग और आवश्यक साधनों

---

१. सिद्धान्त और अध्ययन : पृ० २३७।
२. वही, पृ० २३६।
३. वही, पृ० २४०।
४. वही, पृ० २३६।

को लक्ष्य करते हैं।'[१] दण्डी के समान आचार्य वामन के गुण-विवेचन की भी व्यापकता का श्री उपाध्याय ने निरूपण किया है : 'वामन के अर्थगुण नितांत व्यापक हैं और रस को भी अपने में सन्निविष्ट करते हैं। अर्थगत ओज, माधुर्य, श्लेष तथा कान्तिगुणों के भीतर काव्य के समस्त अंगों का समावेश हो जाता है . . . इस प्रकार गुणों के भीतर बन्धगुण, अलंकार और रस का सन्निवेश स्पष्टतः वामन को अभीष्ट है। इन गुणों का अस्तित्व रीति को काव्य का एक नितांत महनीय अंग सिद्ध करने में समर्थ हो रहा है।'[२] इस प्रकार दण्डी और वामन के गुण-विवेचन की व्यापकता का निरूपण करने के उपरान्त कुंतक के आंतरिक गुण-विवेचन का भी इन्होंने विस्तृत उल्लेख किया है।[३] अन्त में आनंदवर्धन निरूपित संघटना और गुणों का सम्बन्ध-विवेचन करते हुए श्री उपाध्याय ने निष्कर्ष दिया है : 'गुण न तो संघटनात्मक ही होते हैं और न संघटनाश्रय ही होते हैं, प्रत्युत संघटना ही गुणाश्रय होती है अर्थात् रीति गुणों के ऊपर आश्रित रहती है।'[४]

इस प्रकार इन्होंने गुणों को संघटना की अपेक्षा अधिक आंतरिक तत्व के रूप में मान्यता दी है और रीति तत्व का मूल आधार गुणों को ही निर्धारित किया है।

डा० नगेन्द्र ने गुणों की भावात्मक स्थिति की स्पष्टतः स्वीकृति दी है[५] और संस्कृत आचार्यों की धारणाओं का उल्लेख करते हुए गुण-स्वरूप का विस्तृत प्रतिपादन नितांत स्पष्ट रूप में किया है। उनके गुण-स्वरूप के निरूपण में वस्तुतत्व और भावतत्व--रस--का संतुलित महत्व प्रतिपादित है। अधिक स्पष्टता के लिए इन्होंने गुण की परिभाषा दो रूपों में दी है : 'अतः गुण उन तत्वों को कहते हैं जो विशेष रूप से प्राणभूत रस के और गौण रूप से शरीरभूत शब्दार्थ के आश्रय से काव्य का उत्कर्ष बढ़ाते हैं।' अथवा 'गुण काव्य के उन उत्कर्ष साधक तत्वों को कहते हैं जो मुख्य रूप से रस के और गौण रूप से शब्दार्थ के नित्य धर्म हैं'[६] गुण-स्वरूप का ध्वनि-रसवादियों के अनुरूप विवेचन रस-स्थिति से एकरूप-सा होने लगता है, क्योंकि गुण और रस दोनों का ही कवि एवं सहृदय दोनों की मनःस्थिति

१. भारतीय साहित्यशास्त्र, प्र० सं० २००५, द्वि० सं० पृ० १६१।
२. वही, पृ० १६२।
३. वही, पृ० १९५।
४. वही, पृ० १६९।
५. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका पृ० ५८।
६. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, पृ० ६१।

से सम्बन्ध है। डा० नगेन्द्र ने सहृदय की चित्तवृत्तियों के आधार पर रस और गुण का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण इस प्रकार से किया है : "मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखें तो रस और गुण दोनों ही मनःस्थितियाँ हैं (इस विषय में अभिनव, मम्मट आदि सभी सहमत हैं)। रस वह आनंद रूपी मनःस्थिति है, जिसमें हमारी सभी चित्त-वृत्तियाँ अन्वित हो जाती हैं और यह स्थिति अखण्ड है। उधर गुण भी मनःस्थिति है, जिसमें कहीं चित्तवृत्तियाँ द्रवित हो जाती हैं, कहीं दीप्त और कहीं परिव्याप्त। यह भी ठीक है कि विशेष भावों और विशेष शब्दों में चित्तवृत्तियों को द्रवित अथवा दीप्त करने की शक्ति होती है। उदाहरण के लिए मधुर वर्णों को सुनकर और प्रेम, करुणा आदि भावों को ग्रहण कर हमारे चित्त में एक प्रकार का विकार पैदा होता है, जिसे तरलता के कारण द्रुति कहते हैं . . . परन्तु इन विकारों को पूर्णतः आह्लाद रूप नहीं कह सकते—यहाँ काव्य भावकत्व की स्थिति को पार कर भोजकत्व की ओर बढ़ रहा है अभी उसमें वस्तुतत्व निःशेष नहीं हुआ और स्पष्ट शब्दों में हमारी चित्तवृत्तियाँ उत्तेजित होकर अन्विति की ओर बढ़ रही हैं अभी इनमें पूर्ण अन्विति की स्थापना नहीं हुई, क्योंकि तब तो रस का परिपाक ही हो जाता। जैसा कि भट्ट नायक ने एक जगह संकेत किया है, यह काव्य के भोजकत्व की एक आरम्भिक स्थिति है जो पूर्ण रसत्व की पूर्ववर्ती है। अतएव गुण को अनि-वार्यतः आह्लाद न मान कर केवल चित्त की एक दशा ही माना जाय, तो उसे सरलता से रस परिपाक की प्रक्रिया में रस-दशा से ठीक पहली स्थिति माना जा सकता है, जहाँ हमारी चित्तवृत्तियाँ पिघलकर, दीप्त होकर या परिव्याप्त होकर अन्विति के लिए तैयार हो जाती हैं।'[1]

इस प्रकार डा० नगेन्द्र ने संस्कृत साहित्यशास्त्र के गुण तत्व की रस-परिपोष-कता का आंतरिक विश्लेषण कर इसकी मनोवैज्ञानिकता के स्पष्टीकरण का प्रयत्न किया है। इनका गुण-स्वरूप विवेचन रस-ध्वनिवादी आचार्यों की धारणाओं के अनुरूप है।

सारांश :

हिन्दी में गुण-स्वरूप का अध्ययन पर्याप्त सीमा तक संस्कृत आचार्यों की धारणाओं के अनुरूप ही हुआ है। विशेषतः भरत, भामह, दण्डी, कुंतक, आनन्द-वर्धन, मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि आचार्यों की गुण-विषयक मान्यताओं का ही अधिक विवेचन-स्पष्टीकरण हुआ है। आधुनिक युग के आरंभिक लेखकों ने स्थूल रूप से भाषा तथा शब्दार्थ से सम्बद्ध गुणों की ही विवेचना की है, परन्तु

---

१. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, (डा० नगेन्द्र) पृ० ६४।

अधिकांश पुनराख्याताओं ने विशेषतः ध्वनि-रसवादियों के दृष्टिकोण की ही अधिक स्पष्ट समीक्षा की है। फलतः सहृदय के चित्त की द्रुति, दीप्ति तथा परिव्याप्ति के आधार पर गुण-स्वरूप का विश्लेषण करते हुए गुणों को रस तत्व से पूर्णतः सम्बद्ध करने का प्रयत्न हुआ है।

कतिपय लेखक पाश्चात्य शैली तत्व से पूर्णतः परिचित थे। अतः उन्होंने गुणों का रीति या शैली तत्व के आधार पर पदरचना या वाक्यरचना के रूप में भाषागत महत्व-मापन का भी प्रयत्न किया है। आधुनिक काव्यशास्त्र विवेचकों का दृष्टिकोण व्यापक बनता जा रहा है। आज रीति-सिद्धान्त को केवल स्थूल 'पदरचना', वाक्यरचना या भाषागत तत्व पर आधृत सिद्धान्त नहीं समझा जा रहा, वरन् उसका काव्य के आत्म तत्व—रस या भाव से अभिन्न सम्बन्ध स्थापन पर विशेष बल दिया जा रहा है। फलतः आधुनिक युग के अधिकांश काव्यशास्त्रज्ञ गुण-स्वरूप के निर्धारण में समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाना ही विशेष उपादेय समझते है, जिससे गुण काव्य के वस्तुतत्व तथा भावतत्व के उपकारक बन सके। अधिकांश पुनराख्याताओं ने गुणों की भावात्मक सत्ता का पूर्णतः समर्थन किया है, गुणों को केवल दोषाभाव रूप नहीं माना है।

मराठी में गुण-स्वरूप का अध्ययन

रीति की भाँति गुण-स्वरूप के विषय में भी मराठी के परंपरानुयायी काव्य-शास्त्रज्ञों के अभिमत संस्कृत के अनुवाद रूप हैं। अतः उनका पृथक् उल्लेख न करके पुनराख्याताओं की मान्यताओं का यहाँ विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है।

मराठी में रीति-सिद्धान्त के पुनराख्याताओं ने गुण-स्वरूप के विषय में दो भिन्न-भिन्न मतों का प्रतिपादन किया है। एक मतानुसार गुण की स्थिति आंतरिक है, किन्तु काव्य के शब्द-अर्थ से उसका नित्य सम्बन्ध है, अतः काव्य-शोभा-विधायक अनिवार्य तत्वों में उसे स्थान दिया जाय और केवल तीन गुणों की अपेक्षा अन्य गुणों का भी पूर्ण महत्व-मापन किया जाय। दूसरे मतानुसार गुण का सम्बन्ध रस से है और मूलतः कवि की चित्तवृत्ति ही उसका आधार है। अतः तीन गुणों—माधुर्य, ओज तथा प्रसाद को ही मान्यता देनी चाहिए और इसका स्वरूप शब्द या वर्ण पर निर्धारित न कर रस या द्रुति, दीप्ति तथा परिव्याप्ति रूप चित्त की अवस्थाओं पर निर्धारित होना चाहिए। प्रथम मत के परिपोषकों में श्री द० के० केळकर तथा श्री जोग और द्वितीय मतके समर्थकों में डा० के० ना० वाटवे का नाम उल्लेखनीय है।

गुण-दोषों की भावात्मक स्थिति के विषय में संस्कृत काव्यशास्त्र में विशेष चर्चा रही। कतिपय आचार्यों ने गुणों को दोषाभाव के रूप में तो अन्य आचार्यों

ने दोषों को गुणाभाव के रूप में प्रतिपादित किया है।[1] परन्तु श्री द० के० केळकर की मान्यता में गुण-दोषों की स्पष्टतः भावात्मक स्थिति है। वे इन दोनों के स्वतन्त्र अस्तित्व की स्पष्ट स्वीकृति देते हैं। गुण तथा दोषों की पृथक्-पृथक् परिभाषाएँ न देकर उन्होंने एक ही वाक्य में दोनों के स्वरूप का स्पष्टीकरण किया है: 'प्रतिपाद्य विषय की मन पर छाप डालने में जो पोषक तत्व हैं वे गुण तथा मन पर छाप डालने में जो विघ्नकारक तत्व हैं वे दोष कहलाते हैं।'[2]

श्री केळकर निरूपित दोष की परिभाषा मम्मट प्रतिपादित दोष की परिभाषा से मिलती-जुलती है। उन्होंने स्वयं मम्मट की दोष-परिभाषा का उल्लेख कर उसे उपयुक्त बताया है।[3] जहाँ तक इनकी गुण-परिभाषा का सम्बन्ध है वह संस्कृत साहित्यशास्त्र की परंपरा से तनिक हट कर है। इन्होंने परंपरागत माधुर्य, ओज तथा प्रसाद गुणों के अतिरिक्त भी अन्य अनेक गुणों का उल्लेख किया है। संस्कृत-गुण-स्वरूप के नितांत आधुनिकीकरण पर इनका विशेष आग्रह है, फलतः इन्होंने गुणों के तीन वर्ग बनाये हैं—१ सत्य पर आधृत गुण, २ सौन्दर्य परिपोषक गुण तथा ३ अर्थाभिव्यंजक गुण और इन तीनों में वास्तविकता, निष्ठा, अखण्डैकात्मकता, प्रमाणबद्धता, सुसंगति, औत्सुक्यवर्धकता, सूचकता (ध्वन्यात्मकता), 'प्रसाद', 'माधुर्य, ओज, इन दस गुणों का समावेश किया है। इनमें प्रत्येक के स्वरूप का विवेचन 'गुण-संख्या' प्रकरण के अन्तर्गत किया जायगा। यहाँ संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त है कि इन्होंने न रस-ध्वनिवादियों के नितांत आत्मपरक गुण-स्वरूप को ही एकांत रूप से अपनाया है और न रीतिवादियों के नितांत वस्तुपरक गुण-स्वरूप को ही। प्रतिपाद्य विषय का मन पर प्रभाव डालने वाले विशिष्ट तत्वों को गुणों में समाविष्ट कर उसके स्वरूप को किंचित् व्यापक और समन्वयात्मक बनाने का प्रयत्न किया है।

श्री द० के० केळकर के अनुसार श्री जोग भी गुणों की भावात्मक स्थिति पर विशेष बल देते हैं।[4] संस्कृत साहित्यशास्त्र में रस-ध्वनिवादियों ने गुण को एकान्त रूप से रस-धर्म के रूप में आंतरिक तत्व माना है और गुणों का शब्दार्थ से सम्बन्ध औपचारिक रूप में स्वीकृत किया है। इसके विपरीत रीति-प्रवर्तक

---

१. दे० रीति सिद्धान्त की पूर्व पीठिका, पृ० ४१४
२. काव्यालोचन पृ० ३१०।
३. वही, पृ० ३१०, 'मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यः तदाश्रयाद् वाच्यः'—मम्मट : का० प्र० ७।४९।
४. अभिनवकाव्य प्रकाशः पृ० १८०-१८१ (तृ० सं० १९५१)

वामन ने काव्य-शोभा के स्थिरधर्म के रूप में गुणों का प्रतिपादन किया है और रस को कान्तिगुण में स्थान देकर उसे भी काव्य-शोभा के उत्पादक स्थिर धर्मों में सम्मिलित कर लिया है। वामन निरूपित गुणों का सम्बन्ध काव्य के शब्द और अर्थ से है, जो काव्य-रचना का मूल आधार है, इस प्रकार इनके गुण काव्य-शोभा-विधायक तत्व रूप में ही सीमित हैं। वस्तुतः प्रस्तुत काव्य-शोभा का प्रयोजन अंततः कवि या सहृदय का आह्लाद ही तो है। वामन ने काव्य-शोभा का प्रयोजन स्पष्ट शब्दों में आह्लाद, आनंद अथवा रस रूप में उद्‌घोषित नहीं किया, फलतः उनका विवेचन प्रायः वस्तुपरक बनता गया और काव्य-शोभा-विधायक नित्य धर्मों—गुणों—की स्थिति कवि या सहृदय की चित्तवृत्तियों पर आधृत न हो सकी, गुण शब्दार्थ के नित्य धर्म तथा इसी परम्परा से काव्य-शोभा विधायक तत्व रूप में ही बने रहे। मराठी में श्री जोग ने यद्यपि अपना गुण-विवेचन वामन के दस शब्द-गुणों तथा अर्थ-गुणों के आधार पर ही किया है, परन्तु इन्होंने गुण-परिभाषा में शोभादायकत्व के साथ आह्लादकत्व विशेषण भी गुण के साथ जोड़ा है। काव्य-शोभा विधायक धर्मों का नाम ही गुण है, यदि ये धर्म स्थिर होते हैं तो इन्हें गुण कहा जाता है और अस्थिर होने पर अलंकार। प्रत्येक शब्द में गुण सदैव विद्यमान रहते हैं, इन्हीं से काव्य-सौन्दर्य का निर्माण होता है अथवा उसकी वृद्धि होती है। सतत स्थिर शोभादायकत्व अथवा आह्लादकत्व का अभिप्राय ही गुण है।'[१] गुण-परिभाषा का अलंकार से पार्थक्य निर्देश करने के लिए इन्होंने 'सतत' और 'स्थिर शोभादायकत्व' इन गुण-विशेषणों पर बल दिया है। इनकी गुण-परिभाषा में दण्डी-वामन की गुण-परिभाषा के तत्वों का ही विशेष निरूपण है। अन्तर केवल 'आह्लादकत्व' विशेषण में आ जाता है। आह्लाद का सम्बन्ध स्पष्टतः ही 'रस' से है। गुणों की रस से संगति बिठाने के लिए ही श्री जोग ने संभवतः अर्थ-गुण को रस-परिपाक के लिए इष्ट ही नहीं अपितु अत्यावश्यक तत्व माना है: 'काव्य में अथवा लेख में शब्द सुंदर होने पर भी यदि विचार-सरणी में अस्तव्यस्तता है तो अर्थव्यक्ति पूर्ण और स्पष्ट नहीं हो सकती। रस परिपाक की दृष्टि से 'अर्थव्यक्ति' का सुगम और संपूर्ण होना इष्ट ही नहीं अपितु अत्यावश्यक भी है।'[२]

मम्मट तथा विश्वनाथ ने माधुर्य गुण को चित्त की द्रुति से सम्बद्ध किया है और चित्त द्रुति की अवस्था उत्पन्न करने में माधुर्य व्यंजक वर्णों का ही विशेष उल्लेख किया है, माधुर्य व्यंजक अर्थ-गुण का नहीं। क्योंकि मम्मट के मत में अर्थ गुणों

---

१. अभिनव काव्यप्रकाश : पृ० १७८-१७९।

२. वही, पृ० १७९।

की पृथक् सत्ता ही नहीं है।[1] इसके विपरीत श्री जोग वामन के अनुरूप शब्दगुण और अर्थगुणों का पृथक् अस्तित्व स्वीकार करते हैं। अर्थगुण माधुर्य का विवेचन करते हुए इन्होंने लिखा है : 'द्रुतिरूप मन की स्थिति उत्पन्न करने के लिए उपर्युक्त वर्णों (माधुर्य व्यंजक वर्णों) की सहायता तो होगी ही परन्तु प्रतिपाद्य अर्थ भी उसका पूर्ण परिपोषक होना चाहिए। वीर रस में ओजस्वी अर्थ की कितनी ही अनुप्रासमयी शब्दावली में अभिव्यक्ति की जाय, वहाँ माधुर्य गुण होना कठिन है।'[2] इस प्रकार श्री जोग ने माधुर्य, ओज तथा प्रसाद के शब्दगुण और अर्थगुणों का ही नहीं, अपितु वामन निरूपित दसों गुणों का शब्द और अर्थ के आधार पर विवेचन किया है।

इन्होंने गुणों को काव्य-सौन्दर्य की अभिवृद्धि करने वाले अथवा उसके मूल-कारणभूत समस्त स्थिर धर्मों के रूप में प्रतिपादित किया है।[3] इनके अनुसार गुणों को दो अंगों में विभक्त किया जा सकता है : एक गुण का बाह्यांग, दूसरा आंतरिक अंग। संस्कृत काव्यशास्त्र में प्रयुक्त मनुष्य-रूपक का आधार लेकर अपने मन्तव्य का स्पष्टीकरण इन्होंने इस प्रकार किया है : गौरवर्ण एक सौन्दर्य-साधक स्थिर धर्म है, इससे व्यक्ति में आकर्षकत्व का गुण आ जाता है। पूरी ऊँचाई नेत्र, नासिका और अन्य शारीरिक अवयवों की प्रमाणवद्धता उसके बाह्य स्थिर धर्म हैं। इस प्रकार के विशिष्ट आकृति-सम्पन्न पुरुष में मन की उपयुक्त उदारता, विनय, बुद्धिमत्ता इत्यादि आन्तरिक धर्मों से भी उसका व्यक्तित्व आकर्षक बनता है। एक व्यक्ति में उपलब्ध प्रस्तुत सभी धर्म स्थिर हैं, परन्तु इनमें कतिपय शरीर के अर्थात् बाह्यांग के हैं तो कतिपय आंतरिक।'[4] शब्दों में गुणों की स्थिति सदैव विद्यमान होती है, इनमें भी मानव के बाह्य और आंतरिक गुणों की भाँति स्थिर गुण-धर्म होते हैं। उदाहरणार्थ आस्य, तुण्ड, मुख, वदन इन एकार्थवाचक शब्दों में माधुर्य गुण की दृष्टि से 'तुण्ड' शब्द त्याज्य है, 'आस्य' और 'मुख' मध्यम हैं, तथा 'वदन' इन सब में उत्तम है। इस प्रकार इन शब्दों का आंतरिक गुण स्थिर है, वह बदल नहीं सकता। प्रसाद का अर्थ है 'अर्थ की शीघ्र प्रतीति होना'। इस दृष्टि से मुख शब्द ही अधिक उपयोगी होगा अपेक्षाकृत 'आस्य' के। चन्द्र, शशांक, रजनी-नाथ, शीतरश्मि इत्यादि एकार्थवाचक शब्दों में कतिपय माधुर्यपूर्ण हैं तो कतिपय

---

१. 'तेन नार्थ गुणाः वाच्याः'—काव्यप्रकाश ८३.९७ स०।
२. अभिनव काव्यप्रकाश पृ० १९१।
३. वही, पृ० १७९।
४. वही, पृ० १७९ तृ० सं०

प्रसादपूर्ण। 'उपल' शब्द 'पत्थर' की तुलना में अधिक मधुर है, परन्तु उसमें 'पत्थर' शब्द का ओजगुण या प्रसादगुण भी नहीं है। प्रस्तुत गुणों को ही शब्दों में या अर्थों में अन्तर्निहित धर्म कहा जाता है। इनके समुचित उपयोग से काव्य-सौन्दर्य की वृद्धि होती है।[1]

इस प्रकार वामन के समान शब्दार्थ के गुणों को काव्य शोभा-विधायक स्थिर धर्म मानते हुए भी श्री जोग ने गुणों को शब्दार्थ तक ही सीमित न रख कर उनका काव्य की आत्मा—'रस'—से भी सम्बन्ध दर्शाया है और कतिपय गुणों को काव्य की आत्मा (रस) के गुण-रूप में स्वीकार किया है। संभवत: इसी आशय से इन्होंने अपनी गुण-परिभाषा में शोभादायकत्व के साथ 'आह्लादकत्व' विशेषण भी जोड़ा है। गुणों की वास्तविक स्थिति का प्रतिपादन करते हुए इन्होंने लिखा है : 'गुणों की स्थिति आत्मा से भिन्न है। गुण आत्मा के धर्म हैं, स्वयं आत्मा नहीं है, आत्मा गुणी या धर्मी है, गुण उसके धर्म हैं। कहने का तात्पर्य काव्य की आत्मा यदि रस है तो वह जिस शब्दार्थ रूपी शरीर को धारण करती है, उसके स्पृहणीय धर्मों का नाम गुण है। इससे यह अर्थ भी नहीं निकलना चाहिए कि गुण शरीर के ही होते हैं आत्मा के नहीं। कतिपय गुण आत्मा के भी होते हैं, परन्तु जितने शीघ्र शरीर के गुण-दोष दिखाई देते हैं उतने शीघ्र आत्मा के नहीं दिखाई देते, फलत: काव्य-शास्त्र में गुणों की चर्चा मुख्य रूप से काव्य के शरीर के मुख्य अंग शब्द-अर्थ को लेकर ही अधिक हुई है।'[2]

श्री जोग निरूपित गुण की वास्तविक स्थिति में फिर भी सन्देह बना रहता है। इन्होंने कतिपय गुण शब्दार्थ के और कतिपय आत्मा के स्वीकार किये हैं। उन्होंने रसवादी मम्मट-विश्वनाथ की भाँति काव्य की आत्मा एकांत रूप से रस को ही माना है। परन्तु वे कौन से प्रमुख गुण हैं जो आत्मा (रस) के बन सकते हैं? इसका स्पष्टीकरण नहीं है। रसवादियों ने माधुर्य, ओज तथा प्रसाद को चित्त की द्रुति, दीप्ति और परिव्याप्ति से सम्बद्ध कर रस-निष्पत्ति में उन्हें पूर्ण सहायक सिद्ध किया है। गुणों की प्रस्तुत चित्तवृत्तियों पर आधृत प्रक्रिया का निरूपण भी अपेक्षित था। श्री जोग ने मम्मट के तीन गुणों (माधुर्य, ओज तथा प्रसाद) की मान्यता का प्रबल प्रत्याख्यान किया है और गुणों को अधिक व्यापक स्वरूप प्रदान करने पर विशेष आग्रह प्रकट किया है,[3] सम्भवत: इसी कारण रस-ध्वनिवादियों के

---

१. अभिनव काव्यप्रकाश, पृ० १८० ।
२. वही, पृ० १८१ ।
३. अभिनव काव्यप्रकाश, पृ० १८१ ।

आंतरिक गुण-विवेचन को अपेक्षित स्थान नहीं दिया गया।

श्री जोग गुणों की व्यापकता पर बल देते हैं तो डा० के० ना० वाटवे ध्वनि-रसवादियों के केवल तीन गुणों को ही मान्यता देकर उनका काव्य के आत्म-तत्व रस से अभिन्न सम्बन्ध दर्शाते हैं। डा० वाटवे का दृष्टिकोण मूलतः रसवाद पर ही केन्द्रित है, फलतः उन्होंने रीति-गुणों का शब्दार्थ की अपेक्षा चित्तवृत्तियों के आधार पर ही मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए लिखा है : 'मन की द्रुति, दीप्ति और परिव्याप्ति से माधुर्य, ओज तथा प्रसाद का सम्बन्ध दर्शाकर काव्यप्रकाशकार ने एक महत्वपूर्ण मानसशास्त्रीय प्रक्रिया सूचित की है। गुण आत्मा के होते हैं न कि शरीर के। केवल रौबदार शरीर से किसी व्यक्ति को शूर समझना और दूसरे को भीरु मान बैठना सर्वत्र सत्य प्रमाणित नहीं होता। यही स्थिति गुणों की भी है। अतः गुणों को सर्वत्र वर्णों पर ही अवलंबित नहीं मानना चाहिए, प्रत्युत वे उचित वर्णों से व्यक्तमात्र होते हैं। गुण का अर्थ केवल वर्ण विशेष नहीं है, वरन् चित्तवृत्ति विशेष है। यद्यपि विशिष्ट चित्तवृत्ति विशिष्ट वर्णों अथवा शब्दों से सूचित होती है और उन वर्णों की रस-व्यंजकता बाह्य रूप से (सब्जेक्टिव स्टेन्डर्ड से) सामान्यतः निश्चित की जा सकती है तथापि उन वर्णों पर ही अवलंबित नहीं रहा जा सकता। अब प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि गुण का तात्पर्य मनःस्थिति ही है तो रस किसे कहा जाएगा? इस प्रश्न का उपस्थित होना ही भाषा-शैली और रस के वास्तविक एकरूपत्व का निदर्शन है। यहाँ यद्यपि कारण और कार्य एक रूप हो जाते हैं फिर भी रस और गुण का पारस्परिक अन्तर दिखाया जा सकता है। कवि की भावना का अर्थ है काव्यगत रस। फिर इस भावना को कवि चाहे पात्रों के माध्यम से व्यक्त करे चाहे स्वयं प्रकट करे। परन्तु कवि में भावना-जागृति होने पर उसके मन की (और साथ ही उसके ज्ञानतंतुओं की भी) जो तदनुरूप अवस्था है, उसे गुण कहते हैं।'[1]

इस प्रकार डा० वाटवे ने भावना के अनुरूप परिवर्तित कवि की मनोवस्था को गुण माना है, वर्ण या शब्दयोजना को नहीं। वर्ण-योजना कवि के मनोभाव या चित्त की अवस्थाओं की सूचकमात्र है, स्वयं गुण नहीं है। गुण के वास्तविक स्वरूप का स्पष्टीकरण करने के लिए इन्होंने माधुर्य और ओज गुण का कवि-रचना के उद्धरण एवं कवि की मानसिक पृष्ठ-भूमि के आधार पर विवेचन किया है। मराठी के सुप्रसिद्ध कवि श्री भा० रा० तांबे अपने काव्य को प्रत्यक्ष 'सुमन' समझते थे। जब वे अपने काव्य-सुमनों को सहृदयों के लिए समर्पित करने लगे तो उनका

---

१. रसविमर्श, पृ० ३६१।

हृदय वात्सल्य मिश्रित करुण रस से भर आया और उनका चित्त द्रवित हो गया, उन्होंने सहृदयों से आर्त शब्दों में प्रार्थना की : 'मसलना न इन सुमनों को।'[१] इस समय श्री तांबे की जो चित्तद्रुति हुई है वह आंतरिक (सब्जेक्टिव) माधुर्य गुण है और इस चित्तद्रुति के अनुरूप उन्होंने जिन काव्यमय शब्दों का नियोजन किया है, वह बाह्य (आब्जेक्टिव) माधुर्य गुण है। तांबे की प्रस्तुत माधुर्यगुण समन्वित कविता को जब सहृदय पढ़ता है तो उसका चित्त भी कवि ताँबे के समान ही द्रवीभूत हो जाता है, इसे माधुर्य गुण की बाह्य कसौटी (आब्जेक्टिव स्टेन्डर्ड) कहा जाए। वीर और रौद्र रसों में इसी प्रकार से कवि का चित्त दीप्त होता है, शरीर में चैतन्य का संचार हो जाता है और आवेग बढ़ता है। किंवदन्ती है कि मराठी के संत कवि एकनाथ महाराज जब अपने ग्रन्थ 'भावार्थ रामायण' में हनुमान के समुद्रोल्लंघन का प्रसंग लिख रहे थे तब वे स्वयं इतने उद्दीप्त हो गये थे कि उन्होंने हनुमान के समान ही खिड़की से बाहर छलांग लगा दी। वीर रसात्मक काव्यों के अध्ययन से पाठक का मन भी यदि इसी प्रकार से उद्दीप्त हो जाता है, तो उस शब्द-योजना में ओज-गुण की अवतारणा माननी चाहिए।'[२]

संस्कृत काव्यशास्त्र के ध्वनि-रसवादी आचार्यों ने चित्त की द्रुति में शृंगार, करुण और शान्त रस, चित्त की दीप्ति में वीर, बीभत्स और रौद्र रस तथा चित्त की परिव्याप्ति में शेष रसों की निष्पत्ति का निर्देश किया है। उन्होंने प्रसाद गुण को सब रसों में उपयोगी माना; परन्तु स्पष्ट रूप से उन रसों का निर्देश नहीं किया जिनमें विशिष्ट रूप से प्रसाद गुण की प्रमुखता होती है। डा० वाटवे ने प्रसाद गुण की स्थिति का कुछ अधिक स्पष्टीकरण किया है। 'भावनाओं के उद्दीपन से वास्तव में चित्तद्रुति और चित्तदीप्ति दो ही मनोवस्थाएँ स्थूल रूप में बनती हैं। चित्त-विस्तार अथवा चित्त-विकास की अवस्था सभी प्रकार की भावना-जागृति के समय में होती है। यदि किसी प्रकार की उत्कट भावना न हो तो चित्त का आकुंचन होता है, ज्यों ही भावना-जागृति आरम्भ होती है, चित्त का विकास होने लगता है और भावना के स्वरूप के अनुसार उसमें दीप्ति या द्रुति आती है। कदाचित् विस्मय, शान्त, उदात्त और भक्ति रस में चित्त विकसित होता है। परन्तु संस्कृत साहित्याचार्यों ने इस विकास को विशिष्ट रसों से निबद्ध नहीं किया।'[३]

आचार्य मम्मट ने शान्त रस में चित्त की द्रुति का विशिष्ट उत्कर्ष माना है—

---

१. 'कुस्करु नका ही सुमनें'।
२. रसविमर्श, पृ० ३६२।
३. वही, पृ० ३६२।

'करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्'[1] परन्तु डा० वाटवे शान्त का चित्त के विकास से सम्बन्ध दर्शाते हैं। माधुर्य, ओज तथा प्रसाद को चित्त की द्रुति, दीप्ति और परिव्याप्ति पर आधृत बता कर इनके स्वरूप का विस्तृत विवेचन करने के उपरान्त डा० वाटवे ने इन्हें रस-सिद्धान्त के अन्तर्गत अनुभावों में स्थान देने की परिपुष्टि की है। 'विलियम जेम्स अथवा रीबो ने क्रोध, विस्मय, करुण, शृंगार इत्यादि भावनाओं के जो अभिव्यंजन (एक्स्प्रेशन्स आफ़ इमोशन्स) दिये हैं, उनमें द्रुति, दीप्ति और विकास की अवस्थाएं अस्पष्ट रूप से दिखाई देती हैं। भावना का मन में समावेश होते ही ज्ञानतंतुओं पर उसके कारण जो परिणाम होता है उसी के प्रतीक स्वरूप प्रस्तुत शब्द हैं। फलतः भोज के मतानुसार गुणों का और रीतियों का अनुभावों में समावेश करें तो कोई आपत्ति न होगी। शब्दोच्चारण और वाक्य-रचना को भी अनुभावों का ही अंग मानना पड़ता है।'[2]

इस प्रकार डा० वाटवे ने ध्वनि-रसवादियों के अनुरूप गुणों को एकांततः रस से सम्बद्ध कर उसके मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का प्रयत्न किया है। इनका गुण-विवेचन नितांत आंतरिक है। गुणों का शब्द अथवा वर्ण-रचना से जो सम्बन्ध है वह इनके मत में अत्यन्त गौण है—'यद्यपि गुण कतिपय विशिष्ट शब्दों और वर्णों से अभिव्यक्त होते हैं फिर भी गुणों को शब्दाश्रित मानने की अपेक्षा रसाश्रित मानना ही उपयुक्त है।'[3] अतः इन्होंने गुणों को शब्द या वर्ण रचना की अपेक्षा चित्तवृत्तियों पर आधृत मानने के लिए एक और व्यावहारिक तर्क दिया है। भीम जैसा वीर केवल साधारण प्रश्न करते समय भी कठोर शब्दों का प्रयोग करेगा और 'शकार' जैसा दुष्ट और असभ्य व्यक्ति शृंगार-भावना को भी गलियों में प्रकट करेगा। तात्पर्य वर्णों की अपेक्षा चित्त-वृत्तियों पर ही गुणों का आधार मानना अधिक श्रेयस्कर है। गुणों को शब्दार्थ के आश्रित लक्षणा द्वारा ही कहा जाता है।[4]

तुलनात्मक विवेचन

हिन्दी में गुण-स्वरूप का विवेचन आरम्भ से ही विशेषतः ध्वनि-रसवादियों के अनुरूप रहा है। आ० रामचन्द्र शुक्ल, डा० श्यामसुन्दरदास, डा० गुलाबराय, श्री रामदहिन मिश्र, डा० नगेन्द्र की गुण-परिभाषाओं में रसवाद का पूर्ण समर्थन

---

१. काव्यप्रकाश, उल्लास ८, सू० ९१ (हरिमंगल), १९४३।

२. रसविमर्श : पृ० ३६२।

३. वही, पृ० ३६२।

४. वही, पृ० ३६२ (गुणवृत्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता ॥ काव्यप्रकाश ८।९५।)

है। मराठी में द० के० केळकर एवं रा० श्री जोग की गुण-परिभाषाएँ परम्परा से तनिक हटकर हैं। श्री केळकर ने सहृदय की दृष्टि से गुण-परिभाषा का स्पष्टीकरण किया है, इन्होंने प्रतिपाद्य विषय की मन पर छाप डालने में समर्थ तत्वों को गुण कहा है। परन्तु यहाँ सहृदय के चित्त की द्रुति, दीप्ति और परिव्याप्ति का विश्लेषण-विवेचन नहीं किया गया, क्योंकि इनके मत में माधुर्य, ओज, तथा प्रसाद के अतिरिक्त भी अन्य अनेक गुणों को मान्यता देना अनिवार्य है। श्री जोग ने वामन की गुण-परिभाषा और रसवादियों की गुणविषयक मान्यता का समन्वय-सा किया है। गुणों को एक ओर शब्दार्थ के तथा काव्य-शोभा-विधायक नित्य धर्म के रूप में स्वीकार किया है तो दूसरी ओर इनसे रस-परिपुष्टि और आह्लादकत्व की निष्पत्ति भी स्वीकार की गई है। डा० वाटवे ने रसवाद का पूर्ण समर्थन करते हुए भी माधुर्य, ओज तथा प्रसाद का सहृदय की अपेक्षा कवि-मानस के आधार पर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। हिन्दी में भी इसी प्रकार का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण डा० नगेन्द्र ने किया है, परन्तु यह सहृदय के चित्त की द्रुति, दीप्ति और परिव्याप्ति पर आधृत है। प्रस्तुत दोनों ही विश्लेषण रसवाद के आधार पर गुणों का वास्तविक स्वरूप आधुनिक मानसशास्त्रीय पद्धति से स्पष्ट कर देते हैं। संस्कृत गुण-तत्व का आधुनिक मनोविज्ञान के प्रकाश में किया गया यह पुनराख्यान अत्यन्त उपयुक्त है। पाश्चात्य समालोचक 'स्टाइल' में कवि के निजी व्यक्तित्व या मनोभावों की अवतारणा अभीष्ट समझते हैं। भारतीय गुण तत्व में माधुर्य, ओज तथा प्रसाद का कवि-मानस के आधार पर अध्ययन नहीं मिलता। यदि डा० वाटवे के अनुरूप गुणों का कवि-मानस से सम्बद्ध अध्ययन किया जाय तो अभिव्यक्ति-पद्धति और कवि-मानस का अभीष्ट सम्मिलन जो पाश्चात्य स्टाइल का एक विशिष्ट तत्व है वह भारतीय रीति-गुणवाद में सहज प्राप्त हो सकता है। पाश्चात्य आलोचकों ने आदर्श शैली में वैयक्तिक अनुभूति और सार्वजनीन अनुभूति के उत्कृष्ट मिलन की आकांक्षा व्यक्त की है।[1] भारतीय रीति-गुण में भी इस तत्व को पुनराख्यान द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। कवि-मनोभावों के अनुरूप चित्त की

---

1. for the highest style is that wherein the two current meanings of the word blend; it is a combination of the maximum of personality with the maximum of impersonality, on the one hand it is a concentration of peculiar and personal emotion, on the other it is a complete projection of this personal emotion into the erected thing......
   J. M. Murry : The problem of Style P. 35.

द्रुति, दीप्ति तथा परिव्याप्ति रूप अवस्थाएं बनती हैं और तदनुरूप शब्दावली की अभिव्यक्ति होती है। कवि-मनोभाव ही मूलतः गुणों का वैयक्तिक तत्व है और शब्दावली उसका बाह्य तत्व है या अभिव्यक्ति-पद्धति है। कवि-मनोभावानु-रूप ही प्रत्येक सहृदय की काव्याध्ययन से जनित द्रुति, दीप्ति तथा परिव्याप्ति रूप चित्त की अवस्था गुणों का सार्वजनीन तत्व है। इस प्रकार एक ओर कवि-मानस तथा अभिव्यक्ति-पद्धति का गुणों में सामंजस्य है तो दूसरी ओर सहृदय के चित्त की तदनुरूप अवस्था भी काव्य में गुणों के सफल अवतारण की मूल्य-मापक है।

संस्कृत के रीति-गुण-विवेचन में यह दोष तो स्पष्टतः बना ही रहा कि सहृदय के चित्त का अर्थात् सार्वजनीन तत्व का जितना अधिक विश्लेषण होता रहा, उतना कवि-मानस का नहीं हुआ। रस-निष्पत्ति प्रक्रिया में भी मूलतः कवि-मानस की अपेक्षा सहृदय में ही उसकी निष्पत्ति का सूक्ष्म विश्लेषण हुआ। यदि रसवाद में सहृदय की भाँति कवि-मानस का भी सूक्ष्म विश्लेषण होता तो निस्सन्देह भारतीय रीति-गुणवाद में वैयक्तिक तत्व की पूर्ण प्रतिष्ठापना होती और वह नितांत वस्तु-परक प्रतीत न होता। भारतीय रसवाद में कवि-व्यक्तित्व की अपेक्षा सहृदय की चित्तवृत्तियों के विश्लेषण का मूल कारण है आरंभिक नाट्यशास्त्रीय दृष्टिकोण। नाटक में पात्र, अभिनय, रंगमंच, दर्शक या सहृदय पर विशेष ध्यान केन्द्रित रहता है। नाटक की सफलता या असफलता का मूल्यांकन सहृदय प्रेक्षक करता है, फलतः अनेक आचार्यों ने सहृदय के दृष्टिकोण से ही काव्य के आत्म-तत्व रस तथा उसकी निष्पत्ति का विवेचन किया है। भट्टलोल्लट तथा शंकुक ने आरोपवाद एवं अनु-मितिवाद के प्रतिपादन में दर्शक के दृष्टिकोण को भी ध्यान में रखा है। यद्यपि भट्टनायक और अभिनवगुप्त नाटकीय पात्रों पर आरोप तथा अनुमान करने की अपेक्षा सहृदय के मन में ही मूलतः रसानुभूति के तत्वों का विश्लेषण करते हैं, परन्तु वे भी कवि-मानस की रसानुभूति का अपेक्षित विवेचन नहीं कर सके। परिणाम यह हुआ कि उत्तर ध्वनिकालीन सभी आचार्य सहृदय के आधार पर ही रस-निष्पत्ति का विवेचन करते रहे। काव्य में जहाँ कहीं भी चित्तवृत्तियों के विश्ले-षण का प्रश्न उठता, वहाँ कवि-मानस की अपेक्षा सहृदय के मन का ही विश्लेषण होता। फलतः आनन्दवर्धन से जगन्नाथ तक के सभी ध्वनि-रसवादी आचार्यों ने गुणों के मूल में भी द्रुति, दीप्ति तथा परिव्याप्ति का सहृदय की चित्तवृत्तियों के आधार पर विवेचन किया है, कवि मन के आधार पर नहीं। अतः ध्वनि, रस-वादियों के रीति-गुण विवेचन में कवि-व्यक्तित्व को विशिष्ट स्थान नहीं मिल सका। इसके विपरीत जो रसवाद के नितांत अनुयायी नहीं थे, उन्होंने—दण्डी और कुन्तक ने—कवि-स्वभावानुरूप रीति-गुण-परिवर्तन का स्पष्ट निर्देश किया है।

आधुनिक हिन्दी और मराठी काव्यशास्त्र में रीति-गुणवाद को प्रथमतः कवि-मानस से सम्बद्ध करना ही अधिक श्रेयस्कर है। इससे आदर्श 'स्टाइल' या शैली के वैयक्तिक तत्व—कवि की स्वानुभूति और सार्वजनीन तत्व—सहृदयों की तदनुरूप अनुभूति के उत्कृष्ट समन्वय का प्रतिपादन हो सकता है।

हिन्दी में गुण-संख्यान और गुणों का उद्भावन

संस्कृत साहित्यशास्त्र में गुणों की संख्या-वृद्धि तथा संख्या-संकोच का प्रयत्न भरत से जगन्नाथ तक चलता रहा है। भरत, दण्डी तथा वामन दस गुणों को मान्यता देते थे, भोज २४ गुणों को, अग्निपुराणकार १८ गुणों को, कुंतक ६ गुणों को और भामह, आनन्दवर्धन, अभिनव तथा मम्मट तीन गुणों को ही स्वीकार करते थे। आधुनिक काव्यशास्त्र के पुनराख्याताओं के सामने गुण-संख्या-निर्धारण का प्रश्न भी उपस्थित हुआ है। रसवादी आचार्यों की मान्यताओं का ही अधिकांश ने अनु-सरण किया है। आ० रामचन्द्र शुक्ल, डा० श्यामसुन्दरदास तथा डा० नगेन्द्र रस-परिपोषक माधुर्य, ओज तथा प्रसाद इन तीन गुणों को ही मान्यता देते हैं। आ० शुक्ल तथा श्यामसुन्दरदास ने गुण-संख्या की वृद्धि या संकोचन का सयुक्तिक विवेचन नहीं किया है, केवल रसवादी दृष्टिकोण को प्रश्रय देकर तीन गुणों—माधुर्य, ओज तथा प्रसाद को मान्यता दी है। किन्तु डा० नगेन्द्र ने भरत से मम्मट तक विकसित गुण-संख्यान का निरूपण करते हुए इनके भेद-प्रस्तार या संख्या-विस्तार की निस्सारता का प्रतिपादन किया है। और अनेक गुणों के पृथक् अस्तित्व को निराधार घोषित करके तीन गुणों की स्वीकृति को चित्तवृत्तियों के आधार पर आवश्यक ठहराया है। 'इन्हीं तीन चित्तवृत्तियों के तद्रूप होने के कारण गुण भी केवल तीन ही होते हैं—द्रुति का प्रतीक माधुर्य, दीप्ति का ओज और व्यापकत्व का प्रसाद। रसानुभूति की प्रक्रिया में चित्त की केवल ये ही तीन अवस्थाएँ होती हैं अतएव तीन से अधिक गुणों की कल्पना निराधार है।'[1]

डा० नगेन्द्र रसवाद के प्रबल समर्थक हैं। अतः इन्होंने रस-ध्वनिवादी आचार्यों के दृष्टिकोण के अनुरूप रसानुभूति में समर्थ केवल तीन ही गुणों को मान्यता दी है। किन्तु कतिपय लेखक पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के शैली-गुणों से भी प्रभावित हुए हैं, अतः उन्होंने गुण-संख्या की अभिवृद्धि का पाश्चात्य शैली-गुणों के आधार पर ही प्रयत्न किया है। इनमें उल्लेखनीय हैं—करुणापति त्रिपाठी तथा डा० गुलाबराय।

श्री करुणापति त्रिपाठी ने पाश्चात्य शैली-गुणों तथा भारतीय रीति-गुणों

---

१. **भारतीय साहित्यशास्त्र की भूमिका, पृ० ६८।**

का विस्तृत निरूपण किया है। इन्होंने प्रथम पाश्चात्यों के शैली-गुणों की संख्या का उल्लेख करते हुए इनके मुख्य दो वर्ग बनाये हैं—१ बौद्धिक और २ रागात्मक। प्रथम वर्ग में शुद्धता, सरलता, स्पष्टता, अलंकृति और औचित्य का समावेश कतिपय पाश्चात्यों ने किया है तो द्वितीय वर्ग—रागात्मक—में मर्मस्पर्शिता और सजीवता गुणों की गणना की है। कतिपय अन्य पाश्चात्य शैली-विवेचकों ने कृति के अध्येता के मस्तिष्क पर पड़ने वाले प्रभावों के आधार पर भी शैली-गुणों के निर्धारण का प्रयत्न किया है। इनमें व्याकरण की शुद्धता के अतिरिक्त स्पष्टता (पर्स्पिकुइटि), सजीवता (विवैसिटी) लालित्य (ऐलिगैन्स), उल्लास (ऐनिमेशन) लय (म्युज़िक) आदि शैली-गुणों का प्रतिपादन किया जाता है।[1]

शैली-गुणों के वर्गीकरण तथा संख्या-निर्धारण में कृति और कृति के अध्येता-सहृदय पर विशेषतः अवलंबित रहना पड़ता है। शैली के गुणों का एकांततः सहृदय-परक मूल्यांकन कभी-कभी उपयुक्त नहीं लगता। उदाहरणार्थ, गहन-गंभीर विषय की शैली में सरलता तथा स्पष्टता गुण का निर्धारण सहृदय के उस विषय के पूर्व-ज्ञान की पर्याप्त अपेक्षा रखता है। अतः शैली गुणों के निर्धारण में हम निरूप्यमाण विषय एवं अभिव्यंजन-प्रणाली इन दोनों से पड़ने वाले प्रभावों का विश्लेषण करते हैं, यह देख लें कि लेखक की कृति द्वारा जो प्रभाव पड़ता है उसमें कितना अंश निरूप्यमाण विषय के साथ पाठक का परिचय होने के कारण है और कितना अंश उसके वर्ण्य वस्तु के चित्रण की प्रणाली के कारण है तभी हम कुछ निर्णय कर सकते हैं। यदि किसी गहन विषय का प्रतिपादन लेखक अपनी कृति में करता है और प्रतिपाद्य प्रकरण की दुर्बोधता के कारण साधारण पाठक उसे समझ नहीं पाता तो इसमें कृतिकार का दोष नहीं अपितु पाठक की अल्पज्ञता का ही दोष समझना चाहिए।[2]

अतः कतिपय पाश्चात्यों की धारणा में स्पष्टता, सरलता आदि शैली-गुणों के निर्धारण में वर्ण्यमान वस्तु और वर्णन-प्रणाली की प्रभावोत्पादकता पर पृथक्-पृथक् विचार करना चाहिए, इससे गुण-निर्धारण में ऐकान्तिकता के दोष के आने की संभावना नहीं रहती।

श्री त्रिपाठी ने पाश्चात्य शैली-विवेचक मिन्टो द्वारा—अपने ग्रन्थ 'मैन्वल औफ़ इंग्लिश प्रोज़' में निष्कर्ष रूप में प्रतिपादित गुणों का भी उल्लेख किया है: वे हैं: सरलता (सिम्प्लिसिटी) स्वच्छता (क्लीअरेन्स) प्रभावोत्पादकता (स्ट्रेन्थ),

---

१. शैली, (करुणापति त्रिपाठी) प्र० सं० पृ० ८७-९०।

२. वही, प्र० सं० पृ० ९० (१९९८ वि०)

मर्मस्पर्शिता (पैथोस), प्रसंग सम्बद्धता, (हार्मनी) और स्वरलालित्य (मैलोडी)। इन्होंने स्वयं निष्कर्ष रूप में सरलता, स्वच्छता, स्पष्टता, प्रभावोत्पादकता, शिष्टता और लय इन शैली के गुणों को स्वीकार किया है और इनका सोदाहरण निरूपण कर दिया है।[१]

भारतीय दृष्टिकोण से शैली के गुणों का विवेचन करते हुए श्री त्रिपाठी ने भरत, भामह, दण्डी वामन तथा मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों के गुण प्रतिपादन का निरूपण किया है और माधुर्य, ओज तथा प्रसाद गुणों का रसवादी आचार्यों के अनुरूप ही महत्व स्वीकार किया है। परन्तु प्रस्तुत तीनों गुण रस-परिपुष्टि में किस प्रकार सहायक बनते हैं, इसकी अपेक्षित मीमांसा इन्होंने नहीं की। अन्त में श्री त्रिपाठी ने शैली के 'आभ्यन्तर तत्व' में इन तीन गुणों के अतिरिक्त 'अर्थालंकार तथा 'शब्द शक्तियों' के भी महत्वमापन पर बल दिया है।[२] क्योंकि इन्होंने शैली का अर्थ नितांत व्यापक रूप में स्वीकार किया है और अलंकार, रीति, ध्वनि, शब्दशक्ति, वृत्ति आदि को भी इन्होंने शैलियों का ही रूप माना है।[3] पाश्चात्य तथा भारतीय शैली-गुणों में इन्होंने किसी प्रकार का सामंजस्य बिठाने का प्रयत्न नहीं किया। भारतीय 'गुण' तथा 'रीति' तत्व पाश्चात्यों द्वारा निरूपित शैली-गुणों से कहाँ तक साम्य-वैषम्य रखते हैं, इसकी अपेक्षित मीमांसा इस ग्रन्थ में नहीं की गई है।

गुण-संख्या के निर्धारण में डा० गुलाबराय ने एकांततः रसवादी आचार्यों का दृष्टिकोण नहीं अपनाया है। इन्होंने भारतीय रीति-गुणवाद की पाश्चात्य शैली से समता प्रदर्शित की है। इनकी निजी मान्यता में आधुनिक शैली-विकास को दृष्टि में रखते हुए कतिपय संस्कृत-परंपरा-भिन्न गुणों की ओर ध्यान देना उचित है। अपने दृष्टिकोण को इन्होंने इस प्रकार व्यक्त किया है : मेरी समझ में काव्य के तत्वों को ध्यान में रखते हुए शैली के गुणों के चार विभाग कर लेने चाहिएं।'[४] तदनुसार इन्होंने प्रथम शैली को चार वर्गों—रागात्मक, बौद्धिक, कल्पनात्मक तथा भाषात्मक में विभक्त किया है और प्रथम तीन को आंतरिक तथा अंतिम वर्ग को शैली का बाह्य वर्ग माना है। शैली के इन चार वर्गों में अनेक

१. शैली, प्र० सं० पृ० ९१।
२. वही, पृ० १३८।
३. वही, पृ० २३।
४. सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० २४७ द्वि० सं०।

गुणों का समावेश किया है। अधिक स्पष्टता के लिए इनके शैली-वर्गीकरण और गुण-संख्यान को इस प्रकार समझा जा सकता है।

शैली के वर्ग गुण

(क) आंतरिक :

१. रागात्मक—प्रभावोत्पादकता, मर्मस्पर्शिता, सजीवता और उल्लास।

२. बौद्धिक—संगति, क्रम, सम्बद्धता।

३. कल्पनात्मक—चित्रोपमता

(ख) बाह्य :

४. भाषात्मक—व्याकरण की शुद्धता, सरलता, स्पष्टता, स्वच्छता, लय, प्रवाह आदि।

संस्कृत साहित्य-शास्त्र में गुण-संख्यान इतना प्रवृद्ध है कि डा० गुलाबराय निरूपित अनेक गुणों का उनमें अन्तर्भाव हो सकता है। बौद्धिक वर्ग में निरूपित—संगति, क्रम तथा सम्बद्धता गुणों का भोज प्रतिपादित अर्थगुण 'समता', अर्थगुण 'श्लेष' (संविधाने सुसूत्रता) आदि में अन्तर्भाव हो सकता है। कल्पनात्मक वर्ग के चित्रोपमता का कुछ दूर से ही सही अर्थव्यक्ति गुण से और भाषात्मक वर्ग के भाषा-शुद्धता, लय, प्रवाह आदि का शब्दगुण 'समता' शब्दगुण 'गति' से सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है।[1] परन्तु अन्तर्भाव की यह प्रवृत्ति उपादेय नहीं लगती। प्राचीन गुणों को नवीन स्वरूप प्रदान करने की आवश्यकता है, इस दृष्टि से डा० गुलाबराय प्रतिपादित गुण-संख्यान और गुण-वर्गीकरण असंगत प्रतीत नहीं होता। किन्तु यह रसवाद की परंपरा से भिन्न है।

मराठी में गुण संख्यान और गुणों का उद्भावन

मराठी में जिन समीक्षकों की रीति-गुण विषयक मान्यताएँ नितांत संस्कृत के ध्वनि-रसवादियों के अनुरूप नहीं है, उन्होंने प्राचीन गुण-संख्या में परिवर्तन या परिवर्द्धन की आकांक्षा व्यक्त की है और कतिपय नवीन गुणों की मान्यताओं पर प्रकाश डाला है। आधुनिक साहित्य की प्रवृद्ध अनेक विधाओं (फार्मस्) के अनुरूप गुणफलक को किंचित् व्यापक स्वरूप प्रदान करने का प्रयत्न किया गया है। मराठी में श्री द० के० केळकर प्रतिपादित गुणों के स्थूल रूप से तीन वर्ग बनते हैं: १. सत्य पर आधृत गुण २. सौन्दर्यपरिपोषक गुण और ३. अर्थाभिव्यंजक गुण।

---

१. **सरस्वती कण्ठाभरण, (काव्यमाला) द्वितीयावृत्ति, दे० पृ० ७३, ७४, ७६, ५२ और ६८।**

इन्होंने प्रस्तुत तीनों वर्गों में दस गुणों का समावेश निम्न रूप में किया है[1]—

१ सत्य पर आधृत—१. वास्तविकता या यथार्थता २. निष्ठा या तन्मयता ।

२ सौन्दर्य परिपोषक—३. अखण्डैकात्मकता, ४. प्रमाणबद्धता ५. सुसंगति, ६. औत्सुक्यवर्धकता ७. सूचकता (ध्वन्यात्मकता) ।

३ अर्थाभिव्यंजक गुण—८ प्रसाद ९ माधुर्य १० ओज ।

श्री केळकर काव्य का प्रमुख उद्देश्य रस-निष्पत्ति ही मानते हैं । तदनुरूप उपर्युक्त गुणों के विवेचन में रसवाद पर भी उनका ध्यान केन्द्रित है । उनकी मान्यता के अनुरूप संक्षेप में प्रत्येक गुण के स्वरूप का स्पष्टीकरण आवश्यक है ।

सत्य पर आधृत गुण :

१ वास्तविकता

चाहे 'अद्भुतरम्यवादी' (रोमांटिक) काव्य हो, चाहे आदर्शवादी या यथार्थ-वादी, सभी प्रकार के काव्यों में किसी न किसी रूप में सत्य का परिपालन किया जाता है । किसी भी प्रकार का काव्य हो यदि उसमें चित्रित घटना, पात्र-स्वभाव, और भावनाविष्कार का स्वरूप वास्तविकता पर आधृत नहीं है तो वह पाठक को रस मग्न नहीं कर सकता और उसमें संस्कृत-ग्रन्थकारों के अनुसार 'देशकाल कला लोक-न्यायागम विरोधी' अथवा 'प्रसिद्धि विरुद्ध' दोष बन जाता है । अतः काव्य में सत्य पर आधृत यथार्थता या वास्तविकता का गुण सर्वप्रथम आवश्यक है । प्रस्तुत गुण का महत्व कथानक की घटना-रमणीयता, साथ ही तर्कपूर्ण संभवता तथा पात्रों के राग-द्वेषात्मक स्वभाव के अकृत्रिम उद्घाटन में देखा जा सकता है । देश कालानुरूप सामाजिक और राजनैतिक पृष्ठभूमि, प्रकृति-वर्णन, तत्कालीन शास्त्र-कला आदि के विवरणात्मक निरूपण में यथार्थता पर ध्यान देना आवश्यक हो जाता है । विवरणात्मक यथार्थ वर्णन की अपेक्षा पात्रों के स्वभाव और घटना की सुसंभाव्यता के यथार्थ चित्रण पर विशेष बल देना चाहिए ।

२. निष्ठा या तन्मयता—

सत्य पर आधृत वास्तविकता गुण के मूल में एक अन्य गुण निष्ठा या तन्मयता का बहुत महत्व है । प्रत्येक कवि में वर्ण्यविषय के साथ निष्ठा या पूर्ण तन्मयता का गुण होना अनिवार्य है । मराठी के संत-कवियों में निष्ठा या तन्मयता का गुण समृद्ध था; फलतः उनके हृदयोद्गार पाठक के मन को पूर्णतः आकृष्ट कर लेते हैं ।

सौन्दर्यपरिपोषक गुण :

३. अखण्डैकात्मकता—

इस गुण से अभिप्राय है समस्त काव्य एक रूप और अखण्ड प्रतीत होना चाहिए ।

---

१. **काव्यालोचन, पृ० ३११-१६ ।**

उसमें उपक्रम के अनुरूप ही उपसंहार का होना आवश्यक है। जिस प्रकार संगीत के आरम्भ में ही स्वर के अनुरूप दूसरे वाद्यों के सुरों को भी अनुकूल बना लिया जाता है और उसी सुर में अंत तक संगीत चलता रहता है, जिससे एक विशिष्ट एकरूपात्मक वातावरण का निर्माण होता है, ठीक यही स्थिति काव्य में भी होती है। नाटक-उपन्यासों में प्रमुख कथानक के साथ इतर उपकथानकों को इस प्रकार से जोड़ना पड़ता है कि वे उस मूल कथानक के ही अंग प्रतीत हों। जब मूल कथानक और इतर कथानकों के बीच का अंतर मिट जाता है तो ऐसी स्थिति में रचना में एकात्मकता का गुण आ जाता है। इसके विपरीत सामाजिक उपन्यासों में अद्‌भुत-रहस्यमयी घटनाओं का समावेश करने से उसकी एकात्मकता शिथिल हो जाती है। संस्कृत काव्यशास्त्र के 'समता' और 'श्लेष' गुण इसी प्रकार के हैं। विषय का प्रतिपादन और उसकी भाषा दोनों का स्वरूप चाहे गंभीर हो, चाहे विनोदी या अन्य किसी प्रकार का, परन्तु दोनों में एकरूपता होने पर ही काव्य में प्रस्तुत गुण की अवतारणा होती है।

४. प्रमाणबद्धता––

काव्य में मुख्य प्रसंग का उचित विस्तार और गौण का उचित संकोच करने पर प्रमाणबद्धता रूप गुण की सिद्धि होती है। प्रस्तुत गुण के अभाव से काव्य का रूप विकृत या बेडौल हो जाता है। प्रकरण का छूट जाना, पुनरुक्ति होना आदि दोष सुसंगति की हानि करते हैं। संस्कृत ग्रन्थकारों ने प्रमाणबद्धता के अभाव को रसदोष के अन्तर्गत दिखाया है।[1]

५. सुसंगति––

आंगांगी भाव की उचित रक्षा करने के पश्चात् अर्थात् प्रमाणबद्धता का पालन करने पर भी रचना में सुसंगति या क्रमबद्धता का गुण अपेक्षित है। नाटक की प्रारंभ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम पाँचों अवस्थाएँ सुसंगति का ही निर्देश करती हैं। क्रम का समुचित पालन न करने से क्रमभंग दोष हो जाता है।

६. औत्सुक्यवर्धकता––

प्रस्तुत गुण काव्य में अनपेक्षित परिवर्तन लाता है, जिससे काव्य अधिक आकर्षक बनता है। यद्यपि यह सुसंगति गुण का विरोधी-सा प्रतीत होता है, क्योंकि अनपेक्षित परिवर्तन से कथानक का प्रवाह एक भिन्न दिशा की ओर मुड़ जाता है, तथापि अंत में मूल दिशा की ओर ही आ जाता है। इसमें क्रम-भंग का आभास-

---

१. **'अंगिनः अननुसन्धानं वा अंगस्यापि अति विस्तृतिः।'**

मात्र होता है। 'अनपेक्षितता' और नवीनता में उत्तेजकता तथा औत्सुक्यवर्धकता का गुण विशेष रूप से पाया जाता है। फलत: काव्य में अनपेक्षित परिवर्तन से आकर्षकता बढ़ती है। मूल हेतु औत्सुक्य संवर्धन होता है। अत: अनपेक्षित परिवर्तन के साथ कथानक में रहस्यमयी घटनाओं का नियोजन भी किया जाता है। जब कथानक की उत्सुकता का प्रवाह कम हो जाता है और भावनोत्कटता न्यून होती जाती है तो ऐसे स्थलों में अपकर्ष दोष होता है, जिसे संस्कृत ग्रन्थकारों ने 'पतत्प्रकर्ष' कहा है।

७. सूचकता (ध्वन्यात्मकता)—

ध्वनिसिद्धान्त में सूचकता या ध्वन्यात्मकता का गुण सर्वविदित है। प्रत्यक्ष कथन या वाच्य की अपेक्षा 'ध्वनि' से काव्यसौन्दर्य में अपार वृद्धि होती है। अतएव सूचकता या ध्वन्यात्मकता को भी काव्य-गुण मानना चाहिए।

अर्थाभिव्यंजक गुण :

अर्थाभिव्यंजन से सम्बन्धित गुणों में माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों का निरूपण किया गया है। इनके मत में प्रस्तुत तीनों शब्द अर्थज्ञान की दृष्टि से सुगम तथा व्यवहार की दृष्टि से बहुप्रयुक्त हैं। अत: इन्हें ही अपनाना उचित है।

८. प्रसादगुण—

माधुर्य और ओज प्रसंगानुकूल प्रधानपद पाते हैं, परन्तु प्रसाद गुण की सर्वत्र आवश्यकता होती है। काव्य के पढ़ते ही जहाँ अर्थ की सुस्पष्ट प्रतीति हो और अर्थज्ञान में किसी भी प्रकार का कष्ट न हो, वहाँ प्रसादगुण समझना चाहिए। मूल कल्पना की सुस्पष्टता तथा उसकी उपयुक्त शब्दों में अभिव्यक्ति इन दोनों का समावेश प्रसाद गुण में होता है।

९. ओज—

ओज का तात्पर्य 'आवेश' है। ओज में कठोर शब्दों की सहायता मिलने पर भी उसका मूल प्रमुख स्वरूप भावना-आवेश ही समझना चाहिए।

१०. माधुर्य—

माधुर्य का प्रतियोगी दोष 'कर्णकटुता' है। 'कर्णकटु' शब्दों का परित्याग माधुर्य गुण की सृष्टि करता है।

यद्यपि श्री केळकर ने माधुर्य गुण का लक्षण निषेधात्मक (नेगेटिव) किया है और इसमें सूक्ष्मता भी नहीं है तथापि श्री केळकर ने परंपरा के साथ स्वतंत्र चिन्तन से काव्य-गुणों के नव-आविष्कार का प्रयत्न किया है। इनकी दृढ़ धारणा है कि मराठी काव्यशास्त्र को संस्कृत ग्रन्थकारों के गुण विषयक संकुचित दृष्टिकोण

का अनुसरण न करके आधुनिक समृद्ध काव्य-साहित्य के प्रकाश में नूतन गुणों का विवेचन करना चाहिए। इन्होंने संस्कृत रीति-गुण तथा दोष-विचार पर विस्तार से प्रबल आक्षेप किये हैं, जिनका संक्षिप्त सार इस प्रकार है—

१. मूल संस्कृत ग्रन्थों में ही गुण-दोषों की चर्चा वैज्ञानिक नहीं है।

२. भरत, दण्डी आदि आचार्यों ने दस गुणों का प्रतिपादन किया, परन्तु भामह ने केवल माधुर्य, ओज, प्रसाद तीन गुण स्वीकृत किये थे। काव्यप्रकाशकार ने जो एक बार तीन गुणों को मान्यता दी तो मानो वे सदा के लिए तीन गुण ही रह गये।

३. काव्य-गुणों की तुलना में काव्य-दोषों की चर्चा बहुत अधिक हुई। यद्यपि अलंकारों की अपेक्षा गुणों को काव्य में श्रेष्ठ स्थान दिया गया था तथापि अलंकारों का जितना विवेचन संस्कृत साहित्यशास्त्रकार करते रहे, उसके दशांश रूप में भी गुणों का विवेचन नहीं किया गया।

४. संस्कृत साहित्यशास्त्र के अलंकार युग में साहित्य का स्वरूप कृत्रिम बनता जा रहा था। काव्य में सारा श्रम चमत्कार-निर्माण पर किया जाता था। विशाल काव्यों में भी प्रत्येक श्लोक को स्वतन्त्र रूप से चमत्कृति पूर्ण बनाने की ओर बहुत ध्यान दिया जाता रहा, फलतः उन्होंने उन गुणों की ओर दुर्लक्ष किया जिनसे सब श्लोक मिल कर वर्णन शैली के एक प्रवाह का निर्माण करते हैं अथवा वर्ण्य-विषय का एक समग्र आकर्षक चित्र हमारे सामने उपस्थित करते हैं।[1]

श्री केळकर के उपर्युक्त आक्षेपों में पर्याप्त सत्य है फिर भी यह भुलाया नहीं जा सकता कि गुणों की संख्या दस या तीन से बढ़ती हुई अठारह, चौबीस और बहत्तर तक पहुँच गई थी। आखिर इस प्रस्तार-प्रवृत्ति को नियन्त्रित करना आवश्यक था ही। जहाँ तक वर्णन शैली के प्रवाह और वर्ण्य विषय के समग्र आकर्षक चित्र के प्रति दुर्लक्ष का सम्बन्ध है, यह त्रुटि अलंकारवादी आचार्यों भामह-दण्डी आदि से ही आरम्भ हो चुकी थी और रीति-प्रवर्तक आचार्य वामन ने तो इस दोष को चरम रूप दे दिया जब कि उन्होंने कालिदासके अभिज्ञानशाकुन्तलके 'गाहन्तां महिषा निपानसलिलं'[2] इस एक श्लोक को ही काव्य के दस-गुणों का साक्षात् अवतार सिद्ध किया। वस्तुतः आज के विकास शील साहित्य के लिए संस्कृत साहित्य-शास्त्र में निरूपित गुणों को ही अत्यन्त उपयुक्त मान लेना असंगत होगा। मराठी

---

१. काव्यालोचन, पृ० २१-२२।

२. अभिज्ञान शाकुन्तल, २. ६ हि० काव्यालंकार सूत्र०।

काव्य-शास्त्र के लिए गुणों के विषय में जिस नवीन दृष्टिकोण को अपनाने पर श्री केळकर बल देते हैं वह हिन्दी-काव्यशास्त्र के लिए भी उतना ही उपयोगी होगा। परन्तु नवीनता का अत्यधिक आग्रह करके प्राचीन काव्य-गुणों की मनोवैज्ञानिकता के प्रति दुर्लक्ष करना भी हितकर नहीं है। इन्होंने जिन नवीन गुणों का विवेचन किया है वे निर्दोष होने पर भी परिपूर्ण नहीं कहे जा सकते। अर्थाभिव्यंजक गुणों में माधुर्य, ओज और प्रसाद का विवेचन इन्होंने बहुत ही चलता-सा कर दिया है। ध्वनि-रसवादी अभिनव, मम्मट, विश्वनाथ आदि ने इन तीनों गुणों के मूल में चित्तवृत्तियों के परिवर्तन की जिस मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का निरूपण किया है, वह काव्य के आंतरिक गुणों के विषय में एक चिरंतन सत्य का अन्वेषण है। उस प्रक्रिया पर प्रकाश डालना आवश्यक था। मराठी में डा० वाटवे ने मूलतः कवि-मानस के आधार पर और हिन्दी में डा० नगेन्द्र ने सहृदय की चित्तवृत्तियों के आधार पर माधुर्य, ओज तथा प्रसाद गुणों की मनोवैज्ञानिक स्थिति का तात्विक विश्लेषण किया है, जो उपयुक्त है।

श्री केळकर-निरूपित गुणों के तीन वर्गों को यथावत् स्वीकार करने की अपेक्षा उन्हें दो वर्गों—वस्तुतत्व और भावतत्व में समाविष्ट करना उपयुक्त होगा। वस्तुतः काव्य-गुणों के भेद-उपभेद, वर्ग-उपवर्ग बनाने की अपेक्षा उसके दो मूल रूपों पर ध्यान रखना आवश्यक है : एक भावतत्व के उत्कर्ष-विधायक गुण, तो दूसरे वस्तुतत्व के। प्रथम वर्ग के सत्यता पर आधृत दोनों गुण-वास्तविकता और तन्मयता भावतत्व के उत्कर्ष-विधायक गुण हैं, द्वितीय वर्ग के सौन्दर्य-परिपोषक गुण—अखण्डैकात्मकता, प्रमाणबद्धता, सुसंगति, औत्सुक्य-वर्धकता तथा सूचकता (ध्वन्यात्मकता) प्रायः काव्य के वस्तुतत्व पर पूर्णतः आच्छादित रहते हैं। अतएव इन्हें स्थूल रूप से वस्तुतत्व के उत्कर्ष-विधायकगुण समझना चाहिए। जहाँ तक अर्थाभिव्यंजक माधुर्य, ओज तथा प्रसाद गुणों का सम्बन्ध है; वे शब्द, वाक्य तथा पदों में निहित होने से एक ओर तो वस्तुतत्व का उपकार करते हैं तो दूसरी ओर चित्तवृत्तियों के प्रतीक होने से भावतत्व या रस के परिपोषक भी हैं। इन्हें उभया-त्मक गुण कहा जा सकता है, परन्तु गुणों के इस तीसरे वर्ग का पृथक् अस्तित्व मानना विशेष उपादेय नहीं है। इस वर्ग के गुणों को वस्तु या भावतत्व के गुणों में समाविष्ट करना ही उचित है क्योंकि आखिर वस्तुतत्व के गुणों का उद्देश्य भी भाव या रसतत्व की ही परिपुष्टि है। फिर भी वस्तुतत्व के गुणों का पृथक् विवेचन और निरूपण इसीलिए किया जाता है कि जिससे काव्यवस्तु के सृजन और मूल्यांकन में सहायता मिल सके। अतः गुण की जितनी भी परिभाषाएँ दी जाती हैं उनमें यदि इन दोनों तत्वों का निर्देश हो तो गुण-स्वरूप के समझने में विशेष सहायता मिलती है। इस

दृष्टि से हिन्दी में डा० नगेन्द्र-प्रस्तुत गुण-परिभाषा महत्वपूर्ण है।[१] फलतः गुणों के जितने भी भेद-प्रस्तार हो सकते हैं, उन्हें मुख्यतः वस्तु और भावतत्व से सम्बन्धित दो वर्गों में विभाजित करना उपादेय होगा।

जहाँ तक श्री केळकर निरूपित सत्यता पर आधृत दो गुणों और सौन्दर्यपरिपोषक पाँच गुणों की नवीनता का सम्बन्ध है, वे नितांत नये आविष्कृत गुण नहीं हैं। आधुनिक काव्य, उपन्यास, नाटक आदि साहित्य-विधाओं के समालोचन और मूल्यांकन में बहुधा इनका विवेचन मिलता है। सौन्दर्य-परिपोषक गुणों में सुसंगति, औत्सुक्यवर्धकता, प्रमाणबद्धता आदि का उपन्यास, नाटक, कहानी, एकांकी नाटक आदि की कथावस्तु के आवश्यक तत्वों के रूप में प्रतिपादन किया जाता है। महाकाव्य, खण्डकाव्य आदि के लिए भी इनकी उपादेयता स्पष्ट ही है। इनमें से कतिपय गुणों का प्राचीन संस्कृत काव्यशास्त्र में भी निरूपण हो चुका है। जैसा कि स्वयं श्री केळकर ने लिखा है 'अखण्डैकात्मकता संस्कृत ग्रन्थकारों के सुश्लिष्टता या समता गुण का ही प्रतीक है।'[२] भोज ने तो अर्थगुण सुश्लिष्टता की व्याख्या 'संविधाने सुसूत्रता' की है, जो अखण्डैकात्मकता के गुण की ही परिपुष्टि करती है।[3] इस प्रकार श्री केळकर-निरूपित अन्य गुणों को भी खींचतान कर संस्कृत काव्यशास्त्र में प्रतिपादित विशाल गुणसंख्या में से किसी न किसी गुण का प्रतिरूप खोज सकते हैं और सब गुणों को उन्हीं प्राचीन गुणों में समाविष्ट कर सकते हैं। परन्तु आज के विकासोन्मुख साहित्य को तथा वर्तमान भाषा-शक्ति को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत समावेश की प्रवृत्ति विशेष उपादेय नहीं होगी। उदाहरणार्थ संस्कृत के श्लेष या श्लिष्टता गुण को ही लें,आज इससे हिन्दी और मराठी दोनों भाषाओं में 'अखण्डैकात्मकता' गुण का बोध न होकर 'श्लेष' अलंकार की प्रतीति होती है। स्वयं संस्कृत में ही 'श्लेष' का भोज प्रतिपादित अर्थ—'संविधाने सूसूत्रता' बिना परिभाषा के रटे ध्यान में नहीं आ सकता। अतः आधुनिक हिन्दी और मराठी काव्यशास्त्र के लिए प्राचीन दुर्बोध, अप्रचलित, और भिन्नार्थ बोधक संज्ञाओं का परित्याग कर गुणों के नये नामकरण और नव-आविष्कार को नितांत असंगत नहीं कहा जा सकता। इस दृष्टि से श्री केळकर का प्रयत्न स्तुत्य है।

---

१. 'गुण काव्य के उन तत्वों को कहते हैं जो विशेष रूप से प्राणभूत रस के और गौण रूप से शरीरभूत शब्दार्थ के आश्रय से काव्य का उत्कर्ष बढ़ाते हैं।' भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, पृ० ५८।

२. काव्यालोचन पृ० ३१४ तृ० सं०।

३. वही, पृ० ३१४।

संस्कृत में भामह, आनन्दवर्धन, मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने माधुर्य, ओज तथा प्रसाद गुणों को ही मान्यता प्रदान की है। मम्मट ने दस शब्दगुणों तथा अर्थगुणों की पृथक्-पृथक् सत्ता पर प्रबल आक्षेप किये हैं और केवल तीन गुणों को चित्तवृत्तियों के प्रतीक स्वरूप एकांत मान्यता दी है,[1] परन्तु मराठी में श्री जोग के मत में मम्मट की उद्‌घोषणा दुराग्रहपूर्ण है।[2] जिस प्रकार मनुष्य के गुणों की संख्या निश्चित और मर्यादित नहीं है, उसी प्रकार काव्य के भी गुणों की नहीं होनी चाहिए। दया, क्षमा, शांति, सत्यभक्ति, शौर्य, धैर्य, निःस्वार्थता, मिलनसारिता, सरलपन आदि अनेक छोटे-बड़े परन्तु एक दूसरे से भिन्न अनेक गुण जिस प्रकार मनुष्य में दिखाई देते हैं क्या उसी प्रकार काव्य में भी अनेक गुणों की स्थिति न मानी जाय? गुणों में परस्पर गौण-प्रधान भाव तो संभव है, परन्तु अप्रधान गुणों का एकांत बहिष्कार उचित नहीं। इन्होंने प्रथम पूर्व-पक्ष के रूप में मम्मट के द्वारा गुण-संख्या विस्तार के विरुद्ध प्रस्तुत हेतुओं को तीन वर्गों में विभक्त किया है——

१. कतिपय गुण तो तीन गुणों——माधुर्य, ओज तथा प्रसाद में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। बहुधा प्रसाद में अर्थव्यक्ति, माधुर्य में सौकुमार्य और ओज में उदारता समाविष्ट हो सकते हैं।
२. अनेक गुण दोषाभाव स्वरूप हैं, अतः उन्हें भावरूप अस्तित्व ही नहीं दिया जा सकता। संभवतः मम्मट के मत में उदारता का अर्थ ग्राम्यता का अभाव और समता का अर्थ विषमता का अभाव है।
३. कतिपय गुण तो कहीं-कहीं दोषरूप बन जाते हैं, फिर उन्हें सदा के लिए गुणों में कैसे स्थान दिया जा सकता है?[3]

श्री जोग ने उपर्युक्त तीनों हेतुओं का सयुक्तिक खंडन किया है। उनके विवेचन का सार है:सुश्लिष्टता और समता मम्मट या विश्वनाथ के मत में कुछ गौण हों तो भी इनका अन्तर्भाव तीन गुणों में से किसी एक में भी नहीं किया जा सकता। प्रसाद और अर्थव्यक्ति दोनों अत्यन्त निकट हैं फिर दोनों एकरूप नहीं हैं। माधुर्य और सौकुमार्य की भी यही स्थिति है। यदि इनमें से एक गुण दूसरे गुण का सहायक है और महत्व की दृष्टि से कम है तो इतने मात्र से दोनों गुणों को एक कह देना उपयुक्त नहीं है।

---

१. काव्यप्रकाश उल्लास ८ का० ३ (त्रयस्ते न पुनर्दश)
२. अभिनव काव्यप्रकाश पृ० १८२।
३. केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात्परे श्रिताः।
अन्येभजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश।
काव्यप्रकाश (हरिमंगल), उ० ८ श्लो० ७२।

जहाँ तक कतिपय गुणों को दोषाभाव स्वरूप के कारण पृथक् गुणरूप में मान्यता न देने का हेतु है, वह भी असंगत है, क्योंकि यही हेतु प्रसाद और माधुर्य पर भी लागू हो सकता है। क्लिष्टत्वाभाव का अर्थ होगा प्रसाद गुण और श्रुति-कटुत्व का अभाव होगा माधुर्य गुण। इसके अतिरिक्त गुण-विवेचन में विरोधी कारणों पर विचार करने से विवेचन में सुगमता आई है। व्यवहार में भी सत्यवादी मनुष्य का परिचय कभी झूठ न बोलने वाला कह कर अभाव रूप में दिया जा सकता है। क्या इस आधार पर वह सत्यवादी नहीं ठहरेगा ? दया, क्षमा, शांति इत्यादि गुणों का वर्णन भी अभाव रूप में किया जा सकता है। इससे उनकी भावात्मक सत्ता नहीं मिट सकती।

मम्मट का तीसरा हेतु भी इसी प्रकार उल्टाया जा सकता है। क्योंकि वीर रस में माधुर्य तथा विप्रलंभ में ओज गुण दोषरूप सिद्ध होते हैं। क्वचित् दोष रूप होने मात्र से इतर गुणों को अग्राह्य माना जाय तो प्रसाद के अतिरिक्त अन्य कोई भी गुण ग्राह्य नहीं होगा। और 'हेमलेट' जैसे विक्षिप्त-की-सी तथा उलझी हुई मनःस्थिति में पड़े हुए मनुष्य की भावनाओं का वर्णन करना पड़े तो वह भी दोष रूप बन जाएगा। जिस प्रकार भोज-निरूपित गुणों की २४ संख्या कइयों को मान्य नहीं होगी, उसी प्रकार मम्मट का तीन संख्या का आग्रह भी मान्य नहीं हो सकता। उनके सभी हेतु अकाट्य नहीं हैं।[१]

श्री जोग और आचार्य मम्मट के गुण-विवेचन में मूलतः दृष्टिकोण का ही अन्तर है। मम्मट सहृदय की द्रुति, दीप्ति तथा परिव्याप्ति रूप चित्त की अवस्थाओं को दृष्टि-गत रखते हुए गुण-विवेचन करते हैं तो श्री जोग काव्य के व्यापक भावतत्व तथा वस्तुतत्व से गुणों को सम्बद्ध कर उनका पृथक्-पृथक् मूल्यांकन करते हैं। मम्मट का गुण-विवेचन नितांत आंतरिक है, वह रसास्वाद की पूर्वावस्था है, उसका काव्य के शब्दार्थ से गौण सम्बन्ध है, मुख्य सम्बन्ध है सहृदय की चित्तवृत्तियों से, फलतः उन्होंने प्रसाद, माधुर्य और ओज के अतिरिक्त अन्य आचार्यों द्वारा प्रतिपादित गुणों का नितांत वस्तुतत्व की दृष्टि से मूल्यांकन किया है। वे अधिकांश गुणों को दोषाभाव रूप अथवा अलंकार रूप सिद्ध करते हैं, जहाँ कोई गुण भावतत्व से विशिष्ट सम्बद्ध हो तो उसे माधुर्य, ओज तथा प्रसाद में से किसी एक में समंजित कर देते हैं, जैसे अर्थव्यक्ति गुण को प्रसाद में।[२] इसके विपरीत श्री जोग के मत में अर्थ-व्यक्ति गुण के अभाव में प्रसाद गुण में अपूर्णता तो होगी, परन्तु 'अर्थव्यक्ति गुण

---

१. अभिनव काव्यप्रकाश, तृ० सं० १९५१, पृ० २०९-१०।

२. 'प्रसादेन अर्थव्यक्तिर्गृहीता', मम्मट काव्यप्रकाश, उ० ८।७३।

होने से वहाँ प्रसाद गुण भी हो यह अनिवार्य नहीं है। यदि क्लिष्ट शब्दों से मन के समग्र भावों को प्रकट कर देने से अर्थव्यक्ति गुण की स्थिति मानी भी जाय तो उसमें प्रसाद गुण का होना अनिवार्य नहीं है।'[१] इससे स्पष्ट है कि श्री जोग गुणों को सहृदय की चित्तवृत्तियों पर आधृत न करके कवि-मनोभाव और शब्दार्थ की दृष्टि से उनका विवेचन करते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि शेक्सपीयर के हमलेट जैसे पात्रों की संतोष, क्रोध, प्रेम, सन्देह आदि भावों से युक्त विक्षिप्त या उलझनपूर्ण मनःस्थिति को द्रुति, दीप्ति तथा परिव्याप्ति के अन्तर्गत लाना कठिन है। संस्कृत काव्यशास्त्र के अनुरूप 'भाव-शबलता' के अन्तर्गत इनका समीक्षण हो सकता है, परन्तु ध्वनि-रसवादियों के गुण-वाद में इस प्रकार की मनोवस्था की संगति किस प्रकार से बिठाई जाय यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है।

श्री जोग ने ध्वनि-रसवादियों की तीन गुण-संख्या को अपर्याप्त ठहराया है और वामन-प्रतिपादित दस शब्द तथा दस अर्थ गुणों का सोदाहरण विवेचन किया है। दस गुणों के विवेचन में विभिन्न आचार्यों के प्रतिपादित भिन्न-भिन्न लक्षणों का भी प्रत्येक गुण के साथ निरूपण किया गया है और वामन की परिभाषाओं को ही एकांत मान्यता नहीं दी गई है। उदाहरणार्थ, समाधि गुण-विवेचन में वामन की अपेक्षा दण्डी-निरूपित परिभाषा को ही श्री जोग ने विशेष मान्यता दी है।[२] परन्तु इन्होंने गुण-संख्या के विषय में न अपना सुनिश्चित दृष्टिकोण अभिव्यक्त किया है और न गुणों के नव-आविष्कार की ओर संकेत ही दिया है।

डा० वाटवे ने गुणों का विवेचन रस तत्व के प्रकाश में किया है, फलतः इन्होंने ध्वनि-रसवादियों के अनुरूप माधुर्य, ओज तथा प्रसाद गुणों को ही एकांत मान्यता दी है और इन्हें मूलतः कवि की चित्तवृत्तियों पर आधृत सिद्ध किया है।[3]

श्री ग० त्र्यं देशपांडे ने भी 'गुणालंकार' विवेचन में ध्वनिवादी आचार्य आनन्द-वर्धन की धारणाओं का ही विस्तृत निरूपण किया है और माधुर्य, ओज तथा प्रसाद इन तीन गुणों को रस तत्व पर आधृत माना है।[४]

इस प्रकार मराठी के आधुनिक पुनराख्याताओं में प्रा० द० के० केळकर ने परंपराभिन्न नवीन गुणों के उद्भावन तथा प्रतिपादन का प्रयत्न किया है और

---

१. अभिनव काव्यप्रकाश, पृ० १८७।
२. अभिनव काव्यप्रकाश पृ० २०७।
३. रसविमर्श पृ० ३५८-६२।
४. भारतीय साहित्यशास्त्र, ३११-१२।

श्री रा० श्री० जोग ने परंपरागत तीन गुणों—माधुर्य, ओज तथा प्रसाद—को अपर्याप्त सिद्ध किया है। किन्तु आनन्दवर्धन और मम्मट के अनुयायी पुनराख्याताओं ने रस का आधार लेकर तीन गुणों को ही विशेष मान्यता प्रदान की है और अन्य गुणों को एक प्रकार से इन्हीं में अन्तर्भूत मान लिया है।

तुलनात्मक निष्कर्ष

संस्कृत रीति-सिद्धान्त में निहित परंपरागत गुण-संख्या के विस्तार-संकोच अथवा गुणों के नव-आविष्कार के विषय में हिन्दी तथा मराठी में पर्याप्त साम्य-वैषम्य-मूलक अध्ययन हुआ है। संस्कृत में ध्वनि-सिद्धान्त से अप्रभावित भरत, भामह, दण्डी, वामन, कुंतक आदि ने गुणों को एकांततः सहृदय की चित्तवृत्तियों से सम्बद्ध नहीं किया है। अतः इनमें से भामह को छोड़ कर शेष सभी आचार्यों ने गुण-संख्या को माधुर्य, ओज, प्रसाद तक ही सीमित करने का प्रयत्न नहीं किया है। हिन्दी तथा मराठी में भी जिन्होंने गुणों की स्थिति एकांततः सहृदय के चित्त की द्रुति, दीप्ति या परिव्याप्ति मात्र पर आधृत नहीं की है, उन्होंने इनके संख्या-विस्तार का समर्थन व प्रयत्न किया है। गुण-संख्या-विस्तार के प्रतिपादन में आधुनिक हिन्दी तथा मराठी के लेखकों पर पाश्चात्य शैली तत्व की मान्यताओं का भी प्रभाव रहा है। गुणों को काव्य के शैली-तत्व का अभिन्न अंग-सा स्वीकार करके हिन्दी में श्री करुणापति त्रिपाठी, डा० गुलाबराय ने तथा मराठी में श्री द० के० केळकर एवं श्री रा० श्री० जोग ने ध्वनि-रसवादियों की तीन गुणों की परंपरा से भिन्न अन्य अनेक गुणों के स्वतन्त्र अस्तित्व की स्पष्टतः स्वीकृति दी है।

परन्तु ध्वनिरसवाद के प्रबल समर्थक कतिपय विद्वानों ने माधुर्य, ओज, प्रसाद इन तीन गुणों को ही विशेष रूप से मान्य किया है। तीन गुणों के महत्व-मापकों में आ० शुक्ल, डा० श्यामसुंदर दास, डा० नगेन्द्र, डा० के० ना० वाटवे और श्री ग० त्र्यं० देशपांडे का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

संस्कृत-परंपराभिन्न जिन नवीन गुणों का निरूपण-प्रतिपादन किया गया है, उनमें प्रमुख गुण निम्नलिखित हैं :

हिन्दी में—

प्रभावोत्पादकता, मर्मस्पर्शिता, सजीवता, उल्लास, संगति, क्रम, सम्बद्धता, चित्रोपमता, व्याकरणिक शुद्धता, सरलता, स्पष्टता, स्वच्छता, लय, प्रवाह और शिष्टता।

मराठी में—

वास्तविकता या यथार्थता, निष्ठा या तन्मयता, अखण्डैकात्मकता, प्रमाण-बद्धता, सुसंगति, औत्सुक्यवर्धकता और सूचकता। इन गुणों के मूल में निहित

कतिपय वर्ग भी सुझाये गये हैं। कुल मिलाकर निम्नलिखित वर्ग हैं, जिनका हिन्दी-मराठी के आधुनिक विवेचकों ने निरूपण किया है : रागात्मक, बौद्धिक, कल्पनात्मक, सत्य पर आधृत, सौन्दर्यपरिपोषक और अर्थाभिव्यंजक।

उपर्युक्त गुणों में कतिपय गुण कवि की मनःस्थिति से सम्बन्ध रखते हैं, कतिपय सहृदय की मनःस्थिति से तो कतिपय काव्य के वस्तुतत्व से। उदाहरणार्थ, श्री० द० के० केळकर निरूपित निष्ठा या तन्मयता का प्रत्यक्षतः कवि की मनःस्थिति से सम्बन्ध है। डा० गुलाबराय ने प्रभावोत्पादकता, मर्मस्पर्शिता, सजीवता और उल्लास का सम्बन्ध काव्य के रागात्मक तत्व से स्थापित किया है। अतः ये भी प्रकारान्तर से मूलतः कवि-मानस से ही सम्बद्ध हैं। परन्तु कवि की रचना के साथ-साथ इस रचना के अध्येता सहृदय में भी इन गुणों की अवतारणा होती है। अतः इनकी उभयात्मक स्थिति स्वीकार करना असंगत न होगा। शेष अधिकांश गुण संगति, क्रम, प्रमाणबद्धता, सरलता, चित्रोपमता आदि एक प्रकार से काव्य के वस्तुतत्व पर ही मुख्यतः व्याप्त रहते हैं। इन अधिकांश नवाविष्कृत गुणों का संस्कृत-साहित्य-शास्त्र में निरूपित विशाल गुण-संख्या में अन्तर्भाव पूर्णतः संभव है। परन्तु हिन्दी तथा मराठी के नवीन काव्यशास्त्र-निर्माण के लिए श्री द० के० केळकर निरूपित सुझाव महत्वपूर्ण हैं।

माधुर्य, ओज, प्रसाद गुणों के विषय में भी ऐकान्तिक सहृदयपरक मान्यता में परिवर्तन की आवश्यकता है। पूर्वोक्त गुण-स्वरूप तथा गुण-संख्या का अध्ययन इस तथ्य की स्वीकृति के लिए भी प्रेरित करता है कि इन तीनों गुणों की एक ओर अमूर्त रूप में स्थिति क्रमशः कवि तथा सहृदय में पूर्णतः संभव है तो दूसरी ओर उस स्थिति का मूर्त-चित्रण काव्य में संभव है।

गुणों के नवाविष्कर्ता अथवा पुनराख्याता लेखकों ने गुणों की कवि-मनस्थ स्थिति का निर्देश करके व्यापक चिन्तन के लिए प्रेरित किया है। इनके नवाविष्कृत गुणों की नवीनता या परिपूर्णता भले ही संदिग्ध हो, परन्तु आधुनिक हिन्दी तथा मराठी के काव्यशास्त्र-चिन्तकों के समक्ष भारतीय रीति-सिद्धान्त को पूर्णत्व की ओर ले जाने के लिए इन्होंने दिशा-निर्देश तो किया ही है। इस दृष्टि से गुण तत्व का अध्ययन आधुनिक काव्यशास्त्र के लिए बहुत महत्वपूर्ण सिद्ध होता है।

हिन्दी में दोष-विवेचन

हिन्दी के आधुनिक अधिकांश परंपरानुयायी विवेचकों ने संस्कृत आचार्यों के दोष-दर्शन का निरूपण मात्र कर दिया है। श्री कन्हैयालाल पोद्दार ने अग्नि-पुराणकार तथा काव्यप्रकाशकार के दोष-लक्षणों को उद्धृत किया है और भरत, भामह, दण्डी, वामन, मम्मट आदि आचार्यों द्वारा प्रतिपादित दोष-संख्या का निरू-

पण कर दिया है।[१] श्री जगन्नाथ प्रसाद भानु ने 'काव्य प्रभाकर' में शब्द दोष, वाक्य दोष, अर्थ दोष तथा रस दोषों का निरूपण संक्षेप में किया है, क्योंकि इनकी धारणा में दोषों का अधिक वर्णन करना कवियों को हतोत्साहित करना है।[२] इसलिए इन्होंने शब्द-दोष के अन्तर्गत—कर्णकटु, भाषाहीन, अप्रयुक्त, असमर्थ (वाग्छल), निहितार्थ, अनुचितार्थ, निरर्थक, अवाचक, अश्लील, ग्राम्य, अप्रतीत, नेयार्थ, समास, क्लिष्ट, विरुद्धमतिकृत, अगण इन १६ दोषों का और वाक्य-दोषों में प्रतिकूलाक्षर, हतवृत्त, विसन्धि, न्यूनपद, अधिक पद, कथितपद (पुनरुक्ति), प्रक्रमभंग इन ७ दोषों का, अर्थ-दोषों में अपुष्टार्थ, कष्टार्थ, व्याहत, पुनरुक्ति, संदिग्ध साकांक्षा, विरुद्ध, मृतक, नग्न इन ९ दोषों का और रस-दोषों में प्रत्यनीक, विरस, रस विरुद्ध, अमतपरार्थ, रसहीन इन पाँच दोषों का लक्षण-उदाहरणपूर्वक निरूपण किया है।

इस प्रकार भानु जी ने मम्मट प्रतिपादित ७० दोषों में से प्रधानता की दृष्टि से ३७ दोषों को मान्यता दी है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय ने विवेच्य विषय के अनुरूप केवल रस-दोषों का ही निरूपण किया है। इनके रस-दोष-निरूपण का प्रमुख आधार 'साहित्यदर्पण' और 'रसगंगाधर' है। मम्मट और आनंदवर्धन की मान्यता का भी इन्होंने उल्लेख कर दिया है। इन्होंने कतिपय दोषों के स्पष्टीकरणार्थ स्वरचित उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं।[३]

परंपरानुयायी विवेचकों में श्री रामदहिन मिश्र ने ही दोष-विवेचन को सब से अधिक विस्तार दिया है। आचार्य वामन, मम्मट आदि की भाँति इन्होंने भी गुणों से पूर्व दोषों का विवेचन किया है। इन्होंने बत्तीस शब्द-दोष, सत्रह अर्थ दोष, दस रस-दोष और पाँच वर्णन-दोषों का सोदाहरण निरूपण किया है। आधुनिक कवियों का 'अभिधा' के साथ बलात्कार करना मिश्र जी को नितांत अनुचित प्रतीत हुआ है। इनके दोष-विवेचन का प्रमुख आधार मम्मट का काव्यप्रकाश और विश्वनाथ का साहित्य-दर्पण रहा है। पाँच वर्णन-दोषों—पूर्वापर-विरोध, प्रकृति-विरोध, अर्थ-विरोध, स्वभाव-विरोध तथा भाव-विरोध—का पृथक् निरूपण संस्कृत आचार्यों के दोष-निरूपण की परंपरा से भिन्न-सा प्रतीत होता है। परन्तु यह मिश्र जी की नितांत मौलिक सूझ नहीं है। जैसा कि इन्होंने स्वयं

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० १५१-१५२।

२. काव्यप्रभाकर, दशम मयूख, पृ० ६३९।

३. रसकलस, पृ० ५२।

स्वीकार किया है।'[1]

पुनराख्याताओं में आ० महावीर प्रसाद द्विवेदी, डा० गुलाबराय, आ० नन्द-दुलारे वाजपेयी, श्री बलदेव उपाध्याय, डा० नगेन्द्र आदि ने दोषों का विवेचन किया है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने संस्कृत साहित्यशास्त्र के दोष-प्रपंच का विवेचन नहीं किया, वरन् इन्होंने अपने समकालीन काव्य-साहित्य के स्वरूप को दृष्टिगत रख कर रचनागत दोषों के परिहार पर विशेष बल दिया है। भाषा-शुद्धि के लिए इसे व्याकरण सम्मत रखना इन्होंने आवश्यक ठहराया है।[2]

डा० गुलाबराय ने दोषों का स्वतंत्र विवेचन न कर इन्हें शैली-विवेचन के अन्तर्गत स्थान दिया है। इन्होंने संस्कृत साहित्यशास्त्र में निरूपित कतिपय शब्द-दोषों तथा वाक्य-दोषों के आधार पर रचना सम्बन्धी तत्वों को खोजने का प्रयत्न किया है। दोष-निरूपण का प्रयोजन इनकी धारणा में यही है कि 'रचना को इनसे बचाया जाय।'[3] क्लिष्टत्व, अप्रतीत्व, अप्रयुक्त, अश्लीलत्व, ग्राम्यत्व, अधिक पदत्व, न्यूनपदत्व, विपरीत रचना, श्रुतिकटुत्व, च्युतसंस्कृति, अभवन्मत सम्बन्ध, दूरान्वय, समाप्त पुनरात्त, त्यक्त, पुनः स्वीकृत, गर्भित, अक्रमत्व तथा दुष्क्रमत्व इन दोषों के आधार पर ही डा० गुलाबराय ने रचना सम्बन्धी तत्वों की खोज की है। इन्होंने संस्कृत के रस-ध्वनिवादी आचार्यों के दृष्टिकोण का एकांत आधार न लेकर काव्य-साहित्य की शैली या रचना से ही दोषों का निकट सम्बन्ध दर्शाया है।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने 'गुणमत' का परिचय देते हुए 'दोष-दर्शन' के मूल में निहित संस्कृत आचार्यों की प्रवृत्ति का विवेचन किया है। इनकी मान्यता में संस्कृत आचार्यों का दोष-दर्शन वास्तविक काव्यानुशीलन का पुष्ट आधार लिये हुए है। अतः उनके दोष-निरूपण को निराधार नहीं कहा जा सकता।[4] श्री वाज-पेयी जी ने दोष-दर्शन का अधिक विस्तृत पुनराख्यान नहीं किया है।

श्री बलदेव उपाध्याय ने 'औचित्य-विचार' के अन्तर्गत प्रसंगवश रस-दोषों

---

१. काव्यदर्पण, पृ० ३०६।
२. कविता लिखने में व्याकरण के नियमों की अवहेलना न करनी चाहिए। शुद्ध-भाषा का जितना मान होता है अशुद्ध का उतना नहीं। व्याकरण का विचार न करना कवि की तद्विषयक अज्ञानता का सूचक है––जहाँ तक सम्भव हो शब्दों के मूल रूप को नहीं बिगाड़ना चाहिए। रसज्ञरंजन, पृ० ४५।
३. सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० २४१।
४. नया साहित्य नये प्रश्न : पृ० ११२।

का संक्षिप्त निरूपण किया है। इन्होंने आनन्दवर्धन निरूपित रस दोष के प्रकारों का ऐतिहासिक उत्स खोजने का प्रयत्न किया है। इनकी धारणा में 'काव्य में रस-दोष की प्रथम अवतारणा रुद्रट ने अपने 'काव्यालंकार' में की है।'[1]

हिन्दी में दोष-दर्शन की विस्तृत मीमांसा डा० नगेन्द्र ने की है। इन्होंने परंपरागत दोषों के मूल में 'निहित मनोवैज्ञानिक स्थिति' का 'रस' तत्व के आधार पर विश्लेषण किया है। आनन्दवर्धन के समान ही इन्होंने दोषों के मूल में औचित्य-व्यतिक्रम को ही प्रमुख कारण माना है। औचित्य का अर्थ है सहज स्थिति या सामान्य व्यवस्था, उसका उत्कर्ष गुण है, अपकर्ष दोष है। 'काव्य-साहित्य' में प्रस्तुत औचित्य के अनेक रूप होते हैं। एक पद विषयक औचित्य जो शब्द और अर्थ के सामंजस्य पर निर्भर रहता है, दूसरा व्याकरण विषयक औचित्य जो पदों की आर्थी व्यवस्था पर आश्रित रहता है, तीसरा बौद्धिक औचित्य जो हमारी ज्ञान-वृत्तियों के समन्वय का परिणाम होता है, चौथा भावना-विषयक औचित्य जिसका हमारी भाव-वृत्तियों की अन्विति से सम्बन्ध है।'[2] डा० नगेन्द्र ने इन चार प्रकार के औचित्य-व्यक्तिक्रमों में ही संपूर्ण दोष-प्रपंच का अन्तर्भाव स्वीकार किया है। प्रस्तुत चार प्रकार के औचित्य-व्यक्तिक्रमों से रस का अपकर्ष ही होता है। इनमें पहले प्रकार के दोष तो प्रायः ऐन्द्रिय (कर्णगोचर) संवेदन और मानसिक संवेदन में असामंजस्य उत्पन्न करते हुए, दूसरे और तीसरे प्रकार के दोष अर्थ-ग्रहण में बाधक होकर बौद्धिक संवेदनों को विश्रृंखल करते हुए, तथा अंतिम प्रकार के दोष प्रत्यक्ष रूप में ही हमारी चित्तवृत्तियों की अन्विति में बाधक होते हुए रसापकर्ष करते हैं।'[3] इस प्रकार डा० नगेन्द्र ने रस-परिपुष्टि या रसानुभूति को दृष्टि में रख कर ही दोषों के मूल में निहित मनोवैज्ञानिक स्थिति का विश्लेषण किया है।

सारांश :

हिन्दी में परंपरानुयायी लेखकों ने प्रायः संस्कृत आचार्यों के दोष-निरूपण का ही विवेचन किया है। इनके दोष-विवेचन की विशेषता यह है कि संस्कृत काव्य-साहित्य के उदाहरणों की अपेक्षा हिन्दी साहित्य के प्राचीन-अर्वाचीन कवियों की कृतियों से उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। इनमें श्री रामदहिन मिश्र का दोष-विवेचन पर्याप्त विस्तृत और सर्वांगपूर्ण है।

---

१. भारतीय साहित्यशास्त्र, द्वि० खण्ड, पृ० ७१।
२. हिन्दी काव्यालंकार सूत्र, भूमिका, पृ० २४।
३. हिन्दी काव्यालंकार सूत्र (भूमिका) पृ० ८४।

पुनराख्याताओं में श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भाषा शुद्धि पर विशेष बल दिया है। अतः इनका दोष-विवेचन अधिक आंतरिक नहीं है। डा० गुलाबराय ने दोषों का रस तत्त्व की अपेक्षा 'रचना' तत्त्व से विशेष संबन्ध दर्शाया है जो संस्कृत के रस-ध्वनिवादी आचार्यों की परंपरा से भिन्न है, परन्तु डा० नगेन्द्र ने दोषों के उभयात्मक स्वरूप का स्वच्छ पुनराख्यान किया है। इन्होंने बाह्य रूप से दोषों के शब्दार्थ तथा व्याकरणिक संबन्ध का तथा आंतरिक रूप से इनके बौद्धिक और भावात्मक सम्बन्ध का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। इस प्रकार हिंदी में 'दोष-विवेचन' का आधार बाह्य-रचना गत तथा आंतरिक-रसगत भी समान रूप से उपलब्ध होता है।

दोष-परिभाषा :

अधिकाँश परंपरानुयायी विवेचकों ने दोष की स्वतंत्र परिभाषा प्रस्तुत नहीं की। जगन्नाथ प्रसाद भानु, कन्हैयालाल पोद्दार आदि ने संस्कृत आचार्यों के दोष-लक्षणों का ही भाषान्तर किया है। श्री कन्हैयालाल पोद्दार ने अग्निपुराण-कार तथा मम्मट निरूपित दोष-लक्षणों का उल्लेख किया है[१] तो श्री रामदहिन मिश्र ने इनके अतिरिक्त दो अन्य आचार्यों—विश्वनाथ तथा वामन— के दोष-लक्षणों का भी निरूपण कर दिया है।[२] दोष-परिभाषा के स्वतंत्र रूप से प्रति-पादन की ओर इनकी दृष्टि नहीं गई है।

पुनराख्याताओं में डा० नगेन्द्र प्रतिपादित दोष-परिभाषा उल्लेखनीय है। गुण-परिभाषा के समान ही इन्होंने दोष-परिभाषा में भी काव्य के बाह्य और आंतरिक तत्व का समन्वय स्थापित किया है। इनके मत में 'मूल रूप में' रस और गौण रूप में शब्द और अर्थ के अपकर्ष द्वारा काव्य का अपकार करने वाले तत्व दोष कहलाते हैं।'[३] इस परिभाषा में संस्कृत के पूर्वध्वनिकालीन तथा उत्तर ध्वनिकालीन आचार्यों की दोष-विषयक धारणाओं का समन्वय हो जाता है। सामान्यतः संपूर्ण दोष काव्यानुशीलन से आविष्कृत हुए हैं और काव्यमात्र के दो सामान्य अंग होते हैं—एक बाह्य वस्तुगत अर्थात् शब्द, वाक्य तथा भाषा से सम्बद्ध होता है तो दूसरा आंतरिक अर्थात् भाव विचार और कल्पना से सम्बद्ध होता है। प्रायः संपूर्ण दोष या तो काव्य के बाह्यांग से सम्बद्ध होते हैं या आंत-

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० १५२।
२. काव्यदर्पण, पृ० २८७।
३. हिन्दी काव्यालंकार सूत्र, भूमिका, पृ० ८३।

रिक अंग से, अतः दोष की निर्दोष परिभाषा वही होगी जिसमें इसका सम्बन्ध इन दोनों तत्वों से दिखाया गया हो।

मराठी में दोष-विवेचन

मराठी काव्यशास्त्र के अधिकांश परंपरानुयायी आख्याताओं ने संस्कृत आचार्यों के दोष-विवेचन का व्यापक भाषान्तर-सा प्रस्तुत किया है। श्री गणेश सदाशिव लेले के 'साहित्यशास्त्र', श्री सदाशिव बापू जी कुळकर्णी के भाषा सौन्दर्य शास्त्र आदि ग्रन्थों में प्रसंगानुरूप दोष-निरूपण मिलता है। आचार्य मम्मट के दोष-विवेचन का व्यापक आधार ग्रहण करके श्री ग० म० गोरे ने 'काव्यदोष दीपिका' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा है। इसमें दोषों के लक्षण संस्कृत साहित्य-शास्त्रानुरूप हैं, उदाहरण मराठी के काव्यों से प्रस्तुत किये गये हैं। श्री जगन्नाथ प्रसाद भानु के समान इन्होंने भी दोष-विवेचन को अधिक विस्तार देना अनुपादेय माना है, क्योंकि इनके मत में तार्किक दृष्टि से कविता के दोषों का विवेचन करना मानो कविता की हत्या कर देना है।'[1]

पुनराख्याताओं में श्री रा० श्री जोग, श्री द० के० केळकर तथा डा० के० ना० वाटवे का काव्य-दोष-निरूपण उल्लेखनीय है। इन्होंने ध्वनि पूर्वकालीन तथा ध्वनि परवर्ती संस्कृत आचार्यों की दोष-सम्बद्ध विभिन्न धारणाओं का विवेचन किया है। रीतिवादी आचार्य वामन तथा रसवादी आचार्य मम्मट ने रीति-गुण-विवेचन से पूर्व दोष-विवेचन को स्थान दिया है, परन्तु मराठी के इन पुनराख्याताओं ने रीति-गुणों के उपरान्त ही दोषों का विवेचन किया है, जो संस्कृत साहित्यशास्त्र की परंपरा से भिन्न प्रवृत्ति का द्योतक है।

दोषों की भावात्मक सत्ता :

दोषों की भावात्मक सत्ता स्वीकार की जाय अथवा इन्हें अभावात्मक माना जाय, इस विषय में मराठी के काव्यशास्त्रज्ञों ने विशेष चर्चा की है। संस्कृत में भरतमुनि ने दोषों को भावात्मक, तो आ० वामन ने इन्हें गुणों के विपर्यय रूप में स्वीकार किया है। दोषों का अभाव याने गुण? अथवा गुणों का अभाव याने दोष? या गुण और दोष दोनों का ही स्वतंत्र अस्तित्व है? इन प्रश्नों का समाधान मराठी के पुनराख्याताओं ने अपनी-अपनी दृष्टि से प्रस्तुत किया है।

श्री रा० श्री० जोग की धारणा में 'गुणों का अभाव याने दोष' यह मानना अनुपयुक्त है, क्योंकि बहुत से दोष इस प्रकार के भी हैं कि जिनका गुणों से 'विरोध संबन्ध' भी नहीं होता। अतः दोषों का स्वतंत्र अस्तित्व है। इसके अति-

---

१. काव्य-दोष दीपिका, प्रस्तावना, पृ० ४।

रिक्त 'अनुचितार्थत्व, अमंगलत्व, निहितार्थत्व, वृत्तभंग, अनवीकृतत्व आदि दोष इस प्रकार के हैं कि इनका मान्य गुणों के साथ सम्बन्ध दिखाना कठिन हो जाएगा ।' गुणों की तुलना में दोषों की संख्या अत्यधिक है, क्योंकि किसी भी कार्यसिद्धि का सर्वोत्तम और निर्दोष मार्ग बहुधा एक ही होता है तो सदोष प्रकारों की अनंतता पूर्णतः संभव है ।'[१] प्रा० जोग की इस धारणा के अनुरूप ही श्री द० के० केळकर ने भी गुण और दोषों को एक दूसरे के अभाव-रूप या विपर्यय रूप मानने की विचारधारा का प्रत्याख्यान किया है । क्योंकि इनके मत में सर्वमान्य शब्द-प्रयोग या रचना इस प्रकार की भी हो सकती है कि जिसमें विशेष रूप से दिखाने योग्य गुण भी न हों और दोष भी न हों । फलतः गुण और दोषों का स्वतंत्र अस्तित्व मानना उपयुक्त होगा ।[२] डा० के० ना० वाटवे ने भी गुण-दोषों का स्वतंत्र अस्तित्व ही स्वीकार किया है ।[३] परन्तु गुणों का स्थान प्रथम हो अथवा दोषों का ? इस प्रश्न का समाधान इन्होंने अपनी दृष्टि से प्रस्तुत किया है । इसी से सम्बद्ध एक प्रश्न है—'अच्छाई से बुराई की कल्पना आती है अथवा बुराई से अच्छाई की ?' अथवा 'संसार में प्रथम अच्छाई उत्पन्न हुई या बुराई ?' इस प्रश्न का समाधान प्रस्तुत करते हुए डा० वाटवे ने अच्छाई को प्रथम स्थान दिया है और दोषों से पूर्व गुणों की स्थिति मानना अधिक संगत ठहराया है । क्योंकि 'काव्य-प्रान्त में अपने विशिष्ट भाव या विचारों को कवि किस रूप में अभिव्यक्त करे इसकी उसे मूलतः प्रतीति रहती है । वह अपने मनोगत भावों को प्राप्त होने वाले बाह्य आकार की अच्छाई के बारे में सामान्य कल्पना पहले से ही रखता है । फलतः 'गुणवत्ता' को प्रथम और इसके अभाव को दोष मानना उपयुक्त होगा ।'[४] इस प्रकार डा० वाटवे ने गुणों को प्रथम और भावात्मक रूप में तथा दोषों को द्वितीय और अभावात्मक रूप में स्वीकार किया है । परन्तु शास्त्रीय विवेचन की दृष्टि से इन्होंने दोषों के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार करना असंगत नहीं माना है ।[५]

दोष-परिभाषा :

परंपरानुयायी आख्याताओं ने रस-ध्वनिवादी आचार्यों के दोष-लक्षणों का

---

१. **अभिनव काव्यप्रकाश, पृ० २११ ।**
२. **काव्यालोचन, पृ० ३१० ।**
३. **रसविमर्श, पृ० ३८४ ।**
४. **रसविमर्श, पृ० ३८४ ।**
५. **वही, पृ० ३८४ ।**

ही भाषान्तर-सा प्रस्तुत किया है । पुनराख्याताओं ने ध्वनि-पूर्वकालीन तथा ध्वनिपरवर्ती आचार्यों की दोष-परिभाषाओं का विस्तृत निरूपण किया है । श्री रा० श्री० जोग के अनुसार दोष का तात्पर्य इस प्रकार है : 'काव्य का ध्येय है रसनिष्पत्ति और उसकी निर्दोष परिपुष्टि । इस प्रकार की निष्पत्ति और परि-पुष्टि में जिन-जिन चीज़ों से अल्पमात्रा में भी व्याघात होगा, उन्हें-उन्हें दोषा-स्पद कहा जा सकेगा ।'[1] इस दोष-परिभाषा में रस-तत्व पर विशेषबल दिया गया है । परन्तु अर्थदोष, शब्ददोष, रचनादोष आदि भी रस-निर्मिति में व्याघात उपस्थित करते हैं । अतः श्री जोग ने इन सभी प्रकार के दोषों का रसतत्व से सम्बन्ध दर्शाते हुए दोष का तात्पर्य इस प्रकार से स्पष्ट किया है : 'किसी भी कारण से अर्थग्रहण यदि सुलभ और आह्लाददायक न होकर रस-निर्मिति में बाधक बने और पाठक का मन अल्पप्रमाण में ही क्यों न हो, काव्य से विमुख होने लगे तो वहाँ असंदिग्ध रूप से दोष की स्थिति माननी चाहिए ।'[2]

आचार्य मम्मट के दोष-लक्षण—'मुख्यार्थ हतिर्दोषः रसश्चमुख्यः तदा-श्रयाद् वाच्यः'—के औचित्य का पूर्णतः समर्थन करते हुए श्री द० के० केळकर ने दोष-परिभाषा इस प्रकार से प्रस्तुत की है : 'प्रतिपाद्य विषय की मन पर छाप डालने में पोषक तत्त्वों का नाम गुण और इस प्रकार की छाप डालने में विघ्नकारक तत्वों का नाम दोष है ।'[3] श्री केळकर ने मम्मट के दोष-लक्षण का समर्थन करते हुए भी उनके दोष-भेदों को यथावत् स्वीकार नहीं किया है और आचार्य मम्मट के दोष-विवेचन के क्रम को सदोष ठहराया है । क्योंकि मम्मट ने 'रस-दोष' को प्रमुख मान कर भी प्रथम पद-दोषों के विवेचन का प्रयत्न किया है, जब कि उन्हें विवेचन-क्रम की दृष्टि से प्रथम स्थान रसदोषों को देना चाहिए था ।[4] श्री द० के० केळकर ने दोष-लक्षण का स्वतन्त्र उल्लेख करने की अपेक्षा गुण-लक्षण के साथ इसे सम्बद्ध कर दिया है और संपूर्ण दोष-विवेचन में प्रथम गुण का स्वरूप स्पष्ट किया है, तदुपरान्त प्रत्येक गुण का प्रतिद्वन्द्वी रूप एक-एक दोष दर्शाया है ।[5]

डा० के० ना० वाटवे ने भी रस-ध्वनि-रसवादी आचार्यों के दोष-लक्षणों का

---

१. अभिनव काव्यप्रकाश, पृ० २१२ ।
२. वही, पृ० २१३ ।
३. काव्यालोचन, पृ० ३११ ।
४. काव्यालोचन, पृ० ३११ ।
५. वही, पृ० ३१४-१६ ।

आधार ग्रहण किया है। इन्होंने दोष-स्वरूप के स्पष्टीकरण में 'औचित्यमूलक रसपरिपोष' को प्रमुख आधार मानना आवश्यक ठहराया है।[१] इनके मत में जो भी तत्व 'औचित्यमूलक रस परिपोष' के विघातक हैं वे सब एक प्रकार से काव्य-दोष ही हैं।[२]

दोष-भेद और वर्गीकरण :

मराठी के परंपरानुयायी दोष-विवेचकों ने संस्कृत आचार्यों के दोष-भेदों एवं उनके वर्गीकरणों का ही आश्रय लिया है। श्री ग० म० गोरे ने मम्मट निरूपित दोष-भेदों तथा वर्गीकरणों का ही आधार ग्रहण किया है। गणेश सदाशिव लेले तथा सदाशिव बापु जी कुळकर्णी ने संस्कृत के प्रमुख-प्रमुख दोषों तथा उनके वर्गों का उल्लेख किया है।[3] सदाशिव बापु जी कुळकर्णी का विवेच्य विषय 'भाषा सौन्दर्यशास्त्र' रहा है, परिणामतः इन्होंने शब्दयोजना, वाक्यरचना तथा अर्थ-साधन से सम्बद्ध केवल शब्ददोषों, वाक्यदोषों तथा अर्थदोषों के विभिन्न भेदों का संक्षिप्त निरूपण किया है।

पुनराख्याताओं में श्री रा० श्री० जोग ने संस्कृत के ही वृत्तभंग, यतिभंग, यमकदोष, श्रुतिकटुत्व, अशुद्धता, विषमसमास, संधिविश्लेष, पदविश्लेष, अप्रतीततत्व, क्लिष्ट, गूढ़, संदिग्ध, न्यूनपदत्व, अधिकपदत्व, अनुचितार्थत्व, अभवन्मत-प्रयोग, अश्लीलता, अभंगाश्लील, बीभत्साश्लील, व्रीडोत्पादक अश्लील, ग्राम्यता, विरुद्धत्व, समाप्त पुनरात्त, क्रम-भंग आदि शब्दार्थमूलक एवं रचनामूलक दोषों का मराठी के उदाहरणों के आधार पर विवेचन किया है।

श्री द० के० केळकर ने न तो संस्कृत के समस्त दोष-भेदों का निरूपण किया है और न उनके वर्गीकरण को ही यथावत् अपनाया है। क्योंकि इनकी धारणा में आधुनिक मराठी साहित्यशास्त्र के लिए प्राचीन गुण-दोषों का विशेष पुनराख्यान अपेक्षित है। इन्होंने सामान्यतः दोषों के तीन वर्ग बनाये हैं—१. समग्रकाव्य पर व्याप्त रहने वाले दोष, २. अर्थप्रकटीकरण से सम्बद्ध दोष और ३. भाषागत दोष।

इन्होंने प्रथम वर्ग में 'अवास्तवता', अप्रमाणबद्धता या सुसंगति का अभाव और अपकर्ष या पतत्प्रकर्ष इन तीन दोषों का अन्तर्भाव किया है। 'अवास्तवता'—यह दोष संस्कृत आचार्यों के 'देशकाल कला लोक न्यायागम विरोधी' अथवा

---

१. रसविमर्श, पृ० ३८६।

२. वही, पृ० ३८६।

३. दे० 'साहित्यशास्त्र' तथा 'भाषासौन्दर्यशास्त्र' में दोष-प्रकरण।

'प्रसिद्धिविरुद्ध' दोष के समरूप है। इसका क्षेत्र काव्य-नाटक एवं आधुनिक उपन्यासों के संविधानक के घटनाक्रम, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि परिस्थितियों की पृष्ठभूमि, प्रकृतिवर्णन तथा पात्रों के स्वभाव-चित्रण तक व्याप्त है।[१]

अप्रमाणबद्धता या सुसंगति का अभाव—इसे संस्कृत आचार्यों के 'अंगिनः, अननुसंधानम् वा अंगस्यापि अति विस्तृतिः' रूप रस-दोष के समरूप समझना चाहिए। 'प्रक्रमभंग' दोष भी लगभग इसी प्रकार का है। संक्षेपतः अंग-अंगी भाव की रक्षा तथा रचना की सुसंगत क्रमबद्धता के अभाव में प्रस्तुत दोषों की स्थिति आ जाती है।[२]

अपकर्ष या पतत्प्रकर्ष—कथानक की उत्सुकता का प्रवाह कम हो जाने पर अथवा भावनोत्कटता की उत्तरोत्तर कमी हो जाने से 'अपकर्ष' दोष उपस्थित होता है। इसे ही संस्कृत आचार्यों ने 'पतत्प्रकर्ष' कहा है।[३]

दूसरे वर्ग 'अर्थप्रकटीकरण से सम्बद्ध' दोषों में श्री केळकर ने मुख्यतः 'क्लिष्टत्व' और 'कर्णकटु' दोषों का अन्तर्भाव किया है। 'अर्थ के आकलन में किसी भी प्रकार से जो व्यत्यय उपस्थित करे वह क्लिष्टत्व दोष है, यह चाहे वाक्य रचना की अव्यवस्था से हो अथवा वाक्यस्थ शब्दों की दुर्बोधता से हो।' इनके मत में माधुर्य गुण का प्रतियोगी कर्णकटु दोष है।[४]

भाषागत दोषों में श्री केळकर ने व्याकरणिक अशुद्धता और ग्राम्य दोषों का विशेष रूप से अन्तर्भाव किया है।[५]

डा० वाटवे की धारणा में भी दोषों का अत्यधिक प्रपंच-विस्तार अनावश्यक है। इन्होंने उन्हीं दोषों का निरूपण उपादेय ठहराया है जिनकी सामान्यतः संभावना रहती है। पद, अर्थ, तथा रस में से प्रत्येक के दोष-भेदों का विस्तार कर नामकरण करते जायँ तो अंत नहीं होगा। क्योंकि 'सत्य एक होता है और असत्य अनेक प्रकार का।'[६] इनके मत में आधुनिक मराठी साहित्यशास्त्र में दोष-चर्चा के प्रसंग में यतिभंग, ह्रस्व-दीर्घ, व्याकरणिक शुद्धता, बाह्य रचना आदि के विषय

---

१. काव्यालोचन, पृ० ३१३-३१४।
२. वही, पृ० ३१४।
३. वही, पृ० ३१५।
४. वही, पृ० ३१६।
५. वही, पृ० ३१६।
६. रसविमर्श, पृ० ३८४।

में कुछ नरम दृष्टिकोण अपनाना उचित है। संक्षेपतः इनकी मान्यता में प्रमुख दस-पन्द्रह दोषों—पद, वाक्य और रस से सम्बद्ध—को स्वीकार कर मराठी का नवीन 'दोष-चर्चा-शास्त्र' निर्माण करना चाहिए।[1]

इस प्रकार मराठी के आधुनिक अधिकांश काव्यशास्त्रज्ञों की धारणा में दोष-प्रपंच का अधिक विस्तार तथा उसके वर्ग-भेदों की गणना अनावश्यक है। इनके मत में संस्कृत साहित्यशास्त्र में प्रवृद्ध दोष-प्रपंच को सीमित कर आधुनिक काव्य-साहित्य के अनुरूप ही दोषों का विवेचन करना अधिक संगत है।

तुलनात्मक निष्कर्ष

हिन्दी-मराठी के अधिकांश काव्य-शास्त्राज्ञों की धारणा में संस्कृत साहित्य-शास्त्र की भाँति आधुनिक हिन्दी-मराठी के साहित्यशास्त्र में दोष-विवेचन को अधिक विस्तार प्रदान करना अनावश्यक है। हिन्दी-मराठी के परंपरानुयायी विवेचकों ने भी दोष-चर्चा को संक्षिप्त करने का ही प्रयत्न किया है। हिन्दी में श्री रामदहिन मिश्र तथा मराठी में ग० म० गोरे के अतिरिक्त शेष प्रायः सभी परंपरानुयायी विवेचकों ने काव्य-दोषों का पर्याप्त संक्षिप्त निरूपण किया है।

हिन्दी-मराठी के पुनराख्याताओं की दृष्टि रीति-गुण तत्व के विवेचन पर अधिक केन्द्रित रही है, अपेक्षाकृत दोष-विवेचन के। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा० श्यामसुन्दरदास डा० रा० शं० वाळिंबे आदि ने अपनी कृतियों में काव्य-दोष-विवेचन को विशेष स्थान नहीं दिया है। आ० नन्ददुलारे वाजपेयी ने संस्कृत के दोष-दर्शन की प्रवृत्तियों की संक्षिप्त मीमांसा की है। डा० गुलाबराय ने संस्कृत साहित्य के विशाल दोष-भंडार से कतिपय दोषों को चुनकर उनका निरूपण किया है और इन्हीं के आधार पर शैली तत्व के विशिष्ट नियमों का प्रतिपादन किया है।

हिन्दी में डा० नगेन्द्र ने और मराठी में प्रा० रा० श्री जोग ने काव्य-दोषों की व्यापक समीक्षा की है। डा० नगेन्द्र ने संस्कृत साहित्य में प्रतिपादित दोषों के मूल में निहित औचित्य विसंगति की स्थिति का स्पष्टीकरण किया है और संपूर्ण दोष-प्रपंच रसापकर्ष में किस प्रकार सहायक बनता है, इसका मनोवैज्ञानिक विवेचन किया है।

इसी प्रकार मराठी में प्रा० रा० श्री० जोग, श्री द० के० केळकर तथा डा० के० ना० वाटवे ने रस-निष्पत्ति, रस-परिपुष्टि तथा औचित्य-विसंगति को मूलतः

---

१. रस विमर्श, पृ० ३८६।

दृष्टिगत रख कर ही काव्य-दोषों के स्वरूप का स्पष्टीकरण किया है।

हिन्दी-मराठी के प्रायः अधिकांश काव्यशास्त्रज्ञों ने काव्य-दोषों का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार किया है, जब कि संस्कृत के आचार्य दोषों को गुणों का विपर्यय रूप या अभाव रूप मानते हैं।

हिन्दी-मराठी के समीक्षकों ने दोषों का स्वतंत्र अस्तित्व तो स्पष्टतः स्वीकार किया है, परन्तु विवेचन-क्रम में रीति-गुणों को प्रथम और दोषों को बाद में स्थान दिया है, जब कि संस्कृत के प्रायः अधिकांश आचार्य दोष-विवेचन को प्रथम स्थान देते रहे हैं।

दोष-दर्शन के दो प्रमुख आधार :

काव्य के मूल्यांकन में भावतत्व, विचारतत्व, कल्पनातत्व तथा शैलीतत्व का प्रमुख आधार ग्रहण किया जाता है। संस्कृत साहित्यशास्त्र में निरूपित दोष-प्रपंच इतना व्यापक है कि वह काव्य के भावपक्ष एवं कलापक्ष से सम्बद्ध विभिन्न तत्वों में संभाव्य न्यूनताओं या दोषों के परिहार की दिशाओं का निर्देश कर सकता है। रस-तत्व से सम्बद्ध दोष विशेषतः भाव, विचार तथा कल्पना से सम्बद्ध औचित्य विसंगतियों के परिहार का संकेत देते हैं। शब्द, पद, वाक्य तथा अर्थ से सम्बद्ध दोष भाषा-शैलीगत त्रुटियों के परिमार्जन की प्रेरणा देते हैं। परिणामतः संपूर्ण दोष-प्रपंच के दो स्थूल वर्ग बनते हैं : १ काव्य के अंतरंग से सम्बद्ध दोष और २. काव्य के बहिरंग से सम्बद्ध दोष। हिन्दी में डा० नगेन्द्र तथा मराठी में प्रा० रा० श्री० जोग ने काव्य-दोष-विवेचन के प्रस्तुत दो प्रमुख आधारों का विशेष स्पष्टीकरण किया है। श्री द० के० केळकर ने संस्कृत परंपरा से भिन्न दृष्टिकोण अपना कर दोष-भेदों का विवेचन किया है और दोष-दर्शन को पुनराख्यान द्वारा आधुनिकतम बनाने का आग्रह प्रकट किया है। डा० वाटवे ने तो आधुनिक मराठी-काव्यशास्त्र के लिए दस-पन्द्रह से अधिक दोषों का विवेचन-विस्तार अनावश्यक ठहराया है। वस्तुतः आधुनिक काव्यशास्त्र में रचना के बाह्य सौन्दर्य और आंतरिक भाव जगत् के सौन्दर्य के विघातक प्रमुख-प्रमुख दोषों का विवेचन ही समीचीन होगा।

भारतीय रीति और पाश्चात्य 'स्टाइल' (शैली)

हिन्दी और मराठी दोनों ही भाषाओं के साहित्यिक विद्वानों ने संस्कृत साहित्य-शास्त्र के रीति-सिद्धान्त तथा पाश्चात्य 'स्टाइल' का तुलनात्मक अध्ययन स्वतंत्र रूप से किया है। प्रस्तुत तुलना में मत-वैविध्य सहज संभव है। कतिपय आलोचक तो भारतीय 'रीति' और पाश्चात्य 'स्टाइल' में परस्पर विशेष अन्तर ही नहीं समझते तो अन्य अनेक लेखक दोनों में पर्याप्त भिन्नता और अंतर की स्पष्ट स्वीकृति देते हैं। भारतीय रीति और पाश्चात्य 'स्टाइल' के तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत

करने से पूर्व संक्षेप में पाश्चात्य 'स्टाइल' की विकास-परंपरा का उल्लेख आवश्यक हो जाता है।

पाश्चात्य स्टाइल की विकास-परंपरा

पश्चिम में सर्वप्रथम साहित्य-शास्त्र के सिद्धान्तों के मौलिक चिन्तन का श्रेय यूनानी और रोमी आचार्यों को ही है। साहित्यशास्त्र के अन्य अनेक सिद्धान्तों के साथ 'स्टाइल' का विवेचन जिन आचार्यों ने किया है उनमें प्लेटो, अरस्तू, सिसरो, होरेस, डायोनीसियस, डिमेट्रियस, लांजाइनस, क्विण्टीलियन आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इसे हम स्टाइल विवेचन की दृष्टि से आरम्भिक युग कह सकते हैं। इसमें 'स्टाइल' या शैली के विभिन्न अंगों का विस्तृत विवेचन किया गया है। शैली की परिभाषा, शैली के गुण तथा दोष, शब्द-चयन, पद-रचना, वर्ण-गुम्फ, शैली के भौगोलिक आधार, स्वर-व्यंजनों का संगीतात्मक गुण, शैली के अलंकरण आदि के अतिरिक्त शैली के गुणों के आधार पर श्रेष्ठ-मध्यम-कनिष्ठ आदि विभिन्न वर्गीकरण किये गये हैं और आदर्श-शैली का महत्व-गान भी अनेक आचार्यों ने मुक्त कण्ठ से किया है। प्लेटो के अतिरिक्त कतिपय रोमी आचार्यों—सिसरो, डायोनीसियस, लांजाइनस आदि ने 'स्टाइल' (शैली) में वस्तुतत्व के साथ व्यक्तितत्व या आत्मतत्व को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया है।

कतिपय पाश्चात्य आधुनिक आलोचकों के मत में प्लेटो और अरस्तू का शैली-प्रतिपादन 'स्टाइल' से नितांत भिन्न प्रकार का है। दोनों की विचार-सरणी के द्योतन के लिए 'स्टाइल' शब्द सन्दिग्ध और अपर्याप्त है, अतः दो भिन्न-भिन्न शब्दों का निर्माण करना उपयुक्त है, परन्तु जब तक कोई नया शब्द नहीं बन पाता, विवश होकर स्थूल रूप से प्लेटो-अरस्तू के शैली-विवेचन के लिए 'स्टाइल' शब्द का ही प्रयोग करना पड़ता है।[1]

रोम के पतन के पश्चात् पुनर्जागरण काल तक के 'मध्ययुग' में साहित्य शास्त्रीय सिद्धान्तों का विशेष चिन्तन नहीं हुआ। इतिहासकार यूरोप के 'मध्ययुग' को भी तीन चरणों में विभक्त करते हैं। प्रथम चरण में बीड, इसीडोर और एलकुइन तीन रीति शास्त्रियों के नाम आते हैं। इन्होंने अपने विवेचन में किसी प्रकार की मौलिकता या नवीनता नहीं दिखाई। 'मध्ययुग' का द्वितीय चरण भी साहित्य-शास्त्रीय सिद्धान्तों के चिन्तन की दृष्टि से महत्वहीन है। मध्ययुग के अंतिम चरण में दान्ते, बैनजान्सन आदि ने शैली का विवेचन किया है, यद्यपि इनके विवेचन में

---

१. डा० वाळिंबे : साहित्यमीमांसा, पाश्चात्य स्टाइल पृ० २५० प्र० संस्करण।

परम्परा का ही अनुसरण है तथापि शब्दगुणों और शैली-भेदों का कुछ विस्तार से निरूपण मिलता है।[1]

सत्रहवीं-अठारहवीं शती में ड्राइडन, एडिसन, पोप, डा० जान्सन आदि ने शैली का विवेचन किया है। इन्होंने परम्परा का नितांत अनुसरण न करते हुए भी विशेष मौलिक और तात्विक विवेचन प्रस्तुत नहीं किया। शैली-विवेचन की दृष्टि से इस युग में पोप का विशिष्ट स्थान है। इस शताब्दी में 'स्टाइल' का आत्मपरक की अपेक्षा अधिकांशतः वस्तुपरक विवेचन ही हुआ है। चूंकि अधिकांश समालोचक थे, अतः मूल कृति की आलोचना में प्रसंगवश भाषा-शैली का विवेचन करते समय शैली-गुणों का भी इन्होंने प्रतिपादन कर दिया है।

पाश्चात्य साहित्य के स्वच्छन्दतावादी युग में काव्य के वस्तुतत्वों की अपेक्षा आंतरिक तत्वों का विश्लेषण-विवेचन अधिक हुआ। फलतः काव्य-शैली का विवेचन वस्तुपरक न होकर अधिकाधिक आत्मपरक बनता गया। शैली के मूलतत्वों का अन्वेषण शब्द, पद-रचना, वर्णगुम्फ आदि की अपेक्षा कवि-मानस में किया जाने लगा। इस युग के आलोचकों में कतिपय सौन्दर्यशास्त्रीय आलोचक थे जिनमें पेटर, वाल्टर रेले आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है। सौन्दर्यशास्त्रीय आलोचकों ने शैली के बाह्य गुणों—शब्द, पदरचना, रूपरचना (फार्म) इत्यादि और आन्तरिक गुण—भावों का समन्वयात्मक विश्लेषण-विवेचन किया है। दूसरे मानसशास्त्रीय आलोचक हैं, जिन्होंने शैली के वस्तुतत्व का एकांत निषेध करके उसमें व्यक्तित्व की महत्ता प्रतिष्ठापित की है। प्रमुख मानसशास्त्रीय आलोचक डा० आइ० ए० रिचर्ड्स शैली के बाह्य रूप शब्द, स्वर-व्यंजन-वर्ण-मैत्री, लय आदि को काव्य-मूल्यांकन में महत्व न देकर कवि की मनःस्थिति को ही उसका मूल आधार मानते हैं।[2]

संक्षेप में पाश्चात्य 'स्टाइल' (शैली) अपनी विकास-यात्रा शब्द, पदरचना, नाद-सौन्दर्य आदि की वस्तुपरकता से आरम्भ करता है और मध्य-मध्य में सिसरो, डायोनीसियस आदि की सहायता से व्यक्तितत्व से संपर्क स्थापित करने का प्रयत्न करता है और अंत में अपने गन्तव्य-आत्मतत्व में एकरूप हो जाता है। लगभग

---

१. **विस्तार के लिए दे० डा० नगेन्द्र की भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका,— 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र में रीति' पृ० ९३-१३२।**

2. There is of course, no much thing as the effect of a word or a sound. There, is no one effect which belongs to it......
Principles of Literary Criticism P. 136-137.

यही स्थिति भारतीय रीति-सिद्धान्त की भी रही है। वामन से विशिष्ट पदरचना के वस्तुपरक आधार को लेकर भारतीय रीति विकास-यात्रा के मार्ग पर निकल पड़ी। बीच में कुन्तक आदि ने उसे व्यक्तितत्व से परिचित कराया और अंत में ध्वनिरसवादियों ने उसे आत्मतत्व (रस) के गन्तव्य तक पहुँचा दिया।

वस्तुत: उपर्युक्त स्टाइल और रीति की विकास-परम्परा की तुलना अत्यन्त स्थूल है। प्लेटो से रिचर्ड्स तक के दो हज़ार वर्ष से भी अधिक के पाश्चात्य 'स्टाइल' के इतिहास और भरत से जगन्नाथ तक डेढ़ हज़ार वर्ष से भी अधिक के भारतीय 'रीति' के इतिहास की तुलना सूक्ष्म रूप से की जाय तो उसमें स्थान-स्थान पर विलक्षण समता दिखाई देती है और कई स्थानों पर पर्याप्त विषमता भी। इसी साम्य-वैषम्य ने भारतीय रीति और पाश्चात्य 'स्टाइल' की एकता के विषय में मतभेदों को जन्म दिया है। हिन्दी और मराठी दोनों ही भाषाओं में पाश्चात्य 'स्टाइल' और भारतीय रीति का परस्पर तुलनात्मक अध्ययन हुआ है और आलोचकों के दो वर्ग बन गए हैं। दोनों भाषाओं के पृथक्-पृथक् तुलनात्मक अध्ययन का समीकरण पाश्चात्य स्टाइल और भारतीय रीति के वास्तविक स्वरूप के निर्धारण में उपयोगी होगा। हिन्दी और मराठी के प्रस्तुत तुलनात्मक अध्ययन में ध्यान देने योग्य बात यह है कि भारतीय रीति से तात्पर्य संस्कृत साहित्यशास्त्र की रीति से है, जिसकी तुलना पाश्चात्य 'स्टाइल' से की गई है। आज तक न हिन्दी का कोई स्वतन्त्र रीतिशास्त्र है और न मराठी का ही। फलत: जहाँ भी भारतीय साहित्य-शास्त्र का पश्चिम के साहित्यशास्त्र से सैद्धान्तिक तुलना का प्रश्न आता है, वहाँ दोनों ही भाषाओं में संस्कृत साहित्यशास्त्र का आश्रय लिया जाता है। जिस प्रकार पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में साहित्य के विकास के साथ उसके सिद्धान्तों का भी विकास होता गया उसी प्रकार लगभग संस्कृत में भी विकास हुआ है। परन्तु आज वर्तमान भारतीय भाषाओं के विकासोन्मुख साहित्य के अनुरूप व्यापक साहित्य-सिद्धान्तों के निर्माण की आवश्यकता है। संस्कृत साहित्य-शास्त्र और पाश्चात्य-साहित्य-शास्त्र के अन्य अनेक सिद्धान्तों की भाँति रीति-सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन भी हमारे दृष्टिकोण को व्यापक बनाने में सहायक होगा और आज के विकासशील साहित्य के अनुरूप व्यापक रीति-सिद्धान्त के निर्माण में भी उपयोगी हो सकेगा।

हिन्दी में भारतीय रीति और पाश्चात्य 'स्टाइल' का अध्ययन

यद्यपि काल-क्रम की दृष्टि से डा० नगेन्द्र की रीतिकाव्य की भूमिका में प्रथम भारतीय रीति और पाश्चात्य 'स्टाइल' का तुलनात्मक अध्ययन मिलता है, तथापि विवेचन की सुगमता की दृष्टि से श्री बलदेव उपाध्याय के 'भारतीय

साहित्यशास्त्र' में निरूपित तुलनात्मक अध्ययन पर प्रथम दृष्टिपात करना उपयुक्त होगा।

श्री बलदेव उपाध्याय ने अपने 'भारतीय साहित्यशास्त्र' में अरस्तू, डिमेट्रियस, मरी, शोपेनहोवर, स्टीवेन्सन, वाल्टर रेले, क्विंटीलियन, विंचेस्टर आदि आठ पाश्चात्य मनीषियों एवं आलोचकों की 'स्टाइल' विषयक मान्यताओं का निरूपण करते हुए भारतीय रीति-तत्वों से उनका पूर्ण साम्य प्रदर्शित किया है। इन्होंने अपने तुलनात्मक अध्ययन में भारतीय रीति के वैदर्भी, गौडी, पांचाली आदि भेद, उनके भौगोलिक आधार, कतिपय शब्दगुण तथा अर्थगुण और कुन्तक के 'मार्ग' को लेकर पाश्चात्य 'स्टाइल' से समता दिखाई है। पाश्चात्य प्राचीन आचार्यों में अरस्तू, डिमेट्रियस, शोपेनहोवर और क्विण्टीलियन के स्टाइल-विवेचन से तथा अर्वाचीन मनीषियों में स्टीवेन्सन, वाल्टर रेले, विंचेस्टर और मिडल्टन मरी के उन्हीं विचारों को ग्रहण किया है जिनसे भारतीय रीति से साम्य बिठाया जा सके। इनका तुलनात्मक अध्ययन सुविस्तृत होने पर भी उसमें एकांगिता का दोष है, कारण पाश्चात्य स्टाइल के उन्हीं तत्वों को लेकर भारतीय रीति से समता प्रदर्शित की गई है जिनकी तुलना संभव थी। इन्होंने पाश्चात्य स्टाइल के उन विशिष्ट तत्वों का निरूपण नहीं किया जिनमें वस्तुतत्व का एकांत प्रतिषेध मिलता है और आत्मतत्व को ही 'स्टाइल' का प्राण समझा जाता है। तुलनात्मक अध्ययन में विरोधी या भिन्न मतों का निदर्शन विचार-क्षेत्र में गति उत्पन्न करता है और मौलिक चिन्तन का मार्ग प्रशस्त करता है। ऐसी स्थिति में भारतीय रीतितत्वों से भिन्न पाश्चात्य 'स्टाइल' विषयक मतों का निरूपण आवश्यक एवं उपयोगी ठहरता है। परन्तु तुलनात्मक अध्ययन का निष्कर्ष देते हुए इन्होंने अपना दृढ़ मन्तव्य प्रकट किया है कि 'इस प्रकार रीति विवेचन में भारतीय आलोचना से पाश्चात्य आलोचना में विशिष्ट तथा घनिष्ट साम्य विद्यमान है। भारतीय आलंकारिकों का रीति-विचार उनकी उच्च कोटि की समीक्षा शक्ति का द्योतक है। रीति का विश्लेषण तथा विभाजन इतने वैज्ञानिक ढंग से हमारे आलोचकों ने किया है कि पाश्चात्य जगत् में विपुल आलोचना होने पर भी उसका मूल्य और महत्व आज भी उसी प्रकार अक्षुण्ण है। हमारे आलोचक बहिरंग आलोचना के अनुगामी नहीं हैं, प्रत्युत विषयप्रधान आलोचना के सतत उपासक हैं। रीति काव्य के कतिपय शब्द गुणों पर आश्रित होने वाला काव्यतत्व नहीं है, प्रत्युत् वह कवि के स्वभाव तथा शील, रुचि तथा वैशिष्टय पर रसौचित्य के सहारे खड़ा होने वाला सूक्ष्म तत्व है।'[1]

---

१. **श्री बलदेव उपाध्याय : भारतीय साहित्यशास्त्र पृ० २३९, द्वि० खंड।**

श्री बलदेव उपाध्याय के मतानुसार भारतीय रीति से पाश्चात्य 'स्टाइल' का साम्य स्वीकार करते हुए भी इस तथ्य को नहीं भुलाया जा सकता कि पश्चिम के आधुनिक 'स्टाइल' में व्यक्ति-तत्व का जितना सूक्ष्म विश्लेषण-विवेचन हुआ है उतना भारतीय रीति में नहीं हुआ। इसके अतिरिक्त वामन ने जिस रीति-सिद्धान्त की प्रतिष्ठापना की और उसे काव्य का आत्म-तत्व उद्घोषित किया, वह स्पष्टतः ही कवि-स्वभाव, रुचि, शील या रसौचित्य पर एकांततः आधृत नहीं था।

डा० गुलाबराय ने भी 'सिद्धान्त और अध्ययन' में भारतीय रीति और पाश्चात्य 'स्टाइल' का तुलनात्मक विवेचन किया है। इन्होंने भारतीय शैली में वैयक्तिक तत्वों की पूर्ण स्वीकृति का प्रतिपादन करते हुए लिखा है—'कुछ लोगों की धारणा है कि भारतीय समीक्षकों ने वैयक्तिक शैली की ओर ध्यान नहीं दिया। उन्होंने सामान्य (टाइपों) का ही विवेचन किया है, यह धारणा मिथ्या है।' इसके पश्चात् इन्होंने आचार्य दण्डी के 'अस्त्यनेको गिरां मार्गः' का उद्धरण देकर भारतीय शैली में वैयक्तिक तत्वों का अन्तर्भाव सिद्ध किया है। आगे इसी विषय में आचार्य कुन्तक के मत[1] को उद्धृत करके इन्होंने लिखा है—'शैली ही मनुष्य है (स्टाइल इज् द मैन)—यह सिद्धान्त कुन्तक के विवेचन को पढ़ लेने के पश्चात् नया नहीं मालूम पड़ता।' आचार्य दण्डी और कुन्तक के मतों का निरूपण करने के उपरान्त बाबू जी ने रसवादी मम्मटाचार्य के वचनों को उद्धृत कर रीति-गुणों को रसाश्रित और इसी परंपरा से रीति का आत्मतत्व से सम्बन्ध दर्शाया है। इस प्रकार इनके मत में भारतीय रीति (शैली) पाश्चात्य 'स्टाइल' के भावों का पूर्ण प्रतिनिधित्व करती है तथा 'हमारे यहाँ के आचार्यों ने इस तत्व (व्यक्तित्व) को योरोप की अपेक्षा कुछ अधिक महत्व दिया है।'[2]

भारतीय 'रीति' और पाश्चात्य स्टाइल की प्रस्तुत संभावित आत्यंतिक समता का प्रत्याख्यान करने के लिए ही संभवतः श्री सुशीलकुमार डे ने दोनों की पारस्परिक आत्यंतिक विषमता का कुछ अतिरिक्त प्रतिपादन किया है। श्री डे का आशय है—'स्टाइल' शब्द में व्यक्तितत्व का अधिक मूल्य है। यद्यपि संस्कृत

---

१. **"कवि स्वभाव भेद निबन्धनत्वेन काव्यप्रस्थान भेदः समंजसतांगहते। सुकुमार स्वभावस्यकवेः तथा विधैव सहजा शक्ति समुद्भवति... शक्ति शक्तिमतोरभेदात्... यद्यपि कवि स्वभाव भेद निबन्धनत्वादनन्तभेदभिन्नत्वमनिवार्यं, तथापि परिसंख्यातुमशक्यत्वात् सामान्येन वैविध्यमेवोपपद्यते।" सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० २३४।**

२. **वही, पृ० ३४-३५।**

के रीति तत्व में अर्थ अथवा आशय को स्थान प्राप्त है फिर भी अभिव्यक्ति का वस्तुनिष्ठ या बाह्य-सौन्दर्य ही रीति का मूल आधार है और इस बाह्य सौन्दर्य की निर्मिति कतिपय विशिष्ट गुणों से अथवा अर्थ और नाद माधुर्य के पारस्परिक मेल से होती है। 'स्टाइल' में कवि के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति अभीष्ट है, रीति कवि-व्यक्तित्व का आविष्कार नहीं हैं अपितु गुणों की सहायता से अभिव्यक्त बाह्य सौन्दर्य है। गुणों का संबन्ध आशय अथवा अर्थ से मान लेने पर भी उत्कृष्ट 'स्टाइल' में जिस कवि-व्यक्तित्व का अथवा उसके अन्तरंग के अनिर्वचनीय साक्षात्कार का प्रतिपादन पाश्चात्य साहित्यशास्त्रकार करते हैं वैसा रीति तत्व में नहीं मिलता।[1]

जब भारतीय रीति-गुण को पाश्चात्य शैली-तत्व के समरूप में उद्घोषित किया जाता है तब 'स्टाइल' के अनुकरण पर 'रीति' में वैयक्तिक तत्वों के अन्तर्भाव के लिए रीति-प्रवर्तक आचार्य वामन के मत को बिल्कुल पृथक् कर देना कहाँ तक उपयुक्त है ? और दण्डी, कुन्तक तथा आचार्य मम्मट के मतों को ही एकान्त रूप से ग्रहण करना कहाँ तक वस्तुसंगत है ? वस्तुतः भारतीय रीति में जिन तत्वों का अन्तर्भाव है, उनका पृथक्-पृथक् विश्लेषण होना चाहिए। पाश्चात्य 'स्टाइल' और भारतीय 'रीति' में एकांत साम्य प्रतिपादन करने के लिए अनुकूल मतों का एकांत ग्रहण और प्रतिकूल मतों का एकांत त्याग नवीन चिन्तन का मार्ग अवरुद्ध कर देता है, इससे विवेचन में एकांगिता आ जाती है। इस दोष का परिहार डा० नगेन्द्र ने भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका में भारतीय रीति और पाश्चात्य 'स्टाइल' का व्यापक अध्ययन करके प्रस्तुत किया है। इनके तुलनात्मक विवेचन की सब से महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि जिन भारतीय रीति-तत्वों का पाश्चात्य 'स्टाइल' के तत्वों से जहाँ भी साम्य है वहाँ उन्होंने उनकी पूर्ण समता प्रदर्शित की है और जहाँ दोनों में भिन्नता है, वहाँ उनके पारस्परिक अंतर को मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है। भारतीय 'रीति' और पाश्चात्य 'स्टाइल' विषयक इनके निष्कर्ष किसी भी पाठक को भ्रम में नहीं डाल सकते। भारतीय रीति के स्वरूप के विषय में इनके निष्कर्ष हैं :

(१) रीति और शैली का वस्तु-रूप एक ही है। आरम्भ में भारत और यूरोप दोनों के काव्य-शास्त्रों में प्रायः वस्तु रूप का ही विवेचन हुआ है।

(२) भारतीय रीति में व्यक्ति-तत्व की सर्वथा अस्वीकृति नहीं है, जैसा कि डे आदि ने माना है।

---

१. सुशीलकुमार डे : हिस्ट्री आव् संस्कृत पोइटिक्स, द्वि० भा० पृ० ११६।

(३) फिर भी अपने वर्तमान रूप में शैली में व्यक्तित्व का जितना महत्व है, उतना भारतीय रीति में कभी नहीं रहा। विधान रूप में उसमें वस्तुतत्व का ही प्राधान्य रहा है। वामन की दृष्टि तो वस्तु-परक है ही, आनन्दवर्धन जैसे सर्वमान्य आलोचकों ने भी—जिन्होंने व्यक्ति की सत्ता को उचित स्वीकृति दी है, रीति के स्वरूप में व्यक्ति-तत्व का प्रभाव अत्यन्त संयत मात्रा में ही माना है।

(४) इस प्रकार रीति और शैली के वर्तमान रूप में व्यक्ति तत्व की मात्रा का अन्तर अवश्य हो गया है। कम से कम 'शैली ही व्यक्ति है' की भाँति भारतीय रीति व्यक्ति से एकाकार नहीं हो पाई। इस सम्बन्ध में कुन्तक जैसे आचार्य की एक आध उक्ति को अपवाद ही मानना चाहिए।[1]

मराठी में भारतीय रीति और पाश्चात्य 'स्टाइल' का अध्ययन

मराठी में हिन्दी-समीक्षकों की भांति ही भारतीय रीति और पाश्चात्य 'स्टाइल' की पारस्परिक अर्थ-समता के विषय में मतैक्य नहीं है। डा० देशमुख, डा० वाटवे, डा० रा० शं० वाळिंबे, ग० त्र्यं० देशपाण्डे आदि ने 'रीति' और 'स्टाइल' का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। डा० मा० गो० देशमुख और डा० वाळिंबे के मतानुसार संस्कृत रीति और पाश्चात्य स्टाइल में समानता नहीं है। एक ओर डा० वाटवे वामन की रीति को पाश्चात्य 'स्टाइल' के समकक्ष नहीं मानते, बल्कि ध्वनि-रसवादियों के रीति-गुण विवेचन से 'स्टाइल' की पूर्ण समता स्वीकार करते हैं, तो दूसरी ओर ग० त्र्यं० देशपाण्डे भारतीय रीति और पाश्चात्य 'स्टाइल' को सर्वथा समानार्थक मानते हैं। विवेचन की सुगमता के लिए प्रत्येक समीक्षक के मत का पृथक्-पृथक् उल्लेख उपयोगी होगा।

डा० मा० गो० देशमुख के मत में 'रीति' शब्द का सम्बन्ध शब्द-सौष्ठव से है, अतः उसे अंग्रेज़ी के 'डिक्शन' शब्द का पर्याय समझना चाहिए, स्टाइल का नहीं। डा० सुशीलकुमार डे के मत का ही इन्होंने पूर्ण समर्थन किया है और 'रीति' के स्थान पर महाकवि ज्ञानेश्वर प्रयुक्त 'रेखा' शब्द को अंग्रेजी के 'स्टाइल' का समानार्थी माना है। इन्होंने लिखा है : 'रेखा शब्द में अंग्रेज़ी स्टाइल की कल्पना अनुस्यूत है और इसमें काव्यार्थ तथा रस दोनों की रमणीय अभिव्यक्ति का भाव भी अन्तर्भूत है।'[2] 'स्टाइल' के समानार्थी 'रेखा' शब्द के औचित्य-अनौचित्य पर

---

१. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, पृ० ५४-५५।

२. मराठी में साहित्यशास्त्र, पृ० १७४-१७५।

विचार करना यहाँ अप्रासंगिक होगा, अतः 'स्टाइल' और रीति विवेचन पर इनकी मान्यता का निरूपण ही प्रसंगानुरूप उपयुक्त है।

'स्टाइल' और 'रीति' को समानार्थी न मानने में इन्होंने डा० डे के मत का समर्थन करते हुए लिखा है कि 'डे का प्रतिपादन 'रीति' शब्द के प्रयोक्ता रीति-तत्ववादी आलंकारिकों के मर्यादित अर्थ पर आवृत है, परन्तु पूर्वपक्षियों ने भामह-दण्डी आदि वामन से पूर्वकालीन साहित्यशास्त्रकारों से लेकर रीतिवाद को सर्वथा नवीन स्वरूप देने वाले कुन्तक और उसके पश्चात् के आचार्यों तक के व्यापक मतों का आश्रय लेकर 'रीति' और 'स्टाइल' की समता दिखाई है। वस्तुतः इस प्रश्न पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करना चाहिए और वामन ने जो रीति की परिभाषा दी है और उसकी व्याख्या की है, उसी को आधार मानना चाहिए।

काव्य की आत्मा के अनुसन्धान का प्रश्न चिरकाल से चला आ रहा था। ध्वनि-रसवाद से पूर्व आलंकारिकों ने रीति को काव्य की आत्मा सिद्ध किया था। इनके समक्ष ध्वनि और रस-सिद्धान्त का स्वरूप पूर्ण स्पष्ट नहीं था। इसी कारण अभिनव गुप्त ने कहा था : 'प्रस्तुत काव्य तत्व—ध्वनि—का जिन्हें स्पष्ट ज्ञान नहीं था उन्होंने ही रीतियों का प्रचलन किया है।' इस से स्पष्ट है कि रीतिवाद भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा में ध्वनि-रस-सिद्धान्त से पूर्व का एक 'ऐतिहासिक संस्थान है।' रीतिवाद की अपूर्णता से निःसृत सिद्धान्तों में रीति तत्वों की व्यवस्था दिखाना एक अलग बात है और बाद के तत्वों को रीतिवाद में ही खोजने का व्यर्थ प्रयत्न करना दूसरी (बात) है। अर्थात् रीतियाँ अनन्त हैं, 'प्रतिकवि-स्थित' हैं और वे निश्चित काव्य-गुणों की सहायता से काव्य के बाह्य सौन्दर्य की ही शोभा बढ़ाती हैं, इतनी ही रीतिवाद की मर्यादा है। रीति का रस निरपेक्ष विवेचन आवश्यक है, यदि ऐसा नहीं किया जाता तो विकास-शील साहित्य समीक्षा में एक असमर्थनीय काल-विपर्यय उपस्थित होगा।'[१]

डा० देशमुख के अनुसार यदि संस्कृत साहित्यशास्त्र के रीति-सिद्धान्त को ऐतिहासिक दृष्टि से मर्यादित कर उसकी पाश्चात्य 'स्टाइल' से तुलना अपेक्षित है तो 'स्टाइल' की भी सीमा-मर्यादा की ओर ध्यान देना अनिवार्य हो जाता है। आरम्भ में पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में 'स्टाइल' के वस्तुतत्व का ही अधिक विवेचन हुआ है। विशेषतः रोमी आचार्यों—होरेस, डिमेट्रियस, क्विण्टीलियन—ने 'स्टाइल' का भामह, दण्डी, और वामन की भाँति ही वस्तुपरक विवेचन किया

---

१. **'भावगन्ध', पृ० १५०।**

है। अन्य कतिपय-पाश्चात्यों—सिसरो, डायोनीसियस, लांजाइनस आदि ने 'स्टाइल' के वस्तु तत्व के साथ व्यक्तित्व के महत्व का भी प्रतिपादन किया है। परन्तु आधुनिक पाश्चात्य 'स्टाइल' में व्यक्तित्व को ही प्रमुख स्थान प्राप्त है। ऐसी स्थिति में आधुनिक 'स्टाइल' के एकमात्र-विशिष्ट गुण व्यक्ति-तत्व के आधार पर भामह, दण्डी तथा वामनकालीन रीति को 'स्टाइल' से नितांत भिन्न प्रतिपादित करना कहाँ तक युक्तियुक्त है ? अतः भारतीय 'रीति-विकास और पाश्चात्य' 'स्टाइल-विकास' को समग्र रूप में लेकर ही दोनों की पारस्परिक तुलना उचित है। यदि इस प्रकार से तुलना की जाय तो स्पष्टतः ही भारतीय रीति को नितांत 'डिक्शन' प्रतिपादित करना कुछ अतिवाद होगा। डा० मा० गो० देशमुख दण्डी, वामन की रीति को पाश्चात्य 'स्टाइल' के समकक्ष मानने का प्रतिषेध करते हैं तो डा० के० ना० वाटवे ध्वनि-रसवादियों के रीति-निरूपण का पाश्चात्य 'स्टाइल' से पूर्ण साम्य प्रतिपादित करते हैं।

डा० वाटवे ने मुख्य विवेच्य विषय रस से सम्बन्धित अन्य काव्य-सिद्धान्तों का भी आनुषंगिक रूप से विवेचन किया है। इन्होंने अपने रीति-गुण प्रकरण में भारतीय रीति के स्पष्टतः दो संस्थान माने हैं, प्रथम में भामह, दण्डी और वामन के रीति विवेचन को लिया है और दूसरे में ध्वनि-रसवादियों के। जहाँ तक पाश्चात्य 'स्टाइल' से भारतीय रीति की समता का प्रश्न है, इन्होंने ध्वनि-रसवादियों के रीति-गुण विवेचन को ही पाश्चात्य 'स्टाइल' के समकक्ष माना है और भामह, दण्डी तथा वामन के रीति-प्रतिपादन के विषय में लिखा है —'विशेषतः वामन ने रीति का सविस्तर विवेचन किया है, परन्तु भामह, दण्डी और वामन के रीति-प्रतिपादन में कवि की मनःस्थिति पर विचार नहीं किया गया। इनका रीति-निरूपण बाह्य और वस्तुपरक (आब्जेक्टिव) प्रतीत होता है।

वामन ने गुणों का और रीति का सम्बन्ध कवि अथवा पात्रों की मनःस्थिति से स्थापित नहीं किया, फलतः दण्डी के 'मार्ग' को अथवा वामन की 'रीति' को 'स्टाइल' नहीं कहा जा सकता। अधिक से अधिक 'डिक्शन' अथवा उसे केवल 'कम्पोजिशन' कहा जा सकेगा।'[1]

डा० वाटवे के मत में ध्वनि-रसवादी आचार्यों ने परंपरागत रीति-गुण विवेचन को रस तत्व से सम्बन्धित कर उसे पाश्चात्य 'स्टाइल' के समान ही आत्मपरक सिद्ध किया है। रस के समान गुणों का माधुर्य-ओज-प्रसाद रूप में मनःस्थितियों से सम्बन्ध दर्शाकर रीति-गुण-तत्वों का डा० वाटवे ने कवि-मानस से सम्बन्ध

---

१. रसविमर्श, पृ० ३५८।

स्थापित किया है, अतः इनकी धारणा है कि उसे पाश्चात्य 'स्टाइल' के समकक्ष ही मानना चाहिए।

'गंगावतरण' में प्रतिपादित नीलकण्ठ दीक्षित की 'पन्था' की परिभाषा और विद्याधर कवि की 'एकावली' में निरूपित 'पाक' की परिभाषा का पेटर उल्लिखित 'स्टाइल' की परिभाषा से साम्य दिखा कर अन्त में इन्होंने उपसंहार किया है—'कुल मिलाकर संस्कृत का रीति-विचार सब दृष्टियों से पाश्चात्यों के 'स्टाइल' की विचार सरणी की समता रखता है।'[१]

डा० वाटवे रसवाद का मूल आधार लेकरचलेहैं, अतःवेभामह, दण्डी, वामन और कुन्तक के रीति-प्रतिपादनका सूक्ष्म-विवेचन नहीं कर सके। दण्डी ने कवि के अनुरूप रीति-भेद का,[२] वामन ने अर्थगुण कान्ति में रस का[3] तथा कुन्तक ने कवि स्वभावानुरूप रीति-परिवर्तन[४] का जो निरूपण किया है, उसका इन्होंने अपने रीति-गुण विवेचन में संकेत मात्र भी नहीं दिया है। रसवाद के आधार पर इन्होंने रीति-गुण का विवेचन मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया है। परन्तु पाश्चात्य स्टाइल और भारतीय रीति की तुलना को जितना व्यापक रूप देना आवश्यक था, उतना नहीं दिया गया।

डा० वाळिंबे ने 'साहित्य मीमांसा' में प्रथम 'काव्यगुण और रीति' प्रकरण के अन्तर्गत भरतमुनि से जगन्नाथ तक के आचार्यों की गुण-रीति विषयक मान्यताओं का सुविस्तृत निरूपण किया है, तदुपरान्त 'पाश्चात्य स्टाइल' पर पृथक् प्रकरण लिख कर पाश्चात्य मनीषियों की 'डिक्शन' और 'स्टाइल' सम्बन्धी मान्यताओं का पृथक् पृथक् दिग्दर्शन कराया है। इनकी स्पष्ट धारणा है कि भारतीय रीति और पाश्चात्य 'स्टाइल' की कल्पना में मूलतः ही अन्तर है। दोनों में किसी प्रकार का विशिष्ट साम्य नहीं है।'[५] इन्होंने भारतीय रीति और पाश्चात्य 'स्टाइल' के विषय में डा० सुशीलकुमार डे के मत का पूर्ण समर्थन किया है और पाश्चात्य 'स्टाइल' में व्यक्तितत्व या आत्मतत्व की महत्व प्रतिष्ठापना का निरूपण विस्तार से किया है।

---

१. रसविमर्श, पृ० ३६३।

२. दण्डी—'इति मार्गद्वयं भिन्नं . . . प्रति कविस्थिताः ॥ काव्यादर्श—१।१०१

३. वामन—दीप्त रसत्वं कान्ति :—काव्यालंकार सूत्र ३, २, १५ ॥

४. कुन्तक—कवि स्वभाव भेद . . . हिन्दी वक्रोक्ति जीवित,—कारिका २४ उन्मेष प्रथम, पृ० १०२।

५. साहित्य मीमांसा पृ० २३८।

इन्होंने आरम्भ में 'डिक्शन' का विवेचन करने के उपरांत स्टाइल के विषय में प्लेटो, अरस्तू, स्तांधाल, आर० एल० स्टिवेन्सन, मिडल्टनमरी, टी० एम० ग्रीन, वाल्टर पेटर, फ़्लाबेर आदि की मान्यताओं के अनुरूप शैली-तत्वों का और अंत में पुनः मिडल्टन मरी निरूपित शैली के तीन अर्थों का स्पष्टीकरण किया है। मरी के अनुसार शैली के तीन अर्थ दिये गये हैं।[1] पाश्चात्य समीक्षकों के इन 'स्टाइल' विषयक मतों का विस्तार से निरूपण करने के उपरान्त डा० वाळिंबे ने 'स्टाइल' के वस्तुतत्व—शब्द, नाद-सौन्दर्य आदि का भारतीय रीति के वस्तुतत्वों से संक्षेप में साम्य दिखाया है। फ़्लाबेर ने जिस आशय से 'सौन्दर्य' (Beauty) शब्द का प्रयोग काव्य-सौन्दर्य के तत्वान्वेषण में किया है, लगभग उसी आशय से वामन ने काव्य शोभा या सौन्दर्य शब्द का प्रयोग किया है। माम ने प्रसाद (Lucidity), सादगी (Simplicity) और 'श्रुतिसुखत्व' (Euphony) को शैली-गुणों के रूप में स्वीकृति दी है। इसी प्रकार वाल्टर रेले ने भी शब्दों के श्रुति सुखत्व का निरूपण किया है। इस प्रकार पाश्चात्य समीक्षकों ने जितना शब्दों के महत्व का प्रतिपादन किया है उतना शब्दों के महत्व का ज्ञान संस्कृत साहित्य-शास्त्रकारों को भी था और इसका उन्होंने सुविस्तृत प्रतिपादन किया है।'[2] जहाँ तक कवि-स्वभावानुरूप काव्य-निर्माण का सम्बन्ध है, इस विषय में पाश्चात्य मनीषियों ने

---

१. शैली का प्रथम अर्थ—किसी लेखक की रचना में जो व्यक्ति-वैशिष्टय या व्यक्तिस्वभाव (personal ideo syncracy) दिखाई देता है, उसी से हम लेखक की एक निराली शैली समझते हैं। लेखक की प्रस्तुत विशेषताएँ सदैव त्याज्य नहीं होतीं, इससे अनेक बार रचना में सौन्दर्य आता है। यदि अनुकरणशील नवीन लेखकों की रचना में केवल अनुकरण के आधार पर इस प्रकार की विशेषताओं का समावेश होने लगता है तो यही अनुचित भी हो जाता है। व्यक्ति-वैशिष्टय रचना में तभी सौन्दर्य लाता है जब कि वह उत्कट और उपयुक्त भावनाओं से ही अभिव्यक्त होता है।
शैली का दूसरा अर्थ—किसी एक विचार अथवा अनेक विचारों के प्रासादिक और सुगम रूप में स्पष्टीकरण के चातुर्य को शैली कहते हैं। बौद्धिक अथवा विचार-प्रधान रचना के लिए प्रस्तुत शैली शब्द का प्रयोग हो सकेगा।
तीसरा अर्थ—वैयक्तिक अनुभूति और सार्वजनीन अनुभूति का उत्कृष्ट मिलन जिसमें होता है, उसे शैली कहते हैं। वैयक्तिक अनुभूतियों को व्यापक और उदात्त आशय प्रदान करना ही प्रस्तुत शैली का प्रयोजन है।

२. साहित्यमीमांसा, पृ० २६२-२६३ ।

पर्याप्त बल दिया है। यद्यपि संस्कृत के आचार्य कुन्तक ने भी कवि स्वभावानुरूप रचना-पद्धति का निरूपण किया है, परन्तु कुन्तक के प्रतिपादन को डा० वाळिंबे के मत में आधुनिक 'स्टाइल' की कल्पना के समरूप मानना उपयुक्त नहीं है।'[1]

रीति और स्टाइल में मूलभूत अंतर :

पाश्चात्य 'स्टाइल' में व्यक्तित्व के एकांत महत्व की मान्यता के समर्थन में डा० वाळिंबे ने कतिपय पाश्चात्य आलोचकों के मतों का उल्लेख किया है।[2] इनकी शैली-परिभाषाओं के आधार पर इन्होंने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि आधुनिक पाश्चात्य समीक्षकों ने शैली-स्वरूप का प्रतिपादन जितना नितांत व्यक्तिपरक किया है, उतना संस्कृत के आचार्यों ने नहीं किया। शैली के अनुरूप कवि-व्यक्तित्व का और कवि-व्यक्तित्व के अनुरूप शैली का जितना सूक्ष्म परीक्षण पाश्चात्य समीक्षकों ने किया है, उतना संस्कृत आचार्यों के लिए उस युग में संभव नहीं था। वस्तुतः युग की परिसीमाएँ, काव्यनिर्मिति और काव्यास्वाद में अलौकिकत्व की अतिरिक्त भावना आदि अनेक कारण हो सकते हैं जिनसे संस्कृत आचार्यों का ध्यान कवि-व्यक्तित्व की छान-बीन की ओर अधिक न जा सका।

---

१. साहित्य मीमांसा, पृ० २३८।

२. १. टी० एम० ग्रीन के मत में लेखक की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि और उसकी निजी मनोवृत्ति के आधार पर ही शैली का स्वरूप निर्धारित किया जा सकता है। यदि लेखक की मनोवृत्ति सरस हो तो उसकी शैली में भी सरसता आयेगी। लेखक का व्यक्तित्व जितना ही परिपूर्ण होगा, उसकी शैली भी कलात्मक दृष्टि से उतनी ही परिपूर्ण होगी।

२. मिडल्टन मरी की धारणा में कलाकार की मूल उत्कट भावना ही शैली का उद्गम स्थान है। शैली की निर्मिति जब उत्कट भावनाओं से मान ली जाती है तब शैली में व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति की कल्पना का आशय स्पष्ट हो जाता है। लेखक की वैयक्तिक अनुभूतियों की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति का नाम ही शैली है।

३. वाल्टर रेले के विचार में उत्कृष्ट शैली में लेखक का व्यक्तित्व जिस प्रकार से प्रकट होता है वैसा अन्य किसी भी साधन से प्रकट नहीं होता। शैली लेखक की अन्तरात्मा का उद्घाटन कर देती है, शैली मानो लेखक के अंतरंग का ही अभिनय है। —साहित्य मीमांसा, पृ० २६४-६५-६६

पाश्चात्य समीक्षकों ने कवि-व्यक्तित्व के अनुरूप शैली का परीक्षण कितनी गहराई से किया है, इसके लिए सामरसेट माम की शंका और रेनवेलेक के समाधान का निरूपण जो डा० वाळिंबे ने 'पाश्चात्य स्टाइल' के अन्तर्गत प्रस्तुत किया है, उसका यहाँ संक्षिप्त उल्लेख अनुपयोगी न होगा। सामरसेट माम ने 'स्टाइल इज द मैन' इस उक्ति का विवेचन करते समय एक शंका उठाई है। यदि शैली ही व्यक्ति है तो पक्षियों के सुमधुर कलरव के सदृश रचे हुए श्रुति-मधुर गीतों में गेटे के व्यक्तित्व की खोज की जाय अथवा उसके अमधुर रुक्ष गद्य साहित्य में ? प्रश्न विकट था, फिर भी माम ने लेखक की मनोवृत्ति के अनुरूप ही उसकी शैली के स्वरूप को मान्यता दी है। रेनवेलेक ने माम की शंका का समाधान इस प्रकार से किया---'जिस लेखक ने विविध साहित्य-प्रकारों की रचना की हो और जिसके व्यक्तित्व के विकास की सीढ़ियाँ स्पष्ट दिखाई देती हों, उस लेखक की शैली का स्वरूप एक-सा नहीं हो सकता। अतः 'गेटे की शैली' न कह कर 'गेटे की विभिन्न शैलियाँ' कहना ही उचित है। क्योंकि युवावस्था के आरम्भ में लिखी गई गेटे की रचनाओं तथा प्रौढ़ और वृद्धावस्था में लिखी गई रचनाओं की शैलियों में परस्पर बहुत अन्तर है।'[1]

व्यक्ति-जीवन और समाज-जीवन का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है, अतः पाश्चात्य समीक्षा में 'स्टाइल' निर्माण के मूल आधारों में कवि-व्यक्तित्व के साथ सामाजिक और सांस्कृतिक प्रभावों का भी विस्तृत अध्ययन किया गया है। सामाजिक प्रवृत्तियों का प्रतिबिम्ब तत्कालीन कलाकृतियों के साथ शैली पर भी स्पष्ट दिखाई देता है।[2] शैली-परिवर्तन में सामाजिक जीवन के अतिरिक्त लेखक की अभिरुचि का भी महत्वपूर्ण हाथ रहता है। कतिपय लेखक परंपरागत शैली-गुणों के प्रति आस्था रखते हैं और तदनुरूप रचना करते हैं तो अन्य अनेक परंपरा के प्रति विद्रोह करके नवीन शैली-निर्माण की ओर प्रवृत्त होते हैं।[3]

अपनी वैयक्तिक अनुभूतियों की पाठकों को यथावत् प्रतीति करा देने का जटिल प्रश्न प्रत्येक लेखक के समक्ष होता है। और शैली-विवेचन का मर्म इसी प्रश्न में निहित है। मिडल्टन मरी ने आशय और अभिव्यक्ति के पारस्परिक समंजन को आदर्श 'स्टाइल' का स्वरूप प्रतिपादित किया है। अधिकांश पाश्चात्य समीक्षकों के मत में लेखक के परिपूर्ण व्यक्तित्व का, उसकी अनुभूतियों की उत्कटता का शैली

---

१. साहित्य मीमांसा पृ० २६६-२६७

२. वही, पृ० २६९-२७०।

३. वही, पृ० २७१।

की श्रेष्ठता के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है।[1]

डा० वाळिंबे के पाश्चात्य 'स्टाइल' से सम्बद्ध उपर्युक्त मान्यताओं के अध्ययन के आधार पर भारतीय रीति से उसका अन्तर स्पष्ट करने के लिए निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं :

१. पाश्चात्य मनीषियों के मत में शैली का प्राण-तत्व केवल गुणों (काव्यगुणों) के प्रकर्ष अथवा अलंकारों के प्रकर्ष में निहित नहीं है, वह तो आशय और अभिव्यक्ति की संपूर्ण एकता तथा समृद्ध और परिपूर्ण व्यक्तित्व के उतने ही समृद्ध और उत्कट आविष्कार में निहित है।
२. उत्कृष्ट शब्दों का परिश्रमपूर्वक चुनाव, लालित्य, सौकुमार्य आदि गुण श्रुति सुखत्व, अनुप्रास, रूपक, अलंकार आदि के सहयोग से शैली का सौन्दर्य बढ़ जाता है, परन्तु ये सभी वस्तुएँ साधन रूप हैं और अनुभूति की अर्थात् व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति ही शैली का उद्दिष्ट या साध्य है।
३. यद्यपि संस्कृत-साहित्यशास्त्रकारों में रीति-तत्व के विवेचक आचार्यों ने काव्य-गुणों के विवेचन में असाधारण रसिकता और सूक्ष्मता दिखाई है तो भी पाश्चात्य समीक्षा की प्रस्तुत विचारधारा की उन्हें कल्पना नहीं थी और यदि कदाचित् किसी को इस प्रकार की कल्पना का स्पर्श हुआ-सा दिखाई देता भी है तो वह अत्यन्त बाह्य है।[2]

तुलनात्मक विवेचन

हिन्दी और मराठी दोनों ही भाषाओं के समीक्षकों के भारतीय 'रीति' और पाश्चात्य 'स्टाइल' विषयक तुलनात्मक अध्ययन से चार प्रकार की मान्यताओं पर प्रकाश पड़ता है--

१. भारतीय 'रीति' और 'पाश्चात्य स्टाइल' को नितांत समकक्ष मानना चाहिए।
२. संस्कृत आलंकारिकों (भामह, दण्डी तथा वामन) की 'रीति' 'डिक्शन' है, 'स्टाइल' नहीं।
३. ध्वनि-रसवादियों तथा कुन्तक प्रतिपादित रीति ही पाश्चात्य 'स्टाइल' के समरूप है।
४. संस्कृत काव्यशास्त्र का रीतिवाद समग्ररूप में पाश्चात्य 'स्टाइल' के नितांत समकक्ष नहीं है।

प्रथम मत के अनुयायियों की धारणाओं का विवेचन यथास्थान हुआ है,

---

१. साहित्य मीमांसा, पृ० २७१।
२. वही, पृ० २७२-७३।

यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि 'स्टाइल' विषयक आधुनिक पाश्चात्य मान्यताओं की कसौटी पर संस्कृत के रीति-तत्व का मूल्यांकन किया जाय तो समता के लिए रीति की मौलिक (संस्कृत साहित्यशास्त्र में प्रतिपादित) परिभाषा को ही बदलना पड़ेगा। आधुनिक युग में 'स्टाइल' के अन्तर्गत आत्मतत्व या व्यक्तित्व को जितना प्राधान्य दिया गया है उतना संस्कृत के ध्वनिवादी और रसवादी आचार्यों ने भी नहीं दिया है। कवि के मनोभावों तथा उसकी सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का 'स्टाइल' पर जो परिणाम होता है उसका जितना सूक्ष्म विश्लेषण-विवेचन पाश्चात्य 'स्टाइल' के अन्तर्गत किया गया है, उतना संस्कृत के रीति-विवेचन में नहीं मिलता। ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन रसानुकूल शब्द-योजना (संघटना) पर बल देते हैं तो आचार्य मम्मट माधुर्य, ओज, प्रसाद आदि रीति-सिद्धान्तगत गुणों का चित्त की द्रुति, दीप्ति और परिव्याप्ति से संबंध स्थापित करते हैं। क्या इतने मात्र से भारतीय रीतिवाद को पाश्चात्य 'स्टाइल' का नितांत समकक्ष माना जा सकता है ? रसवादियों ने कवि-व्यक्तित्व का विश्लेषण करने की अपेक्षा माधुर्य, ओज, प्रसाद व्यंजक वर्णों का विवेचन किया है और इन गुणों के उदाहरण स्वरूप जिन श्लोकों को उद्धृत किया गया है उनमें कवि के मनोभावों की गुणानुरूप अभिव्यक्ति के परीक्षण की बजाय वर्ण-नियोजन के तत्वों का अधिक विश्लेषण किया गया है। इसके अतिरिक्त संस्कृत काव्यशास्त्र का रसवाद मूलत: कवि सापेक्ष्य बनने की अपेक्षा उत्तरोत्तर सहृदय सापेक्ष्य बनता गया। परन्तु आधुनिक पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक आलोचक डा० आई० ए० रिचर्ड्स तो शब्द तथा वर्ण-योजना की रसवत्ता को सर्वथा अस्वीकार करते हैं और कवि के मनोभावों की उसमें एकांत स्वीकृति देते हैं।[1] अतः भारतीय रीतिवाद को पाश्चात्य 'स्टाइल' का एकांत समकक्ष मानना अतिवाद है।

ध्वनि-रसवादियों की अपेक्षा आचार्य कुन्तक ने रीति का कुछ आंतरिक विवेचन किया है। इन्होंने रीति के स्थान पर मार्ग शब्द अपनाया है। वे कवि-स्वभावानुरूप मार्ग-परिवर्तन की स्पष्ट उद्घोषणा करते हैं। फिर भी प्रश्न वही है क्या स्वभावानुरूप रचना-पद्धति में परिवर्तन आ जाने से इसे पाश्चात्य 'स्टाइल' के व्यक्तित्वाभिव्यक्ति के समकक्ष माना जा सकता है ? उत्तर के लिए कुछ गहराई में जाना आवश्यक होगा।

कवि-स्वभाव की अनन्तता स्वीकृत करते हुए भी आचार्य कुन्तक ने सुकुमार,

---

१. डा० आई० ए० रिचर्डस : प्रिंसिपल्स आफ़ लिटरेरी क्रिटिसिज्म पृ० १३६-३७ (१९३८)

विचित्र और मध्यम के आधार पर तीन मार्ग-भेदों का निरूपण किया है। इन मार्गों के सामान्य गुणों में औचित्य और सौभाग्य तथा विशेष गुणों में माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और अभिजात्य की गणना की है। इनके तीनों ही मार्गों के सामान्य और विशेष गुणों में कवि-स्वभाव या कवि-व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति की प्रक्रिया का निरूपण नहीं है, प्रत्युत् भाषा के तत्वों—वर्ण विन्यास, ह्रस्व-दीर्घ अक्षरों की मैत्री, पद-रचना, समास, वाक्य-गुम्फ आदि का ही विश्लेषण-विवेचन हुआ है। संस्कृत साहित्य से उद्धृत जिन श्लोकों से कुन्तक ने अपने मन्तव्य को स्पष्ट किया है, उनकी व्याख्या से वस्तुपरक दृष्टिकोण का ही स्पष्टीकरण व समर्थन होता है, कवि-व्यक्तित्व का उसमें विवेचन नहीं है। कहीं-कहीं रस की चर्चा कर रचना के गुणों का भावों से सम्बन्ध दिखाया गया है। सुकुमार मार्ग के प्रसाद गुण की परिभाषा कुन्तक ने इस प्रकार से की है : 'रस और वक्रोक्ति के विषय में विना किसी क्लेश के अभिप्राय को व्यक्त करने वाला तथा तुरन्त अर्थ समर्थकत्व रूप जो गुण है उसे प्रसाद कहते हैं'[१] प्रस्तुत परिभाषा से कुन्तक के मार्ग विवेचन को किंचित् आंतरिक समझा जा सकता है। रस से अभिप्राय कवि के मनोभावों से लिया जाय और उन मनोभावों की अभिव्यक्ति के माध्यम—भाषा—के दो गुण माने जायँ : एक समग्र रूप में सरलतापूर्वक अभिप्राय को व्यक्त करने में समर्थ, तथा दूसरा अवयव-रूप में शब्दार्थ का शीघ्र द्योतक। इस प्रकार कवि मनोभाव—रस और उसकी प्रेषणीयता के माध्यम—भाषा—से प्रसाद गुण का निकट सम्बन्ध दर्शाकर कुन्तकने कवि-व्यक्तित्व या कवि-मनोभाव तथा उसकी अभिव्यक्ति-पद्धति को पूर्णतः परस्पर सम्बद्ध कर दिया है। परन्तु यदि समग्र रूप में कुन्तक के मार्ग-गुण विवेचन पर सूक्ष्म दृष्टिपात किया जाय तो कहीं भी कवि की वैयक्तिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति का इसमें स्पष्ट निर्देश नहीं है। अधिकांशतः शैली के वस्तुतत्व—अलंकार, पद-रचना, समास, वर्णगुम्फ का ही प्रतिपादन है। इसमें सन्देह नहीं कि वे गुणों को रचना का अंग मानते हैं तथा रचना-पद्धति को कवि-स्वभाव से सम्बद्ध करते हैं, इससे वे नितांत देहवादी वामन की अपेक्षा रीति का कुछ आंतरिक विवेचन करते हुए प्रतीत होते हैं, परन्तु इतने मात्र से उनके मार्ग-गुण-विवेचन को आधुनिक पाश्चात्य 'स्टाइल' की विचारधारा के एकांत समरूप मानना अधिक संगत नहीं है। इससे उनकी स्वतंत्र चिंतन प्रणाली पर आधुनिक पाश्चात्य 'स्टाइलगत' विचारों का बलात् आरोपण ही सिद्ध होगा।

पाश्चात्य 'डिक्शन' और भामह, दण्डी तथा वामन प्रतिपादित 'रीति' में

---

२. हिन्दी वक्रोक्ति जीवित, पृ० ११५-१-३१।

भी साम्य नहीं है। अरस्तू के मत में सोच-विचार कर अलंकृत की हुई रचना का नाम 'डिक्शन' है।[1] प्रारंभिक ग्रीक आचार्यों ने व्याकरण तथा अलंकारशास्त्र के अध्ययन पर बल दिया था। कतिपय के मत में भाषा आशय का प्रावरण या परिधान मात्र है। परन्तु भारतीय आलंकारिक भामह, दण्डी के विचार इनसे भिन्न हैं। दण्डी ने पदावली को इष्टार्थ से व्यवच्छिन्न माना है। दण्डी ने वाणी के मार्ग (रीति) की अनेकता का प्रतिपादन किया है तथा उसे प्रति कविस्थित मान कर पारस्परिक सूक्ष्म अंतर के विवेचन को नितांत असंभव कहा है।[2] अतः पाश्चात्य 'डिक्शन' को और दण्डी के मार्ग को एकांत समरूप नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त रीति प्रवर्तक आचार्य वामन रीति को काव्य की आत्मा का स्थान देते हैं, उसे केवल भाषा का परिधान नहीं मानते। 'डिक्शन' केवल पद-संघटना या पदरचना है, परन्तु वामन की रीति विशिष्ट गुणोपेत पद रचना है। पाश्चात्य डिक्शन में आगे चलकर भाषा के गुणों का विवेचन होने लगा, परन्तु दण्डी और वामन की मार्ग-रीति आरम्भ से ही गुणों के आश्रित रही है। वामन ने रस-तत्व को भी रीति का ही अंग सिद्ध किया तथा रीति को काव्य-मूल्यांकन और काव्य-निर्मिति का मूलतत्व प्रतिपादित किया, परन्तु पाश्चात्य 'डिक्शन' की स्थिति इससे भिन्न रही है। अतः भामह, दण्डी तथा वामन की रीति को पाश्चात्य 'डिक्शन' का नितांत समकक्ष मानना विशेष संगत प्रतीत नहीं होता। इसके अतिरिक्त अंग्रेजी में 'डिक्शन' और 'स्टाइल' शब्दों का लगभग समान अर्थ में भी प्रयोग होता रहा है। अरस्तू के काव्यशास्त्र के अंग्रेजी-अनुवादकों ने अरस्तू के शैली-निरूपण के लिए 'स्टाइल' तथा 'डिक्शन' दोनों ही शब्दों का प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ, अरस्तू निरूपित आदर्श शैली के विषय में बुचर (Butcher) का अंग्रेजी अनुवाद है :

"The perfection of style, is to be clear without being mean."

उसी का बायवाटर के अनुसार अनुवाद है :

"The perfection of Diction is for it to be at once clear and not mean"[3]

---

१. साहित्य मीमांसा, पृ० २४५।
२. दण्डी : काव्यादर्श,—इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली १।१०
अस्त्यनेको गिरांमार्गः सूक्ष्मभेदो परस्परम्।
तथादास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रति कविस्थिताः ॥ काव्यादर्श : १।१०१
३. अरिस्टाटल चें काव्यशास्त्र (गो० वि० करंदीकर) पृ० १७५, प्र० सं० १९५७।

अत: पाश्चात्य 'डिक्शन' और भारतीय 'रीति' तत्व में भी एकांत साम्य बिठाना विशेष संगत प्रतीत नहीं होता ।

भारतीय 'रीति' और पाश्चात्य 'स्टाइल' शब्द भी अपना स्वतन्त्र ऐतिहासिक विकास रखते हैं। भामह, दण्डी और वामन रीति के बाह्य रूप निरूपण पर अधिक बल देते रहे तो रस-ध्वनिवादी सिद्धान्त रूप में उसे आंतरिक मानते हुए भी व्यवहार रूप में पर्याप्त बाह्य निरूपित करते रहे। शब्द-प्रयोग की दृष्टि से भी रीति शब्द को सर्वत्र स्थान नहीं मिला है। भामह ने काव्य-भेद, दण्डी ने वर्त्म, वामन ने रीति, कुन्तक ने मार्ग तथा मम्मट ने 'वृत्ति' शब्द द्वारा रीति के अभिप्राय को ही व्यक्त किया है। परन्तु पाश्चात्य 'स्टाइल' शब्द की स्थिति इससे भिन्न है। अंग्रेजी में यूनानी और रोमी आचार्यों के शैली-निरूपण को 'स्टाइल' शब्द से ही अभिहित किया गया और आधुनिकतम मनोविश्लेषक समीक्षक भी शैली के लिए 'स्टाइल' शब्द का ही व्यवहार करते हैं। यद्यपि कतिपय समीक्षक प्लेटो और अरस्तू के शैली-निरूपण के लिए 'स्टाइल' से भिन्न किसी अन्य शब्द के आविष्कार पर भी बल देते रहे।[1] यूनानी और रोमी आचार्यों में से कतिपय आचार्य 'स्टाइल' का नितांत वस्तुपरक विवेचन करते रहे तो अन्य अनेक वस्तुपरक और व्यक्तिपरक दोनों ही प्रकार का। इस प्रकार पाश्चात्य 'स्टाइल' में वस्तुत और व्यक्तित्त्व का सम्मिश्रण आरम्भ से चला आ रहा है। ज्यों-ज्यों पाश्चात्य समीक्षा में स्वच्छन्दतावाद का अतिरेक होता गया, मनोविश्लेषण ने काव्य के सैद्धान्तिक विवेचन में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया तो स्टाइल-विवेचन में भी व्यक्तितत्व को एकांत प्राधान्य मिला और वस्तुतत्व नितांत गौण पड़ गया। ऐंसी स्थिति में भी 'स्टाइल' शब्द यथावत् बना रहा और प्राचीनकाल से अर्वाचीन काल तक शैली-विवेचन के लिए व्यवहृत होता रहा। उसकी परिभाषा और स्वरूप में अंतर आता गया, परन्तु शब्द प्रयोग में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ। इसके विपरीत भारतीय रीतिवाद में संस्कृत 'रीति' शब्द के समानार्थी वर्त्म, मार्ग, पन्था, वृत्ति आदि अनेक शब्द प्रचलित हुए और इनमें वामन प्रतिपादित 'रीति' के अर्थ से किंचित् भिन्न अर्थों का भी निरूपण किया गया है। फलत: आधुनिक काल में 'स्टाइल' का समानार्थी शब्द 'रीति' अपर्याप्त समझा गया और उसके स्थान पर शैली शब्द का व्यवहार होने लगा है।

आधुनिक हिन्दी और मराठी समीक्षा-शास्त्र में 'शैली' शब्द का पर्याप्त प्रचलन है और वर्तमान पाश्चात्य साहित्य से प्रभावित हिन्दी और मराठी के समृद्ध

---

१. दे० साहित्य मीमांसा पृ० २५०।

साहित्य को ध्यान में रखते हुए 'स्टाइल' का समानार्थी 'शैली' शब्द ही उपयुक्त है, रीति नहीं। पाश्चात्य 'डिक्शन' के लिए 'रीति' शब्द की अपेक्षा पद-रचना या पदसंघटना शब्द-प्रयोग समीचीन होगा। भारतीय रीति न 'डिक्शन' के नितांत समकक्ष है और न 'स्टाइल' के ही। उसका अपना विशिष्ट इतिहास है, अपनी विशिष्ट पृष्ठभूमि है। भारतीय रीति में 'डिक्शन' की पदरचना या बाह्यतत्व का एक ओर समावेश है तो दूसरी ओर 'स्टाइल' के वस्तुतत्व का अधिकांश तथा व्यक्तितत्व का किंचित् स्पर्श है। अतः भारतीय रीति पाश्चात्य 'डिक्शन' और 'स्टाइल' के मध्य की अवस्थिति है अथवा इसे इन दोनों से भिन्न स्वतन्त्र रूप में स्वीकार करना अनुचित न होगा।

सौन्दर्यशास्त्र और रीति-सिद्धान्त

मराठी में संस्कृत साहित्यशास्त्र के रीति सिद्धान्त के कतिपय तत्वों की समीक्षा पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र के तत्वों के आधार पर भी की गई है। इस दिशा में उल्लेखनीय कार्य श्री रा० श्री० जोग तथा श्री बा०सी०मर्ढेकर ने किया है। पश्चिम में काव्य को भी कला के अन्तर्गत स्थान दिया गया है। अतः वहाँ समग्रतः कलागत सौन्दर्य के मूल्यमापन की विशेष चर्चा रही है। एतदर्थ पाश्चात्यों ने विभिन्न सौन्दर्य-घटकों का आविष्कार किया है। श्री जोग ने प्रथम पाश्चात्यों की सौन्दर्य-सम्बद्ध विभिन्न धारणाओं का निरूपण किया है, तदुपरान्त भारतीय रीति, ध्वनि, औचित्य तथा वक्रोक्ति सिद्धान्तों में निहित विशिष्ट तत्वों का उनसे साम्य-वैषम्य दिखाते हुए विस्तृत विवेचन किया है। श्री जोग के पाश्चात्य सौन्दर्य तत्वों और और भारतीय रीति तत्वों के तुलनात्मक अध्ययन को प्रस्तुत करने से स्पष्ट होगा कि रीति-सिद्धान्त का सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से क्या महत्व है।

रीति सौन्दर्य

पाश्चात्य सौन्दर्य-चिन्तकों ने अनेक घटकों के निर्दोष सम्मिलन से वस्तु-सौन्दर्य की निष्पत्ति मानी है। आचार्य वामन के रीति सिद्धान्त में भी अनेक रीति-तत्वों के सम्मिलन की स्पष्ट उद्घोषणा है। जार्डन ने जिस प्रकार वस्तु-सौन्दर्य के भौतिक तत्वों (घटकों) पर बल दिया है उसी प्रकार वामन ने काव्य शरीर के घटकों की विस्तृत चर्चा की है। आदर्श सौन्दर्य की सृष्टि जिस प्रकार संपूर्ण घटकों निर्दोष मिलन से होती है उसी प्रकार आदर्श रीति भी समस्त गुणों के समुच्चय से ही बनती है।[१]

---

१. दे० सौन्दर्य शोध आणि आनंदबोध, पृ० ९४-९९।

वामन की रीति विषयक मान्यता

वामन के मत में काव्य का सौन्दर्य रीति में निहित है। रीति का तात्पर्य है विशेष प्रकार की पद रचना। विशेष भी अनेक हैं। उनके मत में दस हैं, अर्थात् शब्द के दस गुण और अर्थ के दस गुण हैं। इनमें प्रत्येक अलग-अलग रह कर सौन्दर्य का निर्माण नहीं करता, वे सब मिल कर जिस रीति की सृष्टि करते हैं वही काव्य का रहस्य है। रस, ध्वनि, औचित्य और वक्रोक्ति सिद्धान्तों से काव्य-सौन्दर्य की कल्पना करने वाले आचार्यों ने किसी न किसी कारण से इतर तत्वों को भी अपने सिद्धान्त में समाविष्ट कर लिया, परन्तु वे वामन के समान स्पष्ट स्वीकार नहीं करते। वामन नेअनेक घटकों केमिलन से रीति की कल्पना की,परन्तु रीति-घटकों के अनेकत्व को छिपाने का प्रयत्न नहीं किया। रीति का अर्थ विशिष्ट पद रचना, विशिष्ट का अर्थ श्लेष, प्रसाद, समता इत्यादि गुण हैं। समस्त गुण जब एकत्रित हो जाते हैं तब उत्तम रीति, गुणमिलन या वास्तविक सौन्दर्योत्पत्ति होती है। इसे वे वैदर्भी रीति कहते हैं। इन्होंने अन्य एक दो रीतियों का भी उल्लेख किया है, परन्तु वे अपूर्ण हैं। अतः ग्राह्य नहीं हैं, क्योंकि उसमें संपूर्ण गुणों का समावेश नहीं होता। पिछले प्रकरण में निरूपित सौन्दर्य विषयक विचार सरणि को ध्यान में लाया जाय तो यह भली भांति स्पष्ट हो जायगा कि वामन की रीति-कल्पना आधुनिक विचारों से कितनी मिलती-जुलती है। सौन्दर्यविधायक घटकों का सौन्दर्य में निर्दोष (perfect) मिलन आवश्यक है और वामन भी इसी का प्रतिपादन कर रहे हैं। सौन्दर्य का अर्थ सौन्दर्य के घटकों का शत प्रतिशत मिलन है। उसमें किसी प्रकार की कमी हो तो वह सौन्दर्य ही नहीं।[1] सौन्दर्य-सिद्धि में प्राप्त अपयश मात्र न्यूनाधिक कहा जा सकता है। सौन्दर्य में किसी प्रकार की कमी आने पर दस या बीस प्रतिशत अपयश सौन्दर्यसाधक को मिलता है।

वामन ने जब वैदर्भी को ही वास्तविक रीति कहा है तो उसका आशय 'गुण साकल्य' से है और यही सौन्दर्य है।[2]

अलक्झण्डर ने कहा है—There are no degrees of beauty and what are called degrees of beauty are degrees of approximation to beauty. There is a scale of less or greater defeat of beauty. Beauty is Beauty and is itself perfect.—Beauty and other forms of Value, पृ० १७७ सौ० शो० आ० बोध, पृ० ९६

२. सौन्दर्यशोध आणि आनंदबोध, पृ० ९४-९६।

त्रिविध रीति, त्रिविध सौन्दर्य

वामन निरूपित तीन रीतियों में वैदर्भी 'गुण साकल्य' से सुन्दर है, शेष दोनों का गुण साकल्य के अभाव से असुन्दरता की ओर झुकाव है। असुन्दर में भी आकर्षक चित्र (Picturesque) और भव्य (Sublime) इन दो प्रकारों का निरूपण किया जा चुका है। पांचाली का स्वरूप स्पष्ट विदित न होने पर भी उसमें गुण साकल्य के अभाव से संपूर्ण सौन्दर्य नहीं हो सकता। गौडी भव्य के निकट है। इतर घटकों की तुलना में शब्दों का सामर्थ्य और ओज उसमें अधिक होता है। भव्यता में भी आकृति की विशालता से और उसमें प्रच्छन्न सामर्थ्य से मन पर जो प्रभाव पड़ता है वही गौडी रीति से भी पड़ता है। सुन्दर और भव्य नामक व्यावहारिक भाषा में जो सौन्दर्य अथवा आकर्षण के दो भेद किये जाते हैं, उन्हीं के अनुरूप काव्य में भी वैदर्भी और गौडी दो रीतियों के प्रकार हैं।[1]

श्लेष (smoothness)

वामन प्रतिपादित रीतियों का अर्थ सौन्दर्य की परिभाषा में जिस प्रकार कहा जा सकता है, उसी प्रकार रीति के घटक–गुणों–का भी अर्थ सौन्दर्य की परिभाषा में कहा जा सकता है। परन्तु इसमें लक्षणा का आश्रय लेना आवश्यक है। काव्य अथवा वाङमय के शब्द और अर्थ दो भाग हैं, इनमें शब्दों के जो गुण हैं उनका वस्तुसौन्दर्य के घटकों से साधर्म्य है। क्योंकि दोनों का ग्रहण इन्द्रियों के माध्यम से ही होता है। अर्थ के विषय में वे उतने सहज गम्य नहीं हैं। उदाहरणार्थ, श्लेष गुण की व्याख्या वामन ने 'मसृणत्व' शब्द से की है, इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है 'जहाँ अनेक पद एक ही पद जैसे लगते हैं।' उदाहरणार्थ कुमारसंभव की 'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः' पंक्ति दी गई है। इसमें अर्थबोध कदाचित् स्पष्ट न होने पर भी उच्चारण में कहीं भी बाधा नहीं आती, सरलतापूर्वक पढ़ा जाता है। सुन्दरवस्तु के 'मसृणता' (smoothness) गुण का उल्लेख पहले किया जा चुका है। बर्क, गिल्पिन्, प्राइस्, थामसन् आदि ने तथा अन्य अनेकों ने इसे सौन्दर्य का एक घटक कहा है। इसे ही अर्थगुण श्लेष के रूप में लें तो भोज के मतानुसार 'संविधाने सुसूत्रता' रूप-सा कुछ अमूर्त गुण ध्यान में लाना पड़ता है। वामन के मतानुसार उसका अर्थ है 'क्रमिक या सुसंगत रचना' अर्थात् इन दोनों में अधिक अन्तर नहीं है।[2]

---

१. सौन्दर्य शोध आणि आनंदबोध, पृ० ९६।

२. सौन्दर्यशोध आणि आनंद बोध, पृ० ९७।

अन्य गुण और सौन्दर्यघटक

जिस प्रकार एक गुण से वाङमय सौन्दर्य के घटक और वस्तु सौन्दर्य के घटक में साधर्म्य दिखाया गया है, उसी प्रकार इतर गुणों के विषय में भी संभव है। वामन ने उदारता की परिभाषा दी है : 'जिसमें पद मानों नृत्य कर रहे हैं' इससे वामन उसमें गति सौन्दर्य की सूचना दे रहे हैं। जब आ० वामन 'समता' का अर्थ अवैषम्य और स्पष्टीकरण में 'प्रक्रम भंग का अभाव' कहता है तो वह 'symmetry' की कल्पना से अधिक दूर नहीं है। अर्थगुण माधुर्य की व्याख्या 'उक्तिवैचित्र्य' में की गई है तो उसमें विविधता या (variety) की अपेक्षा व्यक्त होती है। अर्थ-गुण ओज की कल्पना में वामन ने 'अर्थ प्रौढ़ि' कह कर उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार से किया है—'एक ही पद में वाक्य का अर्थ बताना अथवा एक पद के अर्थ को पूरे वाक्य में कहना, साभिप्रायता रहना।' इसमें कई व्यक्तियों के मतानुसार सौन्दर्य के लिए आवश्यक गहनता (Intricacy) का निरूपण हुआ है। यह गहनता या (Intricacy) सुन्दर की अपेक्षा चित्र में अधिक होती है। प्रसाद गुण की व्याख्या है—'अर्थ विमलता' अर्थात् 'जितना आवश्यक हो उतना ही ग्रहण किया जाय। इसका पाश्चात्यों को मान्य एक सौन्दर्य गुण (Simplicity) से साधर्म्य है। 'कान्ति' की व्याख्या 'दीप्त रसत्व' दी है। इससे वे भड़कीले रंग में संनिहित आकर्षकता का ही उल्लेख कर रहे हैं। सारांश वामन ने जिन गुणों का निरूपण किया है, वे लक्षणा से अथवा सरल वाच्यार्थ से वस्तु सौन्दर्य के स्वीकृत गुणों से समता रखते हैं।[१]

सौन्दर्य का अर्थ घटकों का विघटन नहीं है

वामन ने प्रत्येक गुण को स्वतंत्र महत्व नहीं दिया। सब गुण मिल कर ही 'रीति' बनती है और वह काव्य की आत्मा है, इससे काव्य-सौन्दर्य की व्याख्या ही होती है। परन्तु इन सब घटकों के मिलन से एक नवीन धर्म का निर्माण होता है, जिसे सौन्दर्य कहा गया है, इस प्रकार का आशय उनके विवेचन में स्पष्ट नहीं होता। एक-एक घटक का पृथक् विघटन करने से अधिक से अधिक चित्रता उत्पन्न होगी, इस से सौन्दर्य निर्मिति ही आवश्यक नहीं है। परन्तु अवयवों से भिन्न एक निराले प्रकार का ही सौन्दर्य होता है इसकी कल्पना ध्वन्यालोककार को थी, वामन ने इसका स्पष्टीकरण नहीं किया। जैसे अनेक द्रव्यों के मिलन से औषधि का स्वाद निराला बन जाता है, वैसे ही अनेक सौन्दर्य घटकों का मिलन भी होगा। फलतः

---

१. सौन्दर्य शोध आणि आनंद बोध, पृ० ९८।

इसका भी अवयवों के विचार के साथ उल्लेख तो कर देना आवश्यक था। परन्तु वामन ने नहीं किया, यही उनके सिद्धान्त में सब से बड़ी कमी है।

इस प्रकार श्री जोग ने वामन के रीति-सिद्धान्त का पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र की कसौटियों के आधार पर मूल्यांकन किया है। वस्तुतः प्रस्तुत रीति-विवेचन नितांत वस्तुपरक है। लेखक ने स्वयं अन्त में वामन के रीति-सिद्धान्त की वस्तु-परकता का स्पष्ट निर्देश किया है। सौन्दर्य-साधक विभिन्न घटकों के सम्मिलन की (गुण-साकल्य की) चरम परिणति तदनुकूल भावना-जागृति में है, अन्तिम साध्य भावना है न कि रीति-घटक। फलतः वामन के रीति-सिद्धान्त की वस्तु-परकता का ही मानो ध्वनि-रसवादी आनन्दवर्धन, अभिनव, मम्मट आदि ने विरोध किया और आत्मतत्व की महत्व-प्रतिष्ठापना की। फिर भी आत्मतत्व को कुछ गौण परन्तु वस्तुतत्व के सर्वांग सुन्दर रूप के महत्व को प्रतिष्ठित कर वामन ने भारतीय काव्यशास्त्र में रीति या शैली के बाह्य आदर्श रूप को हमारे सामने उपस्थित किया है, जिससे उनके योगदान का महत्व असंदिग्ध है।

श्री बा० सी० मर्ढेकर ने शैली का पर्याप्त विस्तार से विवेचन किया है। इन्होंने 'वाङमयीन सौन्दर्य' के मूल्यांकन के नये मानदण्डों के स्थिरीकरण का प्रयत्न किया है। इनके मतानुसार किसी भी कलाकृति का सौन्दर्य उसमें आविष्कृत 'सुसंघटना', 'रूप' या 'फार्म' पर अधिष्ठित होता है, और 'वाङमयीन' कलाकृति की सुसंघटना (फार्म) का यह स्वरूप मूलतः आशय या भावानुभूति में ही उपलब्ध हो सकता है। प्रस्तुत सुसंघटना (फार्म) की खोज न अभि-व्यक्ति-पद्धति में की जा सकती है और न अभिव्यक्ति-पद्धति तथा आशय के पारस्परिक सम्बन्ध में। आशय या अनुभूति में उपलब्ध सुसंघटना (फार्म) आशय या अनुभूति-घटकों की लयबद्ध रचना में दिखाई देती है। प्रस्तुत लयबद्ध रचना का स्वरूप भी तीन प्रकार का होता है—संवाद लय, विरोध लय, और समतोल लय। विवेचन की स्पष्टता के लिए श्री मर्ढेकर के आशय को विस्तार से निरूपित किया जाता है। इनके मत में विचारणीय प्रमुख तीन प्रश्न हैं—

१. क्या अभिव्यक्ति-पद्धति में सुसंघटना (फार्म) की खोज की जा सकती है ?
२. क्या वाङमय में अभिव्यक्त आशय तथा उसकी अभिव्यक्तिपद्धति के पार-स्परिक सम्बन्ध में सुसंघटना (फार्म) का पता लगाया जा सकता है ?
३. क्या वाङमय में अभिव्यक्त आशय अथवा भावानुभूति के आधार पर सुसं-घटना (फार्म) के स्वरूप का निर्धारण किया जा सकता है ?

श्री मर्ढेकर की मान्यताओं के अनुरूप प्रस्तुत प्रश्नों का क्रमशः समाधान इस प्रकार है :

१. केवल अभिव्यक्ति-पद्धति में सुसंघटना (फार्म) की खोज संभव नहीं है, क्योंकि अभिव्यक्ति-पद्धति के जितने अंग-उपांग होते हैं, उनका नाम शैली है; और शैली के गुणधर्मों का सम्बन्ध शैली तक ही सीमित है। वाङमयीन रचना के सौन्दर्य-मूल्यांकन में उनका विशेष उपयोग नहीं है। किसी भी वाङमय-कृति या रचना को केवल शैली के आधार पर 'ललित कृति' नाम देना कठिन है। साथ ही जब हम शैली विशेष के कारण किसी रचना को ललित कृति कह कर उसका महत्व बढ़ाना चाहते हैं, तभी हमारे ध्यान में यह बात आयेगी कि उस रचना में शैली के जो गुण धर्म हैं वे केवल शैली के गुण धर्म न होकर किसी अन्य वस्तु के ही गुणधर्म हैं।

शब्दों का चुनाव, विभिन्न अलंकारों का नियोजन आदि शैली के तत्व हैं। लेखक आशय की अभिव्यक्ति के लिए ही प्रस्तुत साधनों का उपयोग करता है। शैली का मुख्य कार्य है आशय या अनुभव की अभिव्यक्ति में इन्द्रियगोचर विवक्षितता लाना। सामान्यतः अनुभव का स्वरूप अस्पष्ट होता है। अतः अमूर्त्त उलझे हुए, सूक्ष्म बुद्धिगम्य अनुभवों को सुस्पष्ट, यथोचित और सजीव स्वरूप प्रदान करने में ही शैली का उद्देश्य निहित है।

भाषा, अलंकार आदि के अतिरिक्त अभिव्यक्ति-पद्धति या 'निवेदन-पद्धति' के कतिपय अन्य घटक भी हैं। जब लेखक अपनी रचना में प्रयुक्त शब्दों को एक विशिष्ट तालबद्ध रूप में रखेगा तो वह पद्यात्मक कहलायेगी और यदि बिना लय या आघात अथवा ह्रस्व-दीर्घ का विचार किये लिखेगा तो वह गद्यात्मक कहलाती है। कतिपय लेखक अपने आशय की अभिव्यक्ति शब्द और हाव-भाव दोनों पर ध्यान रख कर करते हैं तो कतिपय केवल शब्दों का आधार लेकर ही। इनमें प्रथम प्रकार की रचना नाटक तो दूसरे प्रकार में उपन्यास, काव्य अथवा इतर वाङमय प्रकार की रचना होती है। संक्षेप में कहा जाय तो लेखक भाषा, अलंकार, पद्यमय या गद्यमय रचना इत्यादि अनेक साधनों का आश्रय लेकर अपने आशय को अभिव्यक्त करता है। परन्तु किसी भी रचना की कलात्मकता या सौन्दर्यनिर्धारण के लिए प्रस्तुत सभी प्रकार के अभिव्यक्ति-पद्धति के साधन अनुपयुक्त हैं। दि डिवाइन कामेडी, आथेलो, वार एण्ड पीस, पैराडाइज लास्ट, ओड टु दि नाइटिंगेल, दि पिट एण्ड द पॅण्डुलम आदि सर्वश्रेष्ठ ललित कृतियाँ हैं, परन्तु इनके लालित्य और सौन्दर्य का निर्धारण करते समय महाकाव्य, नाटक, उपन्यास, कविता, कहानी आदि वाङमय प्रकारों का विचार अधिक उपयोगी नहीं जान पड़ता। प्रस्तुत वाङमय प्रकारों का वर्ग बनाना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि जो वर्ग या 'वाङमय-प्रकार' (फार्म्‌स आव्‌ लिटरेचर) हम बनाते हैं, उनके मूल में कोई भी व्यवच्छेदक

तत्थ नहीं है। यह सत्य है कि प्रस्तुत सभी वाङमय के प्रकार हैं, परन्तु उनमें जो भेद है वह केवल अभिव्यक्ति-पद्धति का ही है और इस अभिव्यक्ति-पद्धति का किसी भी वाङमयीन रचना को कलाकृति के रूप में निर्धारित करने में अधिक उपयोग नहीं होता। जिस प्रकार किसी चित्र की कलात्मकता का निर्धारण 'वाटर-कलर' या 'आइलपेन्ट'से करना पागलपन है अथवा किसी शिल्पकृति का मूल्यांकन पत्थर में कोरने, कांक्रीट या काँच में ढाल कर बनाने मात्र से करना नासमझी का लक्षण है ठीक इसी प्रकार लेखक द्वारा अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त महाकाव्य, नाटक, या उपन्यास के साँचे से किसी रचना का मूल्य-मापन करना अप्रगलभता का ही निदर्शक होगा।

२. आशय और अभिव्यक्ति-पद्धति के पारस्परिक सम्बन्ध से सुसंघटना (फार्म) का स्वरूप निर्धारण भी विशेष उपयोगी नहीं होता। प्रस्तुत मत की सप्रमाण पुष्टि करने से पूर्व पाश्चात्य मनीषियों के इससे किंचित् भिन्न विचारों का निरूपण भी उपयोगी होगा।

साध्य–आशय और साधन–शैली के पारस्परिक सम्बन्ध से सुसंघटना (फार्म) का अनुमान लगाने के लिए आगडेन और रिचर्ड्स के ग्रन्थ 'दि फाउन्डेशन्स आव एस्थेटिक्स' के विवेचन की स्मृति आना सहज है। इनके मत का सार है :

१. लेखक अपनी कृति में भाव अभिव्यक्त करता है और पाठक जब उस कृति को पढ़ता है तो उसके मन में भी वे ही भाव अवतीर्ण होते हैं। जब लेखक के मन का भाव और पाठक के मन का भाव दोनों एकरूप हो जाते हैं, तभी कलाकृति सफल बनती है, जिसे ललित वाङमय कहा जा सकता है। संक्षेप में कहें तो लेखक की अनुभूति और पाठक की अनुभूति की एकता का नाम ही ललित कृति है। इसका अभिप्राय हुआ कि वाङमयीन सौन्दर्यांकन में अभिव्यक्ति-पद्धति और अभिव्यक्त आशय में अधिक से अधिक परस्पर सुसंबद्धता आवश्यक है तथा अभिव्यक्ति-पद्धति और आशय में यथासंभव घनिष्ट सम्बन्ध होने पर ही कृति में सौन्दर्य का अवतरण होता है। प्रस्तुत साध्य-साधन पर आधृत मीमांसा अर्थात् 'फन्क्शनेलिजम' (Functionalism) तो काव्यशास्त्र के सौकर्यवाद या औचित्यवाद का ही अवतार है।

वाङमयीन समालोचना में निवेदन या अभिव्यक्ति 'गृहीतकृत्य' होती है, अर्थात् काव्य में जो अभीष्ट अभिव्यक्ति है, उसे अभिव्यक्त समझकर ही हम कृति की आलोचना करते हैं। यदि अभीष्ट आशय की अभिव्यक्ति ही नहीं हुई तो समालोचना किस बात की होगी! फलतः वाङमयीन समालोचना के जो 'गृहीत कृत्य' हैं वे ही वाङमयीन समालोचना के मूल्यमापक नहीं बन सकते। कतिपय उदाहरणों

से आशय को स्पष्ट किया जाता है :

चित्रकला-मीमांसा में चित्रदर्शन या दृश्यानुभूति 'गृहीतकृत्य' है, इसमें चित्र-द्रष्टा व्यक्ति के दोनों नेत्रों की पूर्ण अवस्थिति तथा नेत्रों पर धारित उपनेत्रों के रंग का अवधारण भी आवश्यक होता है। पीलिया रोग-ग्रस्त व्यक्ति को समस्त जग पीला क्यों दिखाई देता है, इसका निर्धारण करने के लिए उसकी नेत्र-परीक्षा का प्रयत्न जितना आवश्यक और स्तुत्य है उतना ही स्तुत्य प्रयत्न अभिव्यक्ति-पद्धति के घटकों के विश्लेषण तथा अभिव्यक्ति-पद्धति के घटक और आशय के पारस्परिक सम्बन्ध की चर्चा का है। पीलिया रोग-ग्रस्त व्यक्ति की नेत्र-परीक्षा से चित्र-सौन्दर्य के निर्धारण में जितनी सहायता मिलेगी उतनी ही सहायता आशय और अभिव्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्ध विश्लेषण से कृति के सौन्दर्य-निर्धारण में मिलेगी।

साध्य-साधन के पारस्परिक सम्बन्ध पर आधृत सुसंघटना की कल्पना प्राणि-शास्त्र में उपयोगी हो अथवा न हो, परन्तु सौन्दर्यशास्त्र और वाङमयीन आलोचना में पूर्ण रूप से अप्रस्तुत है।

३. प्रत्येक वाङमय में अनुभूति या अनुभूतियों का संचय अभिव्यक्त होता है जिसका स्वरूप विशेषतः भावात्मक होता है। वाङमय में अभिव्यक्त आशय के आधार पर सुसंघटना (फार्म) के अन्वेषण का प्रयत्न बहुत प्राचीनकाल से—अरस्तू से ही होता आया है। इनके अनुसार वाङमय के आरंभ, मध्य और अंत के आधार पर अनुभूतियों में व्यक्त सुसंघटना की खोज की जा सकती है। प्रस्तुत सुसंघटना की कल्पना में घटना के अनुक्रम की कल्पना भी अन्तर्निहित है। परन्तु किसी प्रकार के अनुक्रम के आधार पर वाङमय की सुसंघटना का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। अनुक्रम चाहे कृति के पृष्ठों के आधार पर हो, चाहे पठनकाल प्रधान अनुक्रम हो, अथवा चाहे स्थल-कालातीत कल्पनानिष्ठ घटना-अनुक्रम हो। वाङ-मय में इस प्रकार के घटना-अनुक्रम का विशेष महत्व नहीं है। अरस्तू से जो इसका आरम्भ हुआ तो आज तक भी यह वाङमयीन आलोचना की गर्दन को मजबूती से दबोचे हुए है।

वस्तुतः वाङमय कृति संभावित घटनाओं की सीधी माला न होकर भावना-त्मक लयों की केन्द्रपूर्ण आकृति होती है। जिस प्रकार माला के प्रत्येक मणि का ज्ञान हमें होता है उस प्रकार वाङमयीन रचना के आशय का नहीं हो पाता। अपितु हमें भावनात्मक लयों की आकृति की प्रतीति होती है। वाङमयीन रचना एक ही भावना की भी लयबद्ध आकृति हो सकती है, उदाहरणार्थ, भावगीत, निबन्ध अथवा कभी-कभी कहानी में भी एक ही भावना की लयबद्ध आकृति मिलती है और कभी

एक की अपेक्षा अनेक भावनाओं की भी लयबद्ध आकृति उपलब्ध हो सकती है, यथा, उपन्यास, नाटक, महाकाव्य आदि में। प्रस्तुत लयबद्ध आकृति का स्वरूप न तो घटनात्मक होता है, जिसमें संभवनीयता का तर्कशास्त्रीय तत्व मिला हो और न वह सहचरी कल्पनाओं का मानसशास्त्रीय तत्व होता है, उसका स्वरूप तो सौन्दर्यशास्त्र से सम्बन्धित लयतत्वात्मक होता है। इसमें मूलतः मुख्य एक केन्द्रीयभावना होती है, इसका आश्रय लेकर दूसरी सहायक भावनाएँ मूल भावना का कभी अतिक्रमण करती हुई तो कभी समानांतर रूप से चलती रहती हैं। इस प्रकार के भावना-लयों से ही कलाकृति का निर्माण होता है। इन भावनात्मक लयों की संवाद, विरोध और समतोलता रूप नियमानुकूल अभिव्यक्ति में ही वाङमयीन कृति के लालित्य और वास्तविक कलात्मकता का मर्म निहित है। जब हमें रचना में लयबद्ध भावना-आकृति की प्रतीति होती है तब हम उस रचना को लालित्य-पूर्ण रचना समझने लगते हैं।

इस प्रकार वाङमयीन सुसंघटना (फार्म) अभिव्यक्ति-पद्धति तथा अभि-व्यक्ति-पद्धति और आशय के पारस्परिक सम्बन्ध की अपेक्षा आशय या अनुभूति-घटकों की लयबद्ध रचना में ही निहित है। वाङमयीन सुसंघटना का मूलतत्व लयतत्व है, जिसे प्रायः तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है—संवादलय, विरोध-लय और समतोल लय।[1]

श्री मर्ढेकर ने एक अन्य निबन्ध 'वाङमय आणि सौन्दर्यशास्त्र' में उपर्युक्त लयतत्वों के स्वरूप को सोदाहरण समझाया है, जिसका संक्षिप्त निरूपण यहाँ अप्रस्तुत न होगा। तीनों लयतत्वों की परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं :

१. संवाद लय—एक ही समय प्रतीत हो रहे अनुभवों के दो सम्बन्धों में से एक यदि गुण धर्म की दृष्टि से दूसरे से पूर्ण रूप में अथवा बहुतांश में मेल खाता हो तो उस अनुभव में संवादलय की प्रतीति होती है।

२. विरोध लय—एक ही समय प्रतीत हो रहे अनुभवों के दो सम्बन्धों में से एक यदि गुण धर्म की दृष्टि से दूसरे से पूर्ण रूप में अथवा बहुतांश में विरुद्ध हो तो उस अनुभव में विरोधलय की प्रतीति होती है।

३. समतोल लय—एक ही समय प्रतीत हो रहे अनुभव से सम्बन्धित यदि दो गट हों और इन दोनों गटों के सम्बन्धों की संख्या यदि पूर्ण रूप से अथवा बहुतांश में एक समान हो तो उस अनुभव में समतोल लय की प्रतीति होती है।

---

१. सौन्दर्य आणि साहित्य : 'ललित वाङमय कृतीचा घाट' लेख का सारांश, पृ० १२९-१५२।

श्री मर्ढेकर के मतानुसार उपर्युक्त तीनों लयतत्व ही मूलतः सौन्दर्यशास्त्र और साहित्य में पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं।[१] इस प्रकार इन्होंने सौन्दर्य-शास्त्र के तत्वों के आधार पर साहित्य में लय तत्वों की महत्व प्रतिष्ठापना का प्रयत्न किया है और शैली को साहित्य के मूल्यांकन तथा स्वरूप-निर्धारण में महत्व-हीन ठहराया है। यद्यपि शैली तत्व को इन्होंने नितांत गौण स्थान दिया है तथापि लय तत्व की प्रतीति का मूल आधार शब्द और उसका अर्थ ही है, इसका प्रतिषेध नहीं किया जा सकता। संस्कृत काव्यशास्त्र के रस-ध्वनिवादी आचार्यों ने भी संभवतः इसी कारण माधुर्य, ओज तथा प्रसाद को जहाँ शब्दों या वर्णों पर आधृत माना है वहाँ वे उन्हें सहृदय की त्रिविध-द्रुति, दीप्ति तथा व्याप्ति रूप चित्तवृत्तियों का आधार भी प्रदान करते हैं। इस विषय में डा० वाटवे ने काव्य-निर्माण के समय कवि की अनुभूति के अनुरूप माधुर्य, ओज तथा प्रसाद रूप चित्तवृत्तियों की स्थिति का प्रतिपादन करके एक प्रकार से कवि की अनुभूति तथा अभिव्यक्ति प्रक्रिया में सामंजस्य स्थापित किया है।[२] यह भी एक संयोग की ही बात है कि श्री मर्ढेकर अनुभव-सम्बन्धों के संवाद, विरोध तथा समतोल रूप तीन लयात्मक वर्ग बनाते हैं और काव्य की सुसंगठना (फार्म) का आधार इन्हें ही मानते हैं। संस्कृत के आचार्यों ने माधुर्य आदि तीन गुणों के मूल में अनुभूति तत्व के आधार को उतने स्पष्ट रूप में प्रतिपादित नहीं किया है, किन्तु श्री मर्ढेकर प्रतिपादित लयतत्वों का आधार एकांततः अनुभूति के घटक ही हैं।

रीति-सिद्धान्त की शक्ति और व्याप्ति

वस्तुतः काव्य के केवल आत्मतत्व—रस या भाव की एकांत उपासना और शरीर तत्व—भाषा, अलंकार आदि की एकांत उपेक्षा असंगत है। भारतीय रीति-सिद्धान्त में काव्य के शरीरतत्व की अलंकृति पर पर्याप्त बल दिया गया है। आत्म-सौन्दर्य के समान शरीर-सौन्दर्य का भी अपना स्वतन्त्र मूल्य है। आत्म-सौन्दर्य की एकांत उपासना में शरीर-सौन्दर्य उपेक्षित हो जाता है, परिणामतः रसवादी तथा रीतिवादी आचार्यों ने काव्य-शरीर के सौन्दर्य-वर्द्धक उपादानों की पूर्ण मीमांसा की है। हिन्दी तथा मराठी के आधुनिक काव्यशास्त्र-समीक्षकों ने रीति तत्व का समुचित परीक्षण करके काव्य के बहिरंग तत्व का भी पर्याप्त मूल्यांकन किया है।

शरीर-सौन्दर्य की प्रतिष्ठा में भी भारतीय आचार्यों ने—विशेषतः आचार्य

---

१. **सौन्दर्य आणि साहित्य, पृ० १२३।**
२. **रसविमर्श, पृ० ३५९-६३।**

वामन ने पूर्णता या समग्रता पर अधिक बल दिया है। वे केवल अवयवीय सौन्दर्य पर आसक्त नहीं थे। वामन की आदर्श रीति वैदर्भी है, इसमें समग्र गुणों—दस शब्द गुणों, दस अर्थ गुणों—का अन्तर्भाव अनिवार्य है। प्रत्येक कवि या कलाकार के लिए बहिरंग की पूर्णता भी एक आदर्श साध्य है। रीति-सिद्धान्त काव्य के बहिरंग तत्व की आदर्श परिपूर्णता या समग्रता की प्राप्ति के लिए प्रेरित करता है।

आधुनिक पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र के विवेचक इस तथ्य के पूर्णत: समर्थक हैं कि सौन्दर्य की प्रतिष्ठा प्राय: पूर्णत्व में या सम्पूर्ण अवयवों के सामंजस्य में निहित है। आचार्य वामन ने रीति की पूर्णता पर बल दिया है। उनके अनेक रीति तत्वों का सौन्दर्य-साधक तत्वों से पर्याप्त साम्य है।[१]

वामन के रीति-सिद्धान्त में आदर्श काव्य के प्राय: सभी मूल तत्व उपलब्ध हो जाते हैं। डा० नगेन्द्र का एतद्विषयक पुनराख्यान इस तथ्य को प्रमाणित कर देता है। इनके मत में वामन के दस शब्द गुणों तथा दस अर्थ गुणों के विश्लेषण से आधुनिक आलोचना-शास्त्र की शब्दावली में अनेक काव्य-तत्व उपलब्ध होते हैं। वामन-प्रतिपादित रीति-सिद्धान्त इन्हें अपने में अन्तर्हित किये है।[२]

---

१. दे० सौन्दर्यशास्त्र और रीति सिद्धान्त, पृ० ४९१

२. कतिपय काव्य तत्वों की उपलब्धि इस प्रकार से होती है—

(१) वर्णयोजना का चमत्कार—

(क) झंकार (सौकुमार्य तथा श्लेष गुणों में)

(ख) औज्ज्वल्य (कान्ति)

(२) शब्द-गुम्फ का चमत्कार (ओज, प्रसाद, समाधि, समता, अर्थव्यक्ति)

(३) स्फुट शब्द का चमत्कार (माधुर्य, कान्ति)

(४) लय का चमत्कार (उदारता)

आचार्य वामन के दस अर्थ-गुणों का विश्लेषण निम्नलिखित काव्य-तत्वों की ओर निर्देश करता है :

(१) अर्थ-प्रौढि—अर्थात् समास तथा व्यास शैलियों का सफल प्रयोग, साभिप्राय विशेषण प्रयोग आदि (ओज)।

(२) अर्थवैमल्य—अन्यून-अनतिरिक्त शब्दों का प्रयोग, आनुगुणत्व (प्रसाद)।

(३) उक्ति वैचित्र्य (माधुर्य)।

(४) प्रक्रम (समता)।

(५) स्वाभाविकता तथा यथार्थता (अर्थव्यक्ति)।

भारतीय रीति-सिद्धान्त एकांततः कवि-व्यक्तित्व-हीन बहिरंग तत्व की परिपूर्णता का समर्थक नहीं है। संस्कृत के ही अनेक आचार्यों ने कवि-स्वभावानु-रूप रीति-परिवर्तन का समर्थन किया है। हिन्दी-मराठी के काव्यशास्त्रज्ञों ने इस तथ्य का अधिक स्पष्ट पुनराख्यान किया है।

रीति-सिद्धान्त में गुण-तत्व की महत्व प्रतिष्ठा आरम्भ से ही रही है। रस-वादी संस्कृत आचार्यों ने माधुर्य, ओज, प्रसाद का सहृदय की द्रुति, दीप्ति और व्याप्ति रूप चित्तवृत्तियों से सम्बन्ध दर्शाया है। आधुनिक युग में पुनराख्यान द्वारा इन्हीं गुणों का मूलतः कवि-मानस से सम्बन्ध स्थापित किया गया है।[1] इस प्रकार रीति-निर्माण के मूल में गुणों का मूल्यांकन कर कवि की काव्य-निर्माण-कालीन मानसिक प्रक्रियाओं का अध्ययन किया गया है। इससे रीतितत्व की एकांत बहि-रंगता दूर हो गई है और काव्य के अंतरंग से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो गया है।

रीति-सिद्धान्त का 'दोष-दर्शन' काव्य के अंतरंग एवं बहिरंग को पूर्णतः निर्दुष्ट बनाने में सहायता प्रदान करता है। इससे केवल भाषागत दोषों का ही उद्‌घाटन नहीं होता, वरन् भावानुभूति मात्र में व्यत्यय उपस्थित करने वाले संपूर्ण व्याघातों को या औचित्य-विसंगतियों को दूर करने की प्रेरणा मिलती है। भारतीय 'दोष-दर्शन' कवि को एकान्त आत्माभिव्यक्ति में लीन रहने की अपेक्षा बाह्य वातावरण एवं भाषागत स्वरूप पर भी दृष्टिपात करने के लिए उसे प्रेरित करता है। इस तत्व के अनुसार कवि का अंतरंग जब देश, काल, लोक, परिस्थिति आदि के अनुरूप बाह्य आकार पाता है, तभी उसमें पूर्णता आती है। अन्यथा एकांत आत्माभि-व्यक्ति में तल्लीन कवि की कृति में सार्वजनीन तत्व अर्थात् भावों और विचारों की यथावत् प्रेषणीयता के अभाव की संभावना बनी रहेगी। इस दृष्टि से भी

---

(६) अग्राम्यत्व--अभद्र, अमंगल तथा अश्लील शब्दों का त्याग (औदार्य और सौकुमार्य)।

(७) अर्थ-गौरव (समाधि, श्लेष)।

(८) रस (कान्ति)।

इस प्रकार वामन के अनुसार आदर्श काव्य के मूल तत्व हैं :--

शैलीगतः--अर्थ वैमल्य (आनुगुणत्व), उक्ति वैचित्र्य, प्रक्रम, अर्थ-प्रौढि अर्थात् समास-शक्ति, व्यास-शक्ति तथा साभिप्राय विशेषण-प्रयोग।

विषयगतः--अर्थगौरव, रस, परिष्कृति (अग्राम्यत्व) तथा स्वाभाविकता।

हि० काव्यालंकार सूत्र, भूमिका, पृ० १८८।

१. दे० डा० वाटवे का रीति-गुण-विवेचन, पृ० ४८०--४८१।

'दोष-दर्शन' का व्यापक महत्व है।

वामन के रीतिवाद में आधुनिक आलोचनाशास्त्र के प्रमुख तत्वों---रागतत्व, बुद्धितत्व, कल्पना तथा शैली तत्व का भी अन्तर्भाव पुनराख्यान द्वारा उपलब्ध किया जा सकता है। वामन निरूपित 'रस', 'परिष्कृति' (अग्राम्यत्व) तथा 'स्वाभाविकता' में रागतत्व का, 'अर्थगौरव' में बुद्धितत्व का, 'उक्तिवैचित्र्य' तथा 'साभिप्राय विशेषण' में कल्पना तत्व का और 'अर्थवैमल्य', 'समासगुण तथा प्रक्रम' में शैली तत्व का मूल निहित है।[1]

इस प्रकार भारतीय रीति-सिद्धान्त प्रधान रूप से काव्य के बहिरंग की सर्वांगीण पूर्णता का प्रतिपादक है। आनुषंगिक रूप से इसमें काव्य के अंतरंग तत्वों का भी अन्तर्भाव हो गया है। वस्तुतः बहिरंग-साधना का प्रेरक तत्व और अंतिम साध्य काव्य का अंतरंग ही है। रीति-सिद्धान्त इन दोनों के घनिष्ठ सम्बन्ध का ही प्रतिपादन करता है। हिन्दी तथा मराठी के आधुनिक काव्यशास्त्र में रीति के इसी आदर्श स्वरूप की प्रतिष्ठापना आवश्यक है।

---

१. डा० नगेन्द्र : हिन्दी काव्यालंकार सूत्र भूमिका, पृ० १८९।

चतुर्थ अध्याय

ध्वनि-सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन
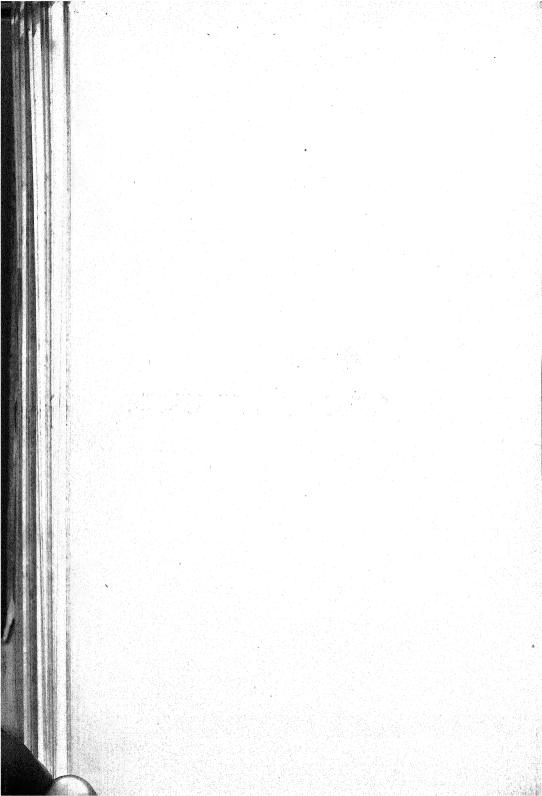
ध्वनि-सिद्धान्त की पूर्वपीठिका

साहित्य का अधिष्ठान भाषा है और भाषा का मूलभूत उपकरण है––शब्द। ध्वनितत्व का सम्बन्ध इसी शब्द की एक विशिष्ट शक्ति व्यंजना से है। भारतीय दार्शनिकों ने शब्दों की नित्यता-अनित्यता पर गंभीर चिन्तन किया है। साहित्य की भाषा के मूलभूत तत्व शब्द का सामान्य स्वरूप यही है कि इसमें 'भावबोधन' और 'अर्थवहन' की पूर्ण क्षमता होती है। साहित्य में प्रयुक्त शब्द निरर्थक नहीं होता। अतः शब्दार्थ की प्रतीति की प्रक्रिया को जानने में संस्कृत के वैयाकरणों, दार्शनिकों तथा आलंकारिकों ने पर्याप्त सूक्ष्म गवेषणाएँ कीं और अभिधा, लक्षणा, व्यंजना तथा तात्पर्य नामक शब्द-शक्तियों का अनुसंधान किया। संस्कृत के सभी आचार्य इन चारों शब्द-शक्तियों को समान रूप से मान्यता नहीं देते। मीमांसक केवल अभिधा और लक्षणा की ही स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करते हैं तो भाट्टमीमांसक इन दोनों से भिन्न 'तात्पर्य' नामक शब्द-शक्ति को मानते हैं। प्राचीन वैयाकरण 'व्यंजना' को स्वतंत्र शब्द-शक्ति के रूप में स्वीकार नहीं करते किन्तु 'नव्य वैयाकरण' व्यंजना को पृथक् शब्द-शक्ति मानने पर बल देते हैं। काव्यशास्त्र के आरंभिक आचार्यों में भरत, भामह, दण्डी, वामन आदि ने शब्द-शक्तियों का स्पष्ट और स्वतंत्र विवेचन नहीं किया है। किन्तु इनकी रचनाओं में 'अभिधा' और 'लक्षणा' इन दो शब्द-शक्तियों की स्थिति के अप्रत्यक्ष संकेत मिल जाते हैं।[1]

शब्द-शक्तियों का स्वरूप :

शब्द-शक्तियों के स्वरूप-निर्धारण में अनेक मीमांसक, वैयाकरण और आलंकारिक आचार्यों ने योगदान किया है। संक्षेप में इनका स्वरूप इस प्रकार है : जिससे शब्द के संकेतिक अर्थ की प्रतीति होती है, वह अभिधा शक्ति है और इस शक्ति

---

१. दे० ध्वनि संप्रदाय और उसके सिद्धान्त, (डा० भोलाशंकर व्यास) पृ० ३६१-३७३।

से प्राप्त शब्द का जो अर्थ है, उसे वाच्यार्थ अभिधार्थ या मुख्यार्थ कहते हैं। प्रस्तुत वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति कराने वाली शब्द-शक्ति का नाम लक्षणा है। जहाँ शब्द के वाच्यार्थ को स्वीकार करना कठिन हो जाता है, वहीं श्रोता को लक्ष्य अर्थ का आश्रय लेना पड़ता है। लक्ष्यार्थ की प्रतीति के प्रमुख तीन तत्व हैं—वाच्यार्थ का बाध, वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध तथा रूढ़ि या प्रयोजन में से किसी-एक की स्थिति। वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ की प्रतीति कराने के उपरान्त भी इनसे भिन्न एक विशिष्ट अर्थ व्यक्त करने की शब्द अथवा अर्थ की जो सामर्थ्य है, उसे व्यंजना शक्ति कहते हैं। इससे प्राप्त अर्थ को व्यंग्यार्थ, प्रतीयमान अर्थ या ध्वनि कहा जाता है। व्यंग्यार्थ की प्रतीति सीधे वाच्यार्थ के उपरान्त भी होती है और लक्ष्यार्थ के उपरान्त भी। उदाहरणार्थ, 'सूर्य अस्त हो गया'। इस वाक्य के वाच्यार्थ से पढ़नेवाले विद्यार्थियों, चरवाहों तथा खिलाड़ियों को अपने-अपने कार्य से सम्बद्ध भिन्न-भिन्न अर्थों की व्यंजना होती है। 'गंगा पर आश्रम है'। इस वाक्य में प्रथम लक्ष्यार्थ––'गंगातट' की प्रतीति होती है, तदुपरान्त लक्ष्यार्थ के आधार पर आश्रम की शीतलता, पवित्रता आदि व्यंग्यार्थ या ध्वनि की प्रतीति होती है।[1] इन तीनों से भिन्न भी एक और शक्ति है, उसे तात्पर्य वृत्ति कहते हैं। क्योंकि अभिधा, लक्षणा और व्यंजना व्यस्त पद की अर्थप्रतीति कराती हैं, वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य का सम्बन्ध प्रायः एक-एक विशिष्ट शब्द से रहता है। किन्तु जब वाक्यगत भिन्न-भिन्न शब्दों के अर्थों की एक दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया होती है और समस्त वाक्य से जो एक अभिनव अर्थ (विशेष वपुः) प्रतीत होता है, उसे ही तात्पर्यार्थ या वाक्यार्थ कहते हैं।[2]

ध्वनि-सिद्धान्त अपने व्यापक रूप में इन चारों शक्तियों को अपने में अन्तर्हित किये हुए है। ध्वनितत्व के अभिधामूलाध्वनि तथा लक्षणामूलाध्वनि ये दो भेद इसके स्पष्ट प्रमाण हैं। ध्वनिवादी आचार्यों ने ध्वनि को ही सर्वाधिक महत्व प्रदान किया और इसी में अन्य तत्वों का अन्तर्भाव करते हुए ध्वनि को काव्य का आत्म-तत्व उद्घोषित किया है। यद्यपि आनन्दवर्धन को ध्वनि-सिद्धान्त का प्रतिष्ठापक माना जाता है, किन्तु उन्होंने स्वयं अपने पूर्ववर्ती विद्वानों को ध्वनि के समर्थक ही नहीं, वरन् ध्वनि को काव्य का आत्मतत्व मानने वालों के रूप में स्मरण किया है।[3] साथ ही यह भी सत्य है कि आनन्दवर्धन से पूर्व ही ध्वनितत्व का विरोध भी

१. काव्य प्रकाश (हरिमंगल) द्वि० सं० पृ० ३४।
२. वही, पृ० १०।
३. काव्यस्मात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः, ध्वन्यालोक, प्र० उ० का० १।

आरंभ हो चुका था। इसका प्रमाण इनके ध्वन्यालोक से ही मिल जाता है। आनंद-वर्धन ने अपने समकालीन तथा पूर्ववर्ती ध्वनि-विरोधी आचार्यों के सामान्यतः तीन वर्ग बनाये हैं : १. अभाववादी, २. भक्तिवादी तथा ३. अनिवर्चनीयतावादी। इन तीनों प्रकार के ध्वनि-विरोधियों के मतों का इन्होंने सयुक्तिक प्रत्याख्यान किया है। अभाववादियों ने ध्वनि तत्व के विरोध में प्रबल तर्क दिया था : शब्द स्वयमेव संकेतित अर्थ का प्रतिपादक है, अतः वाच्यार्थ में ही व्यंजना या ध्वनि का अन्तर्भाव हो जाता है। आनन्दवर्धन ने इसका सप्रमाण उत्तर दिया कि ध्वनि का नामकरण पहले भले ही न हुआ हो, परन्तु 'पर्यायोक्त' आदि प्राचीन अलंकारों में व्यंग्य-अर्थ का अस्तित्व असंदिग्ध रूप से है। इसके अतिरिक्त रस तत्व की स्वीकृति काव्य में व्यंग्यार्थ की स्वीकृति के लिए बाध्य करती है, क्योंकि रस सदैव व्यंग्य होता है, अभिधेय या वाच्य नहीं होता। अतः व्यंग्यार्थ का सर्वथा अभाव मानना असंगत है।[1]

भक्तिवादी आचार्यों ने व्यंजना या ध्वनि का लक्षणा में ही अन्तर्भाव मान कर ध्वनि के स्वतंत्र पृथक् अस्तित्व का प्रतिषेध किया था। आनन्दवर्धन के मत में संपूर्ण ध्वनि-प्रपंच का अन्तर्भाव न अभिधा में संभव है और न लक्षणा में। 'अविवक्षित वाच्य ध्वनि' अभिधा पर आश्रित नहीं है, वरन् अभिधार्थ के बाध होने के उपरान्त जो लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है, उस पर आधृत है। दूसरी ओर 'विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि' में तथा ध्वनि के अन्य अनेक भेदों में लक्षणा की स्थिति नहीं होती। अतः अभिधा और लक्षणा इन दोनों से भिन्न ध्वनि तत्व का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार किया गया है।[2]

ध्वनि-परिभाषा को अनिर्वचनीय या असंभाव्य मानने वाले तीसरे प्रकार के ध्वनि-विरोधी आचार्यों के आक्षेपों का समाधान आनन्दवर्धन ने स्वयं ध्वनि-सिद्धान्त की व्यापक प्रतिष्ठापना द्वारा प्रस्तुत किया है। संक्षेप में ध्वनि-सिद्धान्त की प्रतिष्ठापना में प्रमुख रूप से निम्नलिखित कार्य किये गये :

१. सर्वप्रथम ध्वनि-विरोधियों की शंकाओं तथा उनके आक्षेपों का सयुक्तिक व्यापक समाधान प्रस्तुत किया गया और ध्वनि की सामान्य तथा विशेष परिभाषाएँ दी गईं।
२. अभिधा, लक्षणा, तथा तात्पर्य इन व्यंजना-इतर शक्तियों का स्वरूप-निर्देश

---

१. हि० ध्वन्यालोक प्र० उ० का० १३, १४।
२. ध्वन्यालोक, प्र० उ० का० १८।

करते हुए ध्वनि तत्व का इनसे पृथक् स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध किया गया।

३. रस, वस्तु तथा अलंकार इन तीन काव्यांगों का स्थूल विभाग बना कर इन्हें ध्वनितत्व का ही अंग सिद्ध किया गया। इस प्रकार रस-ध्वनि, वस्तुध्वनि और अलंकार-ध्वनि की व्यापक ध्वनि-सिद्धान्त में ही व्यवस्था हो गई।

४. ध्वनि तत्व की पद-विभक्ति, क्रिया विभक्ति, वचन, सम्बन्ध, कारक, कृत्-प्रत्यय, तद्धित प्रत्यय, समास, उपसर्ग, आदि से लेकर वर्ण, पद, वाक्य, मुक्तक, पद्य और महाकाव्य तक व्याप्ति प्रमाणित की गई।

५. काव्य के उत्तम, मध्यम और अधम तीन प्रकार निर्धारित किये गये और ध्वनि या व्यंजनापूर्ण काव्य को उत्तम, गुणीभूत व्यंग्य को मध्यम और ध्वनि-हीन को अधम या चित्रकाव्य निर्धारित किया गया।

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना में सर्वतोमुखी प्रयत्न किया, परन्तु इनके उपरान्त भी ध्वनि-विरोधियों की संख्या कम नहीं हुई। मीमांसक, नैयायिक तथा वैयाकरण ही नहीं, वरन् अनेक आलंकारिक आचार्यों ने भी ध्वनि-विरोध में भाग लिया है। अलंकार सर्वस्व के टीकाकार जयरथ ने ध्वनि-विरोधी बारह मतों का स्पष्ट उल्लेख किया है।[१] इनमें अभिधावादी, लक्षणा-वादी, अनुमानवादी, अनिर्वचनीयतावादी आदि के अतिरिक्त भट्ट लोल्लट तथा भट्ट नायक के अनुयायियों एवं कतिपय आलंकारिकों के मतों का भी निरूपण मिलता है। इन ध्वनि-विरोधी मान्यताओं का आनन्दवर्धन-परवर्ती आचार्यों ने सयुक्तिक प्रत्याख्यान करने का प्रयत्न किया है। ध्वनितत्व के समर्थकों में अभिनव-गुप्त, मम्मट, विश्वनाथ और जगन्नाथ जैसे मेधावी आचार्य हुए हैं तो ध्वनितत्व के विरोधियों में या ध्वनि का अन्य तत्वों में ही अन्तर्भाव माननेवालों में भट्टनायक, धनंजय, धनिक, प्रतिहारेन्दुराज, कुंतक तथा महिम भट्ट जैसे तार्किक आचार्य हुए हैं। परन्तु इन दोनों परस्पर विरोधी पक्षों ने रसवाद का प्रायः समान रूप से आधार ग्रहण किया है, परिणामतः आधुनिक हिन्दी-मराठी के काव्यशास्त्र में ध्वनितत्व का अध्ययन प्रायः रस की सापेक्षता में ही हुआ है।

हिन्दी में ध्वनि-सिद्धान्त का अध्ययन

हिन्दी में रस-सिद्धान्त की तुलना में ध्वनि-सिद्धान्त का अधिक व्याख्यान-विवेचन नहीं हो सका है। इसके अनेक कारण हो सकते हैं। आचार्य आनन्दवर्धन ने 'ध्वनि' तत्व की प्रतिष्ठापना करके ध्वनि को काव्य का आतमतत्व ठहराया

---

२. दे० अलंकार सर्वस्व विमर्शिनी, पृ० १०-११।

१. लोचन, पृ० २७ (निर्णयसागर)

है। इन्होंने रस-ध्वनि, वस्तुध्वनि और अलंकार-ध्वनि का एक प्रकार से पार्थक्य प्रतिपादन किया है। आनन्दवर्धन के पूर्ववर्ती, समसामयिकों एवं परवर्तियों ने ध्वनि-तत्व का प्रत्याख्यान किया है। परन्तु अभिनव गुप्त ने अभिनव भारती में नाटच के रस तत्व का पर्याप्त व्यापक मूल्यांकन किया है। अतः रसवाद में इनकी पूर्ण आस्था थी। 'लोचन' में अपनी विद्वत्ता से इन्होंने वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि का पर्यवसान 'रस' में ही कर दिया है।' आनन्दवर्धन 'ध्वनि' को काव्य की आत्मा का स्थान देते हैं तो अभिनव गुप्त 'ध्वनि' के साथ रस का सामंजस्य मान कर 'रस' को आत्म तत्व उद्घोषित करते हैं। दूसरी ओर अधिकांश ध्वनि-विरोधी आचार्य 'रस' तत्व को ही महत्वपूर्ण स्वीकार करते हैं। उदाहरणार्थ, भट्टनायक, धनिक, धनंजय, महिमभट्ट आदि ने ध्वनि का विरोध किया है, किन्तु रस को एकांत महत्व दिया है। परिणामतः ध्वनितत्व के समर्थक आचार्यों—अभिनव, मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि ने 'ध्वनि'-विरोधियों के आक्षेपों का समाधान प्रस्तुत करते समय रसाभिव्यक्ति को दृष्टिगत रखकर ही ध्वनि का समर्थन किया है। इससे उत्तरध्वनिकाल में 'ध्वनि तत्व' का स्वरूप एक प्रकार से रस तत्व में ही अन्तर्भूत हो गया है। हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों ने विशेषतः संस्कृत की उत्तर ध्वनिकालीन परंपरा ग्रहण की है, फलतः 'रस' एवं अलंकार-निरूपक ग्रन्थों का रीतिकाल में अपेक्षाकृत अधिक प्रणयन हुआ है। हिन्दी के आधुनिक काल में भी काव्यशास्त्र-विवेचन की दृष्टि से रस तथा अलंकार तत्व को विशेष स्थान मिला और ध्वनितत्व का पृथक् स्वतंत्र अध्ययन उपेक्षित-सा रहा।

हिन्दी के आरम्भिक परंपरानुयायी काव्यशास्त्रज्ञों ने रस तथा अलंकार-तत्व का निरूपण करते हुए भी काव्य-वर्गीकरण में ध्वनि तत्व को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। विशेषतः ध्वनि-काव्य को ही 'उत्तम काव्य' की कोटि में इन्होंने मान्यता दी है। जगन्नाथ प्रसाद भानु के काव्य प्रभाकर, सीताराम शास्त्री के साहित्य-सिद्धान्त, बिहारीलाल भट्ट के साहित्यसागर, भगवानदीन के व्यंग्यार्थमंजूषा, मिश्रबन्धुओं के साहित्यपारिजात आदि ग्रन्थों में व्यंजना और ध्वनि का परंपरा-भुक्त निरूपण हुआ है। प्रायः सभी ने व्यंग्य या ध्वनि-पूर्ण काव्य को ही उत्तम काव्य माना है।

प्रायः सभी काव्यशास्त्रज्ञ शब्द-शक्तियों—अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना का संस्कृत परंपरानुरूप व्याख्यान करते हैं। उदाहरणों में कतिपय अनूदित, कतिपय स्वरचित हैं तो कतिपय रीतिकालीन आचार्यों की रचनाओं से उद्धृत हैं। जगन्नाथप्रसाद भानु तथा भगवानदीन ने शब्द-शक्ति-विवेचन का प्रत्यक्ष आधार रीतिकालीन आचार्य दास की रचना से ग्रहण किया है। मिश्रबन्धुओं ने 'पदार्थ निर्णय' के अन्तर्गत

शब्द-शक्तियों का निरूपण किया है। संस्कृत के उत्तरध्वनि-कालीन संस्कृत आचार्यों के अतिरिक्त केशव, देव, दास, श्रीपति आदि रीतिकालीन आचार्यों के विवेचन से भी सहायता ली गई है। विशेषतः उदाहरणों को रीतिकालीन आचार्यों की रचनाओं से ही प्रस्तुत किया गया है। जगन्नाथ प्रसाद भानु तथा मिश्रबन्धुओं ने 'ध्वनि' या व्यंग्य को महत्वपूर्ण माना है, परन्तु दोनों ही लेखक ध्वनि-हीन किन्तु अलंकारयुक्त काव्य को 'अधम' काव्य मानने के लिए उद्यत नहीं है। फलतः जगन्नाथ प्रसाद भानु ने ध्वनि-हीन, किन्तु अलंकारयुक्त काव्य को साधारण काव्य की संज्ञा दी है और मिश्रबन्धुओं का भी इसे अधम काव्य कहने को 'जी नहीं चाहता।'[१]

शब्दशक्ति-विवेचन तथा ध्वनि की भेदोपभेद पूर्वक सांगोपांग विवेचना की दृष्टि से परंपरानुयी लेखकों में श्री कन्हैयालाल पोद्दार तथा श्री रामदहिन मिश्र का कार्य विशेष उल्लेखनीय है। इन दोनों ने रीतिकालीन आचार्यों की अपेक्षा संस्कृत के आनंदवर्धन, अभिनव, मम्मट, विश्वनाथ आदि की रचनाओं का ही विशेष आधार ग्रहण किया है। संस्कृत के आचार्यों में भी अभिनव और मम्मट का ही इन दोनों लेखकों ने विशेष आश्रय लिया है। श्री कन्हैयालाल पोद्दार ने ध्वनि के भेद-उपभेदों का सोदाहरण निरूपण किया है। साथ ही ध्वनि-विरोधी आचार्यों की धारणाओं तथा ध्वनि-समर्थकों के मतों का भी संक्षिप्त विवेचन किया है।[२] हिन्दी में संस्कृत साहित्यशास्त्र के ध्वनि-सिद्धान्त की सर्वांगीण अवतारणा की दृष्टि से श्री कन्हैयालाल पोद्दार का परिश्रम विशेष प्रशंसनीय है।

श्री रामदहिन मिश्र ने भी संस्कृत साहित्यशास्त्र की ध्वनि-सम्पत्ति से ही हिन्दी-काव्यशास्त्र के भंडार को भरने का प्रयत्न किया है, किन्तु कन्हैयालाल पोद्दार से इनकी एक पृथक् विशेषता है। इन्होंने संस्कृत के उदाहरणों का हिन्दी में भाषान्तर करने अथवा रीतिकालीन कवि-आचार्यों के उदाहरणों को ही एकांततः उद्धृत करने की अपेक्षा आधुनिक हिन्दी-कवियों की रचनाओं का भी विशेष आधार ग्रहण किया है। इससे संस्कृत के ध्वनि तत्व की आधुनिक काव्य के मूल्यांकन में भी उपादेयता प्रमाणित हो जाती है। इन्होंने अभिधा, लक्षणा, व्यंजना तथा ध्वनि का विस्तृत विवेचन किया है। अभिधा शक्ति के विवेचन में इन्होंने परंपरा-भिन्न नवीन दिशाओं का भी संकेत दिया है।[३] अभिधा की 'सार्वभौमिकता' के

---

१. भानु : काव्यप्रभाकर, पृ० ६६४, मिश्रबंधु : साहित्यपारिजात, पृ० ४६।
२. दे० संस्कृत साहित्य का इतिहास, 'ध्वनिसंप्रदाय' तथा रसमंजरीः तृतीय और चतुर्थ स्तबक।
३. काव्यालोक, भूमिका, पृ० ५१, काव्यालोक, पृ० १९।

प्रतिपादन में इन्होंने संस्कृत आचार्यों के अतिरिक्त हिन्दी के देव तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अभिमत का भी उल्लेख किया है।[1] अभिधा शक्ति को भली प्रकार न समझने के कारण अनेक कवि-लेखक शब्दों तथा अर्थों का 'दुरुपयोग' करते हैं। मिश्र जी ने इस तथ्य को सोदाहरण स्पष्ट किया है।[2]

अभिधा के दुरुपयोग के समान ही आधुनिक कतिपय काव्यों में लक्षणा या लाक्षणिक प्रयोगों का अतिचार भी हो गया है। श्री रामदहिन मिश्र ने संस्कृत-साहित्यशास्त्रगत लक्षणा के स्वरूप तथा उसके भेदोपभेदों का स्पष्टीकरण करते हुए इस तथ्य पर विशेष बल दिया है कि जिन लाक्षणिक प्रयोगों का अभिधा या वाच्यार्थ से सम्बन्ध बैठना असंभव है, उन्हें काव्य-क्षेत्र में अनुपादेय समझना चाहिए। पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव से इस प्रकार के दुरूह एवं असंबद्ध लाक्षणिक प्रयोग हिन्दी में चल पड़े हैं, किन्तु इस प्रकार के प्रयोगों में वाच्यार्थ या अभिधार्थ पर ध्यान रखना अपेक्षित है।[3] इनके मत में 'सुंदर सुंदर भावमूलक लक्षणा के प्रयोग से भाषा की रंगीनी और अमीरी बढ़ती है तथा साहित्य वैभवशाली होता है।'[4] लक्षणा के समान ही व्यंजना और ध्वनि का इन्होंने पृथक्-पृथक् विस्तृत विवेचन किया है। ध्वनि के अन्तर्गत ही नव रसों, रसाभास, भाव तथा भावाभास की भी सोदाहरण मीमांसा की गई है। काव्य का आत्मपद पाने में ध्वनि तथा रस के तथाकथित द्वन्द्व को इन्होंने अवास्तविक माना है, क्योंकि 'रस की प्रतीति तो ध्वनि रूप में ही होती है'। अतः रसध्वनि भी ध्वनि ही है। इस प्रकार इनके मत में ध्वनि को काव्य की आत्मा मानने में 'कोई विचिकित्सा' नहीं होनी चाहिए।[5] इन्होंने आधुनिक हिन्दी लेखकों के ध्वनि-विरोधी विचारों का संस्कृत आचार्यों की धारणाओं का आधार लेकर प्रत्याख्यान किया है।[6] शब्द शक्तियों तथा ध्वनि-तत्व की मीमांसा करने वाले परंपरानुयायियों में श्री रामदहिन मिश्र का अध्ययन अधिक व्यापक है। इन्होंने इस विषय में पाश्चात्य मनीषियों की धारणाओं का उल्लेख करके अपने दृष्टिकोण को व्यापक बनाने का भी प्रयत्न किया है। परन्तु पाश्चात्यों के मत नितांत संक्षिप्त और सूचनात्मक हैं।[7]

---

१. काव्यालोक, पृ० ३९।
२. वही, पृ० ५१-५७।
३. काव्यालोक, पृ० १२१-२९।
४. वही, पृ० १२९।
५. वही, पृ० २०३।
६. वही, पृ० २३३-४०।
७. वही, पृ० २३८।

ध्वनि तत्व के पुनराख्याता :

अधिकांश पुनराख्याताओं ने संस्कृत के रस-ध्वनिवादी आचार्यों के दृष्टि-कोण पर ही समर्थनात्मक चिन्तन किया है। रस-तत्व की भाँति ध्वनितत्व के विषय में नवीन दिशाओं का व्यापक निर्देशन नहीं हो सका है। फिर भी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ध्वनि का व्यंग्यार्थ के विषय में रस-ध्वनिवादी आचार्यों की परंपरा से भिन्न स्वतंत्र रूप में चिन्तन का प्रयत्न किया है। सामान्यतः रस-ध्वनिवादी आचार्यों ने वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ में से व्यंग्यार्थ या ध्वनि को महत्वपूर्ण मान कर इसे ही काव्य का आत्मतत्व उद्घोषित किया है। इस मान्यता में निहित अभिधार्थ या वाच्यार्थ की उपेक्षा और व्यंग्यार्थ की एकांत महत्व-प्रतिष्ठा संस्कृत के ही अनेक आचार्यों को अनुपयुक्त प्रतीत हुई। परिणामतः इसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप अभिधावादी, लक्षणावादी तथा अनुमानवादी मत संस्कृत साहित्य-शास्त्र में ही प्रचलित हुए।[1] आचार्य शुक्ल के अभिमत में भी एकांत व्यंजनावादी दृष्टि-कोण की प्रतिक्रिया लक्षित होती है। इन्होंने व्यंजना या ध्वन्यर्थ की अपेक्षा अभिधार्थ या वाच्यार्थ को काव्यत्व के लिए अधिक महत्वपूर्ण माना है। इसी में काव्य-सौन्दर्य, रमणीयता या चमत्कार की मूलभूत स्थिति इन्होंने स्वीकार की है।'[2] शुक्ल जी के प्रस्तुत अभिधावादी दृष्टिकोण की समीक्षा हिन्दी में व्यापक रूप में हुई है। अतः इस मत का विस्तृत निरूपण-समीक्षण आगे किया जाएगा।

समग्र रूप में शुक्ल जी के व्यंजना विषयक विचारों से तीन प्रमुख निष्कर्ष निकलते हैं :

१. वस्तुव्यंजना और भाव-व्यंजना दो पृथक्-पृथक् वृत्तियाँ हैं। वस्तुव्यंजना किसी 'तथ्य या वृत्त का बोध' कराती है, भाव-व्यंजना भाव का संचार करती है, उसकी अनुभूति उत्पन्न करती है। बोध या ज्ञान कराना एक बात है और कोई भाव जगाना दूसरी बात। दोनों भिन्न कोटि की क्रियाएँ हैं।

संस्कृत आचार्यों ने अभिधामूला व्यंजना के संलक्ष्य क्रम और असंलक्ष्यक्रम दो भेद माने हैं, प्रथम भेद वस्तुव्यंजना रूप है तो दूसरा भावव्यंजना रूप। शुक्ल जी के अनुसार इन दोनों में वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ पर पहुँचने के क्रम के लक्षित या अलक्षित होने के आधार पर भेद करना अपर्याप्त है। क्योंकि भाव-व्यंजना में रति, क्रोध आदि भावों का अनुभव करना एक अर्थ से दूसरे अर्थ पर जाना नहीं

---

१. ध्वनि-सिद्धान्त की पूर्व पीठिका, पृ० ५०८

२. चिन्तामणि, पृ० १८३।

है, अतः किसी भाव की अनुभूति को व्यंग्यार्थ कहना बहुत उपयुक्त नहीं है।[1]

२. रसात्मक अनुभूति व्यंग्यार्थ या तथ्य रूप में नहीं होती। भाव का बोध कराना और किसी वस्तु का बोध कराना एक ही बात है, परन्तु रसात्मक अनुभव करना एक पृथक् बात है। इस बात का ज्ञान कराना कि अमुक क्रोध या प्रेम कर रहा है, स्वयं क्रोध या रति का रसात्मक अनुभव करना नहीं है।[2]

३. वस्तुव्यंजना अनुमान-प्रक्रिया से सिद्ध होती है। इस सम्बन्ध में महिमभट्ट की अनुमिति-प्रक्रिया उपयुक्त प्रतीत होती है, क्योंकि 'व्यंग्य वस्तु या तथ्य तक हम वास्तव में अनुमान द्वारा ही पहुँचते हैं।[3]

इस प्रकार आचार्य शुक्ल ने प्राचीन आचार्यों के संलक्ष्यक्रम और असंलक्ष्य-क्रम के वर्गीकरण को अस्वीकार करके वस्तु व्यंजना और भावव्यंजना के विषय में स्वतंत्र अभिमत व्यक्त किये हैं। 'ध्वनि' तत्व की अपेक्षा वे 'रस' तत्व पर विशेष बल देते हैं और व्यंजना का अंतिम साध्य रसानुभूति को उत्पन्न करना निर्धारित करते हैं।[4] आचार्य शुक्ल ने वस्तुव्यंजना में महिमभट्ट की 'अनुमिति' प्रक्रिया को मान्यता दी है, परन्तु रस-निष्पत्ति में इन्होंने अनुमिति-प्रक्रिया की अपेक्षा व्यंजना-प्रक्रिया को ही पूर्णतः स्वीकार किया है। इनके मत में 'यदि व्यंजना किसी तथ्य की व्यंजना करती है तो यही कि व्यंजित भाव की श्रोता या दर्शक के द्वारा रस रूप में अनुभूति होती है। इस प्रकार रस व्यंजना के द्वारा उत्पन्न होता है।'[5]

डा० श्यामसुंदरदास ने साहित्यालोचन को दृष्टि में रख कर समालोचक के लिए शब्द शक्तियों को भली प्रकार समझने तथा साहित्य की आत्मा——ध्वनि या लावण्य को परखने की आवश्यकता पर विशेष बल दिया है। कोष या व्याकरण की सहायता से शब्दों का सच्चा बोध नहीं होता। अतः आलोचक के लिए यह बड़े महत्व का कार्य है कि वह शब्दों की सच्ची (आलंकारिक तथा औपचारिक अर्थों आदि वाली) शक्ति को स्वयं समझे और समझावे।'[6] प्रायः आलोचक किसी काव्य के अंग-प्रत्यंगों की आलोचना में इतने लीन हो जाते हैं कि वे काव्य के समग्र-सौन्दर्य का मूल्यांकन नहीं कर पाते। प्रत्येक काव्य में एक ऐसा 'लावण्य' (प्रतीय-

---

१. चिन्तामणि, द्वि० भा० पृ० १६३।
२. वही, पृ० १६३।
३. वही, पृ० १६४।
४. वही, पृ० ९७-९८।
५. रसमीमांसा, पृ० ४०९।
६. साहित्यालोचन, पृ० २९२।

मान अर्थ या ध्वनि) होता है जो किसी एक अंग में नहीं होता। यही लावण्य समग्र काव्य में आत्मतत्व बन कर छाया रहता है।'[१] अतः 'पूरे काव्य का क्या सौन्दर्य है, इस पर ध्यान रख कर तब अंग-प्रत्यंग की परीक्षा करनी चाहिए।'[२] जहाँ काव्य के प्रत्येक शब्द, पद, वाक्य आदि से ध्वनि निकलती है वहाँ संपूर्ण काव्य में भी एक विशेष लावण्य निहित होता है। भारतीय ध्वनि-सिद्धान्त साहित्य या काव्य की इसी आत्मा की महत्व-प्रतिष्ठा का प्रयत्न करता है।

डा० गुलाब राय ने 'सिद्धान्त और अध्ययन' में ध्वनि-सिद्धान्त के विवेचन को अपेक्षित स्थान दिया है। इन्होंने अभिधा, लक्षणा, व्यंजना और तात्पर्यवृत्ति का शब्द शक्तियों के अन्तर्गत विवेचन करके ध्वनि और उसके विभिन्न प्रकारों को सोदाहरण समझाया है। शुक्ल जी के अभिधावादी दृष्टिकोण की इन्होंने समीक्षा की है और वस्तुव्यंजना तथा रसव्यंजना के पारस्परिक अंतर को कल्पना के आधार पर स्पष्ट किया है। इनके मत में वस्तुव्यंजना और रस व्यंजना में कल्पना की मात्रा के कारण ही भेद हो जाता है। 'रस व्यंजना में संस्कार अधिक काम करते हैं और वस्तु व्यंजना में परिस्थिति और कल्पना। फिर भी सामान्यतः दोनों प्रकार की व्यंजनाओं में कल्पना और संस्कार दोनों की ही आवश्यकता पड़ती है।'[३] भारतीय व्यंजना या ध्वनि तत्व में कल्पना तत्व की स्वीकृति देकर डा० गुलाबराय ने ध्वनि-सिद्धान्त में आधुनिक आलोचना में सर्वमान्य तत्व—कल्पना का अन्तर्भाव दिखाया है।

संस्कृत के आचार्यों ने व्यंजना के वस्तुव्यंजना, अलंकार-व्यंजना तथा रस-व्यंजना या भावव्यंजना तीन प्रकार माने हैं।[४] परन्तु श्री विश्वनाथ प्रसाद की धारणा में वस्तुव्यंजना और भाव व्यंजना इन दो प्रकारों को ही स्वीकार करना चाहिए। क्योंकि अलंकार व्यंजना वस्तुतः वस्तुव्यंजना ही है। इन्होंने उदाहरण देकर अपने मन्तव्य को स्पष्ट कर दिया है।[५]

श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु, डा० नन्ददुलारे वाजपेयी आदि लेखकों ने ध्वनि-

---

१. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु।
हि० ध्व०—१-४।

२. वही, पृ० २९३।

३. सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० २५२।

४. हि० ध्वन्यालोक, प्र० उ० ४ का०।

५. वाङ्मयविमर्श, पृ० १३३।

सिद्धान्त का परिचय दिया है जो संस्कृत आचार्यों की धारणाओं का ही स्पष्टीकरण मात्र करता है।[१] पुनराख्याताओं में श्री बलदेव उपाध्याय तथा डा० नगेन्द्र ने ध्वनि के विभिन्न अंगों की व्यापक मीमांसा की है। श्री बलदेव उपाध्याय ने ध्वनि-विरोधी एवं ध्वनि-समर्थक अनेक संस्कृत-आचार्यों की मान्यताओं का निरूपण किया है। ध्वनि-सिद्धान्त के परिचय में ध्वनि की उत्पत्ति, ध्वनि का अर्थ, ध्वनि का वर्गीकरण, कला में ध्वनि, ध्वनि के आधार पर काव्य-भेदों, ध्वनि में गुण, अलंकार तथा संघटना की स्थिति आदि का इन्होंने विस्तृत निरूपण-विवेचन किया है। पश्चिमी आलोचना में व्यंग्यार्थ के समर्थकों की मान्यताओं का भी इन्होंने उल्लेख किया है। श्री बलदेव उपाध्याय ने इस तथ्य का समर्थन किया है कि काव्य ही नहीं प्रत्युत संगीत, चित्र आदि ललित कलाओं का जीवित तत्व ध्वनि ही है। प्रत्येक कला के दो स्तर होते हैं, एक बाहरी और दूसरा भीतरी। किसी चित्र का निर्माण तूलिका, रंग, फलक आदि की सहायता से होता है। ये सब हमारे नेत्रों को सुख देने वाले बाहरी पदार्थ हैं। परन्तु इस निर्मित चित्र से करुणा, दीनता, दया, दरिद्रता आदि भावों की अभिव्यक्ति होती है, यह हृदयगम्य वस्तु है। यही चित्र कला का मूल तत्व है। वही वस्तु उस चित्र का जीवन है, प्राण है, ध्वनि है।'[२] श्री बलदेव उपाध्याय ने अंग्रेजी की प्रसिद्ध उक्ति—Art lies in concealing Art (कला को ध्वनित रखने में कला का महत्व है) से ध्वनि का साम्य स्वीकार कर निष्कर्ष दिया है कि इस उक्ति में प्रकारान्तर से 'ध्वनि की ही स्वीकृति' है।[३] इस प्रकार श्री उपाध्याय ने संस्कृत के ध्वनितत्व का आख्यान ही नहीं वरन् ललित कला की व्यापक पृष्ठभूमि पर पुनराख्यान का भी प्रयत्न किया है।

ध्वनितत्व के पुनराख्याताओं में डा० नगेन्द्र का ध्वनि-सिद्धान्त विषयक अध्ययन पर्याप्त व्यापक है। श्री बलदेव उपाध्याय ने विशेषतः संस्कृत आचार्यों के मन्तव्यों का ही स्पष्टीकरण किया है, परन्तु डा० नगेन्द्र ने संस्कृत, अंग्रेजी तथा हिन्दी में प्रस्तुत ध्वनि-सम्बद्ध अध्ययन का विस्तृत समीक्षण किया है। ध्वनि की परिभाषा, ध्वनि की प्रेरणा—स्फोट सिद्धान्त, ध्वनि विरोधियों के आक्षेप और उनका समाधान, व्यंग्यार्थ में काव्यत्व का अधिवास, ध्वनि और रस, ध्वनि में अन्य सिद्धान्तों का समाहार आदि प्रकरणों में अपनी प्रौढ़ विवेचन शक्ति से डा० नगेन्द्र ने ध्वनितत्व की मीमांसा की है। विवेचन का मूल आधार आनन्दवर्धन

---

१. काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृ० १२, नया साहित्य नये प्रश्न, पृ० ११३।
२. भारतीय साहित्यशास्त्र, प्र० सं० पृ० २७४।
३. वही, पृ० २७४।

का ध्वन्यालोक ही है। प्रसंगवश इन्होंने मम्मट विश्वनाथ आदि आचार्यों के मन्तव्यों का भी उल्लेख कर दिया है। मनोविज्ञान की दृष्टि से ध्वनि के आधार और स्वरूप की मीमांसा करते हुए डा० नगेन्द्र इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि 'ध्वनि स्थापना के द्वारा वास्तव में ध्वनिकार ने काव्य में कल्पना तत्व के महत्व की ही प्रतिष्ठा की है।'

प्रत्येक कवि अपनी रागात्मक अनुभूति को सहृदय तक संवेद्य बनाता है। इसके लिए वह प्रमुख रूप से प्रथम भाषा का आधार ग्रहण करता है। साधारण भाषा से अपनी अनुभूति को यथावत् संवेद्य बनाना कवि के लिए कठिन है, अतः कवि भाषा का अनिवार्यतः कल्पनात्मक प्रयोग करता है। 'अपनी कल्पनाशक्ति का नियोजन करके कवि भाषा-शब्दों को एक ऐसी शक्ति प्रदान कर देता है कि उन्हें सुन कर सहृदय को केवल अर्थ-बोध ही नहीं होता वरन् उसके मन में एक अतिरिक्त कल्पना भी जग जाती है जो परिणति की अवस्था में पहुँच कर रस-संवेदन में विशेषतया सहायक होती है। शब्द की इस अतिरिक्त कल्पना जगानेवाली शक्ति को ही ध्वनिकार ने 'व्यंजना' और रस के इस संवेद्य रूप को ही 'रस-ध्वनि' कहा है।'[२] इस प्रकार डा० नगेन्द्र की धारणा में ध्वनि तत्व की प्रतिष्ठापना तत्वतः काव्य में निहित कल्पना तत्व की ही प्रतिष्ठापना है।

रस तथा ध्वनि तत्व की पारस्परिक तुलना करते हुए डा० नगेन्द्र ने सापेक्षिक दृष्टि से रस को अधिक महत्वपूर्ण माना है, क्योंकि 'रस के कारण ही ध्वनि में रमणीयता आती है।' इनके मत में रस का अर्थ व्यापक लेना चाहिए। इसमें समस्त 'भाव-विभूति' अथवा 'अनुभूति-वैभव' आ जाता है। ध्वनि में रमणीयता तभी आती है जब वह 'अनुभूति की वाहक (व्यंजक) बन कर आती है। कवि अपनी अनुभूति को सहृदय के मानस तक प्रेषणीय बनाने में कल्पना की सहायता लेता है। 'कल्पना द्वारा अनुभूति का प्रेषण ही तो शास्त्रीय शब्दावली में उसकी व्यंजना या ध्वनन है। अनुभूति और कल्पना में अनुभूति ही अधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि काव्य का संवेद्य वही है।'[३] इस प्रकार डा० नगेन्द्र के मत में 'अनुभूति' या भाव-विभूति का प्रतीक रूप रसतत्व कल्पनातत्व या ध्वनि से अधिक महत्वपूर्ण है।

डा० भोलाशंकर व्यास ने अपने शोध-प्रबन्ध के प्रथम भाग में शब्दशक्तियों—अभिधा, लक्षणा, व्यंजना और तात्पर्य का संस्कृत के आचार्यों की विभिन्न मान्यताओं

---

१. **हिन्दी ध्वन्यालोक, भूमिका, पृ० ४५।**
२. **हि० ध्वन्यालोक, भूमिका, पृ० ४५।**
३. **वही, पृ० ७०।**

के आधार पर अत्यन्त विशद, स्वच्छ और प्रामाणिक अध्ययन प्रस्तुत किया है। इन्होंने हिन्दी काव्यशास्त्र के रीतिकालीन आचार्य केशवदास से आरंभ करके आधुनिक काल तक के समीक्षकों के शब्द-शक्ति विषयक मतों का भी सिंहावलोकन किया है। किन्तु इस विषय में इन्होंने किसी नवीन मत का उद्भावन नहीं किया है। इनके अभिमत में भी व्यंजना ही काव्य की कसौटी है, यही 'सदसत्' काव्य का निर्धारण करती है,[१] 'व्यंजना का सन्निवेश अभिधा, लक्षणा, या अनुमान के अन्तर्गत कदापि नहीं हो सकता।' साथ ही व्यंजनाजन्य अर्थ में अन्य अर्थों से विशिष्ट चारुत्व रहता है।'[२] इस प्रकार ध्वनिवादी आचार्यों के अनुरूप ही इन्होंने व्यंजना को काव्य की कसौटी माना है। इसी आधार पर काव्य के चार भेद करते हुए इन्होंने भी आचार्य जगन्नाथ के अनुरूप ही 'रसध्वनि' को ही 'उत्तमोत्तम' काव्य माना है।[३]

काव्यत्व की स्थिति वाच्यार्थ में या व्यंग्यार्थ में ?

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि शुक्लजी के अभिधावादी दृष्टिकोण का हिन्दी के अनेक आधुनिक समीक्षकों ने समालोचन किया है। इससे ध्वनि तत्व की काव्यगत वास्तविक स्थिति को समझने में सहायता मिलती है। अतः प्रथम शुक्ल जी के दृष्टिकोण का विस्तृत निरूपण आवश्यक हो जाता है। वाच्यार्थ में काव्यत्व के अधिवास तथा काव्य की रमणीयता के समर्थन में शुक्ल जी ने सप्रमाण प्रतिपादन इस प्रकार से किया है :

'वाच्यार्थ के अयोग्य और अनुपपन्न होने पर योग्य और उपपन्न अर्थ प्राप्त करने के लिए लक्षणा और व्यंजना का सहारा लिया जाता है। अब प्रश्न यह है कि काव्य की रमणीयता किस में रहती है ? वाच्यार्थ में अथवा लक्ष्यार्थ में या व्यंग्यार्थ में? इसका बेधड़क उत्तर यही है : वाच्यार्थ में, चाहे वह योग्य हो वा उपपन्न हो अथवा अयोग्य और अनुपपन्न। मेरा यह कथन विरोधाभास का चमत्कार दिखाने के लिए नहीं है, सोलह आने ठीक है।' साकेत के दो उदाहरण प्रस्तुत करके शुक्लजी ने अपने मन्तव्य का समर्थन किया है—

'जी कर हाय पतंग मरे क्या ?'

इसमें भी यही बात है। जो कुछ वैचित्र्य या चमत्कार है वह इस अयोग्य है और अनुपपन्न वाक्य या उसके वाच्यार्थ में ही है। इसके स्थान पर यदि इसका

१. **ध्वनि संप्रदाय और उसके सिद्धान्त, पृ० ३२८।**
२. **ध्वनि संप्रदाय और उसके सिद्धान्त, पृ० ३२९।**
३. **वही, पृ० ३५५।**

यह लक्ष्यार्थ कहा जाय कि जीकर पतंग क्यों कष्ट भोगे तो कोई वैचित्र्य या चमत्कार न रहेगा। अब 'साकेत' में उर्मिला की यह दूसरी रसात्मक उक्ति लीजिए——

आप अवधि बन सकूँ कहीं तो क्या कुछ देर लगाऊँ।
मैं अपने को आप मिटा कर जाकर उनको लाऊँ॥

इसका वाच्यार्थ बहुत ही अत्युक्त, व्याहत तथा बुद्धि को सर्वथा अग्राह्य है। उर्मिला आप ही मिट जायगी, तब अपने प्रियतम लक्ष्मण को बन से लायेगी क्या ? पर सारा रस सारी रमणीयता इसी व्याहत और बुद्धि को अग्राह्य वाच्यार्थ में है, इस योग्य और बुद्धि ग्राह्य व्यंग्यार्थ में नहीं कि 'उर्मिला को अत्यन्त औत्सुक्य है।' इससे स्पष्ट है कि वाच्यार्थ ही काव्य होता है, व्यंग्यार्थ या लक्ष्यार्थ नहीं।[१]

शुक्ल जी की प्रस्तुत धारणा का सर्वप्रथम रामदहिन मिश्र ने संस्कृत आचार्यों के युक्ति-प्रमाणों का आधार लेकर प्रत्याख्यान किया है और इन्होंने वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ में ही काव्यत्व के अधिवास का समर्थन किया है। इनके अभिमत में शुक्ल जी द्वारा प्रस्तुत उदाहरण में व्यंजना न होती तो उस वाच्यार्थ में काव्यत्व ही नहीं होता। 'उर्मिला को अत्यन्त औत्सुक्य है' यह फल व्यंजित होता है और इसमें काव्यत्व है।[२] इनका प्रतिपाद्य है कि 'व्यंजक वाक्य में भी काव्यत्व है। चाहे यह व्यंजना रसभाव की हो चाहे वास्तवलंकार की। अव्यंजक वर्णन काव्य कहलाने योग्य नहीं। हाँ, वाच्यार्थ-चमत्कार युक्त वर्णन भी काव्य हो सकता है पर उसका दर्जा तीसरा है।'[३]

डा० गुलाबराय ने शुक्ल जी के अभिधावादी अभिमत को ऐकान्तिक ठहराया है। इनकी धारणा में अभिधा, लक्षणा और व्यंजना तीनों शक्तियों से निष्पन्न अर्थ में चमत्कार की संभावना पूर्णतः है। 'इन तीनों शक्तियों को श्रेणी-बद्ध करना उचित नहीं है। अपने-अपने स्थान में सभी महत्व रखती हैं। तीनों प्रकार के अर्थों में पूर्ण चमत्कार हो सकता है। ये चमत्कार के प्रकार हैं, दर्जे नहीं हैं। इतना ही तथ्य है कि व्यंजना द्वारा चमत्कार की अधिक साधना होती है।'[४] गुलाबराय जी ने एक प्रकार से समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाया है और अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना तीनों से ही रस-निष्पत्ति का समर्थन किया है। इनके मत में अभिधा, लक्षणा और स्वयं व्यंजना से भी रस की सामग्री मिलती है। 'अभिधा आदि के

---

१. चिन्तामणि, द्वि० भा० पृ० १८३।
२. काव्यालोक, पृ० १७६।
३. वही, पृ० १७९।
४. सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० २५२।

अर्थ फूल की भाँति हैं, रस फूल के सौरभ की भाँति हैं, जो व्यंजना की वायु से व्यक्त होता है।'[1] इस प्रकार डा० गुलाबराय ने वाच्यार्थ से भिन्न अर्थों—लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ में भी रमणीयता की स्थिति स्वीकार करके आ० शुक्ल के अभिमत से अपना मतभेद व्यक्त किया है।

वाच्यार्थ में काव्यत्व का अधिवास तथा रमणीयता की स्थिति मान बैठना डा० नगेन्द्र को भी असंगत प्रतीत हुआ है। इन्होंने शुक्ल जी के अभिमत को 'दिशान्तर भ्रमण' माना है और शुक्ल जी द्वारा प्रस्तुत उदाहरणों में व्यंजना की स्थिति दर्शाई है। प्रथम उदाहरण 'जी कर हाय पतंग मरे क्या ?' में विरोधाभास का चमत्कार वाच्यार्थ में है, परन्तु इस उक्ति की वास्तविक रमणीयता का सम्बन्ध उर्मिला की रतिजन्य व्यग्रता से ही है, जो व्यंग्य है। दूसरे उदाहरण में भी रमणीयता 'उर्मिला' के 'अत्यन्त औत्सुक्य'—इस व्यंग्यार्थ में ही निहित है। इनके मत में शुक्ल जी का यह तर्क बड़ा विचित्र लगता है कि सारी रमणीयता इसी व्याहत और बुद्धि को अग्राह्य वाच्यार्थ में है, इस योग्य और बुद्धिग्राह्य व्यंग्यार्थ में नहीं कि उर्मिला को अत्यन्त औत्सुक्य है। इसमें दो त्रुटियाँ हैं : एक तो 'उर्मिला को अत्यन्त औत्सुक्य है' यह व्यंग्यार्थ नहीं रहा—वाच्यार्थ हो गया। औत्सुक्य की व्यंजना ही चित्त की चमत्कृति का कारण है, उसका कथन नहीं। दूसरे जिस अनुपपन्नता पर वे इतना बल दे रहे हैं, वह रमणीयता का कारण नहीं है, उसका एक साधन मात्र है। उसका यहाँ वही योग है जो रस की प्रतीति में अलंकार का।'[2] इस प्रकार डा० नगेन्द्र ने व्यंग्यार्थ, रमणीयता और रस को एक-सा ही मानकर वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ को व्यंग्य (रस) की अनुभूति का माध्यम मात्र स्वीकार किया है। रस सदैव व्यंजित होता है अतः व्यंजितार्थ-रस में ही काव्यत्व का अधिवास है, वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ साधन मात्र हैं या माध्यम हैं।[3]

प्राचीन रस-ध्वनिवादी आचार्यों के दृष्टिकोण को अपना कर डा० भोलाशंकर व्यास ने भी शुक्ल जी की अभिधावादी मान्यता का प्रतिषेध किया है। शुक्ल जी द्वारा अभिधावादी दृष्टिकोण अपनाने का कारण इनकी धारणा में यह है कि वे छायावादी कविताओं के व्यंजना-अतिचार के विरोधी थे। अतः शुक्ल जी नें 'अभिधा को ही काव्य मान कर इन छायावादी कवियों की व्यंजना से बचने का

---

१. सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० २५२।
२. हिन्दी ध्वन्यालोक, भूमिका पृ० ४७-४८।
३. हिन्दी ध्वन्यालोक, भूमिका पृ० ४८।

सरल तरीका निकाल लिया है।'[१] लेकिन डा० भोलाशंकर को शुक्ल जी का यह मत इसलिए स्वीकार्य नहीं है कि 'रस कभी भी वाच्यार्थ नहीं होता।'[२]

डा० रामलाल सिंह ने शुक्ल जी के अभिधावादी दृष्टिकोण की विशेषताओं के उद्‌घाटन का प्रयत्न करके इनके मत को एक दृष्टि से उपयुक्त ही ठहराया है। शुक्ल जी द्वारा प्रस्तुत दूसरे उदाहरण—जिसमें उर्मिला के औत्सुक्य की व्यंजना है—का उल्लेख करने के उपरान्त डा० रामलाल सिंह ने लिखा है : 'यहाँ व्यंजनावादियों के मन में एक प्रश्न उठ सकता है कि रसात्मक वाक्य को पढ़ कर हमें आनन्दानुभूति होती है, उसके लिए कौन तत्व उत्तरदायी है—उस वाक्य का वाच्यार्थ, अथवा व्यंग्यार्थ या लक्ष्यार्थ ? रसानुभूति या आनन्दानुभूति किस पदार्थ की कल्पना से होती है। पाठक या श्रोता पदार्थ की कल्पना प्रायः वाच्यार्थ की सहायता से करता है। आलंबन, उद्दीपन आदि का चित्र वह वाच्यार्थ द्वारा ही निर्मित करता है। इस प्रसंग में भी उर्मिला का विरोधमूलक असम्भावित प्रणयी चित्र वाच्यार्थ द्वारा ही निरूपित होता है, जो पाठक या श्रोता में रति नामक भाव को उत्पन्न कर आनन्द में परिणत करता है। अतः शुक्ल जी का यह सिद्धान्त कि काव्यत्व या काव्य की रमणीयता वाच्यार्थ में निहित है—युक्तियुक्त प्रतीत होता है।'[३] इसके उपरान्त डा० रामलाल सिंह ने संस्कृत आचार्यों की धारणाओं से तुलना करते हुए आचार्य शुक्ल के 'वाच्यार्थवाद' की विशेषता का निरूपण किया है और वाच्यार्थ में रमणीयता के प्रतिपादन को शुक्ल जी की 'सत्य की खोज' माना है। साथ ही रमणीयता की प्रतीति के लिए वाच्यार्थ में लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ का समावेश भी आवश्यक ठहराया है।[४]

वस्तुतः कोरे वाच्यार्थ में काव्यत्व की स्थिति स्वीकार करना नितान्त कठिन

---

१. ध्वनि संप्रदाय और उसके सिद्धान्त, पृ० ३५९।
२. वही, पृ० ३५९।
३. आचार्य शुक्ल के समीक्षा सिद्धान्त, पृ० २३०।
४. 'प्राचीन आचार्य व्यंग्यार्थ और लक्ष्यार्थ से युक्त वाच्यार्थ को ही काव्य मानते हैं—इससे उनका विरोध नहीं है। प्राचीनों का यह मत कि रमणीयता का कारण व्यंग्यार्थ या लक्ष्यार्थ ही है, पर लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ की सत्ता बिना वाच्यार्थ के है ही नहीं, अतः शुक्ल जी की यह खोज कि काव्य की रमणीयता वाच्यार्थ में ही रहती है, सत्य अवश्य है, पर यह भी मानना होगा कि वह होती लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ के समावेश से ही।'
आ० शु० सं० सि० पृ० २३१

है। इससे 'काव्य' का स्वरूप-निर्धारण ही जटिल हो जायगा। काव्य तथा काव्य-इतर साहित्य का व्यावर्तक तत्व निर्धारित करना सम्भव न हो सकेगा, क्योंकि राजनीति, इतिहास, अर्थशास्त्र आदि से सम्बद्ध ग्रन्थ वाच्यार्थ प्रधान होते हैं।

इसीलिए संस्कृत के आचार्यों में विश्वनाथ और जगन्नाथ ने 'वाक्य' तथा 'शब्द' के साथ 'रस' और 'रमणीयार्थ' विशेषणों का प्रयोग काव्य-परिभाषा में अनिवार्य ठहराया है।[१] तत्वतः काव्यत्व का अधिष्ठान व्यंग्य, रस अथवा रमणीय-अर्थ में ही निहित है, परन्तु व्यवहारतः इसके लिए शब्दार्थ, वाक्य या वाच्यार्थ का स्थूल एवं मूर्त आधार नितान्त अपेक्षित है। परन्तु शब्दार्थ का मूर्त आधार काव्य-इतर साहित्य में भी अनिवार्य है, अतः प्राचीन आचार्यों ने व्यंग्य, ध्वनि या रस में ही काव्यत्व स्वीकार किया है, जो असंगत नहीं है।

जहाँ तक व्यंग्य (रस) की प्रतीति के माध्यम वाच्यार्थ या शब्दार्थ का सम्बन्ध है, इस मूल आधार की उपेक्षा किसी भी स्थिति में सम्भव नहीं है। भले ही इसका स्वरूप साधन या माध्यम मात्र का हो, परन्तु साध्य (रस) से इसका अपरिहार्य, अविभाज्य और शाश्वत सम्बन्ध है। इसी कारण संस्कृत साहित्यशास्त्र में जितने भी काव्यलक्षण प्रस्तुत किये गये हैं उनमें शब्दार्थ, पद या वाक्य के मूल आधार का प्रायः सर्वत्र प्रतिपादन किया गया है।[२]

प्रस्तुत प्रसंग में दो महत्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होते हैं। १. व्यंजना या ध्वनि तथा रस का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है? २. ध्वनि और रस में से कौन सा तत्व अधिक महत्वपूर्ण है?

प्रथम प्रश्न का उत्तर अपेक्षाकृत जटिल नहीं है। संस्कृत आचार्यों ने रसानुभूति के स्वरूप को प्रायः आनन्दात्मक ठहराया है। काव्याध्ययन के समय सहृदय द्वारा अनुभूयमान आनन्द ही एक प्रकार से रस माना गया है, जिसमें सहृदय की

---

१. वाक्यं रसात्मकम् काव्यम्—विश्वनाथ, रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्—जगन्नाथ

२. भामह : 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' काव्यालंकार, प्र० परिच्छेद।

दण्डी : इष्टार्थ व्यविच्छन्ना पदावली, काव्यादर्श, १।१०

मम्मट : तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि, काव्यप्रकाश, प्र० उ०

विश्वनाथ : वाक्यं रसात्मकं काव्यम्। साहित्यदर्पण, १।३

जगन्नाथ : रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्, रसगंगाधर, प्र० आ० पृ० ४

चित्तवृत्ति विभिन्न भावों के अनुरूप द्रवित, दीप्त या परिव्याप्त हो कर अन्विति की आनन्दमयी स्थिति में पहुँच जाती है। आचार्य शुक्ल के मत में किसी भाव की दर्शक या श्रोता में रस रूप में अनुभूति व्यंजना की सहायता से होती है,[१] क्योंकि व्यंजित भाव ही रसानुभूति कराने में समर्थ होता है। डा० नगेन्द्र ने ध्वनि और रस के पारस्परिक सम्बन्ध और महत्व का अत्यन्त स्पष्ट विवेचन किया है। इनके अभिमत में ध्वनि रस के बिना काव्य नहीं बन सकता और रस ध्वनित हुए बिना केवल कथित होकर काव्य नहीं हो सकता। "काव्य में ध्वनि को सरस रमणीय होना पड़ेगा और रस को व्यंग्य होना पड़ेगा। 'सूर्य अस्त हो गया' से एक ध्वनि यह निकलती है कि अब काम बन्द करो——परन्तु ध्वनि की स्थिति असंदिग्ध होने पर भी रस के अभाव में यह काव्य नहीं है। इसी प्रकार 'दुष्यन्त शकुन्तला से प्रेम करता है' यह वाक्य रस का कथन करने पर भी व्यंजना के अभाव में काव्य नहीं है।"[२]

इन अभिमतों से स्पष्ट है कि ध्वनि और रस का पारस्परिक नितान्त घनिष्ठ सम्बन्ध है, ध्वनि के अभाव में रस का और रस के अभाव में ध्वनि का महत्व नहीं रह पाता। आदर्श काव्य में इन दोनों ही तत्वों का अन्योन्याश्रयत्व नितान्त अपेक्षित है। इसीलिए आचार्य आनन्दवर्धन ने रसादि को ध्वनि की आत्मा माना है।[3]

दूसरा प्रश्न है——ध्वनि तथा रस के सापेक्षिक महत्व का। संस्कृत आचार्यों ने ध्वनि की तुलना में रस को अधिक महत्व प्रदान किया है। ध्वनि के आत्मतत्व की उद्घोषणा करते हुए भी आनन्दवर्धन रसवत्ता का सर्वत्र महत्वमापन करते रहे।[४] इन्होंने वस्तुध्वनि तथा अलंकारध्वनि का रस-सापेक्ष विवेचन किया है और ध्वन्यालोक के व्याख्याता अभिनव गुप्त ने आनन्दवर्धन के प्रतिपादन का आश्रय ले कर ही 'रस' के वास्तविक आत्म-तत्व का समर्थन किया है।[५] आ० शुक्ल ने भी ध्वनि या व्यंजना की अपेक्षा रस को ही अधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया है।

---

१. रसमीमांसा, पृ० ४०९
२. हिन्दी ध्वन्यालोक, भूमिका, पृ० ६९
३. हिन्दी ध्वन्यालोक, द्वि० उ० का० ३
४. 'वसन्त ऋतु में वृक्षों के समान काव्य में रस को पा कर पूर्वदृष्ट सारे पदार्थ भी नये से प्रतीत होते हैं।'

'ध्वंग्य व्यंजक भाव के नाना प्रकार सम्भव होने पर भी कवि केवल एक रसाविमय भेद में ही ध्यान लगाये।' हिन्दी ध्वन्यालोक, च० उ० का० ४,५।

५. रस एवं वस्तुतः आत्मा, वस्त्वलंकारध्वनि तु सर्वथा रसंप्रति पर्यवस्येते। लोचन पृ० २७

व्यंजना या ध्वनि को इन्होंने रस-निष्पत्ति का सहायक मात्र सिद्ध किया है।[१]

डा० नगेन्द्र ने ध्वनि तत्व का काव्य के कल्पना तत्व से तथा रस का अनुभूति तत्व से सम्बन्ध दिखाया है। अतः इन दोनों में सापेक्षिक महत्व की दृष्टि से इन्होंने अनुभूति तत्व या रस को अधिक महत्वपूर्ण माना है।

क्योंकि कवि का संवेद्य या प्रेषणीय तत्व है—अनुभूति या रस और कल्पना या ध्वनि तो इसे प्रेषणीय बनाने में सहायक हैं।[२] इस प्रकार रस-ध्वनिवादी संस्कृत-आचार्यों के तथा आधुनिक पुनराख्याताओं के मत में ध्वनि तत्व की तुलना में रस तत्व ही अधिक महत्वपूर्ण है और सापेक्षिक दृष्टि से प्रथम स्थान पाने का अधिकारी है।

मराठी में ध्वनि-सिद्धान्त का अध्ययन

संस्कृत साहित्यशास्त्र की रसवादी तथा अलंकारवादी परम्परा का आधुनिक मराठी काव्य-शास्त्र में अधिक अध्ययन, पुनराख्यान तथा मूल्यांकन हुआ है अपेक्षाकृत ध्वनि तत्व के। अधिकांश परम्परानुयायी विवेचकों ने शब्द-शक्तियों के विवेचन-प्रसंग में ध्वनि तत्व का निरूपण कर दिया है, स्वतन्त्र रूप से ध्वनि का व्यापक अध्ययन नहीं किया है। श्री बलवन्त कमलाकर माकोडे ने रस को काव्य का आत्म तत्व मानना ही युक्तियुक्त ठहराया है। इन्होंने रीति, अलंकार आदि काव्य-तत्वों के साथ ध्वनि का भी स्वरूप-निर्देश किया है और अन्त में 'रस' को ही काव्य में महत्वपूर्ण तत्व माना है।[३] गणेश सदाशिव लेले ने 'साहित्यशास्त्र' में ध्वनि तत्व का परिचय मात्र प्रस्तुत किया है, जो संस्कृत परम्पराभुक्त है। प्रो० लक्ष्मण शास्त्री लेले ने ध्वनि और रस का सामंजस्य बिठाया है। इन्होंने करुण, हास्य आदि रसों के उदाहरणों को 'रस ध्वनि' के उदाहरणों के रूप में प्रस्तुत करके 'ध्वनि काव्य' के महत्व का प्रतिपादन किया है।[४]

'रसवाद' से मराठी के परंपरानुयायी विवेचक ही प्रभावित नहीं हैं, वरन् आधुनिक अनेक पुनराख्याताओं ने 'ध्वनि' की अपेक्षा 'रस' को ही काव्य का आत्म तत्व प्रतिपादित किया है। 'काव्य का स्वरूप' या काव्यत्व का अधिष्ठान 'रस' तत्व में निहित है अथवा 'ध्वनि' तत्व में? इस प्रश्न का समाधान प्रस्तुत करते

---

१. रस मीमांसा, पृ० ४०८-९।
२. हि० ध्वन्यालोक, भूमिका पृ० ७०
३. दे० रस प्रबोध।
४. दे० काव्यचर्चा : प्रो० लक्ष्मण शास्त्री लेले, 'ध्वनि काव्य' लेख।

हुए 'ध्वान' का रस तत्व की सापेक्षिता में अध्ययन किया गया है। प्रा० द० के० केळकर ने काव्य के आत्म पद के अधिकारी रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि तथा रस तत्वों की पारस्परिक तुलना करते हुए रस को ही काव्य के आत्म पद का अधिकारी निर्धारित किया है। इनकी मान्यता में ध्वनि का सम्बन्ध कल्पना तत्व से है। 'ध्वनिगर्भ' शब्दों से सहृदयों में विचार तरंगों का निर्माण होता है। संगीत की समाप्ति के उपरान्त भी जिस प्रकार नाद का 'अनुनादन' कानों में होता रहता है, उसी प्रकार ध्वन्यर्थ की वीचि परम्परा मनः सागर में तरंगित होती रहती है।'[1] किसी वस्तु का स्वयं स्पष्ट शब्दों में वर्णन करना एक पृथक तथ्य है और 'ध्वनि-गर्भ' शब्दों से दूसरों की कल्पना को जाग्रत करना तथा उस वस्तु का उसकी कल्पना द्वारा ही चित्र उतरवाना दूसरा तथ्य है। यही कारण है कि किसी उत्कृष्ट नाटक का रंगमंच पर प्रयोग देखने से पूर्व ही नाटक को पढ़ कर सहृदय अपनी कल्पना से जो एक अद्‌भुत नाटक सृष्टि का निर्माण कर लेता है, वह प्रत्यक्ष प्रयोग देखने पर भग्न हो जाती है। प्रत्येक को अपनी कल्पना से निर्मित चित्र 'प्रियतम' लगता है। अतः पाठक की कल्पना-जागृति के लिए कवि ध्वन्यात्मक शब्दों का प्रयोग करता है। अत्यन्त स्पष्ट दिखाई देने वाली रमणीय वस्तु की अपेक्षा अस्पष्ट दिखाई देने वाली रमणीय वस्तु सदैव आकर्षक प्रतीत होती है।'[2]

सारांशतः प्रा० द० के० केळकर ने ध्वनि तत्व का महत्वमापन मुख्यतः दो आधारों पर किया है : एक है कल्पना जागृति, दूसरा है आकर्षणोत्पादन। काव्य में निहित ध्वन्यात्मक शब्द सहृदय में जहाँ कल्पना जागृति करते हैं, वहाँ ध्वन्यर्थ के कारण ही सहृदय का काव्य के प्रति निरन्तर आकर्षण बना रहता है। इनके मतानुसार प्रस्तुत दो विशेषताओं के अतिरिक्त काव्य में ध्वनि का और अधिक महत्व नहीं है। क्योंकि 'अलंकार अथवा अलंकारों की प्राणभूत वक्रोक्ति अथवा विदग्धोक्ति की अपेक्षा ध्वनि में कोई और अधिक वैशिष्ट्य नहीं है कि जिससे केवल ध्वनि ही काव्य का आत्म तत्व बन बैठे।' अतः श्री द० के० केळकर के अभि-मत में 'ध्वनि' को ही काव्य का एकान्ततः आत्म तत्व मान बैठना 'आग्रहमूलक' है, क्योंकि ध्वनि की महत्व प्रतिष्ठा में तल्लीन आनन्दवर्धन को भी स्वयमेव स्थान-स्थान पर रस-महिमा का गान करना पड़ा है।'[3] इसके अतिरिक्त जिस व्यंजना व्यापार का आनन्दवर्धन ने प्रतिपादन किया है, उसका हृदयदर्पणकार

---

१. **काव्यालोचन, पृ० ११६।**
२. **काव्यालोचन, पृ० ११६**
३. **काव्यालोचन, पृ० ११७**

भट्टनायक, व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट आदि ने प्रत्याख्यान किया ही है। ध्वनिवादी अपने सिद्धान्त के समर्थन में 'रसानुभूति' का प्रबल आधार ग्रहण करते हैं और रसानुभूति को सर्वत्र ध्वनित मानते हैं। 'परन्तु ध्वनि के 'रस प्रकार' (रस-ध्वनि) को पृथक् कर दिया जाय तो शेष जो दो प्रकार—वस्तु -ध्वनि और 'अलंकार-ध्वनि' हैं, इनमें निहित रमणीयता पर्यायोक्ति, व्याजोक्ति आदि अलंकारों के स्वरूप की ही है। इससे अधिक आकर्षक बात इनमें नहीं है, जिससे इन्हें अलंकारों की अपेक्षा अधिक रमणीय मान कर पृथक् वैशिष्ट्य प्रदान किया जाय। फलतः काव्य का 'उत्तम' और 'मध्यम' स्वरूप-निर्धारण सर्वथा ध्वनि पर ही अवलंबित करना उपयुक्त नहीं है। जैसे, रस सदैव 'सूचित' या ध्वनित होता है वैसे ही काव्य से प्राप्त 'तत्व बोध' भी बहुतांश में ध्वनित ही होता है। ध्वनिकार इसलिए धन्यवाद के पात्र हैं कि इन्होंने काव्य रमणीयता में निहित 'सूचकता' या 'ध्वनि' तत्व की ओर उपयुक्त ध्यान दिलाया है।'[1] इस प्रकार प्रा० द० के० केळकर काव्यत्व का अधिवास 'रस' या भावना तत्व में ही स्वीकृत करते हैं और ध्वनि को कल्पना जागृति में सहायक तत्व मात्र मानते हैं। फलतः इनके अभिमत में काव्य के आतम पद की अधिकारिणी ध्वनि नहीं है, वरन् रस है।

श्री द० के० केळकर के समान प्रा० रा० श्री जोग ने भी 'रस' तत्व को काव्य का आतम तत्व स्वीकार किया है और ध्वनि की रस से तुलना करते हुए प्रथम की सीमाओं का निर्देश किया है। इनके प्रतिपादन का प्रमुख अंश इस प्रकार है :

१. ध्वनित अर्थ सभी काव्यों में अनिवार्यतः नहीं होता। केशवसुत, यशवंत, माधव ज्युलियन आदि मराठी-कवियों की 'मां' को सम्बोधन कर लिखी गई कविताओं में ध्वन्यर्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ की ही स्थिति है। अतः ध्वनितार्थ के अभाव में भी काव्य की स्थिति सम्भव है और इसमें सरसता की भी पूर्ण सम्भावना रहती है।

२. ध्वनि पद्धतिमात्र है, विषय नहीं है। ध्वनि शब्द के दो अर्थ हैं : एक है 'अप्रत्यक्षरूप से कथित, सूचित या ध्वनित किया गया अर्थ' और दूसरा है—'उस अर्थ के कथन या सूचन की पद्धति।' इनमें दूसरे अर्थ को अर्थात् पद्धति को काव्य के आत्म-पद का स्थान नहीं मिल सकता। ध्वनित अर्थ विषय होता है और इसे आत्मपद का स्थान मिल सकेगा। इसे ही वस्तु ध्वनि कहा जाता है। वस्तु का अभिप्राय है—कोई अर्थ। 'सूर्यास्त हो गया' इस शब्दोच्चारण से 'अपने पति के

१. **काव्यालोचन, पृ० ११७**

स्वागत की तैयारी कर' इस प्रकार का प्रतीयमान अर्थ ही वस्तु है। यह सूचित है, अतः ध्वनित है। सरलता-पूर्वक न कह कर नायिका की सखी सूर्यास्त का निर्देश करती है। इसमें काव्यत्व है। संस्कृत में श्लेष अथवा अन्य युक्तियों से इस प्रकार का ध्वनित अर्थ प्रकट करने वाला काव्य विपुल मात्रा में है। उस ओर ध्यान दे कर ही ध्वनिकार ने इससूचितार्थ को और उसी के साथ सूचन-पद्धति को विशेष महत्व दिया है। इतना ही नहीं उन्होंने रस को भी ध्वनित ही मान लिया है। संक्षेपतः वाक्यार्थ में रमणीयता लाने वाली सभी बातों को ध्वनि की चौखट में बिठाने का उन्होंने प्रयत्न किया है। 'वस्तुध्वनि' के अतिरिक्त दूसरा प्रकार है—'अलंकार ध्वनि' का। इसमें अलंकार वाच्य न हो कर व्यंग्य या सूचित होता है। 'रसध्वनि' में रसपूर्ण समग्र काव्य का ही इन्होंने अन्तर्भाव कर लिया है। सम्भव है इसमें अर्थ सूचित न हो, परन्तु रस सदैव सूचित या ध्वनित होता है। सूचित अर्थ, अथवा अलंकार रूप रचना या भावना अथवा रस इन सबके वर्णन से रचना में सौन्दर्य आता है, इस तथ्य की स्वीकृति ध्वनिकार के लिए आवश्यक हो गई। परन्तु अपने सिद्धान्त की चौखट में बिठाने के लिए इन्होंने रस को भी ध्वनि ही बना दिया है। अलंकार भी ध्वनित ही हो तो इन्होंने उपयुक्त माना है और उनके मत में ध्वनित वस्तु अथवा अर्थ तो सूचित ही होता है। परन्तु इस प्रकार के प्रयत्न से रस-ध्वनि को अभिव्यक्ति की पद्धति बना कर उसे आत्मपद प्रदान करने में बाधा उत्पन्न कर रहे हैं। इस ओर उनका दुर्लक्ष हुआ। किसी भी वस्तु की आत्मा एक ही होती है। परन्तु इस व्यवस्था से वस्तु, अलंकार और रस तीनों ही तत्व आत्मपद के अधिकारी बनने लगते हैं। यह स्थिति बहुत ही 'चमत्कारिक' है।

३. ध्वनिकार अलंकार को विशेष महत्व नहीं देते। अलंकार प्रधान काव्य को अधम मानते हैं। परन्तु वे ही अलंकार यदि वाच्य की अपेक्षा व्यंग्य बन जाते हैं, तो उन्हें उत्तम कोटि में स्थान मिल जाता है। यह सत्य है कि सरलतापूर्वक कहने की अपेक्षा अप्रत्यक्ष रूप से सूचित या ध्वनित करने में काव्यत्व है। परन्तु इतने मात्र से अधम काव्य उत्तम कोटि का बन जाता है, इस प्रकार का दोनों में नितान्त अन्तर मान लेना बहुत कठिन है।

४. रस सदैव ध्वनित होता है, यह मत भी 'शंकास्पद' है। वस्तुतः रस में सरल शब्दों से प्रतीयमान अर्थ ही प्रगट होता है। इसमें ध्वनि-पद्धति किस प्रकार से कार्य करती है, इसकी मीमांसा से अड़चनें ही पैदा होती हैं। अतः ध्वनिकार को यह प्रतिपादित करना पड़ा कि 'रस ध्वनि' के प्रकार में 'ध्वनि' असंलक्ष्यक्रम रहती है। वस्तु ध्वनि में शब्दों के वाच्यार्थ की कहाँ तक गति रहती है और वह कहाँ समाप्त हो जाता है और तदुपरान्त ध्वनित अर्थ किस प्रकार से आ जाता

है यह समझ में आता है, परन्तु रस-ध्वनि में शब्दों का वाच्यार्थ भावनाओं का वर्णन करने के उपरान्त ही समाप्त हो जाता है। अर्थात् ध्वनि-पद्धति का कार्य कहाँ आरम्भ होता है यह बताना कठिन है। संक्षेपतः यहाँ ध्वनि-पद्धति लाने की आवश्यकता ही नहीं है। सम्भवतः इसी कारण मानों इन्हें ध्वनि को असंलक्ष्यक्रम कहना पड़ा है। एक ओर यह विधान करना कि रस ध्वनित ही होता है और दूसरी ओर यह भी कहना कि वह असंलक्ष्यक्रम होता है, इससे यही अभिप्राय (ध्वनि)! निकलता है कि हम रस को ही ध्वनि कहना चाहते हैं। इससे अधिक हम कुछ और बता नहीं सकते और न आपको इस बारे में अधिक पूछना ही चाहिए।'[१]

प्रा० जोग के इस मन्तव्य का निष्कर्ष है : ध्वन्यर्थ के अभाव में भी काव्य हो सकता है। वाच्यार्थ से ही भावना जागृति पूर्णतः सम्भव है। भावनापूर्ण रचना के लिए यह नितान्त अनिवार्य नहीं है कि उसमें ध्वन्यर्थ अवश्य ही हो। भावना का अर्थ ही रस है और यही काव्य को काव्यत्व प्रदान करता है। ध्वनि-प्रक्रियाओं को अनिवार्य मानने से पूर्वोक्त अनेक अड़चनें पैदा हो जाती हैं। ध्वन्यर्थ में भी वही ध्वन्यर्थ काव्यत्व का अधिकारी है जिसमें भावना अनिवार्यतः निगड़ित हो, यह भावना ही रस है, काव्य का आत्म-तत्व है, ध्वनि नहीं। ध्वनि तो पद्धति या प्रक्रिया मात्र है।

इस चिन्तन में सत्य के अंश का नितान्त अभाव नहीं है। एक ही वस्तु की दो आत्माएँ कैसे सम्भव हैं ? रस और ध्वनि दोनों को एकान्त समरूप सिद्ध करते समय 'ध्वनि' तथा 'रस' के अपने-अपने विशिष्ट स्वरूप को ध्यान में रखना अपेक्षित है। तात्त्विक रूप में इन दोनों का मूलभूत स्वरूप भिन्न-भिन्न मानना नितान्त अनिवार्य है। यदि ऐसा न हो तो 'रस' से पृथक् ध्वनि तत्व की प्रतिष्ठापना की आवश्यकता ही क्या थी ? रस और ध्वनि का एक ही स्वरूप मान लें तो 'वस्तु ध्वनि', 'अलंकार ध्वनि' तथा 'रस ध्वनि' इस प्रकार का वर्गीकरण ही असंगत हो जाता है। क्योंकि वस्तु ध्वनि से भी रसानुभूति सम्भव है और अलंकार ध्वनि से भी। वस्तु तथा अलंकार का अन्तिम साध्य भावना जागृति ही है। वर्गीकरण की प्रस्तुत असंगति से अभिनवगुप्त भी परिचित थे। इसलिए उन्होंने 'वस्तु ध्वनि' और 'अलंकार ध्वनि' के स्वतन्त्र अस्तित्व का एक प्रकार से प्रत्याख्यान किया है और इन दोनों के अस्तित्व को रस में ही विलीन कर दिया है।[२] इस प्रकार काव्य का प्रतीय-

---

१. **अभिनव काव्यप्रकाश, पृ० १९, २०, २१**

२. **रस एव वस्तुतः आत्मा, वस्त्वलंकारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते। लोचन, पृ० २७ निर्णय सागर।**

मान अर्थ---ध्वन्यर्थ तथा रस का समीकरण हुआ और दोनों एक रूप-से ही हो गये, परन्तु 'ध्वनि' के अपने विशिष्ट स्वरूप की तात्विक मीमांसा करते समय 'ध्वनि' की विशिष्ट प्रक्रिया का रस तत्व से पृथक् मूल्यांकन नितान्त अनिवार्य है। इस दृष्टि से प्रा० जोग का ध्वनि-तत्व विषयक चिन्तन उपादेय है।

आनन्दवर्धन तथा अभिनव गुप्त के दृष्टिकोण से ध्वनि तत्व की मीमांसा प्रा० ग० त्र्यं० देशपांडे ने पर्याप्त विस्तारपूर्वक की है। इनके विवेचन से ध्वनि तत्व सम्बद्ध कतिपय आक्षेपों का समाधान हो जाता है। प्रा० जोग ने ध्वनि का एक अर्थ सूचन-पद्धति ग्रहण किया है, परन्तु प्रा० ग० त्र्यं० देशपांडे ने रसानुभूति और सूचन-प्रक्रिया के अन्तर का स्पष्ट विवेचन किया है। इनके अभिमत में रस-प्रतीति एक पृथक् तथ्य है और रस-प्रतीति किस प्रकार से हुई इसका विवेचन एक पृथक् तथ्य है। जब हम किसी काव्य को पढ़ते हैं तब पठन समकालीन अनुभूयमान आनन्द प्रतीति ही रसप्रतीति है। पर जब हम यह सोचने और वर्णन करने लगते हैं कि प्रस्तुत रस-प्रतीति किस प्रकार से हुई तो यह चिन्तन रस-प्रतीति की प्रक्रिया के विवेचन से सम्बद्ध हुआ। इसमें हम प्रत्यक्ष रसास्वाद के क्षणों में अलक्षित किन्तु वस्तुत: वहाँ विद्यमान क्रम का विवेचन करते हैं। इस प्रकार का क्रम-विवेचन ध्वनि नहीं है, वरन् अनुभूत ध्वनि का वह विवेचन मात्र है। रसादि ध्वनि असंलक्ष्यक्रम होती है, परन्तु कहीं-कहीं प्रसंगवश संलक्ष्यक्रम भी हो सकती है।'[1] इससे स्पष्ट है कि श्री ग० त्र्यं० देशपांडे ध्वनि तथा रस को एक रूप ही मानते हैं और रसानुभूति के विवेचन की प्रक्रिया को ध्वनि नहीं मानते। 'असंलक्ष्यक्रम ध्वनि' में भी क्रम की स्थिति रहती है, परन्तु रस का 'झटिति' प्रत्यय होता है। अत: इसे असंलक्ष्य-क्रम कहा गया है।

इसके अतिरिक्त श्री ग० त्र्यं० देशपांडे ने एक अन्य प्रचलित धारणा का प्रत्याख्यान किया है। कतिपय आधुनिक विद्वानों के मत में आनन्दवर्धन ने 'काव्यस्यात्मा ध्वनि' मान कर वस्तु ध्वनि, अलंकार ध्वनि तथा रस ध्वनि तीनों को काव्य के आत्मपद का अधिकारी ठहराया था, परन्तु अभिनव गुप्त ने 'रस ध्वनि' को ही काव्य की आत्मा सिद्ध किया है। इस धारणा के विपरीत श्री ग० त्र्यं० देशपांडे के मत में आनन्दवर्धन ने ही रसादि ध्वनि के आत्मपद का मूलत: प्रतिपापदन किया है और अभिनवगुप्त ने मानों उसी का समर्थन किया है। क्योंकि ध्वनिकार ने स्पष्ट लिखा है कि 'व्यंग्य व्यंजक भाव के विविध प्रकार होने पर भी कवि

---

१. भारतीय साहित्यशास्त्र, पृ० १८९।

को चाहिए कि वह सदैव रसादिरूप व्यंग्य व्यंजक भावों पर ही 'अवधान' रखे।'[१] इसलिए अभिनवगुप्त ने ध्वनि के व्याख्यान में ऐसा कोई प्रयत्न नहीं किया जो मूलतः ध्वनिकार को अमान्य हो।[२]

इन्होंने 'शब्दबोध' के तीन प्रकारों– वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ की पृथक्-पृथक् प्रकरण में विस्तृत मीमांसा की है। संस्कृत के उदाहरणों से ही इनके भेद-उपभेदों को समझाने का प्रयत्न किया गया है।[३]

डा० के० ना० वाटवे ने प्रा० द० के० केळकर तथा प्रा० रा० श्री० जोग की मान्यताओं का ही समर्थन किया है और ध्वनि को 'साधन रूप' मान कर काव्य का आत्म तत्व ध्वनि की अपेक्षा रस को ही स्वीकार किया है : 'ध्वनि रस प्रतीति का एक उत्तम मार्ग है। यह मानना उपयुक्त नहीं है कि सूचित या ध्वनित अर्थ से ही रस प्रतीति होती है और साधारण वाच्यार्थ से रस प्रतीति नहीं होती। काव्य में रस को ही प्राधान्य प्राप्त है, ध्वनि तो साधन रूप है।'[४]

रस को ही एकान्ततः काव्य के आत्मपद का अधिकारी मान कर डा० वाटवे ने 'रस ध्वनि' के विषय में एक नई व्यवस्था सुझाई है। रस की प्रक्रिया में सूचना या व्यंजना की मूलतः स्थिति है, परन्तु 'अभ्यासवश' वह किसी के ध्यान में नहीं आती। रस-प्रक्रिया में व्यंजना को क्रम-प्राप्त माना जाता है। अतः रसों के दो वर्ग बनाने चाहिएँ : एक 'उत्तान रस' और दूसरा 'मुग्ध' अथवा 'ध्वनित रस'। इनमें दूसरे 'रस प्रकार' को 'रस ध्वनि' कहा जाय। साहित्य के रसात्मक स्थलों का निरीक्षण करने पर रसों के ये दो प्रकार स्पष्टतः उपलब्ध होते हैं। 'मुग्ध' या सूचित रस (रस ध्वनि) निर्माण करने के लिए कवि में कौशल और प्रतिभा की अधिक आवश्यकता होती है, अतः यह सहृदयों को अधिक 'हृद्य' प्रतीत होता है। कहीं-कहीं एक ही कवि मुग्ध और उत्तान दोनों प्रकार के रसों का निर्माण करता है। उदाहरणार्थ, भवभूति ने अपने उत्तर रामचरित के प्रथम अंक में (अंतिम भाग में) 'मुग्ध करुण' और तीसरे अंक में 'उत्तान करुण' का निर्माण किया है। कालिदास के 'अजविलाप' और 'रतिविलाप' तथा जगन्नाथ के 'भामिनी विलास' में वर्णित

---

१. व्यंग्य व्यंजक भावेऽस्मिन् विविधे संभवत्यपि।
रसादिमय एकस्मिन् कविः स्यादवधानवान् ॥ ध्व० ४।५ भारतीय सा० शास्त्र पृ० २०३

२. भारतीय साहित्य शास्त्र, पृ० २०३

३. भारतीय साहित्य शास्त्र , पृ० १४०-८०।

४. रसविमर्श, पृ० ३८०

करुण रसात्मक स्थल 'उत्तान करुण' के उदाहरण हैं। इसी प्रकार कालिदास ने विवाह-बद्ध हो रहे शिव-पार्वती के मुग्ध व संयमित शृंगार का 'कुमार संभव' के ७ वें सर्ग के तीन श्लोकों (७५-७८) में ही जो वर्णन किया है, इसके आगे सात सर्ग में वर्णित 'उमा सुरत वर्णन' से सम्बद्ध उत्तान शृंगार फीका लगता है। संक्षेप में पाठक की कल्पना शक्ति को अधिक से अधिक विकसित करने वाले 'सूचक', 'संयमित' संक्षिप्त और सहज निर्मित रसात्मक स्थलों को ही विशेषकर 'रस ध्वनि' के उदाहरण मानने चाहिएं और तदितर स्थलों में साधारण रस समझना चाहिए।'[1]

प्रा० द० के० केळकर के समान डा० रा० शं० वालिंबे ने भी ध्वनि तत्व के मूल में कल्पना जागृति के महत्व का स्पष्ट व्याख्यान किया है। आनन्दवर्धन द्वारा व्यंजना या ध्वनि को काव्य में प्राधान्य देना इनकी धारणा में उपयुक्त ही है। भाषा में अनेक शब्द इस प्रकार के होते हैं कि उनका उच्चारण करते ही वाच्यार्थ से सम्बन्ध न रखने वाली अनेक कल्पनाएँ मन में तरंगित होने लगती हैं। इससे अनेक कल्पना-चित्र निर्मित हो जाते हैं। बहुत से साधारण प्रतीत होने वाले शब्दों में भी भिन्न-भिन्न प्रकार की संवेदनाओं के निर्माण की क्षमता होती है। वाच्यार्थ से इनकी सिद्धि नहीं हो सकती। इन्हें सूचित या ध्वनित ही किया जाता है। उदाहरणार्थ, 'बाल कवि' की कविता में 'तृणाची मखमल,' (घास की मखमल) शब्द पढ़ते ही रंग और स्पर्श इन दोनों की संवेदनाएँ प्रतीत होती हैं। यह सामर्थ्य इन शब्दों के वाच्यार्थ में निहित नहीं है। यहाँ लक्षणा भी नहीं हो सकती। अतः इस प्रकार की संवेदनाओं तथा इनसे सम्बद्ध मोहक कल्पना-चित्रों के निर्माण में व्यंजना ही सहायक होती है। कतिपय शब्दों में 'भावना' और 'मनोविकार' के निर्माण की भी क्षमता होती है, इसमें भी वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंजना का ही प्रमुख हाथ होता है। जिस परिस्थिति में शब्दों का उच्चारण किया जाता है, उस परिस्थिति, संदर्भ तथा वक्ता और श्रोता की मानसिक अवस्था पर शब्दों में निहित प्रस्तुत व्यंजना अधिकांशतः अवलम्बित होती है। उदाहरणार्थ, 'प्रेम' शब्द का वाच्यार्थ स्पष्ट है। परन्तु इस शब्द के सुनते ही जिन विविध भावों के आन्दोलन मन में जाग्रत होंगे, उनका स्वरूप भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की भावनाओं तथा मनोवृत्तियों पर अवलंबित होगा। जिस व्यक्ति को प्रेम में सफलता मिली है, उसके मन में इस शब्द के सुनते ही उठने वाली भावना-तरंगों में और जिसे प्रेम में 'दारुण निराशा' हुई है, ऐसे व्यक्ति के मन में उठने वाली भावना-तरंगों में परस्पर बहुत अन्तर होता है। एक ही शक्ति की सहायता से भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के मन में नितान्त परस्पर

---

१. रसविमर्श, पृ० ३७८-७९।

विरुद्ध भावनाएँ निर्मित होती हैं और स्पष्टतः ही यह कार्य वाच्यार्थ का नहीं है, अतः व्यंजना के इस कार्य को स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। वाच्यार्थ वस्तुनिष्ठ होता है और व्यंजना अधिकांश में व्यक्तिनिष्ठ और परिस्थिति सापेक्ष होती है। अर्थात् जिस एक शब्द से किसी को अत्यन्त उद्विग्नता की अनुभूति होगी उसी एक शब्द से दूसरे को उत्कट आनन्द मिलेगा। उस शब्द का वाच्यार्थ तो वही एक है, परन्तु इससे प्रतीयमान भिन्न-भिन्न अनुभूतियों की जागृति व्यंजना या ध्वनि का कार्य है।'[१]

वस्तु-ध्वनि तथा अलंकार-ध्वनि का अभिनवगुप्त-प्रतिपादित रस-ध्वनि में पर्यवसान डा० वाळिंबे को भी स्वीकार्य है। क्योंकि इन्होंने रस को ही काव्य के आत्म तत्व के रूप में मान्यता दी है। शब्दों की सहायता से जो कल्पना-चित्र निर्मित होता है, उसका वर्णन अलंकारों में रूपान्तरित होते ही वह अलंकार-ध्वनि कहलाता है। और किसी भिन्न ही अर्थ की प्रतीति कराने वाले शब्दों की सहायता से जो आशय सूचित किया जाता है, उसे वस्तु-ध्वनि कहा जाय। वस्तु-ध्वनि और अलंकार-ध्वनि का पर्यवसान अन्ततः रस में ही होता है, अतः वास्तव में रस ही काव्य की आत्मा है।[२]

व्यंजना अथवा ध्वनि तत्व द्वारा कल्पना-जागृति के महत्व का व्याख्यान करते हुए भी डा० वाळिंबे ने भावना जागृति को ही अन्तिम साध्य मान कर रस के आत्म पद का समर्थन किया है और 'ध्वनि' को कल्पना तत्व तक ही सीमित कर दिया है।

इस प्रकार रस के भाववादी तथा आनन्दवादी स्वरूप के विवेचकों ने प्रायः एक स्वर में 'रस' को ही काव्य के आत्म पद का अधिकारी ठहराया है और ध्वनि तत्व को कल्पना-जागृति में सहायक अथवा रसानुभूति कराने का साधन मात्र सिद्ध किया है।

रस के वस्तुनिष्ठ स्वरूप की मीमांसा विस्तार से हो चुकी है।[३] रस तथा आनन्द की एकरूपता के प्रतिपादक आचार्यों ने प्रायः ध्वनि तथा रस की भी एकरूपता का ही समर्थन किया है। परन्तु रस को वस्तुनिष्ठ मानने पर ध्वनि तत्व को रस तत्व से अनिवार्यतः भिन्न रूप मानना आवश्यक हो जाता है। वस्तुवादी रस स्वरूप के प्रतिपादक डा० बारलिंगे ने 'नाट्यरस' तथा 'ध्वनि' की पृथक्-पृथक्

---

१. साहित्य मीमांसा, पृ० ८२-८३

२. साहित्य मीमांसा, पृ० ८२-८३

३. दे० रस-स्वरूप प्रकरण।

स्वतन्त्र स्थिति का विवेचन किया है। इन्होंने सामान्यतः काव्यार्थ को ही ध्वनि का स्वरूप माना है और प्रथम 'रस' और 'अर्थ' के पारस्परिक अन्तर के स्पष्टीकरण के उपरान्त 'नाट्य रस' तथा काव्यार्थ (ध्वनि) की भिन्नता का प्रतिपादन किया है। डा० बार्लिंगे के प्रतिपादन का प्रमुख अंश है : 'इस प्रकार नाटक में प्रयोगात्मक 'नाट्य' तो श्रव्य काव्य में शब्द केन्द्र बिन्दु ठहरते हैं। नाट्य के पदार्थों का सम्पूर्ण और यथार्थ वर्णन विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव इन शब्दों से किया जा सकता है। प्रस्तुत विभावानुभाव आदि में निहित 'घटनाएँ' 'वागंग-सत्वोपेत' होती है। इन सभी घटनाओं का समग्र अर्थ अर्थात् नाटक आस्वादात्मक अथवा अनुभवात्मक होता है। फलतः प्रस्तुत अर्थ को आस्वाद और जिन वस्तुओं का हम आस्वाद लेते हैं उन्हें 'आस्वाद्य' या रस कहा जाता है। अर्थ मानसिक होता है, अतः वह मूलतः अनुमित होता है अर्थात् अर्थ की व्यंजना मूल में ही निहित होती है। परन्तु कलाकार अपनी कुशलता से इस व्यंग्य अर्थ को अधिक परिपुष्ट कर सकता है। इसी से वाच्यार्थ के अतिरिक्त लक्षणा और व्यंजना उत्पन्न होती है। काव्य (अथवा नाटक) का वास्तविक अर्थ यही है। अतः काव्य-नाटक की वास्तविक आत्मा यही अर्थ—ध्वन्यर्थ निश्चित होता है। परन्तु 'नाट्य' में इस अर्थ का महत्व नहीं होता, वरन् यह अर्थ जिससे अनुमित हुआ है, वह वस्तु अर्थात् शारीरिक संवेदनाएँ और पार्थिव परिस्थिति महत्वपूर्ण होती है। यह अर्थ जिन मूलभूत घटनाओं से प्रतीत होता है उनका संकलन करके प्रेक्षकों को दिखाना सूत्रधार का कार्य है। सूत्रधार जिस कुशलता से इसे कर दिखाता है, उसी में इसकी सफलता निहित है। आरम्भिक नाट्य में सूत्रधार कठपुतलियों का खेल करता है। सभी कठपुतलियों के हाथ-पैर विशिष्ट प्रकार के धागों से बँधे हुए होते हैं। सूत्रधार एक अदृश्य स्थान पर बैठ कर उन्हें चलाता था जिससे इन निर्जीव कठपुतलियों का नृत्य शुरू होता था। परन्तु इन निर्जीव कठपुतलियों के नृत्य में भी 'अर्थ' होता था जिसे प्रेक्षक ग्रहण करता था। नाट्य की घटनाओं से प्राप्त जो अर्थ है अथवा ध्वन्यर्थ या आस्वाद है, वही नाटक का और इसी प्रकार काव्य का आत्म तत्व है।'[1]

नाट्य रस तथा काव्यार्थ या ध्वनि का भरतमुनि के सूत्रों के आधार पर स्पष्टीकरण निम्न रूप में किया जा सकता है। भरतमुनि के इस विषय में तीन प्रमुख सूत्र हैं :

१. वागंग सत्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्तीति भावाः।

२. विभावानुभावव्यभिचारि संयोगाद् रस निष्पत्तिः।

---

१. नाट्यांतील रस व काव्यांतील ध्वनि, मराठवाडा, दिवाली अंक १९५७

३. नहि रसादृते कश्चिदपि अर्थः प्रवर्तते ।

प्रथम सूत्र का अर्थ है—जो काव्यार्थ अर्थात् कवि के मन में निहित और उसके द्वारा स्पष्ट किया हुआ अर्थ (इसे वस्तु या विषय भी कहा जा सकता है)—वाक्, अंग और सत्व इनमें रूपान्तरित किया गया है, उस अर्थ को पुनः प्रकट करने वाले जो तत्व हैं वे भाव हैं–अर्थात् विभावादि हैं। इस सूत्र में काव्यार्थ शब्द आया है, केवल नाटच शब्द का प्रयोग नहीं है। परन्तु भरतमतानुसार 'नाटच' सदैव प्रयोग-शील होता है। इसलिए 'काव्यार्थ' जब प्रयोगशील नाटच में रूपान्तरित होता है, तब वह विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों का रूप धारण कर लेता है। इस विभाव, अनुभाव आदि के संयोग को ही नाटच में रस कहा जाता है। सम्बन्ध को हमारे दर्शनों में स्वतन्त्र पदार्थ माना गया है। फलतः 'तत्र (अर्थात् रंगमंच पर) विभावानुभाव व्यभिचारीसम्बन्धात् रस-निष्पत्ति' यह दूसरा सूत्र भरतमुनि ने कहा है। परन्तु रस-निर्मिति के बिना प्रेक्षकों को नाटक के अर्थ की प्रतीति नहीं होती, इस आशय को स्पष्ट करने के लिए भरतमुनि ने एक और सूत्र लिखा है : 'नहि रसादृते कश्चिदपि अर्थः प्रवर्तते'—रस के बिना कोई भी अर्थ उत्पन्न नहीं होता। (रस अर्थ से भिन्न है, इसका स्पष्टीकरण इस सूत्र से हो जाता है) रंगमंच पर विशिष्ट प्रकार की सम्पूर्ण व्यवस्था न हो तो उससे प्रेक्षकों को कोई भी अर्थ नहीं मिलेगा। अनेक पंडित इस सूत्र में रस का अर्थ आनन्द मान कर रस के बिना अर्थात् आनन्द के बिना सब कुछ व्यर्थ है, इस प्रकार का अर्थ निकालते हैं। परन्तु इससे 'प्रवर्तते' पद का अर्थ ठीक-ठीक नहीं लगता। क्योंकि 'प्रवर्तते' कालवाचक क्रिया है, प्रथम रस और तदुपरान्त अर्थ इस प्रकार का कालक्रम यहाँ अधिक सुसंगत होगा।' इस प्रकार डा० बार्रालिगे ने नाटच, रस और 'अर्थ' (ध्वनि) की भिन्नता का भरतमुनि के सूत्रों के आधार पर ही विवेचन किया है। 'रस' तथा काव्यार्थ या ध्वनि की भिन्नता का प्रतिपादन डा० बार्रालिगे ने बहुत विस्तार से किया है, इनके चिन्तन का साराँश इस प्रकार है :

१. नाटच और नाटक के अन्तर को समझना आवश्यक है। नाटक एक काव्य-प्रकार है, तो नाटच एक प्रयोग का प्रकार है।

२. काव्य का आशय है कवि-मनस्थ वस्तु। परन्तु जब मेघदूत, रघुवंश आदि को हम काव्य कहते हैं तब काव्य और काव्यार्थ को हम पृथक् कर लेते हैं। जो काव्यार्थ है, वही काव्य और नाटक के लिए आवश्यक है। काव्यार्थ के विशिष्ट अर्थ को ही ध्वनि कहा जाता है, अतः ध्वन्यर्थ को काव्य की आत्मा मानने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होनी चाहिए। यह अर्थ ही प्रतिबिंबित स्थायीभाव होगा।

३. यह अर्थ जिस कारण से सिद्ध होता है, उस नाटचधर्मी वस्तु को नाटच

में रस कहा जाता है। प्रस्तुत रस अर्थ से भिन्न होता है, अतः इसे ही ध्वनि मान लेना सदोष है। अन्ततः नाटच से अर्थ-निष्पत्ति ही होगी तो भी नाटच का स्वरूप प्रयोगात्मक होता है और रस का—अर्थात् जिस वस्तु का अर्थ में रूपान्तर होता है, उस वस्तु का—प्रदर्शन करना ही नाटच का कार्य है।

४. नाटच शास्त्र प्रयोग का शास्त्र (Dramatics) है, काव्य का शास्त्र (Poetics) नहीं है। इस दृष्टि से ही नाटच शास्त्र के रस का 'अन्वयार्थ' निकालना चाहिए और प्रयोगशील शास्त्र में रस को एक महत्वपूर्ण वस्तु के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए।

५. तात्पर्य, रस को नाटच की आत्मा और अर्थ को काव्य की आत्मा मानने में किसी प्रकार की बाधा नहीं है। परन्तु 'रस' और 'ध्वनि' (अर्थ) इन दोनों की एकात्मता की कल्पना करना उपयुक्त नहीं है।[१]

इस प्रकार भरतमुनि के सूत्रों के आधार पर डा० बारलिंगे ने 'रस' को विभाव, अनुभाव, संचारी भाव के संयोग से रंग मंच पर 'नाटच' में रूपान्तरित वस्तु रूप माना है। नाटच वस्तु—अर्थात् रस से प्रेक्षकों को अर्थ की या ध्वन्यर्थ की प्रतीति होती है। नाटच का स्वरूप प्रयोगात्मक है तो रस का स्वरूप प्रयोग में आ रही अर्थपूर्ण वस्तु का है और ध्वनि का स्वरूप है—रस से प्रतीयमान प्रेक्षक की अर्थ प्रतीति का। अतः नाटच में रूपान्तरित वस्तु—रस का और रस से प्रतीयमान अर्थ (ध्वनि) का एकीकरण इनकी मान्यता में असंगत है। नाटच की आत्मा रस है तो काव्य की आत्मा ध्वनि (काव्यार्थ) है।

तुलनात्मक निष्कर्ष

हिन्दी-मराठी के परम्परानुयायी आख्याताओं ने संस्कृत के आचार्यों की ध्वनि विषयक मान्यताओं का ही प्रायः समर्थन किया है। इन्होंने ध्वनि मतानुयायी आचार्यों के मत के अनुरूप ही काव्य के उत्तम, मध्यम तथा अधम वर्ग बनाये हैं और ध्वनिपूर्ण काव्य को ही उत्तम काव्य की कोटि में स्थान दिया है। इन्होंने संस्कृत-साहित्यशास्त्रगत ध्वनि के भेद-प्रभेदों को ही हिन्दी-मराठी के उदाहरणों से समझाने का प्रयत्न किया है। उदाहरणों के लिए संस्कृत के काव्यों के साथ-साथ आधुनिक कवियों की रचनाओं का भी आधार ग्रहण किया गया है। संस्कृत के ध्वनिवादी आचार्यों के मत के अनुसार ही इन परम्परानुयायी आख्याताओं ने भी रस तथा ध्वनि को अभिन्न मान कर ध्वनि को काव्य का आत्म तत्व मान लिया है। दूसरी ओर पुनराख्याताओं ने संस्कृत के आचार्यों की मान्यताओं को ही यथा-

---

१. मराठवाडा, दिवाली अंक १९५७

वत् स्वीकार नहीं किया है। विशेषत: व्यंग्यार्थ में ही काव्यत्व मानने की परम्परागत धारणा का कतिपय आधुनिक समीक्षकों ने प्रत्याख्यान किया है और अभिधार्थ में ही काव्यत्व मानना आवश्यक ठहराया है। इसके अतिरिक्त कतिपय समीक्षकों के मत में रस की तुलना में ध्वनि को काव्य का आत्मतत्व मानना उपयुक्त नहीं है तो कतिपय के मत में ध्वनि का सम्बन्ध कल्पना तत्व से है। हिन्दी-मराठी के इन समीक्षकों के अभिमतों तथा नवीन मान्यताओं का ध्वनि तत्व के विभिन्न विषयों के अनुरूप तुलनात्मक सारांश प्रस्तुत किया जाता है।

शब्द शक्ति-विवेचन :

ध्वनि-सिद्धान्त का आधारभूत तत्व शब्द-शक्ति है। भारतीय आचार्यों द्वारा शब्द-शक्तियों का आविष्कार काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में एक महान् देन है। यह उनकी सूक्ष्म तत्वदर्शी व तार्किक चिन्तन-प्रणाली का परिणाम है। शब्द की अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना इन तीन शक्तियों में से मुख्यत: व्यंजना से ध्वनि का निकट सम्बन्ध है। व्यंग्य या ध्वनि तक पहुँचने की प्रक्रिया में अभिधा और लक्षणा शक्तियों की स्थिति, तात्पर्यवृत्ति तथा व्यंजना का अन्तर और व्यंजना या ध्वनि तत्व के महत्व का प्रतिपादन संस्कृत आचार्यों ने अत्यन्त गहन-गम्भीरता के साथ किया है। आधुनिक हिन्दी-मराठी के काव्य-शास्त्र के लिए शब्द-शक्तियों के विवेचन-व्याख्यान की उपादेयता असंदिग्ध है।

हिन्दी में डा० भोलाशंकर व्यास ने भारतीय आचार्यों के शब्द-शक्ति-विवेचन का व्यापक अध्ययन प्रस्तुत किया है। प्रसंगानुरूप इन्होंने पाश्चात्यों के एतद्विषयक अभिमतों का उल्लेख करते हुए भारतीय आचार्यों के शब्द-शक्ति-चिन्तन की गहनता और महत्ता का मूल्यांकन किया है।[१] मराठी में श्री ग० त्र्यं० देशपांडे ने संस्कृत आचार्यों के शब्द-शक्ति-विवेचन को पर्याप्त व्यापक रूप में प्रस्तुत किया है, तुलना के लिए इन्होंने पाश्चात्यों के अभिमतों का उल्लेख नहीं किया है। डा० रा० शं० वाळिंबे ने शब्द शक्तियों का संक्षिप्त निरूपण किया है। श्री रामदहिन मिश्र तथा श्री ग० त्र्यं० देशपांडे का शब्द-शक्ति-विवेचन एकान्तत: संस्कृत काव्य-शास्त्र की परम्परा के अनुरूप ही है। शब्द-शक्तियों का अत्यधिक सूक्ष्म अध्ययन व्याकरण तथा भाषा-शास्त्र की सीमा में प्रवेश करने लगता है, अत: काव्यत्व को दृष्टिगत रख कर ही शब्द-शक्तियों का विवेचन काव्य-शास्त्र की दृष्टि से अधिक संगत और उपादेय होगा।

---

१. ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त, आमुख, पृ० ८-२४

काव्यत्व का अधिवास वाच्यार्थ में या व्यंग्यार्थ में ?

शब्द की व्यंजना शक्ति के महत्व को स्वीकार करते हुए भी कतिपय हिन्दी-मराठी के काव्य-शास्त्रज्ञों ने वाच्यार्थ में काव्यत्व को स्वीकार किया है। हिन्दी में आ० रामचन्द्र शुक्ल ने तथा मराठी में प्रा० रा० श्री जोग ने वाच्यार्थ में काव्यत्व के अधिष्ठान का समर्थन किया है। इन दोनों की धारणा में व्यंग्यार्थ में ही अनिवार्यतः काव्यत्व या रमणीयता की स्थिति नहीं होती, रस की प्रतीति का मूलभूत आधार वाच्यार्थ होता है। अतः वाच्यार्थ में ही काव्यत्व निहित है। इन दोनों समीक्षकों का दृष्टिकोण रसध्वनि वादी आचार्यों की धारणाओं से भिन्न है। यद्यपि दोनों ही समीक्षक रस तत्व को काव्य का आत्मतत्व स्वीकार करते हैं। परम्परागत रसवाद का दोनों ने ही अनुसरण-समर्थन किया है। दोनों ही रस के भावात्मक स्वरूप पर अधिक बल देते हैं, अपेक्षाकृत आनन्दात्मक रस-स्वरूप के। परिणामतः वाच्यार्थ में काव्यत्व का अधिष्ठान स्वीकार करना इन्हें असंगत प्रतीत नहीं होता।

केवल वाच्यार्थ में ही काव्यत्व को स्वीकार करना एकान्ततः निर्दोष अभिमत नहीं है। काव्य में व्यंजना-व्यापार की स्थिति असंदिग्ध है। शब्द के तीनों व्यापारों—अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना का अन्तिम साध्य रसानुभूति या भावानुभूति कराना है। यह सत्य है कि अभिधार्थ या वाच्यार्थ ही मूल आधार है, जिससे ध्वन्यर्थ या रसानुभूति सम्भव है। फिर भी केवल वाच्यार्थ में काव्यत्व की स्वीकृति उसी प्रकार से ऐकान्तिक मत है जिस प्रकार से केवल व्यंग्यार्थ में काव्यत्व को स्वीकार करना। क्योंकि व्यंग्यार्थ तो रस-हीन भी हो सकता है। इसीलिए ध्वनिकार को ध्वनि तत्व की प्रतिष्ठापना में स्थान-स्थान पर रसतत्व का महत्वगान आवश्यक प्रतीत हुआ है और 'रसध्वनि' ही इनकी दृष्टि में उत्तम या आदर्श काव्य का रूप ग्रहण कर सका है।

संस्कृत के ध्वनिवाद की प्रतिक्रिया का एक रूप तो वाच्यार्थ में काव्यत्व की स्वीकृति के रूप में व्यक्त हुआ है, दूसरा रूप है—वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ तीनों से ही रसानुभूति को पूर्णतः सम्भव मानना। हिन्दी में डा० गुलाबराय ने तथा मराठी में श्री द० के० केळकर ने ध्वनि-इतर अर्थों में भी रसानुभूति का समर्थन किया है।

रसानुभूति, भावानुभूति और वाच्यार्थ-प्रतीति में अन्तर स्पष्ट कर लेना आवश्यक है। जो वाच्यार्थ में ही काव्यत्व मान लेते हैं, उनके लिए इन तीनों का स्वरूप प्रायः एक जैसा-ही बन जाता है। परन्तु संस्कृत-साहित्य-शास्त्र की परम्परा के अनुरूप इन तीनों का स्वरूप भिन्न-भिन्न है। प्रसंगानुरूप शब्द का विशिष्ट वाच्यार्थ सहृदय में विशिष्ट भाव की जागृति करता है और विशिष्ट प्रकार के भाव की

जागृति सहृदय को आनन्दमग्न कर देती है। संस्कृत परम्परानुरूप आनन्दमग्नता ही रसानुभूति है और यह भावानुभूति से स्पष्टतः भिन्न है। क्योंकि रस-ध्वनिवादियों के अनुसार रसानुभूति का स्वरूप एक प्रकार से अखण्ड संविद्‌विश्रान्ति रूप माना गया है। उनके अनुसार भावानुभूति का स्वरूप रसानुभूति से स्पष्टतः भिन्न है। वाच्यार्थ प्रायः वस्तु का बिम्ब हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है और अनुभूति-संवेदनों को जगाता है। भावानुभूति की स्थिति वाच्यार्थ के अत्यन्त निकट है, फिर भी इसके पृथक् अस्तित्व का निराकरण कठिन है। वाच्यार्थ से भिन्न जो भावानुभूति है उसे ध्वनिवाद के अनुसार व्यंग्य या ध्वनि रूप समझा गया है। वाच्यार्थ से प्रतीयमान अर्थ = ध्वन्यर्थ में सहृदय को आनन्दमग्न करने की क्षमता अनिवार्यतः होनी चाहिए, तभी उसमें काव्यत्व आता है, अन्यथा नीरस प्रतीयमान अर्थ—ध्वन्यर्थ में काव्यत्व नहीं होगा। इसीलिए ध्वनिवाद में 'रस-ध्वनि' का अधिक महत्व-गान है। यदि व्यापक दृष्टि से देखा जाय तो स्पष्ट होगा कि प्रत्येक वाच्यार्थ काव्य है, यदि उसमें भावानुभूति कराने की अथवा आनन्दमग्न करने की सामर्थ्य है। इसलिए रमणीय वाच्यार्थ में काव्यत्व की स्वीकृति असंगत प्रतीत नहीं होती। ध्वनिवादियों ने रमणीयता की अनुभूति को व्यंग्य या ध्वनि का कार्य मान कर 'ध्वनि' में ही काव्यत्व की स्वीकृति दी है।

काव्य का आत्म तत्व रस या ध्वनि ?

ध्वनि-तत्व को भावानुभूति या रसानुभूति में सहायक प्रक्रिया, पद्धति या साधन मात्र मान कर कतिपय हिन्दी-मराठी के समीक्षकों ने ध्वनि को काव्य का आत्म तत्व मानने से असहमति व्यक्त की है। हिन्दी में आ० रामचन्द्र शुक्ल, डा० नगेन्द्र तथा मराठी में प्रा० रा० श्री० जोग, श्री द० के० केळकर, डा० के० ना० वाटवे डा० रा० शं० वाळिंबे आदि ने ध्वनि को काव्य का आत्म तत्व स्वीकार नहीं किया है। इन सभी समीक्षकों ने रस को ही काव्य के आत्म तत्व का स्थान प्रदान किया है। इनमें से अधिकांश की धारणा में रसानुभूति या भावानुभूति ही काव्य का आत्म तत्व हो सकता है, ध्वनि तत्व नहीं। ध्वनि या व्यंजना एक प्रक्रिया, पद्धति या साधन मात्र है, जिसकी सहायता से काव्य के आत्म तत्व या अन्तिम साध्य रसानुभूति या भावानुभूति तक पहुँचा जा सकता है।

डा० नगेन्द्र ने ध्वनि-तत्व का सम्बन्ध कल्पना तत्व से स्थापित किया है और रस का अनुभूति तत्व से। कल्पना और अनुभूति इन दोनों में से इन्होंने अनुभूति तत्व को महत्व प्रदान करके रस को ही काव्य के आत्म तत्व का अधिकारी निर्धारित किया है। प्रा० द० के० केळकर तथा डा० रा० शं० वाळिंबे ने भी ध्वनि तत्व का महत्व-मापन सहृदय में कल्पना-जागृति के रूप में ही किया है। इन्होंने भी

ध्वनि की तुलना में 'रस' को ही काव्य में अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध किया है। श्री द० के० केळकर ने तथा डा० रा० शं० वाळिंबे ने 'ध्वनि' में निहित कल्पना-तत्व की मीमांसा सहृदय के आधार पर की है तो डा० नगेन्द्र ने मूलतः कवि और काव्या-स्वादक सहृदय दोनों की मनःस्थितियों का विश्लेषण कर 'ध्वनि' में निहित कल्पना तत्व का मूल्यांकन किया है।

हिन्दी-मराठी के आधुनिक काव्य-शास्त्रज्ञों में कतिपय ने शास्त्रीय परम्परा का एकान्त अनुसरण करके ध्वनि को काव्य के आत्म तत्व के रूप में ही स्वीकार किया है। हिन्दी में रामदहिन मिश्र तथा मराठी में श्री ग० त्र्यं० देशपांडे ने ध्वनिकार की धारणा की व्यापक व्याख्या करते हुए इनके दृष्टिकोण को समीचीन ठहराया है। श्री ग० त्र्यं० देशपांडे ने 'ध्वनि' को रसानुभूति की पद्धति या साधन मानने की धारणा का प्रत्याख्यान किया है, क्योंकि रसानुभूति की प्रक्रिया ध्वनि नहीं है। रसानुभूति ही स्वयं व्यंग्य या ध्वनित होती है। श्री रामदहिन मिश्र की धारणा में भी रस-ध्वनि भी ध्वनि ही है, अतः वे ध्वनि को ही काव्य का आत्म तत्व स्वीकार कर लेते हैं। श्री ग० त्र्यं० देशपांडे ने 'रसादिध्वनि' को काव्य का आत्म तत्व मानने का विशेष समर्थन किया है।

डा० बारलिंगे भी ध्वनि को काव्य का आत्म तत्व मानना उपयुक्त समझते हैं। परन्तु रस-ध्वनिवादियों की धारणा से इनका दृष्टिकोण नितान्त भिन्न है। इन्होंने सामान्यतः 'रस' को वस्तुनिष्ठ और ध्वनि को काव्यार्थ रूप माना है। काव्य के प्रतीयमान अर्थ—ध्वन्यर्थ या काव्यार्थ को इन्होंने काव्य का आत्म तत्व मान लिया है और रस को ध्वन्यर्थ की प्रतीति का साधन या माध्यम रूप निर्धारित किया है।

हिन्दी-मराठी के काव्य-शास्त्रज्ञों ने ध्वनि तत्व की उपादेयता का विवेचन जिस प्रकार से किया है, उससे मुख्यतः तीन विशेषताओं की प्रतीति होती है :

१. ध्वनि-तत्व प्रत्येक शब्द में अन्तर्हित शक्ति को पहचानने की प्रेरणा देता है।

२. ध्वनि-तत्व सहृदय में कल्पना-जागृति करता है।

३. ध्वनि-तत्व काव्य के प्रति सहृदय का आकर्षण बढ़ाता है।

१—प्रत्येक कवि या कलाकार काव्य-सृजन के क्षणों में आधारभूत उपादान के रूप में शब्दों को ही ग्रहण करता है। ध्वनि-सिद्धान्त कवि या कलाकार को विशिष्ट शब्दों के चुनाव पर अपनी दृष्टि केन्द्रित रखने की प्रेरणा देता है। ध्वन्यात्मक शब्दों के प्रयोग से काव्य का अनावश्यक विस्तार कम हो जाता है और व्यंजना या ध्वनिपूर्ण शब्दों के प्रयोग से काव्य की शिथिलता दूर हो जाती है और उसमें शक्ति का संचार होता है।

२—ध्वनि-तत्व की दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता है कल्पना-जागृति की। प्रत्येक कवि केवल शब्दों या वाक्यों को ही ध्वन्यात्मक रूप में प्रस्तुत नहीं करता वरन् काव्य की विविध घटनाओं, प्रसंग-परिस्थितियों एवं पात्रों के चरित्रों को भी इस रूप में प्रस्तुत करता है कि जिससे पाठकों के मन में इनसे सम्बद्ध अनेक कल्पना-तरंगों की उत्पत्ति होती है। कवि का अन्तर्मन स्वयं कल्पना-प्रवण होता है और वह उसी प्रकार की तथा उससे भिन्न अनेक नवीन कल्पनाओं की जागृति में समर्थ शब्दों, वाक्यों, घटनाओं तथा चरित्रों को प्रस्तुत करता है। इससे सहृदयों के मन में भी कल्पना-वीचियाँ तरंगित हो उठती हैं। ध्वनि-तत्व का सम्बन्ध व्यापक रूप में इसी कल्पना-तत्व से है।

३—ध्वनि-तत्व की तीसरी विशेषता है काव्य के प्रति सहृदय में आकर्षण उत्पन्न करना। एतदर्थ ध्वनि-तत्व सहृदय को अपनी कल्पना शक्ति से समुचित काम लेने की प्रेरणा देता है। जब सहृदय का मन काव्याध्ययन के क्षणों में ध्वनि-तत्व-प्रेरित कल्पना-ग्रहण या कल्पना-सर्जन में तल्लीन हो जाता है, तब काव्य के प्रति उसका आकर्षण स्वाभाविक रूप से बढ़ता है। इस प्रकार से ध्वनि-तत्व सहृदय की कल्पना-शक्ति को क्रियाशील बनाता है और उसकी प्रतिभा को गति प्रदान करता है। कल्पना-शक्ति का अपनी क्रिया में तत्पर होना ही काव्य के प्रति आकर्षण का बढ़ना है।

यद्यपि संस्कृत-साहित्यशास्त्र में ध्वनि-तत्व की स्वतन्त्र रूप में प्रतिष्ठापना का प्रयत्न हुआ था तथापि रसवाद के प्रबल प्रभाव से ध्वनि-तत्व का महत्व-मापन रस की सापेक्षता में ही किया गया। अतः वहाँ ध्वनि-तत्व का विवेचन रस-तत्व की ही महत्व-प्रतिष्ठा करता गया। परिणामतः आधुनिक हिन्दी-मराठी के काव्य शास्त्र में भी रस-ध्वनिवादी परम्परा का अधिक अनुसरण हुआ है और ध्वनि-तत्व का स्वतन्त्र मूल्यांकन अपेक्षाकृत कम हुआ है। आधुनिक हिन्दी-मराठी के काव्य शास्त्र में वर्तमान काव्य-साहित्य के आधार पर ध्वनि-तत्व के व्यापक पुनराख्यान की अत्यन्त आवश्यकता है।

पंचम अध्याय

वक्रोक्ति-सिद्धान्त का तुलनामक अध्ययन
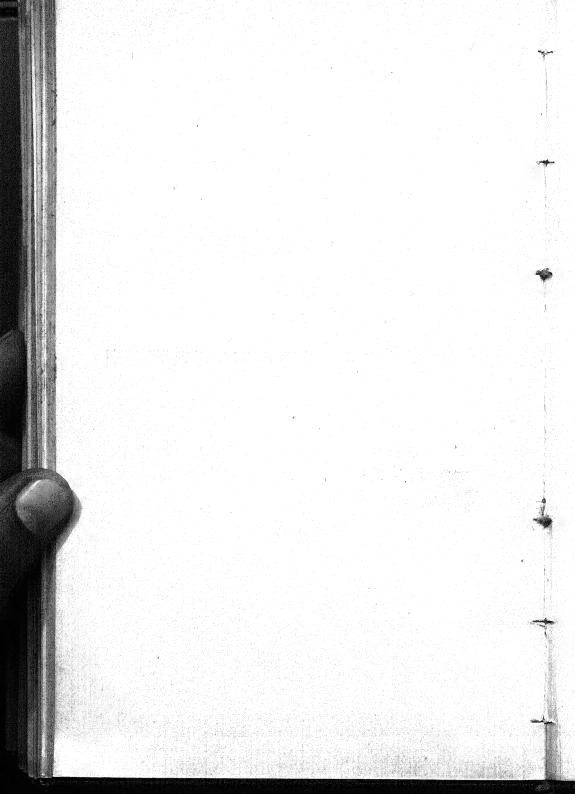
वक्रौक्ति-सिद्धान्त की पूर्वपीठिका

'वक्रोक्ति' की स्थिति अलंकारवादी भामह से पूर्व विद्यमान थी। भामह ने स्वयं वक्रोक्ति का लक्षण प्रस्तुत नहीं किया वरन् परंपरा-प्राप्त अर्थ-ग्रहण करके इसका निरूपण कर दिया है। इन्होंने शब्दगत और अर्थगत वक्रता का प्रतिपादन करके अलंकारों के मूल में वक्रोक्ति के आधार का स्पष्टीकरण किया है। इनकी मान्यता में वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति पर्याय रूप हैं। वक्रोक्ति से काव्य के अर्थ का भावन होता है, अतः प्रत्येक कवि को वक्रोक्तिपूर्ण काव्य-रचना में प्रयत्नशील होना चाहिए, अन्यथा कोई भी अलंकार बिना वक्रोक्ति के स्वरूप धारण नहीं कर सकता।'[1] 'सूर्य डूब गया, चन्द्रमा चमकता है' इत्यादि वक्रोक्ति-हीन वचनों को काव्य नहीं कहा जा सकता। ऐसे सामान्य वाक्य तो 'वार्ता' मात्र होते हैं।[2] इससे स्पष्ट है कि भामह वक्रोक्ति को काव्य के लिए नितान्त अनिवार्य तत्व मानते हैं। भामह के समान दण्डी ने भी वक्रोक्ति को काव्य के लिए नितान्त आवश्यक तत्व के रूप में मान्यता दी है। इन्होंने समग्र काव्य के दो भेद बना दिये––एक स्वभावोक्ति और दूसरा वक्रोक्ति।[3] दण्डी ने स्वभाव कथन को अपेक्षाकृत न्यून महत्व दिया है और वक्रोक्ति के वर्चस्व का ही प्रतिपादन किया है।[4] क्योंकि स्वभावोक्ति एक प्रकार से काव्य का सहज माध्यम है परन्तु वक्रोक्ति तो एक प्रकार से नितान्त अनिवार्य माध्यम है।

रीतिवादी वामन ने 'वक्रोक्ति' को न तो काव्य का मूलभूत तत्व माना है और न सम्पूर्ण अलंकारों के मूल में इसकी अनिवार्य स्थिति का प्रतिपादन किया

---

१. भामह : सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया बिना ॥ काव्या०, २।८
२. काव्यालंकार, २।८७
३. काव्यादर्श, २।३६२
४. वही, २।१३

है। वे इसे अन्य अलंकार-भेदों की भाँति एक विशेष अलंकार मात्र स्वीकार करते हैं। इन्होंने 'सादृश्य निबन्धना लक्षणा' को ही वक्रोक्ति माना है और असादृश्य निबन्धना लक्षणा में वक्रोक्ति स्वीकार नहीं की है।[१] वामन ने वक्रोक्ति को विशिष्ट अलंकार रूप में भले ही सीमित कर दिया है परन्तु उनके दस शब्द गुणों तथा दस अर्थ गुणों में से अनेक गुणों में कुंतक-प्रतिपादित अनेक वक्रोक्ति-भेदों का सहज अन्तर्भाव हो जाता है।

वामन के समान 'वक्रोक्ति' को अलंकार रूप में सीमित करने का दूसरा प्रयत्न रुद्रट ने किया है। इन्होंने इसे शब्दालंकार रूप मान कर 'काकुवक्रोक्ति' और 'भंग-वक्रोक्ति' दो भेद किये हैं और इसके अर्थालंकार तक व्याप्त होने के अधिकार को भी छीन लिया है। इस प्रकार वक्रोक्ति अपने सामान्य व्यापक अर्थ से वंचित हो रही थी। आनन्दवर्धन की दृष्टि 'वक्रोक्ति' पर पड़ी। इन्होंने भामह के काव्यालंकार का पुष्ट अध्ययन किया था, अतः उनके समान ही इन्होंने वक्रोक्ति के सामान्य अर्थ का प्रतिपादन किया और इसे केवल शब्दालंकार रूप या केवल अर्थालंकार रूप मानने की अपेक्षा 'सर्वालंकार' रूप मान कर 'वक्रोक्ति' की अलंकार भेद में व्यापकता एवं आधारभूतता का पुनः समर्थन किया है।[२] तदुपरान्त अभिनवगुप्त ने भी वक्रोक्ति के व्यापक अर्थ को स्वीकृति दी है।[३] इस प्रकार पुनः वक्रोक्ति को अलंकार क्षेत्र में व्यापक अर्थ प्राप्त हुआ।

वक्रोक्ति-सम्बद्ध इन विभिन्न धारणाओं का एकत्र अध्ययन करके भोज ने इनमें संशोधन-सुझाव प्रस्तुत किये हैं। इन्होंने वक्रोक्ति के व्यापक और सीमित दोनों ही अर्थों का निरूपण किया है। एक ओर शृंगारप्रकाश में भोज ने भामह की वक्रोक्ति-विषयक व्यापक धारणा का समर्थनात्मक उल्लेख किया है तो दूसरी ओर 'सरस्वती-कण्ठाभरण' में वाङ मय के तीन रूपों—वक्रोक्ति, रसोक्ति, स्वभावोक्ति—का प्रतिपादन करके वक्रोक्ति को उपमादि अलंकारों तक सीमित कर दिया है।[४] परन्तु वामन तथा रुद्रट प्रतिपादित वक्रोक्ति के नितान्त सीमित अर्थ को भोज ने स्वीकार नहीं किया है। भोज ने 'सादृश्यनिबंधना लक्षणा' ही नहीं वरन् सभी प्रकार की लक्षणा के मूल में वक्रोक्ति के मूलभूत आधार की

---

१. हि० काव्यालंकार सूत्र वृत्ति ४।३।८
२. हिन्दी ध्वन्यालोक, तृ० उ० का० ३७
३. लोचन, पृ० २०८
४. शृंगारप्रकाश, ९।६ पृ० ४२७—सरस्वती कण्ठाभरण, ५।८

स्पष्टतः स्वीकृति दी है ।[१]

आचार्य कुंतक ने भामह-निरूपित वक्रोक्ति के व्यापक अर्थ का मूल आधार ग्रहण करके अपनी मौलिक प्रतिभा से वक्रोक्ति की काव्य के व्यापक धरातल पर पुष्ट व्याख्या की और इसे काव्य का जीवित तत्व या आत्म तत्व उद्घोषित किया। इन्होंने काव्य की सर्वांग व्याख्या में समर्थ तत्व के रूप में वक्रोक्ति का अभिनव भेद-प्रस्तार किया और वक्रोक्ति को अलंकार, रस, रीति, ध्वनि आदि काव्य-सिद्धान्तों के समान ही महत्वपूर्ण सिद्धान्त सिद्ध कर दिखाया है ।

कुंतक के उपरान्त वक्रोक्ति को 'काव्यजीवित' रूप में समर्थन करने वाला आचार्य आविर्भूत नहीं हुआ । कुंतक परवर्ती आचार्यों पर रस-ध्वनिवाद का ही विशेष प्रभाव रहा । फलतः मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने वक्रोक्ति को अलंकार रूप में ही स्वीकार किया है । मम्मट ने इसे शब्दालंकार तो रुय्यक ने अर्थालंकार माना है ।[२] विश्वनाथ ने मम्मट का अनुसरण करके वक्रोक्ति को शब्दालंकार रूप ही स्वीकार किया है ।[३] संक्षेपतः कुंतक-परवर्ती आचार्यों में से किसी ने भी वक्रोक्ति को समस्त काव्य-सौन्दर्य के मूल्य-मापक तत्व के रूप में मान्यता नहीं दी ।

रस-ध्वनिवादी आचार्यों ने कुंतक के विवेचन का भले ही मूल्यमापन नहीं किया, परन्तु कुंतक ने स्वयं वक्रोक्ति तत्व का इतना सूक्ष्म और व्यापक अध्ययन किया है कि वह एक स्वतंत्र काव्य-सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित हो सका है। कुंतक ने अपने सिद्धान्त की प्रतिष्ठापना में विधायक चिन्तन-प्रणाली अपनाई है, निषेधात्मक नहीं । इसी कारण इनके सिद्धान्त-प्रतिपादन में पूर्ववर्ती काव्य-सिद्धान्तों के प्रत्याख्यान का स्वर मुखर नहीं है ।

वक्रोक्ति : परिभाषा और स्वरूप :

आचार्य कुंतक ने वक्रोक्ति को काव्य का आत्मतत्व या जीवित तत्व उद्घोषित किया है । परिणामतः वे इसकी परिभाषा और इसके स्वरूप को अधिक समर्थ और व्यापक बनाने की ओर सजग रहे हैं । इनके अनुसार वक्रोक्ति की परिभाषा है : 'प्रसिद्ध कथन से भिन्न विचित्र अभिधा अर्थात् वर्णन-शैली ही वक्रोक्ति है । यह कैसी है ? वैदग्ध्य पूर्ण शैली द्वारा उक्ति (ही वक्रोक्ति है) । वैदग्ध्य का अर्थ है—विदग्धता—कवि-कर्म-कौशल उसकी भंगिमा या शोभा (चारुता), उसके

---

१. दे० शृंगार प्रकाश, लक्षणा की परिभाषा ।
२. काव्यप्रकाश, उ० ९।७८
३. साहित्य दर्पण, १०।९

द्वारा (उस पर आश्रित) उक्ति। (संक्षेप में) विचित्र अभिधा (वर्णन शैली) का नाम ही वक्रोक्ति है।'[१]

इस परिभाषा में कुंतक ने वक्र या विचित्र उक्ति को वक्रोक्ति माना है, परन्तु इस वक्रोक्ति में वे सामान्यतः तीन गुणों की स्थिति आवश्यक ठहराते हैं। प्रथम है 'विचित्र अभिधा' अर्थात् लोक व्यवहार तथा शास्त्र में रूढ़-शब्द-अर्थ-प्रयोग से भिन्न प्रकार का कथन हो, इस कथन में वैदग्ध्य, कवि कर्म कौशल या कवि प्रतिभा-जन्य चमत्कार की स्थिति अनिवार्यतः हो और साथ ही शोभा, चारुत्व या 'सहृदया-ह्लाद कारित्व' का गुण भी विद्यमान हो। वक्रोक्ति की प्रस्तुत परिभाषा में सामान्य लोक व्यवहार से भिन्न प्रकार की उक्ति का समर्थन करके कुंतक ने काव्य के विशिष्ट (अलौकिक) स्वरूप का, कवि-प्रतिभा की अनिवार्यता का समर्थन करके काव्य में कवि-व्यक्तित्व का तथा चारुत्व या सहृदयाह्लाद-कारित्व का समर्थन करके सहृदय के तादात्म्य का ही प्रकारान्तर से प्रतिपादन किया है। फिर भी कुंतक की दृष्टि अधिकांशतः वस्तुपरक रही है, व्यक्तिपरक नहीं। परिणामतः वस्तुपरक दृष्टिकोण से इन्होंने वक्रोक्ति के स्वरूप को इतना व्यापक बना दिया है कि काव्यगत समस्त सौन्दर्य का मूलभूत कारण वक्रोक्ति तत्व ही बन बैठा है।

कुंतक ने वक्रोक्ति को व्यापक काव्य-सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए वर्ण-विन्यास से ले कर प्रबन्ध-कल्पना तक और उपसर्ग, प्रत्यय आदि पदावयवों से लेकर महाकाव्य तक इसके स्वरूप का विस्तार कर दिया है। वक्रोक्ति के छः मुख्य भेद वक्रोक्ति तत्व की व्यापकता को प्रमाणित करते हैं।

सारांश :

वक्रोक्ति को अलंकारों के मूल में स्थान देकर भामह ने इसकी काव्यगत व्यापक उपादेयता का आरम्भ में ही प्रतिपादन किया था, परन्तु उनकी दृष्टि काव्य के शब्दार्थगत सौन्दर्यांकन पर अधिक केन्द्रित थी, परिणामतः वे वक्रोक्ति को स्वतन्त्र, परिपुष्ट तथा व्यापक काव्य-सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित नहीं कर सके। कुंतक के आविर्भाव तक वक्रोक्ति के व्यापक तथा सीमित अर्थों की विभिन्न आचार्यों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से विवेचना की है। इनमें दण्डी, वामन, रुद्रट, आनन्दवर्धन, अभिनव गुप्त आदि आचार्यों का वक्रोक्ति-विषयक अभिमत उल्लेखनीय है। इनमें से किसी भी आचार्य ने वक्रोक्ति को काव्य के सौन्दर्यांकन का व्यापक सिद्धान्त स्वीकार नहीं किया है। कुंतक ने ही सर्वप्रथम वक्रोक्ति को व्यापक काव्य-सिद्धान्त का स्वरूप प्रदान किया। इन्होंने अपने पूर्ववर्ती अलंकार, रीति-गुण, ध्वनि, रस

---

१. हिन्दी वक्रोक्ति जीवित १।१० की वृत्ति।

आदि सिद्धान्तों का सार ग्रहण करके इनके समकक्ष अपने वक्रोक्ति-सिद्धान्त को सर्वांगीण रूप में प्रतिष्ठित किया। कुंतक ने अन्य काव्य-सिद्धान्तों का भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में इसी में अन्तर्भाव दिखाया है। काव्य के सूक्ष्मतम अवयव वर्ण से लेकर व्यापकतम रूप प्रबन्ध तक वक्रोक्ति का विस्तार दिखा कर इन्होंने अपनी सर्वांगीण दृष्टि का परिचय दिया है। कुंतक परवर्ती रस-ध्वनिवादी आचार्यों ने वक्रोक्ति का व्यापक काव्य-सिद्धान्त के रूप में महत्वमापन नहीं किया, वे इसे सामान्यतः अलंकार तत्व का ही अंग मानते रहे। फलतः कुंतकोत्तर युग में वक्रोक्ति का स्वतंत्र काव्य-सिद्धान्त के रूप में अध्ययन उपेक्षित रहा है।

हिन्दी तथा मराठी के आधुनिक काव्य शास्त्रज्ञों की दृष्टि वक्रोक्ति-सिद्धान्त के व्यापक अध्ययन की ओर उन्मुख हुई है। इनके विभिन्न अभिमतों के तुलनात्मक अध्ययन से आधुनिक काव्य-शास्त्र के लिए वक्रोक्ति-सिद्धान्त की उपादेयता या अनुपादेयता का समुचित मूल्यांकन हो सकेगा।

हिन्दी में वक्रोक्ति-सिद्धान्त का अध्ययन

अलंकार तथा रस-सिद्धान्त के अनुयायी आचार्यों, व्याख्याताओं तथा भाष्यकारों की संस्कृत काव्यशास्त्र में न्यूनता नहीं है। परन्तु कुंतक का वक्रोक्ति-सिद्धान्त अन्य काव्य-सिद्धान्तों की तुलना में अध्ययन तथा व्याख्यान-विश्लेषण की दृष्टि से उपेक्षित ही रहा है। इसका परिणाम हिन्दी के रीतिकालीन काव्यशास्त्र पर भी स्पष्टतः दिखाई देता है, क्योंकि वह अधिकांशतः संस्कृत काव्य-शास्त्रोपजीवी ही रहा है। रीतिकाल में रस तथा अलंकार पर स्वतन्त्र ग्रन्थों का प्रचुर निर्माण हुआ है, किन्तु वक्रोक्ति-सिद्धान्त का स्वतन्त्र रूप से अध्ययन प्रस्तुत करने वाला एक भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हो सका है। परिणामतः आधुनिक काल के आरम्भिक परम्परानुयायी काव्य-शास्त्रज्ञों ने परम्परा का अनुसरण करते हुए अलंकार, रस आदि का विशेष अध्ययन प्रस्तुत किया है। वक्रोक्ति-सिद्धान्त का यहां स्वतन्त्र रूप से अध्ययन उपेक्षित-सा रहा है।

संस्कृत के रस-ध्वनिवादी आचार्यों ने वक्रोक्ति का स्वतन्त्र काव्य-सिद्धान्त के रूप में अध्ययन नहीं किया, वरन् अलंकार रूप में ही इसका निरूपण कर दिया है। हिन्दी के आधुनिक काल के अधिकांश परम्परानुयायियों ने भी उन्हीं का अनुसरण किया है। कविराजा मुरारिदान, जगन्नाथ प्रसाद भानु, अर्जुनदास केडिया, मिश्रबन्धु, रामदहिन मिश्र आदि ने वक्रोक्ति को अन्य अलंकारों के समान एक विशिष्ट अलंकार रूप में ही ग्रहण किया है। इनके द्वारा निरूपित वक्रोक्ति-लक्षण प्रायः मम्मट आदि रस ध्वनिवादी आचार्यों के वक्रोक्ति-लक्षण पर ही आधृत है, एक प्रकार से उसी का अनुवाद या रूपान्तर मात्र है। परम्परानुयायी लेखकों में

मिश्र बन्धुओं ने वक्रोक्ति की अलंकार रूप में चर्चा की है, किन्तु इन्होंने रसध्वनि-वादी अनेक आचार्यों की धारणाओं से भिन्न रूप में भी चिन्तन किया है। अधिकांश रस-ध्वनिवादी आचार्यों ने 'वक्रोक्ति' को शब्दालंकार ही माना है। इनके विपरीत मिश्र बन्धुओं ने इसे अर्थालंकार मानना अधिक समीचीन ठहराया है।[१] क्योंकि शब्दालंकार और अर्थालंकार का व्यावर्तक तत्व वे परम्परा से भिन्न रूप में मानना अधिक संगत समझते हैं। इनके अनुसार शब्दालंकार तथा अर्थालंकार में भिन्नता स्थापित करने के लिए यह सिद्धान्त मानना चाहिए कि 'जहाँ सुनने में सुंदर लगे वहाँ शब्दालंकार हो और जहाँ अर्थ विचारने में सौन्दर्य ज्ञात हो, वहाँ अर्थालंकार।'[२] इनका चिन्तन नितान्त असंगत नहीं है। क्योंकि उक्ति-वक्रता का चमत्कार अर्थ-ग्रहण में निहित है, भले ही इसका आधार शब्द रहा हो। अर्थ की चमत्कृति ही वक्र-उक्ति का प्राण है। अतः वक्रोक्ति को अर्थालंकार मानना अनुपयुक्त प्रतीत नहीं होता। संस्कृत के रुय्यक, विद्यानाथ तथा अप्पय दीक्षित और हिन्दी के जसवन्त सिंह, भूषण आदि कतिपय आचार्यों ने भी 'वक्रोक्ति' को अर्थालंकार के अन्तर्गत स्थान दिया है।[३]

आचार्य मम्मट के वक्रोक्ति-निरूपण का आधार ग्रहण करके श्री रामदहिन मिश्र तथा श्री कन्हैयालाल पोद्दार ने वक्रोक्ति को शब्दालंकार ही माना है और इसकी परिभाषा भी मम्मट के आधार पर ही दी है।[४] अर्थालंकार में रामदहिन मिश्र ने 'अर्थवक्रोक्ति' नामक अलंकार की भी पृथक् गणना की है। वस्तुतः इसका स्वरूप वक्रोक्ति के दो भेदों—काकु और श्लेष में से श्लेष-वक्रोक्ति में ही अन्तर्भूत हो जाता है। रामदहिन मिश्र ने 'अर्थवक्रोक्ति' का जो उदाहरण–'भिक्षुक गो कित गो गिरिजे'—प्रस्तुत किया है, इसमें मिश्र बन्धुओं के अनुसार 'श्लेष वक्रोक्ति' ही है।[५] रामदहिन मिश्र ने एक ओर मम्मट के अनुसार ही वक्रोक्ति को शब्दालंकार मान कर इसके 'श्लेष वक्रोक्ति' और 'काकु वक्रोक्ति' दो भेद किये हैं तो दूसरी ओर अर्थालंकारों में 'अर्थ वक्रोक्ति' का भी पृथक् निरूपण कर दिया है। इस वर्गीकरण का क्या आधार है, इसका इन्होंने स्पष्टीकरण नहीं किया है। इससे प्रतीत होता है कि वे अर्थालंकारों में भी वक्रोक्ति को स्थान देना चाहते हैं।

---

१. साहित्यपारिजात, पृ० ४०६
२. साहित्यपारिजात, पृ० २४८
३. हि० व० जी० भूमिका, पृ० २६१
४. अलंकारमंजरी, पृ० ४, काव्यदर्पण, पृ० ४४९
५. साहित्यपारिजात, पृ० ४०५

इस प्रकार 'वक्रोक्ति' की स्वतन्त्र काव्य-सिद्धान्त के रूप में चर्चा इन परम्परा नुयायी लेखकों ने नहीं की। इसे वे एक विशिष्ट अलंकार रूप में ही ग्रहण करते रहे। इसमें सैद्धान्तिक चर्चा का थोड़ा बहुत श्रेय कन्हैयालाल पोद्दार को ही प्राप्त है। इन्होंने प्रथम भामह-दण्डी से लेकर मम्मट-विश्वनाथ तक के आचार्यों की वक्रोक्ति-सम्बद्ध मान्यताओं का दिग्दर्शन कराया है और तदुपरान्त कुन्तक के स्वतन्त्र सैद्धान्तिक स्थापन का विवेचन किया है।[१] श्री कन्हैयालाल पोद्दार सैद्धान्तिक रूप से स्वयं रस-ध्वनिवादी आचार्यों की धारणाओं के ही विशेष समर्थक हैं, अतः इन्होंने वक्रोक्ति सिद्धान्त के ऐतिहासिक पर्यालोचन में इसे स्वतन्त्र सम्प्रदाय मानने की अपेक्षा अलंकार-सम्प्रदाय में ही अन्तर्भूत मानना अधिक संगत ठहराया है : 'हमारे विचार में कुंतक के वक्रोक्ति विषयक विवेचन को केवल विशेष सिद्धान्त मात्र ही कहना उपयुक्त है, वस्तुतः देखा जाय तो भामह के प्रतिपादित वक्रोक्ति के व्यापक सिद्धान्त के अन्तर्गत होने के कारण वक्रोक्ति का अलंकार सांप्रदाय में समावेश हो सकता है न कि स्वतन्त्र सम्प्रदाय (में)। क्योंकि सम्प्रदाय की उपाधि का अधिकार तो उसी अवस्था में प्राप्त हो सकता है जब कि कोई भी सिद्धान्त परंपरा रूप से स्वतन्त्र प्रचलित हो जाय। किन्तु कुंतक का वक्रोक्ति-सिद्धान्त केवल उसके 'वक्रोक्ति जीवित' ग्रन्थ में ही नाम मात्र को शेष रह गया है।'[२] 'सम्प्रदाय' और 'सिद्धान्त' के पृथक्-पृथक् स्वरूप को ध्यान में रखा जाय तो श्री पोद्दार की प्रस्तुत मान्यता असंगत प्रतीत नहीं होती, क्योंकि कुंतक द्वारा वक्रोक्ति-सिद्धान्त की व्यापक प्रतिष्ठापना के उपरान्त भी उसका अनुयायी अन्य आचार्य संस्कृत साहित्य शास्त्र में उपलब्ध नहीं होता।

पुनराख्याताओं का वक्रोक्ति-चिन्तन :

अधिकांश पुनराख्याताओं ने काव्य-सिद्धान्तों को लक्षणोदाहरण या भेदोपभेद पूर्वक समझाने की अपेक्षा मूलतः उनके स्वरूप और काव्यगत उपादेयता आदि का व्यावहारिक दृष्टिकोण से चिन्तन किया है। वक्रोक्ति-तत्व के विवेचन में पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी, पं० पद्मसिंह शर्मा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, जयशंकर प्रसाद आदि का दृष्टिकोण इसी प्रकार का रहा है। इन्होंने प्रायः कविता की स्वरूप-गत विशेषताओं का प्रतिपादन करते हुए ही वक्रोक्ति तत्व की समीक्षा या विवेचना की है। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने कुंतक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त का प्रत्यक्ष रूप से व्याख्यान-विवेचन नहीं किया है और न वक्रोक्ति को शब्दालंकार माना जाय

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास, दे० 'वक्रोक्ति सिद्धान्त'
२. संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० १३४

अथवा अर्थालंकार इसकी ही चर्चा की है । इन्होंने अपनी समसामयिक कविता की भाषा-शैलीगत विशेषताओं का प्रतिपादन करते हुए उसमें चमत्कृति की स्थिति को नितान्त अनिवार्य ठहराया है, जो प्रकारान्तर से कुंतक के वक्रोक्तिवाद का ही समर्थन है। इनकी मान्यता में 'शिक्षित कवि की उक्तियों में चमत्कार होना परमावश्यक है।' यदि कविता में चमत्कार या विलक्षणता का अभाव है तो उससे आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती।'[१] अपने मन्तव्य को अधिक स्पष्ट रूप में प्रमाणित करने के लिए इन्होंने एक विरहिणी और एक विरही की उक्ति को पृथक्-पृथक् रूप में प्रस्तुत किया है। एक में चमत्कार का नितान्त अभाव दर्शाया है तो दूसरे में चमत्कार का पूर्ण सद्भाव और चमत्कारपूर्ण उक्ति को इन्होंने अधिक आकर्षक सिद्ध किया है।[२] इनके अभिमत में जो कवि शब्द-चयन, वाक्य-विन्यास और वाक्य-समुदाय के आकार प्रकार की काट-छाँट में भी कौशल नहीं दिखा सकते उनकी रचना विस्मृति के अन्धकार में विलीन हो जाती है। जिसमें रचना-चातुर्य तक नहीं उसकी कवियशोलिप्सा विडम्बनामात्र है।[3]

इस प्रकार द्विवेदी जी ने वक्रता या उक्ति-चमत्कार को काव्य के लिए नितान्त अनिवार्य माध्यम के रूप में स्वीकार किया है। आनन्द-प्राप्ति या रस को ही वे काव्य का आत्मतत्व स्वीकार करते हैं और वक्र-उक्ति या चमत्कृतिपूर्ण उक्ति को काव्य-सौन्दर्य-वर्धक अनिवार्य साधन मानते हैं।

वक्रोक्ति-तत्व के काव्यगत वैशिष्ट्य का प्रतिपादन महावीरप्रसाद द्विवेदी की अपेक्षा पं० पद्मसिंह शर्मा ने अधिक विशद रूप से किया है। हिन्दी साहित्य में

---

१. संचयन : आजकल की कविता, पृ० ६६

२. विरहिणी की अशोक को देख कर उक्ति—'तुम खूब फूल रहे हो, लताएँ तुम पर बेतरह छाई हुई हैं, कलियों के गुच्छे सब कहीं लटक रहे हैं, भ्रमर के समूह जहाँ तहाँ गुंजार कर रहे हैं। परन्तु मुझे तुम्हारा यह आडम्बर पसन्द नहीं। इसे हटाओ। मेरा प्रियतम मेरे पास नहीं। अतएव मेरे प्राण कण्ठगत हो रहे हैं।'
विरही की रक्ताशोक को देख कर उक्ति—नवीन पत्तों से तुम रक्त (लाल) हो रहे हो, प्रियतमा के प्रशंसनीय गुणों से मैं भी रक्त (अनुरक्त) हूँ। तुम पर शिलीमुख (भ्रमर) आ रहे हैं, मेरे ऊपर भी मनसिज के धनुष से छूटे हुए शिलीमुख (बाण) आ रहे हैं।...हमारी तुम्हारी दोनों की अवस्था में पूरी-पूरी समता है। भेद यदि कुछ है तो इतना ही कि तुम अशोक हो और मैं सशोक।' संचयन, पृ० ६७

३. वही, पृ० १००

रीतिकालीन कवि बिहारी अपनी वक्रोक्ति या वाग्वैदग्ध्य के लिए अप्रतिम हैं। बिहारी-काव्य-रसिक पद्मसिंह शर्मा ने इनकी वक्रोक्तियों की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। इन्होंने कविवर बिहारी के काव्य-सौन्दर्य का उद्घाटन करते हुए वक्रोक्ति तत्व का काव्यगत व्यावहारिक दृष्टिकोण से महत्व-मापन किया है। भामह के समान अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति को इन्होंने भी पर्याय रूप में ही माना है। इनकी मान्यता में उपमा, उत्प्रेक्षा, पर्याय, निदर्शना आदि अलंकार अतिशयोक्ति से अनुप्राणित हो कर ही 'जीवन लाभ' करते हैं। अतिशयोक्ति ही इन्हें 'जिला दे कर' चमकाती है। इसी से उनमें मोहकता और चारुत्व की स्थिति आती है।[१] इनका दूसरा अभिमत यह है कि वक्रता-हीन स्वभावोक्ति को साहित्य-सम्मत 'स्वभावोक्ति' नहीं कहा जा सकता। चमत्कार-हीन 'सादगी' कविता की शोभा नहीं बढ़ा सकती। इसलिए उसमें 'वक्रता' (बाँकपन, बंकई) की नितान्त आवश्यकता होती है। इसी से काव्य का मूल्य और आदर बढ़ जाता है।[२] रसात्मक स्थलों में भी अतिशयोक्ति या वक्रोक्ति से अद्भुत सौन्दर्य का समावेश हो जाता है। क्योंकि वक्रता या अतिशयोक्ति एक प्रकार से 'रस की जान' और 'रस की खान' है।[३] वक्रोक्ति-सम्बद्ध प्रस्तुत धारणाओं की परिपुष्टि पं० पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी के दोहों से कर दिखाई है। इस प्रकार इन्होंने अपने सैद्धान्तिक प्रतिपादन को व्यावहारिक उदाहरणों से प्रमाणित कर दिखाया है और वक्रोक्ति-तत्व की काव्यगत अनिवार्य स्थिति का समर्थन किया है।

बिहारी-काव्य के दूसरे रसिक जगन्नाथदास रत्नाकर ने भी वक्रता और वर्णनवैदग्ध्य का काव्यगत महत्वमापन किया है। इनके अभिमत में रमणीय वाक्य का नाम काव्य है और काव्य में रमणीयता लाने में अलंकार, रीति, रस, ध्वनि आदि काव्य-तत्वों के समान 'वक्रोक्ति' भी एक काव्य-तत्व है। इनकी मान्यता में ये सब अलग-अलग अथवा मिल जुल कर रमणीयता लाने की मुख्य निर्दिष्ट सामग्रीमात्र हैं।[४]

इससे स्पष्ट है कि जगन्नाथदास रत्नाकर परम्परागत काव्य-तत्वों में से किसी एक तत्व को काव्य का प्राण तत्व मानने की अपेक्षा इन सबके सम्मिलित रूप में अथवा पृथक्-पृथक् रूप में काव्य-रमणीयता की स्थिति सम्भव मानते हैं। इसी

---

१. बिहारी की सतसई, पृ० २१७
२. बिहारी की सतसई पृ० २१७
३. वही, पृ० २१७
४. कविवर बिहारी, पृ० ३

दृष्टि से इन्होंने वक्रोक्ति का मूल्यांकन किया है।

पुनराख्याताओं में वक्रोक्ति-सिद्धान्त को रसवाद की तुला पर तौलने का सर्वप्रथम प्रयत्न आ० रामचन्द्र शुक्ल ने ही किया है। इन्होंने रस-सिद्धान्त की तुलना में कुंतक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त को महत्व नहीं दिया है। इनकी मान्यता में भाव-हीन या रस-हीन उक्तियों में काव्यत्व नहीं होता। केवल चमत्कृति या उक्ति-वैचित्र्य काव्य का नित्य लक्षण नहीं बन सकता। ऐसी अनेक मार्मिक उक्तियाँ हो सकती हैं, जिनमें उक्ति-वैचित्र्य या चमत्कार का अभाव है, फिर भी वे अनुभूति के आधार पर काव्य के अन्तर्गत स्थान पाती हैं। इसके विपरीत ऐसी अनेक उक्तियाँ प्रस्तुत की जा सकती हैं, जिनमें चमत्कार या उक्ति-वैचित्र्य तो विद्यमान है, किन्तु सरसता का अभाव है। इस प्रकार की रस-हीन उक्तियों को काव्य नहीं कहा जा सकता। आचार्य शुक्ल ने अपनी प्रथम स्थापना की पुष्टि में रीतिकालीन कवि पद्माकर, मंडन तथा ठाकुर की कविताओं से पंक्तियाँ उद्धृत की हैं और इनमें वक्रता का अभाव मानते हुए इन्हें केवल सरसता के आधार पर काव्यत्व का अधिकारी ठहराया है। दूसरी स्थापना के समर्थन में इन्होंने केशव की काव्य-पंक्तियाँ उद्धृत की हैं और इनमें मार्मिकता या हृदयस्पर्शिता के अभाव के कारण काव्यत्व स्वीकार नहीं किया है।[1]

रचना-वैचित्र्य, उक्ति-चमत्कार आदि को शुक्ल जी ने 'सूक्ति' रूप ही माना है। काव्यत्व के लिए इनकी धारणा में 'भाव-लीनता' नितान्त अनिवार्य तत्व है। 'जो उक्ति हृदय में कोई भाव जाग्रत कर दे या उसे प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की मार्मिक भावना में लीन कर दे वह तो है काव्य। जो उति केवल कथन के ढंग के अनूठेपन, रचना-वैचित्र्य, चमत्कार, कवि के श्रम या निपुणता के विचार में ही प्रवृत्त करे वह है सूक्ति।'[2]

अतः शुक्ल जी ने रस को ही काव्य का आत्म तत्व स्वीकार किया है, वक्रोक्ति को नहीं। इनकी मान्यता में कुंतक की वक्रोक्ति को काव्य का जीवित तत्व मानना वहीं तक संगत है जहाँ तक कि वह भावानुमोदित हो या किसी मार्मिक अन्तर्वृत्ति से सम्बद्ध हो, उसके आगे नहीं। क्योंकि कुंतक की वक्रोक्ति का क्षेत्र बहुत व्यापक है। उसमें 'वाक्य-वैचित्र्य की वक्रता' और 'वस्तु वैचित्र्य की वक्रता' का भी अन्तर्भाव हो जाता है। 'वे सालंकृत वक्रता के चमत्कार ही में काव्यत्व मान लेते हैं।'[3]

---

१. चिन्तामणि, प्र० भा०, पृ० १६८-७०

२. वही, पृ० १७१

३. वही, पृ० १७४

इससे शुक्ल जी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि कुंतक ने वक्रोक्ति तत्व का विस्तार बहुत व्यापक कर दिया है, उसकी व्याप्ति रस या भाव-हीन उक्तियों तक भी हो गई है, अतः इसे वे काव्य का आत्म तत्व मानने के लिए उद्यत नहीं हैं।

इसके साथ ही आचार्य शुक्ल ने क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का कुंतक के वक्रोक्ति-वाद से साम्य दिखाया है। 'योरप में भी आजकल 'क्रोसे' के प्रभाव से एक प्रकार का वक्रोक्तिवाद जोर पर है। विलायती वक्रोक्तिवाद लक्षणा प्रधान है। लाक्षणिक चपलता और प्रगल्भता में ही, उक्ति के अनूठे स्वरूप में ही, बहुत से लोग वहाँ कविता मानने लगे हैं। उक्ति ही काव्य होती है यह तो सिद्ध बात है। हमारे यहाँ भी व्यंजक वाक्य ही काव्य माना जाता है। अब प्रश्न यह है कि कैसी उक्ति, किस प्रकार की व्यंजना करने वाला वाक्य ? वक्रोक्तिवादी कहेंगे कि ऐसी उक्ति जिसमें कुछ वैचित्र्य या चमत्कार हो, व्यंजना चाहे जिसकी हो, या किसी ठीक-ठीक बात की न भी हो। पर जैसा कि हम कह चुके हैं, मनोरंजनमात्र काव्य का उद्देश्य मानने वाले उनकी इस बात का समर्थन करने में असमर्थ होंगे। वे किसी लक्षण में उसका प्रयोजन ढूंढ़ेंगे।'[१] इससे स्पष्ट है कि शुक्ल जी 'उक्ति-वैचित्र्य' या 'उक्ति-चमत्कार' को ही आधारभूत तत्व मानते हैं जिस पर कुंतक के वक्रोक्तिवाद और क्राचे के अभिव्यंजनावाद का प्रासाद खड़ा है। इसी आधार पर इन्होंने दोनों की मान्यताओं में साम्य दिखाया है।

आचार्य शुक्ल के वक्रोक्ति विषयक विचारों की समीक्षा परवर्ती आलोचकों ने पर्याप्ति विस्तार पूर्वक की है और इनके अभिमतों के गुण-दोषों का उद्-घाटन किया है। शुक्ल जी ने क्रोचे के अभिव्यंजनावाद और कुंतक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त का अपेक्षित व्यापक अध्ययन नहीं किया था, परिणामतः इन दोनों सिद्धान्तों में उन्होंने नितान्त स्थूल रूप से साम्य स्थापित किया है जो परवर्ती समीक्षकों को असंगत प्रतीत हुआ है। इसका विस्तृत निरूपण आगे किया जाएगा। इससे पूर्व शुक्ल जी की वक्रोक्ति विषयक मान्यताओं की डा० नगेन्द्र द्वारा प्रस्तुत समीक्षा का निरूपण यहाँ अप्रासंगिक न होगा। शुक्ल जी द्वारा भाव तत्व को काव्य का आत्म तत्व प्रतिपादित करना इन्हें भी स्वीकार्य है किन्तु भावपूर्ण उक्ति में वक्रता का एकान्त अभाव मानना इन्हें मनो-विज्ञान के विरुद्ध प्रतीत होता है। 'यद्यपि हमें मूल सिद्धान्त शुक्ल जी का ही ग्राह्य है, फिर भी प्रस्तुत प्रसंग में शुक्ल जी का तर्क मनोविज्ञान के विरुद्ध है। उन्होंने पद्माकर, मंडन तथा ठाकुर की जिन उक्तियों को अपने मत की पुष्टि में उद्धृत किया है उनमें से एक में भी वक्रता का अभाव नहीं है : पद्माकर की उक्ति तो व्यंग्य से

१. चिन्तामणि, पृ० १७४

वक्र है, मंडन की उक्ति में 'गरीब' शब्द में अपूर्व वक्रता है। ठाकुर की भावाभिव्यक्ति अपेक्षाकृत अधिक शुद्ध है, परन्तु उसमें भी वक्रता का अभाव देखना अलंकार शास्त्र के मर्मज्ञ के लिए सम्भव नहीं है।......वास्तव में यह सम्भव ही नहीं है कि भाव के स्पर्श से वाणी में कोई चमत्कार ही उत्पन्न न हो : भाव की दीप्ति से भाषा अनायास ही दीप्त हो जाती है—चित्त की उद्दीप्ति से वाणी में भी उत्तेजना आ जाती है, और भाषा की यह दीप्ति अथवा वाणी की उत्तेजना ही उसे वार्ता से भिन्न वक्रता का रूप प्रदान कर देती है।'[1] इससे डा० नगेन्द्र ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि भावानुभूति की तीव्रता और वाणी की वक्रता का अविच्छिन्न सम्बन्ध है, अतः भावानुभूति में काव्यत्व मानते हुए भी उसके साथ वक्रोक्ति के अपरिहार्य सम्बन्ध को स्वीकार करना नितान्त अनिवार्य है। इनकी दूसरी मान्यता में कुंतक को रस-हीन वक्रोक्ति या चमत्कृतिमात्र का प्रतिपादक मानना भी विशेष संगत नहीं है और कुंतक के वक्रोक्तिवाद तथा क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का एकीकरण करना भी समीचीन नहीं है।[2]

यद्यपि श्री जयशंकर प्रसाद ने वक्रोक्ति-तत्व का अत्यन्त संक्षिप्त विवेचन किया है, तथापि वे कुंतक की वक्रोक्ति को केवल उक्ति वैचित्र्य या चमत्कार मात्र नहीं मानते थे। इन्होंने कुंतक के वर्ण-वक्रता से प्रबन्ध-वक्रता तक के व्याप्त व्यापक दृष्टिकोण को हृदयंगम कर लिया था, अतः वे वक्रोक्ति का काव्य के आन्तरिक गुण के रूप में मूल्यांकन कर सके हैं। जयशंकर प्रसाद छायावाद के प्रबल समर्थक थे। छायावादी कविता में आभ्यंतर सूक्ष्म भावों की प्रेरणा से बद्ध स्थूल आकार में भी विचित्रता उत्पन्न हो गई थी। शब्द-प्रयोग और पद-रचना में एक विचित्र भंगिमा आ गई थी। प्रसाद जी ने इसे केवल उक्ति-चमत्कार कह कर नहीं टाला वरन् इसमें निहित आन्तरिक लावण्य की महत्ता का ध्वनिकार तथा वक्रोक्तिवादी कुंतक की मान्यताओं का आधार ले कर प्रतिपादन किया है। इन्होंने छायावादी काव्य में निहित शब्द-भंगिमा और लावण्य की कुंतक के वक्रोक्तिवाद में प्रतिपादित 'वक्रता विच्छित्ति' से साम्य दिखाया है।[3] प्रसाद जी

---

१. हिन्दी वक्रोक्ति जीवित, भूमिका (डा० नगेन्द्र) पृ० २७१-७२
२. हिन्दी वक्रोक्ति जीवित, भूमिका (डा० नगेन्द्र) पृ० २७२।
३. 'इस लावण्य को संस्कृत-साहित्य में छाया और विच्छित्ति के द्वारा कुछ लोगों ने निरूपित किया था। कुंतक ने वक्रोक्ति-जीवित में कहा—

प्रतिभा प्रथमोद्भेद समये यत्र वक्रता
शब्दाभिधेययोरन्तः स्फुरतीव विभाव्यते।

ने शुक्ल जी के सदृश वक्रोक्ति को केवल 'उक्ति-चमत्कार' रूप नहीं माना है वरन् वक्रता या विच्छित्ति से काव्य में छाया या कान्ति के सृजन का समर्थन किया है और काव्य में इस वैचित्र्य सिद्धि को विदग्ध कवि का ही एक महत्वपूर्ण कार्य माना है।

अभिव्यंजनावाद तथा वक्रोक्तिवाद विषयक शुक्ल जी का अध्ययन अधिक गम्भीर नहीं है। इस विषय में उनके निष्कर्ष नितान्त स्थूल और अपर्याप्त हैं। अतः श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु ने वक्रोक्ति-सिद्धान्त और अभिव्यंजनावाद दोनों का ही विस्तृत अध्ययन किया है। इन्होंने प्रथम वक्रोक्ति-सिद्धान्त की संस्कृत साहित्यशास्त्रगत स्थिति और उसके स्वरूप का परिचय दिया है, तदुपरान्त अभिव्यंजनावाद की सापेक्षता में वक्रोक्तिवाद के अन्तर का स्पष्टीकरण किया है। सुधांशु जी के वक्रोक्ति विषयक अभिमतों का सारांश इस प्रकार है :

कुंतक ने ध्वनि-सिद्धान्त का खंडन करना अपना लक्ष्य नहीं बनाया है, वरन् भामह की वक्रोक्ति के आधार पर अपना मत निश्चित किया है। कुंतक ने काव्य में 'वैचित्र्य' या 'विच्छित्ति' की प्रधानता मान कर स्वाभाविक और कलात्मक अभिव्यंजना में अन्तर स्थापित किया है। इन्होंने काव्य के लिए कल्पना या कवि व्यापार का महत्व भी दर्शाया है किन्तु उसकी स्पष्ट विस्तृत व्याख्या नहीं की। लोकोत्तर चमत्कार के पास पहुँच कर कुंतक रस-सिद्धान्त को मानने के लिए बाध्य से हो जाते हैं। इस लोकोत्तर वैचित्र्य का कुंतक ने तद्विदाह्लाद के साथ तादात्म्य स्थिर किया है। ध्वनि-सम्प्रदाय से कुंतक ने बहुत-सी बातें उधार ली हैं, क्योंकि ध्वनि के अनेक भेदों का वक्रोक्ति के विभिन्न भेदों से अद्भुत साम्य है।[1]

सुधांशु जी की मान्यता में वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद का एकीकरण असंगत है। दोनों सिद्धान्त मूलतः भिन्न भिन्न हैं। दोनों एक दूसरे से प्रभावित भी

शब्द और अर्थ की यह स्वाभाविक वक्रता विच्छित्ति, छाया और कान्ति का सृजन करती है। इस वैचित्र्य का सृजन करना विदग्ध कवि का ही काम है। वैदग्ध्य-भंगीभणिति में शब्द की वक्रता और अर्थ की वक्रता लोकोत्तीर्ण रूप से व्यवस्थित होती है।...यह रम्यच्छायान्तरस्पर्शी वक्रता वर्ण से ले कर प्रबन्ध तक होती है। कुंतक के शब्दों में——
यह उज्ज्वल छायातिशय रमणीयता वक्रता की उद्भासिनी है।'
प्रसाद——काव्य कला तथा अन्य निबंध, पृ० ९०

१. काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृ० १५-१६

नहीं हैं। वक्रोक्तिवाद की प्रवृत्ति अलंकार की ओर विशेष तत्पर दिखाई देती है, लेकिन अभिव्यंजनावाद का बाह्यरूप से अलंकार के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। अभिव्यंजना में अलंकार अनुगामी हो कर पीछे चलता है, किन्तु वक्रोक्ति में सहगामी रहता है। अभिव्यंजनावाद में वक्रतापूर्ण उक्तियों के साथ स्वभावोक्ति को भी मान है किन्तु वक्रोक्तिवाद में स्वभावोक्ति को स्थान नहीं दिया गया है।[1] सुधांशु जी के प्रस्तुत सभी अभिमत सही हैं, किन्तु वक्रोक्ति में स्वभावोक्ति का अभाव मानना संगत नहीं है। कुंतक ने स्वभावोक्ति को एक विशिष्ट अलंकार मात्र नहीं माना है। वे स्वभावोक्ति में काव्यत्व की स्वीकृति देते हैं, अतः स्वभावोक्ति का भी वक्रोक्तिवाद में स्पष्टतः अन्तर्भाव है।[2]

अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्तिवाद का पारस्परिक अन्तर डा० गुलाबराय ने और अधिक स्पष्ट कर दिया है और दोनों की एकात्मता का प्रत्याख्यान किया है : क्रोचे ने उक्ति को प्रधानता दी है, उक्ति-वैचित्र्य को नहीं। उसके मत से सफल अभिव्यक्ति या केवल अभिव्यक्ति कला है इसीलिए अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्तिवाद की समानता नहीं है जैसा कि शुक्ल जी ने माना है।'[3] अभिव्यंजनावाद में स्वभावोवित और वक्रोक्ति का भेद ही नहीं है। उक्ति केवल एक ही प्रकार की हो सकती है। यदि पूर्ण अभिव्यक्ति वक्रोक्ति द्वारा होती है तो वही स्वभावोक्ति या उक्ति है, वही कला है। वाग्वैचित्र्य का मान वैचित्र्य के कारण नहीं है, वरन् यदि है तो पूर्ण अभिव्यक्ति के कारण।[4] इससे स्पष्ट है कि अभिव्यंजनावाद में उक्ति का केवल एक ही रूप मान्य है, ऐसी स्थिति में उस पर वक्रोक्तिवाद का आरोप करना असंगत है। वक्रोक्तिवाद में अवक्र-उक्ति को वार्ता रूप माना गया है और विदग्ध-उक्ति को वक्रोक्ति रूप।

कुंतक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त का सर्वांगीण व्यापक अध्ययन आधुनिक काल के दो ही समीक्षकों ने किया है, वे हैं——डा० नगेन्द्र तथा पं० बलदेव उपाध्याय। पं० बलदेव उपाध्याय से पूर्व डा० नगेन्द्र ने 'रीतिकाव्य की भूमिका' में वक्रोक्ति-सिद्धान्त का अध्ययन प्रस्तुत किया था, परन्तु यहाँ विवेचन की सुगमता की दृष्टि से प्रथम उपाध्याय जी के अध्ययन का मुख्य अंश प्रस्तुत किया जाता है। डा० नगेन्द्र के उपरान्त हिन्दी में कुंतक के वक्रोवित-सिद्धान्त की व्यापक दृष्टिकोण से

---

१. काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृ० ५७
२. दे० हि० व० जीवित, भूमिका, पृ० २७५
३. सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० २७८
४. सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० २७८

प्रामाणिक व्याख्या और विवेचन करने का श्रेय इन्हें ही दिया जा सकता है। इन्होंने वक्रोक्ति-सिद्धान्त के आरम्भ और विकास का ऐतिहासिक पर्यालोचन, वक्रोक्ति का स्वरूप, वक्रोक्ति अलंकार, वक्रोक्ति और अन्य काव्य-सिद्धान्तों का पारस्परिक सम्बन्ध, कुंतक-निरूपित वक्रोक्ति के भेद-प्रभेद, वक्रोक्ति और यूनानी आलोचना, वक्रोक्ति और अभिव्यंजनावाद, कुंतक और क्रोचे की तुलना, हिन्दी के रीतिकालीन एवं भक्तिकालीन कवि-आचार्यों की वक्रोक्ति विषयक धारणाएं, हिन्दी काव्य में वक्रोक्ति आदि विषयों की सांगोपांग व्याख्या-विवेचना करके वक्रोक्ति-सिद्धान्त की सर्वांगीण समीक्षा की है। इस विवेचना में उपाध्याय जी डा० राघवनकृत श्रृंगार प्रकाश की भूमिका के पर्याप्त ऋणी हैं।

पं० बलदेव उपाध्याय ने वक्रोक्ति-सिद्धान्त के अध्ययन में जिन तथ्यों को निष्कर्ष रूप में निकाला है, उनका संक्षिप्त रूप इस प्रकार है :

१. वक्रोक्ति-सिद्धान्त काव्य का नितान्त व्यापक, रुचिर तथा सुगूढ़ तत्व है, जिसके अस्तित्व के ऊपर कविता में चमत्कृति का संचार होता है।

२. कुंतक अभिधावादी हैं किन्तु इनकी अभिधा में लक्षणा, व्यंजना का समग्र संसार विराजमान है ।

३. वक्रोक्ति-सिद्धान्त में केवल चमत्कार पर बल नहीं है, वरन् रस को काव्य में महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है ।

४. वक्रोक्ति-सिद्धान्त में अलंकार, गुण, रीति, रस और ध्वनि जैसे मुख्य-मुख्य काव्य-तत्वों का अन्तर्भाव है।

५. कुंतक उक्ति में चमत्कार मानते हैं । फिर भी क्रोचे के समान केवल कलापक्ष के समर्थक नहीं हैं। वे काव्य में हृदयपक्ष के भी पोषक हैं।

६. पाश्चात्य समीक्षा में वक्रोक्ति का विधान संक्षिप्त तथा बीज रूप में है, किन्तु 'यहाँ वह फलद वृक्ष के रूप में' विराजमान है।

७. कुंतक का साहित्यशास्त्रकारों में महत्वपूर्ण स्थान है। उनकी 'आलोचना शक्ति इतनी तलस्पर्शिनी है, लेखन शैली इतनी मार्मिक है, हृदय इतना रसपेशल है, बुद्धि इतनी विषयग्राहिणी है कि हम उनकी गणना भारत के गरिमामय मान्य आलोचकों की श्रेणी में' कर सकते हैं।[१]

कुंतक और क्रोचे की तुलना में उपाध्याय जी ने कुंतक का अधिक महत्वगान किया है। दोनों के चिन्तन में इतना ही साम्य है कि दोनों 'काव्य में व्यापार का प्राधान्य मानते हैं' अन्यथा दोनों के प्रतिपादन में वैषम्य ही अधिक है।' अभि-

---

१. भारतीय साहित्यशास्त्र, द्वि० खं०, पृ० ४७९

व्यंजनावाद स्थूल रूप से चमत्कारवाद है, इसमें न रस के लिए आग्रह है। और न अलंकार के लिए प्रेम, वह कला के नैतिक आधार में विश्वास नहीं रखता, कला का स्वतः मूल्य कला ही मानता है। इसके विपरीत वक्रोक्ति में रस और अलंकार को भी स्थान प्राप्त है, नैतिक आधार को भी स्वीकार किया गया है। काव्य के छोटे-छोटे अंगों में सामंजस्य स्थापित करने के साथ समग्र प्रबन्ध में 'कार्यान्विय' पर बल दिया गया है। वक्रोक्ति-सिद्धान्त कोरा चमत्कारवाद या वाग्वैदग्ध्य मात्र नहीं है। काव्य में वक्रता वहीं तक अपेक्षित है जहाँ तक वह हृदय की किसी अनुभूति से सम्बन्ध रखती है—वह केवल बोध-मात्र नहीं कराती, प्रत्युत भावानुभूति को जगाती है।[1] इस प्रतिपादन से शुक्ल जी की दोनों मान्यताओं का प्रत्याख्यान हो जाता है और निष्कर्ष निकलता है कि वक्रोक्ति और अभिव्यंजनावाद में साम्य की अपेक्षा वैषम्य ही अधिक है और वक्रोक्तिवाद कोरा चमत्कारवाद नहीं है।

पं० बलदेव उपाध्याय के वक्रोक्ति विषयक निष्कर्षों से स्पष्ट है कि इन्होंने कुंतक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त को नितान्त व्यापक काव्य-सिद्धान्त के रूप में ग्रहण किया है, जिसमें रस तत्व भी अन्तर्भूत है। कुंतक ने वक्रोक्ति-सिद्धान्त को भले ही व्यापक बना दिया हो, परन्तु क्या यह सिद्धान्त अनुभूति प्रधान रस तत्व का स्थान ग्रहण कर सकता है ? इन दोनों में सापेक्षता की दृष्टि से किसे प्राथमिक स्थान मिल सकता है ? काव्य का आत्मतत्व वक्रोक्ति है अथवा रस ? इस मूलभूत प्रश्न का समाधान पं० बलदेव उपाध्याय के अध्ययन से स्पष्ट रूप में उपलब्ध नहीं होता। डा० नगेन्द्र ने वक्रोक्ति-सिद्धान्त का सांगोपांग विशद अध्ययन करने के उपरान्त प्रस्तुत मूलभूत शंका का समाधान उपस्थित किया है। इन्होंने रस तत्व का सम्बन्ध अनुभूति या भाव तत्व से स्वीकार किया है और वक्रोक्ति का व्यापक कला सिद्धान्त से, जिसका प्राणतत्व है—कल्पना।[2] रस-सिद्धान्त और

---

१. भारतीय साहित्यशास्त्र, द्वि० खं०, पृ० ४६८

२. वक्रोक्ति-सिद्धान्त भी वास्तव में अलंकार-सिद्धान्त का ही विकास है : अलंकार में जहाँ कल्पना का सीमित रूप गृहीत है, वहाँ वक्रोक्ति में उसका व्यापक रूप ग्रहण किया गया है। अलंकार-सिद्धान्त की कल्पना का आधार कालरिज की 'ललित' कल्पना (फैन्सी) है और वक्रोक्ति-सिद्धान्त की कल्पना का आधार कालरिज की 'मौलिक कल्पना' (प्राइमरी इमेजिनेशन) है। इस प्रकार वक्रोक्ति का आधार है कल्पना : वक्रोक्ति = कविव्यापार (कला) = मौलिक कल्पना। परन्तु यह कल्पना कविनिष्ठ है सहृदयनिष्ठ नहीं है और

वक्रोक्ति-सिद्धान्त में मूल अन्तर कल्पनातत्व और अनुभूति तत्व की प्राथमिकता का ही है। तत्वतः दोनों ही सिद्धान्तों में कल्पना और अनुभूति को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। परन्तु प्राथमिकता की दृष्टि से रस-सिद्धान्त अनुभूति तत्व को प्राथमिक स्थान देता है और कल्पना को उसका अनिवार्य साधन मानता है। दूसरी ओर वक्रोक्ति-सिद्धान्त रस को प्रमुख ओर महत्वपूर्ण अंग मानता है परन्तु वक्रोक्ति को ही अंगीरूप में स्वीकार करता है और इसे ही सर्वत्र प्राथमिक स्थान देता है।[1] डा० नगेन्द्र की विशेष मान्यता यह है कि रस के सद्भाव में वक्रता का अभाव हो ही नहीं सकता। कम से कम कुंतक की वक्रता का अभाव तो सम्भव ही नहीं है। अतः काव्य में वक्रता की अनिवार्यता में सन्देह नहीं किया जा सकता, किन्तु वक्रता सदैव भाव-प्रेरित ही रहेगी।[2] परन्तु रस के अभाव में केवल वक्रता मात्र के आधार पर कुंतक के अनुसार काव्यत्व स्वीकार कर लेना कठिन है। क्योंकि भाव-सौन्दर्य-हीन शब्द-क्रीड़ा या अर्थ-क्रीड़ा में चमत्कार मात्र होता है, इसमें वास्तविक काव्यत्व नहीं होता। 'वक्रता काव्य का अनिवार्य माध्यम है यह सत्य है परन्तु वह उसका जीवित या प्राण तत्व है यह सत्य नहीं है। अनिवार्य माध्यम का भी अपना महत्व है, क्योंकि व्यक्तितत्व के अभाव में आत्मा की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है फिर भी व्यक्तितत्व आत्मा अथवा जीवित तो नहीं है।'[3] यही वक्रोक्तिवाद की परिसीमा है और यही कलावाद की या कल्पनावाद की। इससे रसवाद और वक्रोक्तिवाद का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। संक्षेपतः इनके वक्रोक्ति-सिद्धान्त की परीक्षा से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं :—

१. रस तत्व का सम्बन्ध भाव या अनुभूति तत्व से है तो वक्रोक्ति का व्यापक रूप में कला या वस्तु-निष्ठ कल्पना तत्व से।

२. तत्वतः रस और वक्रोक्ति का अभिन्न या अविच्छिन्न सम्बन्ध है। रसात्मक स्थलों में वक्रोक्ति की स्थिति अनिवार्यतः होती है।

यही ध्वनि के साथ वक्रोक्ति के मूल भेद का कारण है। ध्वनि की कल्पना सहृदयनिष्ठ होने के कारण व्यक्तिपरक है। कुंतक की कल्पना कवि कौशल पर आश्रित होने के कारण काव्यनिष्ठ और अन्ततः वस्तुनिष्ठ बन जाती है। हि० व० जीवित, भूमिका, पृ० २८०

१. हिन्दी वक्रोक्ति जीवित, भूमिका, पृ० २८०-२८१

२. हिन्दी वक्रोक्ति जीवित, भूमिका, पृ० २८१

३. वही, पृ० २८२

३. वक्रोक्ति भावप्रेषणीयता का अनिवार्य माध्यम है, स्वयं काव्य का आत्म तत्व नहीं है।

४. रस और वक्रोक्ति दोनों ही काव्य के नितान्त आवश्यक और महत्व-पूर्ण अंग हैं, किन्तु प्राथमिकता की दृष्टि से रस को प्रथम स्थान प्राप्त है।

वक्रोक्ति-सिद्धान्त की उपर्युक्त परीक्षा से पूर्व डा० नगेन्द्र ने वक्रोक्ति-सिद्धान्त का विशद अध्ययन प्रस्तुत किया है। इन्होंने संस्कृत काव्य-शास्त्र, पाश्चात्य काव्य शास्त्र तथा हिन्दी काव्य-शास्त्र में प्रतिपादित वक्रोक्ति-सम्बद्ध विभिन्न मान्यताओं का अत्यन्त विस्तार से विश्लेषण-विवेचन किया है। आरम्भ में वक्रोक्ति के उत्स और विकास का विवेचन करने के उपरान्त डा० नगेन्द्र ने कुंतक की वक्रोक्ति-सिद्धान्त की प्रतिष्ठापना के आधार पर काव्य-प्रयोजन, काव्यहेतु, काव्य की आत्मा-वक्रोक्ति, कविकर्तृत्व, कवि-प्रतिभा आदि का विस्तृत विवेचन किया है। कुंतक प्रतिपादित वक्रोक्ति के विभिन्न भेदों की मीमांसा में इन्होंने आधुनिक हिन्दी कवियों के उदाहरण प्रस्तुत कर के यह प्रमाणित कर दिया है कि कुंतक की वक्रोक्ति-कल्पना की व्याप्ति आधुनिकतम काव्यों तक हो जाती है। वक्रोक्ति-सिद्धान्त से अन्य काव्यसिद्धान्तों—अलंकार, रीति, ध्वनि, रस तथा औचित्य का साम्य-वैषम्य मूलक विस्तृत अध्ययन करके इन्होंने वक्रोक्ति तत्व की अपनी विशेषताओं का उद्घाटन किया है। पं० बलदेव उपाध्याय ने वक्रोक्ति तत्व का पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के आधार पर बहुत संक्षिप्त अध्ययन किया है, किन्तु डा० नगेन्द्र ने प्लेटो पूर्व से लेकर आइ० ए० रिचर्ड्स तक के आधुनिकतम काव्यतत्व-विचारकों की वक्रोक्तिसम्बद्ध धारणाओं तथा मान्यताओं का तुलनात्मक अध्ययन किया है। इसी के अन्तर्गत कुंतक के वक्रोक्तिवाद और क्रोचे के अभिव्यंजनावाद में साम्य-वैषम्यमूलक अध्ययन करके हिन्दी में प्रचलित प्रस्तुत वाद-विवाद का व्यापक समाधान प्रस्तुत किया गया है।[1] क्रोचे की मूल धारणाओं का अन्तर्विश्लेषण करने के उपरान्त डा० नगेन्द्र ने कुंतक के वक्रोक्तिवाद से इनकी धारणाओं का साम्य-वैषम्य प्रतिपादित किया है। इनके प्रतिपादन का सारांश इस प्रकार है—

साम्य :

१. क्रोचे और कुंतक अभिव्यंजना को ही काव्य का प्राण तत्व मानते हैं। क्रोचे की उक्ति अथवा कुंतक की 'भणिति'—दूसरे शब्दों में अभिव्यंजना ही है।

२. दोनों ने कल्पना तत्व को प्रमुखता दी है। क्रोचे की सहजानुभूति कल्प

---

१. दे० हिन्दी वक्रोक्ति जीवित, भूमिका, पृ० २३९-२४७

नात्मक क्रिया है तो कुंतक की 'वक्रता', 'कवि व्यापार' आदि में कल्पना की व्यंजना है।

३. क्रोचे और कुंतक दोनों ही अभिव्यंजना अथवा उक्ति को मूलतः अखण्ड, अविभाज्य और अद्वितीय मानते हैं।

४. क्रोचे और कुंतक दोनों ही सफल अभिव्यंजना अथवा सौन्दर्याभिव्यंजना में श्रेणियाँ नहीं मानते।

वैषम्य :

१. क्रोचे और कुंतक के सिद्धान्तों में साम्य की अपेक्षा वैषम्य अधिक है।

२. क्रोचे मूलतः दार्शनिक हैं, इन्होंने अलंकार शास्त्र का निषेध किया है इसके विपरीत कुंतक मूलतः आलंकारिक काव्यशास्त्रज्ञ आचार्य हैं।

३. क्रोचे के प्रतिपाद्य का मूल आधार है उक्ति जिसमें वक्र और ऋजु-वक्रता और वार्ता का भेद नहीं है। कुंतक ने वक्रता और वार्ता अर्थात् चमत्कारपूर्ण और चमत्कारहीन उक्ति में स्पष्ट भेद माना है।

४. क्रोचे के अनुसार काव्य की आत्मा सहजानुभूति है और कुंतक के अनुसार कवि व्यापार।

५. क्रोचे के अनुसार सौन्दर्य और उसकी प्रतिरूप अभिव्यंजना अपना उद्देश्य आप ही है, आनन्द उसका सहचारी भाव तो है, परन्तु उद्देश्य नहीं है। कुंतक आनन्द को सौन्दर्य की सिद्धि ही नहीं, वरन् कारण भी मानते हैं।

६. क्रोचे के अभिव्यंजनावाद की अपेक्षा कुंतक के वक्रोक्तिवाद में वस्तु तत्व की अधिक स्वीकृति है।

हिन्दी में वक्रोक्ति-सिद्धान्त का इतना व्यापक अध्ययन अन्य किसी आलोचक ने प्रस्तुत नहीं किया है। डा० नगेन्द्र के वक्रोक्ति-सिद्धान्त के अध्ययन की विशेषता केवल विषय-विस्तार में नहीं है, वरन् वक्रोक्ति-सिद्धान्त के एक-एक सूक्ष्म अवयव की परीक्षा अत्यन्त गहराई में जा कर की गई है। जहाँ कहीं सैद्धान्तिक तुलना और निष्कर्ष प्रतिपादन का प्रश्न उपस्थित हुआ है, वहाँ इन्होंने पर्याप्त तर्कपूर्ण, वैज्ञानिक और सूक्ष्म विवेचन-विश्लेषण द्वारा संतुलित मन से ही अन्तिम निर्णय देने का प्रयत्न किया है। भारतीय भाषाओं में वक्रोक्ति-सिद्धान्त का इतना गम्भीर अन्तर्विश्लेषणात्मक अध्ययन अन्यत्र नहीं मिलता।

सारांश :

आरम्भ में हिन्दी काव्य-शास्त्र में वक्रोक्ति तत्व की अवतारणा एक विशिष्ट अलंकार रूप में ही हुई। वक्रोक्ति तत्व का व्यापक सैद्धान्तिक अध्ययन संस्कृत के रस-ध्वनिवाद के प्रबल प्रभाव से अवरुद्ध-सा रहा। क्योंकि कुंतक के वक्रोक्ति-

वाद की प्रतिक्रिया में परवर्ती रस-ध्वनिवादी आचार्यों—मम्मट, विश्वनाथ आदि ने इसे केवल अलंकारमात्र और वह भी शब्दालंकार मात्र स्वीकार किया है। परिणामतः हिन्दी के रस-ध्वनिवाद के समर्थक आरम्भिक आलोचकों ने इसे शब्दालंकार के रूप में ग्रहण करके उनकी परम्परा का यथावत् पालन किया है। परन्तु दो-एक आलोचकों की दृष्टि वक्रोक्ति को अर्थालंकार वर्ग के अन्तर्गत रखने की ओर रही है। श्री रामदहिन मिश्र ने इसे शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों में ही स्थान दे दिया है, किन्तु मिश्र बन्धुओं ने इसे शब्दालंकार की अपेक्षा अर्थालंकार ही मानना अधिक संगत ठहराया है।[1] इस प्रकार आरम्भ में एक ओर वक्रोक्ति शब्दालंकार के संकुचित क्षेत्र से अर्थालंकार के व्यापक क्षेत्र में आई दूसरी ओर कतिपय काव्य-समीक्षकों ने वक्रोक्ति तत्व के आधार पर काव्य-सौन्दर्य के उद्घाटन का प्रयत्न करके इसे काव्य का एक नितांत महत्वपूर्ण तत्व मान लिया है। इनमें विशेषतः बिहारी-काव्य के समीक्षकों—पं० पद्मसिंह शर्मा, जगन्नाथप्रसाद रत्नाकर—का वक्रोक्ति-निरूपण विशेष उल्लेखनीय है। इन्होंने शास्त्रीय चिन्तन की अपेक्षा काव्य के व्यावहारिक धरातल पर वक्रोक्ति का अधिक महत्वगान किया है। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भी वक्रता के काव्यगत वैशिष्टच का प्रतिपादन किया है और वक्रोक्ति-साधना को कवि का आवश्यक गुण ठहराया है।

द्विवेदी-युग के साथ-साथ हिन्दी में छायावादी काव्य का प्रवर्तन हुआ। इससे कविता में शब्दों के वक्र-प्रयोग आरम्भ हुए। ध्वन्यात्मक या व्यंजनात्मक शब्दों का भी छायावादी कविता में प्राचुर्य हुआ। इसकी प्रतिक्रिया शुक्ल जी के काव्य-स्वरूप के चिन्तन में दिखाई देती है। इन्होंने एक ओर कविता में व्यंजना-अतिचार का विरोध करते हुए व्यंग्य की अपेक्षा वाच्यार्थ या अभिधार्थ में ही काव्यत्व की स्वीकृति दी[2] तो दूसरी ओर उक्ति-चमत्कार या उक्ति-वक्रता का भी प्रतिषेध किया। इसी प्रसंग में उन्होंने कुंतक के वक्रोक्तिवाद को कोरा उक्ति चमत्कार माना और क्रोचे के अभिव्यंजनावाद से इसका साम्य दिखा कर दोनों तत्वों को काव्य के लिए अनुपयोगी ठहराया। एकांत रसवादी दृष्टिकोण से आचार्य शुक्ल ने कुंतक के वक्रोक्तिवाद का महत्व-मापन किया और उन्होंने केवल भाव-प्रेरित वक्रता को ही 'काव्य-जीवित' मानना संगत ठहराया। परिणामतः वक्रता को काव्य के लिए इन्होंने अनिवार्य नहीं माना और अनेक रसात्मक स्थलों में वक्रता के एकान्त अभाव का प्रतिपादन किया है।

---

१. दे० हिन्दी में व० सि० का अध्ययन, पृ० ५४८
२. दे० ध्वनि सिद्धान्त प्रकरण

जयशंकर प्रसाद स्वयं छायावाद के प्रवर्तकों में से थे। अतः उन्होंने कुंतक के वक्रोक्ति-विवेचन का पुष्ट आधार ग्रहण करके वक्रोक्ति का काव्य के आन्तरिक गुण के रूप में महत्व-मापन किया है। शुक्ल जी के वक्रोक्ति एवं अभिव्यंजनावाद विषयक अभिमत प्रायः स्थूल और अपूर्ण थे, अतः इसकी प्रतिक्रिया आधुनिक आलोचकों में हुई। श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु, डा० गुलाबराय, पं० बलदेव उपाध्याय, डा० नगेन्द्र आदि ने कुंतक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त और क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का विस्तृत अध्ययन कर के शुक्ल जी की कुंतक एवं क्रोचे विषयक धारणाओं की असंगतियों का उद्घाटन किया है। इससे हिन्दी के आधुनिक काव्य-शास्त्र में कुंतक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त की जहाँ सांगोपांग व्याख्या-मीमांसा हुई वहाँ कुंतक के अभिव्यंजनावाद का भी अध्ययन हुआ है।

डा० नगेन्द्र ने कुंतक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त में निहित विभिन्न तत्वों की पाश्चात्य आलोचकों की मान्यताओं से विशद तुलना की है। इन्होंने पाश्चात्य कलावाद तथा कल्पनावाद से कुंतक के वक्रोक्तिवाद का पर्याप्त साम्य दर्शाया है। वक्रोक्ति-सिद्धान्त की परीक्षा में डा० नगेन्द्र ने रसवाद का अनुभूति तत्व से और वक्रोक्तिवाद का व्यापक कलावाद से सम्बन्ध स्थापित करके सापेक्षिक महत्व की दृष्टि से रसवाद को प्रथम और वक्रोक्तिवाद को द्वितीय स्थान दिया है। शुक्ल जी के समान इन्होंने भी रसतत्व को ही काव्य का आत्म तत्व माना है किन्तु शुक्ल जी के अभिमत के विपरीत इन्होंने वक्रोक्ति तत्व का रस तत्व से नित्य, अविभाज्य और अनिवार्य माध्यम के रूप में सम्बन्ध स्थापित किया है।

मराठी में वक्रोक्ति-सिद्धान्त का अध्ययन

आधुनिक मराठी काव्य-शास्त्र के आरम्भिक काल में रस तत्व और अलंकार तत्व की संस्कृत काव्य-शास्त्र के आधार पर सांगोपांग मीमांसा हुई, अन्य काव्य-सिद्धान्तों का अध्ययन उपेक्षित-सा रहा। जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है स्वयं संस्कृत साहित्यशास्त्र में ही आचार्य कुंतक का वक्रोक्तिवाद उन्हीं तक सीमित रहा, इसकी परम्परा उन्हीं के साथ लुप्त हो गई। परवर्ती रस-ध्वनिवादी मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने रस तथा अलंकार-प्रपंच का विस्तार-विवेचन किया और वक्रोक्ति को केवल एक विशिष्ट अलंकार मात्र मान लिया है। हिन्दी की भाँति मराठी साहित्य के आरम्भिक लेखकों ने इन्हीं की परम्परा का अनुसरण किया है, परिणामतः कुंतक-प्रतिपादित वक्रोक्ति-सिद्धान्त का व्यापक निरूपण-विवेचन नहीं मिलता। अधिकांश परम्परानुयायी काव्य-शास्त्र-निरूपकों ने वक्रोक्ति का एक विशिष्ट अलंकार रूप में ही अध्ययन प्रस्तुत किया है। श्री ज० वि०

दामले, वामन एकनाथ क्षीरसागर, तळेकर शास्त्री, लक्ष्मण शास्त्री लेले, ग० म० गोरे आदि के अलंकार ग्रन्थों में 'वक्रोक्ति' को एक विशिष्ट अलंकार रूप में ही स्थान मिला है।[१] श्री बलवन्त कमलाकर माकोडे ने 'रस-प्रबोध' में वक्रोक्ति को रस, अलंकार, ध्वनि आदि काव्य तत्वों के समान पृथक् काव्य तत्व के रूप में निरूपित किया है। परन्तु रस को ही इन्होंने काव्य का आत्म तत्व माना है और उसी का विस्तृत निरूपण किया है। वक्रोक्ति के व्यापक काव्य-सिद्धान्त के स्वरूप की इन्होंने एकान्त उपेक्षा की है।

परम्परानुयायी विवेचकों में श्रीमती बाळुताई खरे ने 'वक्रोक्ति' का अलंकार रूप में ही विस्तृत अध्ययन किया है, काव्य-सिद्धान्त के रूप में नहीं। अलंकार रूप में वक्रोक्ति का अध्ययन करते समय लेखिका ने यथासम्भव सभी संस्कृत आचार्यों की वक्रोक्ति विषयक मान्यताओं का उल्लेख किया है।[२] लेखिका के निजी अभिमत में वक्रोक्ति न केवल शब्दालंकार है और न अर्थालंकार ही वरन् इसकी स्थिति उभयालंकार की है। आधुनिक काव्य-शास्त्र के लिए स्वीकार्य अलंकारों का विवेचन करते हुए इन्होंने उभयालंकार वर्ग में 'श्लेष' और वक्रोक्ति को स्थान दिया है। इन दोनों में भी 'श्लेष' की ही स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करके इसी में वक्रोक्ति को अन्तर्भूत करने का सुझाव दिया है।[3]

---

१. इनके अलंकार ग्रन्थों का नाम व संक्षिप्त परिचय दे० 'मराठी साहित्य शास्त्र की विकास परम्परा' तथा 'मराठी में अलंकार विवेचन', प्रकरण।

२. 'रुय्यक ने अलंकारों में एक सामान्य तत्व के रूप में वक्रोक्ति को स्वीकार किया है किन्तु इन्होंने वक्रोक्ति की जो व्याख्या की है वह सर्वसामान्य अलंकारों पर अभिघटित नहीं होती। कुंतक की वक्रोक्ति और रुय्यक की वक्रोक्ति दोनों नितान्त भिन्न-भिन्न हैं। भामह ने वक्रोक्ति को और अतिशयोक्ति को अभिन्न माना है। परन्तु आगे चल कर इन दोनों अलंकारों में स्पष्ट भेद हो गया है। मम्मट ने 'विशेष' अलंकार की व्याख्या में अतिशयोक्ति को सभी अलंकारों के मूल में स्वीकार किया है और भामह की 'सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिः' इस उक्ति को उद्धृत किया है। परन्तु वह अतिशयोक्ति ही वक्रोक्ति अर्थात् 'सुन्दर उक्ति' है इस अर्थ में वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग करता है। वामन ने वक्रोक्ति का अर्थ लक्षणोक्ति कर दिया है।'
अलंकारमंजूषा, पृ० ६६

३. दे० 'अलंकार-संख्या संकोच और विस्तार' पृ० ३६६।

पुनराख्याताओं का वक्रोक्ति चिन्तन :

पुनराख्याताओं में से अधिकांश लेखकों ने 'काव्य-लक्षण', 'काव्य-स्वरूप' तथा 'काव्य का आत्म तत्व' निर्धारित करते समय वक्रोक्ति तत्व का भी संक्षिप्त विवेचन कर दिया है। यद्यपि यहाँ हिन्दी की भाँति कुंतक के 'वक्रोक्ति-सिद्धान्त' का समग्र रूप में स्वतन्त्र अध्ययन उपलब्ध नहीं होता, फिर भी प्रासंगिक रूप से ही वक्रोक्ति तत्व पर मराठी के आधुनिक लेखकों ने जो चिन्तन-अध्ययन किया है, वह नितान्त परम्पराभुक्त नहीं है। उसमें पर्याप्त नवीनता है।

संस्कृत काव्य-शास्त्र में 'काव्य-स्वरूप' के निर्धारण में विभिन्न मतवाद प्रचलित रहे। रस, रीति-गुण, ध्वनि, अलंकार आदि काव्य तत्वों के समान वक्रोक्ति तत्व ने भी काव्य का आत्मपद पाने की उद्घोषणा की थी। 'काव्य-स्वरूप' के निर्धारण में में प्रा० द० के० केळकर ने इन सभी काव्य-तत्वों की सीमा-शक्तियों तथा गुण-दोषों की समीक्षा की है। सैद्धान्तिक रूप से इन्होंने रस तत्व को ही काव्य का वास्तविक स्वरूप-निर्धारक तत्व माना है। इसी प्रसंग में इन्होंने वक्रोक्ति तत्व के काव्यगत अधिकार क्षेत्र की, उसकी सीमा-व्याप्ति की उचित परीक्षा की है। श्री द० के० केळकर के वक्रोक्ति-विवेचन का मुख्य अंश इस प्रकार है :

राजानक कुंतक ने 'रमणीयता' का स्पष्टीकरण करने के लिए ही वक्रोक्ति अथवा विदग्धोक्ति शब्द का प्रयोग किया है जो व्यापक होते हुए भी उपयुक्त है। किसी बात का यथासम्भव अल्प और असंदिग्ध शब्दों में निरूपण करना सरलोक्ति या स्वभावोक्ति है और उसी को ध्वन्यात्मक शब्दों से पर्याय या अतिशयोक्ति से, विनोदात्मक पद्धति से विस्तृत करके अभिव्यक्त करना वक्रोक्ति है। स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति दोनों ही 'वागीश्वर' की दो कन्याएँ हैं, दोनों सहोदरा हैं फिर भी दोनों की अभिरुचि भिन्न-भिन्न है।.........इसी कारण शास्त्रज्ञ सरलोक्ति की सेवा करते हैं तो कवि वक्रोक्ति का वरण करते हैं। सरलता में 'नाविन्य' का, तड़कभड़क का और अपूर्वता का अंश अत्यल्प होता है। सरल मार्ग एक ही होता है और वह सब को विदित हो ही जाता है। दो बिन्दुओं को मिलाने वाली सरल रेखा एक ही होती है, परन्तु इन्हीं दो बिन्दुओं को मिलाने वाली वक्र रेखाएँ अनन्त हो सकती हैं। इसी प्रकार वक्रोक्ति के भी अनेक मार्ग हैं। अर्थात् सहृदय प्रतीयमान कल्पना को विविध प्रकार से चित्रित करने में वक्रोक्ति को व्यापक स्थान प्राप्त है। चाहे वह कभी अतिशयोक्ति की प्रशंसा करे, चाहे कभी पर्यायोक्ति की शालीनता धारण करे, चाहे व्याजोक्ति का गुप्त आक्रमण करे चाहे कभी रमणीय साधर्म्य की हास्य-क्रीड़ा का निर्माण करे, चाहे कभी भीषण वैषम्य का भृकुटि

भंग दिखावे चाहे कभी अर्धस्फुट व्यंजनोक्ति या ध्वन्योक्ति का सलज्ज स्मित करे।[1]

'काव्य-इतर क्षेत्र में भी रमणीयता का प्रमुख अंग 'वक्रता' है। संगीत-कला, वास्तुकला आदि में वक्रता के कारण ही सौन्दर्य आता है। प्रकृति सुन्दरी का सौन्दर्य भी वक्रता से ही सम्बद्ध है। ग्रहोपग्रहों का वर्तुलाकार, समुद्र की तरंगें, आकाश स्थित मेघमाला, इन्द्रधनुष, 'विद्युल्लता', फल, पुष्प तथा पल्लवों से सुशोभि त 'वनराजी' सभी में सरल रेखा की अपेक्षा वक्ररेखा की ही स्थिति है, जो उनके सौन्दर्य को बढ़ा रही है। जो तथ्य सम्पूर्ण प्रकृति पर अभिघटित है वही काव्य में भी किंचित् परिवर्तित रूप में सत्य है। अर्थात् आकर्षण-हीन सरलता की अपेक्षा 'नाविन्य', अनपेक्षितता आदि से सुशोभित वक्रता में अधिक आकर्षण है। इसी कारण वक्रता सहृदयों को स्पृहणीय रही है। काव्यालंकार के रूप में परिगणित अलंकार वक्रता के ही प्रकार हैं। शास्त्रीय वाङमय और काव्य-साहित्य की तुलना में जब काव्य-साहित्य के 'नाविन्य' या सौन्दर्य का अनुसन्धान करने लगते हैं तब सर्वप्रथम अलंकारों की ओर दृष्टि जाना सहज स्वाभाविक है। उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों के बिना काव्य-सौन्दर्य का विकास कठिन है। इसीलिए काव्य के 'वैशिष्टच' का निरूपण करते समय प्राचीन शास्त्रकारों ने अलंकारो को ही प्रमुख स्थान दिया है।[2]

कुंतक ने वक्रोक्ति तत्व का सम्बन्ध केवल अलंकारों से ही स्थापित नहीं किया है वरन् काव्य के सभी अंगोपांगों से इसका सम्बन्ध दर्शाया है। स्वभावोक्ति अथवा सरलोक्ति का इनकी मान्यता में स्थान ही नहीं है। इनका प्रमुख प्रश्न है कि यदि स्वभावोक्ति अलंकार है तो उसे किसके शरीर पर डाला जायगा? अलंकारों की सूची में स्वभावोक्ति को स्थान देना इनकी मान्यता में अनुपयुक्त है और उनकी यह मान्यता नितान्त अवास्तविक नहीं है। क्योंकि प्रमुख प्रश्न है—पारिभाषिक शब्दावली में जिसे स्वभावोक्ति कहा जाता है क्या वह वास्तव में स्वभावोक्ति ही होती है? अर्थात् क्या यह सत्य है कि उसमें वस्तु का यथावत् वर्णन ही होता है? इसका उत्तर है—यह सर्वांश में सत्य नहीं है, क्योंकि किसी वस्तु का वर्णन करते समय हम उस वस्तु के सभी अंगों का वर्णन नहीं करते वरन् उन्हीं अंगों का वर्णन करते हैं जिनसे उसका वैशिष्टच हमारे ध्यान में आ जाय।

---

१. काव्यालोचन, पृ० १०६

२. 'तदेवं अलंकाराः एव काव्ये प्राधान्यं इति प्राच्यां मतम्' (अलंकार सर्वस्व-उपोद्घात) काव्यालोचन पृ० १०७

उदाहरणार्थ, वाल्मीकि के शिष्यों ने घोड़े को पहिली बार ही देखा और उन्होंने उसका वर्णन इस प्रकार किया है : 'जिसके पीछे विशाल पूँछ लटक रही है ओर जिसे वह हमेशा हिलाता रहता है।' यह प्रसंग उत्तररामचरित का है। शिष्यों द्वारा किये गये इस स्वभावोक्तिपूर्ण वर्णन में भी उनके कौतूहल को जगाने वाली वस्तुओं का ही उल्लेख है। अर्थात् काव्यगत स्वभावोक्ति में भी सामान्य और निस्सार बातों का वर्णन नहीं किया जाता। उसमें जिज्ञासा-प्रेरकत्व पर बल दिया जाता है और वर्णन को आकर्षक तथा प्रभावकारी बनाने का ही प्रयत्न किया जाता है। तात्पर्य, कतिपय अंगों को गौणता प्रदान करना और कतिपय को प्रमुखता देना वक्रोक्ति का ही एक प्रकार है।[१]

काव्य में वक्रता का आरम्भ वहीं से होने लगता है, जहाँ किसी वस्तु का, प्रसंग का अथवा व्यक्ति का वर्णन करने के लिए चुनाव किया जाता है। यद्यपि काव्य-सामग्री के संकलन का क्षेत्र अखिल जड़-चेतन प्रकृति तक व्याप्त है तथापि प्रकृतिगत प्रत्येक पदार्थ अपने मूल स्वरूप में काव्योपयोगी नहीं होता। जिस प्रकार से कुशल वास्तुशिल्पज्ञ पाषाण-समूह से रंगबिरंगे कंकरों को ही चुन कर निकालता है, उसी प्रकार कवि भी जड़-चेतन संसार के मनोरम दृश्य, 'हृदयंगम भावनामय' प्रसंगों का ही निर्वाचन करता है।........इस प्रकार की चमत्कृतिजनक वस्तु अथवा प्रसंगों का निरूपण कुंतक की मान्यता में 'विषयवक्रता' है। जहाँ कहीं व्यावहारिक प्रसंगों का कवि यथार्थ रूप में वर्णन करते हुए भी प्रसंग विशेष को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए उसमें निहित कतिपय अनावश्यक, गौण अथवा असंगतिजनक अंश को निकाल देता है, वहाँ कुंतक के मतानुसार 'प्रकरण वक्रता' होती है।[२]

कुंतक रस को भी वक्रता का ही एक प्रकार मानते हैं। इनकी मान्यता में किसी प्रसंग का रसपूर्ण, चित्ताकर्षक अथवा हृदय को द्रवीभूत करने वाला वर्णन भी वक्रता का ही प्रकार है। रसोत्कर्ष के लिए विभावानुभावादि को ध्यान में रख कर ही शब्द-योजना में दक्षता दिखानी पड़ती है। अर्थात् यह सारा कार्य सरलोक्ति का नहीं है। औचित्य के अनेक नियमों का पालन करना मानों तार पर कसरत करना है, जो भोली-भाली सरलोक्ति के लिए सम्भव नहीं है। इस कार्य में विदग्ध-वक्रता ही समर्थ होती है। इस प्रकार उपमा आदि अलंकार, माधुर्य आदि गुण, गौडी-पांचाली आदि रीतियाँ, शृंगार आदि रस और औचित्य-बन्धन आदि सभी

---

१. काव्यालोचन, पृ० १०८
२. काव्यालोचन, पृ० १०८-९

तत्व वक्रता के ही प्रकार हैं। इतने सर्वव्यापी सिद्धान्त की कुंतक ने प्रतिष्ठापना की है।[१]

कुंतक और क्रोचे :

'कुंतक की वक्रोक्ति संज्ञा पाश्चात्य क्रोचे की 'प्रकटीकरण' या 'अभिव्यक्ति' संज्ञा से अधिक सार्थक है। क्रोचे केवल 'अभिव्यक्ति' शब्द का ही प्रयोग करते हैं। 'रमणीय अभिव्यक्ति' इस प्रकार की संज्ञा का भी वे प्रयोग नहीं करते। परिणामत: काव्य, व्याकरण, गणित आदि सभी प्रकारों को वे एक ही स्तर पर रखना चाहते हैं। परन्तु काव्यत्व तो इस तथ्य पर अवलंबित है कि किस वस्तु की और किस प्रकार से अभिव्यक्ति की गई है। केवल अभिव्यक्ति मात्र पर बल देने में निहित न्यूनता की प्रतीति क्रोचे को भी हुई। अत: उन्हें अन्यत्र इसमें एक बात और जोड़ देनी पड़ी है कि—'स्फूर्ति' में एक सूत्रता और अखंडता लाने का कार्य भावना ही करती है।"[२] तात्पर्य, केवल अभिव्यक्ति पर बल न दे कर उसके विषय अर्थात् भावना, कल्पना आदि पर भी उचित बल देना चाहिए। यह तथ्य क्रोचे को घूम-फिर कर ही क्यों न हो, मान्य करना पड़ा है।'[३]

यदि वास्तविक तथ्य यही है तो क्रोचे ने अभिव्यक्ति पर और वामन ने रीति पर क्यों अधिक बल दिया है ? कुंतक का भी वक्रोक्ति पर ही एकांत बल देने में क्या हेतु है ? ये तीनों आचार्य जो अभिव्यक्त करना है उसको प्रभुखता न दे कर उसकी अभिव्यक्ति-पद्धति को ही क्यों महत्व देते हैं ? इसका कारण प्रा० द० के० केळकर के मत में यह है कि क्रान्ति के युग को छोड़ दिया जाय तो शेष समय शताब्दियों तक भावना और विचारों का स्वरूप सुनिश्चित-सा ही रहता है। जब एक ही प्रकार की भावनाएँ और एक जैसे ही विचार युग-युग तक चलते हैं तो एक युग में उत्पन्न अनेक कवियों की 'आत्मीयता' (मौलिकता) किस चीज में होगी ? इसका उत्तर है—उन भावनाओं और विचारों की अभिव्यक्ति-पद्धति में। उदाहरणार्थ, लोकमान्य तिलक और शिवरामपंत परांजपे दोनों ही 'केसरी' और 'काळ' नामक समाचार पत्रों से देश प्रेम की भावना उत्कट रूप में अभिव्यक्त करते थे। दोनों का ध्येय देश-भक्ति की भावना पर बल देना था। फिर दोनों का व्यक्ति वैशिष्टय किस बात में प्रकट होता है ? इसका उत्तर है—उनकी अभि-

---

१. **काव्यालोचन, पृ० १०९**

2. What gives coherence and unity to intuition is feeling.
काव्यालोचन, पृ० ११०

३. **काव्यालोचन, पृ० ११०**

व्यक्ति-पद्धति में। इसी कारण तिलक और परांजपे के लेखों का आस्वाद लेते समय दोनों में पौष्टिकता होने पर भी दोनों के स्वाद में निरालापन है। इसी निरालेपन में दोनों का व्यक्तित्व अधिक उभर कर दिखाई देता है। अतः 'निरीक्षक' को उनके विषय की अपेक्षा उसकी अभिव्यक्ति-पद्धति पर बल देना पड़ता है। इसी आशय से वामन आदि ने रीति पर बल दिया होगा।

भावना और विचारों को उपयुक्त वाणी देना ही रीति या अभिव्यक्ति है। परन्तु जब रीति को ही काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिपादित किया जाता है, तब यह मत 'चिन्त्य' बन जाता है।[1]

काव्य-सौन्दर्य के सम्पूर्ण घटकों को एक सूत्र में पिरोने का कुंतक का प्रयत्न निःसंशय प्रशंसनीय है। जगन्नाथ की 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' यह काव्य-व्याख्या 'सर्वव्यापी' है फिर भी इस रमणीयता का एक प्रमुख घटक मान कर कुंतक ने वक्रोक्ति को 'सिंहासनाधिष्ठित' करने में महत्वपूर्ण कार्य किया है। परन्तु वक्रोक्ति तत्व को 'सर्वव्यापी' बनाने में वह इतना तन गया है कि 'औचित्य परिपालन' और 'रसपरिपोष' पर से लपेटते समय बिल्कुल जर-जर हो गया है। पर्यायोक्ति, व्याजोक्ति आदि अलंकारों के लिए वक्रोक्ति शब्द जितना शोभा देता है उतना 'रसाविर्भाव' के लिए इसका प्रयोग शोभा नहीं देता। आखिर 'रसाविर्भाव' में कैसी वक्रता ? रस के उपयुक्त परिपोष के लिए 'विसंवादी' स्वर को दूर करने में विशेष ध्यान रखना पड़ता है। यदि इतनी सी बात के लिए वक्रता नाम देना है तो 'वक्रता' शब्द के अर्थ की बहुत अधिक खींच-तान करनी पड़ती है। (मनो) 'वृत्ति' की एकतानता के साधक रसाविर्भाव के लिए वक्रता-शब्द-प्रयोग जँचता ही नहीं है। अतः 'वक्रोक्ति' शब्द का त्याग करके 'विदग्धोक्ति' शब्द का प्रयोग किया जाय तो कुंतक का अभिप्राय अधिक अच्छी तरह से स्पष्ट होगा।[2]

प्रा० द० के० केळकर रसवाद के प्रबल समर्थक हैं, अतः इन्होंने सैद्धान्तिक रूप में रस को ही काव्य का आत्म तत्व स्वीकार किया है वक्रोक्ति को नहीं। फिर भी वक्रोक्ति तत्व को इन्होंने एकान्त बाह्य और अग्राह्य मान कर इसकी उपेक्षा नहीं की, वरन् रस तत्व के अत्यन्त निकट ले जा कर इसका अध्ययन किया है। फलतः इन्होंने वक्रोक्ति या विदग्धोक्ति को रमणीयार्थ की ही प्रकारान्तर से व्याख्या करने वाला शब्द माना है। सैद्धान्तिक रूप से इनकी मान्यता में वक्रोक्ति-

---

१. **काव्यालोचन, पृ० ११०-११**
२. **काव्यालोचन, पृ० १११**

सिद्धान्त अभिव्यक्ति-पद्धति का सिद्धान्त मात्र है, इसमें रस और औचित्य तत्व को अन्तर्भूत करने के लिए कुंतक ने सचेष्ट प्रयत्न किया है। वक्रोक्ति-सिद्धान्त स्पष्टतः अभिव्यक्ति-पद्धति रूप है फिर भी इसका आन्तरिक महत्व है। कवियों को कल्पना-चित्रण में इसी से सहायता मिलती है। एक प्रकार से कल्पनाभिव्यक्ति का यह प्रमुख साधन है। कवियों का 'व्यक्ति-वैशिष्टय' इसी 'वक्रोक्ति', विदग्धोक्ति या अभिव्यक्ति-पद्धति पर अवलम्बित है। संक्षेप में प्रा० द० के० केळकर का वक्रोक्ति-विषयक व्यापक विवेचन निम्न तथ्यों पर प्रकाश डालता है :

१. कुंतक का वक्रोक्ति या विदग्धोक्ति शब्द-प्रयोग रमणीयता की ही मानो व्याख्या करता है।

२. सरलोक्ति या स्वभावोक्ति की अपेक्षा वक्रोक्ति का क्षेत्र बहुत व्यापक है, इससे कवि अपनी कल्पना को विविध प्रकार से चित्रित करने में समर्थ होता है।

३. वक्रता रमणीयता का प्रमुख अंग है। सम्पूर्ण ललित कलाओं में तथा प्राकृतिक जगत् में भी वक्रता सौन्दर्य और आकर्षण को बढ़ाती है। काव्य का अलंकार-प्रपंच वक्रता का ही द्योतक है। काव्य-सौन्दर्य का अनुसन्धान करते समय प्रथम अलंकारों पर दृष्टि जाना मानो वक्रता के प्रति ही आकृष्ट होना है। प्राचीनों द्वारा अलंकारों को प्राधान्य देना मानों वक्रता की ही महत्व-स्वीकृति है।

४. कुंतक ने वक्रोक्ति में सरलोक्ति या स्वभावोक्ति को स्थान नहीं दिया जो उपयुक्त ही है। परम्परागत पारिभाषिक स्वभावोक्ति में भी वक्रोक्ति की स्थिति होती ही है। वस्तु के यथावत् वर्णन में भी कवि 'जिज्ञासा प्रेरकत्व', आकर्षण और प्रभावोत्पादन पर ही दृष्टि केन्द्रित रखता है।

५. कुंतक-प्रतिपादित वक्रोक्ति में अलंकार, रीति-गुण, रस, ध्वनि, औचित्य आदि सभी काव्य-तत्वों का अन्तर्भाव हो जाता है।

६. कुंतक के वक्रोक्तिवाद और क्रोचे के अभिव्यंजनावाद में एकरूपता नहीं है। क्रोचे केवल अभिव्यक्ति पर बल देता है किन्तु कुंतक की वक्रोक्ति में रमणीयता या रस का महत्वपूर्ण स्थान है। क्रोचे को अपने सिद्धान्त-प्रतिपादन में न्यूनता प्रतीत हुई, उन्हें सहजानुभूति में भावना को भी स्थान देना ही पड़ा।

७. क्रोचे का अभिव्यंजनावाद, वामन का रीतिवाद और कुंतक का वक्रोक्तिवाद एक प्रकार से अभिव्यक्ति-पद्धति पर ही विशेष बल देते हैं। इसके मूल में एक महत्वपूर्ण कारण निहित है। शताब्दियों तक मानवीय भावनाओं और विचारों का स्वरूप एक-सा ही होता है, उसमें नवीनता लाना कठिन है। युग-विशेष के विभिन्न कवियों की 'आत्मीयता', मौलिकता या नवीनता का आधार अभिव्यक्ति-पद्धति

ही होती है, इसी से उनके 'व्यक्ति-वैशिष्टच' की पृथक् प्रतीति होती है।

८. फिर भी अभिव्यक्ति-पद्धति को या रीति को काव्य का आत्मतत्व स्वीकार नहीं किया जा सकता।

९. वक्रोक्ति तत्व को सर्वव्यापी सिद्धान्त बनाने में कुंतक को अत्यधिक प्रयत्न करना पड़ा है। इसे रसवाद और औचित्यवाद तक व्याप्त करने में आवश्यकता से अधिक खींचतान करनी पड़ी है।

१०. चित्तवृत्तियों को समन्वित या 'एकतान' करने वाले 'रसाविष्कार' को 'वक्रोक्ति' कहना संगत नहीं लगता। इसके स्थान पर विदग्धोक्ति शब्द कुंतक की धारणा को अधिक स्पष्ट कर सकेगा।

वक्रोक्ति तत्व को एक विशिष्ट अलंकार मात्र मानने की परम्परा को रस-ध्वनिवादी आचार्यों ने विशेष प्रश्रय दिया है। आधुनिक मराठी काव्य-शास्त्र के पुनराख्याताओं में अधिकांश ने रस तत्व को ही काव्य का आत्म तत्व स्वीकार किया है और वक्रोक्ति की स्थिति के विषय में रसवादी आचार्यों की धारणाओं का ही अनुमोदन किया है। प्रा० रा० श्री० जोग ने 'काव्यलक्षण' की व्यापक मीमांसा करते हुए रस-इतर तत्वों में काव्यत्व की स्थिति का निषेध किया है। इसी प्रसंग में उन्होंने वक्रोक्ति की भी समीक्षा की है और वक्रोक्ति को अलंकार मात्र स्वीकार किया है। अलंकारों में वक्रोक्ति की व्यापकता का भामह के समान ही इन्होंने भी समर्थन किया है। किन्तु अलंकार मात्र में जिस प्रकार काव्यत्व स्वीकार नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार वक्रोक्ति में काव्यत्व की स्थिति नहीं होती। अलंकार जिस प्रकार काव्य के बहिरंग की शोभा बढ़ाते हैं उसी प्रकार वक्रोक्ति का सम्बन्ध भी काव्य के बहिरंग से ही है। प्रा० जोग के अभिमत में वक्रोक्ति अपने आप में एक परिपूर्ण काव्य तत्व नहीं है। इनके अभिमत का सारांश इस प्रकार है—

'जब काव्य तत्व के विषय में अधिक गहन चिन्तन आरम्भ हुआ तब अलंकार तत्व से सबका सहज समाधान नहीं हो सका। शब्दालंकार तथा अर्थालंकार काव्य के बाह्यांग की शोभा बढ़ाते हैं। इनसे थोड़ा-बहुत आह्लाद भी मिल सकता है। किन्तु इन्हें काव्य का आत्मतत्व मानना उपयुक्त नहीं लगता। दोनों प्रकार के (शब्द तथा अर्थ के) अलंकारों के अभाव में भी सरस और आह्लादक काव्य-रचना सम्भव है। मम्मट ने स्फुट अर्थात् वाच्य रूप में अलंकारों की स्थिति न होने पर भी काव्यत्व की स्वीकृति दी है। अतः काव्यत्व की वास्तविक स्थिति अलंकारों में नहीं है। शब्द अथवा उनका वाच्यार्थ काव्य शरीर ही होता है और इन शब्दार्थों को शोभा प्रदान करने वाले तत्व अलंकार कहलाते हैं। इन अलंकारों में व्याप्त जो वक्रोक्ति है, वह भी अलंकारों के समान काव्य के बाह्य शरीर से सम्बद्ध है।

अलंकार और वक्रोक्ति का काव्य के अंतरंग में प्रवेश नहीं है।'[1]

प्रा० जोग की प्रस्तुत मान्यता रसध्वनिवादी आचार्य मम्मट, विश्वनाथ आदि की वक्रोक्ति-सम्बद्ध धारणाओं पर आधृत है।

अन्यत्र प्रा० जोग ने सौन्दर्य-शास्त्र की पृष्ठभूमि पर वक्रोक्ति-सिद्धान्त का किंचित् विस्तार से विवेचन किया है और सौन्दर्य के कतिपय स्वीकृत मानों का वक्रोक्ति-सिद्धान्त में अन्तर्भाव दर्शाया है।[2] इनके मत में 'कुंतक ने वक्रोक्ति तत्व का चिन्तन मूलतः काव्य की पृष्ठभूमि पर किया है। यदि अन्य ललित कलाओं से वक्रोक्ति तत्व के साधर्म्य का ध्यान कुंतक को आ जाता तो वे अन्य कलाओं तक भी इसकी व्याप्ति का प्रतिपादन करते। सौन्दर्य के लिए आवश्यक 'रेखा वक्रता' की भी जानकारी यदि कुंतक को होती तो वे वक्रता के क्षेत्र को कम से कम चित्रकला तक तो व्याप्त कर ही देते।'[3] किन्तु कुंतक का प्रतिपादन एकांततः काव्य क्षेत्र की वक्रता पर आधृत है, अतः प्रा० जोग ने सौन्दर्य-शास्त्र के तत्वों को ध्यान में रखते हुए भी मूलतः कुंतक की काव्य सम्बद्ध वक्रोक्ति-धारणा का व्यापक स्पष्टीकरण करने का प्रयत्न किया है। 'वक्रता' के साथ 'वैचित्र्य' शब्द का प्रयोग उसके पर्याय या गुण रूप में प्रयुक्त करके कुंतक ने वक्रोक्ति की दो-तीन स्थलों पर व्याख्याएँ की हैं। इन व्याख्याओं से यह आशय निकलता है कि सर्वजन परिचित पद्धति सामान्य और सरल होती है। सरलता और सर्वपरिचितता के कारण उसमें कोई विशेष आकर्षण अथवा पाठकों को प्रभावित करने की शक्ति नहीं होती। काव्य का प्रयोजन पाठकों के मन को आकर्षित करने और उन्हें इससे प्रभावित करने में निहित है। इसके लिए सामान्य सरल मार्ग का त्याग और निराले मार्ग का ग्रहण आवश्यक हो जाता है। ऐसा करना मानो वक्रता को ही स्वीकार करना है। विदग्धजन और प्रतिभाशाली व्यक्ति इसी मार्ग को स्वीकार करते हैं, फलतः उनकी उक्ति काव्यत्व का रूप ग्रहण करती है। संक्षेप में जब सादगी-सरलता का त्याग करके रचना में किसी वैशिष्ट्य, या वैचित्र्य की अवतारणा होती है तभी उसमें काव्यत्व आता है।[4]

प्रा० रा० श्री० जोग की मान्यता में काव्यत्व के लिए इस प्रकार से वक्रोक्तितत्व को अनिवार्य ठहरा कर कुंतक ने अतिवादी भूमिका ही अपनायी है। काव्यत्व के लिए वक्रोक्ति तत्व पर ही एकान्त बल देने का परिणाम यह हुआ कि उन्हें या तो 'वक्रता

---

१. अभिनव काव्यप्रकाश, पृ० १२
२. सौन्दर्यशोध आणि आनंदबोध, पृ० १२५
३. वही, पृ० ११९
४. सौन्दर्यशोध आणि आनंदबोध, पृ० ११९

का मूलभूत अर्थ बदलना पड़ा है अथवा उसे बहुत व्यापक बनाना पड़ा है।' उनकी वक्रता का मूल अर्थ वैचित्र्य, निरालापन, अपरिचितता, पर्यायोक्त, व्यंजना, लक्षणा, औचित्य इत्यादि भिन्न-भिन्न प्रकार का बन जाता है। इससे यही आशय निकलता कि है सामान्य चमत्कृति रूप अथवा कोई भी आकर्षित करने में समर्थ अथवा ध्यान में लाने योग्य उक्ति वक्रता कहलाती है। कुंतक ने वक्रोक्ति को इसी प्रकार की अर्थव्याप्ति प्रदान की है।'[1]

'काव्यानंद अथवा सौन्दर्य-सिद्धि का आधार केवल एक ही सिद्धान्त मानने से खींचतान हुए बिना नहीं रहती। इसका स्पष्ट उदाहरण वक्रोक्ति-सिद्धान्त भी है। काव्यत्व के लिए जब केवल भावना अथवा रस पर हीं विशेष बल दिया जाता है तब 'सरस कल्पना' और 'उदार विचारों' को बहिष्कृत करना पड़ता है। जब केवल ध्वनि तत्व पर बल दिया जाता है तब रस को भी ध्वनि ही कहना पड़ता है और उसके उत्पत्तिक्रम को 'असंलक्ष्य' मानना पड़ता है। केवल अलंकार अथवा वक्रोक्ति-सिद्धान्त पर ही जब अधिक आग्रह किया जाता है तब अन्य काव्य तत्वों को भी इसमें अन्तर्हित करने के लिए या तो 'रसवत् अलंकार' की कल्पना करनी पड़ती है अथवा वक्रोक्ति या वक्रता के ही भिन्न-भिन्न अर्थ निकालने पड़ जाते हैं। सारांश, जिस प्रकार भौतिक ऐन्द्रिय सौन्दर्य में किसी एक ही विशिष्ट कारण का निर्देश करना कठिन है उसी प्रकार बुद्धिग्राह्य सौन्दर्य में भी किसी एक ही कारण का निर्देश संभव नहीं है।'[2]

इसमें सन्देह नहीं कि आचार्य कुंतक ने वक्रोक्ति तत्व को काव्य के बहिरंग तथा अन्तरंग तक व्याप्त करने में अतिवाद से काम लिया है, यह उनका 'वक्रता' के प्रति अतिचार स्पष्ट है। किन्तु इनके प्रतिपादन का दूसरा पक्ष भी है। कुंतक की दृष्टि केवल बहिरंग पर उलझ कर नहीं रह गई। उन्होंने काव्य के अन्तरंग में भी प्रवेश का प्रयत्न करके काव्य के विराट्-व्यापक रूप पर दृष्टि केन्द्रित की थी। कुंतक-प्रतिपादित वक्रोक्ति के विभिन्न भेदों—प्रबन्ध वक्रता, प्रकरण वक्रता, विषय वक्रता आदि से स्पष्ट है कि वक्रोक्ति केवल एक विशिष्ट अलंकार मात्र नहीं है वरन् काव्य का सर्वांगीण सौन्दर्यसाधक तत्व है। रसध्वनिवादी आचार्यों ने वक्रोक्ति को केवल परम्परागत एक विशिष्ट अलंकार मात्र स्वीकार करके इसके व्यापक स्वरूप के प्रति दुर्लक्ष किया है।

संक्षेप में प्रा० रा० श्री० जोग के मन्तव्य को इस प्रकार से समझा जा सकता है :

---

१. सौन्दर्यशोध आणि आनंदबोध पृ० १२०

२. वही, पृ० १२५

१. वक्रोक्ति तत्व अलंकार तत्व की भाँति काव्य के बहिरंग से सम्बद्ध है। वक्रोक्ति का स्वरूप लगभग अलंकार जैसा ही है।

२. अलंकार के बिना काव्यत्व की स्थिति सम्भव है, उसी प्रकार वक्रोक्ति भी काव्य के लिए अनिवार्य नहीं है। वक्रोक्ति के बिना भी काव्य की स्थिति पूर्णतः संभव है।

सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से वक्रोक्ति का विवेचन :

१. कुंतक ने वक्रोक्ति-सिद्धान्त को व्यापक बनाया है, किन्तु काव्य-इतर ललित कलाओं में इसकी व्याप्ति का उन्होंने विवेचन नहीं किया है।

२. वक्रोक्ति तत्व को कुंतक ने एक प्रकार से सादगी-सरलता के प्रतिद्वन्द्वी रूप में उपस्थित किया है। रचनागत किसी भी प्रकार का वैशिष्ट्य, वैचित्र्य, चमत्कार या आकर्षण वक्रोक्ति की सिद्धि करता है। इससे वक्रोक्ति के अर्थ की व्याप्ति हो गई है और इसमें 'वैचित्र्य', 'नाविन्य', पर्यायोक्त, व्यंजना, लक्षणा, औचित्य आदि सभी का अन्तर्भाव हो गया है।

३. किसी एक ही तत्व को काव्य-सौन्दर्य-निर्धारक तत्व मानने के कारण आवश्यकता से अधिक खींचतान आरम्भ होती है। जिस प्रकार रस, ध्वनि आदि काव्य-सिद्धान्तों की भी सीमाएँ हैं उसी प्रकार वक्रोक्ति की भी सीमा है। इसे व्यापक बनाने के लिए इसके मूल में निहित भिन्न-भिन्न अर्थों की कल्पना करनी पड़ती है।

डा० के० ना० वाटवे ने वक्रोक्ति तत्व का मूल्यांकन अभिव्यक्ति-पद्धति के रूप में ही किया है। रस और वक्रोक्ति सिद्धान्त में सापेक्षिक महत्व की दृष्टि से इन्होंने रसवाद को प्रमुख और महत्वपूर्ण काव्य तत्व माना है। 'क्योंकि काव्य में कवि के मनोगत भाव, उसकी अनुभूति और उसके विचारों को अधिक महत्व देना संगत है अपेक्षाकृत इनकी सुन्दर अभिव्यक्ति-पद्धति को।'[१] 'फ्लाबर्त' जैसे व्यक्ति भाव, विचार और उनके बाह्याकार (फार्म) में भिन्नता स्वीकार ही नहीं करते, अतः उनके लिए तो प्रस्तुत सापेक्षिक महत्व का प्रश्न ही नहीं उठता। परन्तु काव्य के प्रान्त में दो चीजें स्पष्टतः पृथक्-पृथक् दिखाई देती हैं। उत्कृष्ट मनोभाव सदैव उत्तम आकार में व्यक्त नहीं होते और कहीं-कहीं सामान्य मनोभाव को भी सुन्दर बाह्य आकार प्राप्त हुआ दिखाई देता है। ऐसी स्थिति में मनोभावों को ही सर्वत्र महत्व देना आवश्यक है। कवि के लिए भी यही अपेक्षित है कि वह मनोगत भावानुरूप ही बाह्याकार प्रदान करे।'[२] ... 'कवि का उत्कट मनोभाव

---

१. **रसविमर्श, पृ० ३८८**

२. **वही, पृ० ३८८**

ही काव्य का जीवित है और इसे अभिव्यक्त करने वाले शब्द तथा अर्थ रूप साधनों का रमणीय उपस्थापन ही वक्रोक्ति है।'[१]

इस प्रकार डा० वाटवे व्यावहारिक रूप से आत्मा और शरीर की या भाव तथा अभिव्यक्ति-पद्धति की भिन्नता के ही समर्थक रहे हैं। अतः इन्होंने भावना को ही काव्य का जीवित या आत्म तत्व स्वीकार किया है और वक्रोक्ति को अभि-व्यक्ति-पद्धति मात्र माना है।

वक्रोक्ति तत्व को अभिव्यक्ति-पद्धति का ही एक रूप मान कर डा० रा० शं० वाळिंबे ने रीति तत्व के विवेचन-प्रसंग में ही कुंतक के वक्रोक्ति तत्व की संक्षिप्त मीमांसा की है। इन्होंने कुंतक के वक्रोक्ति तत्व का मूलभूत आधार 'कलात्मक कौशल' को माना है। वक्रोक्ति का लक्षण प्रस्तुत करते हुए डा० वाळिंबे ने अपने अभिमत को इस प्रकार स्पष्ट किया है :

'वैचित्र्य के कारण ही काव्य को लोकोत्तर शोभा प्राप्त होती है। जिस वक्रोक्ति को कुंतक ने काव्य का सर्वस्व माना है, उसका सारा वैशिष्ट्य इस 'वैचित्र्य' में ही निहित है। वक्रोक्ति का अर्थ है—'प्रसिद्ध प्रस्थान व्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा।' इसी रूप में कुंतक ने वक्रोक्ति का स्वरूप स्पष्ट किया है। कुंतक के अनुसार वक्रोक्ति की व्याख्या है : 'वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगी भणितिरुच्यते।'

'वैदग्ध्य भंगी भणिति' का अर्थ ही वक्रोक्ति है। वैदग्ध्य का अर्थ है उपरोक्त 'विचित्राभिधा' अथवा 'विन्यास वैचित्र्य'—'अभिव्यक्ति की पद्धति'। इससे स्पष्ट विदित होता है कि कुंतक का सारा बल वैदग्ध्य पर अर्थात् 'कलात्मक कौशल' पर है। तात्पर्य, वक्रोक्ति एक 'भणिति प्रकार' अथवा रुय्यक की भाषा में कहा जाय तो 'उक्ति वैचित्र्य' है, जो सर्वथा कवि प्रतिभा से ही स्फुरित होता है। इस वैचित्र्य का कुंतक ने जो स्पष्टीकरण किया है उससे शास्त्रीय वाङ्मय की भाषा और साहित्य (ललित वाङ्मय) की भाषा के मूलभूत अन्तर की स्पष्ट प्रतीति होती है। शास्त्रीय वाङ्मय में प्रयुक्त भाषा से काव्य-साहित्य की भाषा नितान्त भिन्न होती है, इसमें वैचित्र्य या कलात्मक सौन्दर्य की स्थिति होती है। इसी के साथ इस वैचित्र्य की सबसे बड़ी कसौटी है—आह्लाद। कुंतक ने इस तथ्य पर बार-बार बल दिया है।'[२]

डा० रा० शं० वाळिंबे ने कुंतक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त का जिस रूप में विवेचन किया है उससे प्रमुख रूप में जो तथ्य प्रकाश में आते हैं, वे इस प्रकार हैं :

---

१. **रसविमर्श, पृ० ३८९**

२. **साहित्य मीमांसा, पृ० २३२-३३**

१. कुंतक के वक्रोक्ति तत्व का सम्पूर्ण वैशिष्टय 'वैचित्र्य' शब्द में निहित है।

२. कुंतक की वक्रोक्ति एक प्रकार से अभिव्यक्ति की पद्धति है।

३. वक्रोक्ति की सम्पूर्ण शक्ति कलात्मक कौशल पर आधारित है।

४. 'वैचित्र्य' या 'कलात्मक कौशल' ही काव्य-भाषा को शास्त्र की भाषा से पृथक् कर देता है।

५. वैचित्र्य की सब से बड़ी कसौटी है—आह्लाद।

संक्षेपतः डा० रा० शं० वाळिंबे ने वक्रोक्तिवाद का 'कलात्मक कौशल' तथा काव्यभाषा से सम्बन्ध दर्शा कर इसे अभिव्यक्ति-पद्धति का ही एक सिद्धान्त माना है। अर्थात् यह काव्य के बहिरंग की ही उपासना करता है, अंतरंग की साधना वक्रोक्ति का क्षेत्र नहीं है। फिर भी अभिव्यक्ति-पद्धति का या वक्रोक्ति का अंतिम साध्य अंतरंग की ही सिद्धि है, इस तथ्य से कुंतक अपरिचित नहीं थे। सम्भवतः इसी कारण उन्होंने 'वैचित्र्य' की कसौटी निर्धारित की है—आह्लाद या आनंद। साहित्य के स्वरूप-निर्धारण में भी कुंतक ने साहित्य के अन्तिम साध्य के रूप में आह्लाद या आनन्द का 'पानकास्वाद' से साम्य बिठाते हुए निरूपण किया है।[1]

वक्रोक्ति तत्व की आरम्भिक स्थिति और उसके स्वरूप का श्री ग० त्र्यं० देशपाण्डे ने संस्कृत साहित्य-शास्त्र के आधार पर विस्तृत विवेचन किया है। संस्कृत के नाटयशास्त्र के सामानान्तर जब काव्य-शास्त्र का निर्माण आरम्भ हुआ तब वक्रोक्ति तत्व ने काव्य-शास्त्र में किस प्रकार महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया इसकी आन्तरिक मीमांसा इन्होंने विस्तार से की है। इनके अभिमत में भरतमुनि-निरूपित 'लक्षण' और भामह की 'वक्रोक्ति' दोनों ही कवि के 'अभिधा व्यापार' के द्योतक हैं। 'नाटयशास्त्र के लक्षणों का स्थान काव्य चर्चा के स्वतन्त्र युग में वक्रोक्ति को प्राप्त हुआ है।'[2] भामह ने वक्रोक्ति के विषय में लिखा है: 'काव्य में सर्वत्र वक्रोक्ति ही दिखाई देती है और इसी से अर्थ विभावित होते हैं। वक्रोक्ति के विना काव्य में अलंकार या सौन्दर्य नहीं आ सकता। अतः वक्रोक्ति की साधना में कवि को प्रयत्नशील होना चाहिए।'[3] इस उक्ति से श्री ग० त्र्यं० देशपाण्डे ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि भामह ने 'अनयाऽर्थो विभाव्यते' कह कर रस-निर्मिति के नाटयगत सभी साधनों (विभावादि) का कार्य श्रव्य काव्य में वक्रोक्ति

१. हिन्दी वक्रोक्ति जीवित, प्र० उ० ३६, ३७, ३८।
२. भारतीय साहित्य शास्त्र, पृ० ४२
३. काव्यालंकार, २।८५

के द्वारा निष्पन्न कराया है।[1] अतः भामह रस विरोधी नहीं हैं। जब नाटयशास्त्र से काव्यशास्त्र पृथक् अस्तित्व में आने लगा तब नाटय के 'लोकधर्मी' और 'नाटय धर्मी' तत्व एक प्रकार से काव्य की स्वभावोक्ति और 'वक्रोक्ति' बन गये।[2] सामान्य से भिन्न जो बोलने की पद्धति है, उसे भामह ने वक्रोक्ति रूप माना है। विदग्धता और वक्रोक्ति का 'अव्यभिचारी सम्बन्ध' है। सामान्यतः स्वभावोक्ति को वक्रोक्ति का विपरीत रूप समझा जाता है, वस्तुतः यह सत्य नहीं है, क्योंकि स्वभावोक्ति में भी विदग्धता की आवश्यकता होती ही है। अतः वक्रोक्ति के विपरीत ग्राम्यता है स्वभावोक्ति नहीं।[3]

वक्रोक्ति और नाटय या अभिनय की समानान्तर स्थिति इस प्रकार स्पष्ट हो जाती है: 'नाटयार्थ' आहार्यादि अभिनयों से अभिनीत होता है तो काव्य में वही अर्थ वक्रोक्ति से अभिनीत होता है। नाटयार्थ अभिनय से 'भावित' होता है तो काव्यार्थ वक्रोक्ति से। नाटय अभिनय में प्रतिष्ठित होता है तो काव्य अलंकारों में। अभिनय नाटयधर्मी होता है तो अलंकार वक्रोक्ति रूप। 'लोकधर्मी' की 'नाटय-धर्मी' से प्रतीति होना नाटय है तो लोकानुभव की वक्रोक्ति के द्वारा प्रतीति होना काव्य है। नाटयधर्मी का आधार लोकधर्मी होता है तो वक्रोक्ति भी लोकाश्रित ही होती है। नाटयधर्मिता ही नाट्यालंकार है तो वक्रोक्ति ही काव्यालंकार है।'[4]

श्री ग० त्र्यं० देशपाण्डे ने वक्रोक्ति तत्व की आरम्भिक स्थिति और उसके स्वरूप का विवेचन विशेषतः इस अभिमत की सिद्धि में किया है कि भामह रस-विरोधी आचार्य नहीं हैं। उन्होंने वक्रोक्ति का नाट्यशास्त्र के समानान्तर विकास कर दिखाया है। काव्यशास्त्र के विभावादि का कार्य वक्रोक्ति द्वारा ही सिद्ध होता है अतः रस के विरोध का यहाँ प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रतिपादन से यह भी स्पष्ट हो, जाता है कि काव्य में वक्रोक्ति साधन रूप ही है, साध्य तो रस-निष्पत्ति ही है। अन्यत्र कुंतक के 'साहित्य विवेचन' का श्री देशपांडे ने विस्तार से निरूपण किया है और निष्कर्ष निकाला है: 'कुंतक के कथनानुसार 'कविवाणी' का पर्यवसान रसास्वाद में होता है, इतना ही नहीं बल्कि रसास्वाद ही कवि वचनों का जीवित है, इसके बिना काव्य निर्जीव है। इन 'परिवह श्लोकों' की शब्दावलियों का ध्वनि-कारिका और अभिनवगुप्त के वचनों से अद्भुत साम्य है। पानक रस का दृष्टान्त

१. भारतीय साहित्यशास्त्र, पृ० ६०
२. वही, पृ० ६६
३. वही, पृ० ६९
४. भारतीय साहित्यशास्त्र, पृ० ८३

तो रसास्वाद के लिए अभिनवगुप्त ने भी ग्रहण किया है।'[१] इस प्रकार इनके मत में वक्रोक्ति सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक कुंतक ने स्वयं ही रस तत्व को साहित्य या काव्य का अन्तिम साध्य निर्धारित किया है।

सारांश :

आधुनिक मराठी साहित्यशास्त्र में 'वक्रोक्ति सिद्धान्त' की अधिक व्यापक और गम्भीर मीमांसा नहीं हो सकी है। परम्परानुयायी लेखकों ने इसे केवल एक विशिष्ट अलंकार रूप में ही स्वीकृति दी है। रस तथा अलंकार तत्व का इन आरम्भिक लेखकों पर इतना प्रबल प्रभाव था कि वे अन्य काव्यतत्वों—रीति-गुण, वक्रोक्ति आदि की विस्तृत समीक्षा नहीं कर सके। परिणामतः कुंतक के 'वक्रोक्ति सिद्धान्त' का व्यापक अध्ययन उपेक्षित ही रहा। रस-ध्वनिवादी आचार्यों के अनुरूप 'वक्रोक्ति' को एक अलंकार रूप ही मान लिया गया है।

पुनराख्याताओं का दृष्टिकोण अपेक्षाकृत व्यापक है। कुंतक निरूपित 'वक्रोक्ति तत्व' के आरम्भ और विकास का अध्ययन समीक्षात्मक दृष्टिकोण से किया गया है, केवल व्याख्यात्मक दृष्टि नहीं अपनाई गई। इन पुनराख्याताओं में प्रायः सभी रसवाद के ही समर्थक हैं, इसे ही काव्य का आत्म तत्व मानते हैं, परिणामतः वक्रोक्ति को काव्य के जीवित तत्व या आत्म तत्व के रूप में प्रायः किसी ने मान्यता नहीं दी है।

जहाँ तक वक्रोक्ति तत्व की काव्यत्व के लिए अनिवार्य स्थिति का प्रश्न है श्री द० के० केळकर के अतिरिक्त प्रायः अन्य किसी ने इसे अनिवार्य तत्व नहीं माना है। जगन्नाथ ने रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द को काव्य माना है और प्रा० केळकर की मान्यता में शब्दार्थ की रमणीयता का ही अंग वक्रोक्ति है। अतः रमणीयता की भांति वक्रोक्ति भी उसके अंगरूप में एक प्रकार से अनिवार्य ही है।

कतिपय के मतानुसार कुंतक की वक्रोक्ति का स्वरूप अलंकार-सा ही है। अलंकार जिस प्रकार काव्य के बाह्य तत्व हैं, उसी प्रकार वक्रोक्ति भी है। वक्रोक्ति के बिना भी 'रस' मात्र के आधार पर काव्यत्व की स्थिति पूर्णतः सम्भव है। कुंतक ने वक्रोक्ति-सिद्धान्त में अन्य काव्य-तत्वों का अन्तर्भाव करने के लिए आवश्यकता से अधिक खींचतान की है। इस प्रयत्न में वक्रोक्ति का मूलभूत अर्थ ही परिवर्तित करने का प्रयत्न किया गया है। अतः काव्यत्व के लिए वक्रोक्ति एकांततः अनिवार्य नहीं है।

कुंतक का वक्रोक्ति सिद्धान्त अभिव्यक्ति-पद्धति का प्रतिपादक है। कवि

---

१. भारतीय साहित्यशास्त्र, पृ० १०७

अपने मनोगत भावों को बाह्याकार प्रदान करता है। वक्रोक्ति तत्व का सम्बन्ध कवि मनोभावों को प्राप्त इसी बाह्याकार से है। वक्रोक्ति एक प्रकार से शब्दार्थ रूप साधनों के रमणीय उपस्थापन का ही नाम है।

यद्यपि कुंतक का वक्रोक्ति सिद्धान्त अभिव्यक्ति-पद्धति का ही सिद्धान्त है, तथापि इसमें 'कलात्मक कौशल', वैचित्र्य और आनंद पर विशेष बल दिया गया है। यही एकमात्र तत्व है जो काव्य की भाषा और शास्त्र की भाषा की पारस्परिक भिन्नता को एकदम स्पष्ट कर देता है।

काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति तत्व का आविर्भाव रस तत्व के विरोध में नहीं हुआ है। नाटयशास्त्र के 'लोकधर्मी' और 'नाटयधर्मी' तत्व ही काव्यशास्त्र में स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति रूप बन गये हैं। नाटयशास्त्र के 'लक्षणों' का स्थान काव्य-चर्चा के युग में 'वक्रोक्ति' को प्राप्त हुआ है। वक्रोक्ति सिद्धान्त सामान्यतः रस-विरोधी सिद्धान्त नहीं है, वरन् आरंभ में काव्यगत रस-निष्पत्ति का ही सहायक तत्व रहा है। कुंतक ने स्वयं रस को ही काव्य का जीवित या आत्म-तत्व रूप मान कर रस को ही काव्य-साहित्य का अन्तिम साध्य प्रतिपादित किया है।

संक्षेपतः वक्रोक्ति-सिद्धान्त काव्यत्व का निर्धारक सिद्धान्त नहीं है, रस को ही काव्यत्व के निर्धारण का गौरव प्राप्त है। वक्रोक्ति का स्वरूप बाह्य आकार, अभिव्यक्ति-पद्धति या कलात्मक कौशल से युक्त काव्य-भाषा का-सा है। यद्यपि वक्रोक्ति की काव्य में बहिरंग स्थिति है फिर भी यह काव्य का अनिवार्य माध्यम है, क्योंकि काव्य-इतर भाषा से काव्य की भाषा का पृथक् वास्तविक स्वरूप निर्धारण इसी तत्व से होता है।

तुलनात्मक विवेचन और निष्कर्ष

हिन्दी तथा मराठी साहित्य के परम्परानुयायी काव्य-शास्त्रज्ञों ने वक्रोक्ति को एक विशिष्ट अलंकार रूप में ही मान्यता दी है और इसी रूप में उसका अपनी रचनाओं में उल्लेख किया है। कुंतक के वक्रोक्ति सिद्धान्त का व्यापक अध्ययन इन लेखकों ने प्रस्तुत नहीं किया है। इसके मूल में एक महत्वपूर्ण कारण निहित है--वह है संस्कृत की रस-ध्वनिवादी परम्परा। संस्कृत के रस-ध्वनिवादी आचार्यों ने वक्रोक्ति को अलंकार मात्र ही स्वीकार किया है, परिणामतः परम्परानुयायी लेखकों ने प्रायः रसध्वनिवाद का अनुसरण करके वक्रोक्ति की अलंकार रूप में ही चर्चा की है, व्यापक काव्य-सिद्धान्त के रूप में इसका विवेचन नहीं किया है।

हिन्दी-मराठी के कतिपय परम्परानुयायी लेखकों ने मम्मट आदि का अनुसरण करके वक्रोक्ति को शब्दालंकार मात्र मान लिया है तो कतिपय ने इसे अर्थालंकार

रूप स्वीकार किया है।[1] किसी-किसी ने वक्रोक्ति को उभयालंकार वर्ग में भी स्थान दिया है।[2] सारांश, वक्रोक्ति अलंकार रूप ही रहा, किन्तु अलंकार-वर्ग की दृष्टि से इसका क्षेत्र शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार तक व्याप्त हो गया है।

सैद्धान्तिक दृष्टि से वक्रोक्ति तत्व का अध्ययन दोनों ही भाषाओं में विविध रूप में हुआ है। पुनराख्याताओं ने वक्रोक्ति को केवल एक विशिष्ट अलंकार रूप में ग्रहण न करके आचार्य कुंतक के सैद्धान्तिक विवेचन की समीक्षा व्यापक रूप में की है। अधिकांश हिन्दी-मराठी के पुनराख्याताओं की दृष्टि में वक्रोक्ति-सिद्धान्त काव्य का बहिरंग सिद्धान्त है, रस या भाव तत्व की आन्तरिक महत्ता इसे प्राप्त नहीं है। काव्य में वक्रोक्ति का वास्तविक स्वरूप है---अभिव्यक्ति-पद्धति। यहाँ तक तो हिन्दी मराठी के अधिकांश समीक्षक मतैक्य रखते हैं, किन्तु मत-भिन्नता का आरम्भ वहाँ से होता है जहाँ वक्रोक्ति को अनिवार्य या अनित्य मानने का प्रश्न उपस्थित होता है। हिन्दी में आ० रामचन्द्र शुक्ल ने और मराठी में प्रा० रा० श्री जोग तथा डा० के० ना० वाटवे ने वक्रोक्ति तत्व को काव्यत्व के लिए अनिवार्य नहीं माना है। इनकी सामान्य धारणा में वक्रोक्ति के अभाव में भी काव्य में रस या भाव की स्थिति पूर्णत: सम्भव है, क्योंकि वक्रता-हीन सरल-सादे शब्दों में भी भावों को अभिव्यक्त किया जा सकता है। अत: वक्रोक्ति तत्व काव्यत्व के लिए बहिरंग रूप में भी नितान्त अनिवार्य नहीं है। इन तीनों समीक्षकों में आचार्य शुक्ल तथा डा० के० ना० वाटवे ने रस की तुलना में वक्रोक्ति-सिद्धान्त का बहुत स्वल्प अध्ययन प्रस्तुत किया है। दोनों ने वक्रोक्ति के विषय में प्रासंगिक रूप से ही अपने अभिमत व्यक्त किये हैं। कुंतक के व्यापक प्रतिपादन का गम्भीर अध्ययन करने के उपरान्त इन्होंने अपने अभिमत व्यक्त नहीं किये हैं। अत: सामान्य रूप से दोनों ने वक्रोक्ति को केवल वक्र, अऋजु, आलंकारिक या चमत्कारपूर्ण कथन पद्धति अथवा शब्दार्थों का रमणीय उपस्थापन मात्र मान लिया है। इन दोनों में भी आचार्य शुक्ल का वक्रोक्ति-समीक्षण सामयिक छायावादी काव्य की व्यंग्य-वक्रता के अति-चार की प्रतिक्रिया में हुआ है। अत: उसमें प्रत्याख्यान की प्रबलता के कारण एकांगिता आ गई है।[3] डा० के० ना० वाटवे ने आशय और अभिव्यक्ति-पद्धति की अभिन्नता के प्रतिपादक 'फ्लाबर्ट' की मान्यता को उद्धृत तो किया है, परन्तु व्यावहारिक

---

१. दे० मिश्रबन्धु का वक्रोक्ति विवेचन, पृ० ५४८

२. दे० बाळुताई खरे का वक्रोक्ति-विवेचन, पृ० ५६४

३. दे० शुक्ल जी का वक्रोक्ति-विवेचन, पृ० ५५२–५५३

दृष्टि से आशय और अभिव्यक्ति-पद्धति की भिन्नता को स्वीकार करना आवश्यक ठहराया है। सैद्धान्तिक दृष्टि से भी इन्होंने शुक्ल जी के समान ही वक्रता-हीन वाक्यों में काव्यत्व की स्थिति का समर्थन किया है।[१]

प्रा० रा० श्री० जोग ने कुंतक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त का किंचित् व्यापक अध्ययन किया है, परन्तु यह अध्ययन विशेषतः सौन्दर्यशास्त्र की पृष्ठभूमि पर हुआ है। इनकी मान्यता में 'बुद्धिग्राह्य सौन्दर्य' में केवल एक ही तत्व का योग नहीं होता, वरन् अनेक आन्तरिक और बाह्य तत्व मिल कर ही सौन्दर्यानुभूति कराते हैं। कुंतक ने एक ही वक्रोक्ति तत्व को आन्तरिक और बाह्य बना कर अतिव्याप्त कर दिया है। इस प्रयत्न में उन्होंने 'वक्रोक्ति' के मूलभूत अर्थ से ही एक प्रकार का अतिचार किया है।[२] सैद्धान्तिक दृष्टि से रा० श्री० जोग रसवादी हैं। अतः इनकी धारणा में भी काव्यत्व के लिए रस ही अनिवार्य है, वक्रोक्ति तत्व नहीं। इस प्रकार तीनों ही समीक्षक वक्रोक्ति को काव्य का बहिरंग और अनित्य तत्व मानते हैं, उक्ति-वक्रता के अभाव में भी तीनों के मत में रस मात्र के आधार पर काव्यत्व की सत्ता स्वीकार की जा सकती है।

इसके विपरीत वक्रोक्ति को काव्य के लिए नितान्त अनिवार्य तत्व मानने की धारणा भी प्रचलित रही है। इस मत के विशेष समर्थक हैं—डा० नगेन्द्र और प्रा० द० के० केळकर। डा० नगेन्द्र की मान्यता में काव्य का आत्म तत्व या जीवित तो रस ही है, वक्रोक्ति नहीं। किन्तु रस की दीप्ति से उक्ति में वक्रता का समावेश अनिवार्यतः हो जाता है। 'रस या भाव के दीप्त होने से उक्ति अनायास ही दीप्त हो उठती है और उक्ति की यही दीप्ति कुंतक की वक्रता है।'[३] अतः इनकी मान्यता में जहाँ-जहाँ रस की स्थिति होगी, वहाँ-वहाँ वक्रता का अभाव हो ही नहीं सकता। 'वक्रता' एक प्रकार से 'काव्य का अनिवार्य माध्यम है।'[४]

प्रा० द० के० केळकर ने भी रस को ही काव्य का आत्म-तत्व मान्य किया है, वक्रोक्ति को नहीं। फिर भी कुंतक प्रतिपादित वक्रोक्ति के काव्यगत व्यापक स्वरूप का विवेचन करते हुए श्री केळकर ने वक्रता की अनिवार्य स्थिति का ही समर्थन किया है। इनके अभिमत में परम्परागत, तथाकथित, वक्रता-हीन, पारिभाषिक स्वभावोक्ति में भी वक्रता की स्थिति अनिवार्यतः होती है।[५] विषय-निर्वा-

---

१. दे० डा० वाटवे का वक्रोक्ति-विवेचन, पृ० ५७४
२. दे० प्रा० रा० श्री जोग का वक्रोक्ति-विवेचन, पृ० ५७२–५७३
३. दे० डा० नगेन्द्र का वक्रोक्ति-विवेचन, पृ० ५५९
४. हि० व० जीवित, भूमिका, पृ० २८२
५. दे० द० के० केळकर का वक्रोक्ति-विवेचन, पृ० ५६७

चन से आरम्भ करके सामान्य वस्तु-वर्णन तक में कुंतक की वक्रता व्याप्त है। अतः वक्रोक्ति-तत्व की काव्य में अनिवार्य स्थिति है, इसके बिना एक प्रकार से काव्य-निर्माण सम्भव ही नहीं है।

वक्रोक्ति-सिद्धान्त का सामान्य स्वरूप अभिव्यक्ति-पद्धति है। कुंतक ने इसी तत्व पर विशेष बल दिया है, क्योंकि इसके मूल में एक महत्वपूर्ण कारण निहित है। शताब्दियों तक भावनाओं और विचारों का मूलभूत स्वरूप प्रायः एक जैसा ही होता है। कवि की मौलिकता इन भावनाओं और विचारों की अभिव्यक्ति-पद्धति में ही निहित होती है।[1] इस दृष्टि से भी वक्रोक्ति-तत्व का महत्वअक्षुण्ण है।

डा० नगेन्द्र तथा प्रा० द० के० केळकर ने अलंकार तत्व को भी एक प्रकार से काव्य में अनिवार्य माध्यम के रूप में ही स्वीकार किया है।[2] क्योंकि डा० नगेन्द्र की मान्यता में 'भावोच्छ्वास' में वाणी का अलंकृत होना नितान्त स्वाभाविक है और श्री केळकर की धारणा में भी 'संमिश्र' और 'उत्कट' भावनाओं की अभिव्यक्ति आलंकारिक भाषा के बिना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार दोनों समीक्षकों ने वक्रोक्ति की भी काव्य में अनिवार्य स्थिति का ही समर्थन किया है।

वक्रोक्ति के विषय में डा० नगेन्द्र ने रस-दीप्ति या भावोद्दीपन को मूलभूत कारण ठहरा कर रसात्मक स्थलों में उक्ति-वक्रता की अनिवार्य स्थिति का प्रतिपादन किया है तो प्रा० द० के० केळकर ने कुंतक की व्यापक वक्रोक्ति-धारणा का आधार लेकर काव्य में स्वाभाविक उक्ति जैसी वस्तु के ही अभाव का प्रतिपादन किया है, क्योंकि प्रत्येक कवि काव्य-निर्माण के क्षणों में 'स्वभावोक्ति' जैसे स्थलों में भी जिज्ञासा प्रेरकत्व, आकर्षकत्व तथा प्रभावोत्पादकत्व पर ध्यान रखता ही है। इस कारण वक्रता की काव्य में सर्वत्र अनिवार्य स्थिति हो जाती है।

सरस-उक्ति वक्रता-हीन नहीं हो सकती। यह सत्य है, किन्तु कुंतक ने पद-वक्रता से प्रबन्ध-वक्रता तक वक्रोक्ति-तत्व का फलक इतना व्यापक बना दिया है कि उसमें रस या भाव-प्रेरणा की आधारभूत सीमा का भी अतिक्रमण हो गया है। उदाहरणार्थ, विषय-निर्वाचन, नवीन प्रसंगोद्भावन, प्रबन्ध काव्य के उपयुक्त नाम-निर्देशन आदि में भी कुंतक ने वक्रोक्ति की स्थिति स्वीकार की है।[3] किसी नवीन प्रसंगोद्भावन में कल्पना की और विषय तथा प्रबन्ध के नाम-निर्वाचन में

---

१. दे० द० के० केळकर का वक्रोक्ति विवेचन, पृ० ५६७

२. दे० अलंकार विवेचन का अध्याय, पृ० ३२६ और ३५३

३. दे० हि० व० जी० 'प्रकरण-वक्रता' तथा 'प्रबन्ध वक्रता' का विवेचन, चतुर्थ उन्मेष।

बौद्धिक चिन्तन की विशेष अपेक्षा होती है, रस-प्रेरणा की नहीं। इस प्रकार कुंतक का वक्रोक्ति-तत्व इतना व्यापक बन गया है कि वह काव्यगत भावात्मक या रसात्मक, कल्पनात्मक तथा बौद्धिक तत्व को भी आत्मसात किए हुए है। वक्रता के भेदों का सोदाहरण विस्तृत विवेचन करने से पूर्व कुंतक ने तीन 'मार्गों' का विवेचन करके एक प्रकार से आधुनिक शैली-तत्व को भी वक्रोक्ति में अन्तर्भूत कर लिया है।[1] वस्तुतः कुंतक की दृष्टि 'काव्य सौन्दर्य' (काव्यालंकार) के संवर्द्धक आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार के सूक्ष्म से सूक्ष्म तथा स्थूल से स्थूल अवयवों तक व्याप्त होती गई है। परिणामतः इनके वक्रोक्ति-सिद्धान्त को नितान्त बाह्य, स्थूल और अनित्य सिद्धान्त प्रतिपादित करना विशेष संगत प्रतीत नहीं होता।

कुंतक प्रतिपादित काव्य-प्रयोजन तथा काव्य-लक्षण पर दृष्टिपात किया जाय तो स्पष्ट होगा कि रसवाद से इनके वक्रोक्तिवाद का विरोध नहीं है। इन्होंने अपने ग्रन्थ का या काव्य-सौन्दर्यवर्द्धक तत्वों के प्रतिपादन का प्रयोजन माना है : 'लोकोत्तर चमत्कारकारि वैचित्र्यसिद्धि'।[2] इनकी धारणा में चतुर्वर्गों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) के 'फलास्वाद' से भी 'काव्यामृत रस' का आस्वाद अधिक श्रेष्ठ होता है। इससे सहृदय में 'चमत्कार' का विस्तार होता है। कुंतक के 'लोकोत्तर चमत्कार' या 'चमत्कार' का अभिप्राय है—आनन्द या आह्लाद।[3] काव्याध्ययन से सहृदय को इसी की प्राप्ति होती है। इस प्रकार कुंतक ने काव्य का अन्तिम साध्य सहृदय में आनंदानुभूति की उद्बुद्धि माना है। इस साध्य का साधन है—वक्रोक्ति। कुंतक का काव्य-लक्षण इस प्रकार है : 'वक्र कविव्यापार' से युक्त वाक्य रचना में व्यवस्थित शब्दार्थ मिल कर काव्य बनता है जो सहृदयों का आह्लादक होता है।'[4] इस काव्यलक्षग में शब्दार्थ के साथ वक्र कवि व्यापार और आहालद दोनों की अनिवार्य स्थिति-सी उद्घोषित की गई है। अब प्रश्न उपस्थित होता है : काव्य का साध्य वक्र व्यापार है या आह्लाद ? कुंतक ने आह्लाद (चमत्कार) को ही अन्तिम साध्य माना है।[5] परन्तु शब्दार्थ की वक्रता के बिना आह्लाद की निष्पत्ति सम्भव नहीं है। अतः कुंतक ने साधनभूत वक्र-व्यापार

१. दे० कुंतक के 'मार्ग' और 'शैली' में साम्य-वैषम्य का अध्ययन 'रीति-सिद्धान्त का तुलात्मक अध्ययन' में।
२. हि० व० जी०, १।२
३. हि० व० जी०, १।५
४. वही, १।७
५. वही, १।५

को भी काव्य-लक्षण में अनिवार्य रूप से ग्रहण किया है। शब्द और अर्थ तो काव्य की आधारभूत सामग्री या उपादान हैं। कोरे शब्द तथा अर्थ से काव्य नहीं बनता, वरन् काव्य का शब्द वस्तुतः वही है जो 'विवक्षित अर्थ' को यथावत् प्रकट करे और काव्य का अर्थ वस्तुतः वही है जो आह्लादकारी हो और जिसमें सौन्दर्य का 'अन्तर्स्पन्दन' ('स्वस्पन्द सुंदर') हो रहा हो।[१] काव्य के शब्दार्थों की अलं-अलंकृति या सौन्दर्य का आधार है—वक्रोक्ति, जिसे विदग्धतापूर्ण या कौशलपूर्ण कथन प्रकार कहा जा सकता है।[२] इस प्रकार ग्रन्थ के आरम्भ में ही कुंतक ने 'वक्रोक्ति' को साधन और आह्लाद को अन्तिम साध्य माना है।

रस-ध्वनिवादी आचार्यों के अनुसार काव्य का अन्तिम साध्य रस है और काव्यत्व का साधक तत्व भी रस (भाव) ही है। रस के वस्तुनिष्ठ, भावनिष्ठ और आनन्दनिष्ठ स्वरूपों का विवेचन किया जा चुका है।[३] आनन्दवादी आचार्य सहृदय की भावाधिष्ठित आह्लादमयी या आनन्दमयी मनःस्थिति को ही रसानुभूति की स्थिति मानते हैं। जिसमें चित्तवृत्तियों का समन्वय हो जाता है और सहृदय भावानुभूति की स्थिति से ऊपर उठ कर 'आनन्दैकघन' मनःस्थिति में डूब जाता है। इसके अनुसार 'भाव' रसानुभूति का साधन ही है क्योंकि रस-निष्पत्ति के लिए स्थायीभाव की परिपुष्टि अनिवार्य है। सामान्यतः विचारजन्य, या कल्पना-जन्य आनन्द को आनन्दवादी रसवाद में स्थान नहीं दिया गया है, भावजन्य आनन्द को ही एकान्त महत्व प्रदान किया गया है। कुंतक ने भी वक्रोक्ति की कसौटी आह्लाद और वक्रोक्तिपूर्ण काव्य का अन्तिम साध्य भी आह्लाद ही माना है।[४] कुंतक प्रतिपादित आह्लाद का स्वरूप स्पष्टतः ही अभिनवगुप्त आदि आचार्यों द्वारा निरूपित 'आनन्दैकघन', 'अखण्ड' रस-स्वरूप से किंचित् भिन्न है। क्योंकि इनके मत में काव्यरस से आनन्द की अखण्ड या एकघन मनःस्थिति बनने की अपेक्षा काव्य,रसास्वाद के क्षणों में सहृदय में 'चमत्कार का विस्तार' होता रहता है। अर्थात् आनन्द का 'बार-बार अनुभव' होता है।[५] इस मतभिन्नता का कारण स्पष्ट है। कुंतक ने आह्लाद की निष्पत्ति रसवादी आचार्यों की भांति केवल 'स्थायीभाव' या

---

१. हि० व० जी०, १।९
२. वही, १।१०
३. दे० 'रसस्वरूप प्रकरण',
४. हि० व० जी० १।२, ३, ७।
५. 'चमत्कारो वितन्यते चमत्कृतिर्विस्तार्यते, ह्लादः पुनः पुनः क्रियत इत्यर्थः' हि० व० जी० १।५ की वृत्ति।

'भाव' मात्र के आधार पर स्वीकार नहीं की है वरन् विचार, कल्पना, भाव आदि सभी काव्यगत तत्वों से आह्लाद की निष्पत्ति मान ली है। परन्तु कुंतक ने इन सभी तत्वों के लिए एक अनिवार्य कसौटी निर्धारित की है—वह है कवि के वक्र व्यापार की या 'विदग्ध भंगीभणिति' की। इस प्रकार कुंतक प्रतिपादित आह्लाद-निष्पत्ति या रस-निष्पत्ति का आधार-फलक अधिक व्यापक है। किन्तु कुंतक ने भाव, विचार या कल्पना के मूलभूत स्वरूप का महत्व-मापन करने की अपेक्षा इनकी अभिव्यक्ति-प्रक्रिया पर एकान्त बल दिया है। परिणामतः इनका वक्रोक्ति-सिद्धान्त आधार-फलक की व्यापकता में भी अभिव्यक्ति-पद्धति रूप या माध्यम रूप बन कर सीमित हो गया है। अंतरंग की अपेक्षा बहिरंग की साधना में ही उत्तरोत्तर अग्रसर होता गया है।

फलतः हिन्दी-मराठी के कतिपय विवेचकों ने कुंतक के वक्रोक्तिवाद का सम्बन्ध पाश्चात्य साहित्यालोचन में प्रचलित 'कलावाद' से स्थापित करने का प्रयत्न किया है। इस प्रयत्न के दो रूप हैं: एक क्रोचे के अभिव्यंजनावाद से कुंतक के वक्रोक्तिवाद का साम्य-वैषम्य स्थापना। दूसरा, पाश्चात्य कलावाद के अंग—कल्पना, अभिव्यक्ति-पद्धति, शैली आदि से कुंतक के वक्रोक्तिवाद की तुलना।

पुनराख्याताओं में आ० शुक्ल, श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु, डा० गुलाबराय, पं० बलदेव उपाध्याय, डा० नगेन्द्र आदि ने हिन्दी में और श्री द० के० केळकर ने मराठी में कुंतक और क्रोचे की मान्यताओं का तुलनात्मक अध्ययन किया है। इनमें सर्वाधिक व्यापक अध्ययन डा० नगेन्द्र ने प्रस्तुत किया है। सामान्यतः अधिकांश समीक्षक अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्तिवाद में साम्य की अपेक्षा वैषम्य की ही स्थिति अधिक मानते हैं। दोनों सिद्धान्तों में मौलिक अन्तर प्रस्तुत करता है—रसतत्व या आनन्दतत्व। कुंतक ने अपने सैद्धान्तिक विवेचन में रस, आह्लाद या चमत्कार को महत्वपूर्ण कसौटी के रूप में निर्धारित किया है। दूसरी ओर क्रोचे अभिव्यक्ति मात्र पर बल देते हैं। उसमें सरसता या नीरसता, अलंकृति या अनलंकृति का प्रश्न ही उद्भूत नहीं होता। फिर भी बाह्य दृष्टि से दोनों सिद्धान्तों में महत्वपूर्ण साम्य यही है कि दोनों में 'उक्ति' या 'अभिव्यक्ति' की महत्व प्रतिष्ठा का ही प्रयत्न है।

वक्रोक्ति तत्व का अभिव्यंजनावाद से साम्य-वैषम्य मूलक अध्ययन जहाँ हुआ है, वहाँ कल्पना तत्व से भी कुंतक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त का सम्बन्ध दर्शाया गया है। हिन्दी में श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु और डा० नगेन्द्र ने तथा मराठी में प्रा० द० के० केळकर ने वक्रोक्ति-तत्व में कल्पना के आधार का स्पष्टीकरण किया है। सुधांशु जी का इस विषय में अध्ययन संकेतात्मक है। इन्होंने कुंतक की वक्रोक्ति

में 'कल्पना' और 'कवि व्यापार' के महत्व का संकेत मात्र दिया है।[1] इस विषय का डा० नगेन्द्र ने पर्याप्त विस्तार से प्रतिपादन किया है। इनकी मान्यता में अलंकार-सिद्धान्त में निहित कल्पना का स्वरूप कालरिज की 'ललित कल्पना' (फैन्सी) के समरूप है और वक्रोक्ति-सिद्धान्त की कल्पना कालरिज की 'मौलिक कल्पना' (प्राइमरी इमेजिनेशन) के अनुरूप है।[2] इनके अभिमत में वक्रोक्ति-सिद्धान्तगत कल्पना कविनिष्ठ है, सहृदयनिष्ठ नहीं है। इसके विपरीत ध्वनि-सिद्धान्त की कल्पना सहृदयनिष्ठ ही है। 'कुंतक की कल्पना कवि कौशल पर आश्रित होने के कारण काव्यनिष्ठ और अन्ततः वस्तुनिष्ठ बन जाती है।'[3] प्रा० द० के० केळकर ने भी कुंतक की कल्पना को कविनिष्ठ और इसी परम्परा से काव्यनिष्ठ मान लिया है।[4] किन्तु इन्होंने वक्रोक्ति-सिद्धान्त की कल्पना की व्याख्या पाश्चात्य काव्यशास्त्र-प्रतिपादित कल्पना तत्व के प्रकाश में विस्तार से नहीं की है, जैसा कि डा० नगेन्द्र ने विवेचन किया है। इनकी सामान्य धारणा में कवि के लिए निजी कल्पना की विविध रूप में अभिव्यक्ति वक्रोक्ति की सहायता से ही पूर्ण सम्भव है।[5]

इस प्रकार हिन्दी और मराठी के काव्यशास्त्रज्ञों ने कुंतक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त के आख्यान और पुनराख्यान का व्यापक प्रयत्न करके इस सिद्धान्त में निहित अनेक काव्योपयोगी तत्वों के उद्घाटन का प्रयत्न किया है। संक्षेप में प्रस्तुत तुलनात्मक अध्ययन इसी निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए बाध्य करता है कि कुंतक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त का मुख्य रूप से सम्बन्ध काव्य की अभिव्यक्ति-पद्धति या व्यापक कलापक्ष से ही है।

---

१. काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृ० १५
२. हि० व० जीवित, भूमिका, पृ० २८०
३. वही, पृ० २८०
४. काव्यालोचन, पृ० १०६
५. काव्यालोचन, पृ० १०६

षष्ठ अध्याय

औचित्य-सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन
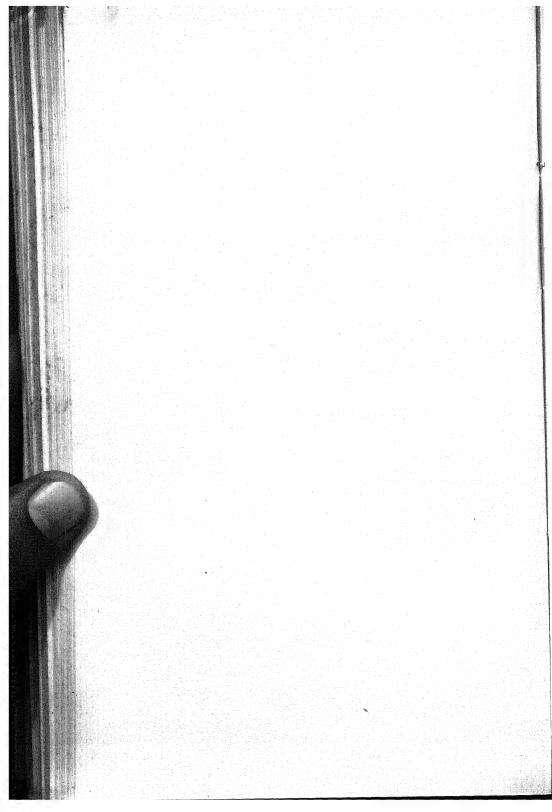
औचित्य-सिद्धान्त की पूर्व पीठिका

औचित्य-सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य हैं क्षेमेन्द्र। इन्होंने परम्परागत औचित्य-तत्व को ग्रहण करके व्यापक काव्य-सिद्धान्त के रूप में इसकी प्रतिष्ठापना का प्रयत्न किया है। क्षेमेन्द्र द्वारा औचित्य तत्व का काव्यगत व्यापक महत्व-निर्धारण करने से पूर्व अलंकार, रस, रीति-गुण, ध्वनि तथा वक्रोक्ति तत्व काव्य के आत्मपद की उद्घोषणा कर चुके थे। इन सब काव्य-सिद्धान्तों की प्रतिद्वन्द्विता में औचित्य की स्वतन्त्र प्रतिष्ठापना का कार्य असंदिग्ध रूप से दुष्कर था। क्षेमेन्द्र ने अपने पूर्ववर्ती काव्य-सिद्धान्तों से संघर्ष मोल लेने की अपेक्षा उनके प्रति प्रायः मैत्रीभाव ही अपनाया है। आचार्य कुंतक के समान क्षेमेन्द्र ने भी स्वीकारात्मक प्रतिपादन शैली अपनाई है, प्रतिषेधात्मक नहीं। इन्होंने औचित्य-इतर काव्य-तत्वों का प्रत्याख्यान नहीं किया है, वरन् उनके काव्यगत महत्व को स्वीकार किया है, परन्तु साथ ही इनके मूल में औचित्य-तत्व की अनिवार्य स्थिति पर एकान्त बल दिया है।[1]

संस्कृत साहित्यशास्त्र के नितान्त आरम्भिक युग से ही औचित्य के नाटचगत और काव्यगत महत्व का प्रतिपादन मिलता है। क्षेमेन्द्र प्रतिपादित औचित्य-तत्व का सम्बन्ध-सूत्र भरत मुनि के नाटचशास्त्र से ही उपलब्ध होने लगता है। इन्होंने नाटच को लोकचरित का अनुकरण रूप कहा है और 'लोकधर्मी' तथा 'नाटच-धर्मी' तत्वों का पृथक्-पृथक् प्रतिपादन किया है। नाटच को भरत मुनि ने 'लोक-स्वभाव' माना है और नाटच में पात्रों की अवस्था, वेषभूषा, अभिनय आदि में सर्वत्र लोकचरित का यथावत् अनुकरण करने पर बल दिया है।[2] इसी प्रकार क्षेमेन्द्र के अनुसार वस्तु-स्वरूप का तत्सदृश चित्रण ही 'उचित' है और यह उचित-

---

१. अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एव गुणाः सदा।
   औचित्यं रस सिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्॥

२. नाटचशास्त्र, अ० १४ श्लोक ७०-८२ और अ० २६ श्लोक ११३-११९

भाव ही काव्य में औचित्य कहलाता है।[१] वस्तुतः प्रस्तुत औचित्य-लक्षण इतना व्यापक और सामान्य है कि काव्यशास्त्र का कोई भी आचार्य इसके मूलभूत महत्व का प्रत्याख्यान नहीं कर सकता। परिणामतः भरत मुनि से ले कर आचार्य जगन्नाथ तक के आचार्यों ने प्रधान रूप से या गौण रूप से अथवा प्रसंगवश कहीं-न-कहीं 'औचित्य' के काव्यगत महत्व का उल्लेख किया ही है। भामह-दण्डी ने 'औचित्य का स्वतंत्र काव्य-सिद्धान्त के रूप में प्रतिपादन नहीं किया है, गुण-दोषों के विवेचन-प्रसंग में औचित्य-तत्व की स्थिति का संकेत मात्र दे दिया है।[२] इसी प्रकार भट्ट लोल्लट और रुद्रट की कृतियों में भी औचित्य के महत्व का संकेत मिल जाता है।[३]

औचित्य को स्वतंत्र एवं व्यापक काव्य-सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित करने में क्षेमेन्द्र को प्रत्यक्ष प्रेरणा मिली है आनन्दवर्धन से। इन्होंने रस की परिपूर्णता का एकमात्र कारण 'औचित्य' को ही निर्धारित किया है। क्योंकि आनन्दवर्धन की धारणा में 'अनौचित्य' से बढ़ कर 'रस-भंग' का अन्य कोई कारण नहीं हो सकता।[४] इन्होंने औचित्य को केवल रस-तत्व तक ही व्याप्त नहीं किया है, वरन् अलंकार, गुण, संघटना, रीति और प्रबन्ध काव्य तक के मूल में औचित्य के महत्व का प्रतिपादन किया है। क्षेमेन्द्र से पर्याप्त पूर्व औचित्य की काव्यगत महत्ता को आनन्दवर्धन ने सोदाहरण प्रमाणित कर दिया था। आनन्दवर्धन ने यहाँ तक स्पष्ट लिख दिया है कि 'वाच्य और वाचक की औचित्यपूर्ण रचना ही कवि का 'मुख्य कर्म' है।[५]

रस तथा रस-इतर काव्य-तत्वों तक औचित्य की व्याप्ति और उसकी महत्व-प्रतिष्ठा का परिणाम यह हुआ कि आनन्दवर्धन के उपरान्त अनेक आचार्य औचित्य को ही काव्य का जीवित या आत्म-तत्व समझने लगे। अभिनव गुप्त के विवेचन से यह तथ्य स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है। औचित्य को ही काव्य का जीवित मान बैठना अभिनव-गुप्त को उचित नहीं लगा, अतः उन्होंने औचित्य और रस की

---

१. औचित्य विचार चर्चा, का० ७
२. विस्तार के लिए दे० भारतीय साहित्यशास्त्र (बलदेव उपाध्याय) द्वि० भाग पृ० ४७-५० और 'सम कन्सेप्टस आव अलंकारशास्त्र,' (डा० राघवन) पृ० २००-५
३. वही, पृ० ५२-५४ और २०६-१२
४. हि० ध्वन्यालोक, ३।७-९
५. वही, ३।३२

पृथक्-पृथक् स्थिति का स्पष्टीकरण कर दिया है : 'औचित्य का तात्पर्य तभी बोध-गम्य हो सकता है, जब जिसके प्रति इसे उचित बतलाया जाय वह वस्तु विद्यमान हो। औचित्य तो एक सम्बन्ध विशेष ठहरा और उस वस्तु का ज्ञान हमें प्रथमतः अपेक्षित है जिसके साथ यह सम्बन्ध स्थापित किया जा सके। यह आवश्यक वस्तु रस ही है। बिना रस के औचित्य की सत्ता अपना कोई मूल्य नहीं रखती।'[1] अभिनव गुप्त ने औचित्य की तुलना में रस को असंदिग्ध रूप से अधिक महत्व दिया है। परिणामतः क्षेमेन्द्र-परवर्ती रस-ध्वनिवादी आचार्यों ने औचित्य को काव्य का जीवित तत्व स्वीकार नहीं किया है।

अलंकारवादी आचार्यों ने गुण-दोषों के विवेचन-प्रसंग में औचित्य को स्थान दिया था। इसी प्रकार भोजराज ने भी अलंकारों, गुण-दोषों या भाषा-शैलियों के विवेचन-प्रसंग में ही औचित्य के महत्व का प्रतिपादन किया है।[2] आनन्दवर्धन प्रतिपादित औचित्य के व्यापक महत्व का अध्ययन भोजराज ने भी किया था[3] किन्तु आनन्दवर्धन के समान इन्होंने औचित्य का अधिक विस्तृत विवेचन नहीं किया है। कुंतक भी आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक एवं तद्गत औचित्य-विवेचन से परिचित थे। इन्होंने काव्य-लक्षण में अप्रत्यक्ष रूप से और मार्ग-विवेचन में प्रत्यक्ष रूप से औचित्य की महत्ता का प्रतिपादन किया है।[4] कुंतक प्रतिपादित औचित्य-लक्षण क्षेमेन्द्र के औचित्य-लक्षण से साम्य रखता है।[5] अनेक वक्रता-भेदों में कुंतक ने 'औचित्य मूलकता' पर विशेष बल दिया है। वर्ण-विन्यास वक्रता, पद-पूर्वार्द्ध वक्रता और प्रत्यय वक्रता के विवेचन में औचित्य के मूल आधार पर कुंतक ने विशेष रूप से प्रकाश डाला है। फिर भी कुंतक ने औचित्य तत्व को वक्रोक्ति की तुलना में नितान्त गौण स्थान दिया है।

आनन्दवर्धन के ध्वनिवाद का प्रबल प्रत्याख्यान महिम भट्ट ने किया है। ध्वन्यालोक का अध्ययन करते हुए महिम भट्ट आनंदवर्धन प्रतिपादित औचित्य तत्व से पूर्णतः परिचित हो गये थे। महिम भट्ट स्वयं रसवादी थे किन्तु ध्वनि

---

१. 'सम कन्सेप्ट्स आव अलंकारशास्त्र' (डा० राघवन) पृ० २२९-३० और भारतीय साहित्यशास्त्र (बलदेव उपाध्याय) द्वि० भा०, पृ० ७५
२. दे० सरस्वती कण्ठाभरण, २।६, १८, २१, १२६।
३. 'सम कन्सेप्ट्स आव अलंकारशास्त्र' (डा० राघवन), पृ० २३१-३३। भारतीय साहित्य शास्त्र (बलदेव उपाध्याय) पृ० ८२ द्वि० भा०
४. हि० व० जीवित, १।७ और १।५३-५४
५. हि० व० जी० १।५३ तथा औचित्य वि० च०, का० ७

तत्व का विरोध करते थे। औचित्य तथा रस-तत्व की पारस्परिक सापेक्षिता का महिम भट्ट ने प्रतिपादन किया है। इनके मत में 'औचित्य काव्य-स्वरूप के यथार्थ निरूपण करने से स्वतः सिद्ध होता है। अतः काव्य जगत् में इसका अपलाप कथमपि नहीं किया जा सकता। काव्य की आत्मा रस है। तब उसमें अनौचित्य के स्पर्श की सम्भावना कहाँ ? बिना औचित्य के रस की उपलब्धि कथमपि समर्थित नहीं की जा सकती।'[1] इस प्रकार महिम भट्ट ने रस के मूल में औचित्य की महत्व-स्वीकृति दी है। इन्होंने काव्य का सब से बड़ा दोष अनौचित्य माना है और इसके दो प्रकार निर्धारित किये हैं—अन्तरंग और बहिरंग। रस तथा भावों से सम्बद्ध अनौचित्य 'अंतरंग' कहलाता है और शब्दों से सम्बद्ध अनौचित्य 'बहिरंग'। शब्दानौचित्य के भी इन्होंने पुनः पाँच प्रकार माने हैं : विधेयाविमर्श, प्रक्रम-भेद, क्रमभेद, पौनरुक्त्य और वाच्यावचन। महिमभट्ट ने क्षेमेन्द्र के समान औचित्य के भेद-प्रकारों का प्रतिपादन न करके 'अनौचित्य' का ही अधिक विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया है।

इस प्रकार क्षेमेन्द्र के आविर्भाव से पूर्व औचित्य तत्व के काव्यगत महत्व का प्रतिपादन अनेक रूपों में होता रहा है। किन्तु स्वतन्त्र काव्य-सिद्धान्त के रूप में इसका व्यापक प्रतिपादन किसी ने नहीं किया। भामह-दण्डी आदि अलंकारवादियों ने गुण-दोषों के प्रसंग में, आनन्दवर्धन ने रस और तदितर प्रमुख काव्य तत्वों के मूल में और कुंतक ने मार्ग-विवेचन के प्रसंग में औचित्य की महत्ता का प्रतिपादन किया था। क्षेमेन्द्र ने ही सर्वप्रथम इन सब से अधिक व्यापक रूप औचित्य को प्रदान किया। इन्होंने काव्य के सूक्ष्मतम अवयव—पद—से आरम्भ करके प्रबन्धार्थ तक औचित्य की व्याप्ति का प्रतिपादन किया है। काव्य में रस, अलंकार तथा गुण तत्वों के सद्भाव में भी औचित्य की अनिवार्य आवश्यकता को क्षेमेन्द्र ने प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है। इनकी मान्यता में काव्य का स्थिर जीवित औचित्य ही है। रस से काव्य 'सिद्ध' होता है और औचित्य उसमें चिरस्थायी जीवन प्रदान करता है। 'शृंगार आदि रसों से भरपूर काव्य का औचित्य वैसे ही जीवन है जैसे रसायनों द्वारा परिपुष्ट व्यक्ति के लिए सेवनीय रस की मात्रा का उचित होना जीवित है।'[2]

इससे स्पष्ट है कि क्षेमेन्द्र रस तत्व के मूल में भी औचित्य की नितान्त अनि-

---

१. **व्यक्ति विवेक, पृ० १२६, भारतीय साहित्यशास्त्र (बलदेव उपाध्याय) पृ० ९० द्वि० भा०**

२. **आचार्य क्षेमेन्द्र (डा० मनोहरलाल गौड़) औचित्य विचार चर्चा, पृ० ३**

चार्य स्थिति स्वीकार करते हैं। सम्पूर्ण काव्य पर औचित्य तत्व किस प्रकार छा जाता है इसका स्पष्टीकरण करने के लिए क्षेमेन्द्र ने औचित्य के पद, वाक्य, प्रबन्धार्थ, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिंग, वचन आदि २७ प्रकारों का सोदाहरण व्याख्यान किया है। इसके उपरान्त उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि इसी पद्धति से अन्य काव्यांगों में भी औचित्य की मूलभूत स्थिति पर विचार करना चाहिए।[1] क्षेमेन्द्र के औचित्य-विवेचन की एक अन्य विशेषता यह है कि इन्होंने प्रायः प्रत्येक औचित्य-प्रकार का व्याख्यान करते समय औचित्यपूर्ण तथा औचित्यहीन दोनों प्रकार के उदाहरणों को प्रस्तुत करके अपने मन्तव्य का स्पष्टीकरण किया है। फिर भी क्षेमेन्द्र का सैद्धान्तिक विवेचन उतना प्रौढ़, गम्भीर और तर्कपूर्ण नहीं है जितना कि आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त आदि आचार्यों का है। क्षेमेन्द्र ने औचित्य-तत्व की काव्यगत व्याप्ति पर जितना चिन्तन किया है, उतना उसके आन्तरिक स्वरूपगत विवेचन-विश्लेषण पर नहीं। परिणामतः क्षेमेन्द्र के उपरान्त उनके सिद्धान्त का अनुयायी आचार्य प्रायः उपलब्ध नहीं होता। 'औचित्य विचार चर्चा' की प्रतिपादन शैली इतनी ऋजु और सामान्य है कि कदाचित् इसी कारण किसी अन्य आचार्य को इस ग्रन्थ के व्याख्यान-विवेचन या भाष्य करने की आवश्यकता अनुभव न हुई हो।

क्षेमेन्द्र परवर्ती आचार्यों में मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि ने रस-तत्व को ही एकान्त महत्व प्रदान किया है, औचित्य को नहीं। इन आचार्यों ने औचित्य की स्थिति का निरूपण काव्य के गुण-दोषों, अलंकारों या शब्द-शक्तियों के प्रसंग में ही किया है। औचित्य को स्वतन्त्र काव्य-सिद्धान्त मान कर इस पर व्यापक चिन्तन नहीं किया गया है। अतः अनुयायी आचार्यों के अभाव से क्षेमेन्द्र का औचित्य-तत्व सम्प्रदाय का स्वरूप ग्रहण नहीं कर सका, वह एक सिद्धान्त मात्र रह गया। संस्कृत साहित्यशास्त्र में अलंकार तथा रस तत्व को जैसा व्यापक सम्प्रदाय-स्वरूप प्राप्त हुआ है, वैसा औचित्य तत्व को नहीं प्रात हो सका।

हिन्दी में औचित्य-सिद्धान्त का अध्ययन

संस्कृत साहित्यशास्त्रगत औचित्य-सिद्धान्त के विकास का सिंहावलोकन करने से स्पष्ट हो सका है कि औचित्य-सिद्धान्त यथेष्ट समादर नहीं प्राप्त कर सका। काव्यशास्त्र में अलंकार-सिद्धान्त और रस-ध्वनि-सिद्धान्त ही अन्य काव्य-सिद्धान्तों पर छा गये हैं। हिन्दी के भी आरम्भिक काव्य-शास्त्र के लेखकों पर इन्हीं दो काव्य-तत्वों का अधिक प्रभाव पड़ा है। वामन के रीति-सिद्धान्त और कुंतक

---

१. आचार्य क्षेमेन्द्र (डा० मनोहरलाल गौड़) औचित्य विचार-चर्चा, पृ० ५१

के वक्रोक्ति-सिद्धान्त का परम्परानुयायी लेखकों ने जिस प्रकार विशेष अध्ययन नहीं किया है उसी प्रकार क्षेमेन्द्र का औचित्य-सिद्धान्त भी अध्ययन की दृष्टि से उपेक्षित ही रहा है।

हिन्दी काव्यशास्त्र के पुनराख्याताओं में भी अधिकांश रसवादी समालोचक हैं। अलंकार तथा रस तत्व के पुनराख्यान पर इनकी दृष्टि जितनी केन्द्रित रही है उतनी औचित्य तत्व के समीक्षण पर केन्द्रित न हो सकी। क्षेमेन्द्र के औचित्य-सिद्धान्त का स्वतंत्र एवं विस्तृत अध्ययन अब तक केवल दो ही लेखकों का उपलब्ध हो सका है। वे हैं—श्री बलदेव उपाध्याय और डा० मनोहरलाल गौड़। वक्रोक्ति और औचित्य सिद्धान्त की तुलनात्मक समीक्षा करते हुए डा० नगेन्द्र ने औचित्य सिद्धान्त का संक्षिप्त अध्ययन किया है। इनके अतिरिक्त अन्य किसी पुनराख्याता ने औचित्य-तत्व की व्यापक समीक्षा नहीं की है।

अन्य काव्य-सिद्धान्तों की भांति औचित्य-सिद्धान्त के अध्ययन में पं० बलदेव उपाध्याय ने व्यापक दृष्टिकोण अपनाया है। इन्होंने संस्कृत-साहित्यशास्त्र में उपलब्ध औचित्य-सिद्धान्त की विकास-परम्परा का विस्तृत एवं प्रामाणिक अध्ययन प्रस्तुत किया है। साथ ही 'पाश्चात्य आलोचना' में औचित्य-तत्व की स्वीकृति का ऐतिहासिक दिग्दर्शन भी कराया है। साथ ही यह मानना अनुपयुक्त न होगा कि इनका प्रस्तुत अध्ययन डा० राघवन के औचित्य तत्व विषयक व्यापक अध्ययन से प्रभावित है। औचित्य की ऐतिहासिक परम्परा के विकास के निरूपण में श्री उपाध्याय डा० राघवन के ही ऋणी हैं।[1]

संस्कृत साहित्यशास्त्र में उपलब्ध औचित्य-तत्व के विकास की ऐतिहासिक परम्परा का निरूपण करने से पूर्व पं० बलदेव उपाध्याय ने औचित्य का सामान्य परिचय देते हुए इसकी प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख किया है। सार रूप में औचित्य-तत्व की लोकगत और काव्यगत विशेषताएँ इस प्रकार हैं :

१. औचित्य का लोक में सर्वत्र साम्राज्य है। लोक का सद्व्यवहार औचित्य पर ही अवलंबित है। औचित्य से विरहित व्यवहार की ही दुर्व्यवहार संज्ञा है।

२. सौन्दर्य-भावना औचित्य-तत्व पर आश्रित है। संसार में कोई भी वस्तु अपने औचित्य का उल्लंघन कर शोभा प्राप्त नहीं करती।

३. कला-जगत में भी औचित्य का सर्वत्र साम्राज्य लक्षित होता है। 'तभी तक कला में सहृदय के अनुरंजन करने की योग्यता बनी रहती है, जब तक वह औचित्य से पराङ्मुख नहीं होती। औचित्य के ऊपर प्रतिष्ठित कला ही वस्तुतः

---

१. दे० 'सम कन्सेप्ट्स आव अलंकारशास्त्र' (डा० राघवन) पृ० १९४-२५७

कला पद से वाच्य हो सकती है।'

४. काव्य कला में भी औचित्य का महत्व असंदिग्ध है। दृश्य या श्रव्य काव्य का अन्तिम लक्ष्य रहा है सहृदयों में रसोन्मीलन। इस कार्य में क्षमता रखने वाला काव्य ही वस्तुतः काव्यपद वाच्य हो सकता है। इस लक्ष्य की सिद्धि में औचित्य तत्व की अत्यन्त आवश्यकता है। रस की चारुता औचित्य के कारण ही होती है।[1]

औचित्य-तत्व के लोकगत और काव्यगत महत्व का प्रस्तुत प्रतिपादन एकान्ततः परम्पराभुक्त नहीं है। पं० बलदेव उपाध्याय ने औचित्य-सिद्धान्त को पर्याप्त व्यापक रूप में ग्रहण किया है। इन्होंने क्षेमेन्द्र के अनुसार ही प्रथम औचित्य का स्वरूप-विवेचन किया है[2], तदुपरान्त भरत से आरम्भ करके क्षेमेन्द्र तक के अनेक संस्कृत आचार्यों की औचित्य विषयक धारणाओं की विस्तृत समीक्षा की है। इनकी मान्यता में औचित्य को काव्य-तत्व के रूप में प्रतिष्ठित करने में संस्कृत साहित्य-शास्त्र में तीन प्रमुख आचार्यों का नाम सदा स्मरणीय रहेगा। वे हैं--(१) भरत (२) आनन्दवर्धन और (३) क्षेमेन्द्र।' 'भरत ने औचित्य के सिद्धान्त को नाटच में' सूचित किया। आनन्दवर्धन ने उसे नाटच और काव्य के उभय क्षेत्रों में उपबृंहण किया तथा क्षेमेन्द्र ने इस तत्व की काव्य-मंदिर में प्राण-प्रतिष्ठा की।'[3] क्षेमेन्द्र पूर्ववर्ती आचार्यों के औचित्य-प्रतिपादन का अध्ययन करने के उपरान्त श्री बलदेव उपाध्याय इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि 'क्षेमेन्द्र औचित्य के व्यवस्थापक अवश्य हैं, परन्तु उद्भावक नहीं हैं।'[4] भरत तथा आनन्दवर्धन द्वारा व्याख्यात औचित्य विषयक तत्व को क्षेमेन्द्र ने व्यवस्थित रूप दे दिया है। इनके पहले औचित्य तथ्य अज्ञात नहीं था, परन्तु उसके व्यापक साम्राज्य का निर्देश क्षेमेन्द्र का गौरवशाली कार्य है।'[5]

यद्यपि क्षेमेन्द्र ने रस तत्व के महत्व का प्रत्याख्यान नहीं किया है फिर भी इसकी तुलना में औचित्य को अधिक महत्वपूर्ण मान कर इसे काव्य के 'जीवित' का स्थान दिया है। इस से पूर्व आनन्दवर्धन ने ध्वनि को काव्य का आत्म-तत्व ठहराया था। इन्होंने औचित्य के महत्व का भी प्रतिपादन किया था और रस की काव्य में अनिवार्यता सिद्ध करने के लिए 'रसध्वनि' को उत्कृष्ट काव्य निर्धारित किया

---

१. भारतीय साहित्यशास्त्र (बलदेव उपाध्याय) द्वि० भा०, पृ० ३१-३६
२. वही, पृ० ३६
३. वही, पृ० ४०
४. वही, पृ० ९३
५. भारतीय साहित्यशास्त्र (बलदेव उपाध्याय), द्वि० भा०, पृ० ९४

था। यहाँ एक महत्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है कि रस, ध्वनि तथा औचित्य में से कौन-सा तत्व वस्तुतः काव्य का जीवित-तत्व है? पं० बलदेव उपाध्याय के अभिमत में 'इन तीनों काव्य-तत्वों का परस्पर इतना अधिक सामंजस्य है कि हम इन्हें पृथक् नहीं कर सकते। इनमें परस्पर उपकार्योपकारक भाव विद्यमान है।'[१]

क्षेमेन्द्र ध्वनि-तत्व के प्रतिष्ठापक आचार्य आनन्दवर्धन की शिष्य-परम्परा में आते हैं। अतः वे ध्वनि तत्व से भी परिचित थे। पं० बलदेव उपाध्याय के अभिमत में क्षेमेन्द्र ने जिन औचित्य-प्रकारों का व्याख्यान किया है उनमें स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें ध्वनि-तत्व का ज्ञान था।[२] फिर भी क्षेमेन्द्र ने प्रायः कहीं भी ध्वनि-तत्व का स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं किया है। सम्भवतः वे ध्वनि को रस का ही अभिन्न अंग मान लेते थे अथवा ध्वनि को रस में ही अन्तर्भूत समझते थे। अतः उन्होंने रस-तत्व का ही स्पष्ट उल्लेख किया है, ध्वनि का नहीं। रस और औचित्य में से क्षेमेन्द्र ने औचित्य को अधिक महत्व दिया है। क्योंकि 'काव्य में चमत्कार का उदय औचित्य से सम्पन्न होता है। औचित्य के अभाव में काव्य में उस मनोज्ञता का जन्म ही नहीं हो सकता जिससे वह सहृदयों को अपनी ओर आकृष्ट कर सके। यही तथ्य रस का जीवित भी है।'[३] इससे स्पष्ट है कि क्षेमेन्द्र रस का भी जीवित औचित्य को ही सिद्ध कर रहे हैं। आचार्य क्षेमेन्द्र की मान्य सम्मति में रस से काव्य 'सिद्ध' (सम्पन्न) होता है तो औचित्य के द्वारा उसे चिरस्थायी जीवन प्राप्त होता है। इस प्रकार ये दोनों काव्य-सिद्धान्त एक दूसरे से घनिष्ठ रूप में अनुस्यूत हैं।'[४]

क्षेमेन्द्र की दृष्टि में रस और औचित्य में काव्य का आत्म-पद पाने के लिए किसी प्रकार का द्वन्द्व नहीं है। दोनों का पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र अस्तित्व है, दोनों के लिए पृथक्-पृथक् व्यवस्था है। डा० मनोहरलाल गौड़ ने रस और औचित्य की काव्यगत स्थिति का क्षेमेन्द्र के आधार पर इस प्रकार स्पष्टीकरण किया है: 'रस काव्य की आत्मा माना गया है। पर क्षेमेन्द्र इस स्थापना से सहमत नहीं। उनके अनुसार रस का काव्य में वही स्थान है जो अन्य रसों का मानव शरीर में है। यों कहना चाहिए कि जीवित रहने के लिए शरीर और आत्मा दोनों की आवश्यकता पड़ती है। शरीर की रचना पृथ्वी आदि पाँच तत्वों तथा सात रसों द्वारा होती है। ये शरीर के विधायक तत्व हैं पर आत्मा इनसे भिन्न वस्तु है। वह भी

१. भारतीय साहित्यशास्त्र (पं० बलदेव उपाध्याय) दि० भा०, पृ० ९४
२. वही, पृ० ९५
३. वही, पृ० ९६
४. वही, पृ० ९६

शरीर धारण के लिए अनिवार्य है । रसों का सम्बन्ध शरीर से है । इसके लिए उसका महत्व सर्वोपरि है। पर आत्मा शरीर को जीवन प्रदान करता है। काव्य में रस रस स्थानीय है और औचित्य आत्म स्थानीय। रस के रहते हुए भी यदि औचित्य नहीं तो काव्य निर्जीव है। रसाभास, रस, दोष आदि की यही स्थिति होती है। वे रसगत औचित्याभाव के नामान्तर हैं।'[1]

औचित्य-सिद्धान्त की काव्यगत उपादेयताओं का विवेचन डा० मनोहरलाल गौड़ ने किंचित् विस्तार से किया है। इन्होंने क्षेमेन्द्र के औचित्य-सिद्धान्त को अन्य काव्य-सिद्धान्तों—रस, गुण, रीति, अलंकार, ध्वनि आदि से अधिक व्यापक मान लिया है।[2] औचित्य के आधार पर काव्य-मीमांसा का मार्ग दिखा कर क्षेमेन्द्र ने अनेक काव्योपयोगी तथ्यों की ओर संकेत किया है। डा० गौड़ के प्रतिपादन का प्रमुख अंश इस प्रकार है :

१. औचित्य-सिद्धान्त में औरों की अपेक्षा अधिक निश्चयात्मकता है। वह रस, ध्वनि, अलंकार, गुण, दोष आदि से भिन्न है और साधारण बुद्धिगम्य है। क्योंकि औचित्य का आधार जीवन का स्थूल दैनिक रूप है।[3]

२. समीक्षा मार्ग में विषयापेक्षता का अंश जितना अधिक होगा, उतनी ही कला लोक-जीवन के निकट आ जाती है। वस्तु जगत जो हमारी ज्ञान की परिधि में रहता है, उसके आधार पर कला का मूल्यांकन होने लगता है और वह जन-साधारण की पहुँच के अन्तर्गत हो जाती है। यह कला के प्रसार और परिष्कार दोनों के लिए ही लाभदायक है। औचित्य मार्ग में यह बात विद्यमान है। उसका आधार जीवन है।[4]

३. रस, अलंकार आदि के अनुयायी कवियों में जो प्रायः अतिगामिता दिखाई पड़ती है उसमें औचित्य पर दृष्टि का न रहना ही कारण है। हिन्दी साहित्य में रीति काल के अलंकारवादी केशव तथा ध्वनिमार्गी बिहारी इसी श्रेणी के साहित्यकार हैं। इनमें कोई रस को ही तथा कोई अलंकार को ही कविता का सर्वस्व मान कर रचना करते हैं। औचित्य-सिद्धान्त इस 'अतिगामिता' को रोकता है। वह सामंजस्य पर बल देता है।[5]

---

१. आचार्य क्षेमेन्द्र (डा० मनोहरलाल गौड़), पृ० २८
२. वही, पृ० ३०
३. वही, पृ० ५८
४. वही, पृ० ५८
५. वही, पृ० ५९

४. काव्य के गुण-दोषों की समस्या केवल औचित्य के आधार पर सुलझती है। जो उचित है वह गुण है, जो अनुचित है वह दोष है। गुण-दोष-व्यवस्था के मूल में एकमात्र निर्णायक तत्व औचित्य है।[1]

५. क्षेमेन्द्र की औचित्य-कसौटी बहुत महत्वपूर्ण है। उस पर काव्य ही नहीं सब प्रकार की कलाओं को कसा जा सकता है। उसकी तह में यह मान्यता छिपी है कि काव्य या अन्य कोई कला जीवन का प्रतिबिम्ब है। उसके परखने का मान-दण्ड जीवन से लेना चाहिए।[2]

इसमें सन्देह नहीं कि आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य-सिद्धान्त की स्थापना व्यापक रूप में की है। इनके सिद्धान्त का आधार भी मूलतः लोक-जीवन और लोक-व्यवहार है, जो सर्वमान्य हो सकता है। काव्यगत भाषा, भाव, विचार और कल्पना आदि सभी तत्व औचित्य की आधार भूमि से अभिव्यक्त हों तभी उनमें चिर स्थायिनी जीवनी शक्ति आ सकती है, यह मत भी अग्राह्य नहीं है। परम्परागत रस, अलंकार, रीति, गुण आदि सभी तत्व औचित्य की संजीवनी से जीवित रहते हैं। अर्थात् उनमें स्थायित्व की शक्ति औचित्य के कारण ही आती है, अतः यह सामान्यतः सम्पूर्ण काव्य-व्यापी सिद्धान्त है, यह मानने में भी किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। किन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से चिन्तन किया जाय तो स्पष्ट होगा कि औचित्य तत्व एकांततः काव्यत्व का निर्धारक तत्व नहीं है। काव्य में इसका स्वरूप साधनात्मक या गुणात्मक है। काव्य का साध्य है——भावपरिपुष्टि या भावनानिर्मिति। इसे ही भाववादी दृष्टिकोण से रस कहा जा सकता है। काव्य का साध्य औचित्य निर्मिति नहीं है। औचित्य तो भाव परिपुष्टि या भावना निर्मिति का मूलभूत गुण है। वह अपने अस्तित्व को गुणी में, परिपुष्ट भाव में या रस में सर्वथा लीन कर देता है। अपनी पृथक् सत्ता को वह एक प्रकार से समाप्त कर लेता है। इसी कारण सहृदय पाठक जब काव्यास्वाद के लिए प्रवृत्त होता है तब उसकी आस्वाद्य वस्तुएँ रहती हैं—— भाव, विचार, कल्पना आदि। औचित्य अपने अस्तित्व को इन्हीं में विलीन किये रहता है। उसके स्वतन्त्र आस्वाद की या अनुभूति की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती। क्योंकि औचित्य तत्व की सार्थकता इसी में है कि वह अपने व्यक्तित्व को काव्य के अंतरंग और बहिरंग में सर्वथा विलीन कर दे। इस प्रकार सहृदय की दृष्टि से काव्यास्वाद या काव्यानुभूति की प्रक्रिया पर चिन्तन किया जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि औचित्याधिष्ठित भाव, विचार, कल्पना आदि ही उसे प्रभावित करते

---

१. आचार्य क्षेमेन्द्र (डा० मनोहरलाल गौड़) पृ० ५९-६०

२. वही, पृ० ६१

हैं, औचित्य की स्वतन्त्र सत्ता के प्रति उसका ध्यान नहीं जाता। दूसरी ओर कवि की दृष्टि से काव्य-सर्जन की प्रक्रिया पर दृष्टिपात किया जाय तो भी स्पष्ट होता है कि कवि औचित्य की अपेक्षा भाव, विचार और कल्पना की अभिव्यक्ति पर अपनी दृष्टि अधिक केन्द्रित रखता है। उसके कर्तव्य की इतिश्री इसी में है कि वह भाव, विचार और कल्पना को यथेष्ट, वांछित या उचित रूप में अभिव्यक्ति प्रदान करे। कवि का साध्य औचित्य की अभिव्यक्ति नहीं है वरन् औचित्य-गुण से पूर्ण भाव, विचार, कल्पना आदि की अभिव्यक्ति है। अतः काव्यत्व का अधिष्ठान जिनमें निहित है वे तत्व हैं—भाव, विचार और कल्पना। इन्हीं से काव्य को काव्यत्व की संज्ञा प्राप्त होती है। केवल औचित्य के कारण ही कोई रचना काव्य नहीं कहलाती, क्योंकि किसी वस्तु का यथावत् वर्णन कर देने मात्र से वह काव्य नहीं कहलाता। वस्तुओं का यथावत् वर्णन तो काव्य-इतर ग्रन्थों में भी आवश्यक है। वस्तुतः औचित्य तत्व तो काव्य ही क्या शास्त्रीय ग्रन्थों के लिए भी नितांत अनिवार्य है। भावना और कल्पना का क्षेत्र शास्त्र नहीं है, वरन् काव्य ही है। अतः काव्यत्व की सत्ता जिस तत्व में अधिष्ठित है, वही उसका प्राण बन सकता है। इस दृष्टि से भाव और कल्पना काव्य के प्राण बन सकेंगे। औचित्य को यह अधिकार प्राप्त नहीं होगा। उसे इतना ही अधिकार प्राप्त है कि वह प्राण-तत्व——रस या भाव का नित्यगुण बन कर वर्तमान रहे। सम्भवतः इसी कारण अधिकांश रस-ध्वनिवादी आचार्यों—मम्मट, विश्वनाथ आदि ने औचित्य को गुण-दोषों के विवेचन-प्रसंग में ही विशेष स्थान दिया है, अन्यत्र नहीं।

मराठी में औचित्य-सिद्धान्त का अध्ययन

हिन्दी की भाँति मराठी के आरम्भिक काव्यशास्त्रज्ञों ने संस्कृत की अलंकार एवं रसवादी परम्परा की व्यापक अवतारणा की है। अन्य काव्य-तत्वों के अध्ययन की ओर इनकी दृष्टि नहीं जा सकी है। परिणामतः रीति तथा वक्रोक्ति की भाँति औचित्य तत्व का भी विस्तृत अध्ययन मराठी में नहीं हो सका है। परम्परानुयायी लेखकों की अपेक्षा पुनराख्याताओं ने इस दिशा में अधिक कार्य किया है, किन्तु इन्होंने औचित्य-सिद्धान्त की समीक्षा प्रायः रसवादी दृष्टिकोण से की है।

काव्य का यथार्थ लक्षण प्रस्तुत करने के लिए प्रा० जोग ने भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों की एतद्विषयक मान्यताओं को विस्तार से प्रस्तुत किया है। इसी प्रसंग में इन्होंने वक्रोक्ति, रीति, ध्वनि, रस आदि तत्वों की आन्तरिक समीक्षा करते हुए काव्यत्व के निर्धारण में इनकी उपादेयता एवं अनुपादेयता का मूल्यांकन किया है। काव्यत्व के निर्धारक तत्व की दृष्टि से ही औचित्य की भी इन्होंने समीक्षा की है। प्रा० जोग स्वयं रसवादी है। इन्होंने सारांश रूप में मानवी मन के भाव-

त्मक अंग का जिसमें चित्रण होता है उसे ही काव्य माना है।[१] अतः औचित्य तत्व के विषय में इनका अभिमत स्पष्टतः ही रस-ध्वनिवादी आचार्यों के अनुरूप है : औचित्य तत्व काव्य का या किसी भी रचना का कितना ही महत्वपूर्ण, आवश्यक और अपरिहार्य गुण भले ही हो, फिर भी वह गुण ही है, गुणी नहीं है, धर्म है, धर्मी नहीं है। अतः इसे गुणी का या धर्मी का महत्व प्रदान नहीं किया जा सकता। किस प्रकार की शब्द-योजना से, अर्थ-योजना से अथवा रीति से मन का अभिप्राय व्यक्त किया जाय, यही औचित्य का मुख्य भाग है। कथन की विशिष्ट पद्धति ही औचित्य में अभिप्रेत है। इसका आशय यह हुआ कि रीति की अपेक्षा इसे पृथक् महत्वपूर्ण स्थान नहीं है। जो आक्षेप रीति को काव्य का मूलतत्व मानने में उठ सकते हैं वे ही औचित्य के लिए भी लागू हो सकते हैं। इसीलिए काव्यात्मा के विषय में क्षेमेन्द्र का विवेचन अन्य आचार्यों को विशेष मान्य नहीं हुआ।[२]

इससे स्पष्ट है कि प्रा० जोग 'औचित्य' को गुण मात्र मानते हैं और इसका सम्बन्ध रीति की भांति काव्य की अभिव्यक्ति-पद्धति से स्थापित करते हैं। जब कि आचार्य क्षेमेन्द्र ने रस के मूल में भी औचित्य की स्थिति अनिवार्य उद्घोषित की है।[३]

प्रा० जोग ने संस्कृत के रस-रीति, अलंकार आदि काव्य-सिद्धान्तों का सौन्दर्य शास्त्र की पृष्ठभूमि पर विस्तृत अध्ययन किया है। परिणामतः औचित्य तत्व की भी इन्होंने 'सौन्दर्यशोध' की दृष्टि से विस्तृत मीमांसा की है। सौन्दर्य-निर्धारण में क्षेमेन्द्र का औचित्य सिद्धान्त एक पूर्ण सिद्धान्त नहीं है, क्योंकि प्रथमतः क्षेमेन्द्र प्रतिपादित औचित्य की व्याख्या बहुत ही संक्षिप्त है। 'जो जिसके योग्य है आचार्य लोग उसे उचित कहते हैं और जो उचितत्व का भाव है वही औचित्य है।' इस मूल कारिका में उचित शब्द का अर्थ 'सदृश' शब्द से प्रकट किया गया है, और वृत्ति में 'अनुरूप' शब्द से इसकी व्याख्या की गई है। जो जिसके अनुरूप है वह उचित है।[४] यह उसका अर्थ हुआ। परन्तु उचित शब्द के स्थान पर अनुरूप शब्द रख देने से विशेष प्रगति नहीं हुई। सुन्दर याने औचित्यपूर्ण, औचित्यपूर्ण याने अनुरूप, अनुरूप याने योग्य इस प्रकार की शब्द-प्रतिशब्दों की वृद्धि से अर्थबोध नहीं होता। इस कारण क्षेमेन्द्र की पूर्वोक्त औचित्य-व्याख्या 'उद्बोधक' नहीं है।[५]

---

१. अभिनव काव्यप्रकाश (प्रा० जोग), पृ० २९
२. वही, पृ० १५
३. औचित्य विचार चर्चा, (डा० मनोहरलाल गौड़ कृत अनुवाद) पृ० ३
४. यत्किलयस्य अनुरूपं तदुचितम्, औ० वि० च०, का० ७
५. सौन्दर्यशोध आणि आनंदबोध (प्रा० जोग), पृ० ११०

सौन्दर्य जगत् में अनुरूप का निर्धारण संदर्भ पर आधृत होता है और संदर्भानुरूप उसका स्वरूप भिन्न-भिन्न बन जाता है। अनुरूप के विविध अर्थ निकलते हैं: कहीं तो वह स्वाभाविकता का द्योतक बन जाता है तो कहीं वास्तविकता का।[1] अतः प्रा० जोग की धारणा में औचित्य-तत्व सौन्दर्य-निर्धारण का सर्वांगपूर्ण-तत्व नहीं है, वरन् यह सौन्दर्य का एक घटक मात्र है। जार्डन ने सौन्दर्य-घटकों के तीन भिन्न-भिन्न प्रकारों का निरूपण किया है। उनमें कतिपय पद्धति-विषयक (Methodological) कतिपय न्यायमूलक (Logical) और कतिपय वस्तुरूपात्मक (Objective) हैं। औचित्य (Appropriateness) का अन्तर्भाव प्रथम वर्ग में होगा। अतः यह स्पष्ट है कि सौन्दर्य का एकमेव तत्व औचित्य नहीं हो सकता। रेखा, रूप, आकार, उपादान-वस्तु आदि इन सुन्दर वस्तुओं के इतर गुणों के साथ उन गुणों की उचित अभिव्यक्ति भी सौन्दर्य का कारण होती है। इसके बिना सौन्दर्य परिपूर्ण अथवा निर्दोष नहीं होगा, यह सत्य है किन्तु औचित्य गुण कृतकार्य तभी होता है जब वह अन्य घटकों का आश्रय या आधार लेता है।[2]

जिस प्रकार प्रा० जोग ने काव्य-लक्षण में औचित्य को गुण का स्थान दिया है और अभिव्यक्ति-पद्धति से उसे सम्बद्ध किया है, उसी प्रकार वे सौन्दर्य जगत् में भी औचित्य को एकमात्र सौन्दर्यघटक नहीं मानते। इनके मत में औचित्य गुण अन्य अनेक सौन्दर्य-घटकों में से एक है, इसे स्वयं अन्य सौन्दर्य-घटकों का आधार लेना पड़ता है। अतः जिस प्रकार यह काव्य का आत्म-तत्व नहीं बन सकता उसी प्रकार सौन्दर्य का निर्धारक एकमेव तत्व नहीं हो सकता।

प्रा० जोग के समान श्री द० के० केळकर ने भी औचित्य का प्रायः अभिव्यक्ति-पद्धति से ही सम्बन्ध स्थापित किया है। इन्होंने काव्य की अभिव्यक्ति-पद्धति तथा अलंकार-विवेचन के प्रसंग में औचित्य-तत्व का निरूपण किया है। इनकी सामान्य मान्यता में औचित्य काव्य का आत्म-तत्व नहीं है वरन् यह अलंकार-चित्रण, 'भाषा पद्धति' या अभिव्यक्ति-पद्धति का गुण मात्र है। 'औचित्य की मर्यादा का उल्लंघन करने से अलंकारों का अलंकारत्व लुप्त हो जाता है। औचित्यपूर्ण योजना से कृत्रिम दोष भी गुण रूप बन जाते हैं। अलंकारों का शोभादायकत्व तभी सफल होता है जब इसमें औचित्य का परिपालन किया जाता है। इस औचित्य की कसौटी है—रसानुकूलता।'[3] श्री द० के० केळकर ने रस को काव्य की आत्मा माना है, अतः

---

१. सौन्दर्यशोध आणि अनन्दबोध), (प्रा० जोग) पृ० १११–११२

२. वही, पृ० ११६

३. काव्यालोचन (द० के० केळकर), पृ० ३५४

औचित्य को काव्य का आत्म-तत्व स्वीकार करने का प्रश्न ही उनके सामने उपस्थित नहीं होता। आ० क्षेमेन्द्र ने रस के मूल में औचित्य की स्थिति आवश्यक ठहरा कर औचित्य को रस से भी श्रेष्ठ सिद्ध किया है किन्तु श्री द० के० केळकर के अभि-मत में अलंकारगत और अभिव्यक्ति-पद्धतिगत औचित्य की कसौटी रस है।'[1] इस प्रकार औचित्य-तत्व का नियन्ता भी रस-तत्व ही बन जाता है, रस को ही प्रधानता प्राप्त होती है और औचित्य रस-प्रेरित अभिव्यक्ति-पद्धति का गुण मात्र सिद्ध होता है।

औचित्य-तत्व की काव्यगत व्याप्ति का समर्थन करते हुए भी डा० के० ना० वाटवे इसके पृथक् स्वतन्त्र अस्तित्व का विवेचन अनावश्यक ठहराते हैं। इन्होंने रस-सिद्धान्त के व्यापक अध्ययन के प्रसंग में ही औचित्य की समीक्षा की है। काव्य-शास्त्र में औचित्य-सिद्धान्त की स्वतन्त्र प्रतिष्ठापना के विरोध में डा० वाटवे ने अपना अभिमत इस प्रकार व्यक्त किया है :

क्षेमेन्द्र की औचित्य-कल्पना सम्पूर्ण काव्य-घटकों पर व्याप्त हो कर भी अव-शिष्ट रहती है, तो भी वह इतनी 'प्राथमिक', 'मूलभूत' और 'सर्वगत' है कि उसका अस्तित्व ध्यान में ही नहीं आता। गुरुत्वाकर्षण से ही मनुष्य चलते हैं, हवा के दबाव से ही मनुष्य पृथ्वी पर स्थिर है, पानी में पदार्थों को ऊपर उठाने की सामर्थ्य (Upword thurst) है, इत्यादि अलक्षित अथवा दुर्लक्षित किन्तु 'नित्यसिद्ध' नियमों के समान ही क्षेमेन्द्र की औचित्य-कल्पना है। ज़मीन पर खड़े होकर ऊँची उड़ान लगाते समय जमीन की कठोरता उछलने में सहायक होती है, इसका ध्यान हमें नहीं आता। किन्तु रेत पर से अथवा नरम गद्दे पर से उछलते समय कठोरता की सहायता के अभाव की प्रतीति होती है। यही स्थिति औचित्य की है। औचित्य की कल्पना उसके अस्तित्व की अपेक्षा उसके अभाव में ही विशेष रूप से आती है। इसी कारण इसका महत्व सहसा ध्यान में नहीं आता। इस प्रकार औचित्य के महत्व को ध्यान में रखते हुए भी यही कहने को जी चाहता है कि औचित्य अत्यन्त उपयोगी है, इसीलिए उसे पृथक् 'जीवित' तत्व के रूप में प्रतिपादित करने में विशेष लाभ नहीं है। कवि को अपने चारों ओर के 'नित्यसिद्ध' वस्तुधर्मों की तथा प्राणि-धर्मों की उपयुक्त जानकारी होनी चाहिए। जो वस्तु जैसी है उसका वैसा ही वर्णन करना चाहिए। किसी वस्तु का उसी प्रकार से वर्णन किया जाय जिससे वह उचित दिखाई दे, इस साधारण नियम के प्रतिपादन में त्रुटि नहीं होनी चाहिए। यही

---

१. काव्यालोचन (द० के० केळकर), पृ० ३५४

औचित्य तत्व की विशेषता है ।[1]

डा० वाटवे की मान्यता में प्रस्तुत औचित्य-चर्चा में 'क्विल्लर काउच' प्रतिपादित Truth of facts, truth of emotion और Truth of Imagination ये तीनों सत्य अन्तर्भूत होते हैं। इसमें Ideal और Real का भी समावेश होता है । नीति-नियम, समाज-जीवन, काव्य-सत्य, शास्त्र-सत्य से लेकर एक-एक वर्ण की शब्द अथवा प्रत्यय की उचितता का अन्तर्भाव इसमें हो जाता है। औचित्य-तत्व में किसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता यही बताना कठिन है।[2]

औचित्य का अवलंबन लेकर काव्य-शास्त्र ही क्या इतर सभी शास्त्र प्रवृत्त होते हैं। अतः इसे 'रस जीवित' कह देने से किसी प्रकार का नवीन प्रतिपादन कर दिया गया हो ऐसा प्रतीत नहीं होता। अतः रीति, गुण, अलंकार, ध्वनि, रस, वक्रोक्ति तथा दोष के विचारों में ही औचित्य की स्थिति आ जाती है, इसका स्वतन्त्र पृथक् चिन्तन अनावश्यक है।[3]

इस प्रकार डा० वाटवे ने औचित्य-सिद्धान्तों की पृथक् प्रतिष्ठापना को अनावश्यक माना है। एदतर्थ इनके तीन प्रमुख तर्क हैं १. औचित्य के अभाव में ही औचित्य के सद्भाव की आवश्यकता अनुभव होती है । २. औचित्य तत्व अतिव्याप्त है और अत्यन्त अनिवार्य है । ३. काव्य-शास्त्र ही नहीं, काव्य-शास्त्र-इतर शास्त्रों में भी इसकी आवश्यकता है ।

तुलनात्मक विवेचन और निष्कर्ष

अन्य काव्य-सिद्धान्तों की भाँति औचित्य-सिद्धान्त के अध्ययन में भी हिन्दी-मराठी के लेखकों में पर्याप्त मत-साम्य और मत-भिन्नता है । औचित्य-सिद्धान्त का अपेक्षित व्यापक अध्ययन हिन्दी मराठी दोनों ही भाषाओं के काव्य-शास्त्र में उपलब्ध नहीं होता। फिर भी जिन लेखकों ने इस तत्व का अध्ययन किया है, उनके अध्ययन में विविधता है ।

औचित्य-तत्व के चिन्तन में महत्वपूर्ण साम्य यही है कि औचित्य के जीवनगत, लोकगत या व्यवहारगत महत्व का जहाँ अंकन किया गया है वहाँ इसी आधार पर औचित्य की काव्यगत महत्व-स्वीकृति पर बल दिया गया है । जीवन और लोक-व्यवहार में औचित्य जिस प्रकार आवश्यक है, उसी प्रकार काव्य में भी

---

१. रसविमर्श (डा० वाटवे) पृ० ३८९
२. वही, पृ० ३९०
३. वही, पृ० ३९०

इसकी अनिवार्य आवश्यकता है।

औचित्य पर्याप्त व्यापक काव्य-तत्व है। इसकी परिधि में रस, रीति, अलंकार, गुण-दोष, ध्वनि आदि सभी तत्वों का अन्तर्भाव हो जाता है। काव्य के अन्तरंग और बहिरंग तक इसकी समान रूप से पहुँच है। औचित्य तत्व काव्य के किस अंग में व्याप्त नहीं है, यही बताना कठिन है।[1]

औचित्य तत्व की व्याप्ति जिस प्रकार कला-जगत् में है, उसी प्रकार काव्य-जगत् में भी है। सौन्दर्य-निर्धारण में औचित्य का महत्वपूर्ण योग है। सौन्दर्य-तत्व में औचित्य की स्थिति का श्री बलदेव उपाध्याय ने संकेत दिया है और प्रा० रा० श्री० जोग ने इसका विशद अध्ययन प्रस्तुत किया है।[2] इस प्रकार औचित्य-तत्व लोक-जीवन के समान कला-जगत्, काव्य-जगत् और सौन्दर्य-जगत् तक व्याप्त दिखाई देता है।

यह तो हुई औचित्य-सिद्धान्त की व्याप्ति।

औचित्य-सिद्धान्त की सीमाएँ भी हैं :

औचित्य काव्यत्व का निर्धारक सिद्धान्त नहीं है। भाव या रस ही काव्य को काव्यत्व प्रदान करते हैं। इनकी तुलना में औचित्य का स्थान गौण है। अतः काव्य का आत्म-तत्व या जीवित रस या भाव ही है, औचित्य नहीं। औचित्य तो इसी के साथ गुणरूप में अनुस्यूत अभिन्न अंग है।

औचित्य का सम्बन्ध अभिव्यक्ति-पद्धति से है, काव्यगत भाव, विचार, कल्पना भाषा आदि को किस प्रकार से व्यक्त किया जाय इसी की शिक्षा औचित्य-सिद्धान्त से मिलती है।[3]

औचित्य तत्व वस्तुतः एक गुण है, गुणी नहीं है, धर्म है धर्मी नहीं है। 'शब्द-योजना', 'अर्थ-योजना' आदि की पद्धति सिखाता है। अलंकार-नियोजन और काव्य की अभिव्यक्ति-पद्धति के मूल में इसकी विशेष आवश्यकता होती है।

सौन्दर्य-निर्धारण में भी औचित्य एकान्त समर्थ सिद्धान्त नहीं है। सौन्दर्य-निष्पादक अनेक घटकों में औचित्य भी एक घटक मात्र है। सौन्दर्य-निर्धारण में औचित्य को स्वयं अन्य सौन्दर्य-पोषक घटकों पर आश्रित रहना पड़ता है।[4]

औचित्य-तत्व स्वतन्त्र सिद्धान्त नहीं है। वह पराश्रित है। अलंकार तथा

---

१. दे०इसी अध्याय में, पृ० ५९७ और ६०३
२. दे० वही, पृ० ५९४ और ६०१
३. दे० वही, पृ० ६०१
४. दे० वही, पृ० ६०१

अभिव्यक्ति-पद्धति के मूल में निहित औचित्य की कसौटी रस है।[१] प्रायः रस और औचित्य-तत्व अन्योन्याश्रित रहते हैं। एक दूसरे के उपकारक हैं।[२] रस से पृथक् रह कर औचित्य का विशेष महत्व नहीं है।

औचित्य तत्व रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि काव्य-सिद्धान्तों के मूल में व्याप्त रहता है। अतः इसकी स्वतन्त्र प्रतिष्ठा की अपेक्षा यह इन सभी तत्वों के गुण रूप में उन्हीं में अन्तर्भूत रहता है।[३]

इस प्रकार काव्य में औचित्य-तत्व की अपनी व्याप्ति और सीमाएँ हैं। औचित्य-तत्व पर विशेष बल देकर आचार्य क्षमेन्द्र ने काव्यशास्त्र में एक महत्वपूर्ण स्थापना की है। वह यह है कि काव्य को जीवन और जगत् का परिपुष्ट आधार ग्रहण करना चाहिए। जीवन और जगत् की वास्तविकताओं से रहित काव्य औचित्यहीन हो जाता है, निष्प्राण या निर्जीव बन जाता है। भावगत, विचार और कल्पनागत तथा अभिव्यक्ति-पद्धतिगत सभी प्रकार की अस्वाभाविकताओं, असंगतियों तथा अवास्तविकताओं को काव्य से दूर कर देना चाहिए। इसी से काव्य में चिरस्थायी जीवन-शक्ति आती है। इस दृष्टि से काव्य के अन्तरंग और बहिरंग में औचित्य गुण की स्थिति अनिवार्य सिद्ध होती है।

प्राण या जीवित शब्द का अर्थ 'अनिवार्य' तत्व के रूप में लिया जाय तो भाव या रस तथा भाषा के समान औचित्य भी काव्य के लिए अनिवार्य ही है। परन्तु भाषा के समान औचित्य का क्षेत्र एकमात्र काव्य नहीं है। यह काव्य-इतर जगत् में भी व्याप्त है, अतः काव्यत्व के लिए प्राण वस्तु रस या भाव ही है, इसी के गुण रूप में औचित्य भी अनिवार्य या नित्यसिद्ध हो जाता है, परन्तु भाव या रस से पृथक् होकर स्वतन्त्र रूप में औचित्यका अस्तित्व महत्वहीन है।

---

१. दे० इसी अध्याय में, पृ० ६०२

२. दे० वही, पृ० ५९६

३. दे० वही, पृ० ६०१-६०२
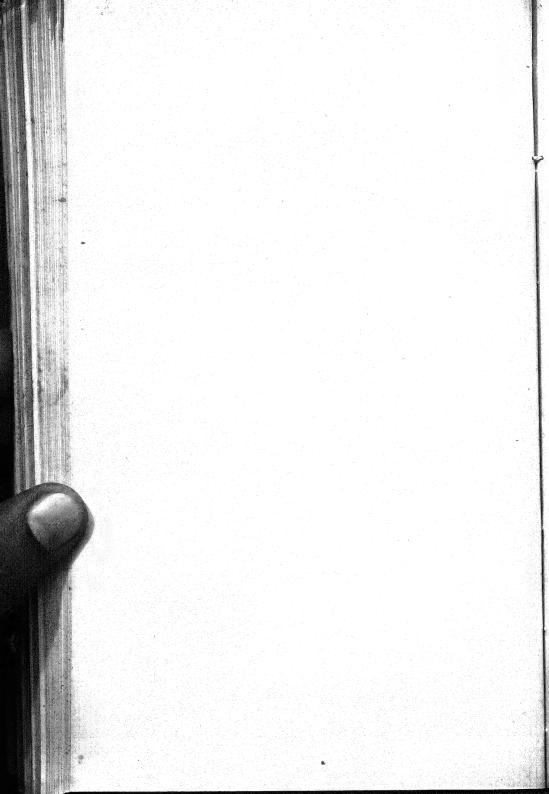
सातवाँ अध्याय

ऐतिहासिक सर्वेक्षण

७

हिन्दी-साहित्यशास्त्र की विकास-परंपरा

हिन्दी साहित्य के आदिकाल से वर्तमान काल तक के साहित्यशास्त्र के विकास को दृष्टि में रख कर इसके तीन स्थूल वर्गीकरण किये जा सकते हैं : १. आरम्भिक साहित्यशास्त्र, २. मध्ययुगीन साहित्यशास्त्र, ३. आधुनिक साहित्यशास्त्र। हिन्दी-साहित्य के आदिकाल में साहित्य-रचना की मूल आधार भाषाएँ—अपभ्रंश, ब्रज तथा राजस्थानी थीं, मध्यकाल में ब्रज तथा अवधी रहीं और अर्वाचीन काल में खड़ी बोली है। भाषा के आधार पर भी हिन्दी साहित्यशास्त्र की विकास-परंपरा के तीन रूप दिखाई देते हैं। १. ब्रजभाषा पूर्व का साहित्यशास्त्र। २. ब्रजभाषा का साहित्यशास्त्र। ३. खड़ी बोली का साहित्यशास्त्र। मध्ययुग में ब्रजभाषा के समान अवधी भाषा में भी प्रचुर काव्य-साहित्य का निर्माण हुआ, परन्तु साहित्यशास्त्र का सर्वांग निरूपक उल्लेखनीय ग्रन्थ अवधी भाषा में उपलब्ध नहीं होता। मध्ययुग में हिन्दी-साहित्यशास्त्र के ग्रन्थों की प्रमुख भाषा ब्रज ही रही है।

आरम्भिक साहित्यशास्त्र

(ई० सन् ११०० से १४०० ई० तक)

हिन्दी-साहित्य का आदिकाल उस समय आरम्भ होता है, जब कि संस्कृत साहित्यशास्त्र का समृद्ध विकास हो चुका था। साहित्यशास्त्र में रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि साहित्य-सिद्धान्तों की पूर्ण प्रतिष्ठापना हो चुकी थी। विभिन्न आचार्यों ने इन तत्वों की अत्यन्त सूक्ष्म मीमांसा करके इन्हें काव्य-मूल्यांकन की वास्तविक कसौटियों के रूप में निर्धारित किया था। आचार्य मम्मट ने इन साहित्य-मूल्यांकन के तत्वों में पारस्परिक सामंजस्य बिठाते हुए अपना समन्वयकारी निरूपण इसी युग में पूर्ण कर लिया था।

हिन्दी के आदिकाल में अपभ्रंश-साहित्य की दो धाराएँ स्पष्टतः दिखाई देती हैं। एक ओर सिद्धों, नाथपंथियों, वज्रयानियों की साधना-प्रधान उपदेशा-

त्मक रचनाओं का प्राचुर्य है तो दूसरी ओर प्राचीन संस्कृत काव्यों—रामायण, महाभारत तथा भागवत आदि पुराणों पर आधारित जैनाचार्यों तथा जैन-इतर आचार्यों का समृद्ध साहित्य है। अपभ्रंश-साहित्य से हिन्दी का भक्ति-युगीन साहित्य भी पूर्णतः प्रभावित है। अपभ्रंश-साहित्य के विषय, शैली, छंद-प्रवृत्ति आदि का प्रभाव परवर्ती साहित्य पर स्पष्टतः दिखाई देता है। अपभ्रंश-साहित्य में मूलरूप में वे सभी काव्यधाराएँ मिल जाती हैं जिनका समृद्ध विकास हिन्दी के भक्तिकाल तथा रीतिकाल में हुआ है। भक्तिपरक रचनाओं की परंपरा तो सिद्धों, नाथपंथियों और जैनाचार्यों की रचनाओं में मिलती है और लौकिक वीर, शृंगार आदि भावों की परंपरा रासो ग्रन्थों तथा अनेक मुक्तक काव्यों में दिखाई देती है। अपभ्रंश-साहित्य के रचयिता अनेक कवि संस्कृत-साहित्यशास्त्र के तत्वों से पूर्णतः परिचित थे। जैनाचार्यों तथा अन्य अनेक कवियों के चरित काव्य इस तथ्य के प्रबल साक्षी हैं। इनके काव्यों में उपलब्ध नायक-नायिकाओं का रूप-वर्णन, विवाह-वर्णन, शृंगार, वीर, करुण, शान्त आदि रसों, षड्ऋतुओं तथा विविध छंदों का प्रयोग यह स्पष्ट करता है कि इन्हें संस्कृत-साहित्यशास्त्र का पूर्ण ज्ञान था। नयनंद के 'सुदर्शन चरित्र' में प्रान्तों और देशों के साथ वात, पित्त आदि प्रकृति तथा शुद्ध-अशुद्ध आदि गुणों के आधार पर भी नायिका-भेदों का विस्तार किया गया है।[1]

इस काल में यद्यपि साहित्यिक रचनाओं का सैद्धान्तिक आधार संस्कृत-साहित्यशास्त्र के ही रस, अलंकार आदि तत्व रहे हैं। फिर भी 'साहित्यशास्त्र' को ही स्वतन्त्र विवेच्य विषय मान कर लिखी गई कोई उल्लेखनीय कृति अब तक उपलब्ध नहीं हो सकी है। साहित्यशास्त्र के ही एक तत्व—'छंद' पर कतिपय रचनाएँ मिलती हैं। इनमें सिद्धशान्ति या रत्नाकरशान्ति का 'छन्दोरत्नाकर' तथा हेमचन्द सूरि का 'छन्दोनुशासन' उल्लेखनीय है।

हिन्दी-साहित्य के आदिकाल की दूसरी साहित्यिक धारा रासो ग्रन्थों तथा मुक्तक शृंगार, वीर रसात्मक काव्यों की है। रासो ग्रन्थों में भी संस्कृत-साहित्य-शास्त्र के तत्वों का आधार स्पष्टतः दिखाई देता है। चन्दबरदाई रचित 'पृथ्वी-राज रासो' में षड्ऋतुओं, शृंगार, वीर, रौद्र, बीभत्स आदि रसात्मक वर्णनों, रूढ़ अलंकार-प्रयोगों तथा छंद-नियोजन-पद्धति में संस्कृत-साहित्यशास्त्र के तत्वों का ही अनुसरण किया गया है।

---

१. विस्तार के लिए दे० हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास : डा० भगीरथ मिश्र (पृ० ४८-४९)

ईस्वी सन् ११०० से १४०० तक का काल हिन्दी-साहित्यशास्त्र की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण नहीं है। अपभ्रंश-साहित्य तथा रासो व मुक्तक काव्य-साहित्य के निर्माताओं का दृष्टिकोण साहित्यशास्त्र के गंभीर चिन्तन की ओर उन्मुख नहीं था। वे संस्कृत की अपेक्षा जनभाषा अपभ्रंश तथा डिंगल, पिंगल, राजस्थानी मिश्रित ब्रज आदि भाषाओं में साहित्य-सर्जन कर रहे थे। इनके साहित्य-सर्जन के पीछे धार्मिक-सांप्रदायिक तथा लौकिक श्रृंगार-वीरात्मक भाव प्रमुख प्रेरक तत्व रहे। अतः संस्कृत-साहित्यशास्त्र की आनंदवर्धन, वामन, कुंतक, अभिनव आदि प्रौढ़ आचार्यों की परंपरा को हिन्दी-साहित्य के आदिकाल में भी अक्षुण्ण रखने में समर्थ कोई आचार्य नहीं हुआ। इसमें हिन्दी के आदिकाल के कवियों का साहित्यशास्त्र-ज्ञान, आदिकाल की भाषा की सामर्थ्य तथा समसामयिक धार्मिक-सांप्रदायिक भक्ति-आंदोलन आदि अनेक कारण उत्तरदायी हो सकते हैं। काव्य-सिद्धान्तों का व्यापक अध्ययन करने की अपेक्षा इस युग के अनेक कवियों ने छंद, अलंकार, नायिका-भेद आदि पर प्रकाश डाला है, जो पर्याप्त संक्षिप्त होने पर भी साहित्यशास्त्र की दिशा में चिन्तन के आरम्भिक प्रयत्न की सूचना देता है।

मध्ययुग का साहित्यशास्त्र
(१४०० ई० सन् से १८९०)

मध्ययुग के साहित्यशास्त्र के विकास को दृष्टि में रख कर इसके दो वर्ग बनाये जा सकते हैं; एक भक्तिकालीन साहित्यशास्त्र और दूसरा रीतिकालीन साहित्यशास्त्र। यदि संपूर्ण मध्ययुग के साहित्यशास्त्र को 'ब्रज भाषा का साहित्य-शास्त्र' नाम दें तो भी अनुपयुक्त नहीं होगा। क्योंकि इस युग में साहित्य-सर्जन ब्रज तथा अवधी दोनों ही भाषाओं में हुआ, परन्तु साहित्यशास्त्र के ग्रंथों में ब्रज-भाषा का ही एकाधिपत्य-सा रहा है। फिर भी रीतिकालीन साहित्यशास्त्र की समृद्ध परंपरा से पूर्व लगभग दो-ढाई सौ वर्षों में जो साहित्य-निर्माण हुआ है, उसका अपना विशिष्ट स्थान और महत्व है। इस युग में सूर-तुलसी जैसे युग-प्रवर्तक साहित्यकारों ने जन्म लेकर हिन्दी साहित्य-भंडार को अनमोल ग्रन्थ-रत्नों से भर दिया है। अतः इनके आधारभूत साहित्यशास्त्र के सिद्धान्तों तथा इनके समसामयिक साहित्यशास्त्र के प्रणेताओं की रचनाओं का पृथक् निरूपण-अध्ययन अपेक्षित है।

(क) भक्तिकालीन साहित्यशास्त्र

(१४०० ई० सन् से १६०० ई० तक)

हिन्दी में साहित्यशास्त्र की दृष्टि से स्वतंत्र ग्रन्थ इसी समय से उपलब्ध होते हैं। कृपाराम की 'हिततरंगिणी' (सन् १५४१) इसका स्पष्ट प्रमाण है। इससे पूर्व भी साहित्यशास्त्र विषयक अनेक ग्रन्थों की रचना हुई होगी, इसका अनुमान इनके दोहे से ही स्पष्टतः लग जाता है :

बरनत कवि सिंगार रस छन्द बड़े विस्तारि ।
मैं बरन्यो दोहानि बिच, याते सुघर विचारि ॥

इससे पूर्व की अपभ्रंश, राजस्थानी अथवा ब्रजभाषा में इस प्रकार का रस-रीति तत्त्व प्रधान विशिष्ट ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हो सका है। इस ग्रन्थ की रचना भक्तिकाल के मध्य में हुई है। संस्कृत-साहित्यशास्त्र की दृष्टि से यह काल 'व्याख्या काल' है, जिसमें प्राचीन प्रमुख संस्कृत-साहित्यशास्त्र के ग्रन्थों की टीकाएँ तथा व्याख्याएँ लिखी गई हैं। मम्मट से जगन्नाथ तक विकसित संस्कृत-साहित्यशास्त्र में मौलिक उद्भावन नहीं मिलता। परन्तु इनके समय साहित्य-क्षेत्र में भक्ति-भावना का अजस्र स्रोत प्रवाहित हो रहा था। आचार्य मम्मट के समन्वयकारी निरूपण के उपरान्त संस्कृत-साहित्यशास्त्र में महत्वपूर्ण कार्य हुआ—'भक्तिरस' तथा 'वात्सल्यरस' को स्वतंत्र रसरूप में मान्यता देना। माधुर्यभक्ति के समर्थक रूपगोस्वामी (१५००-१५६० ई० सन्), सनातन गोस्वामी तथा जीवगोस्वामी ने उज्ज्वल नीलमणि, भक्तिरसामृत सिंधु तथा षट्संदर्भ ग्रन्थ लिखे हैं। मधुसूदन सरस्वती ने भी 'भगवद् भक्ति रसायन' लिख कर रस-तालिका में 'भक्तिरस' की स्वतंत्र प्रतिष्ठापना की। कबीर, जायसी, सूर, तुलसी आदि समर्थ कवियों का काव्य-साहित्य इसी रस से अनुप्राणित है।

सूरदास, तुलसीदास आदि भक्त कवियों ने स्वतंत्र साहित्यशास्त्र के ग्रन्थों का निर्माण नहीं किया है। साहित्यशास्त्र के तत्वों का सूक्ष्म विश्लेषण-विवेचन करना इनकी अंतश्चेतना के प्रतिकूल कार्य था। इनका साध्य आदर्श काव्य-सर्जन नहीं था, वरन् हृदयस्थ भक्तिभावना की सफल अभिव्यक्ति मात्र था। फलतः इन्होंने स्वतंत्र साहित्यशास्त्र के ग्रन्थ का निर्माण नहीं किया तो इसमें आश्चर्य की कोई विशेष बात नहीं है। फिर भी भक्तिकालीन अधिकांश कवियों को संस्कृत-साहित्यशास्त्र के रस, अलंकार, रीति-गुण आदि तत्वों का पर्याप्त ज्ञान था। सूरदासकृत 'साहित्यलहरी' तुलसीदास का 'बरवै रामायण' रहीम का 'बरवै नायिका-भेद' इस तथ्य के स्पष्ट प्रमाण हैं।

इसके अतिरिक्त 'सूरसागर', 'रामचरितमानस' आदि काव्यों की विषयवस्तु तथा वर्णनशैली के मूल में संस्कृत-साहित्यशास्त्र के 'रस', अलंकार, रीति-गुण आदि तत्वों का आधार स्पष्टतः मिलता है। अष्टछाप के कवियों में सूरदास के अतिरिक्त नन्ददास ने संस्कृत के कवि भानुदत्त की 'रसमंजरी' के आधार पर ही नायिका-भेद-प्रधान 'रसमंजरी' की रचना की है। इसी प्रकार 'रस' तथा नायिका-भेद की परंपरा में मोहनलाल मिश्र का 'शृंगार सागर' (१५५९ ई०) भक्तिकाल की ही रचना है। रस और नायिका-भेद की परंपरा के अतिरिक्त साहित्यशास्त्र के अन्य प्रमुख तत्व अलंकार पर भी कतिपय रचनाएँ उपलब्ध हो चुकी हैं। इनमें गोपा या गोप कवि का 'रामभूषण' और 'अलंकार चन्द्रिका' (१५६० ई०) तथा करनेस के 'कर्णाभरण', 'श्रुतिभूषण' और 'भूपभूषण' (१५८० ई०) अलंकार-विवेचन से सम्बद्ध ग्रन्थ हैं। इस प्रकार इन्होंने संस्कृत साहित्यशास्त्र के तत्वों को हिन्दी में लाने का प्रयत्न आरम्भ कर दिया था। परन्तु इन सब का प्रयत्न नितांत स्वल्प था। सर्वांग-निरूपक कोई भी कृति उपलब्ध नहीं हुई है।

हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल में ही केशवदास का आविर्भाव हुआ है। इनसे पूर्व हिन्दी में साहित्यशास्त्र के ग्रन्थों की समृद्ध परंपरा नहीं मिलती। फिर भी इस युग में संस्कृत-साहित्यशास्त्र के रस, अलंकार आदि तत्वों का हिन्दी में निरूपण आरम्भ हो चुका था, भले ही यह निरूपण अप्रौढ़ तथा अनुवादात्मक हो। रस, नायिका-भेद तथा अलंकारों का विवेचन आरम्भ करके कृपाराम, नंददास, करनेस बंदीजन आदि ने इस तथ्य की ओर एक पग आगे बढ़ाया कि संस्कृत जैसा साहित्य-शास्त्र-विवेचन स्वभाषा (ब्रज) में भी संभव है। इन्हीं की परंपरा में साहित्य-शास्त्र का पर्याप्त विस्तृत विवेचन करने वाले प्रथम आचार्य हुए केशवदास।

आचार्य केशवदास ने संस्कृत-साहित्यशास्त्र की समृद्ध परंपरा को हिन्दी (ब्रज) में अवतरित करने का महत्वपूर्ण कार्य किया है। इन्होंने 'रसिकप्रिया' द्वारा रस तथा नायिका-भेद का और 'कविप्रिया' द्वारा अलंकारों का विस्तृत निरूपण करके हिन्दी साहित्यशास्त्र के विकास की सुदृढ़ नींव डाल दी। अतः हिन्दी साहित्य-शास्त्र के प्रथम आचार्य होने का श्रेय प्रायः इन्हें ही दिया जाता है।

(ख) रीतिकालीन साहित्यशास्त्र

(ई० सन् १६०० से १८९० ई० तक)

रीतिकाल के आचार्य चिन्तामणि से लेकर आधुनिक खड़ी बोली गद्य में साहित्यशास्त्र का विवेचन आरम्भ होने से पूर्व तक लगभग तीन सौ वर्षों में हिन्दी

में साहित्यशास्त्र के ग्रन्थों का प्रचुर निर्माण हुआ। इस युग में कवि और साहित्य-शास्त्र का अभिन्न संबन्ध-सा स्थापित हो गया था। कवियों में साहित्यशास्त्र-विवेचक बनने की लालसा हिन्दी-साहित्य में एक अभूतपूर्व घटना थी। इस युग का कवि अपनी सफलता और श्रेष्ठता का मूल्यमापन इस आधार पर भी करता था कि उसे साहित्यशास्त्र का पर्याप्त ज्ञान है। इस काल के अधिकांश कवि-आचार्यों की साहित्यिक अभिरुचि पैतृक परंपरा से चली आ रही थी। तत्कालीन राजाश्रय ने उनकी अभिरुचि को प्रबुद्ध करने में कुछ सीमा तक सहायता प्रदान की। राज-प्रशस्ति के साथ-साथ कवि-श्रेष्ठ बनने की लालसा तथा पांडित्य-प्रदर्शन की आकांक्षा भी इन कवियों में पर्याप्त थी। दरबारी वातावरण ने इसे और भी बढ़ावा दिया। फिर भी रीतिकालीन हिन्दी के साहित्यशास्त्रकार संस्कृत आचार्यों जैसा मौलिक उद्भावन, सूक्ष्म विश्लेषण तथा विवेचन करने में पूर्ण समर्थ नहीं हुए। इसके अनेक कारण हैं। रीतिकालीन अधिकांश आचार्य संस्कृत-साहित्यशास्त्र की उत्तरकालीन परिपाटी का अनुसरण कर रहे थे, जिसमें सूक्ष्म विश्लेषण-विवेचन की अपेक्षा लक्षण-उदाहरणात्मक शैली ही प्रमुख रूप से अपनाई गई थी। रीति-कालीन कवि-आचार्य जिनके लिए ग्रन्थों की रचना कर रहे थे वह पंडितों का वर्ग न होकर केवल रसिकों का समुदाय था। इसके अतिरिक्त स्वयं ब्रजभाषा में गद्य की प्रौढ़ विवेचना-शैली का अभाव था। किसी सीमा तक अनेक कवियों का साहित्य-शास्त्र-ज्ञान भी अपरिपक्व था।[1] इन अनेक कारणों से रीतिकाल में साहित्यशास्त्र की प्रचुर ग्रन्थ-राशि निर्माण होने पर भी इसमें अपेक्षित मौलिक उद्भावन अति न्यून है।

रीतिकाल के कवि-आचार्यों में से कतिपय ने साहित्यशास्त्र के सर्वांग-निरूपण का प्रयत्न किया है तो कतिपय ने रस, अलंकार अथवा नायिका-भेद आदि एक-एक तत्व का ही निरूपण कर दिया है।

सर्वांग-निरूपक आचार्य और उनकी रचनाएँ

काव्य का सर्वांग निरूपण करने वाले आचार्यों में से अनेक आचार्य संस्कृत साहित्यशास्त्र का भी पर्याप्त ज्ञान रखते थे और अपने समकालीन काव्य-साहित्य की प्रवृत्तियों को भी भली प्रकार समझते थे। इनमें अधिकांश ने काव्य-प्रकाश की निरूपण शैली अपना कर काव्य के सभी अंगों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। विशेषतः काव्य-लक्षण, काव्य-प्रयोजन, रस, भाव, ध्वनि, अलंकार, नायिका-

---

१. डा० नगेन्द्र : रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० १४८।

भेद, पदार्थ निर्णय (शब्द शक्ति), रीति, गुण, दोष, पिंगल आदि की सोदाहरण चर्चा की गई है।

साहित्यशास्त्र के सर्वांग-निरूपक आचर्यों में चिन्तामणि के 'कविकल्पतरु' और 'काव्यप्रकाश', कुलपति के 'रस-रहस्य', देव के 'भावविलास' और 'काव्य-रसायन' सुरतिमिश्र के 'काव्यसिद्धान्त', कुमारमणि के 'रसिकरसाल', श्रीपति के 'काव्यसरोज' तथा 'काव्यकल्पद्रुम', सोमनाथ के 'रसपीयूषनिधि', भिखारीदास के 'काव्यनिर्णय' तथा प्रतापसाहि के 'व्यंग्यार्थकौमुदी', 'काव्यविलास' तथा 'काव्य-विनोद' के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

शृंगार और नायिका-भेद के निरूपक आचार्य और उनकी रचनाएँ

शृंगार प्रधान साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों में रस के स्थायीभाव विभाव, अनुभाव, संचारी आदि के साथ शृंगार रस का सांगोपांग निरूपण किया गया है। शृंगार के भी संयोग और वियोग दोनों पक्षों का सम्यक् वर्गीकरण करके संयोग के अन्तर्गत नायक-नायिका-भेद, सखी, दूती, षड्ऋतु, अनुभाव, सात्विक भाव, नायिकाओं के स्वभावज अलंकार आदि का विस्तृत तथा वियोग के अन्तर्गत पूर्वराग, मान, प्रवास आदि विभिन्न भेदों, पूर्वराग के श्रवण, चित्र-दर्शन, प्रत्यक्ष दर्शन आदि साधनों तथा मानमोचन के अनेक उपायों का वर्णन आता है।

इस वर्ग की कृतियों में चिन्तामणि के 'शृंगारमंजरी', शंभुनाथ सुलंकी के 'नायिका-भेद', मतिराम के 'रसराज' और 'साहित्यसार', सुखदेव मिश्र के 'शृंगार लता', देव के 'सुखसागर तरंग' तथा 'जातिविलास' कालिदास के 'वधूविनोद', भिखारी दास के 'शृंगार निर्णय' का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त भी अनेक कवि हुए हैं। डा० भगीरथ मिश्र ने इस वर्ग में २८ कवि-आचार्यों की सूची दी है।[1]

केवल रस-निरूपण से सम्बद्ध ग्रन्थ

पूर्वोक्त दोनों वर्गों के कवि-आचार्यों में से अनेक आचार्यों ने नव रसों का भी विस्तृत निरूपण किया है। अधिकांश आचार्य शृंगार रस को ही सर्वश्रेष्ठ रस घोषित करते हैं। रस-निरूपण में संस्कृत-परंपरा का ही पालन किया गया है। फिर भी तोष के 'सुधानिधि', कुलपति के 'रस-रहस्य', सुखदेव मिश्र के 'रसार्णव', सुरति-मिश्र के 'रस-रत्नाकर' देव के 'भवानीविलास' तथा 'रसविलास' श्रीपति के 'रस-सागर' भिखारीदास के 'रस-सारांश' का अपना विशिष्ट स्थान है।

---

१. हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० ४४-४५।

केवल अलंकार-निरूपक ग्रन्थ

अलंकार-निरूपक आचार्यों ने अलंकार-लक्षण, वर्गीकरण, तथा अलंकार-भेदों को सोदाहरण समझाने का प्रयत्न किया है। उदाहरण स्वरचित तथा संस्कृत से अनुवादित भी प्रस्तुत किये गये हैं। कतिपय अलंकार-निरूपकों का प्रयोजन अलंकार-विवेचन नहीं था, केवल उदाहरण प्रस्तुत करते हुए अपनी कवित्वशक्ति का प्रदर्शन करना था। इनमें मतिराम के 'ललितललाम' भूषण के 'शिवराजभूषण', रघुनाथ के 'रसिक मोहन', दूलह के 'कविकुलकण्ठाभरण' ग्वाल के 'रसिकानंद' आदि की गणना की जा सकती है। इनके अतिरिक्त जसवन्तसिंह का 'भाषाभूषण' सुरतिमिश्र का 'अलंकारमाला', श्रीपति का 'अलंकारगंगा' रसिकसुमति का 'अलंकार चन्द्रोदय', शंभुनाथ मिश्र का 'अलंकारदीपक', पद्माकर का 'पद्माभरण' विशेष उल्लेखनीय हैं।

छंदःशास्त्र और नाट्यशास्त्र :

संस्कृत-छंदःशास्त्र का आधार ग्रहण करके रीतिकालीन कतिपय कवियों ने स्वतंत्र छंदःशास्त्र के ग्रन्थों की रचना की है। छंद-लक्षण परंपरागत हैं, परन्तु उदाहरणों में अभिनवता प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। चिन्तामणि ने 'पिंगल' मतिराम ने 'छन्द-सार' सुखदेव मिश्र ने 'वृत्तिविचार', 'छन्दविचार' और 'पिंगल', भिखारीदास ने 'छन्दार्णव', पद्माकर भट्ट ने 'छन्दमंजरी' तथा कलानिधि ने 'वृत्ति-चन्द्रिका' का निर्माण करके अपने छन्द-शास्त्र-ज्ञान का भी परिचय दिया है।

इस युग में साहित्यशास्त्र के एक अन्य अंग—'नाट्यशास्त्र' पर स्वतंत्र रचनाएँ उपलब्ध नहीं होतीं। स्वयं उत्तरध्वनिकालीन संस्कृत-साहित्यशास्त्र-कारों का ही ध्यान इस ओर अधिक आकृष्ट नहीं हुआ था। अतः रीतिकालीन परंपरानुयायी आचार्यों से इस प्रकार की आशा रखना व्यर्थ है, फिर भी इस युग में दो-एक रचनाएँ अब तक उपलब्ध हो सकी हैं। भरत और शार्ङ्गधर की कृतियों के आधार पर नारायण ने 'नाट्यदीपिका' की रचना की है। इसमें प्रश्नोत्तर पद्धति अपनाई गई है। इसमें मुख्यरूप से रस, अभिनय तथा गायन इन तीन तत्वों का विवरण प्रस्तुत किया गया है।[1]

रीतिकालीन साहित्यशास्त्र की देन

रीतिकाल के अधिकांश कवि-आचार्य संस्कृत-साहित्यशास्त्र को ब्रज-भाषा

---

१. हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास, पृ० १७१

में अवतरित करने का प्रयत्न करते रहे। इस भाषान्तरण में उनसे अनेक भूलें हुई। इसमें उनका निजी संस्कृत-भाषा-ज्ञान तथा समकालीन वातावरण भी कुछ सीमा तक उत्तरदायी है। फिर भी इन आचार्यों ने जिस मनोयोग से साहित्यशास्त्र के विभिन्न तत्वों—रस, नायिका-भेद, अलंकार, पिंगल—आदि के निरूपण, विवेचन, विश्लेषण तथा वर्गीकरण में परिश्रम किया है, वह आधुनिक हिन्दी साहित्य-शास्त्र के निरूपकों के लिए प्रेरक तत्व बना रहा।

रीतिकालीन अधिकांश कवि-आचार्यों की दृष्टि रस, नायिका-भेद तथा अलंकार-निरूपण पर विशेष रूप से केन्द्रित रही। प्रायः सब ने समवेत स्वर से श्रृंगार को रस-राज घोषित किया है। इसमें तत्कालीन युगधर्म तथा संस्कृत-साहित्य शास्त्र की परंपरा का प्रभाव भी उत्तरदायी है। आधुनिक युग के साहित्यशास्त्र में भी 'रस' तथा 'अलंकार' तत्वों का अपेक्षाकृत अधिक निरूपण-विवेचन हुआ है। यह रीतिकालीन साहित्यशास्त्र के प्रभाव का परिणाम है।

साहित्यशास्त्र और काव्य का मधुर समन्वय रीतिकाल की अपनी विशेषता है। देव, बिहारी, मतिराम, भूषण आदि कवियों की रचनाएँ इस तथ्य का सबल प्रमाण हैं। रस, नायिका-भेद तथा अलंकारों के वर्ग-उपवर्ग या भेद-प्रभेदों का निरूपण करना मात्र उनका लक्ष्य नहीं रहा, वरन् वे काव्य-सृजन की ओर भी सजग थे।

यद्यपि रीतिकालीन साहित्य-शास्त्र के निरूपकों की संख्या पर्याप्त है फिर भी चिन्तामणि, कुलपति मिश्र, देव, श्रीपति, सोमनाथ, भिखारीदास और प्रताप-साहि इन सात आचार्यों का साहित्यशास्त्र-विवेचन समृद्ध, प्रौढ़, शास्त्रानुकूल तथा तर्कपूर्ण भी है। हिन्दी-साहित्य-शास्त्र के विकास में इनका महत्वपूर्ण योगदान चिरस्मरणीय रहेगा।

आधुनिक साहित्यशास्त्र

(क) प्राचीन परंपरा के अनुयायी (१८९० ई० से १९५८ तक)

आधुनिक खड़ी बोली के साहित्य-शास्त्र के विकास का आरम्भिक चरण संस्कृत-साहित्य-शास्त्र और रीतिकालीन साहित्यशास्त्र की परंपरा से पूर्णतः प्रभावित रहा। साहित्यशास्त्र का सर्वांग-निरूपण प्राचीन शैलियों पर आधृत था जिसमें रस, नायिका-भेद, ध्वनि, अलंकार आदि के भेद-प्रभेदों का लक्षण-उदाहरण-पूर्वक विवेचन किया गया है।

कविराजा मुरारिदान : जसवन्त भूषण (१८९३ ई०)

राजाश्रय में लिखा जाने वाला खड़ी बोली गद्य का साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थ

'जसवन्त भूषण' है। इसमें काव्य-स्वरूप, शब्दशक्ति, गुण-रीति, अलंकार आदि का वर्णन है। इन्होंने अलंकारों का विस्तृत वर्णन विवेचन किया है, अपेक्षाकृत अन्य साहित्यांगों के। संस्कृत-साहित्यशास्त्र और रीतिकालीन साहित्यशास्त्र का इन्होंने समीचीन अध्ययन किया था, फलतः इन्हें पुरानी परिपाटी पर ग्रन्थ-रचना करना 'पिष्टपेषण' सा प्रतीत हो रहा था—"राज राजेश्वर की आज्ञानुसार मैंने नवीन ग्रन्थ निर्माण करने का आरम्भ करके विचार किया कि संस्कृत और भाषा (ब्रजभाषा) में अलंकारों के ग्रन्थ अनेक हैं, पिष्टपेषण तो व्यर्थ है, कोई नवीन युक्ति निकालनी चाहिए।" (प्रस्तावना)। अतः कविराजा ने नवीनता के नाम पर दो कार्य किये हैं, एक अलंकारों के नाम से ही उनके लक्षण निकालने का प्रयास और दूसरा अकारादि क्रम से अलंकारों का वर्गीकरण तथा उनका पारस्परिक सूक्ष्म-भेद-निरूपण। यद्यपि कविराजा की कृति हिन्दी-साहित्यशास्त्र के विकास में मौलिक देन नहीं, फिर भी इसमें अलंकारों के विषय में नवीन ढंग से चिन्तन और विवेचन की आकांक्षा प्रकट होती है।

महाराजा प्रताप नारायण सिंह : रसकुसुमाकर (१८९४ ई०)

'रसकुसुमाकर' रस विषयक सर्वांग-निरूपक ग्रन्थ है। यह पन्द्रह कुसुमों में विभक्त है। लक्षण गद्य में लिखे गये हैं और उदाहरण द्विजदेव, देव, पद्माकर, बेनीप्रवीन, लीलाधर, कमलापति, सम्भु आदि कवियों के प्रस्तुत किये गये हैं। प्रथम कुसुम में परिचय, उद्देश्य इत्यादि हैं, द्वितीय कुसुम में स्थायी भावों का, तृतीय में संचारी भावों का, चतुर्थ कुसुम में अनुभावों तथा पंचम में हावों का वर्णन है। छठे कुसुम में सखा, सखी, दूती का वर्णन, सातवें तथा आठवें में विभावों का, नवम में स्वकीया-भेदों का, दशम में परकीया और सामान्या नायिका का, तथा ग्यारहवें कुसुम में दसविध नायिकाओं का वर्णन है। बारहवें में नायिका-भेद, तेरहवें कुसुम में श्रृंगाररस का निरूपण और चौदहवें में वियोग श्रृंगार की दस दशाओं का वर्णन किया गया है। पन्द्रहवाँ कुसुम श्रृंगार इतर सभी रसों के निरूपण से सम्बन्धित है।

इस ग्रन्थ की विशेषता साहित्यशास्त्र के नवीन सिद्धान्तों के उद्घाटन में नहीं, अपितु लक्षणों के अनुरूप सुन्दर उदाहरणों के चयन और भावों तथा संचारी आदि के अनुकूल भावपूर्ण चित्रों के प्रकाशन में है।

जगन्नाथ प्रसाद भानु : काव्य प्रभाकर (१९१० ई०)

जगन्नाथ प्रसाद ने साहित्यशास्त्र के विभिन्न अंगों पर अनेक ग्रन्थ लिखे जिनमें 'हिन्दी काव्यालंकार', 'अलंकार प्रश्नोत्तरी', 'रस रत्नाकर', 'नायिका-भेद शंका-

बली', 'छन्द प्रभाकर' आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन्होंने साहित्यशास्त्र के सभी अंगों पर १२ मयूखों में 'काव्य प्रभाकर' नाम का ७८६ पृष्ठों में एक विशाल ग्रन्थ लिखा। प्रथम मयूख में छन्दों का विस्तृत वर्णन है, द्वितीय में काव्य-प्रयोजन, काव्य-कारण, काव्य-लक्षण, शब्दशक्ति, काव्य-भेद आदि, तृतीय में नायक-नायिका-भेद, चतुर्थ में उद्दीपन विभाव, पंचम में अनुभावों और १२ हावों का वर्णन है। छठे में संचारी, सातवें में स्थायी भावों, अष्टम में रसों और नवम में अलंकारों का विस्तृत वर्णन है। दशम मयूख में शब्ददोष, वाक्यदोष, अर्थदोष, और रसदोषों के भेदों का निरूपण तथा एकादश में काव्य-निर्णय और द्वादश में कोष और लोकोक्तिसंग्रह है।

आधुनिक हिन्दी-साहित्यशास्त्र के विकास में भानु जी के 'काव्य प्रभाकर' का महत्वपूर्ण स्थान है। इनसे पूर्व इतना विस्तृत और सर्वांगपूर्ण ग्रन्थ किसी ने नहीं लिखा। इन्होंने काव्य और साहित्य का रूढ़िगत प्रयोग समानार्थी बताया है और अपने ग्रन्थ में साहित्य शब्द का प्रयोग 'काव्य' के अर्थ में ही किया है। अँग्रेजी भाषा और साहित्य से परिचित होकर हिन्दी में साहित्यशास्त्र पर लिखने वाले सर्वप्रथम लेखक हैं। इन्होंने ग्रन्थारम्भ में प्रस्तावना अँग्रेजी में लिखी है और २८ साहित्यशास्त्रीय पारिभाषिक शब्दों के अँग्रेजी पर्याय भी दिये हैं।

भगवानदीन : अलंकार मंजूषा (१९१६ ई०)

'अलंकार मंजूषा' साहित्यशास्त्र के एक अंग–अलंकार–से सम्बन्धित है। इस ग्रन्थ की रचना विद्यार्थियों की अध्ययन-सुविधा को ध्यान में रखकर की गई है। यह ग्रन्थ चार पटलों में विभक्त है। प्रथम पटल शब्दालंकारों से संबन्धित है, इसमें अलंकार की परिभाषा, अलंकार का स्थान, अलंकारों के प्रकार तथा १० अलंकारों का वर्णन है। दूसरा अर्थालंकार पटल है, जिसमें १०८ अर्थालंकारों का विवेचन है। तृतीय पटल में उभयालंकार 'संकर' और 'संसृष्टि' का तथा चतुर्थ में अलंकार-दोषों का वर्णन है।

'अलंकार मंजूषा' में गद्य और पद्य दोनों का व्यवहार हुआ है। अलंकारों के लक्षण दोहों में हैं और उनके उदाहरणों में विभिन्न कवियों के रोचक पद्य दिए गये हैं। उदाहरणों में विविधता है। अलंकारों के पारस्परिक सूक्ष्म अंतर को समझाने का प्रयत्न किया गया है। हिन्दी-साहित्य-शास्त्र के एक अंग––अलंकारों––के अध्ययन को कुछ व्यापक दृष्टि प्रदान करने के लिए फारसी, अरबी और उर्दू के समान अलंकारों के नाम दिये गये हैं। कुछ एक अँग्रेजी नाम भी अलंकारों के साथ दिये गये हैं। अलंकारों के क्षेत्र में कोई मौलिक योगदान नहीं, फिर भी अलंकारों को सरलतापूर्वक समझाने का प्रयत्न स्तुत्य है।

सीताराम शास्त्री : साहित्य सिद्धान्त (१९२३ ई०)

इसमें संस्कृत-साहित्यशास्त्र के सिद्धान्तों को हिन्दी भाषा में समझाया गया है। यह ग्रन्थ तीन प्रकरणों में विभक्त है—

१. प्रथम 'उपोद्घात'—इसमें काव्य, शब्द, अर्थ, वृत्ति, गुण, दोष, अलंकार, रस, भाव, स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव, संचारीभाव इन तेरह पदार्थों का परिचय दिया गया है।

२. द्वितीय 'स्वरूप निर्णय'—इसमें उत्तम, मध्यम और अधम काव्यों के स्वरूप का निर्धारण किया गया है। उत्तम काव्य ध्वनिप्रधान को, मध्यम गुणीभूत व्यंग्य को और अधम काव्य ध्वनिहीन को माना गया है।

३. तृतीय 'व्यंजना स्थापन प्रकरण'—व्यंजना के विषय में संस्कृत-साहित्यशास्त्र में प्रचलित शास्त्रार्थ को हिन्दी में उतारा गया है और उसकी सर्वोत्कृष्टता सिद्ध की गई है।

हिन्दी-साहित्य-शास्त्र के विकास में इस ग्रन्थ का महत्वपूर्ण स्थान नहीं, केवल हिन्दी के माध्यम से संस्कृत-साहित्यशास्त्र के सिद्धान्तों को जानने में इससे सहायता मिल सकती है।

इसी प्रकार बाबूराम बित्थरिया के 'नवरस' ग्रन्थ में संस्कृत के परंपरागत 'नौ' रसों को हिन्दी के उदाहरणों से स्पष्ट किया गया है। इसमें नवीन चिन्तन का अभाव है।

कन्हैयालाल पोद्दार : काव्यकल्पद्रुम (१९२६ ई०)

संस्कृत-साहित्यशास्त्र की परंपरा को हिन्दी में अविकल रूप से अवतरित करने का महत्वपूर्ण प्रयत्न कन्हैयालाल पोद्दार ने 'काव्यकल्पद्रुम' लिख कर किया है। इसके दो भाग हैं : एक 'रसमंजरी' और दूसरा 'अलंकार मंजरी'। आचार्य मम्मट का 'काव्य प्रकाश' इनके विवेचन का मूल आधारग्रन्थ है, फिर भी इस ग्रन्थ की रचना में अनेक संस्कृत-साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों के सम्यक् अध्ययन की छाप सर्वत्र मिलती है। 'रसमंजरी' के प्रथम स्तबक में काव्य का लक्षण, काव्य के भेद आदि का वर्णन है। द्वितीय स्तबक में शब्द, अर्थ, अभिधा और लक्षणा शक्तियों का तथा तृतीय स्तबक में व्यंजना का सविस्तार निरूपण है। चतुर्थ स्तबक में ध्वनि-भेदों का वर्णन है और इसी के अन्तर्गत समस्त रस-प्रपंच निरूपित है। रस-विवेचन में रस-निष्पत्ति के चारों सिद्धान्तों—आरोप, अनुमान, भुक्ति और अभिव्यक्ति को समझाने का प्रयत्न किया गया है। रसों के साथ भावोदय, भावाभास, भावशबलता, भाव सन्धि आदि का भी सोदाहरण निरूपण है। ध्वनि और उसके भेद-प्रभेदों के

पश्चात् गुण और दोषों का भी वर्णन किया गया है। लेखक ने मम्मट के समन्वय-वादी निरूपण का ही अधिकांशतः अनुसरण किया है।

काव्यकल्पद्रुम का दूसरा भाग 'अलंकार मंजरी' है, इसमें समस्त अलंकारों का विवेचन है। एक स्तबक में शब्दालंकारों--वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष, पुनरुक्तवदाभास तथा चित्र का वर्णन है तो दूसरे में १०० अर्थालंकारों का भेद-प्रभेदों के साथ सविस्तर विवेचन है। तीसरे अंतिम स्तबक में संसृष्टि-संकर का विवेचन कर शब्दालंकार और अर्थालंकार का पृथक्करण तथा अलंकार दोषों का निरूपण है। इस प्रकार ध्वनि-प्रपंच व अलंकार-विकास के साथ साहित्य-शास्त्र का परंपरागत सर्वांगीण विवेचन मिलता है। आधुनिक साहित्यशास्त्र की विकास-परंपरा में प्राचीन परिपाटी के आचार्यों में प्रथम स्थान कन्हैयालाल पोद्दार को दिया जा सकता है।

अर्जुनदास केडिया : भारतीभूषण (१९३० ई०)

'भारतीभूषण' में साहित्यशास्त्र का सर्वांगीण विवेचन नहीं है। यह विशुद्ध आलंकारिक ग्रन्थ है। शब्दालंकारों में अनुप्रास (छेक तथा वृत्ति), यमक, पुन-रुक्तवदाभास, वक्रोक्ति, शब्दश्लेष, वीप्सा और चित्र आठ अलंकारों का विवेचन है। अर्थालंकारों में १०० अर्थालंकारों के भेद-प्रभेदों को पारस्परिक सूक्ष्म अंतर के साथ विस्तारपूर्वक समझाया गया है। अलंकारों में मूल अलंकारों के लक्षण न देकर उनके भेदों के लक्षण गद्य में दिये हैं और उदाहरणों में संस्कृत के अनुवाद प्रस्तुत न कर विभिन्न कवियों की ३७५ कविताएँ उदाहरण स्वरूप उद्धृत की हैं। साहित्यशास्त्र के अलंकारसिद्धांत को हिन्दी-कवियों की रचनाओं पर घटाने और अलंकारों के सूक्ष्म भेदों को सरलतापूर्वक समझाने का प्रयत्न प्रशंसनीय है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय : 'रसकलस' (१९३१ ई०)

भगवानदीन और अर्जुनदास केडिया ने विशुद्ध आलंकारिक ग्रन्थ लिखे, हरिऔध जी ने 'रसकलस' लिख कर साहित्यशास्त्र के रस-सिद्धान्त का सविस्तार निरूपण किया। इन्होंने परंपरागत रस-तालिका में 'वात्सल्य रस' को महत्वपूर्ण स्थान देने के लिए भूमिका में विस्तृत लेख लिखा है। इसके अतिरिक्त इन्होंने रस-निर्देश, रस-साधन, रस-उत्पत्ति, इतिहास, रसास्वादन के प्रकार, रस की आनन्दा-नुभूति, रस और ब्रह्मानंद, रसाभास, रस-दोष, शृंगार आदि का सविस्तार विवेचन किया है। अपने इस विवेचन में प्राचीन संस्कृत-साहित्यशास्त्र के आचार्यों में मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि आचार्यों के मत प्रस्तुत किये गये हैं। वात्सल्य

रस की पुष्टि में अंग्रेजी-कविता का उदाहरण भी उद्धृत है। हरिऔध जी को संस्कृत, फारसी, उर्दू और अंग्रेज़ी का ज्ञान था, इन्होंने विषय-वस्तु के विवेचन में इन भाषाओं के उद्धरणों का समुचित उपयोग किया है। लक्षण हिन्दी गद्य में हैं और उदाहरण स्वरचित ब्रज-भाषा पद्य में। 'रसकलस' में महत्वपूर्ण विषय जिनका लेखक ने अधिक विस्तार-विवेचन किया है, वे हैं शृंगार, नायिका-भेद, और वात्सल्य रस। इन्होंने रसों में परंपरागत शृंगाररस को ही 'रसराज' माना है। नायिकाभेद में वर्गीकरण कुछ परंपरागत है और कुछ नवीन। नवीन भेदों में प्रकृति सम्बन्धी नायिका-भेद है, जिसके तीन वर्ग हैं—उत्तमा, मध्यमा और अधमा। उत्तमा के पतिप्रेमिका, परिवारप्रेमिका, जातिप्रेमिका, देश प्रेमिका, जन्मभूमि प्रेमिका, निजतानुरागिनी, लोकसेविका, धर्मप्रेमिका आदि भेद किये गये हैं। रससिद्धान्त में मौलिकता की दृष्टि से विशेष योगदान नहीं, विषय के सरलता और स्पष्टतापूर्वक प्रतिपादन में इनकी अपनी विशेषता लक्षित होतीहै।

बिहारी लाल भट्ट : साहित्यसागर (१९३७ ई०)

बिहारीलाल भट्ट ने राजाश्रय में ६०० पृष्ठों का विशाल ग्रन्थ 'साहित्य सागर' लिखा। इसमें साहित्य-शास्त्र के सिद्धान्तों का सर्वांग निरूपण है। 'साहित्यसागर' १५ तरंगों में विभक्त है।

इस ग्रन्थ में छंद, रस, अलंकार, रीति-गुण आदि साहित्य-तत्वों का स्वरूप-निरूपण, वर्गीकरण आदि नितांत परंपराभुक्त है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में लक्षण भी सर्वत्र पद्य में दिये गये हैं। रीतिकालीन साहित्य-शास्त्र के आचार्यों की पद्धति अपनाई गई है। पन्द्रह तरंगों में प्रथम, चतुर्दश और पंचदश तरंग का साहित्यशास्त्र के सिद्धान्तों से कोई सम्बन्ध नहीं। लक्षण और उदाहरणों में नवीनता लाने का प्रयत्न किया गया है। भट्ट जी कवि हैं आचार्य नहीं, इनमें रीतिकालीन प्रमुख आचार्यों की-सी विवेचन प्रतिभा नहीं है। इन्होंने अपने ग्रन्थ की विशेषताओं का उल्लेख संक्षेप में इस प्रकार किया है—१. काव्य का सर्वांग विवेचन, २. लक्षणोदाहरणों में नवीनता, ३. लक्षणोदाहरण सरलप्रसादपूर्ण तथा छन्दोबद्ध होने से सुकंठ्य, ४. नायिका-भेद का क्रम नवीन और नायिकाभेद का अध्यात्मरूप। हिन्दी-साहित्यशास्त्र के विकास में शास्त्रीय सिद्धान्तों का सरल निरूपण लेखक की विशेषता है।

श्री पद्मसिंह शर्मा ने 'बिहारी सतसई की भूमिका' में तथा श्री कृष्णबिहारी मिश्र ने 'मतिराम ग्रन्थावली की भूमिका' और 'नव रस तरंग भूमिका' में परंपरागत काव्य-तत्वों का संक्षिप्त विवेचन किया है। इन दोनों ने व्यावहारिक समीक्षा में प्राचीन काव्य-सिद्धान्तों की उपयोगिता को ही एक प्रकार से प्रमाणित

कर दिखाया है । पद्मसिंह शर्मा और श्री कृष्णबिहारी मिश्र दोनों ही लेखकों ने काव्य में श्रृंगार रस के महत्व का व्यापक मूल्यांकन किया है। इन दोनों ने सामान्यतः प्राचीन काव्य-शास्त्रीय मान्यताओं का अत्यंत रोचक एवं प्रभावोत्पादक रूप में प्रतिपादन किया है ।

शुकदेवबिहारी मिश्र
प्रताप नारायणमिश्र
(मिश्र बन्धु) } **साहित्य पारिजात (१९४० ई०)**

'साहित्य पारिजात' के प्रथम खण्ड में काव्य या साहित्य की परिभाषा, काव्य के तीन भेद—ध्वनि काव्य, गुणीभूत व्यंग्य तथा अवर, पदार्थ-निर्णय, शब्द, शब्दशक्ति, अर्थ तथा अंत में अलंकारों का विस्तारपूर्वक विवेचन है। अलंकारों के तीन भेद—शब्दालंकार, अर्थालंकार और मिश्रालंकार हैं। संस्कृत साहित्यशास्त्र और रीतिकालीन साहित्यशास्त्र का सम्यक् अध्ययन करके खड़ी बोली गद्य में ही काव्यांगों तथा अलंकारों के लक्षण दिये गये हैं और उनकी व्याख्याएँ भी सविस्तर और सरल हैं। संस्कृत और हिन्दी के आचार्यों की मान्यताओं का स्थान-स्थान पर पृथक् उल्लेख किया गया है। अलंकारों में १२४ अलंकारों का विशद, तर्कपूर्ण, सोदाहरण विवेचन है ।

रामदहिन मिश्र : काव्यदर्पण (१९४७ ई०)

संस्कृत और रीतिकालीन शैली पर रचा गया साहित्य-शास्त्र का अंतिम ग्रन्थ है—'काव्यदर्पण'। यह १२ प्रकाशों में विभक्त है। प्रथम प्रकाश के विवेच्य विषय हैं—साहित्य, काव्य तथा शास्त्र शब्द की व्याख्या, काव्य के फल, काव्य के कारण, काव्य क्या है, काव्य-लक्षण-परीक्षण, कवि, कविता और रसिक। द्वितीय में 'अर्थ'-परिचय है, जिसके अन्तर्गत शब्द, शब्द और अर्थ, शब्द शक्तियों का निरूपण है । तृतीय प्रकाश में 'रस' विवेचन है—रस रूप की व्याख्या, रस के उपकरण, भाव, रस विषयक प्रश्न, रस और मनोविज्ञान, रस-संख्या, रस-सामग्री विचार आदि। चतुर्थ प्रकाश में ११ रसों की सोदाहरण व्याख्या है। पंचम प्रकाश में रसाभास आदि और षष्ठ प्रकाश में ध्वनि, सप्तम में काव्य के रूप, तथा अष्टम में दोषों का निरूपण है। नवम और दशम प्रकाश क्रमशः 'गुण' और 'रीति' से सम्बन्धित हैं । शेष एकादश प्रकाश में 'अलंकार' का सामान्य परिचय व विवेचन तथा द्वादश में ७ शब्दालंकारों और ७७ अर्थालंकारों का भेद-प्रभेद के साथ सोदाहरण निरूपण है। अलंकारों में 'प्रश्न' नामक अलंकार की नवीन उद्भावना की गई है। संभवतः मम्मट के 'उत्तर' अलंकार को पढ़

कर 'प्रश्न' की नूतनोद्भावना का मिश्र जी को ध्यान आ गया हो।[1] 'काव्य दर्पण' में मिश्र जी के शब्दों में 'काव्यशास्त्र की सारी बातें नवीन विचारों और नवीन उदाहरणों के साथ' प्रस्तुत की गई हैं।[2] इस ग्रन्थ में पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के सिद्धान्तों का सामान्य उल्लेख मिलता है। लेखक की आरम्भ से ही धारणा रही है कि 'पाश्चात्य विचार या सिद्धान्त चक्कर काट कर भारतीय सिद्धान्तों पर ही आ जाते हैं। अतः पाश्चात्य सिद्धान्त केवल तुलना की दृष्टि से ही इस पुस्तक में आये हैं।' लेखक ने मराठी और बँगला में 'साहित्य-शास्त्र' विषय पर प्रस्तुत नवीन विचारों का अपने विषय के विवेचन-वर्गीकरण में स्थान-स्थान पर समुचित उपयोग किया है। इससे इनकी गुण-ग्राहिता का भी परिचय मिलता है।

'काव्यदर्पण' से पूर्व श्री रामदहिन मिश्र ने 'काव्य विमर्श', 'काव्यालोक' तथा 'काव्य में अप्रस्तुत योजना' शीर्षक तीन ग्रन्थों का निर्माण भी किया है। इनमें काव्यशास्त्र के विभिन्न अंगों का विशेषतः संस्कृत-आचार्यों की धारणाओं के अनुसार व्याख्यात्मक निरूपण मिलता है। इन्होंने विवेच्य विषय को समझाने के लिए नवीनतम उदाहरणों को प्रस्तुत करके आधुनिक काव्यों में भी उन प्राचीन काव्य-तत्वों की उपलब्धि को प्रमाणित करने का सफल प्रयत्न किया है।

परंपरानुयायी लेखकों की देन

आधुनिक युग के परंपरानुयायी लेखकों पर रीतिकालीन साहित्यशास्त्र का प्रभाव रहा है। फिर भी इनमें प्रायः सभी ने संस्कृत-साहित्यशास्त्र के मूल ग्रन्थों का भी पर्याप्त अध्ययन किया है। रीतिकाल के समान ही इन लेखकों को सामान्यतः तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :—१. साहित्यशास्त्र के सर्वांग-निरूपक, २. केवल रस-निरूपक और ३. केवल अलंकार निरूपक। सर्वांग-निरूपकों में जगन्नाथ प्रसाद भानु, सीताराम शास्त्री, कन्हैया-लाल पोद्दार, बिहारीलाल भट्ट तथा रामदहिन मिश्र का नाम विशेष उल्लेखनीय है। केवल रस-तत्व के निरूपकों में महाराजा प्रताप नारायण सिंह तथा अयोध्या-सिंह उपाध्याय और केवल अलंकार-तत्त्व निरूपकों में मुरारिदान, भगवानदीन, अर्जुनदास केडिया और मिश्रबन्धुओं के नाम उल्लेखनीय हैं।

इन लेखकों के समक्ष संस्कृत-साहित्यशास्त्र की तथा रीतिकालीन साहित्य-

---

१. काव्यदर्पण, भूमिका, ग, तथा पृ० ४१९।

२. काव्यदर्पण, भूमिका, क

शास्त्र की समृद्ध परंपरा थी। इन्होंने उसका समुचित उपयोग करने का प्रयत्न किया है। इनमें परंपरानुयायित्व के निम्न 'गुण' या लक्षण पाये जाते हैं :

रीतिकालीन अधिकांश कवि-आचार्यों की भाँति इन लेखकों ने विशेषतः सर्वत्र लक्षण-उदाहरणात्मक निरूपण-शैली अपनाई है।

इन्होंने रस, अलंकार, रीति-गुण आदि साहित्य-तत्वों के लक्षण, स्वरूप, भेद, वर्गीकरण आदि के निरूपण में अल्परूप में रीतिकालीन आचार्यों के तथा विशेष रूप से संस्कृत-आचार्यों के प्रतिपादन का ही आधार ग्रहण किया है।

उदाहरणों में कतिपय ने ब्रज-भाषा के स्वरचित उदाहरण दिये हैं अथवा ब्रजभाषा के ही अन्य कवियों के उदाहरणों का अनुवाद किया है तो कतिपय ने खड़ी बोली के आधुनिक काव्यों से भी उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।

साहित्य-सिद्धान्तों के निरूपण में प्रायः सभी ने सुगमता और सरलता का पूरा-पूरा ध्यान रखा है, क्योंकि अधिकांश लेखकों के सामने प्रौढ़ पाठकों की अपेक्षा शिक्षार्थी या विद्यार्थी-वर्ग रहा है। इस प्रकार इन लेखकों का परंपरा-नुसरण असंदिग्ध है।

रीतिकाल तथा संस्कृत की परंपरा का अनुगमन करते हुए भी इन लेखकों पर आधुनिक दृष्टिकोण तथा चिन्तन का स्वल्प प्रभाव स्पष्टतः लक्षित होता है, वह इस प्रकार है—

अलंकार के क्षेत्र में :

इन परंपरानुयायी लेखकों ने अलंकारों के विषय में यथास्थान स्वतंत्र विचार भी अभिव्यक्त किये हैं।[१] कतिपय ने नये अलंकारों के आविष्कार का प्रयत्न किया है तो कतिपय ने परंपरागत अलंकारों में परस्पर अन्तर्भाव दिखाया है। अनेक अलंकारों के स्वतंत्र अस्तित्व का भी कतिपय ने प्रत्याख्यान किया है।[२] फारसी, उर्दू, अरबी और अंग्रेजी के अलंकारों का भी अनेक लेखकों ने यथा-स्थान संकेत दे दिया है।[३]

रस के क्षेत्र में :

परंपरागत नौ रसों का अधिकांश ने निरूपण किया है। परन्तु वात्सल्य

---

१. मुरारिदान, तथा रामदहिन मिश्र।

२. मुरारिदान, मिश्रबन्धु आदि।

३. भगवानदीन, जगन्नाथ प्रसाद भानु, रामदहिन मिश्र आदि।

तथा भक्तिरस के स्वतंत्र अस्तित्व का भी विशेष प्रतिपादन किया गया है।[1] नायिका-भेद के अन्तर्गत कतिपय नये भेद भी सुझाये गये हैं। जन्मभूमि-प्रेमिका, देशप्रेमिका, लोकसेविका, धर्मसेविका आदि अनेक नवीन भेदों के अतिरिक्त नायिका-भेद का 'अध्यात्मरूप' भी दिखाया गया है।[2]

संस्कृत के किसी एक ही आचार्य के दृष्टिकोण को एकांततः अपनाने की अपेक्षा अधिकांश लेखकों ने अनेक संस्कृत-आचार्यों की विभिन्न धारणाओं का भी उल्लेख किया है।

इन परंपरानुयायी लेखकों में से कतिपय अंग्रेजी-भाषा-साहित्य से भी परिचित हैं। अतः इन्होंने अपने निरूपण में आधुनिकता का भी किंचित् स्पर्श देने के लिए पाश्चात्यों की धारणाओं का कहीं-कहीं उल्लेख कर दिया है।

(ख) नवीन दृष्टिकोण से साहित्यशास्त्र के विवेचक

इस युग में भारतीय साहित्यशास्त्र के प्राचीन रस, अलंकार, ध्वनि, रीति, बक्रोक्ति आदि सिद्धान्तों का तथा उसके विभिन्न रूपों का पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के प्रकाश में तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। साहित्यशास्त्र के सैद्धान्तिक निरूपकों में कुछ समालोचक-साहित्यकार हैं तो दूसरे कवि। इस युग का साहित्य-शास्त्रीय सैद्धान्तिक निरूपण व्यापक, तर्कपूर्ण और युग-धर्म से पूर्णतः प्रभावित रहा है। नवीन दृष्टिकोण से साहित्यशास्त्र का समीक्षण, विवेचन व निरूपण करनेवाले प्रमुख विद्वानों और उनकी कृतियों का संक्षिप्त पर्यालोचन किया जाता है।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी : रसज्ञरंजन, आलोचनांजलि, साहित्यालाप, साहित्यसंदर्भ।

इन्होंने प्राचीन साहित्यशास्त्र के समस्त सिद्धान्तों को रीतिकालीन कवियों की भाँति वर्तमान खड़ी बोली में अवतरित करने की अपेक्षा युग-धर्म की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर साहित्य-सिद्धान्तों का कुछ व्यापक रूप में निरूपण किया है। द्विवेदी जी से पूर्व साहित्यशास्त्रीय सिद्धान्तों में काव्य से सम्बन्धित रस, नायिका-भेद, अलंकार आदि परंपरागत सिद्धान्तों का ही निरूपण होता था। इन्होंने उस प्रकार के लक्षण-ग्रन्थों की वृद्धि न करके 'काव्य' की अपेक्षा साहित्य के व्यापक रूप को लिया और साहित्य-समीक्षण के प्राचीन और अर्वाचीन सिद्धान्तों में निजी आदर्शवादी दृष्टिकोण से सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया।

---

१. अयोध्यासिंह उपाध्याय, कन्हैयालाल पोद्दार (संस्कृत साहित्य का इतिहास)।
२. अयोध्यासिंह उपाध्याय तथा बिहारीलाल भट्ट।

साहित्यशास्त्र की दृष्टि से इनके प्रमुख विवेच्य विषय थे—कविता की भाषा, कविता और छन्द, कविता का विषय, साहित्य की महत्ता आदि। द्विवेदी जी ने साहित्यजगत् में सिद्धान्त और व्यवहार के सामंजस्य का पूर्ण प्रयत्न किया है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : **चिन्तामणि (दो भाग), रसमीमांसा, जायसी-ग्रन्थावली, भ्रमरगीतसार, गोस्वामी तुलसीदास।**

हिन्दी-साहित्यशास्त्र के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक विवेचन में आचार्य शुक्ल का स्थान अन्यतम है। चिन्तामणि के प्रथम भाग में 'भाव और मनोविकार' एवं तत्सम्बन्धी उत्साह, श्रद्धा-भक्ति, करुणा, क्रोध इत्यादि विषयों पर १० निबन्धों में विवेचन है। व्यावहारिक समालोचना के 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' 'तुलसी का भक्ति मार्ग' 'मानस की धर्मभूमि' शीर्षक निबन्ध हैं। साहित्यशास्त्र के सैद्धान्तिक विवेचन में 'कविता क्या है', 'काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था', 'साधा- रणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद' तथा 'रसात्मक बोध के विविधरूप' लेख अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

चिन्तामणि के दूसरे भाग में तीन बड़े-बड़े निबन्धों का संग्रह है, वे हैं—'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' 'काव्य में रहस्यवाद', 'काव्य में अभिव्यंजनावाद'। 'काव्य में रहस्यवाद' तथा 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' निबन्धों में शुक्ल जी ने भारतीय साहित्य-सिद्धान्तों व कवियों के साथ पश्चिम के काव्य-सिद्धान्तों का भी विवेचन किया है। इन्होंने हिन्दी-साहित्य के इतिहास में छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद आदि का ऐतिहासिक और सैद्धान्तिक दृष्टि से विवेचन किया है।

रसमीमांसा में शुक्ल जी के काव्य-शास्त्र विषयक निबन्धों का संकलन है। इसमें विशेषतः 'विभाव', 'भाव' तथा 'शब्दशक्ति' पर शुक्ल जी का अध्ययन उनकी गहन चिंतन-शक्ति का द्योतक है। इस ग्रन्थ में शुक्ल जी की काव्य-मीमांसा संबन्धी विचारधारा का, जो रसोन्मुखी है, पूरा-पूरा पता चल जाता है और उस मानदण्ड की भी उपलब्धि हो जाती है, जिसे लेकर वे साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में उतरे थे।[1]

जायसीग्रन्थावली, भ्रमरगीतसार और गोस्वामी तुलसीदास में प्रस्तुत विषय हैं—जायसी, सूरदास और तुलसीदास के काव्य-सौन्दर्य का उद्घाटन और उनका सर्वांगीण समालोचन। जायसी ग्रन्थावली तथा भ्रमर गीतसार की भूमिकाओं में और आनुषंगिक रूप से गोस्वामी तुलसीदास में साहित्य-शास्त्र के प्राचीन अर्वा-

---

१. रसमीमांसा (भूमिका), विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० ५

चीन, भारतीय और पाश्चात्य सिद्धान्तों का भी यथास्थान तर्कपूर्ण विवेचन हुआ है।

आचार्य शुक्ल भारतीय साहित्यशास्त्र के रस-सिद्धान्त के प्रबल समर्थक थे और उनका विचार था कि "हमें रस-निरूपण पद्धति का आधुनिक मनोविज्ञान आदि की सहायता से खूब प्रचार और संस्कार करना पड़ेगा। इस पद्धति की नींव बहुत दूर तक डाली गयी है, पर इनके ढाँचों का नए-नए अनुभावों के अनुसार, अनेक दिशाओं में फैलाव बहुत जरूरी है। योरोप के साहित्यिक-वादों और प्रवादों के सम्बन्ध में यह अच्छी तरह समझ रखना चाहिए कि वे परिवर्तन (Reaction) की झोंक में उठते हैं और किसी ओर हद के बाहर बढ़ते चले जाते हैं। उनमें सत्य की मात्रा कुछ-न-कुछ रहती अवश्य है, पर किसी हद तक हमें देखना चारों ओर चाहिए, पर सब देखी हुई बातों का सामंजस्य बुद्धि से समन्वय करना चाहिए।"[१] वस्तुतः शुक्ल जी का आधुनिक साहित्यशास्त्र की विकास-परंपरा में अप्रतिम स्थान है। वे एक प्रकाश-स्तम्भ के समान आविर्भूत हुए। उन्होंने भारतीय साहित्यशास्त्र के साथ पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र पर भी प्रकाश डाला और भावी साहित्य-शास्त्रकारों को विशाल दृष्टिकोण अपनाने का मार्ग-दर्शन किया। इनकी धारणा में हमारे यहाँ 'शब्द शक्ति और रस पद्धति का निरूपण तो अत्यंत गंभीर है। इसकी तह में एक ऐसे स्वतंत्र और विशाल भारतीय समीक्षा-भवन के निर्माण की संभावना छिपी हुई है जिसके भीतर लाकर हम सारे संसार के सारे साहित्य की आलोचना अपने ढंग पर कर सकते हैं।'[२]

आचार्य श्यामसुंदरदास : साहित्यालोचन, रूपकरहस्य

हिन्दी पाठकों के समक्ष भारतीय साहित्यशास्त्र और पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र के सिद्धान्तों, साहित्यांगों एवं उनके रूपों का सविस्तार निरूपण और विवेचन प्रस्तुत करने वाले सर्वप्रथम आचार्य हैं श्यामसुन्दरदास। इनके 'साहित्यालोचन' में छः अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में कला का विवेचन है, जिसमें कलाओं का वर्गीकरण, उपयोगी और ललित कलाएँ, उनका पारस्परिक सम्बन्ध तथा काव्यकला का महत्व निरूपित है। द्वितीय अध्याय में 'साहित्य का विवेचन' प्रस्तुत किया गया है, जिसमें उसके उद्देश्य, साहित्यकार के व्यक्तित्व, साहित्य पर विदेशी प्रभाव आदि का उल्लेख है। तीसरा अध्याय काव्य-विवेचन से

---

१. चिन्तामणि द्वि० भाग, पृ० १७२

२. चिन्तामणि द्वि० भाग, पृ० १०३

सम्बन्धित है। इसमें काव्य के उपकरणों, सौंदर्य, अलंकार, प्रतिभा, रचनाशैली आदि का निरूपण किया गया है । चौथे अध्याय में कविता का विवेचन है । इसमें गद्य और पद्य, भावपक्ष, कलापक्ष भारतीय कविता का स्वरूप, साहित्यशास्त्र और छन्द, कविकल्पना, कविता के विभाग आदि विषयों का सोदाहरण विवेचन आ गया है। पाँचवाँ अध्याय 'गद्य विवेचन' का है, इसके दो वर्ग हैं, एक दृश्यकाव्य और दूसरा श्रव्यकाव्य । दृश्यकाव्य के अन्तर्गत रूपक, उसके भेद, नाटकीय तत्व, संकलन-त्रय, अर्थ-प्रकृति और संधियों का विवेचन है। श्रव्यकाव्य में उपन्यास, उसका कोटि क्रम, उपन्यास के तत्व आदि के पश्चात् आख्यायिका, निबन्ध, मुक्तक काव्य, साहित्य-समालोचना आदि के सिद्धान्तों व विशेषताओं का विवेचनात्मक निरूपण है । संपूर्ण छठा अध्याय 'रस और शैली' के विवेचन से सम्बन्धित है ।

आचार्य श्यामसुंदरदास का साहित्यशास्त्र के एक अंग नाटक पर सैद्धान्तिक विवेचन से पूर्ण दूसरा ग्रन्थ है—'रूपक रहस्य', इसमें नौ अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में भारतीय नाट्यकला और पाश्चात्य नाट्यकला के विकास का संक्षिप्त इतिहास है । भारत-इतर नाटकों में यूनान, रोम, इंग्लैंड, मिश्र, चीन आदि देशों के नाटकों के ऐतिहासिक विकास का संक्षिप्त निरूपण है। शेष आठ अध्यायों में भारतीय नाट्यशास्त्र के विविध तत्वों का सांगोपांग विवेचन है, जिनमें क्रमशः 'रूपक का परिचय', 'वस्तुविन्यास', पात्रों का प्रयोग, नाट्य-वृत्तियाँ, 'रूपक की रूप रचना', 'रूपक और उपरूपक', 'रसों का रहस्य' भारतीय रंगशाला या प्रेक्षागृह आदि का वर्णन-विवेचन विशुद्ध भारतीय नाट्यशास्त्र के आधार पर किया गया है ।

साहित्यशास्त्र के सैद्धान्तिक निरूपण में श्यामसुंदरदास जी ने समन्वयात्मक और व्यापक दृष्टिकोण अपनाया है । आधुनिक हिन्दी-साहित्यशास्त्र की विकास-परंपरा में 'साहित्यालोचन' का स्थान महत्वपूर्ण है ।

डा० गुलाबराय : नवरस, सिद्धान्त और अध्ययन, काव्य के रूप

'नवरस' में रसों का शास्त्रीय विवेचन है। उदाहरणों में नवीनता है। रस का मानसशास्त्र से सम्बन्ध निर्देश कर विवेचन किया गया है । रस-विवेचन में परंपरा का पालन करते हुए भी आधुनिकता का आग्रह है । सर्वांग-निरूपण की दृष्टि से गुलाबराय जी का साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थ है—सिद्धान्त और अध्ययन । इसमें विषय हैं—काव्य की आत्मा, काव्य की परिभाषा, काव्य और कला, साहित्य की मूल प्रेरणाएँ, काव्य के हेतु, सत्यं शिवं सुन्दरम्, कविता और स्वप्न, काव्य के वर्ण्य, रस और मनोविज्ञान, रस-निष्पत्ति, साधारणीकरण,

कवि और पाठक के त्रयात्मक व्यक्तित्व, काव्य के विभिन्न रूप, काव्य का कला-पक्ष, शब्द शक्ति, ध्वनि और उसके मुख्य भेद, अभिव्यंजनावाद एवं कलावाद, तथा समालोचना के मान । इनके अतिरिक्त 'प्रस्तावना' में 'भारतीय काव्य शास्त्र' का संक्षिप्त इतिहास है, जिसमें संस्कृत-साहित्यशास्त्र और हिन्दी-साहित्य-शास्त्र के विकास की संक्षिप्त रूप-रेखा प्रस्तुत की गई है । इस ग्रन्थ में साहित्य-सिद्धान्तों का विवेचन मूलतः भारतीय साहित्यशास्त्र पर आधृत है । साहित्यिक वादों के विवेचन में पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के सिद्धान्तों का भी निरूपण किया गया है । इस ग्रन्थ की दूसरी विशेषता लेखक के शब्दों में साहित्यशास्त्र के 'सिद्धान्तों को भारतीय साहित्य के अध्ययन से उदाहरण देकर पुष्ट' किया गया है ।

इस ग्रन्थ का दूसरा भाग है—'काव्य के रूप', इसमें साहित्य का स्वरूप, काव्य की परिभाषा, नाटक—उसके तत्त्व, पश्चिमी नाट्य साहित्य, हिन्दी नाट्य साहित्य, महाकाव्य, खण्डकाव्य, प्रगीतकाव्य, उपन्यास—उसके तत्त्व, कहानी—उसके तत्त्व, निबंध, जीवन और आत्मकथा, पत्र-साहित्य, समालोचना आदि साहि-त्यांगों की रूप-रेखा व शिल्पविधान दिया गया है तथा हिन्दी व अंग्रेजी साहित्य में इनके विकास-क्रम को दिग्दर्शित कराया गया है । आधार भारतीय साहित्य-शास्त्र का लिया गया है, परन्तुप श्चात्य साहित्यशास्त्र के साथ समन्वयात्मक अध्ययन का प्रयत्न स्तुत्य है । प्राचीन भारतीय साहित्यशास्त्र के नव-निर्माण को दृष्टि में रख कर गुलाबराय जी ने 'काव्य के रूप' की भूमिका में लिखा है—'अब तो काव्य की प्राचीन परिभाषाओं में भी हेर-फेर करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी है । नाटकों को नई रूप-रेखा मिली है । आजकल के महाकाव्यों में घटनाओं के वर्णन की अपेक्षा विचारों और भावों का अधिक विस्तार रहता है । प्रबन्ध काव्यों में भी गीत लहरी प्रवाहित होती दिखाई देती है । काव्यशास्त्र को भी साहित्य की गति के साथ आगे बढ़ना होगा ।'

श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु : काव्य में अभिव्यंजनावाद (१९३६ ई०)
जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त (१९४२ ई०)

श्री सुधांशु ने 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' ग्रन्थ में अभिव्यंजना के कतिपय आधारों तथा साधनों की विस्तृत मीमांसा की है । आरम्भ में इन्होंने संस्कृत साहित्य-शास्त्र के रस, गुण, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि साहित्यतत्वों का संक्षिप्त पर्यालोचन किया है । क्रोचे की धारणा के अनुरूप ही इन्होंने सह-जानुभूति और अभिव्यंजना के अटूट सम्बन्ध का समर्थन किया है : 'सहजानुभूति का एक बार आ जाने पर अभिव्यंजना का होना तो आवश्यक है ही, इतना

भी नहीं हो सकता कि सहजानुभूति पहले और अभिव्यंजना पीछे आये। वे दोनों साथ-साथ आती हैं।'[१] पाश्चात्य अभिव्यंजनावाद और भारतीय वक्रोक्तिवाद में श्री सुधांशु ने स्पष्टतः 'असमानता' स्वीकार की है।[२]

इन्होंने 'रसानुभूति' प्रकरण में काव्यानुभूति को कविगत और रसानुभूति को श्रोता या पाठकगत स्वीकार किया है।[३] रसानुभूति में सहृदय के संस्कार, अनुकूलवृत्तियों से तादात्म्य तथा साधारणीकरण का भी इन्होंने महत्व-निरूपण किया है। अलंकार प्रकरण में इन्होंने अलंकारों को भाव-प्रकाशन के भिन्न-भिन्न साँचे मान कर इनका मुख्य कार्य भावोत्तेजन में योग देना सिद्ध किया है। 'वस्तु' अथवा 'भाव' से अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाये रखने में असमर्थ अनेक अलंकारों को इन्होंने अस्वीकार किया है। इसके उपरान्त 'प्रतीक और उपमान' के अंतर को तथा 'मूर्त्त का अमूर्त्त विधान' और 'अमूर्त का मूर्त्त विधान' के स्वरूप और प्रक्रिया को सोदाहरण समझाया गया है। अंत में 'अभिव्यंजना' की कुछ विशेष प्रवृत्तियों का निरूपण है।

'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त' ग्रन्थ में श्री सुधांशु ने काव्य और मानव जीवन के पारस्परिक आंतरिक सम्बन्ध की मार्मिक, तर्कपूर्ण और गंभीर चर्चा की है। आरम्भिक तीन अध्यायों में मानव मन की मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं का रहस्य खोला गया है। काव्य-सृजन और काव्यास्वादन की प्रक्रिया में इन्होंने मानव मन के ओज के संचय तथा व्यय को नितांत महत्वपूर्ण ठहराया है। 'काव्य की प्रेरणा शक्ति' के अन्तर्गत इन्होंने स्रष्टा के भीतर निहित 'आत्म-विस्तार' तथा 'आत्मसुख' की भावना का समुचित महत्वमापन किया है और इसके मूल में 'काम-भावना' तथा 'आनंद-भावना' के प्रभाव का ही मूल्यांकन किया है। इस प्रसंग में फ्रायड की मान्यता का स्पष्टीकरण करते हुए भारतीय मतों का भी उल्लेख किया गया है। इन्होंने कविता के लिए लय और छन्द की अनिवार्यता का भी समर्थन किया है। अंतिम अध्याय में मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, प्रसाद, निराला, जनार्दन प्रसाद झा, पंत, दिनकर, महादेवी वर्मा, हरिवंशराय बच्चन इन नौ आधुनिक कवियों की प्रवृत्तिमूलक समीक्षाएँ की गई हैं। समग्ररूप में प्रस्तुत ग्रन्थ में काव्य के आंतरिक मनोविज्ञान का गंभीर विश्लेषण विवेचन किया गया है।

---

१. काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृ० ३८।

२. वही, पृ० ५७।

३. वही, पृ० ६५।

आधुनिक हिन्दी-साहित्यशास्त्र की विकास-परंपरा में श्री सुधांशु के विवेचन का महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि इन्होंने भारतीय और पाश्चात्य साहित्य, दर्शन, अधिमानसशास्त्र आदि का आधार लेकर जीवन की भूमिका पर साहित्यशास्त्र के सिद्धान्तों का गंभीर विवेचन किया है।

डा० नगेन्द्र : रीतिकाव्य की भूमिका (१९४९) विचार और विवेचन
भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, अरस्तू का काव्यशास्त्र (१९५७)

रीतिकाव्य की भूमिका : यह तीन अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में राजनीतिक सामाजिक, तथा धार्मिक परिस्थितियों के आधार पर रीतिकालीन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत की गई है। द्वितीय में रीतिकाव्य का शास्त्रीय आधार तथा तृतीय अध्याय में रीतिकाव्य की मुख्य प्रवृत्तियों का परिपुष्ट विवेचन है। साहित्यशास्त्र की दृष्टि से संपूर्ण दूसरा अध्याय महत्वपूर्ण है, इसमें रीति-शास्त्र का आरम्भ, रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनिसिद्धान्त पर तथा नायिका-भेद पर ऐतिहासिक व सैद्धान्तिक विवेचन है।

प्रतिपाद्य विषय पर प्रकाश डालते हुए डा० नगेन्द्र ने भूमिका में लिखा है : 'भारतीय काव्यशास्त्र के मूल सिद्धान्तों और उन पर आश्रित सम्प्रदायों का नवीन साहित्यशास्त्र तथा आधुनिक मनोविज्ञान व मनोविश्लेषणशास्त्र के प्रकाश में विश्लेषण व स्पष्टीकरण किया गया है।'

विचार और विवेचन : प्रस्तुत ग्रन्थ में सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार के १३ आलोचनात्मक निबन्धों का संग्रह है। इनमें 'भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र', 'रस का स्वरूप', 'साधारणीकरण', 'शृंगार रस', 'साहित्य में आत्माभिव्यक्ति' आदि निबन्धों में प्राचीन सिद्धान्तों का नवीन मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से विश्लेषण-विवेचन किया गया है।

भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका : भारतीय साहित्यशास्त्र के दो प्रमुख सिद्धान्त 'रीति' और 'वक्रोक्ति' का 'भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका' में सांगोपांग विवेचन हुआ है। इसमें रीति-सिद्धान्त के विवेचन से पूर्व वामन के जीवनवृत्त, काव्यसिद्धान्त, आलोचना-शक्ति आदि का निरूपण किया गया है। रीति तथा वक्रोक्ति 'सिद्धान्तों' से सम्बद्ध इनके अभिमतों का प्रसंगानुरूप सैद्धान्तिक अध्ययन में विस्तार से निरूपण किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की भूमिका में आधुनिक काव्यशास्त्र के नव-निर्माण की ओर संकेत करते हुए डा० नगेन्द्र ने लिखा है—'भारत तथा पश्चिम के दर्शनों की तरह ही यहाँ के काव्यशास्त्र भी एक दूसरे के पूरक हैं, और पुनराख्यान आदि के द्वारा उनके आधार पर हमारे अपने साहित्य की परंपरा के अनुकूल एक

संश्लिष्ट आधुनिक काव्यशास्त्र का निर्माण सहज संभव है।'

अरस्तू का काव्यशास्त्र : डा० नगेन्द्र ने 'अरस्तू का काव्य शास्त्र' की भूमिका में अरस्तू के काव्य-सिद्धान्तों की व्यापक समीक्षा करते हुए भारतीय साहित्यशास्त्र के सिद्धान्तों से उसके साम्य-वैषम्य का सूक्ष्म विवेचन किया है। अरस्तू के विभिन्न काव्य-सिद्धान्तों की पाश्चात्य दार्शनिकों व समालोचकों ने जो व्याख्याएँ की हैं, उनका भी इन्होंने यथास्थान निरूपण कर दिया है। भारतीय काव्यशास्त्र में अगाध आस्था रखते हुए भी डा० नगेन्द्र ने अरस्तू के काव्य-सिद्धान्तों का अत्यन्त संतुलित मन से मूल्यांकन किया है। इन्होंने अरस्तू-प्रतिपादित 'काव्यसत्य', 'अनुकरण-सिद्धान्त', 'विरेचन-सिद्धान्त', महाकाव्य की अपेक्षा त्रासदी का महत्व कामदी का स्वरूप, काव्य-भाषा, शैली आदि के गुण-दोषों की तर्कसंगत समीक्षा की है। अरस्तू के योगदान का मूल्यांकन करने के उपरान्त डा० नगेन्द्र ने निष्कर्ष निकाला है : "अपने तत्वरूप में काव्य की भाँति काव्य-शास्त्र का भी एक सार्वभौम रूप होता है। इस व्यापक धरातल पर अरस्तू विश्व-काव्यशास्त्र के अग्रणी आचार्य हैं। भारतीय काव्य-शास्त्र के विद्यार्थी को श्रद्धापूर्वक उनके सिद्धान्तों का मनन करना चाहिए, किन्तु उसके मन में किसी प्रकार का आतंक अथवा हीन-भाव नहीं रहना चाहिए क्योंकि उसकी अपनी परंपरा निश्चय ही अधिक समृद्ध, गंभीर और पूर्ण है।"[१]

भारतीय साहित्यशास्त्र के प्राचीन सिद्धान्तों का पुनराख्यान तथा पुनर्मूल्यांकन जिस सूक्ष्म, तर्कपूर्ण तथा व्यापक तुलनात्मक प्रणाली से संभव है, उस वैज्ञानिक प्रणाली का आविष्कार करते हुए डा० नगेन्द्र भारतीय साहित्यशास्त्र के चिरंतन सिद्धान्तों के पुनरुद्घाटन तथा पुनः प्रतिष्ठापन का महत्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी :

इन्होंने 'साहित्यशास्त्र' पर स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं लिखा। इनके स्फुट निबन्धों में ही यत्र-तत्र सैद्धान्तिक विवेचन मिलता है। 'अशोक के फूल' नामक निबन्ध संग्रह में संकलित 'काव्य कला', 'आलोचना का स्वतंत्र भाव', 'साहित्यकारों का दायित्व', 'मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है' इत्यादि निबन्धों में साहित्यशास्त्र के सिद्धान्तों पर इन्होंने निजी दृष्टिकोण से प्रकाश डाला है।

इनके 'विचार और वितर्क' ग्रन्थ में २८ निबन्धों का संग्रह है। इनमें साहित्य शास्त्र की दृष्टि से 'शवसाधना', 'साहित्य का प्रयोजन—लोक कल्याण', साहित्य

---

१. अरस्तू का काव्यशास्त्र, भूमिका, पृ० १६५।

के नये मूल्य, साहित्य की नई मान्यताएँ, 'लोक साहित्य का अध्ययन', 'साहित्य में व्यक्ति और समष्टि' आदि महत्वपूर्ण लेख हैं। 'हिन्दी साहित्य' नामक ग्रन्थ में इन्होंने आधुनिक साहित्यिक वादों पर स्वतंत्र दृष्टिकोण से भी विचार प्रस्तुत किये हैं।

डा० द्विवेदी ने एक अन्य ग्रन्थ 'साहित्य का साथी' में 'साहित्य का स्वरूप और उद्देश्य', शब्दशक्तियाँ, अलंकार, रस आदि काव्य-तत्वों के अतिरिक्त उपन्यास, कहानी, निबन्ध, समालोचना आदि साहित्यरूपों के स्वरूप, गुण-दोष तथा उद्देश्य आदि का संक्षिप्त विवेचन किया है।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : हिन्दी साहित्य, : बीसवीं शताब्दी, आधुनिक साहित्य, नया साहित्य : नये प्रश्न

श्री वाजपेयी प्रौढ़ समालोचक ही नहीं हैं वरन्, इन्होंने साहित्यशास्त्र के सिद्धान्तों पर चिन्तन भी किया है। इन्होंने साहित्यशास्त्र के सिद्धान्तों का निरूपण 'आधुनिक साहित्य' के सातवें खंड 'मत और सिद्धान्त' के अन्तर्गत किया है। इससे पूर्व उन्होंने 'काव्य', उपन्यास, कहानी, नाटक, गद्य, समीक्षा आदि साहित्य-विधाओं पर भारतीय तथा पाश्चात्य मनीषियों की धारणाओं का उल्लेख करते हुए इनका स्वरूप-विश्लेषण तथा गुण-दोष विवेचन किया है। 'भारतीय काव्य मत', 'ध्वनि और रस', 'पश्चिमी काव्य मत' (अनुकृतिवाद), 'अभिव्यंजनावाद', 'स्वच्छंदता और परंपरा', 'आदर्श और यथार्थ', 'साहित्य और जीवन', साहित्य और सामाजिक प्रगति', 'साहित्य का प्रयोजन' आदि निबन्धों में भारतीय और पाश्चात्य साहित्य-सिद्धान्तों का आधुनिक दृष्टिकोण से प्रौढ़ विवेचन मिलता है।

'नया साहित्य : नये प्रश्न' ग्रन्थ में श्री वाजपेयी जी के दो लेख 'भारतीय साहित्यशास्त्र की रूप-रेखा' और 'रसनिष्पत्ति : एक नई व्याख्या', साहित्यशास्त्र की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। प्रथम लेख में इन्होंने काव्यशास्त्र के नव-निर्माण पर विशेष बल दिया है। 'काव्यशास्त्र के इतिहासकारों द्वारा उपयोग में लाई जाने वाली दो प्रणालियाँ ध्यान देने योग्य हैं। प्रथमत: वे पृष्ठभूमि के रूप में सम्बन्धित युग-विशेष की प्रमुख सामाजिक और सांस्कृतिक धाराओं का विवरण प्रस्तुत करते हैं, और दूसरे, मुख्य विषय के साथ वे कला और साहित्य के क्षेत्र में होने वाले तत्कालीन सृजन-कार्यों का भी संक्षिप्त परिचय देते हैं। विवेचन को अधिक सजीव बनाने के अतिरिक्त ये पद्धतियाँ विवेचित वस्तु को यथार्थता भी प्रदान करती हैं। भारतीय काव्यशास्त्र का नव-निर्मित इतिहास प्रस्तुत करने के लिए इस नवीन विधि का उपयोग सरलता से किया जा सकता है और उस से लाभ

भी बहुत होगा ।'[1]

रस-निष्पत्ति की नई व्याख्या में आचार्य वाजपेयी ने भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक तथा अभिनव गुप्त की विशिष्ट मान्यताओं में अन्तर्विरोध की अपेक्षा उनकी चिन्तन-प्रणाली के क्रमिक विकास का दिग्दर्शन कराया है। इन्होंने भट्ट नायक तथा शंकुक की धारणाओं में निहित विशेषताओं का भी समुचित मूल्यांकन किया है।

श्री वाजपेयी जी ने 'रस', 'अलंकार', 'ध्वनि', 'रीति' आदि साहित्यशास्त्र के तत्वों की संस्कृत-आचार्यों की धारणाओं के अनुरूप अत्यन्त स्पष्ट व्याख्याएँ की हैं।

श्री बलदेव उपाध्याय : भारतीय साहित्यशास्त्र

इसमें संस्कृत-साहित्यशास्त्र का ऐतिहासिक विकास तथा 'रस', अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति, औचित्य आदि सिद्धान्तों की संस्कृत के आचार्यों की धारणाओं के अनुरूप व्यापक समीक्षा प्रस्तुत की गई है। इस ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड में संस्कृत के औचित्य, रीति तथा वक्रोक्ति सिद्धान्तों की समीक्षा में पाश्चात्य काव्य-शास्त्रज्ञों की धारणाओं को भी तुलनात्मक रूप में प्रस्तुत किया गया है। इनकी धारणा में जो लोग भारतीय आलोचना-शास्त्र को एकाकार प्रवाहित धारा मानते हैं वे तथ्य से नितांत दूर हैं। साहित्यशास्त्र में जीवनी शक्ति थी। इसीलिए इसमें नये-नये सम्प्रदायों का उदय हुआ तथा साहित्य का अनुशीलन एक नूतन दृष्टिकोण से होने लगा। आलोचना के इतिहास में भारतीय साहित्यशास्त्र भव्य विभूति है जिसकी प्रभा समय के आवरण से ढकती नहीं प्रत्युत नये-नये रूप में उन्मेष पा रही है (भूमिका)। अतः श्री उपाध्याय ने पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र-चिन्तकों की अनेक धारणाओं को संस्कृत-साहित्यशास्त्रज्ञों की धारणाओं के अनुरूप दर्शा कर संस्कृत-साहित्यशास्त्र के अनेक तत्वों की महत्व-प्रतिष्ठा का प्रयत्न किया है। संस्कृत-साहित्यशास्त्र के ऐतिहासिक विकास के अध्ययन तथा उसके सैद्धान्तिक निरूपण की दृष्टि से श्री उपाध्याय ने हिन्दी में महत्वपूर्ण कार्य किया है।

आचार्य विश्वेश्वर

एक सफल अनुवादक में केवल भाषा-प्रभुत्व ही नहीं वरन् तत्सम्बद्ध जिस गंभीर अध्ययन और व्यापक पांडित्य की आवश्यकता होती है, वह आचार्य विश्वेश्वर में विद्यमान है। इन्होंने वामन के काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, आनंदवर्धन के ध्वन्यालोक, अभिनव गुप्त के अभिनवभारती तथा मम्मट के काव्य-प्रकाश का जो हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया है, वह इस तथ्य का प्रबल साक्षी है। आधुनिक हिन्दी

---

१. नया साहित्य : नये प्रश्न, पृ० १०४-१०५।

काव्यशास्त्र के विकास में इनका योगदान असंदिग्ध रूप से महत्वपूर्ण है।

हिन्दी कवियों का साहित्यशास्त्र-विवेचन

भारतेन्दु : नाटक (१८८३ ई०)

भारतेन्दु ने इस ग्रन्थ के 'उपक्रम' में अपने आधार-ग्रन्थों का उल्लेख कर दिया है : भारतीय नाट्य शास्त्र, साहित्यदर्पण, काव्यप्रकाश, विल्सन्स हिन्दू थियेटर्स, लाइफ आव् दि एमिनेन्ट परसन्स, ड्रामेटिस्ट्स एण्ड नावेलिस्ट्स, हिस्ट्री आव् दि इटालिक थिएटर्स और आर्य दर्शन। इस ग्रन्थ का प्रयोजन इन्हीं के शब्दों में है 'हिन्दी भाषा में नाटक बनाने वालों को यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है।'

इस ग्रन्थ में भारतेन्दु ने रूपक तथा उपरूपक, नाट्यवृत्तियाँ, अभिनय, नायक, विदूषक आदि पात्र, नाटक-रचना-प्रणाली, नाटक में रस, नाटकों का इतिहास, योरोप में नाटकों का प्रचार आदि विषयों पर संक्षेप में प्रकाश डाला है। विवेचन का आधार मूलतः संस्कृत नाट्यशास्त्र है। मध्य में संस्कृत तथा हिन्दी के आरंभिक नाटकों की तालिका भी दी गई है।

प्रस्तुत 'नाटक' ग्रन्थ के लेखक मूलतः भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ही हैं या अन्य कोई लेखक हैं, इस विषय में अंतिम निर्णय नहीं हो सका है।

जयशंकर प्रसाद : 'काव्यकला तथा अन्य निबन्ध'

जयशंकर प्रसाद भारतीय सांस्कृतिक इतिहास से पूर्णतः परिचित थे, अतः उन्होंने 'रस' तत्व के विवेचन में शैव-दर्शन के आधार का स्पष्टतः उल्लेख किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में इनके 'काव्य और कला', 'रहस्यवाद', 'रस', 'नाटकों में रस का प्रयोग,' 'रंगमंच', 'आरंभिक' पाठ्य काव्य', 'यथार्थवाद' और 'छायावाद' इन आठ निबन्धों का संकलन है। प्रसाद जी का दृष्टिकोण व्यापक है, क्योंकि उन्होंने साहित्यशास्त्र के सिद्धान्त-विवेचन में संस्कृत-साहित्यशास्त्र तथा भारतीय दार्शनिक सिद्धांतों को पृष्ठभूमि के रूप में ग्रहण किया है। 'शैवागम से अनुप्रेरित रसवाद ही मूलतः उनका काव्य-दर्शन है।'...'जिस काव्य में सत्य-शिव-सुन्दर, सार्वजनीनता, चिरन्तनता, अनुभूति और आदर्श की समष्टि है वही उनके अनुसार श्रेष्ठ काव्य है।'[१] प्रसाद जी के काव्य-तत्व-चिन्तन और व्यावहारिक काव्य-सर्जन में पर्याप्त साम्य है।

सुमित्रानंदन पंत : गद्यपथ

पंत जी का सैद्धान्तिक चिन्तन पर्याप्त सीमा तक व्यावहारिक पृष्ठभूमि पर आधारित है। 'गद्यपथ' के दो खण्ड हैं, प्रथम में इनके काव्य-ग्रन्थों की प्रस्तावनाएँ

---

१. भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा : (डा० नगेन्द्र), पृ० ६३६।

संकलित हैं, जिनमें 'पल्लव' का 'प्रवेश', 'वीणा' की अप्रकाशित भूमिका—'विज्ञप्ति', 'आधुनिक कवि' का 'पर्यालोचन' 'युगवाणी' का 'दृष्टिपात' और 'उत्तरा' की 'प्रस्तावना' आ गई है। द्वितीय खंड में २१ निवन्ध हैं, जिनमें सैद्धान्तिक चिन्तन की दृष्टि से 'आज की कविता और मैं', 'कला का प्रयोजन', 'आधुनिक काव्य प्रेरणा के स्रोत', 'कला और संस्कृति', 'साहित्य की चेतना' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला : 'प्रबन्ध-पद्म', 'प्रबन्ध प्रतिभा', 'चाबुक'

निराला जी के 'प्रवन्धपद्म' में १० निबन्धों का संकलन है। इनमें सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार के निबन्ध हैं। 'साहित्य और भाषा', 'हमारे साहित्य का ध्येय', 'काव्य के रूप और अरूप', 'साहित्य का फूल अपने ही वृन्त पर', 'हिन्दी कविता साहित्य की प्रगति' आदि उल्लेखनीय हैं। अन्य दोनों रचनाओं में भी विभिन्न निवन्धों का संकलन है। सैद्धान्तिक विवेचन की दृष्टि से 'पन्त और पल्लव' में 'कवित्त छन्द' तथा 'परिमल' में 'मुक्तकाव्य और मुक्त छंद' पर इनके विचार अत्यन्त प्रामाणिक हैं।

महादेवी वर्मा : 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य'

महादेवी वर्मा ने निजी दृष्टिकोण से साहित्यशास्त्र के कतिपय तत्वों की मीमांसा की है। इनके विवेचन में प्रायः बुद्धिपक्ष और हृदयपक्ष का संतुलित सामंजस्य रहता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में 'काव्यकला', 'छायावाद', 'रहस्यवाद', 'गीतिकाव्य', 'यथार्थ और आदर्श', तथा 'सामयिक समस्या' इन छः निबन्धों का संग्रह है।

श्री रामधारी सिंह दिनकर ने 'रेणुका' और 'रसवंती' की भूमिकाओं में काव्य-तत्वों की संक्षिप्त मीमांसा की है। श्री सुधांशु जी के 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त' ग्रन्थ की भूमिका में भी श्री दिनकर ने अपने विचार संक्षिप्त रूप में व्यक्त किये हैं। 'चक्रवाल' कविता-संग्रह (१९५६) की भूमिका में दिनकर जी ने पर्याप्त विस्तारपूर्वक काव्य-प्रेरणा, काव्य-स्वरूप, भाषा, छन्द आदि के विषय में अपने विचार व्यक्त किये हैं। श्री दिनकर का सैद्धान्तिक चिन्तन व्यावहारिक पृष्ठभूमि पर अधिक आधृत है अपेक्षाकृत परंपरागत साहित्यशास्त्र-तत्वों के।

काव्यशास्त्र विषयक शोध-प्रबन्ध

हिन्दी में 'रस', 'अलंकार' आदि साहित्य-सिद्धान्तों तथा रीतिकालीन साहित्य-शास्त्र के आचार्यों पर भी शोधप्रबन्ध लिखे जा रहे हैं। आधुनिक साहित्यशास्त्र के निर्माण में इनकी उपादेयता असंदिग्ध है।

(क) रीतिकालीन कवि-आचार्यों की कृतियों का अध्ययन—

डा० नगेन्द्र ने 'रीतिकाव्य की भूमिका' और रीतिकालीन आचार्य 'देव' पर

शोध-प्रबन्ध लिख कर इस दिशा में अनुसन्धान की आवश्यकता प्रमाणित कर दी थी। तदुपरान्त डा० हीरालाल दीक्षित ने 'आचार्य केशवदास' (१९५४), डा० नारायणदास खन्ना ने 'आचार्य भिखारीदास' (१९५५) नामक शोधप्रबन्ध लिख कर इनके अचार्यत्व की व्यापक समीक्षा की है।

डा० सत्यदेव चौधरी ने 'हिन्दी रीति परंपरा के प्रमुख आचार्य' (१९५६) शीर्षक शोध-प्रबन्ध लिखा है। इसमें संस्कृत-साहित्यशास्त्र के दस काव्यांगों– (१) 'काव्य', लक्षण और स्वरूप, काव्यहेतु, काव्य-प्रयोजन, (२) शब्दशक्ति (३) ध्वनि, (४) गुणीभूत व्यंग्य (५) रस (६) नायक-नायिका-भेद (७) दोष (८) गुण (९) रीति (१०) अलंकार—के आधार पर पाँच आचार्यों–१. चिन्तामणि, २. कुलपति, ३. सोमनाथ, ४. भिखारीदास और ५. प्रतापसाहि के काव्यशास्त्र-निरूपण की प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता तथा मौलिकता का व्यापक मूल्यांकन किया है। इसी परंपरा में डा० महेन्द्रकुमार ने 'मतिराम: कवि और आचार्य' (१९५८) शीर्षक शोध-प्रबन्ध में मतिराम के आचार्यत्व का 'शृंगार, नायक-नायिका-भेद, अलंकार और पिंगल' के आधार पर परीक्षण किया है।

(ख) साहित्यशास्त्र के सिद्धान्तों का अध्ययन—

अलंकार :

डा० रमाशंकर शुक्ल रसाल ने 'अलंकार पीयूष' और डा० ओम्प्रकाश ने 'हिन्दी अलंकार साहित्य' नामक शोध-प्रबन्ध लिखकर अलंकार-सिद्धांत के ऐतिहासिक विकास की रूप-रेखा प्रस्तुत की है। अलंकार-विषय पर सर्वप्रथम रसाल जी ने ही शोध-प्रबन्ध लिखा है। उनका यह ग्रन्थ पर्याप्त गवेषणापूर्ण है और वैज्ञानिक प्रणाली से लिखा गया है। इसमें अलंकार-सिद्धान्त का व्यापक रूप में तात्विक अध्ययन हुआ है।

ध्वनि :

'ध्वनि सिद्धान्त' पर डा० भोला शंकर व्यास ने 'ध्वनि संप्रदाय और उसके सिद्धान्त' (१९५६) नामक शोध-प्रबन्ध लिखा है। इसमें 'ध्वनि संप्रदाय' के समस्त सिद्धान्तों का अध्ययन प्रस्तुत नहीं किया जा सका है केवल 'शब्द शक्ति-सम्बन्धी विचारों का विस्तृत अध्ययन है। इस शोध-प्रबंध में भारतीय दार्शनिकों, वैयाकरणों तथा आलंकारिकों के शब्द की उद्भूति, शब्दार्थ संबंध, शब्द शक्ति—अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना—से सम्बद्ध मतों का विशद विवेचन किया गया है। एकादश परिच्छेद 'काव्य की कसौटी—व्यंजना' में डा० व्यास ने काव्य का आत्म-

तत्व 'व्यंजना' को ही माना है और उत्तम काव्य 'रस-ध्वनि' के आधार पर ही निर्धारित किया है ।[1]

रस :

रस-सिद्धान्त पर डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित ने 'काव्य में रस' (१९५८) शीर्षक शोध-प्रबन्ध लिखा है । इसमें 'रस सामग्री'—विभाव, अनुभाव, संचारी आदि के स्वरूप तथा इनके विभिन्न भेद, 'रसनिष्पत्ति', 'साधारणीकरण', 'रसास्वाद', करुण रसास्वाद का स्वरूप, 'रसाभास' आदि रस-सम्बद्ध तत्त्वों पर पृथक् पृथक् अध्यायों में विस्तृत विवेचन किया गया है । भरत-परवर्ती आचार्यों द्वारा स्वीकृत शान्त, भक्ति तथा वात्सल्य रसों का भेदोपभेद पूर्वक सोदाहरण स्वरूप-विवेचन करने के उपरान्त इन्होंने 'परिनिष्ठित' रसों के अन्तर्गत शृंगार, हास्य, रौद्र, करुण, वीर, अद्भुत, बीभत्स, और भयानक इन आठ रसों का विवेचन किया है । लेखक ने इन ग्यारह रसों को ही मान्यता दी है । इनके अतिरिक्त भी संस्कृत, हिन्दी तथा मराठी में नव-निरूपित १०-१५ रसों का स्वरूप-निर्देश करते हुए इन्होंने इनके पृथक् अस्तित्व का प्रत्याख्यान किया है । इन्होंने नवाविष्कृत रसों को परंपरागत ग्यारह रसों में से ही किसी न किसी रस में अन्तर्भूत कर लिया है अथवा कतिपय रसों की स्वतंत्र रसात्मकता का ही प्रतिषेध किया है । अंतिम अध्याय में डा० दीक्षित ने प्रगतिवादी, अभिव्यंजनावादी, मनोविश्लेषक, प्रभाववादी तथा इतर समीक्षा-पद्धतियों के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए उनकी सीमाओं का दिग्दर्शन कराया है और इनकी तुलना में रस-सिद्धान्त की महत्व-प्रतिष्ठा दर्शाई है । इनकी धारणा में तथाकथित प्रयोगशील नयी कविता में, जहाँ विभाव-अनुभाव संचारी भावों का क्रम पूर्णत: अभिघटित नहीं होता, वहाँ भी रस-सिद्धांत के भावोदय, भावसन्धि, भाव शबलता आदि तत्व उसके मूल्यांकन में पूर्णत: समर्थ हो सकते हैं, अत: 'रस-सिद्धान्त ही काव्य का सार्वकालिक, सार्वभौम, तथा सर्वग्राह्य समीक्षा-सिद्धान्त हो सकता है ।'[2]

इस प्रकार हिन्दी में 'अलंकार', 'ध्वनि' तथा 'रस' इन तीन सिद्धान्तों पर शोध-प्रबन्ध के रूप में अध्ययन हुआ है । इसी प्रकार 'रीति-गुण', 'वक्रोक्ति' तथा 'औचित्य' आदि साहित्यशास्त्र के तत्वों पर भी पृथक्-पृथक् स्वतंत्र अध्ययन के लिए पूर्ण अवकाश है ।

---

१. डा० भोलाशंकर व्यास : ध्वनि संप्रदाय और उसके सिद्धान्त, पृ० ३५५

२. भारतीय साहित्य, जनवरी १९५७, द्वितीय वर्ष, प्रथम अंक, पृ० १५७

छन्दःशास्त्र की दृष्टि से डा० पुत्तूलाल शुक्ल का शोध-प्रबन्ध 'आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द-योजना' उल्लेखनीय है।

समालोचनाशास्त्र :

हिन्दी में समालोचनाशास्त्र की दिशा में भी व्यापक अध्ययन हो रहा है। डा० भगवत्स्वरूप मिश्र ने 'हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास' (१९५४) नामक शोध-प्रबन्ध में प्रथम संस्कृत-साहित्य की समीक्षा-पद्धति का पृष्ठभूमि के रूप में व्यापक विवेचन किया है। तदुपरान्त हिन्दी साहित्य के आदि काल से आधुनिक काल तक की हिन्दी की विविध समीक्षा-पद्धतियों का सैद्धान्तिक एवं ऐतिहासिक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। इसी वर्ष श्री सीताराम चतुर्वेदी ने अपने 'समीक्षाशास्त्र' (१९५४)में व्यापक दृष्टिकोण अपना कर भारत ही नहीं, वरन् विश्व के अन्य देशों—यूनान, जर्मन, स्पेन, फ्रांस, अमरीका, रूस आदि में प्रचलित साहित्य-रूपों, समीक्षा-सिद्धान्तों, प्रवृत्तियों, प्रयोगों तथा विविध वादों का ऐतिहासिक तथा विवेचनात्मक निरूपण किया है। शोध-प्रबन्ध के रूप में डा० एस० पी० खत्री के 'आलोचना : इतिहास तथा सिद्धान्त' (१९५५) का नाम भी विशेष उल्लेखनीय है। इन्होंने पाश्चात्य आलोचनाशास्त्र तथा भारतीय आलोचना शास्त्र का क्रमिक ऐतिहासिक विकास पर्याप्त विस्तार पूर्वक दिया है और दोनों के सैद्धान्तिक तत्वों की भी मीमांसा की है। भारतीय समालोचना के तत्वों में रस, अलंकार, रीति गुण आदि सिद्धान्तों की समीक्षा की गई है।

समालोचना शास्त्र की दिशा में ऐतिहासिक तथा सैद्धान्तिक दोनों ही दृष्टियों से पर्याप्त विवेचन हो रहा है। शिवनंदन प्रसाद का 'साहित्यालोचन के सिद्धान्त', सुमन और मलिक का 'साहित्य विवेचन', रघुनाथ प्रसाद 'साधक' का 'समालोचना शास्त्र' आदि ग्रन्थ इस विषय में उल्लेखनीय हैं। परन्तु ये ग्रन्थ शोध-प्रबन्ध के रूप में नहीं लिखे गये हैं।

हिन्दी समालोचना शास्त्र के विकास में आचार्य शुक्ल का योगदान नितांत महत्वपूर्ण है। समालोचना और काव्यशास्त्र दोनों ही क्षेत्रों में आचार्य शुक्ल के योगदान तथा मौलिक चिन्तन का व्यापक अध्ययन तथा मूल्यांकन डा० रामलाल सिंह के शोध-प्रबंध 'आचार्य शुक्ल के समीक्षा-सिद्धान्त' (१९५८ ई०) तथा डा० जयचन्द राय के शोध प्रबन्ध 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—एक अध्ययन' (१९५८ ई०) में हुआ है।

सारांश :

हिन्दी-साहित्यशास्त्र की विकास-परंपरा के लगभग एक हज़ार वर्ष के इति-

हास पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट होगा कि आधुनिक काल के आरम्भ होने से पूर्व का हिन्दी-सहित्यशास्त्र अधिकांशतः संस्कृत-साहित्यशास्त्रोपजीवी ही रहा है। सैद्धान्तिक दृष्टि से किसी नवीन सिद्धान्त का आविष्कार नहीं हो सका है।

आधुनिक काल के आरम्भ होते ही हिन्दी के साहित्य शास्त्र-चिन्तकों की मूलतः चिन्तन-प्रणाली में ही अंतर आ गया। आप्त-प्रमाण, मुनिवचन-पालन अथवा परंपरा को अक्षुण्ण रखने का अतिरिक्त मोह धीरे-धीरे छूटने लगा। परंपरागत साहित्यशास्त्र के सिद्धान्तों पर व्यापक दृष्टिकोण से चिंतन आरम्भ हुआ। परिणामतः हिन्दी-साहित्यशास्त्र के निर्माण की नव-चेतना जागृत हुई। विदेशी शासन की प्रतिक्रिया स्वरूप आधुनिक युग के आरम्भ में भारतीयों में स्वदेशाभिमान तथा भारत के प्राचीन सांस्कृतिक-साहित्यिक अभ्युत्थान के प्रति विशेष गौरवपूर्ण भावना जागृत हुई। अतः साहित्यशास्त्र के सैद्धान्तिक चिन्तन में भी इस भावना का स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से हाथ रहा है। परन्तु संस्कृत-साहित्यशास्त्र के सिद्धान्तों का चिन्तन जहाँ श्रद्धा तथा आस्थावान दृष्टिकोण से किया गया, वहाँ आधुनिक युग के वैज्ञानिक व्यापक दृष्टिकोण को भी अपनाया गया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य श्यामसुंदरदास आदि साहित्यशास्त्रज्ञों ने आधुनिक साहित्य-शास्त्र निर्माण के लिए पाश्चात्यों के साहित्य-सिद्धान्तों का समानान्तर अध्ययन किया है। शुक्ल जी ने तो नवीन साहित्यशास्त्र-निर्माण की दिशा-निर्देश का महत्वपूर्ण कार्य किया है। तदुपरान्त श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु, डा० नगेन्द्र आदि साहित्य-शास्त्रज्ञों ने व्यापक दृष्टिकोण अपना कर भारतीय साहित्यशास्त्र के तत्वों के पुनराख्यान का कार्य आरम्भ किया है। हिन्दी के प्रस्तुत आधुनिक अनेक विद्वान् परंपरागत भारतीय साहित्यशास्त्र को आधुनिकतम, वैज्ञानिक तथा प्रौढ़ बनाने में महत्वपूर्ण योग दे रहे हैं।

मराठी-साहित्यशास्त्र की विकास-परंपरा

प्रथमचरण (ई० सन् ११२८ से १८१८)

हिन्दी भाषा के समान मराठी भाषा भी आर्यकुल से सम्बद्ध है और मराठी भाषा के उत्स का अनुसन्धान संस्कृत-पालि-प्राकृत-अपभ्रंश आदि के क्रमिक विकास में किया जाता है। मराठी भाषा में इन सभी भाषाओं के शब्दरूप उपलब्ध होते हैं, किन्तु उत्पत्ति की दृष्टि से मराठी का प्रत्यक्ष संबन्ध महाराष्ट्री प्राकृत तथा महाराष्ट्री अपभ्रंश से है। जब मराठी जनभाषा महाराष्ट्री प्राकृत तथा अपभ्रंश से अपना स्वतंत्र अस्तित्व स्थापित करने लगी तब इस पर इन दोनों के साथ संस्कृत भाषा का भी प्रभाव पड़ता गया—विशेषतः जब मराठी जनभाषा साहित्य का रूप ग्रहण करने लगी। संस्कृत साहित्य से जो विचार-परंपरा मराठी के आरम्भिक युग के साहित्य में आई वह विशेषतः धार्मिक और आध्यात्मिक भावना से प्रेरित थी। इसमें शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त, योगाभ्यास, सगुणभक्ति आदि आध्यात्मिक तत्वों की मीमांसा अधिक है। साहित्यशास्त्र के तत्वों पर स्वतंत्र चिंतन उपलब्ध नहीं होता।

'महानुभाव पंथ' से अप्रभावित आरम्भिक कतिपय मराठी लेखकों ने संस्कृत तथा मराठी दोनों ही भाषाओं में अनेक ग्रन्थ रचे हैं। मराठी के आदि कवि 'मुकुंदराज' (११२८-११९२ ई० सन्) ने विवेकसिन्धु, पवनविजय, पंचीकरण, मूल स्तम्भ आदि अनेक आध्यात्मिक ग्रन्थों की मराठी में रचना की। इनकी भाषा पर संस्कृत का प्रभाव स्पष्टतः दिखाई देता है। इनके 'विवेकसिन्धु' का गोपाल मुद्गल ने संस्कृत में अनुवाद भी किया था। यह आरम्भिक युग संस्कृत-मराठी के अद्भुत सम्मिश्रण तथा सह-अस्तित्व का युग था। मुकुंदराज के उपरान्त श्रीपति ने 'रत्नमाला' और 'जातक पद्धति' नामक दो ग्रन्थ संस्कृत में लिखे और इनमें प्रथम ग्रन्थ का इन्होंने स्वयं ही मराठी में भाषान्तर भी कर दिया है। इस प्रकार जनभाषा मराठी तथा धर्म-दर्शन, इतिहास, पुराण, ज्योतिष आदि की भाषा संस्कृत दोनों में ही ग्रन्थ रचनाएँ हो रही थीं। इसी समय महाराष्ट्र में यादववंशी राजाओं

का शासन चल रहा था। इनका संस्कृत तथा मराठी दोनों ही भाषाओं के प्रति अनुराग था। यदुवंशी राजा महादेव और रामदेव के दरबार में हेमाद्रि पंडित रहते थे जिन्हें संस्कृत तथा मराठी दोनों ही भाषाओं का ज्ञान था। इन्होंने दोनों ही भाषाओं में ग्रन्थ रचे हैं। हेमाद्रि पंडित ने अपने समकालीन विद्वान् बोपदेव की कृतियों पर टीकाएँ भी लिखी हैं। हेमाद्रि पंडित के कथनानुसार बोपदेव ने साहित्य शास्त्र पर तीन ग्रन्थ लिखे थे, परन्तु वे कृतियाँ आज उपलब्ध नहीं हैं। बोपदेव ने जिन साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों का निर्माण किया होगा, उनका आधार स्पष्टतः संस्कृत साहित्यशास्त्र ही रहा होगा।

इस प्रकार ७ वीं शताब्दी से ही जनभाषा के रूप में मराठी का स्वतंत्र अस्तित्व तत्कालीन शिलालेखों, ताम्रपटों आदि में उपलब्ध होता है। परन्तु स्वतंत्र ग्रन्थ रचना तथा मराठी भाषा के साहित्यिक अस्तित्व का 'मुकुंदराज' (ई० ११२८) से पुष्ट प्रमाण मिल जाता है और श्रीपति, बोपदेव तथा हेमाद्रि पंडित आदि ने मराठी भाषा-साहित्य के आरम्भिक काल में इसकी साहित्यिक अभिवृद्धि में योगदान किया है। साहित्यशास्त्र की दृष्टि से बोपदेव की रचनाओं पर कुछ लिखना उनके ग्रन्थाभाव में आज कठिन है।

मराठी भाषा-साहित्य की महत्व-प्रतिष्ठा

'मुकुंदराज' के समय में महानुभाव पंथ के कवियों ने मराठी-साहित्य को पर्याप्त समृद्ध किया है। महानुभाव पंथ के कवियों ने संस्कृत की अपेक्षा एकांततः मराठी भाषा में ही साहित्य-सृजन का प्रयत्न किया, क्योंकि इस संप्रदाय के आद्य प्रवर्तक श्री चक्रधर स्वामी ने तथा उनके 'पट्टशिष्य' नागदेवाचार्य ने अपने सभी अनुयायी विद्वान् साहित्यकारों को मराठी भाषा में ही ग्रन्थ रचना करने पर विशेष प्रेरित किया था। महानुभाव पंथ के उपास्य भगवान् कृष्ण हैं, अतः इस पंथ के प्रसिद्ध सात ग्रन्थों में से अधिकांश ग्रन्थ कृष्ण-चरित्र से सम्बद्ध कथानकों पर आधृत हैं। दामोदर पंडित का 'वच्छहरण' या वत्सहरण, नरेन्द्र कवि का 'रुक्मिणी स्वयंवर', भास्करभट्ट बोरीकर का 'शिशुपाल वध' और 'एकादश स्कन्ध' अथवा 'उद्धवगीता' आदि ग्रन्थों का आधार कृष्ण-चरित्र है और इनमें कृष्ण के असामान्य, अलौकिक कार्यों का काव्यमय वर्णन है। भाषा मराठी है, परन्तु आधार ग्रन्थ संस्कृत के भागवत, हरिवंशपुराण, भगवद्गीता आदि हैं। इनके काव्य-ग्रन्थों की प्रतिपादन-वर्णन शैली का आधार भी संस्कृत-साहित्यशास्त्र ही है। रसों में श्रृंगार, वीर, हास्य, करुण आदि के मार्मिक तथा हृदयस्पर्शी चित्र इनके काव्यों में अंकित हैं। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि से युक्त आलंकारिक वर्णनों से इनके काव्य परिपूर्ण हैं। संस्कृत-साहित्यशास्त्र के तत्वों से परिचित होने पर भी इन कवियों ने मराठी

में स्वतंत्र साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों का निर्माण नहीं किया क्योंकि ये सभी कवि महानुभाव पंथ में दीक्षित थे, अतः पंथ की परंपरा के अनुरूप कृष्ण-भक्ति माहात्म्य का वर्णन ही अपना प्रमुख उद्देश्य समझते थे। साहित्यशास्त्र-विषयक चिन्तन इनका लक्ष्य नहीं था।

एक ओर महानुभाव पंथ के कवि मराठी-साहित्य की अभिवृद्धि कर रहे थे, दूसरी ओर ज्ञानेश्वर ने भी संस्कृत की अपेक्षा मराठी को ही अपने साहित्य की भाषा के रूप में वरण किया। वे मराठी भाषा को संस्कृत से हीन नहीं वरन् उसके समान ही सरस और महत्वपूर्ण समझते थे।[1] परवर्ती, नामदेव, एकनाथ, मुक्तेश्वर, तुकाराम, रामदास आदि भक्त-कवियों ने संस्कृत की अपेक्षा मराठी भाषा के माधुर्य-महत्व का गुणगान ही नहीं किया वरन् इसी में प्रचुर साहित्य निर्माण किया है। इनके आधार ग्रन्थ रामायण, महाभारत, भागवत, हरिवंश आदि नाना पुराण, धर्मशास्त्र तथा वेदान्त आदि दर्शन थे। अधिकांश कवि संस्कृतज्ञ थे, परिणामतः मराठी जनभाषा में संस्कृत का-सा ही लालित्य और माधुर्य भरने में पर्याप्त सफल हुए हैं। विशेषतः ज्ञानेश्वर, एकनाथ, मुक्तेश्वर, रामदास आदि संत कवियों का योगदान इस दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है। ज्ञानेश्वर ने योग-वाशिष्ट, अनेक उपनिषदों, भगवद्गीता तथा शंकराचार्य के अनेक ग्रन्थों का अध्ययन किया था। नामदेव बहुश्रुत कवि थे। एकनाथ 'पैठण' जैसी संस्कृत पंडितों की नगरी में रहते थे और मराठी को संस्कृत के समान ही श्रेष्ठ समझते थे। मुक्तेश्वर ने भी संस्कृत के रामायण, महाभारत तथा पौराणिक आख्यायिकाओं के आधार पर मराठी में नवरस परिपूर्ण अनेक काव्यों की रचनाएँ की हैं। संत तुकाराम ने भी बहुजन समाज की भाषा——मराठी में ही अपने 'अभंगों' की सृष्टि की। संस्कृताभिमानी पंडितों ने इन्हें अपमानित तथा इनकी रचनाओं को नष्ट करने का भी प्रयत्न किया था। रामदास का व्यक्तित्व कुछ निराला था, इन्होंने अपनी रचनाओं को एकांततः निवृत्तिमूलक बनाने की अपेक्षा इनमें व्यावहारिक राजनीति तथा धर्म का भी प्रतिपादन किया है, फिर भी युग-धर्म के अनुरूप भक्ति तथा अध्यात्म भावना से ही वे अधिक प्रभावित थे। इस प्रकार इस युग में मराठी के संत कवियों ने संस्कृत के धार्मिक-आध्यात्मिक-पौराणिक ग्रन्थों का आधार ग्रहण करके मराठी-साहित्य का भंडार विपुल मात्रा में भर दिया है।

मराठी में साहित्यशास्त्र की दृष्टि से इन संत कवियों के योगदान का प्रश्न

---

१. माझा मर्‍हाटाचि बोल कौतुकें। परि अमृतातेंहि पैजा जिंके।
ज्ञानेश्वरी, अ० ६ ओ० १४-१५

विवादास्पद बना हुआ है। पूर्वोक्त सभी संत कवियों ने अपनी रचनाओं में काव्य-तत्व विषयक अपनी धारणाओं का भी स्वतंत्र एवं व्यापक रूप में प्रतिपादन किया है। अतः डा० श्रीधर व्यंकटेश केतकर ने सर्वप्रथम इनके स्वतंत्र साहित्यशास्त्रीय तत्वों के मूल्यांकन का स्वल्प प्रयास किया था।[1]

मराठी के संतकवियों ने संस्कृत-साहित्य की लौकिक परम्परा नहीं अपनाई। इनके आधार ग्रन्थ भवभूति, बाणभट्ट, कालिदास आदि के काव्य-नाटकों की अपेक्षा रामायण, महाभारत, भागवत आदि इतिहास-पुराणात्मक तथा उपनिषद् योग वासिष्ठ, अद्वैत वेदांत आदि आध्यात्मिक-दार्शनिक ग्रन्थ थे। इन्होंने शृंगारिक गाथाओं का भी आधार ग्रहण नहीं किया है। महाराष्ट्र के संत कवियों के आध्यात्मिक जीवन में प्रेरक तत्व दक्षिण के आलवार तथा रामानंदी संप्रदाय एवं उत्तरभारत के नाथ संप्रदाय रहे हैं।[2] संत कवियों के काव्य-सृजन के मूल में प्रेरक तत्व की भिन्नता के कारण इनके काव्यों का स्वरूप भी कुछ भिन्न-सा हो गया है। शृंगार, करुण, वीर आदि नव रसों की परिपुष्टि सामान्यतः लौकिक धरातल पर नहीं की गई वरन् आध्यात्मिक प्रेरणा से की गई है। परिणामतः लौकिक काव्यरूपों पर आधृत संस्कृत-साहित्यशास्त्र के तत्व इनकी रचनाओं पर पूर्णतः अभिघटित नहीं होते। संत कवियों ने शृंगार या प्रेम वर्णन का आश्रय ईश्वरोन्मुख प्रेम की तीव्रता दर्शाने के लिए किया है न कि केवल रतिभाव की परिपुष्टि के लिए। क्योंकि इनके सांसारिक भाव-वर्णन का प्रेरक तत्व आध्यात्मिक जीवन था। इनके अलंकार एकांततः आलंकारिक सौन्दर्य के साधक नहीं हैं, वरन् नीति, शिक्षा, उपदेश आदि के माध्यम बने हैं। छंद-योजना में भी संस्कृतवृत्तों का एकांत अवलंब न लेकर 'ओवी' तथा 'अभंग' आदि गेय पद्यात्मक सरल छंद अपनाये गये हैं। भाषा की दृष्टि से भी अधिकांश संत कवि संस्कृत की अपेक्षा मराठी के लालित्य-सौन्दर्य पर अधिक आकृष्ट थे। फलतः श्रीधर व्यंकटेश केतकर ने स्पष्ट लिखा है : 'संस्कृत साहित्यशास्त्र को लक्ष्य में रख कर मराठी का प्राचीन साहित्य निर्मित नहीं हुआ है।' साथ ही इनकी धारणा में संत कवियों की रचनाओं में संस्कृत-साहित्यशास्त्र की परंपरा से भिन्न अनेक नवीन काव्य-तत्वों का प्रतिपादन है। परन्तु साहित्यशास्त्र की विकास-परंपरा के कुंठित होने में प्रथम भक्तिकालीन जगन्नाथ आदि संस्कृत-साहित्यशास्त्रज्ञों को तथा कुछ सीमा तक संतकवियों को भी इन्होंने उत्तरदायी ठहराया है। 'जगन्नाथ आदि संस्कृत-साहित्य

---

१. डा० श्री० व्यं० केतकर : महाराष्ट्रीयांचे काव्यपरीक्षण (१९२८)
२. वही पृ० १८।

शास्त्रकारों की प्राकृत या जनभाषाओं में निर्मित साहित्य की ओर दुर्लक्ष करने की प्रवृत्ति अनुपयुक्त थी, परिणामतः उन्होंने अपने साहित्यशास्त्र की अभिवृद्धि को कुंठित कर लिया है।' संतकवियों के साहित्यशास्त्रीय तत्वों के विषय में इनकी धारणा है : 'मराठी के संत कवियों की रचनाओं में काव्य विषयक अनेक नवीन तत्व हैं। इन तत्वों का उन्होंने अपनी रचनाओं में न केवल व्यापक रूप में निरूपण ही किया है वरन् काव्य-चर्चा के प्रसंग में भी इनका स्पष्ट प्रतिपादन किया है। फिर भी उन संत कवियों को अपने उन नवीन काव्य-तत्वों का साहित्य-शास्त्र की भाषा में प्रतिपादन करना नहीं आया, यदि वे इस कार्य में सफल होते अथवा तत्कालीन साहित्यशास्त्रज्ञ संत कवियों के अंतःकरण को हृदयंगम करके उन नवीन काव्य-तत्वों का अपनी पद्धति में निरूपण करते तो साहित्यशास्त्र में एक नवीन संप्रदाय का प्रादुर्भाव होता और कुंठित हुए साहित्यशास्त्र को गति प्राप्त हो जाती।'[१] स्वयं डा० श्रीधर व्यं० केतकर ने रामदास के नवीन साहित्य-शास्त्रीय तत्वों का उन्हीं की रचनाओं के आधार पर सविस्तर प्रतिपादन किया है।[२]

डा० श्री० व्यं० केतकर के अध्ययन से प्रभावित होकर डा० मा० गो० देशमुख ने 'मराठीचें साहित्यशास्त्र' नामक शोध-प्रबन्ध लिखा है और ज्ञानेश्वर से रामदास तक के संत कवियों की रचनाओं के आधार पर उनके काव्यतत्वों का विस्तृत अन्वेषण किया है। इन्होंने अपने शोध-प्रबन्ध के उपसंहार में स्पष्ट लिखा है: 'संत कवियों की रचनाओं की पृष्ठभूमि में संस्कृत-साहित्यशास्त्र की अपेक्षा प्रत्येक विषय में अधिक परिणत और बहुतांश में स्वतंत्र साहित्यशास्त्र की सुनिश्चित प्रतीति होती है।'[३]

मराठी-संत कवियों की रचनाओं से अन्वेषित काव्यतत्वों के आधार पर मराठी का स्वतंत्र साहित्यशास्त्र मान लेना कतिपय आधुनिक काव्य शास्त्रज्ञों को अनुपयुक्त प्रतीत हुआ है। डा० वाटवे ने 'इसे अधिक से अधिक संत कवियों के पारमार्थिक काव्य का साहित्यशास्त्र' मानना अधिक समीचीन ठहराया है।[४] भक्ति भाव की स्वतंत्र रसात्मकता रूपगोस्वामी तथा मधुसूदन सरस्वती आदि संस्कृत-आचार्यों ने स्वीकार की थी, फिर भी भक्तिरस के अतिरिक्त भी कतिपय

---

१. डा० श्री० व्यं० केतकर : महाराष्ट्रीयांचे काव्यपरीक्षण, पृ० ३५।
२. महाराष्ट्रीयांचे काव्यपरीक्षण, दे० 'रामदासांचे साहित्यशास्त्र'
३. मराठीचे साहित्यशास्त्र, पृ० २९१
४. रसविमर्श, पृ० ६६

काव्य-तत्वों का मराठी संत कवियों ने स्वतंत्र प्रतिपादन किया है। इनके काव्य तत्वों का इन्हीं की रचनाओं के आधार पर संकलन आवश्यक था, जिसकी पूर्ति डा० मा० गो० देशमुख के 'मराठी चें साहित्यशास्त्र' (ज्ञानेश्वर से रामदास तक) नामक शोध-प्रबन्ध से कुछ सीमा तक हो जाती है। हिन्दी में भी जायसी, सूरदास, अष्टछाप के अन्य अनेक कवियों तथा तुलसीदास आदि के काव्य-ग्रन्थों के आधार पर इनके स्वतंत्र काव्यतत्वों का प्रबन्ध के रूप में अध्ययन प्रस्तुत किया जा सकता है।

जहाँ तक संतकवियों के स्वतंत्र काव्य-सिद्धान्तों की उपयोगिता तथा उनके मूल्यांकन का प्रश्न है, वह उनके सामयिक युग, उनकी मूलभूत काव्य-सृजन की प्रेरणा तथा उनके उद्देश्य-लक्ष्य को दृष्टिगत रख कर ही किया जा सकता है। अन्यथा आधुनिक काव्य-सृजन की प्रेरणा तथा लक्ष्य के आधार पर उनका मूल्यांकन करें तो उनकी अनेक स्वतंत्र मान्यताएँ नितांत निस्सार प्रतीत होंगी। उदाहरणार्थ, संतकवि रामदास ने आदर्श काव्य का स्वरूप निम्न रूप में निर्धारित किया है :

"काव्य निर्मल होना चाहिए। काव्य सरल और प्रांजल होना चाहिए। शीघ्र प्रतीत्यात्मक होना चाहिए। मृदु, मंजुल, कोमल, भव्य, अद्भुत और विशाल होना चाहिए। माधुर्यपूर्ण, रसपूर्ण तथा भक्ति रसात्मक होना चाहिए॥"

इसी के साथ उन्होंने 'काव्य-प्रयोजन' पर भी प्रकाश डाला है :

"जिससे 'अनुताप' (ईश्वरानुराग) उत्पन्न हो। जिससे लौकिक विषयों से विरक्ति हो। जिससे ज्ञानप्राप्ति हो। उसी का नाम कवित्व है॥ जिससे देहाभिमान नष्ट हो। जिससे संसार-समुद्र से पार हो सकें। जिससे भगवत्प्राप्ति हो। उसी का नाम कवित्व है॥"[१]

रामदास के प्रस्तुत काव्यस्वरूप तथा काव्यप्रयोजन के प्रतिपादन में भक्ति-संप्रदाय की भावनाओं का भी अन्तर्भाव स्पष्टतः दिखाई देता है। फलतः संत कवियों के काव्यों से सामान्य काव्य-सिद्धान्तों या काव्य-विषयक विचारों के निर्धारण के लिए उनकी सांप्रदायिक सूचनाओं को पृथक् कर देना होगा। तभी डा०

---

१. "कवित्व असावें निर्मळ। कवित्व असावें सरळ। कवित्व असावें प्रांजल। अन्वयाचें ॥३६। मृदु मंजुळ कोमळ। भव्य अद्भुत विशाळ। गौल्प माधुर्य रसाळ। भक्तिरसें ॥४०॥" "जेणें अनुताप उपजे। जेणें लौकिक लाजे। जेणें ज्ञान उपजे। या नाव कवित्व ॥४८॥ जेणें देहबुद्धि तुटे जेणें भव सिंधु आटे। जेणें भगवंत प्रगटे। या नाव कवित्व ॥५०॥" (दशक १४ समास ३)

केतकर की मान्यता में इनके काव्य-तत्व विषयक सामान्य विचारों का उपयुक्त चुनाव हो सकेगा ।[1]

यद्यपि मराठी के भक्तिकालीन रामदास आदि संत कवियों ने लौकिक शृंगार, वीर आदि नवरसात्मक काव्यों को परमार्थ की दृष्टि से अहितकर माना है,[2] तथापि इसी युग के पंडित या कला-कवियों ने नवरसों से परिपूर्ण काव्य भी रचे हैं । इनमें मुक्तेश्वर, वामन, श्रीधर, सामराज, विट्ठल, नागेश, रघुनाथ पंडित, मोरोपंत आदि कवियों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं । इन कवियों को संस्कृत भाषा-साहित्य का पूर्ण परिचय था । अधिकांश संत कवियों ने संस्कृत के आध्यात्मिक ग्रन्थों का आधार ग्रहण करके संस्कृत जैसा ही माधुर्य-लालित्य मराठी भाषा में भी उपस्थित कर दिया है । परन्तु इन पंडित या कला-कवियों ने रामायण, महाभारत, भागवत आदि आध्यात्मिक-पौराणिक संस्कृत-ग्रन्थों का ही एकाँत आधार ग्रहण नहीं किया वरन् संस्कृत-साहित्य की लौकिक परंपरा के अनेक काव्य-नाटकों का साहित्यिक आदर्श भी अपने समक्ष रखा था । फलत: अनेक पंडित-कवियों ने नवरस परिपूर्ण काव्यों की रचनाएँ मराठी में की हैं । मुक्तेश्वर, वामन, नागेश, विट्ठल, श्रीधर आदि कवियों ने तो उत्तान शृंगारिक वर्णन भी किये हैं, जो संत कवियों के आध्यात्मिक आदर्श की अपेक्षा लौकिक धरातल पर आ गये हैं । इन्होंने भावपक्ष के अतिरिक्त अलंकार, शैली, छंद आदि के नियोजन में भी संस्कृत-कवियों की कलात्मकता को मराठी भाषा में साकार रूप प्रदान किया है ।

इन पंडित या कला-कवियों के काव्य-सृजन की पृष्ठभूमि में संस्कृत साहित्य-शास्त्र के रस और अलंकार तत्व प्रमुख रूप से प्रेरक रहे हैं । परिणामत: कतिपय पंडित कवियों ने संस्कृत-साहित्यशास्त्र के कतिपय ग्रन्थों का मराठी में भी भाषान्तर-सा प्रस्तुत कर दिया है । नागेश तथा विट्ठल कवि ने संस्कृत के भानुदत्त की 'रस-तरंगिणी' के आधार पर मराठी में 'रसमंजरी' नामक ग्रन्थ लिखा है । संस्कृत साहित्यशास्त्र के रस तत्व को मराठी भाषा में अवतरित करने के लिए गंगाधर शास्त्री ने 'रस कल्लोल' ग्रन्थ की रचना भी की है ।[3] इनका उद्देश्य साहित्य-

---

१. महाराष्ट्रीयांचे काव्य परीक्षण, पृ० ४६ ।

२. इतरजे प्रापंचिक । हास्यविनोद नव रसिक । हित नव्हे ते पुस्तक परामार्थासी ।। जेणें परमार्थ वाढे । अंगी अनुताप चढे । भक्तिसाधन आवडे । त्या नाव ग्रन्थ ।। रामदास : दा० बो० द० ७ समास ९ ।

३. डा० वाटवे : रसविमर्श, पृ० ५३ (काव्येतिहास-संग्रह)

शास्त्र का स्वतंत्र व्यापक विवेचन करना नहीं था। विट्ठल कवि ने तो अपने काव्यों में पांडित्य-प्रदर्शन के लिए प्रतिलोम, यमक आदि विविध अलंकारों, नाना छन्दों, तथा चित्रकाव्य-रचना का प्रयोग भी किया है।[1] अतः इन कवियों के भाषांतरित साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थ भी इनके पांडित्य-प्रदर्शन के प्रतीक बनकर ही आये हैं। इन्होंने साहित्यशास्त्र में किसी प्रकार का नवीन चिंतन या उद्भावन नहीं किया है। इसी युग में निरंजन माधव ने संस्कृत-छन्दःशास्त्र के आधार पर ही एक ग्रन्थ लिखा है। इसमें केवल २६ वृत्तों का विवेचन है। डा० श्रीधर व्यंकटेश केतकर की धारणा में इन्होंने तत्कालीन मराठी-छंदों की भी उपेक्षा की है।[2] अतः संक्षेप में इन पंडित कवियों का साहित्यशास्त्र की दृष्टि से किसी प्रकार का नवीन उद्भावन या योगदान प्रतीत नहीं होता। संस्कृत-साहित्यशास्त्र के ग्रन्थों का मराठी में भाषान्तर करने का श्रेय इन्हें निस्सन्देह रूप में प्राप्त है।

मराठी-साहित्य में आधुनिक युग आरम्भ होने से पूर्व 'शाहिरी वाङ्मय' का प्रचुर निर्माण हुआ। इसकी भी अपनी विशेषताएँ हैं। इसमें 'पोवाडा' और 'लावणी' नामक दो काव्य-प्रकार उपलब्ध होते हैं। प्रथम काव्य-प्रकार में वीर रस तो द्वितीय में श्रृंगार रस की परिपुष्ट अभिव्यंजना हुई है। केवल साहित्य ही नहीं ऐतिहासिक दृष्टि से भी पोवाडों का महत्व है। 'शाहिरी वाङ्मय' के निर्माण में रामजोशी, अनंतफंदी, प्रभाकर, होनाजीबाळ, सगनभाऊ, परशुराम, गंगु हैबती आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। अनेक कवियों को राजाश्रय प्राप्त था। युद्धों का सजीव वर्णन इनकी रचनाओं में उपलब्ध होता है। वीरता के साथ श्रृंगार का सम्बन्ध भी जुड़ा चला आता है। इन कवियों ने पंडित या कला कवियों की भाँति, कृष्ण-गोपी या देवी-देवताओं को ही आलंबन बनाकर श्रृंगार-वर्णन नहीं किया, वरन् सामान्य मानवी धरातल पर भी श्रृंगार और वीर रस की परिपुष्ट अभिव्यंजना की है। इन्होंने अपने पोवाडों और लावणियों की रचनाओं में संस्कृत-साहित्यशास्त्र के नियमों तथा तत्वों का एकांत पालन नहीं किया है और न साहित्यशास्त्र के नवीन तत्वों का प्रतिपादन ही किया है।

उपसंहार

इस प्रकार मराठी साहित्य-विकास के प्रथम चरण की अवधि सात सौ वर्षों (ई० सन् ११२८ से १८१८) की हुई। इसमें महानुभाव पंथ के कवियों, संत-कवियों, कला कवियों तथा शाहीरों ने मराठी-साहित्य की अभिवृद्धि में प्रचुर

---

१. डा० वि० पा० दाण्डेकर : मराठी साहित्याची रूपरेषा, पृ० १४२ प्र० सं०

२. महाराष्ट्रीयांचे काव्य परीक्षण, पृ० ७४

योगदान किया है । परन्तु साहित्यशास्त्र की दृष्टि से संत कवियों तथा कला कवियों का योगदान विशेष उल्लेखनीय है । इनमें भी संतकवियों का साहित्यशास्त्र के तत्वों का चिंतन एकांततः संस्कृत-साहित्यशास्त्रानुसारी नहीं है । इनकी काव्य-सृजन की प्रेरणा मूलतः भिन्न प्रकार की थी । काव्य-निर्माण उनका साध्य नहीं था, काव्य तो सहज ही परमार्थ-सिद्धि का साधन मात्र था । अतः प्रसंगवश जहाँ कहीं इन संत कवियों ने काव्य-सिद्धान्तों का निरूपण कर भी दिया है तो वे सिद्धान्त पारमार्थिक दृष्टि से निर्मित साहित्य के लिए अधिक उपादेय व समीचीन प्रतीत होते हैं अपेक्षाकृत लौकिक दृष्टि से निर्मित साहित्य के लिए । आज हम लौकिक दृष्टिकोण अपनाकर संत कवियों द्वारा प्रतिपादित काव्य-तत्वों को भले ही अनुपादेय समझें, परन्तु उनके युग-धर्म तथा तदनुरूप निर्मित काव्य-साहित्य के दृष्टिकोण से प्रतिपादित उनके काव्य-तत्वों का अपना स्वतंत्र मूल्य भी है ।

अधिकांश कला या पंडित कवियों ने अपने काव्यों की केवल मूल वस्तु ही संस्कृत-काव्यों से ग्रहण नहीं की वरन् अभिव्यक्ति-पद्धति तथा प्रतिपादन-शैली में भी संस्कृत-साहित्यशास्त्र के तत्वों का ही अनुसरण किया है । संस्कृत के रस, ध्वनि, अलंकार आदि तत्वों का तथा विविध संस्कृत-वृत्तों का सप्रयत्न प्रयोग इसका स्पष्ट प्रमाण है । नागेश, विट्ठल आदि पंडित कवियों ने 'रसमंजरी' आदि के रूप में संस्कृत-साहित्यशास्त्र के तत्वों का ही मराठी में भाषान्तर-सा प्रस्तुत कर दिया है । इससे साहित्यशास्त्र के नवतत्वान्वेषण की अपेक्षा परंपरा-ग्रहण की ओर ही इनका अधिक झुकाव प्रतीत होता है । इन्होंने अपने परवर्ती आधुनिक युग के आरम्भिक साहित्यशास्त्रकारों के लिए संस्कृत के समृद्ध साहित्यशास्त्र को मराठी में भाषान्तरित करने का स्पष्ट संकेत दे ही दिया है, भले ही वे स्वयं मौलिक उद्भावन में असमर्थ रहे । अनेक पंडित कवियों ने सिद्धान्त और व्यवहार का जो मणिकांचन संयोग प्रस्तुत किया है, वह मराठी-साहित्य में अप्रतिम है ।

द्वितीय चरण (१८१९ ई० सन् से १९०० तक)

महाराष्ट्र में पेशवा-राज्य की समाप्ति के साथ अंग्रेजों का शासन आरम्भ हुआ । इस राजनीतिक परिवर्तन के अतिरिक्त ईसाई मिशनरियों के धार्मिक आन्दोलन से भी महाराष्ट्र के समाज तथा जातीय जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन आरम्भ हुए । ईसाई धर्म की प्रतिक्रिया-स्वरूप तथा तत्कालीन धार्मिक-साम्प्रदायिक आन्दोलनों के परिणामस्वरूप महाराष्ट्र में 'प्रार्थना-समाज', 'आर्यसमाज' आदि संस्थाओं की स्थापनाएँ हुईं । फलतः समाज-जीवन के साथ-साथ साहित्य-जगत् में भी एक नये युग का सूत्रपात हुआ । पाश्चात्य संस्कृति तथा ईसाई धर्म का प्रभाव महाराष्ट्रीय जन-जीवन पर पड़ रहा था । इसकी प्रबल प्रतिक्रिया हुई, जिससे आरंभिक

मराठी-साहित्य में धार्मिक सिद्धान्तों तथा समाज-सुधारक तत्वों की ही मीमांसा अधिक होती रही। इस युग का आरंभिक साहित्य इसी स्वर से मुखरित है। साहित्यशास्त्र के तत्वों के गहनचिन्तन के लिए इस समय अनुकूल वातावरण नहीं था।

अनुवाद की प्रवृत्ति का जागरण :

कतिपय अंग्रेज शासक भारतीय भाषाओं के प्रति भी अनुराग रखते थे। परिणामतः बंबई के प्रथम गवर्नर मौंट स्टुअर्ट एल्फिस्टन के प्रयत्न से शिक्षा-विभाग में मराठी-माध्यम रखने का निश्चय किया गया। एतदर्थ उन्होंने आर्थिक सहायता प्रदान कर अंग्रेजी-ग्रन्थों का मराठी में भाषान्तर कराया। कालान्तर में नीति-परिवर्तन के फलस्वरूप मराठी भाषा में शिक्षण बंद कर दिया गया। अतः सरकारी सहायता से मराठी-साहित्य की अभिवृद्धि एक प्रकार से अवरुद्ध हो गई। परन्तु अनेक साहित्य-सेवियों ने इस कार्य को आगे बढ़ाया। इसी समय अपना विशिष्ट उद्देश्य लेकर ईसाई मिशनरी के कार्यकर्ता मराठी भाषा में अनेक ग्रन्थ प्रकाशित करने लगे। इन सभी प्रयत्नों से मराठी-साहित्य की आरम्भिक वृद्धि में सहायता ही मिली। इससे व्याकरण, कोश, नाटक, उपन्यास, धर्मशास्त्र, भौतिक शात्र आदि विविध विषयों पर मराठी में भाषान्तर रूप में ही क्यों न हो, साहित्य-निर्माण होने लगा। भाषान्तर के लिए साहित्यकारों की दृष्टि संस्कृत तथा अंग्रेजी भाषा के समृद्ध साहित्य की ओर गई। फलतः अंग्रेजी के अतिरिक्त संस्कृत-साहित्य के अनेक ग्रन्थों का मराठी में अनुवाद हुआ। संस्कृत के काव्य-साहित्य पर दृष्टि-पात करते ही उसका समृद्ध साहित्यशास्त्र भी अनायास ही सब को आकर्षित कर लेता है। अतः संस्कृत के लब्ध-प्रतिष्ठ कवि भवभूति, कालिदास, शूद्रक आदि के काव्य-नाटकों का मराठी में जहाँ अनुवाद हुआ, वहाँ इन पर अधिष्ठित अनेक साहित्यशास्त्र के ग्रन्थों का अनुवाद भी आवश्यक समझा गया। इस प्रकार मराठी साहित्यशास्त्र का यह द्वितीय चरण मुख्यतः संस्कृत-साहित्य-शास्त्र को मराठी भाषा में अवतरित करने की ओर अग्रसर हुआ है।

श्री परशुराम पंत ने 'वेणीसंहार', 'उत्तररामचरित', 'शाकुंतल', 'मृच्छकटिक' 'नागानंद' आदि संस्कृत की लौकिक काव्य परंपरा से सम्बद्ध कृतियों का अनुवाद किया है और 'रस' या 'अलंकार' ग्रन्थ की अपेक्षा छंदःशास्त्र पर 'वृत्तदर्पण' नामक छोटा-सा ग्रन्थ लिखा है, इसमें संस्कृत के ही वृत्तों का परिचय दिया गया है। इन्हीं के समकालीन अन्य लेखक कृष्णशास्त्री राजवाडे ने 'मालतीमाधव', मुद्रा-राक्षस, शाकुंतल, विक्रमोर्वशीय ग्रन्थों का भाषान्तर किया और साथ ही 'अलंकार विवेक' (१९५३ ई० सन्) ग्रन्थ की भी रचना की। इसमें संस्कृत-अलंकारों

का ही मराठी भाषा में अनुवादात्मक प्रतिपादन है। यद्यपि मराठी के भक्तिकालीन 'कलाकवि' या पंडित-कवियों ने भी संस्कृत की लौकिक परंपरा-संबद्ध कृतियों का सबल आधार ग्रहण किया है, फिर भी भक्ति-भावना के प्रभाव से वे नितांत मुक्त नहीं हो सके थे, परिणामतः संपूर्ण संस्कृत-साहित्यशास्त्र को मराठी में अनूदित करने की ओर उनकी प्रवृत्ति नहीं गई। आधुनिक युग के प्रारम्भ में ही संस्कृत के लौकिक साहित्य और उसके साहित्यशास्त्र की अनुवादात्मक प्रवृत्ति मराठी-लेखकों में उत्तरोत्तर बढ़ती गई। इन आरम्भिक लेखकों को केवल संस्कृत भाषा का ही नहीं, वरन् अंग्रेजी भाषा-साहित्य का भी ज्ञान था, परिणामतः प्रसंगानुरूप अनेक लेखकों ने अपने सामयिक साहित्य तथा अंग्रेजी-काव्य-साहित्य के तत्वों पर भी दृष्टिपात करके परवर्ती लेखकों को विशाल दृष्टिकोण अपनाने का मानो आरंभ में ही संकेत दे दिया है। इस काल की उपलब्ध रचनाओं का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है—

प्रभू बाजी शिवाजी प्रधान : रसमाधव (१८६८ ई०)

श्री प्रधान ने संस्कृत साहित्यशास्त्र के प्रमुख सिद्धान्त 'रस' पर ही 'रसमाधव' नामक ग्रन्थ लिखा है। इसमें एकांततः शाब्दिक अनुवाद की अपेक्षा भावग्रहणात्मक प्रतिपादन भी है। इसके मूल आधार-ग्रन्थ हैं—भरतकारिका, रसमंजरी, रसविलास, रसिकानंद, भानुदत्त की रसतरंगिणी इत्यादि। इसमें भरतमुनि-प्रतिपादित आठ रसों का उल्लेख है। मूल संस्कृत सूत्रों तथा कारिकाओं का तो मराठी में यथावत् भाषान्तर है। संस्कृत-उदाहरणों का भी मराठी में अनुवाद किया गया है। संपूर्ण ग्रन्थ १४ अध्यायों में विभक्त है। इसमें मौलिक चिन्तन का अभाव है।

श्री ज० वि० दामले : अलंकारादर्श (१८८५)

मम्मट, विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित आदि के अलंकार-विवेचन को दृष्टि में रखकर इस ग्रन्थ की रचना की गई है। लेखक का उद्देश्य अलंकारों को सोदाहरण सरलतापूर्वक समझा देना मात्र रहा है, अतः नवीन चिन्तन या विवेचन को इसमें स्थान नहीं मिला है।

श्री बलवन्त कमलाकर माकोडे : 'रस प्रबोध' (१८९२), 'रूपक प्रबोध' (१८९०)

'रस प्रबोध' में रससिद्धान्त का ही प्रमुख रूप से विवेचन है। रस-लक्षण, स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव इत्यादि का विवेचन करने के उपरान्त ही रसों का सोदाहरण निरूपण किया गया है। इनके अतिरिक्त वात्सल्य, भक्ति तथा-प्रेयान् का भी इन्होंने विवेचन किया है। आनुषंगिक रूप से ध्वनि-सिद्धान्त, रस-प्रतीति, आदि की भी मीमांसा की गई है। अंत में श्री माकोडे ने रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति,

अलंकार आदि की अपेक्षा 'रस ही काव्य की आत्मा है' इस मत का पूर्ण समर्थन किया है ।

'रसप्रवोध' संस्कृत-ग्रन्थों पर आधृत है फिर भी उनका अनुवाद मात्र नहीं है । मूल संस्कृत-साहित्यशास्त्र के तत्वों को हृदयंगम करके उनका स्वतंत्र प्रति-पादन-सा कर दिया गया है । दूसरी विशेषता यह है कि इसमें समस्त उदाहरणों को भी संस्कृत से ही अनूदित करने की अपेक्षा मराठी कवियों के काव्यों से भी उद्धृत करने का पूर्ण प्रयत्न किया गया है ।

श्री माकोडे ने युगधर्मानुरूप प्रगतिशील साहित्यतत्वों की ओर भी दुर्लक्ष नहीं किया था । अंग्रेजी काव्य-साहित्य के स्वरूप को दृष्टिगत रखकर ही इन्होंने 'रसप्रबोध' में प्रगतिशील उदार दृष्टिकोण भी अपनाया है और नवीन मतों की स्वीकृति को असंगत नहीं माना है ।[1] रस-सिद्धान्त पर लिखे गये प्राचीन ग्रन्थों में 'रस प्रबोध' का महत्वपूर्ण स्थान है ।

श्री रा० रा० भागवत : अलंकार मीमांसा (१९९३)

यद्यपि श्री भागवत का मूल विवेच्य विषय था—अलंकार । तथापि रसों की मीमांसा इसमें आ गई है । सरस स्वभावोक्ति में भक्तिरस को प्रधानता दी गई है । इसके बाद भक्ति, वीर, श्रृंगार आदि आठ रसों को स्थान दिया गया है । इन्होंने भक्तिरस को प्रमुख स्थान देकर इसी में शांतरस को भी समाविष्ट कर दिया है । परंपरागत नौ रसों में से शांत को भक्ति में अन्तर्भूत करके भक्तिरस को श्रेष्ठ प्रतिपादित करने में प्राचीन भक्तिकालीन मराठी-साहित्य पर भी इनकी दृष्टि रही है । कतिपय अंग्रेजी के अलंकारों का निरूपण भी इन्होंने किया है । इनकी धारणा में स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति अलंकार नहीं हैं, वरन् अलंकार्य हैं । इनके

---

१. "इधर अंग्रेजी काव्यों का जिन्होंने अच्छा आस्वादन किया है, उनकी धारणा में वही उत्तम काव्य है, जिसमें सृष्टिसौन्दर्य तथा वस्तुस्वभावों का उत्कृष्ट वर्णन हो । इससे संभव है कि कतिपय दिनों में कदाचित् स्वभावोक्ति अलंकार ही काव्य का आत्मतत्व बन बैठे । लोकरुचि दिवसानुदिवस परिवर्तित होती है और काव्य का सम्बन्ध मनोरंजन से है । इस आधार से रुचि के अनुरूप जनमत में जो-जो परिवर्तन होंगे तदनुरूप ही साहित्यशास्त्रकारों को अपने लक्षण ग्रन्थ लिखने चाहिएँ । यह न तो गणितशास्त्र है और न ही ज्योतिषशास्त्र ही जिसके मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों में लाखों वर्ष बीतने पर भी किंचित् भी परिवर्तन न आ सके । अतः केवल प्राचीन मतों पर ही एकांत आग्रह करना समीचीन नहीं है ।"

—'रस प्रबोध'—आ० मराठी वाङमया चा इतिहास, पृ० ५७५, प्रथम भाग ।

मत में स्वभावोक्ति के तीन प्रकार हैं—नीरस, सरस और कालिक। परंपरागत वर्णनात्मक स्वभावोक्ति ही नीरस स्वभावोक्ति है। संस्कृत की रस-ध्वनि ही सरस स्वभावोक्ति है और संस्कृत के भाविक अलंकार को ही इन्होंने कालिक स्वभावोक्ति माना है।[१]

गणेश सदाशिव लेले : साहित्यशास्त्र (१८९४)

श्री लेले के 'साहित्यशास्त्र' का आधार भी संस्कृत-साहित्यशास्त्र के अनेक ग्रन्थ हैं। इसमें साहित्यशास्त्र के प्रायः सभी अंगों का विवेचन है। पर ग्रन्थ संस्कृत साहित्यशास्त्र के अनेक ग्रन्थों की भाँति प्रश्नोत्तर पद्धति में ही लिखा गया है। इसके चतुर्थ प्रकरण में रस-विवेचन है। इस ग्रन्थ में कतिपय उदाहरण संस्कृत के ही भाषांतरित हैं, कतिपय मराठी-कवियों की रचनाओं से प्रस्तुत किये गये हैं तो कतिपय इन्होंने स्वयं ही रचे हैं। इस ग्रन्थ में विचार स्वातंत्र्य या मौलिकता का अभाव होने पर भी लेखक का सर्वांगीण दृष्टिकोण प्रशंसनीय है।

रा० बा० तळेकर शास्त्री : अलंकार दर्पण (१८९५ ई०)

संस्कृत-साहित्यशास्त्र की अलंकार-सम्पत्ति को मराठी-भाषा में अनूदित करने का ही प्रयत्न 'अलंकार दर्पण' में किया गया है। इनका ग्रन्थ पूर्ववर्ती किसी एक ही आलंकारिक आचार्य की रचना पर आधृत नहीं है, विशेषतः रस-ध्वनिवादी मम्मट, विश्वनाथ आदि के अलंकार-निरूपण से इसमें सहायता ली गई है।

वामन एकनाथ क्षीरसागर : अलंकार विकास (१८९६)

संस्कृत-साहित्यशास्त्र के आलंकारिक अप्पयदीक्षित के 'कुवलयानंद' का ही क्षीरसागर ने 'अलंकारविकास' नाम से मराठी में पूर्ण अनुवाद प्रस्तुत किया है। अनुवाद में मराठी पद्य और गद्य दोनों का ही आश्रय लिया गया है। अनुवाद की दृष्टि से क्षीरसागर को इसमें पर्याप्त सफलता मिली है।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ होने से पूर्व पूर्वोक्त साहित्यशास्त्र विषयक ग्रन्थों के साथ साथ भाषा-साहित्य के सौन्दर्यवर्द्धक तत्वों के प्रतिपादक कतिपय ग्रन्थ भी लिखे गये। इनमें आनंदराव माधवराव चौधरी का 'शब्दश्लेष चमत्कार' (१८९१ ई०) तथा गो० ना० साठे का 'महाराष्ट्र भाषेची लेखन कला' (१८९३) उल्लेखनीय हैं। आरंभ में अलंकार तथा रस तत्त्व का विवेचन प्रमुख रूप से चलता रहा, फिर भी संक्षेप में रीति-ध्वनि आदि अन्य तत्त्वों का भी निरूपण हुआ है। अपनी रचनाओं का नाम 'अलंकार' रखते हुए भी कतिपय

---

१. आ० मराठीवाङ्मयाचा इतिहास, प्र० भा०, पृ० ५७४।

लेखकों ने रस, रीति, ध्वनि आदि अन्य काव्य तत्त्वों का निरूपण उपादेय समझा है ।

लक्ष्मण गणेश शास्त्री लेले : अलंकार प्रकाश (१९०५ ई०)

इनका ग्रन्थ काव्यप्रकाश की भाँति 'उल्लासों' में विभक्त है । इसमें पाँच उल्लास हैं । ग्रन्थ का नाम 'अलंकार प्रकाश' है, परन्तु अलंकार-इतर तत्त्वों का भी इसमें निरूपण है । काव्यलक्षण, शब्दशक्ति, काव्य-भेद, रस, रीति आदि की भी मीमांसा की गई है । संख्या की दृष्टि से बारह रसों का उल्लेख किया गया है । द्वितीय उल्लास में अलंकार-विवेचन है । शब्दालंकार, अर्थालंकार, रसवदादि अलंकार तथा अलंकार सम्मेलन आदि प्रमुख अलंकार-वर्गों में १०० से भी अधिक अलंकारों का सोदाहरण निरूपण है । उदाहरण मराठी-काव्यों से भी लिये गये हैं । लक्षण गद्य में तथा उदाहरण पद्य में दिये गये हैं । आचार्य मम्मट के अतिरिक्त पंडितराज जगन्नाथ, विश्वनाथ, अप्पय दीक्षित आदि संस्कृत आचार्यों की कृतियों का आधार भी ग्रहण किया गया है ।

गणेश मोरेश्वर गोरे : काव्यदोष दीपिका (१९०८)
अलंकार चन्द्रिका (१९०५),

'अलंकार चन्द्रिका' में लेखक ने केवल अलंकारों का ही निरूपण नहीं किया है, वरन् 'अलंकारशास्त्र का इतिहास', अलंकारों की उपयोगिता, काव्य-लक्षण, काव्य-भेद तथा रसों का भी संक्षिप्त विवेचन किया है । शब्दालंकार, वर्ग में छः और अर्थालंकार वर्ग में ५८ अलंकारों का सोदाहरण निरूपण हुआ है । इन्होंने कुवलयानंद आदि ग्रन्थों में निरूपित अनेक अलंकारों के अलंकारत्व का प्रतिषेध किया है और कतिपय का स्व-निरूपित अलंकारों में ही अन्तर्भाव दर्शाया है । श्री गोरे नें अलंकार-निरूपण में पर्याप्त व्यापक दृष्टिकोण अपनाया है ।

'काव्यदोष दीपिका' की प्रस्तावना (पृ० ४) में श्री गोरे ने लिखा है : 'तार्किक दृष्टि से कविता के दोषों का विवेचन करना मानो कविता की हत्या कर देना है ।' अत: दोष-निरूपण को अधिक विस्तार न देकर इन्होंने शब्द-दोष, अर्थ-दोष, रस-दोष तथा अंत में अलंकार-दोषों का भी विवेचन किया है । इनके काव्य-दोष विवेचन का आधार मुख्य रूप से मम्मट का काव्यप्रकाश ही है ।

रा० भि० जोशी : सुलभ अलंकार (१९१२)
अलंकार विवेक (१९०९)

ये दोनों ग्रन्थ विद्यार्थी-वर्ग को ध्यान में रख कर लिखे गये हैं । केवल ५० अलंकारों का निरूपण है । इनमें अद्‌भुत, उदात्त, करुण, भक्ति, भयानक,

वत्सल, वीर, शृंगार, शांत तथा हास्य इन दस रसों का भी निरूपण है। माधुर्य, ओज, प्रसाद आदि काव्यगुणों का संस्कृत के आधार पर सरल निरूपण मात्र है।

सदाशिव बापुजी कुलकर्णी : भाषा सौंदर्य शास्त्र (१९०८)

इस ग्रन्थ में काव्यशास्त्र के तत्वों का ही प्रमुख रूप वे विवेचन है। परन्तु दृष्टि भाषा-सौन्दर्य-वर्द्धन पर केन्द्रित की गई है। इनके प्रतिपादन की रूप-रेखा निम्न रूप में समझी जा सकती है :

शब्दयोजना—(१) शब्द दोष—च्युतसंस्कृति, अप्रयुक्त, संदिग्ध आदि छः दोष।
(२) शब्द गुण—प्रसाद, माधुर्य, संक्षिप्तत्व, समाधि और उदात्त—पाँच।

वाक्य रचना—वाक्य दोष विवेचन—न्यूनपदत्व, अधिकपदत्व आदि।

अर्थ साधन—(१) अर्थ के भेद—वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ, व्यंग्यार्थ।
(२) अर्थ के दोष—अपुष्टार्थ, व्याहत आदि।
(३) अर्थ के गुण—भाविकत्व, सुशब्दत्व, पर्यायोक्ति, सुधर्मिता।

रसविचार—हाव, भाव, स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव आदि के साथ परंपरागत नौ रसों का निरूपण किया गया है।

अलंकार विचार—शब्दालंकार—अनुप्रास, यमक, श्लेष, वक्रोक्ति और चित्र।
अर्थालंकार—उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, दृष्टांत, निदर्शना, विशेषोक्ति व्याजस्तुति और स्वभावोक्ति।

इनके अतिरिक्त भी अनेक अनुवादात्मक तथा टीकात्मक ग्रन्थों के प्रकाशन का क्रम महाराष्ट्र में चलता रहा। चि० ग० भानु ने नाट्यशास्त्र (१९१७) लिखा और मुकुल की अभिधावृत्तिमात्रिका (१९१६) रुद्रट के काव्यालंकार (१९२८) आनंदवर्धन के ध्वन्यालोक (१९२८) का भी प्रकाशन हुआ।

विद्याधर वामन भिडे : साहित्य कौमुदी (१९३२)

इस ग्रन्थ में काव्यप्रकाश के पाँच उल्लासों का मराठी में अनुवाद प्रस्तुत किया गया है, स्वतंत्र मौलिक चिन्तन नहीं है। इससे स्पष्ट है कि मराठी साहित्य-शास्त्र की विकास-परंपरा में संस्कृत-साहित्यशास्त्र के ग्रन्थों का अनुवादात्मक कार्य उन्नीसवीं शती के अंत में ही नहीं, वरन् बीसवीं शताब्दी में भी चलता ही रहा।

द्वितीय चरण के लेखकों की देन

यद्यपि इस चरण के सभी लेखकों ने संस्कृत-साहित्यशास्त्र के ग्रन्थों का शब्दशः समूल अनुवाद प्रस्तुत नहीं किया है, फिर भी अधिकांश लेखकों का

दृष्टिकोण संस्कृत-साहित्यशास्त्र के तत्त्वों को मराठी भाषा में अवतरित करना था। अधिकांश लेखकों ने जगन्नाथ, विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित, मम्मट, भानुदत्त आदि उत्तर ध्वनिकालीन आचार्यों की रचनाओं का मुख्य आधार ग्रहण किया है, परिणामतः रीति, वक्रोक्ति तथा ध्वनि-सिद्धान्तों पर अपेक्षित विवेचन नहीं हो सका, अलंकार और रसतत्त्व की ही मीमांसा अधिक हुई है।

अधिकांश लेखकों ने संस्कृत-साहित्यशास्त्र के विभिन्न तत्त्वों के लक्षणों का मराठी में यथावत् अनुवाद कर दिया है, परन्तु उदाहरण मराठी के संत एवं कला कवियों के काव्यों से उद्धृत किये हैं। कतिपय ने संस्कृत के उदाहरणों का भी मराठी में पद्यात्मक अनुवाद किया है तो कतिपय लेखकों ने स्वरचित उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं।

रस तत्व को ही अधिकांश लेखक काव्य का आत्मतत्त्व स्वीकार करते हैं, परन्तु रस-संख्या-निर्धारण, तथा रसों के मुख्य-गौण भाव के निर्धारण में एकांततः संस्कृत-आचर्यों का ही अनुसरण नहीं करते। श्री दाजी शिवाजी प्रधान ने भरत के आठ रसों को, श्री माकोडे ने परंपरागत नौ रसों के अतिरिक्त वात्सल्य तथा प्रेयान् को श्री रा० भि० जोशी ने 'उदात्त' को मिलाकर दस रसों को तथा श्री लेले ने बारह रसों को मान्यता दी है। श्री रा० भागवत ने तो भक्ति को ही प्रमुख रस माना है और इसी में शांत का अन्तर्भाव कर दिया है।

रस की अपेक्षा अलंकारों का विवेचन अधिक हुआ है। फिर भी संस्कृत साहित्यशास्त्र की समृद्ध अलंकार-संख्या को यथावत् अपनाने का प्रयत्न नहीं किया गया। अधिकांश लेखकों ने बहु-प्रयुक्त तथा प्रत्यक्ष काव्योपयोगी अलंकार-निरूपण तक ही अपने अध्ययन को सीमित रखा है। कतिपय ने पाश्चात्य अलंकारों के भी संग्रह का प्रयत्न करके अपने दृष्टिकोण की विशालता का परिचय दिया है।

समग्रतः इस चरण के लेखकों ने परंपरा-पालन करते हुए भी समसामयिक युग-धर्म तथा साहित्य की नवीन प्रवृत्तियों को समझने का प्रयत्न किया था। परन्तु यह प्रयत्न प्रारंभिक और नितांत स्वल्प था।

तृतीय चरण (१९०० से १९६० तक)

इस युग में द्वितीय चरण की अनुवादात्मक प्रवृत्ति का एकांत अभाव तो नहीं हुआ फिर भी संस्कृत-साहित्यशास्त्र के सिद्धान्तों को केवल लक्षण-उदाहरण पूर्वक समझाने के अतिरिक्त उन पर स्थिरतापूर्वक चिन्तन भी किया गया है।

ई० सन् १९०० तक मराठी-साहित्य की प्रचुर वृद्धि हो चुकी थी। संस्कृत, अंग्रेजी आदि भाषाओं से तथा स्वतंत्र रूप से भी निबन्ध, नाटक, चरित, उपन्यास, कहानी,

काव्य आदि साहित्यरूपों का समृद्ध विकास हुआ है। साहित्यरूपों के साथ पाश्चात्य आलोचना-प्रणाली की ओर भी लेखकों का ध्यान आकृष्ट होना सहज स्वाभाविक था। अनेक लेखकों को संस्कृत-साहित्यशास्त्र के रस, अलंकार, रीति आदि तत्त्व अपूर्ण से प्रतीत होने लगे। अतः कतिपय ने नवीन साहित्य-शास्त्र-निर्माण पर भी विशेष बल दिया है। डा० श्रीधर व्यंकटेश केतकर के मत में उत्तरकालीन संस्कृत-साहित्यशास्त्रज्ञों ने देशी भाषाओं में निर्मित साहित्य की ओर दुर्लक्ष किया है, परिणामतः संस्कृत-साहित्य-शास्त्र कुंठित हुआ है।[1] श्री नरसिंह चिन्तामणि केळकर ने भी अपने सामयिक साहित्य के समृद्ध स्वरूप पर दृष्टि को केन्द्रित करके लिखा है 'बढ़ते हुए मराठी साहित्य के साथ संस्कृत साहित्यशास्त्र का निभाव होना कठिन हो गया है, अतः नवीन साहित्यशास्त्र-निर्माण की आवश्यकता प्रतीत होने लगी है।'[2] इस प्रकार इस युग के अनेक साहित्यशास्त्रज्ञ संस्कृत-साहित्यशास्त्र के प्रति आस्था रखते हुए भी नवीनता के पक्षपाती थे। परिणामतः इस तृतीय चरण में संस्कृत-साहित्यशास्त्र के तत्त्वों का भाषान्तर, पुनराख्यान तथा पुनर्मूल्यांकन किया गया है और इन्हीं के साथ पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के तत्वों की भी प्रसंगानुरूप मीमांसा की गई है।

२०वीं शताब्दी के आरम्भ होने से पूर्व ही श्री विष्णुशास्त्री चिपळूणकर, गोपाळगणेश आगरकर तथा शिवराम महादेव परांजपे आदि लेखकों ने काव्य-शास्त्र पर स्वतंत्र ग्रन्थ न लिख कर स्फुट लेख रूप में अपनी मान्यताएँ प्रकट की हैं। श्रीविष्णुशास्त्री चिपळूणकर का ग्रन्थ 'संस्कृतकवि पंचक', श्री आगरकर का निबन्ध 'कवि काव्य व काव्यरति' तथा श्री शिवराम महादेव परांजपे के संस्कृत के काव्य-नाटकों पर लिखे गये अनेक लेख इसके स्पष्ट प्रमाण हैं। इन तीनों ही लेखकों को अंग्रेजी भाषा-साहित्य का भी ज्ञान था, परिणामतः इनके चिंतन

---

१. "ज्ञानेश्वरी जैसे वेदांत ग्रन्थ की ओर उन्होंने दुर्लक्ष किया तो इसमें उनका दोष नहीं संभवतः वे इसे काव्य की कोटि में न समझते हों, परन्तु 'पृथ्वीराज रासो', 'आल्हाखंड' आदि हिन्दी के ग्रन्थों पर तो उन्हें (संस्कृत-साहित्यशास्त्रज्ञों—विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि––को) विचार करना अपेक्षित था। यदि उसी समय व इस दिशा में चिन्तन की ओर अग्रसर होते तो अब तक भारतीय साहित्य शास्त्र को एक नई गति प्राप्त हो जाती।" डा० श्री० व्यं० केतकर: महाराष्ट्रीयांचे काव्य परीक्षण, पृ० २

२. श्री न० चि० केळकर : हास्यविनोद मीमांसा, पृ० ३१५।

में परंपरा का एकांत पालन नहीं मिलता, नवीनता के प्रति भी इनका आग्रह स्पष्ट दिखाई देता है।

मराठी में नवीन काव्यतत्वों का चिंतन द्वितीय चरण के प्रारंभिक लेखकों की रचनाओं में अत्यंत स्वल्प रूप में मिलता है। परन्तु बीसवीं शती के आरम्भ होते ही भारतीय काव्य-तत्वों के साथ-साथ पाश्चात्यों की काव्य-धारणाओं का भी उल्लेख आरम्भ हो गया था। श्री वा० ब० पटवर्धन ने 'काव्य आणि काव्योदय' (१९०९) ग्रन्थ लिखा। इसमें पाश्चात्य काव्यतत्वों के अध्ययन का आधार लिया गया है। श्री अ० ना० देशपांडे के मत में इसी ग्रन्थ से मराठी के आधुनिक साहित्यतत्व-विवेचन का वास्तविक आरम्भ हुआ है।[1] श्री पटवर्धन ने काव्य-सृजन की परिस्थितियों, काव्य-स्वरूप, कवि-प्रतिभा, छंद आदि विषयों पर परंपरा का एकांत अनुसरण किये बिना अपने स्वतंत्र विचारों की भी स्पष्ट अभिव्यक्ति की है।

श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर स्वयं युग-प्रवर्तक नाटककार थे। इन्होंने साहित्य शास्त्र विषय पर स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं लिखा। फिर भी 'विविध ज्ञान विस्तार' (१९०९) में 'मराठी साहित्यांतील विशेष व त्याचे उगम' लेख लिख कर रस के विषय में अपनी स्वतंत्र मान्यताएं प्रस्तुत की हैं। इन्होंने 'विदर्भवीणा' की प्रस्तावना में भी रसों के वर्गीकरण का अभिनव प्रयत्न किया है।[2] इनका रस-विवेचन एकांततः संस्कृत-आचार्यों की धारणाओं का ही परिपोषक नहीं है।

श्री नरसिंह चिंतामणि केळकर संस्कृत-साहित्यशास्त्र तथा अंग्रेजी साहित्य शास्त्र के ज्ञाता थे। अतः आधुनिक मराठी साहित्यशास्त्र के विकास में इनका महत्वपूर्ण स्थान है। इन्होंने प्रथम 'सुभाषित आणि विनोद' (१९०८) नामक ग्रन्थ लिखा है। इस में संस्कृत-साहित्यशास्त्र की परंपरा से भिन्न नवीन स्थापनाएँ की गई हैं। श्रृंगार की अपेक्षा हास्य को रसराज सिद्ध किया गया है। इस ग्रन्थ को ही संवर्द्धित करके इन्होंने 'हास्य विनोद मीमांसा' (१९३७) नामक बृहद् ग्रन्थ प्रकाशित किया। इसमें हास्यरस तथा उसके विभिन्न स्वरूपों की मीमांसा अंग्रेजी साहित्यकारों की धारणाओं के आधार पर भी अत्यन्त विस्तारपूर्वक की गई है।

साहित्यशास्त्र के सैद्धान्तिक चिन्तन की दृष्टि से इनका 'मराठी-साहित्य

---

१. आधुनिक मराठी वाङ्मयाचा इतिहास, पृ० ५७५।
२. दे० कोल्हटकर लेख-संग्रह (विदर्भवीणा की प्रस्तावना)

सम्मेलन' (१९२१) के अध्यक्षपद से दिया गया भाषण भी महत्वपूर्ण है। इसमें साहित्य के विविध अंगों पर प्रकाश डाला गया है। इन्होंने काव्यानंद (वाङ्मयानंद) के स्वरूप की व्यापक मीमांसा और साहित्य की नवीन परिभाषा प्रस्तुत की है—'जो सच्ची सविकल्प समाधि उत्पन्न करने में समर्थ है वही 'वाङमय' है।'[1]

श्री वि० परांजपे ने पंडित कवि मोरोपंत की 'केकावली' पर एक बृहत् टीका लिखी है। यह ग्रन्थ लगभग ९०० पृष्ठों में प्रकाशित है। इसमें संस्कृत अंग्रेजी और मराठी के साहित्यशास्त्र के सिद्धान्तों का प्रसंगानुरूप स्वच्छ विवेचन है। इसमें न केवल 'रस' या अलंकार तत्वों की ही मीमांसा है वरन् रीति, गुण ध्वनि, वृत्ति, दोष इत्यादि अनेक काव्य-तत्वों का प्रस्तावना के अतिरिक्त अन्यत्र आवश्यक स्थलों पर विस्तृत विवेचन हुआ है।

प्रो० श्री० नी० चाफेकर ने संस्कृत-साहित्यशास्त्र के नौ रसों पर विशेषत: मराठी के भक्तिकालीन साहित्य को दृष्टिगत रख कर संक्षिप्त विवेचन किया है। इन्होंने भक्तिरस को स्वतंत्र रसरूप में मान्यता देने के पक्ष में समर्थनात्मक विवेचन किया है साथ ही रसों का तुलनात्मक दृष्टिकोण से भी वर्गीकरण विवेचन किया है।[2]

डा० श्रीधर व्यंकटेश केतकर : महाराष्ट्रीयांचे काव्यपरीक्षण (१९२८)

डा० केतकर ने प्रस्तुत ग्रन्थ में आधुनिक युग से पूर्व के मराठी-काव्य का उद्बोधक पर्यालोचन किया है। इनकी समीक्षा-पद्धति अत्यंत सूक्ष्म तथा सामाजिक और राजनीतिक इतिहास का पुष्ट आधार ग्रहण किये हुए है। संस्कृत-साहित्यशास्त्र का विकास क्यों कुंठित हुआ ? क्या मराठी के संत कवियों की रचनाओं में साहित्यशास्त्र के स्वतंत्र तत्वों का प्रतिपादन है ? मराठी के संत कवियों पर दक्षिण तथा उत्तरभारत के किन-किन भक्ति-संप्रदायों का प्रभाव पड़ा ? आदि अनेक महत्वपूर्ण प्रश्नों का इनके ग्रन्थ में सूक्ष्म और परिपुष्ट विवेचन है। आलोचना तथा आलोचक के सम्बन्ध में संस्कृत, अंग्रेजी और मराठी साहित्य से तुलनात्मक विचार प्रस्तुत किये गये हैं। इन्होंने 'रामदासाचे साहित्यशास्त्र' प्रकरण में रामदास कवि की रचनाओं के आधार पर कतिपय महत्वपूर्ण काव्य-तत्त्वों के अन्वेषण-निर्धारण का भी प्रयत्न किया है। आधुनिक काव्यशास्त्र-चिन्तकों के लिए इस ग्रन्थ का महत्व असंदिग्ध है।

---

१. समग्र केळकर ग्रन्थ, साहित्य खंड, पृ० ४२-४५।

२. काव्य चर्चा (चतुर्थ प्रकाशन) : महाराष्ट्र शारदा मंदिर, 'रस विचार' लेख।

डा० पांडुरंग वामन काणे : संस्कृत साहित्यशास्त्राचा इतिहास (१९३०)

डा० काणे ने संस्कृत साहित्य के विविध विषयों पर महत्वपूर्ण अनुसन्धान किया है । प्रस्तुत इतिहास ग्रन्थ इनके साहित्यशास्त्र विषयक महत्वपूर्ण कार्य को प्रमाणित कर देता है । इन्होंने प्रथम १९१० में साहित्यदर्पण की भूमिका के रूप में संस्कृत साहित्यशास्त्र का इतिहास लिखा । १९२३ में इसी का संशोधित संस्करण प्रकाशित किया और १९३० में यही 'संस्कृत साहित्य शास्त्राचा इतिहास' नाम से स्वतंत्र ग्रन्थ रूप में मराठी में प्रकाशित हुआ है। इसमें संस्कृत साहित्यकारों का कालक्रमिक सर्वेक्षण तो है ही साथ ही रस, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवेचन भी हैं। साहित्यशास्त्र और इतर शास्त्रों के पारस्परिक संबन्ध की चर्चा भी पठनीय है,जो इनके अंग्रेजी लेख में नहीं है ।

आधुनिक युग के अनेक मराठी-साहित्यशास्त्रकारों ने इस ग्रन्थ का पर्याप्त आधार ग्रहण किया है । मराठी साहित्यशास्त्र के विकास में डा० काणे के इस इतिहास-ग्रन्थ का महत्वपूर्ण स्थान है ।

कु० गोदावरी केतकर : भारतीय नाट्यशास्त्र : (१९२८)

इस ग्रन्थ में नाट्यशास्त्र के सिद्धान्तों की सांगोपांग मीमाँसा है। १. नाट्यकला व नाट्यशास्त्र, २. भारतीय नाट्य गृह, ३. नृत्त, ४. भाव, ५., रस, ६. अभिनय, ७. नाट्य काव्य, ८. वस्तु, ९. नाट्यपात्र, १०. दशरूप, ११. पूर्व रंग आदि प्रकरणों में भारतीय नाट्य शास्त्र का विस्तृत परिचय दिया गया है । इनके विवेचन की विशेषता यह है कि अनेक तत्त्वों के स्पष्टीकरणार्थ मराठी-साहित्य के उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं जिससे इसमें आधुनिकता-सी आ गई है । रस-प्रकरण में रस-निष्पत्ति, नट तथा प्रेक्षकों की मनोवस्था आदि का सुंदर विवेचन है ।

श्री रा० श्री० जोग : अभिनव काव्यप्रकाश (१९३०)

प्रस्तुत ग्रन्थ में साहित्यशास्त्र के सभी अंगों का निरूपण हुआ है । संस्कृत साहित्यशास्त्र के तत्वों को मराठी साहित्य के उदाहरणों से समझाया गया है। इस ग्रन्थ के तीन संस्करण हो चुके हैं। प्रथम संस्करण में संस्कृत और मराठी साहित्यशास्त्र का संक्षिप्त इतिहास भी दिया गया था जो परवर्ती संस्करणों में नहीं मिलता । संस्कृत-साहित्यशास्त्र के साथ अंग्रेजी साहित्य तथा मानसशास्त्र के अध्ययन से इनके विवेचन में नवीनता आ गई है ।

सौन्दर्य शोध आणि आनंदबोध (१९४३)

श्री जोग के प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रथम 'विषय प्रवेश' के अन्तर्गत सौन्दर्य और

आनंद का परिचयात्मक निरूपण है। 'सौन्दर्यशोध' प्रकरण में 'वस्तुसौन्दर्य', 'वस्तु सौन्दर्य के प्राथमिक घटक', सुंदर चित्र और भव्य, रीति-सौन्दर्य्य, ध्वनि, औचित्य, वक्रोक्ति और वैचित्र्य, सत्य और शिव इत्यादि का सौन्दर्य के आधार पर तर्कपूर्ण विवेचन किया गया है। तीसरे 'आनंद बोध' प्रकरण में 'मानसशास्त्र' 'आनंद', 'समाधि और तादात्म्य' 'प्रत्यभिज्ञा और पुनः प्रत्यय,' 'समधातता', 'करुणरसमीमांसा', रसचर्वणा और चमत्कृति, सहृदय और अभिरुचि आदि विषयों पर संस्कृत साहित्यशास्त्र, अंग्रेजी साहित्यशास्त्र तथा मानसशास्त्र के आधार पर तर्कपूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया गया है। आधुनिक मराठी-साहित्य-शास्त्र के विकास में इस ग्रन्थ का भी महत्वपूर्ण स्थान है। इन्होंने साहित्यशास्त्र के अध्ययन में भारतीय और पाश्चात्य मतों का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए अपने दृष्टि-कोण की विशालता का परिचय दिया है। छंद तथा अलंकार विषय पर भी इन्होंने एक स्वतंत्र ग्रन्थ 'काव्यविभ्रम' (१९५१) लिखा है। इसमें छंद तथा अलंकारों के तात्विक स्वरूप की समीक्षा की गई है। इस ग्रन्थ-लेखन में विद्यार्थी वर्ग की ओर भी ध्यान रखा गया है, अतः परंपरागत लक्षण-उदाहरणात्मक शैली का इसमें निर्वाह किया गया है।

श्री दत्तात्रेय केशव केळकर : काव्यालोचन (१९३१)

'अभिनव काव्यप्रकाश' के समान ही यह ग्रन्थ भी काव्यशास्त्र का सर्वांग विवेचक ग्रन्थ है। १९४५ तथा १९५६ में इसके दो और संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। १९५६ के संस्करण में 'काव्यशास्त्र का अधिष्ठान और परंपरा', काव्य और काव्यशास्त्र, कविप्रतिभा, कवितपस्या, काव्यस्वरूप, रसचर्चा, काव्या-नंद मीमांसा, काव्य का कलात्मक ध्येय, काव्य का सामाजिक उत्तरदायित्व, काव्य, शास्त्र और दर्शन, काव्यसृष्टि और लौकिक सृष्टि आदि विषयों पर संस्कृत, अंग्रेजी तथा मराठी के काव्यशास्त्र-विवेचकों की धारणाओं का उल्लेख करते हुए अत्यंत सरस शैली में विविध काव्य-तत्वों का पुष्ट विवेचन किया गया है। अंतिम प्रकरण में रीति और अलंकार तत्वों की मीमांसा है। इन्होंने आधु-निक काव्य-शास्त्र-निर्माण के लिए प्राचीन मराठी काव्यशास्त्र (भक्तिकालीन), पाश्चात्य काव्यशास्त्र तथा संस्कृत काव्यशास्त्र से कितना अंश ग्राह्य है, या उस पर कितने नवीन संस्कार की आवश्यकता है, इसका दिशा-निर्देश भी प्रथम प्रकरण में कर दिया है। इनकी धारणा में 'पाठक की अभिरुचि को सुसंस्कृत करना ही काव्यशास्त्र का प्रमुख कार्य है।' (प्रस्तावना) इनके मत से प्राचीन मराठी साहित्यशास्त्र में तीन प्रमुख तत्वों का प्रतिपादन हुआ है—१. कवि-

प्रतिभा सर्वथा दैवी चमत्कारिक देन है । २. काव्य-शैली सरल, हृदयस्पर्शी और 'प्रासादिक' होनी चाहिए। ३. भगवद्भक्ति के अतिरिक्त अन्य विषय पर आधृत काव्य हीन कोटि का होता है, अतः काव्य का वास्तविक प्रयोजन भगवद्गुण-गान और मोक्ष-प्रवणता है ।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र की भी कतिपय विशिष्ट स्थापनाएँ हैं—१. अलंकार विवेचन को अनावश्यक विस्तार न देना, २. काव्य तथा इतर ललित कलाओं का सम्बन्ध-स्थापन, ३. संपूर्ण कलाओं में अन्तर्निहित सौन्दर्य-तत्व की मीमांसा। इनके अतिरिक्त 'काव्यसत्य' का व्यापक विवेचन तथा प्रसिद्ध काव्यों का सूक्ष्म और 'अन्तर्भेदी' विवेचन भी इनके मत में पाश्चात्य काव्यशास्त्र की प्रमुख विशेषताएँ हैं ।

संस्कृत काव्यशास्त्र की भी अपनी अनेक विशेषताएँ हैं । १. रस-विवेचन के प्रसंग में आनुषंगिक रूप से मानसशास्त्रीय पृथक्करणात्मक सूक्ष्म तत्वों का अवलंब लिया गया है। नायिका की भाव, हाव हेला, आदि चेष्टाएँ, अभिलाषा, चिन्तन, अनुस्मृति आदि विरह की दस अवस्थाएँ, तथा नायिकाओं के अनेक भेद इसके प्रमाण हैं । ध्वनि और उसके शब्दमूल, अर्थमूल अभिधामूल, लक्षणा-मूल आदि सूक्ष्म भेद पढ़ कर संस्कृत साहित्यशास्त्रकारों की कुशाग्र बुद्धि और उनके अनवरत परिश्रम को जान कर आश्चर्य होता है । २. रस अथवा ध्वनि को आत्मा तथा तदितर सौन्दर्य घटकों को देह और उस पर स्थित अलंकारों की मीमांसा करके संस्कृत साहित्यशास्त्रकारों ने काव्यान्तर्गत संपूर्ण सौन्दर्य-घटकों का एकत्र मनोहर मिलाप कर दिया है ।[1]

श्री द० के० केळकर ने संस्कृत साहित्यशास्त्र के कतिपय दोषों का भी निरूपण कर दिया है : १. शृंगार-वर्णन को अनावश्यक विस्तार दिया गया है। २. किसी महाकवि की प्रौढ़ रचना का गुण-दोष विवेचन की दृष्टि से स्वतंत्र परीक्षण नहीं मिलता । मल्लिनाथ आदि की टीकाएँ प्रायः अर्थविवरणात्मक हैं, काव्य के सरस, रमणीय प्रसंगों में निहित गूढ़ सौन्दर्य का यथेष्ट उद्घाटन नहीं करती । ३. परिभाषा और पृथक्करणात्मक प्रवृत्ति का अतिरेक हुआ है—नाटक के संविधानक की अवस्थाएँ तथा संधियों के नाना भेद, अलंकार, नायक-नायिकाओं के वर्गीकरण और उनके अनंत भेद, ध्वनि के असंख्य भेद इसके स्पष्ट प्रमाण हैं ।

इसके उपरान्त श्री द० के० केळकर ने संस्कृत काव्यशास्त्र के रस, रीति,

---

१. काव्यालोचन, काव्यशास्त्राचें अधिष्ठान व परंपरा, पृ० १-२४ ।

अलंकार, गुण-दोष आदि परंपरागत तत्वों में नवीन संस्कार-परिष्कार तथा संशोधनों का सुझाव दिया है। इनकी धारणाओं का प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में यथा-स्थान विस्तृत उल्लेख किया गया है ।

इन्होंने कतिपय काव्यतत्वों की मीमांसा 'साहित्यविहार' 'विचारतरंग' तथा **'वादळीवारे'** नामक अपनी आलोचनात्मक रचनाओं में भी की है ।

बाळुताई खरे : अलंकार मंजूषा (१९३१)

इस ग्रन्थ में अलंकारों का अत्यन्त प्रौढ़ विवेचन है । प्रथम अलंकार-उत्पत्ति तथा विकास का विस्तृत इतिहास दिया गया है । अलंकार-विवेचन में रूपक का आधार विशेषरूप से ग्रहण किया गया है । लेखिका ने प्रत्येक अलंकार के लक्षण तथा परिभाषा में भामह से जगन्नाथ तक जो-जो परिवर्तन संस्कृत में प्रस्तुत किये गये हैं, उनका यथासंभव उल्लेख करने का प्रयत्न किया है। इन्होंने अलंकार-वर्गीकरण तथा उनके भेदोपभेदों की विस्तृत मीमांसा की है और यथास्थान स्वमन्तव्य का भी स्पष्टीकरण किया है ।

इसमें अलंकार-सिद्धान्त के इतिहास के साथ-साथ रस, ध्वनि, रीति, तथा वक्रोक्ति-सिद्धान्त का भी संक्षिप्त निरूपण किया गया है ।

श्री विद्याधर वामन भिडे : साहित्य कौमुदी (१९३२)

इसमें मम्मट के काव्यप्रकाश के पाँच उल्लासों का मराठी पद्य में लक्षण सहित अनुवाद प्रस्तुत किया गया है । अनुवाद की दृष्टि से यह पर्याप्त सफल रचना है ।

श्री य० र० आगाशे : सारस्वत समीक्षा (१९४३)

प्रस्तुत ग्रन्थ में संस्कृत काव्यशास्त्र के रस, रीति-गुण, तथा ध्वनि तत्वों का विशेष विवेचन हुआ है । लेखक ने रस प्रकरण में स्थायी तथा संचारी भावों की विस्तृत मीमांसा की है और मनोभावों का पाश्चात्य मानसशास्त्र के आधार पर भी विवेचन किया है । प्रा० जोग तथा प्रा० द० के० केळकर के उपरान्त काव्यशास्त्र के विविध अंगों का एकत्र विवेचन करने वाला यही ग्रन्थ है । 'साहित्य का वर्गीकरण', 'कवि प्रतिभा', 'साहित्य की रमणीयता व आनंद', 'शोक-प्रधान साहित्य और उसका मन पर प्रभाव' तथा 'हास्यप्रधान साहित्य' आदि लेखों में काव्यशास्त्र के तत्वों की मीमांसा करने का प्रयत्न किया गया है, किन्तु 'अभिनव काव्यप्रकाश' तथा 'काव्यालोचन' की-सी प्रौढ़ता इसमें नहीं है ।

श्री० नारायण सीताराम फडके : मानसमंदिर, साहित्य आणि संसार, प्रतिभा-साधन ।

श्री फडके मराठी के युग-प्रवर्तक उपन्यासकार हैं। प्रस्तुत तीनों ग्रन्थों में साहित्य के कतिपय मूलभूत तत्त्वों की मानसशास्त्र और समाजशास्त्र के आधार पर मीमांसा की गई है। 'मानसमंदिर' में मन के 'प्रकट' और 'अप्रकट' स्वरूपों का विवेचन है। इसके अतिरिक्त 'प्रतिभा,' 'कल्पनाशक्ति' आदि अन्य महत्वपूर्ण साहित्यतत्वों का भी विवेचन इस ग्रन्थ में उपलब्ध होता है। साहित्य में 'कामप्रेरणा' के महत्व का निरूपण मानसशास्त्र के आधार पर किया गया है, शृंगार रस की दृष्टि से प्रस्तुत प्रकरण अपना विशिष्ट महत्व रखता है।

साहित्य अणि संसार

इसमें श्री फडके के विभिन्न लेखों का संग्रह है। साहित्यानंद में 'पुनःप्रत्यय'--सिद्धान्त का विस्तृत प्रतिपादन भी इसी ग्रन्थ में मिलता है। इन्होंने मानसशास्त्रज्ञों के सिद्धान्त–'क्रीड़ा प्रवृत्ति'–का भी उल्लेख किया है।

प्रतिभा साधन

पाश्चात्य साहित्यशास्त्रज्ञों तथा मानसशास्त्रज्ञों के मतों का अपने विवेचन में पुष्ट आधार ग्रहण करके श्री फडके ने इस ग्रन्थ में अनेक साहित्य-तत्वों का विस्तृत प्रतिपादन किया है। इन्होंने साहित्य के अध्ययन तथा सृजन के मूल में 'अतृप्तवासनाओं की परितृप्ति' सिद्धान्त का विशेष समर्थनप्रतिपादन किया है। इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में 'ललित लेखनाचे मानसशास्त्र' के अन्तर्गत प्रतिभाशक्ति, कल्पना, साहित्य का स्वरूप और प्रयोजन, साहित्यकार के अंतरंग आदि का मानसशास्त्र के आधार पर अध्ययन किया गया है। दूसरे भाग में कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध आदि साहित्य-रूपों की रचना-प्रक्रियाओं की आंतरिक, सूक्ष्म तथा सोदाहरण मीमांसा की गई है।

श्री ना० सी० फडके साहित्य जगत् में 'कलावादी' के रूप में प्रसिद्ध हैं तो श्री वि० स० खाण्डेकर आदर्शवादी या उपयोगितावादी के रूप में। 'कला कला के लिए हो अथवा जीवन के लिए'? इस विषय पर दोनों ही प्रतिभासम्पन्न साहित्यकारों का विस्तृत वाद-विवाद हुआ जो 'कला आणि जीवन' नामक ग्रन्थ के रूप में प्रकशित हुआ है।

श्री दा० ना० आपटे : साहित्य प्रकाश

इस ग्रन्थ में ७ लेखों का संग्रह है। साहित्य की दृष्टि से 'काव्य प्रमोद', 'संस्कृत वाङमयाचाइतिहास', 'प्रसन्न वाङमय', 'दुःखान्त वाङमयापासून आनंद का

होतो ?' और 'वाङमयाचा पंचकोश' ये पांच लेख उल्लेखनीय हैं। साहित्यशास्त्र का व्यापक अध्ययन इस ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता।

श्री वामन मल्हार जोशी : विचार सौन्दर्य (१९४०)

श्री जोशी अंग्रेजी-साहित्यशास्त्र तथा संस्कृत-साहित्यशास्त्र से पूर्णतः परिचित थे। अतः इनकी आलोचनात्मक कृतियों में केवल परंपरा पालन ही नहीं है, वरन् नवीन चिन्तन भी दृष्टिगत होता है। आजकल महाकाव्यों का निर्माण क्यों नहीं हो पाता ? साहित्य कलानिष्ठ हो या व्यक्तिनिष्ठ हो ? साहित्य की प्रवृत्ति और उसका ध्येय आदि विषयों पर श्री जोशी ने पर्याप्त नवीन दृष्टिकोण से चिन्तन किया है।

डा० माधवगोपाळ देशमुख : मराठी चें साहित्यशास्त्र, 'ज्ञानेश्वर ते रामदास' (१९४१)

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में डा० देशमुख ने ज्ञानेश्वर से रामदास तक के मराठी संत कवियों के काव्य-सिद्धान्तों का सूक्ष्म और सपरिश्रम अन्वेषण किया है। इनकी धारणा में भक्तिकालीन मराठी काव्य की भाषा, उसका प्रयोजन, काव्य-हेतु, विषय, वर्गीकरण यहाँ तक कि रस भी प्राचीन परिपाटी की कल्पना से नितांत भिन्न है। प्रस्तुत ग्रन्थ से संत कवियों के काव्य-सिद्धान्तों का परिचय प्राप्त होता है।

'भावगन्ध' (१९५५)

प्रस्तुत ग्रन्थ में डा० देशमुख के १२ लेख संकलित हैं। अधिकांश लेखों में साहित्यशास्त्र के विभिन्न तत्वों की मीमांसा है। 'वाङमय समीक्षा आणि साहित्य-शास्त्र' लेख में डा० देशमुख ने साहित्यशास्त्र की उपयोगिता के प्रश्न पर भी विचार किया है।

इनकी प्रमुख स्थापना है—'भावगन्ध'-सिद्धान्त। इनकी धारणा में आधुनिक नवकाव्य-समीक्षा के लिए विभावानुभाव संचारी भावों से परिपुष्ट होने वाला प्राचीन 'रस' सिद्धान्त अपूर्ण या अपर्याप्त है। अतः भारतीय और पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों में निहित मूलभूत तत्व—'भाव' को रस के स्थान पर प्रतिष्ठित किया जाना चाहिए। इनके मतानुसार भाव शब्द के साथ 'गन्ध' शब्द-संयोग इसलिए आवश्यक है कि इससे एक तो 'स्थूल' और 'घनरूप' आत्मनिष्ठ 'रस' की अपेक्षा सूक्ष्म या वायुरूप तथा वस्तुनिष्ठ 'गन्ध' शब्द पुष्प-सुरभि के समान नवकाव्य के मंद, तीव्र, व्यक्त, अव्यक्त अथवा ईषद् व्यक्त असंख्य भाव छटाओं को भली प्रकार सूचित करने में समर्थ होगा। दूसरी ओर मानसशास्त्र की सीमा में प्रविष्ट नवविध अथवा दशविध 'रस' इन सभी सूक्ष्म छटाओं के द्योतन में असमर्थ है।'[१]

---

१. भावगन्ध, पृ० ७१।

अतः डा० देशमुख ने 'भावगन्ध' शब्द-प्रयोग की सार्थकता सिद्ध करने का तथा इसके वर्गीकरण-विश्लेषण का पर्याप्त विस्तारपूर्वक प्रयत्न किया है। अंतिम 'भाव-गन्धचर्चा' प्रकरण में उन विविध विद्वानों की प्रतिक्रियाओं का समाधान पूर्वक उल्लेख भी है।

डा० केशव नारायण वाटवे : रसविमर्श (१९४२)

प्रस्तुत ग्रन्थ ११ निकषों में विभक्त है। आरम्भ में संस्कृत और मराठी में विवेचित रस-सिद्धान्त का काल-क्रमिक इतिहास दिया गया है। प्रथम निकष में रस का मानसशास्त्रीय आधार प्रस्तुत किया गया है। पाश्चात्य मानसशास्त्र की सहजप्रवृत्तियों (Instincts), स्थिरवृत्तियों (Sentiments) साधितभावनाओं (Derived emotions), तथा प्राथमिक भावनाओं (Primary emotions) का स्वरूप-विश्लेषण करते हुए इनसे रस-सिद्धान्त के स्थायी भाव तथा व्यभिचारी भावों का साम्य-वैषम्य दिखाने का प्रयत्न किया गया है। तीसरे निकष में डा० वाटवे ने भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्टतौत, भट्ट नायक, अभिनव गुप्त, जगन्नाथ आदि आचार्यों की रस-निष्पत्ति-प्रक्रिया से सम्बद्ध धारणाओं का विवेचन किया है और अन्त में आइ० ए० रिचर्ड्स की रसनिष्पत्ति-प्रक्रिया का भी निर्देश कर दिया है। 'रसास्वाद और काव्यानंद मीमांसा' प्रकरण में संस्कृत-मराठी तथा अंग्रेजी सहित्य के एतद्विषयक चिन्तनों का उल्लेख करते हुए अंत में डा० वाटवे ने अपनी 'क्रीडा रूप आत्माविष्कार' की मान्यता का विस्तृत प्रतिपादन किया है। पाँचवें निकष में उन्होंने रस-संख्या के निर्धारण का प्रयत्न किया है। भक्तिरस पर एक स्वतंत्र अध्याय लिखने के उपरान्त डा० वाटवे ने नवरसों का सोदाहरण स्वरूप-विश्लेषण किया है। रस-सिद्धान्त के अतिरिक्त अलंकार, ध्वनि, रीति तथा वक्रोक्ति तत्त्वों पर भी संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है और इनका अपने विवेच्य 'रस' से सम्बन्ध दर्शाया गया है। डा० वाटवे ने रस और ललित कलाओं का सम्बन्ध स्पष्ट करने के उपरान्त पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के विकास का भी संक्षिप्त दिग्दर्शन कराया है। अंतिम निकष में रस-सिद्धान्त में संभाव्य संस्कार-परिष्कारों का निर्देश किया गया है। मराठी में 'रस विमर्श' जैसा साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थ अब तक नहीं लिखा जा सका है। डा० वाटवे ने भारतीय और पाश्चात्य धारणाओं का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत करके आधुनिक मराठी साहित्यशास्त्र के निर्माण के लिए महत्वपूर्ण सुझाव दिये हैं। इनकी धारणा में विशेषतः आधुनिक मराठी साहित्य पाश्चात्य साहित्य शास्त्र की सहायता से विकसित हो रहा है। अतः पाश्चात्य और भारतीय साहित्य शास्त्र के तत्वों का एकीकरण करके अपने शास्त्र की नींव के आधार पर नवीन

आधुनिक मराठी साहित्यशास्त्र का निर्माण करना चाहिए। अतः इन्होंने अंत में आधुनिक मराठी साहित्यशास्त्र-निर्माण के लिए ग्राह्य तत्वों का दिग्दर्शन कराया है।[1] इनके प्रमुख सुझावों का सारांश इस प्रकार है :

१. क्रीडारूप आत्माविष्कार—को कवि तथा पाठक दोनों की दृष्टि से काव्य-प्रयोजन मानना चहिए। उत्कट आनंद और हृदयसंवाद ये दोनों प्रयोजन हमारे साहित्यशास्त्र में प्रतिपादित ही हैं। साथ ही भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र को 'क्रीडनक' समझकर ही उसका निर्माण किया है। मराठी में भी नाटक की संज्ञा 'खेळ' और अंग्रेजी में भी 'प्ले' है। संस्कृत टीकाकार कालिदास के 'मेघदूत' को 'क्रीडा काव्य' कहते थे, इससे भी यही ध्वनित होता है।

२. प्रतिभा और कल्पनाशक्ति को काव्योत्पत्ति के उत्पादक कारण माने जाएँ : इनकी पर्याप्त मीमांसा हमारे साहित्यशास्त्र में नहीं है, अतः कवि तथा सहृदय की कल्पना शक्ति के पाश्चात्य विवेचन को इस प्रसंग में ग्रहण कर लेना चाहिए।

३. काव्यलक्षण—आ० जगन्नाथ तथा विश्वनाथ के काव्य-लक्षणों के मिश्रण से निर्मित 'रमणीयार्थ प्रतिपादक रसात्मक वाक्य' रूप काव्य-लक्षण स्वीकार करने योग्य हैं। अन्य दृष्टियों से इतर अंगों पर विशेष बल देकर निर्मित काव्य लक्षण भी ग्राह्य होंगे।

४. रसनिष्पत्ति-प्रक्रिया—भट्टनायक अथवा अभिनवगुप्त प्रतिपादित ग्राह्य हो सकेगी। इसमें निहित 'साधारणीकरण व्यापार' हमारे आलोचना शास्त्र के भांडार की एक अमूल्य वस्तु है। इसे मानसशास्त्र का सुदृढ़ आधार प्राप्त है। इसे विंचेस्टर आदि आलोचकों ने (Idealization) कहा है। काव्यवस्तु में निहित स्थल-काल आदि की विशिष्टताओं को हटा कर उस वस्तु में निहित विशिष्ट और भावानुकूल विशेष को ग्रहण करना और कल्पना की सहायता से हमारे मनःस्थित तत्सदृश संस्कारों से एक चित्र-निर्माण करना ही इस प्रक्रिया का स्वरूप है।

५. औचित्य-अनौचित्य-विचार—और इन पर आधृत काव्य-गुणों तथा काव्य-दोषों की चर्चा हमारे ही साहित्यशास्त्रीय नियमों से संभव है। साथ ही रीति, अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि हमारे काव्यतत्त्व निःसंशय अनुकरणीय हैं। प्राणिमात्र के मनोविकार एक जैसे ही हैं। फिर भी उनको वाणी से अभिव्यक्त करने की पद्धतियाँ भिन्न-भिन्न हैं। भारतीय भावनाविष्कार अपने विशिष्ट रंगरूप से सज कर ही निकले तभी वह भारतीय होगा।

---

१. डा० वाटवे : रस विमर्श, पृ० ४४६-४७।

६. ललित वाङमय का बाह्य आकार—अर्थात् लघुकथा, लघुनिबंध, उपन्यास, नाट्य छटा इत्यादि का बहिरंग पाश्चात्य साहित्यानुकरण से निर्मित हुआ है। अतः पाश्चात्य नियमों से ही इनका परीक्षण होना उचित है और इसका समावेश हमारे आलोचनाशास्त्र में करना आवश्यक है।'[1]

विट्ठल अनंत कुलकर्णी ने 'मराठीकाव्य समीक्षा' (१९४५) ग्रन्थ लिखा है। इसमें साहित्यशास्त्र के रस, रीति तथा अलंकार तत्वों की भी संक्षिप्त समीक्षा है। संस्कृत आचार्यों की धारणाओं के साथ-साथ कहीं-कहीं मराठी तथा अंग्रेजी के लेखकों के भी विचार उद्धृत किये गये हैं। इस ग्रन्थ में नवीन चिन्तन की अपेक्षा परंपरागत मान्यताओं का व्याख्यात्मक प्रतिपादन है।

**श्री बाळ सीताराम मर्ढेकर : वाङ्‌मयीन महात्मता (१९४१)
सौन्दर्य आणि साहित्य (१९५५)**

श्री मर्ढेकर स्वयं प्रतिभावान् कवि तथा सशक्त समालोचक थे। इन्होंने पाश्चात्य साहित्यशास्त्र तथा सौन्दर्यशास्त्र का गंभीर अध्ययन किया था। इनके प्रमुख ग्रन्थ 'सौन्दर्य आणि साहित्य' के स्पष्टतः दो भाग हैं। प्रथम भाग में 'सौंदर्य' के अन्तर्गत छः निबन्ध संकलित हैं, इनमें 'सौन्दर्य' की सैद्धान्तिक तथा तात्विक मीमांसा अत्यन्त विस्तार से की गई है। साहित्य के अन्तर्गत—'वाङमय आणि सौन्दर्यशास्त्र', 'ललित वाङमय कृतीचा घाट', 'काव्यांतील नवीनता' तथा 'वाङमयीन महात्मता' इन चार महत्वपूर्ण लेखों का संग्रह है। ग्रन्थ के परिशिष्ट में 'सौन्दर्यभावना आणि डा० रिचर्ड्स' लेख में भी श्री मर्ढेकर ने डा० रिचर्ड्स के सौन्दर्य भावना-सम्बद्ध दृष्टिकोण की आलोचना की है। श्री मर्ढेकर की मन्यता में 'सौन्दर्य का अनुभव स्वतंत्र होता है, वह जीवन की इतर भावनाओं से निराला एक विशिष्ट और 'विवक्षित' भावना का अनुभव होता है।'[2] इन्होंने पर्याप्त युक्ति प्रमाणों से सौन्दर्य भावना के स्वतंत्र अस्तित्व का प्रतिपादन किया है। काव्य साहित्य में 'संवाद लय', 'विरोधलय' तथा 'समतोललय' इन तीन सौन्दर्य तत्वों की उपयोगिता दर्शाते हुए इनके आधार पर काव्य का व्यावहारिक मूल्यांकन भी इन्होंने कर दिखाया है।

श्री० दि० के० बेडेकर : रस सिद्धान्तचें स्वरूप (१९५०) साहित्यनिर्मिति व समीक्षा (१९५४)

श्री बेडेकर ने भरतमुनि के रस-स्वरूप निर्धारण में परंपरा-विनिर्मुक्त नवीन

---

१. रसविमर्श : ४४६-४४७ ।

२. सौन्दर्य आणि साहित्य : पृ० २०२ ।

चिन्तन का प्रयत्न किया है। इनकी धारणा में भरत-प्रतिपादित ४९ भावों का मनोभावात्मक अर्थ ग्रहण करना अनुपयुक्त है, तथा स्थायी भावों को भी मनोविकार स्वरूप मानना असंगत है।[१] 'साहित्यनिर्मिति व समीक्षा' ग्रन्थ में ग्यारह लेखों का संग्रह है। इनमें 'साहित्य समीक्षेचें स्वरूप', कवीच्या व्यक्तित्वाची मीमांसा, 'कला आणि स्वातंत्र्य', 'करुण रसाची मीमांसा', 'नवकाव्य परंपरा व अंतः प्रवाह', 'नव-काव्यांतील विफलता' आदि लेख साहित्यशास्त्र की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। इनकी धारणा में संस्कृत-साहित्य-सिद्धान्तों का पाश्चात्य मानस शास्त्र के आधार पर मूल्यांकन करते समय प्रथम इन तत्वों का भारतीय दर्शन तथा विचार-विश्व की पृष्ठ-भूमि पर ही स्वरूप-निर्धारण अधिक संगत है।[२]

डा० रामचन्द्र शंकर वाळिंबे : साहित्य मीमांसा (१९५५)

प्रस्तुत ग्रन्थ में साहित्यशास्त्र के विभिन्न तत्त्वों की व्यापक समीक्षा की गई है। लेखक ने पर्याप्त व्यापक दृष्टिकोण अपनाया है। 'प्राचीन भारतीय साहित्यशास्त्र, प्राचीन ग्रीक साहित्यशास्त्र और आधुनिक पाश्चात्य साहित्यशास्त्र' इनका तुलनात्मक अध्ययन करते हुए इस ग्रन्थ का निर्माण किया गया है। संपूर्ण ग्रन्थ १४ प्रकरणों में विभक्त है—१. साहित्य का स्वरूप, २. साहित्य का कार्य, ३. साहित्य की अभिव्यक्ति, ४. कलाकार की प्रतिभा, ५. शब्दशक्ति और शब्द का अर्थ, ६. शब्दों का कलात्मक सौन्दर्य, ७. भरत का रस-सिद्धान्त, ८. रसनिष्पत्ति और रसास्वाद, ९. करुण रस और अरिस्टाटल का कथार्सिस्, १०. काव्य और गद्य, ११. काव्यगुण और रीति, १२. पाश्चात्य साहित्य समीक्षा में स्टाइल, १३. काव्यालंकार और १४. प्राचीन भारतीय नाट्य। डा० वाळिंबे ने इन प्रकरणों में यथासंभव भारतीय और पाश्चात्य साहित्य शास्त्रज्ञों की धारणाओं का अत्यंत परिश्रमपूर्वक संकलन किया है। इसमें सन्देह नहीं कि प्रस्तुत ग्रंथ पर्याप्त संतुलित मस्तिष्क से लिखा गया है, अतः इसमें भारतीय तथा पाश्चात्य मनीषियों की धारणाओं का पर्याप्त निष्पक्ष अंकन हो सका है। लेखक ने कहीं-कहीं निजी मान्यताएँ भी अभिव्यक्त की हैं, जिन्हें प्रस्तुत प्रबन्ध में प्रसंगानुरूप उद्धृत किया गया है।

इस ग्रन्थ से पूर्व डा० वाळिंबे ने साहित्याचा ध्रुवतारा (१९४५) वाङ्मयीन टीका—शास्त्र आणि पद्धति (१९४६), साहित्यांतील संप्रदाय (१९५०)

---

१. रससिद्धान्ताचें स्वरूप, नवभारत (मराठी मासिक, नवंबर १९५० तथा दिसम्बर १९५०)।

२. साहित्य निर्मिति व समीक्षा, प्रस्तावना।

आदि साहित्यशास्त्र तथा समालोचना से सम्बद्ध ग्रन्थ लिखे है। इनमें भारतीय विचारकों की अपेक्षा पाश्चात्यों की धारणाओं का ही अधिक विवेचन हुआ है। 'वाङमयीन टीका–शास्त्र आणि पद्धति' ग्रन्थ में भारतीय और पाश्चात्य आलोचना के स्वरूप तथा विकास की विस्तृत चर्चा हैं। 'साहित्यांतील संप्रदाय' ग्रन्थ में 'क्लासिसिझम्' (आभिजात्यवाद), रोमंटिसिझम् (स्वछंदवाद), रिअलिझम्, (वास्तववाद), सर-रियलिझम् (अतिवास्तववाद) और आयडिअलिझम् (संकल्पवाद, आदर्शवाद, ध्येयवाद) इन वादों का उद्भव-विकासात्मक तथा स्वरूप-निर्णयात्मक व्यापक विवेचन है।

श्री वा० ल० कुळकर्णी :

१९४६ में इनका 'वाङमयांतील वादस्थळें' नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। इसमें विविध विषयों पर लिखे गये २१ लेखों का संग्रह है। अनेक लेखों में 'नाटक, उपन्यास, आत्मचरित्र, निबन्ध, नाट्यछटा आदि साहित्य-प्रकारों के स्वरूप, तत्त्व तथा गुण-दोषों की मीमांसा की गई है। कतिपय लेख साहित्य के सत्य, शिव तथा सौन्दर्य, साहित्य की भाषा, साहित्य की आत्मपरता तथा सौन्दर्य भावना के विवेचन से सम्बद्ध हैं। इनका दूसरा ग्रन्थ 'मतें अणि मतभेद' (१९४९) भी एकांततः साहित्यशास्त्र के तत्त्वों का विवेचन प्रस्तुत नहीं करता, वरन् इसमें संग्रहीत 'गेल्या दोन तपांतील मराठी वाङमय', 'वाचक, लेखक व टीकाकार', 'हास्य-निर्मिति करणारे वाङमय' आदि लेखों में प्रसंगानुरूप साहित्य-तत्त्वों की भी चर्चा आ गई है।

श्री कुळकर्णी का तीसरा ग्रन्थ 'वाङमयीन टीपा आणि टिप्पणी' (१९५३) है, इसमें भी भिन्न-भिन्न विषय हैं फिर भी 'कलावाङमयांतील नवें आणि जुनें' 'रस म्हणजे काय ?' 'कला आणि स्वातन्त्र्य', 'टीकाकार केळकर', आदि लेखों में साहित्यशास्त्र के कतिपय तत्त्वों की भी मीमांसा हुई है।

डा० सुरेन्द्र शिवदास बार्रलिंगे : सौन्दर्याचें व्याकरण (१९५६)

श्री बा० सी० मर्ढेकर ने मराठी साहित्यशास्त्र को सौन्दर्यशास्त्र की ओर अभिमुख करने का प्रयत्न किया था और श्री दि० के० बेडेकर ने प्राचीन भारतीय साहित्यशास्त्र के तत्त्वों का आधुनिक पाश्चात्य मानसशास्त्रीय तत्त्वों के आधार पर अध्ययन अनुपयोगी ठहराया था। डा० बारलिंगे ने इन दोनों की विचारधाराओं का मनन करके 'सौन्दर्यशास्त्र' तथा 'रससिद्धान्त' के विषय में नितांत नवीन चिन्तन प्रस्तुत किया है। 'सौन्दर्याचेंव्याकरण' में प्रथम चार लेख 'सौन्दर्यवाचक विधानांतील विधेय' तथा 'सौन्दर्यवाचक विधानांतील उद्देश्य' से सम्बद्ध हैं। इनके

उपरान्त 'मूल रस सिद्धान्त आणि कांही टीकाकार', 'रसाचें स्वरूप', 'रस, सौन्दर्य आणि आनंद' तथा 'रससंख्या', इन चार लेखों में अपने रस-स्वरूप' के चिन्तन की व्यापक पृष्ठभूमि देते हुए भरतमुनि के रस-सिद्धान्त पर नितांत नवीन रूप से प्रकाश डाला है। हिन्दी में भी 'मराठीभाषा में सौन्दर्य शास्त्र का विकास', 'भरत-मुनि का रस-सिद्धान्त' शीर्षक से इनके अनेक लेख प्रकाशित हो चुके हैं।[1]

रस की वस्तुनिष्ठता की अपेक्षा आत्मनिष्ठता व आंतरिक मनोभाव रूप की सिद्धि के लिए श्री म० यज्ञेश्वर शास्त्री कस्तूरे ने 'रस विचार आणि प्राचीन दर्शनकार (१९५७) नामक छोटी-सी पुस्तक लिखी है। इसमें मीमांसक, नैय्या-यिक, सांख्य तथा वेदान्ती दार्शनिकों की मूल धारणाओं को स्पष्ट करते हुए इनके द्वारा प्रतिपादित रस-स्वरूप की समीक्षा की गई है। इस पुस्तिका की प्रस्तावना में डा० सुरेन्द्र बारलिंगे ने श्री यज्ञेश्वर शास्त्री कस्तूरे की स्थापनाओं की समीक्षा अपने दृष्टिकोण से की है और रस की वस्तुनिष्ठता का ही समर्थन किया है।

श्री गणेश त्र्यंबक देशपांडे : भारतीय साहित्यशास्त्र (१९५८)

इस ग्रन्थ में दो विभाग हैं—पूर्वार्ध और उत्तरार्ध। पूर्वार्ध में भरतमुनि से लेकर आचार्य जगन्नाथ तक के भारतीय साहित्यशास्त्र के विकास का समी-क्षात्मक परिचय दिया गया है। श्री देशपांडे की धारणा में भरत, भामह, वामन, आनंदवर्धन, कुन्तक आदि आचार्य भिन्न-भिन्न संप्रदायों (Schools) के प्रवर्त्तक नहीं हैं। क्योंकि संप्रदाय की कल्पना में एक विशेष बात होती है, हम जिस विशिष्ट वस्तु की स्थापना करते हैं उसके प्रतिपादन में अन्य वस्तुओं को ग्रहण नहीं करते। परन्तु इन आलंकारिकों में से कोई भी इस प्रकार की स्थापना नहीं करता। भामह का रस अथवा गुणों से विरोध नहीं है, वामन का रस अथवा अलंकारों से विरोध नहीं है, आनंदवर्धन भी गुणालंकारों के विरोधी नहीं हैं। प्रस्तुत तीनों ही तत्त्व तीनों आचार्यों को मान्य हैं। यदि ध्वनि-विरोधियों के कथन पर भी ध्यान दिया जाय तो उनका कथन इतना ही है कि व्यंजना व्यापार को स्वतंत्र मानना निष्कारण है, व्यंजना का अंतर्भाव अभिधा, लक्षणा तात्पर्य अथवा अनुमान में ही हो जाता है। दूसरी बात यह भी है कि मम्मट के उपरान्त तो ध्वनि का विरोधक ही कोई नहीं रहा, सभी ने व्यंजना को स्वीकृति दी है। अतः श्री देशपांडे की मान्यता में 'जब पाश्चात्य लेखकों ने 'schools' शब्द का प्रयोग साहित्य चर्चा में आरम्भ

---

१. दे० समालोचक, आगरा, सौन्दर्यशास्त्र विशेषांक फरवरी १९५८, तथा जून (१९५८) अगस्त (१९५८) और नवम्बर (१९५८) के अंक।

किया था, इसका अनुसरणकर हम लोगों ने 'schools' के संप्रदाय बना दिये हैं। इस संप्रदाय की कल्पना से साहित्यशास्त्र की ओर देखने से हम अनेक सदोष विवेचन कर बैठे हैं। साहित्यशास्त्र की ओर दृष्टिपात करते समय प्रस्तुत संप्रदाय-निष्ठ कल्पना को बदलना आवश्यक है। तभी इस शास्त्र का संपूर्ण चित्र हमारे समक्ष उपस्थित हो सकेगा।'[१]

इस ग्रन्थ के उत्तरार्ध में श्री देशपांडे ने काव्यशरीर-शब्दार्थ विचार, अभिधा, लक्षणा, व्यंजना आदि शब्द-शक्तियों, व्यंग्यार्थ अथवा ध्वनि, रसादिध्वनि, रस-प्रक्रिया, गुणालंकार आदि साहित्यशास्त्र के तत्त्वों का संस्कृत के मूल ग्रन्थों का सूक्ष्म अध्ययन करके सविस्तर विवेचन किया है। इनके विवेचन का मुख्य आधार अभिनव गुप्त की अभिनवभारती और ध्वन्यालोकलोचन रहा है। लेखक ने रस-स्वरूप के विषय में तथा गुण-अलंकार आदि तत्त्वों के सम्बन्ध में आनंदवर्धन तथा अभिनवगुप्त की मान्यताओं को ही विशेष ग्राह्य माना है।

इन लेखकों के अतिरिक्त भी कतिपय अन्य लेखकों ने आधुनिक मराठी साहित्यशास्त्र की विकास-परंपरा में पाश्चात्य कृतियों का भाषान्तर करके सहयोग प्रदान किया है। श्री साने गुरु जी ने टालस्टाय की सुप्रसिद्ध रचना 'what is Art ?' का मराठी में 'कला म्हणजे काय ?' (१९४२) शीर्षक से अत्यन्त सरल शैली में अनुवाद किया है। इस ग्रन्थ की प्रस्तावना में अनुवादक ने कला-स्वरूप, कला-वर्गीकरण तथा कला-प्रयोजन की मार्मिक मीमांसा की है।

श्री गो० वि० करंदीकर ने अरस्तू के मूल काव्यशास्त्र का मराठी में 'अरिस्टाटल चें काव्यशास्त्र' (१९५७) नाम से भाषान्तर प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ की 'प्रस्तावना' और 'टीपा व परिशिष्टें' पर्याप्त महत्त्वपूर्ण हैं। इनसे पश्चिम में अरस्तू के काव्यशास्त्र के जितने भाषान्तरकार और समालोचक हुए हैं उनकी विविध धारणाओं, मान्यताओं तथा व्याख्याओं का विस्तृत परिचय मिल जाता है।

पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के विविध वादों से प्रभावित होकर मराठी के कतिपय लेखकों ने उनके स्वरूप-विश्लेषण का प्रयत्न किया है। 'वास्तववाद' (यथार्थवाद) 'गूढवाद' (रहस्यवाद), सौन्दर्यशास्त्र, कला स्वरूप, कवि व्यक्तित्व, साहित्य और मानसशास्त्र, आलोचनाशास्त्र आदि से सम्बद्ध प्रचुर ग्रन्थ-राशि मराठी में निर्मिण हो चुकी है। यद्यपि इन ग्रन्थों में प्रत्यक्षतः संस्कृत-साहित्यशास्त्र के रस, रीति, अलंकार आदि तत्वों की मीमांसा न्यून है, अथवा नहीं के बराबर है, फिर भी आधुनिक मराठी साहित्यशास्त्र-निर्माण के लिए जिस व्यापक दृष्टि-

---

१. भारतीय साहित्यशास्त्र, पृ० १२५

कोण की आवश्यकता है, उस दिशा में चिन्तन की सहायक प्रचुर सामग्री इन ग्रन्थों में मिलती है। इनमें उल्लेखनीय लेखक तथा उनकी कृतियों के नाम इस प्रकार हैं :

वासुदेवगोविन्द आपटे 'सौन्दर्य आणि ललित कला' (१९१९), गो० चि० माटे 'ललित कला मीमांसा' (१९२५), रविकिरण मंडल के सदस्यों द्वारा प्रकाशित 'काव्य विचार' (१९२४), ना० म० भिडे व द० अ० आपटे संपादित 'काव्यचर्चा' (१९२५), भा० रा० तांबे रचित 'कला आणि नीति' (१९३२)।

ग० वा० कवीश्वर 'नीति आणि कलोपासना (१९३४), लालजी पेंडसे 'साहित्य आणि समाज जीवन' (१९३५), ना० गो० चापेकर, 'साहित्य समीक्षण' (१९३५), ना० सी० फडके 'टाकीचेघाव' (१९३७) वि० वा० आँबेकर 'परामर्ष' (१९३८), श्री माडखोलकर 'स्वैर विचार' (१९३८) वा० भा० दाभाडे 'कलातरंग' (१९३८), पु० ग० सहस्र बुद्धे 'स्वभाव-लेखन' (१९३८), दा० ना० शिखरे 'आजकाल चे साहित्यिक' (१९३९), वा० ना० देशपांडे 'विचार समीक्षा' (१९४०), महाराष्ट्र शारदा मंदिर से प्रकाशित 'शारदाविहार' (१९४०), प्रभाकर पाध्ये 'कलेची क्षितिजें (१९४२), डा० रा० ग० हर्षे 'टीका आणि अभ्यास' (१९४३), श्रीपाद महादेव माटे 'साहित्य धारा' और 'रसवंतीची जन्मकथा' (१९४३), श्री नारखेडे 'काव्य-कलेचे अंतरंग (१९४३), द० सी० पंगु 'आस्वाद' (१९४२), महाराष्ट्र साहित्य परिषद् से प्रकाशित 'वाङ्मयीन-वाद' (१९४६) श्रीकृष्ण के० क्षीर सागर 'वाङ्मयीनमूल्यें' (१९४६), दा० त्र्यं० जोशी प्रकाशित 'मराठी साहित्य' (१९४५)

सरोजिनी बाबर व वि० म० कुळकर्णी का 'साहित्यदर्शन (१९४८), गं० वा० ग्रामोपाध्ये 'वाङ्मयीन मूल्यें आणि जीवन मूल्यें' (१९५०), गो० म० कुळकर्णी 'रस ग्रहण' (१९५२) रा० अ० काळेले 'नवे अलंकार' (१९५२), कुसुमावती देशपांडे 'पासंग' (१९५४), पु० म० लाड 'मधुपर्क' (१९५७) वि० द० साठे 'मराठीनाट्य रचना (तंत्र आणि विकास) (१९५५), दा० भालेराव 'कला आणि कलास्वाद' प्रा० भागवत तथा प्रल्हाद मोहरीर कृत 'अनुभूति व अभिव्यक्ति (१९५८)।

कतिपय शोध प्रबन्ध :

हिन्दी की भांति मराठी में भी साहित्यशास्त्र के विषयों पर शोध-कार्य हो रहा है। छन्दःशास्त्र पर डा० माधवराव पटवर्धन तथा डा० ना० ग० जोशी ने

शोध-प्रबन्ध लिखे हैं। समालोचनाशास्त्र पर डा० वामन भार्गव पाठक का शोध-प्रबन्ध 'टीका आणि टीकाकार' (१९४८) उपलब्ध होता है। डा० प्रल्हाद नरहर जोशी के शोध प्रबन्ध 'मराठी साहित्यांतील मधुरा भक्ति' (१९५७) में मधुरा भक्ति का मानसशास्त्रीय परीक्षण पर्याप्त विस्तार से किया गया है। डा० मनोहर माधव अळतेकर ने 'शोक कारण आणि मराठी शोकान्तिका' प्रबन्ध लिखकर मराठी के शोकान्त नाटकों का अध्ययन किया है।

हिन्दी की भांति मराठी में भी रस-इतर अन्य काव्य-सिद्धान्तों—अलंकार, ध्वनि, आदि—पर प्रबन्ध रूप में अध्ययन की पूर्ण संभावना है। इस दिशा में विशेष प्रयत्न की आवश्यकता है।

सारांश :

इस प्रकार यह तृतीय चरण मराठी साहित्यशास्त्र की समृद्ध परंपरा का द्योतक है। सूक्ष्म रूप से देखें तो इसमें सौन्दर्यशास्त्र, आलोचनाशास्त्र, काव्यशास्त्र तथा छन्दःशास्त्र का अन्तर्भाव हो गया है। सौन्दर्यशास्त्र पर जिन्होंने विशेष कार्य किया है, उनमें उल्लेखनीय हैं—वा० गो० आपटे, गो० चि० भाटे, बा० सी० मर्ढेकर, रा० श्री० जोग और सुरेन्द्र बार्रालगे। मराठी-आलोचनाशास्त्र को विकसित करने वालों में विष्णुशास्त्री चिपळूणकर, न० चि० केळकर, वा० म० जोशी, रा० ग० हर्षे, रा० शं० वाळिंबे, श्री के० क्षीरसागर, वा० ल० कुळकर्णी इत्यादि अनेक लेखक हैं। काव्य-शास्त्र का सूक्ष्म अध्ययन करने वालों में रा० श्री० जोग, द० के० केळकर, के० ना० वाटवे, रा० शं० वाळिंबे, ग० त्र्यं० देशपांडे आदि अनेक लेखकों के नाम चिरस्मरणीय रहेंगे। छन्दःशास्त्र पर माधवराव पटवर्धन तथा ना० ग० जोशी ने प्रशंसनीय कार्य किया है।

प्रस्तुत वर्गीकरण नितांत स्थूल है। समग्र रूप से देखा जाय तो प्रत्येक वर्ग के कतिपय लेखकों ने अन्य विषयों पर भी अध्ययन किया है। उदाहरणार्थ, डा० सुरेन्द्र बार्रालगे ने सौन्दर्यशास्त्र के साथ-साथ काव्यशास्त्र पर और डा० रा० शं० वाळिंबे ने आलोचनाशास्त्र के साथ काव्यशास्त्र पर भी विशेष कार्य किया है। पूर्वोक्त वर्ग-विभाजन लेखकों की विशिष्ट प्रवृत्ति को ध्यान में रख कर किया गया है। इस प्रसंग में साहित्यशास्त्र का व्यापक अर्थ ग्रहण किया गया है और इसी आधार पर तृतीय चरण की मराठी-साहित्यशास्त्र की विकास-परंपरा का दिग्दर्शन कराया गया है।

तृतीय चरण के लेखकों की महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि अधिकांश ने पाश्चात्य साहित्यशास्त्र, आलोचनाशास्त्र तथा मानसशास्त्र का भी अपने अध्-

यन में समुचित आधार ग्रहण किया है। संस्कृत के साहित्य-सिद्धान्तों को केवल अनूदित करने की प्रवृत्ति इनमें नहीं है। मानसशास्त्र, इतिहास, दर्शन तथा सामयिक साहित्य का आधार ग्रहण करके प्राचीन साहित्य-सिद्धान्तों के पुनर्मूल्यांकन तथा पुनराख्यान का प्रयत्न किया गया है।

उपसंहार

भारत में लगभग दो हजार वर्षों तक संस्कृत के अनेक आचार्यों ने काव्य-सिद्धान्तों का गहन-गम्भीर अध्ययन और चिन्तन किया है। भरत, भामह, दण्डी, आनन्दवर्धन, वामन, कुंतक, अभिनव गुप्त, क्षेमेन्द्र, मम्मट, जगन्नाथ जैसे अनेक मेधावी आचार्य हुए हैं। इन्होंने विभिन्न काव्य-तत्वों का जिस गम्भीरता और तत्परता से अन्वेषण किया है उससे उनकी गहन-चिन्तन शक्ति और काव्यशास्त्र के प्रति उत्कट रुचि और आकर्षण की भावना प्रमाणित हो जाती है। इनके अध्ययन और चिन्तन के परिणाम स्वरूप ही संस्कृत काव्यशास्त्र में रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति, औचित्य आदि काव्य-सिद्धान्तों की स्वतन्त्र प्रतिष्ठापना हो सकी है। आधुनिक हिन्दी तथा मराठी के काव्यशास्त्र का मूलभूत आधार ये ही काव्य सिद्धान्त हैं। आधुनिक युग के हिन्दी-मराठी के विभिन्न विद्वानों ने इन्हीं काव्य-सिद्धान्तों की व्यापक समीक्षा की है, इन्हीं का आख्यान-विवेचन, विश्लेषण और पुनराख्यान किया है। आधुनिक हिन्दी-मराठी के काव्य शास्त्रज्ञों के सामान्यतः दो वर्ग बन जाते हैं, एक आख्याता वर्ग और दूसरा पुनराख्याता वर्ग।

आख्याताओं का योगदान :

प्राचीन-काव्य-सिद्धान्तों का अपनी भाषा में स्वच्छ, शुद्ध और प्रामाणिक आख्यान भी अपने आप में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य है। हिन्दी-मराठी के कतिपय विद्वानों ने इस दिशा में बहुत मनोयोग से कार्य किया है। इन्होंने संस्कृत-काव्य-शास्त्र के समृद्ध वैभव को अपनी-अपनी भाषा में संचित करने का प्रयत्न किया है। इस कार्य में इन्हें भले ही पूर्ण सफलता न मिली हो फिर भी इनका योगदान भुलाया नहीं जा सकता। इन्होंने संस्कृत काव्यशास्त्र के अनेक ग्रन्थों का हिन्दी-मराठी में अनुवाद प्रस्तुत करके सामान्य पाठकों तथा गम्भीर अध्येताओं को भी उन सिद्धान्तों से परिचित कराया और उनमें उनके अध्ययन की रुचि जागृत की। इन आख्याताओं में भी कतिपय ने अपने आपको अविकल अनुवाद तक ही सीमित रखा तो कतिपय ने आधुनिकतम काव्यों से उदाहरण प्रस्तुत करके उन प्राचीन सिद्धान्तों की आधुनिक युग में भी व्यावहारिक उपादेयता प्रमाणित कर दी है।

आख्यान की प्रस्तुत दो ही प्रणालियाँ अपनाई गईं। प्रसंगवश कतिपय आख्याताओं ने स्वतन्त्र अभिमत प्रस्तुत करने का भी प्रयत्न किया है। किन्तु इनके अभिमत परम्पराभिन्न किसी नवीन चिन्तन पर आधृत नहीं हैं। इन्होंने परम्परागत काव्य-सिद्धान्तों के ही विभिन्न अंग-उपांगों के वर्गीकरण, संख्या-संकोच या विस्तार तक ही अपने आख्यान को सीमित रखा है। परम्परागत सिद्धान्तों या उनके अंगों का नवीन स्वरूप-प्रतिपादन इनका उद्देश्य नहीं था। फलतः इन्होंने रस-संख्या, अलंकार-संख्या, अलंकार-वर्गीकरण, रीति-गुण तथा दोषों के भेद-उपभेद आदि के विषय में ही कहीं-कहीं परम्पराभिन्न स्वतन्त्र अभिमत व्यक्त किये हैं। अपने स्वतन्त्र अभिमतों को इन्होंने व्यापक युक्ति-प्रमाण तथा तर्क के आधार पर पुष्ट नहीं किया है। अतः सामान्य रूप से इनकी दृष्टि संस्कृत के काव्य-सिद्धान्तों के आख्यान पर ही केन्द्रित रही है। इन सिद्धान्तों के प्रति इनमें पूर्ण आस्था रही है। इसीलिए इन्होंने अत्यन्त निष्ठा और तन्मयता से उनका आख्यान कर आधुनिक हिन्दी-मराठी के काव्य-शास्त्र की सुदृढ़ पृष्ठभूमि निर्माण की और उसकी समृद्धि के लिए अनवरत परिश्रम किया है।

इन आख्याताओं के अध्ययन में कतिपय न्यूनताएँ भी हैं। ऐसे बहुत कम आख्याता हैं जिन्होंने काव्यशास्त्र का व्यापक आधार ग्रहण किया हो। अन्यथा किसी ने केवल रस-तत्व का तो किसी ने केवल अलंकार-तत्व का ही आख्यान किया है। अनुवाद में भी प्रायः उत्तरध्वनि कालीन आचार्यों की रचनाओं का ही आधार ग्रहण किया गया है, पूर्व ध्वनि कालीन कृतियों का आख्यान प्रायः उपेक्षित रहा है। भरतमुनि से जगन्नाथ तक के आचार्यों की अनेक महत्वपूर्ण रचनाओं का हिन्दी-मराठी में विशुद्ध और प्रामाणिक अनुवाद अब भी नितान्त अपेक्षित है। इस दिशा में आचार्य विश्वेश्वर जी ने अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया है।

पुनराख्याताओं का योगदान :

पाश्चात्य काव्यशास्त्र, पाश्चात्य मानस-शास्त्र, भारतीय दर्शन तथा भारतीय काव्यशास्त्र आदि का व्यापक आधार ग्रहण करके काव्य-सिद्धान्तों का मूल्यांकन करना इन पुनराख्याताओं की महत्वपूर्ण विशेषता है। इनकी दृष्टि केवल परम्परागत काव्य-सिद्धान्तों के आख्यान तक सीमित नहीं रही है। इन्होंने उन सिद्धान्तों के मूलभूत स्वरूप-विश्लेषण, महत्वमापन और मूल्यांकन का प्रयत्न प्राचीन और अर्वाचीन, भारतीय और पाश्चात्य चिन्ता-धाराओं के प्रकाश में किया है।

आप्त प्रमाण या मुनिवचनों के पालन को उतना महत्वपूर्ण नहीं माना गया जितना कि तर्क, मनोविज्ञान और युक्ति-प्रमाणों को। हिन्दी-मराठी के पुनराख्या-

ताओं ने रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति, औचित्य आदि सिद्धान्तों की आधुनिक काव्य-शास्त्र-निर्माण की दृष्टि से विवेचना की है। रस-सिद्धान्त के अन्तर्गत भाव, विभाव, अनुभाव, संचारीभाव, सात्विक भाव, रस-स्वरूप, रस-संख्या, रस-वर्गीकरण, रसास्वाद, करुण रसास्वाद, भक्ति रस आदि के विषय में इन्होंने नवीन दृष्टि से चिन्तन किया है। अलंकार-सिद्धान्त का अध्ययन भी परम्परा-भुक्त नहीं है। अलंकारों की उत्पत्ति, अलंकारों की काव्यगत उपादेयता, अलंकार-वर्गीकरण, अलंकार-संख्या-संकोच और विस्तार का तर्क, युक्ति-प्रमाण, आधुनिक काव्य-साहित्य आदि का व्यापक आधार ग्रहण करके पुनराख्यान किया गया है।

सैद्धान्तिक चिन्तन में पुनराख्याताओं की दृष्टि कवि-व्यक्तित्व के मूल्यांकन और महत्वमापन पर भी केन्द्रित रही है। संस्कृत के काव्यशास्त्र में कवि-व्यक्तित्व का महत्वांकन प्राय: उपेक्षित-सा रहा है। रस तथा अलंकार सिद्धान्त के विभिन्न तत्वों की समीक्षा कवि-स्वभाव तथा कवि-व्यक्तित्व के आधार पर की गई है। रीति-सिद्धान्त के पुनराख्यान में परम्परागत सहृदयपरक दृष्टि का पुनर्मूल्यांकन जहाँ किया गया है, वहाँ कवि-मानस की भी पूरी-पूरी छान-बीन की गई है। रीति तथा गुण तत्व का कवि मानस के आधार पर विवेचन हुआ है। 'पाश्चात्य स्टाइल' और भारतीय रीति-तत्व की व्यापक तुलनात्मक विवेचना करके दोनों के मूलभूत अन्तर और साम्य का प्रतिपादन किया गया है। ध्वनि के परम्परागत स्वरूप का पुनराख्यान करते हुए इसकी काव्यगत उपादेयता की समीक्षा की गई है और रस की तुलना में इसके आत्मपदत्व का कतिपय ने प्रतिषेध किया है। कवि और सहृदय दोनों की ही दृष्टि से ध्वनि-तत्व का मूल्यांकन किया गया है।

औचित्य-तत्व की काव्यगत नित्यता-अनित्यता के चिन्तन में संस्कृत आचार्यों के मतों का ही पिष्ट-पेषण नहीं किया गया है, वरन् नवीन युक्ति-प्रमाणों का आश्रय लेकर इसकी काव्यगत वास्तविक स्थिति का मूल्यांकन किया गया है। इस प्रकार इन छः सिद्धान्तों से सम्बद्ध पुनराख्याताओं के प्रस्तुत अध्ययन से काव्यशास्त्र की अनेक नवीन दिशाओं का उद्घाटन हुआ है, परम्परागत अनेक अस्पष्ट सिद्धान्तों और मान्यताओं का स्पष्टीकरण हुआ है और भावी काव्यशास्त्र के निर्माण के लिए अभिनव मार्ग प्रशस्त हुआ है।

जहाँ तक काव्य-तत्वों के नवोद्भावन का सम्बन्ध है अनेक पुनराख्याताओं ने अनेक नवीन रसों, नवीन रस-वर्गीकरणों, नवीन अलंकारों तथा नवीन अलंकार-वर्गीकरणों का प्रतिपादन किया है। रीति-गुण के स्वरूप एवं उनकी संख्या के विषय में भी नवीन उद्भावनाएँ हुई हैं। पुनराख्याताओं का चिन्तन मूलत: प्राचीन काव्य-सिद्धान्तों पर केन्द्रित रहा है। अत: इन सिद्धान्तों के अन्तर्गत ही नवीन चिन्तन का

प्रयत्न हुआ है। किसी अभिनव सिद्धान्त की प्रतिष्ठापना हिन्दी-मराठी के काव्य-शास्त्र में नहीं हो सकी है।

हिन्दी-मराठी के काव्य शास्त्र के तुलनात्मक अध्ययन से साम्य-वैषम्य मूलक कतिपय सामान्य निष्कर्ष इस प्रकार से निकलते हैं :—

साम्य :

१. हिन्दी तथा मराठी के आरम्भिक काव्यशास्त्र के लेखकों में संस्कृत के काव्यशास्त्र को अपनी-अपनी भाषा में अनूदित करने की ही प्रवृत्ति मुख्य रूप से रही है।

२. नाट्यशास्त्र की अपेक्षा काव्यशास्त्र की परम्परा ही दोनों भाषाओं में समृद्ध रूप में अवतरित हुई है।

३. काव्यशास्त्र के 'रस' तथा 'अलंकार' सिद्धान्त का ही अपेक्षाकृत अधिक आख्यान और पुनराख्यान दोनों भाषाओं में हुआ है।

४. हिन्दी तथा मराठी के पुनराख्याताओं ने पाश्चात्य काव्यशास्त्र के तत्वों का भी यथास्थान निरूपण किया है। दोनों ही भाषाओं में पाश्चात्य साहित्य-सिद्धान्तों से भारतीय साहित्य-सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन करने की प्रवृत्ति दृष्टि-गोचर होती है।

५. नवीन समृद्ध साहित्यशास्त्र के निर्माण की प्रवृद्ध आकांक्षा दोनों ही भाषाओं के काव्य-शास्त्रज्ञों द्वारा व्यक्त हुई है।

वैषम्य :

१. हिन्दी का मध्ययुगीन काव्यशास्त्र प्राय: राजाश्रय में समृद्ध हुआ है, परन्तु मराठी-काव्यशास्त्र के विकास में राजाश्रय का विशेष हाथ नहीं रहा।

२. परिमाण की दृष्टि से हिन्दी में काव्यशास्त्र की ग्रन्थ-राशि मराठी की अपेक्षा प्रचुर है, क्योंकि रीति काव्य जैसी प्रवृत्ति मराठी काव्यशास्त्र की विकास परम्परा के इतिहास में उपलब्ध नहीं होती।

३. आधुनिक मराठी काव्यशास्त्र में रस-तत्व का अपेक्षाकृत अधिक अध्ययन हुआ है—हिन्दी में रस के साथ अन्य सिद्धान्तों का भी स्वल्प विवेचन होता रहा है।

४. आधुनिक मराठी काव्यशास्त्र की विकास-परम्परा में सौन्दर्यशास्त्र का विशेष अध्ययन हुआ है। सौन्दर्य शास्त्र के तत्वों का काव्यशास्त्र के विभिन्न तत्वों—रीति, वक्रोक्ति, औचित्य आदि के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। इस दिशा में हिन्दी में अभी विशेष अध्ययन की आवश्यकता है।

५. हिन्दी काव्यशास्त्र में रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि तथा औचित्य सिद्धान्तों का स्वतन्त्र रूप से अध्ययन किया गया है, किन्तु मराठी में इनका अध्ययन प्रसंगवश हुआ है।

काव्यशास्त्र के पुनराख्यान की प्रणाली
और
अभिनव काव्यशास्त्र के निर्माण की दिशाएँ :

संस्कृत काव्यशास्त्र के विभिन्न सिद्धान्तों के पुनराख्यान का मूलभूत आधार क्या हो ? इस विषय में आधुनिक समीक्षकों में मतैक्य नहीं है। कतिपय ने पाश्चात्य मानसशास्त्र तथा काव्यशास्त्र का आधार ग्रहण करके संस्कृत के काव्य-सिद्धान्तों का पुनराख्यान और पुनर्मूल्यांकन किया है तो कतिपय ने भारतीय दार्शनिक मान्यताओं तथा तत्कालीन 'विचार विश्व' एवं साहित्य के आधार पर ही संस्कृत साहित्य-सिद्धान्तों के पुनराख्यान का प्रयत्न किया है। प्रथम प्रकार के पुनराख्याताओं में विशेषतः आचार्य शुक्ल, डा० श्यामसुन्दरदास, श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु, डा० गुलाबराय, डा० नगेन्द्र आदि का नाम उल्लेखनीय है। आचार्य शुक्ल ने तो स्पष्टतः ही पाश्चात्य मानसशास्त्र का आधार ग्रहण करके भारतीय रस-सिद्धान्त को पुनराख्यान द्वारा व्यापक बनाने का सफल प्रयत्न किया है। मराठी में इस कोटि के पुनराख्याताओं में प्रा० रा० श्री० जोग, श्री द० के० केळकर, डा० के० ना० वाटवे, डा० रा० शं० वाळिंबे आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

द्वितीय कोटि के पुनराख्याताओं में श्री जयशंकर प्रसाद (हिन्दी में) तथा श्री दि० के० बेडेकर, श्री ग० त्र्यं० देशपांडे के नाम उल्लेखनीय हैं। यद्यपि श्री जयशंकर प्रसाद ने साहित्य-सिद्धान्तों का व्यापक पुनराख्यान नहीं किया है। फिर भी इन्होंने रस-तत्व की यहाँ के दार्शनिकों के दृष्टिकोण के आधार पर ही मीमांसा की है, पाश्चात्य मानसशास्त्र के आधार पर नहीं। इन्होंने संस्कृत साहित्य-सिद्धान्तों के पुनराख्यान में पाश्चात्य मानसशास्त्र के आधार-ग्रहण का प्रत्यक्षतः प्रतिषेध नहीं किया है। परन्तु श्री दि० के० बेडेकर की धारणा में संस्कृत साहित्य-शास्त्र के तत्वों का, विशेषतः रस-सिद्धान्त का पाश्चात्य मानसशास्त्र के आधार पर परीक्षण-मूल्यांकन मूलतः असंगत है।[1] इनके मत में भारतीय दर्शन तथा तत्कालीन 'विचार विश्व' के प्रकाश में ही इनका विवेचन समीक्षण होना उपयुक्त है।

मानसशास्त्र की कसौटियों के आधार पर स्थायीभावों, संचारियों तथा

---

१. साहित्य निर्मिति व समीक्षा, प्रस्तावना, पृ० १-२।

विभिन्न रसों का परीक्षण किया जाता है और यदि रस-सिद्धान्त के अनेक तत्व मानसशास्त्र की कसौटी पर पूरे नहीं उतर पाते तो उनमें असंगति या दोष का प्रतिपादन किया जाता है। अतः श्री बेडेकर के मत से इस प्रकार का दृष्टिकोण ही असंगत है, मूलतः भारतीय दर्शन और यहाँ के 'विचार विश्व' के आधार पर ही संस्कृत के साहित्य-सिद्धान्तों पर विचार किया जाना चाहिए।

यह नितान्त सत्य है कि जिस युग में संस्कृत साहित्यशास्त्र के सिद्धान्तों का चिन्तन-मनन हुआ, उस युग में आधुनिक मानसशास्त्र का विकास नहीं हुआ था। अतः प्राचीन सिद्धान्तों का वास्तविक मूल्यांकन उसी युग की विचारधारा, दार्शनिक चिन्तन पद्धति आदि के आधार पर करना अधिक न्यायसंगत है।

परन्तु इस तथ्य को भी भुलाया नहीं जा सकता कि किसी युग विशेष के चिन्तन का मूल्यांकन युग-सापेक्ष भी होता है। सामान्यतः प्रत्येक युग की विचार धारा में कुछ तत्व युग-सापेक्ष्य और कुछ युग-निरपेक्ष एवं चिरंतन होते हैं—इनका आख्यान और मूल्यांकन अन्य युग की कसौटी पर भी किया जा सकता है। इससे उनकी महत्ता प्रतिपादित होती है। बीसवीं शती का विवेचक प्रथम शताब्दी के 'चिन्तन विश्व' का मूल्यांकन एकान्त निर्लिप्त भाव से नहीं कर सकता। वह अपने सामयिक युग की चिन्तन-धारा से प्राचीन युग की चिन्तन-धारा की तुलना करना चाहता है। अतः यदि आधुनिक मानसशास्त्र की कसौटी पर प्राचीन साहित्य तत्वों का मूल्यांकन किया जाता है तो इसमें असंगति की कोई बात नहीं है। परन्तु प्रस्तुत तुलना और मूल्यांकन में इस तथ्य पर ध्यान देना विशेष आवश्यक है कि मूल्यांकन की कसौटी आधुनिक है, अतः प्राचीनों की मान्यताएँ उस पर पूरी नहीं उतरतीं तो इसमें आधुनिक कसौटी को सदोष ठहराना उतना ही अनुपयुक्त है, जितना कि इस कसौटी पर पूरे न उतरने वाले सिद्धान्तों को एकान्त सदोष ठहराना। प्राचीनों की साहित्य-तत्व के निर्धारण तथा मूल्यांकन की कसौटी भिन्न थी और आधुनिकों की उनके मूल्यांकन की कसौटी भिन्न है, फिर भी प्राचीनों के कतिपय साहित्य-तत्व आधुनिक कसौटी पर भी पूरे उतरते हैं तो उनके मूल्यांकन में असंगति कैसी? जो साहित्य-सिद्धान्त आधुनिक कसौटी पर पूरे नहीं उतरते, उनका महत्व भले ही आधुनिक युग के लिए न हो, परन्तु एक विशिष्ट युग में उनका महत्व असंदिग्ध रूप से था, इस तथ्य को आधुनिक युग के विवेचक को भी अस्वीकार नहीं करना चाहिए। अतः प्राचीन साहित्य-सिद्धान्तों के मूल्यांकन में प्राचीन और अर्वाचीन दोनों ही कसौटियों के आधार-ग्रहण से चिन्तन और मूल्यांकन की एकांगिता दूर हो सकेगी। आधुनिक युग की मानसशास्त्र आदि की कसौटी का आधार ग्रहण इसलिए भी उपादेय है कि हम प्राचीन साहित्य-सिद्धान्तों की नितान्त आधुनिक

युग में भी उपयोगिता सहज सिद्ध कर सकेंगे। अतः संस्कृत साहित्यशास्त्र के सिद्धान्तों के मूल्यांकन, परीक्षण तथा पुनराख्यान में प्राचीन दर्शन और 'विचार विश्व' के साथ आधुनिक मानसशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र, समाजशास्त्र आदि का आधार ग्रहण करना एकांत असंगत नहीं है। इससे हमारा दृष्टिकोण व्यापक बनेगा और प्राचीन-साहित्य-सिद्धान्तों की व्यापकता, महत्ता, सार्वकालिकता अथवा उनकी सीमा और संकुचितता का भी यथावत् मूल्यांकन हो सकेगा।

पाश्चात्य साहित्यशास्त्र :

भारतीय साहित्यशास्त्र की भाँति पाश्चात्य साहित्यशास्त्र की भी अपनी समृद्ध परम्परा है। उसके साहित्य-सिद्धान्त आधुनिक हिन्दी-मराठी साहित्यशास्त्र के लिए भी उपादेय सिद्ध हो सकते हैं। परन्तु पश्चिम के सभी साहित्य-सिद्धान्तों को एकान्त अभिनव समझ बैठना भी भूल होगी। उनका भारतीय साहित्य-सिद्धान्तों से व्यापक तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित है। इस प्रक्रिया से उनकी अभिनवता और उपादेयता असंदिग्ध रूप से सिद्ध होती है तो आधुनिक हिन्दी-मराठी काव्य-शास्त्र के लिए उन्हें स्वीकार कर लेना अनुपयुक्त नहीं है। हिन्दी-मराठी में संस्कृत साहित्यशास्त्र तथा पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के सिद्धान्तों के तुलनात्मक अध्ययन की दिशा में भी प्रयत्न हुए हैं। इसमें उल्लेखनीय कार्य डा० नगेन्द्र, आ० नन्ददुलारे वाजपेयी, श्री बलदेव उपाध्याय, डा० के० ना० वाटवे, श्री रा० श्री० जोग, डा० रा० शं० वाळिंबे आदि ने किया है। इस प्रकार का और अधिक सूक्ष्म तथा व्यापक अध्ययन आधुनिक हिन्दी-मराठी के समृद्ध साहित्य-शास्त्र निर्माण में नितान्त उपयोगी सिद्ध होगा।

हिन्दी-मराठी के साहित्यकारों का साहित्य-तत्व-चिन्तन :

आधुनिक समृद्ध साहित्य-शास्त्र-निर्माण के लिए जहाँ संस्कृत-साहित्य-शास्त्र तथा पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र के सिद्धान्तों का व्यापक आधार ग्रहण करना अपेक्षित है, वहाँ हिन्दी-मराठी के साहित्यकारों के साहित्य-सिद्धान्त विषयक चिन्तन की उपेक्षा अनुचित है। लगभग १२ वीं शताब्दी ई० से २० वीं शताब्दी ई० तक हिन्दी-मराठी में अनेक युगप्रवर्तक साहित्यकार हुए हैं। आधुनिक युग से पूर्व हिन्दी में जायसी, सूरदास, तुलसीदास आदि और मराठी में ज्ञानेश्वर, एकनाथ, तुकराम, रामदास आदि महान् साहित्यकार हुए हैं। यद्यपि इनका मुख्य प्रयोजन साहित्य-शास्त्र के सिद्धान्त-प्रतिपादन का नहीं था, फिर भी इन्होंने प्रसंगवश साहित्य-तत्वों पर अपनी मान्यताएँ अभिव्यक्त की हैं। इन कवियों ने अनिवार्यतः संस्कृत साहित्य-तत्वों का ही निरूपण नहीं किया है, वरन् काव्य-निर्माण, काव्य-प्रयोजन, आदर्श

काव्य का स्वरूप, भाषा, शैली, अलंकार आदि विषयों पर स्वतन्त्र अभिमत भी व्यक्त किये हैं। इनका तुलनात्मक तथा स्वतन्त्र विस्तृत अध्ययन अपेक्षित है। इस दिशा में मराठी में ज्ञानेश्वर से रामदास तक के कवियों के साहित्य-सिद्धान्तों का शोध-प्रबन्ध के रूप में अध्ययन हो चुका है।[1] हिन्दी में भी इस दिशा में अध्ययन हो रहा है। हिन्दी में रीतिकालीन अनेक कवियों के आचार्यत्व का अध्ययन इस दृष्टि से महत्वपूर्ण सिद्ध होगा।

प्राचीन कवियों के साहित्य-सिद्धान्तों के स्वतन्त्र अध्ययन के समान आधुनिक कवियों के साहित्य-सिद्धान्तों का भी स्वतन्त्र अध्ययन उपयोगी होगा। हिन्दी में 'आधुनिक कवियों के काव्य-सिद्धान्त' शीर्षक से शोध-कार्य हुआ है।[2] इसी प्रकार मराठी के आधुनिक कवियों के काव्य-सिद्धान्तों का स्वतन्त्र अध्ययन अपेक्षित है। इस प्रकार से हिन्दी-मराठी के प्राचीन अर्वाचीन साहित्यकारों के साहित्य-तत्वों के चिन्तन का भी आधुनिक समृद्ध साहित्यशास्त्र के निर्माण में उपयोग लिया जा सकता है।

इस प्रकार संस्कृत काव्यशास्त्र, पाश्चात्य काव्यशास्त्र तथा हिन्दी-मराठी के साहित्यकारों के सैद्धान्तिक चिन्तन आदि का व्यापक अध्ययन करने से एक अभिनव समृद्ध साहित्यशास्त्र के निर्माण की पूर्ण सम्भावना है। इसी दिशा में प्रस्तुत शोध-प्रबन्धगत अध्ययन भावी साहित्यशास्त्र के विशाल मन्दिर का एक आरम्भिक सोपान मात्र भी सिद्ध हो सका तो हम अपने श्रम को सार्थक समझेंगे।

---

१. डा० मा० गो० देशमुख : मराठीचे साहित्यशास्त्र।

२. डा० सुरेशचन्द्र गुप्त : आधुनिक हिन्दी कवियों के काव्य सिद्धान्त।

अध्ययन-सामग्री

संस्कृत-ग्रन्थ

१. अभिनव भारती : (अभिनव गुप्त) गायकवाड ओरियंटल सिरीज़ बड़ोदा

२. अलंकार शेखर : केशव मिश्र , द्वितीय संस्करण (१९२६) निर्णयसागर प्रेस, बम्बई

३. काव्य प्रकाश : मम्मट (हरिमंगल मिश्र) द्वितीय संस्करण (१९४३) हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

४. काव्य प्रदीप : गोविन्द तृतीय संस्करण (१९२३) निर्णयसागर प्रेस, बम्बई

५. काव्य मीमांसा : राजशेखर (मधुसूदन टीका) संस्करण (१९३४) चौखम्बा संस्कृत सिरीज बनारस

६. काव्यादर्श : दण्डी (नरसिंहदेव शास्त्री) (१९३३)

७. काव्यानुशासन : हेमचन्द्र, सम्पादक पारिख (१९३८)

८. काव्यालंकार : रुद्रट, नमिसाधु भाष्य, तृतीय संस्करण (१९२८) निर्णय सागर प्रेस, बम्बई

९. काव्यालंकार : भामह

१०. कुवलयानन्द : अप्पय दीक्षित, सप्तमावृत्ति (१९३७) निर्णय सागर प्रेस बम्बई

११. चन्द्रालोक : जयदेव (नन्दकिशोर शर्मा) तृतीयावृत्ति (१९५०) निर्णयसागर प्रेस बम्बई

१२. दशरूपक : धनंजय, निर्णयसागर प्रेस ,बम्बई (१९१७)

१३. ध्वन्यालोक : आनन्दवर्धन (लोचन सहित) (१९४०) चौखंबा संस्कृत सिरीज बनारस

१४. नाट्य शास्त्र : भरतमुनि (बटुकनाथ शर्मा) (१९२९) चौखंबा संस्कृत सिरीज, बनारस

१५. **वाग्भटालंकार** : वाग्भट, चतुर्थ संस्करण (१९१७) वाचस्पत्य प्रेस, कलकत्ता

१६. **रसगंगाधर** : जगन्नाथ (सम्पादक दुर्गाप्रसाद), पंचम संस्करण (१९३९) निर्णयसागर प्रेस, बम्बई

१७. **सरस्वती कण्ठाभरण** : भोज (सम्पादक केदारनाथ शर्मा), द्वितीयावृत्ति (१९३४) निर्णयसागर प्रेस, बम्बई

१८. **साहित्यदर्पण** : विश्वनाथ (कृष्णमोहन), द्वि० सं० (१९५५) चौखम्बा संस्कृत सिरीज, बनारस

हिन्दी-ग्रन्थ

१. **अरस्तू का काव्य शास्त्र** : डा० नगेन्द्र (१९५७) भारती भण्डार इलाहाबाद

२. **अलंकार-पीयूष** : डा० रमाशंकर शुक्ल रसाल, (पूर्वार्द्ध) द्वि० सं० १९५४ रामनारायण लाल, इलाहाबाद

३. **अलंकार मंजूषा** : भगवानदीन (२००४), रामनारायण लाल, इलाहाबाद

४. **आलोचना : इतिहास तथा सिद्धान्त** : डा० एस० पी० खत्री, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

५. **आचार्य शुक्ल के समीक्षा सिद्धान्त** : डा० रामलाल सिंह (१९५८), कर्मभूमि प्रकाशन, वाराणसी

६. **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** : डा० जयचन्द राय (अप्रकाशित)

७. **काव्य में अभिव्यंजनावाद** : लक्ष्मीनारायण सुधांशु, तृ० सं० २००७ जनवाणी प्रकाशन, कलकत्ता

८. **काव्य में रस** : डा० आनंद प्रकाश दीक्षित, राज कमल प्रकाशन, दिल्ली।

९. **काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध** : जयशंकर प्रसाद, द्वि० सं० २००१ सं०, भारती-भण्डार, इलाहाबाद

१०. **काव्य कल्पद्रुम (प्रथम भाग) रसमंजरी** : कन्हैयालाल पोद्दार, पंचम संस्करण २००४

११. **काव्य कल्पद्रुम (द्वितीय भाग) अलंकार मंजरी** : " "

१२. **चिन्तामणि** : रामचन्द्र शुक्ल : प्र० भा० १९१९ इंडियन प्रेस, इलाहाबाद

१३. **चिन्तामणि** : रामचन्द्र शुक्ल : द्वि० भा० सं० २००२ सरस्वती-मंदिर जतनवर, काशी

१४. **जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त** : लक्ष्मीनारायण सुधांशु, द्वि० सं० १९५० जनवाणी प्रकाशन, कलकत्ता

१५. **तुलसीदास :** आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
१६. **ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त भाग १** (१९५६) भोलाशंकर व्यास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
१७. **नया साहित्य नये प्रश्न :** नन्ददुलारे वाजपेयी (१९५५), विद्यामंदिर ब्रह्मनाल, बनारस
१८. **नव रस :** गुलाबराय (१९३३) आरा नागरी प्रचारिणी सभा, आरा
१९. **निबन्ध संग्रह :** हजारी प्रसाद द्विवेदी संकलित (१९५३) साहित्य भवन इलाहाबाद
२०. **पाश्चात्य साहित्यालोचन :** (१९५२) लीलाधर गुप्त, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद
२१. **प्रकृति और काव्य :** (हिन्दी खण्ड) डा० रघुवंश (प्र० सं० २००५ सं०) साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग
२२. **प्रगति और परम्परा :** डा० रामविलास शर्मा (१९४८) किताब महल इलाहाबाद
२३. **पुरुषार्थ :** डा० भगवानदास (१९५३) सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली,
२४. **भारतीय साहित्यशास्त्र :** बलदेव उपाध्याय, प्र० खंड २००७ सं०, प्रसाद परिषद, काशी
२५. **भारतीय साहित्य शास्त्र :** बलदेव उपाध्याय, द्वि० खण्ड २००५ संवत्
२६. **रसकलस :** हरिऔध, तृ० सं० २००८ हिन्दी साहित्य कुटीर बनारस
२७. **रस मीमांसा :** रामचन्द्र शुक्ल, प्र० सं० २००६ संवत्, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
२८. **रीति काव्य की भूमिका :** डा० नगेन्द्र (१९४९) गौतम बुक डिपो दिल्ली
२९. **रीतिकालीन कविता एवं शृंगार रस का विवेचन :** डा० राजेश्वरप्रसाद (१९५३) सरस्वती पुस्तक सदन, मोतीकटरा, आगरा
३०. **वाङ्मयविमर्श :** विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्र० सं० १९९९ सं० हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस
३१. **वक्रोक्ति और अभिव्यंजना :** रामनरेश वर्मा (२००८ संवत्) ज्ञानमण्डल, बनारस
३२. **शैली :** करुणापति त्रिपाठी (१९९८ वि०) साहित्य ग्रन्थमाला कार्यालय जाहिया देवी, बनारस
३३. **साहित्य शास्त्र :** डा० रामकुमार वर्मा, १९५५ राजकिशोर प्रकाशन इलाहाबाद

३४. **सौन्दर्य शास्त्र** : डा० हरद्वारीलाल, प्र० सं० १९५३ साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद

३५. **सिद्धान्त और अध्ययन** : डा० गुलाबराय, द्वि० सं० १९५५ प्रतिभा प्रकाशन हैदर कुली, दिल्ली

३६. **साहित्य शिक्षा** : पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी (१९४८) हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई

३७. **साहित्यालोचन** : श्यामसुन्दरदास, ११ वीं आवृत्ति २०११ इंडियन प्रेस पब्लिकेशन्स, प्रयाग

३८. **साहित्य सागर** : बिहारीलाल भट्ट (१९३५ ई०) प्र० भाग प्र० दुलारेलाल भार्गव

३९. **साहित्य पारिजात** : मिश्रबन्धु (१९५१) गंगा ग्रन्थागार, लखनऊ

४०. **साहित्य चिन्ता** : डा० देवराज (१९५०) गौतम बुक डिपो, दिल्ली

४१. **साहित्य शास्त्र** : सीताराम चतुर्वेदी, सं० २०१० भारतीय विक्रम परिषद, काशी

४२. **संस्कृत साहित्य का इतिहास** : कन्हैयालाल पोद्दार, दि० सं० २०११ संवत्, नागरी प्रचारिणी सभा काशी

४३. **हिन्दी काव्यालंकार सूत्र** : (अनु० आ० विश्वेश्वर, संपादक डा० नगेन्द्र) प्र० सं० १९५४ आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली

४४. **हिन्दी ध्वन्यालोक** : अनु० आ० विश्वेश्वर (संपादक डा० नगेन्द्र) प्र० सं० संवत् २००९ गौतम बुक डिपो, दिल्ली

४५. **हिन्दी वक्रोक्ति जीवित** : अनु० आ० विश्वेश्वर (संपादक डा० नगेन्द्र) १९५५ आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली

४६. **हिन्दी रस गंगाधर** : (पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी) (१९९५ सं०) काशी नागरी प्रचारिणी सभा

४७. **हिन्दी साहित्य कोश** : (सं० धीरेन्द्र वर्मा) (सं० २०१५) ज्ञानमण्डल काशी

४८. **हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास** : डा० भगीरथ मिश्र, २००५ संवत् लखनऊ विश्वविद्यालय

४९. **हिन्दी आलोचना उद्भव और विकास** : डा० भगवत्स्वरूप १९५४ साहित्य सदन, देहरादून

५०. **हिन्दी दशरूपक** : डा० भोलाशंकर व्यास (१९५५) चौखम्बा विद्याभवन, बनारस

मराठी-ग्रन्थ

१. **अभिनव काव्य प्रकाश** : रा० श्री० जोग (तृ० सं० १९५१ ई०) व्हीनस बुक स्टाल, पुणे २

२. **आधुनिक मराठी वाङमयाचा इतिहास** : (भाग पहिला) अ० ना० देशपाण्डे (१९५४)

३. **अरिस्टाटलचें काव्य शास्त्र** : गो० वि० करन्दीकर, मौज प्रकाशन खठाव बाड़ी, गिरगांव बम्बई ४

४. **अर्वाचीन मराठी काव्य** : रा० श्री० जोग (१९४६) मुंबई मराठी साहित्य संघ, मुंबई ४

५. **अलंकार मंजूषा** : बाळुताई खरे

६. **अलंकार प्रदीप** : ग० त्र्यं० देशपांडे तथा पु० गो० निजसुरे,

७. **काव्यालोचन** : द० के० केळकर (तृ० सं० १९५६ ई०) मनोहर ग्रन्थमाला प्रकाशन, पुणे २

८. **काव्य दोष दीपिका** : ग० म० गोरे

९. **काव्य विभ्रम** : श्री रा० श्री० जोग (१९५१) व्हीनस बुक स्टाल, पुणे २

१०. **कला म्हण जे काय ?** : सानेगुरुजी (१९४३) कर्नाटक पब्लिशिंग हाउस, बम्बई २

११. **नवे अलंकार** : रा० अ० काळेले (१९५२) मनोहर ग्रन्थमाला टिळक रस्ता, पुणे २

१२. **भारतीय साहित्य शास्त्र** : ग० त्र्यं० देशपांडे (१९५८) पाप्युलर बुक डिपो, लैमिंग्टन रोड, बम्बई ७

१३. **भावगन्ध** : मा० गो० देशमुख (१९५५) विदर्भ प्रकाशन, अकोला, विदर्भ,

१४. **मराठी साहित्याची रूपरेषा** : डा० वि० पा० दाण्डेकर (१९५२ ई०) प्रकाशक वि० पा० दाण्डेकर, हाथी पोल, बड़ौदा

१५. **मराठी साहित्यांतील मधुराभक्ति** : डा० प्र० न० जोशी (१९५७) व्हीनस प्रकाशन, पुणे

१६. **महाराष्ट्रीयांचे काव्यपरीक्षण** : डा० श्री० व्यं० केतकर (१९२८) ८४१ सदाशिव पेठ, पुणे

१७. **मराठी नाट्य रचना तंत्र आणि विकास** : वि० द० साठे (१९५५) व्हीनस बुक स्टाल, पुणे २

१८. **मराठी साहित्य (लेख संग्रह)** (१९४५) प्रकाशक दा० त्र्यं० जोशी, चित्रशाळा प्रेस, १०२६ सदाशिव पेठ, पुणे २

१९. **मराठी काव्य समीक्षा** : वि० अ० कुलकर्णी (१९४५) महाराष्ट्र ग्रन्थ भांडार, कोल्हापूर
२०. **रस विमर्श** : डा० के० ना० वाटवे (१९४२ ई०) विद्याधर हरि दामले नवीन किताब खाना, पुणे २
२१. **रस विचार आणि प्राचीन दर्शनकार** : (१९५७) यज्ञेश्वर शास्त्री कस्तुरे, मराठ वाडा साहित्य परिषद प्रकाशन, इसामिया बाजार, हैद्राबाद (द०)
२२. **रसवंतीची जन्म कथा** : श्रीपाद महादेव माटे (१९४३) टिलक रस्ता, पुणे
२३. **रस ग्रहण** : गो० म० कुलकर्णी (१९५२) स्कूल एण्ड कालेज बुक स्टाल, कोल्हापुर
२४. **वाङ्मयीनमूल्यें आणि जीवनमूल्यें** : गं० ब० ग्रामोपाध्ये (१९५०) व्हीनस बुक स्टाल, पुणे २
२५. **विचार सौन्दर्य** : वा० म० जोशी (१९४०) स्वस्तिक पब्लिशिंग हाउस, बम्बई ४
२६. **वाङ्मयीन मतें आणि मतभेद** : वा० ल० कुलकर्णी, प्रकाशक के० मि० ढवळे श्री समर्थ सदन, गिरगांव, बम्बई ४
२७. **वाङ्मयीन टीया आणि टिप्पणी** : वा० ल० कुलकर्णी (१९५३ ई०) पाप्युलर बुक डिपो, बम्बई ७
२८. **वाङ्मयांतील वादस्थळें** : वा० ल० कुलकर्णी (१९४६) स्वस्तिक पब्लिशिंग हाउस, मुंबई ४
२९. **वाङ्मयीन मूल्यें** : श्री कृष्ण के० क्षीरसागर (१९४६) ५३३ सदाशिव, पुणे २
३०. **वाङ्मयीन महात्मता** : बा० सी० मर्ढेकर (१९४१) ज्यूडेक्स बिल्डिग त्रिभुवन रोड, बम्बई ४
३१. **वाङ्मथीन टीका शास्त्र आणि पद्धति** : रा० शं० वाळिंबे (१९५०) ३९४ सदाशिव, पुणे २
३२. **वाङ्मयीन वाद** : (१९४६) महाराष्ट्र साहित्य परिषद, पुणें
३३. **शारदा विहार** : सम्पादक : गं० भा० निरन्तर : महाराष्ट्र शारदा मंदिर, पुणें
३४. **साहित्य मीमांसा** : डा० रा० शं० वाळिंबे (१९५५) चित्रशाळा प्रकाशन पुणें २
३५. **स्वभाव लेखन** : पु० ग० सहस्र बुद्धे (१९३८) माडर्न बुक डिपो, पुणें २

३६. **सौन्दर्य शोध आणि आनन्दबोध** : रा० श्री० जोग (१९४३) देशमुख आणि कम्पनी, १९१ शनवार पुणें २
३७. **सौन्दर्याचें व्याकरण** : डा० सुरेन्द्र बार्रालंगे (१९५७) मराठवाडा साहित्य परिषद, इसामिया बाजार, हैद्राबाद (द०)
३८. **सौन्दर्य आणि साहित्य** : बाळ सीताराम मर्ढेकर (१९५५) मौज प्रकाशन, खटाववाड़ी, मुंबई ४
३९. **संस्कृत साहित्य शास्त्राचा इतिहास** : पा० वा० काणे (१९३१) आंग्रे-वाडी, गिरगांव, बैंक रोड, मुंबई नं० ४
४०. **सुभाषित आणि विनोद** : न० चि० केळकर (१९२२), ५५४ सदाशिव पुणें
४१. **साहित्य निर्मिति व समीक्षा** : दि० के० बेंडेकर (१९५४) चित्रशाळा प्रकाशन, पुणें २
४२. **साहित्यांतील सम्प्रदाय** : डा० रा० शं० वाळिंबे (१९५७) पाप्युलर बुक स्टोअर, टावर रोड, सुरत
४३. **साहित्य दर्शन** : सरोजिनी बाबर (१९४८) ५२९ सदाशिव पेठ, पुणें २
४४. **साहित्याचा ध्रुवतारा** : रा० शं० वाळिंबे (१९५५) ९९१ शदाशिव पुणें

अंग्रेजी-ग्रन्थ

1. **An outline of Psychology** : William Macdougall (1933)
2. **English Prose Style** : Herbert Read (1928)
3. **English Composition and Rhetoric** : Alexander Bain
4. **History of Sanskrit Poetics** : S. K. De. (1925)
5. **Principles of Literary Criticism** : I. A. Richards, Sixth Impression, 1938
6. **Psychology** : Woodworth
7. **Psychological Studies in Rasa** : Rakesh Gupta (1950) Students Friends, Banaras. 4
8. **Social Psychology** : William Macdougall
9. **Some Consepts of the Alankar Sastra** : V. Raghuvan Adyar Library, Adyar.
10. **Studies in the Histoɹy of Sanskrit Poetics** : Sushil Kumar De (1923)
11. **Style** : Walter Raleigh (1929)
12. **Style** : Walter Peter (1918)

13. The Number of Rasas : Dr. V. Raghvan (1940) Adyar, Library, Adyar.
14. The Philosophy of Rhetoric : I. A. Richards (1936).
15. Theory of Literature : Rene Wellek and Warren (1948)
16. The Problem of Style : J. Middleton Murry.
17. The Poetic Image (1947) : C. Day Lewis (1948)
18. The Arts and the Art of Criticism : T. M. Green, Second Printing, 1948.
19. The Foundations of Character : Stout (1929)

पत्र-पत्रिकाएं

हिन्दी

१. आलोचना (त्रैमासिक) अंक ७
२. समालोचन (मासिक) जून (१९५८) जुलाई (१९५८), अगस्त (१९५८)
३. साहित्य संदेश, अगस्त १९४६
४. पारिजात, दिसम्बर १९४६
५. भारतीय साहित्य, जनवरी, १९५७

मराठी

१. नवभारत (मासिक) नवम्बर १९५०, दिसम्बर १९५०, आक्टोबर १९५१, फर्वरी १९५२, जून १९५५
२. तरुण भारत, दैनिक (दिवाली अंक) नागपुर, १९५०, १९५३
३. मराठवाडा (मासिक) (दिवाली अंक) आक्टोबर, १९५७
४. सह्याद्रि, खण्ड २५, अंक ३, मार्च १९३७, जून १९३७, नवंबर १९३७
५. लोकशिक्षण, अप्रैल (१९३८)
६. ज्योत्स्ना १९४१
७. सुषमा, नवम्बर १९३६, फर्वरी १९४५
८. विविध ज्ञान विस्तार, फर्वरी-मार्च १९३२
९. मराठी साहित्य पत्रिका, आक्टोबर, १९३७